श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

प्रो. राधेश्याम चतुर्वेदी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१२०

महामाहेश्वरश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचितः

श्रीतन्त्रालोकः

(तृतीयो भागः)

(८-१० आह्निकम्)

श्रीमदाचार्यजयरथकृतया 'विवेक'व्याख्यानेन
'ज्ञानवती'-हिन्दीभाष्येण च विभूषितः

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

प्रो० राधेश्याम चतुर्वेदी

साहित्याचार्य, व्याकरणाचार्य
एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०, लब्धस्वर्णपदक
संस्कृत विभाग, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

The
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHMALA
120

ŚRĪTANTRĀLOKAḤ

(PART THIRD)

[8-10 Āhnika]

With the commentary **VIVEKA**

by

Ācārya Śrī Jayaratha

and **Jñānavatī**-Hindi Commentary

Commented and Edited By

Prof. RADHESHYAM CHATURVEDI

Sāhityavyākaraṇācārya, M.A., Ph.D., (Gold medalist)
Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
Banaras Hindu University

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

ॐ

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु

श्री ६ शिवचैतन्य वर्णी महाराज

अनुवादक के दीक्षागुरु
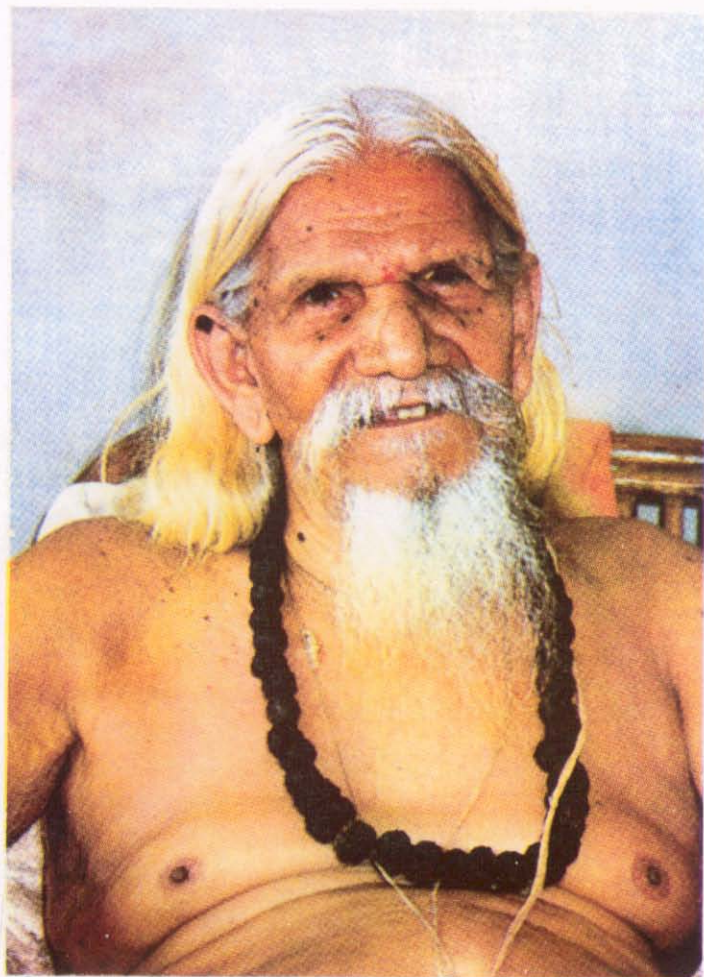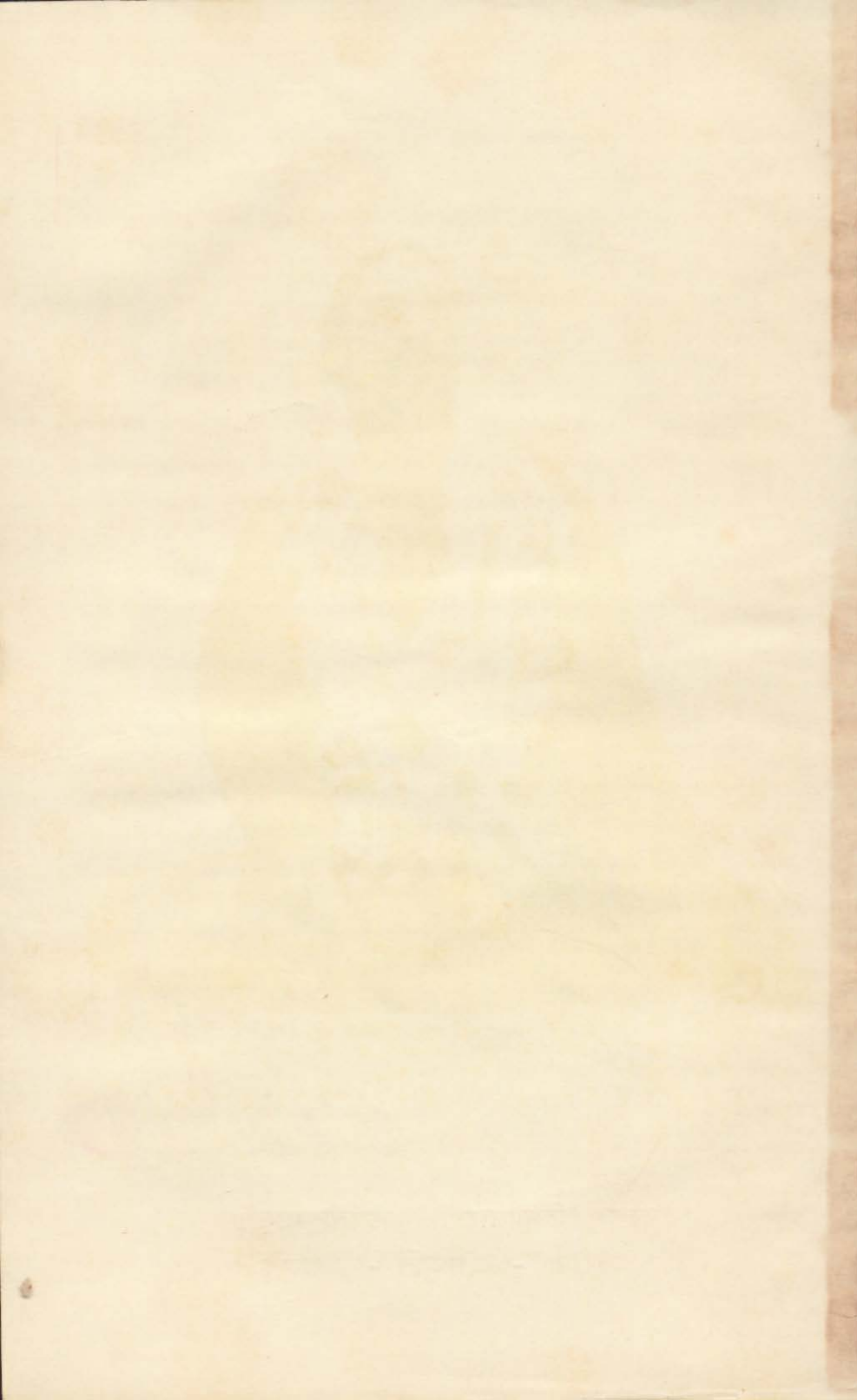
स्वामी श्री श्री १०८ शिवचैतन्यजी ब्रह्मचारीजी

मातङ्गेश्वर घाट, महेश्वर (जिला खरगोन) म. प्र.

गायत्रीसाधनासिद्धसिद्धिसाम्राज्यचुञ्चवे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमश्चैतन्यवर्णिने ॥

विषयानुक्रमणिका

अष्टममाह्निकम्

नवममाह्निकम्

दशममाह्निकम्

कारिका-संख्या

संकेत सूची

अजड् प्र०सि०	अजडप्रमात्रिकासिद्धि
ई०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ऐ०उ०	ऐतरेय उपनिषद्
गी०	श्रीमद्भगवद्गीता
छा०उ० (Ch.u.)	छान्दोग्योपनिषद
तं०आ० (T.A.)	तन्त्रालोक
तं०आ०वि० (T.A.V.)	तन्त्रालोक विवेक
प०सा०	परमार्थसार
परि०प्र०	परिभाषा प्रकरण
प्र०हृ० (Pr.H.)	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्
मा०वि०त० (M.V.T.)	मालिनीविजय तन्त्र
रघु० (Raghu.)	रघुवंशमहाकाव्य
वा०प०	वाक्यपदीय
वि०भै०	विज्ञान भैरव
श०ब्रा० (Sh.B.)	शतपथ ब्राह्मण
शि०उ०सू०	शिवसूत्र
शि०दृ०	शिवदृष्टि
शि०सू०वा० (S.S.V.)	शिवसूत्र वार्तिक
शि०म०स्तो० (Siv.M.St.)	शिवमहिम्न स्तोत्र
सौ०ल० (Sau.L.)	सौन्दर्यलहरी
सौ०ल०टी० (Sau.L.com.)	सौन्दर्यलहरी टीका
स्पन्द०	स्पन्दकारिका
स्व०त०	स्वछन्द तन्त्र

अष्टममाह्निकम्

* विवेक *

जयकीर्तिरयं जयताज्जगदम्भोजं विभक्तभुवनदलम् ।
रविरिव विकासयति यश्चिदेकनालाश्रयत्वेन ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन देशाध्वनः स्वरूपं संगिरितुमुपक्रमते—

देशाध्वनोऽप्यथ समासविकासयोगा-
त्सङ्गीयते विधिरयं शिवशास्त्रदृष्टः ॥ १ ॥

नन्ववान्तराणां प्रमेयाणामनन्तानां प्रतिपाद्यत्वेऽपि कथमिह अस्यैव निर्देशः, इत्याशङ्क्याह—

विचारितोऽयं कालाध्वा क्रियाशक्तिमयः प्रभोः ।
मूर्तिवैचित्र्यजस्तज्जो देशाध्वाऽथ निरूप्यते ॥ २ ॥

---

* ज्ञानवती *

जो चित्रूपी एक नाल के आधार पर विभक्त भुवनदल वाले विश्वरूपी कमल को सूर्य की भाँति विकसित करते हैं वे जयकीर्त्ति (= शिव) सबसे उत्कृष्ट हैं ।

अब (श्लोक के) द्वितीय अर्ध के द्वारा देशाध्वा का स्वरूप बतलाने के लिए उपक्रम करते हैं—

अब संक्षेप और विस्तार के साथ शैवागमसम्मत यह देशाध्वा की विधि कही जा रही है ॥ १ ॥

प्रश्न—अवान्तर (= म)ध्यवर्त्ती तथा अनन्त दूसरे प्रमेयों के प्रतिपाद्य होने पर भी यहाँ इसी का निर्देश क्यों किया जा रहा है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परमेश्वर की क्रियाशक्ति से युक्त कालाध्वा का विचार किया जा चुका

'अथ' इत्यानन्तर्ये । तत् पदमन्त्रवर्णात्मना त्रिप्रकारः कालाध्वा विचारितः— इति तदानन्तर्येण युक्तं देशाध्वनोऽप्यत्र निरूपणम्,—इत्यतएव क्रमेण भुवनतत्त्व-कलाप्रतिपादकं वक्ष्यमाणमाह्निकचतुष्टयम् । 'तज्जः' इति तस्मात् प्रभोरेव जातः, स एव तथा तथा बहिःस्फुरित—इत्यर्थः । यदाहुः—

'आश्यानं चिद्रसस्यौघं साकारत्वमुपागतम् ।
जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपुः ॥' इति ॥ २ ॥

ननु यद्येवं, षड्विधोऽपि अयमध्वा किं चिदेकरूपात् तस्मादतिरिक्तो न वा? इत्याशङ्क्याह—

अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः ।
यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ॥ ३ ॥

'संप्रतिष्ठितः' इति तदनतिरिक्तः—इत्यर्थः । अत्र व्यतिरेकमुखेन द्वितीयार्धं हेतुः । 'नभःकुसुमायते' इति न किञ्चित् स्यादिति यावत् ॥ ३ ॥

ननु यदि नाम संविदनतिरिक्त एवायमध्वा, तत् कथं सर्वत्र बर्हिर्भेदेन भायात् ?—इत्याशङ्क्याह—

है। अब उससे उत्पन्न मूर्त्तिवैचित्र्यवाले देशाध्वा का निरूपण किया जा रहा है ॥ २ ॥

'अथ' (पद) आनन्तर्य (अर्थ) में है । पद मन्त्र एवं वर्ण रूप से तीन प्रकार के काल-अध्वा का विचार किया गया । अब उसके बाद यहाँ देशाध्वा का निरूपण उचित है, इसीलिए वक्ष्यमाण चार आह्निक क्रम से भुवन, तत्त्व और कला के प्रतिपादक हैं। तज्जः = उस प्रभु से ही उत्पन्न । वही (= प्रभु ही) भिन्न-भिन्न रूपों में बाहर स्फुरित होता है । जैसा कहते हैं—

"संकुचित, चिदाह्लाद के समूहरूप, जगद्रूप में साकारता को प्राप्त प्रत्यक्ष भैरव शरीर को (मैं) प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यह छहों प्रकार का अध्वा उस एक रूप से कुछ भिन्न है या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह समस्त अध्वा केवल चित् में प्रतिष्ठित है । जो उसमें प्रतिष्ठित नहीं है वह आकाशकुसुम के समान (= तुच्छ) है ॥ ३ ॥

प्रतिष्ठित = उससे अभिन्न है । यहाँ विपरीत दृष्टि से (श्लोक का) उत्तरार्ध (पूर्वार्द्ध का) हेतु है । आकाशपुष्प जैसा है = कुछ नहीं है ॥ ३ ॥

प्रश्न—यदि यह अध्वा संविद् से अतिरिक्त नहीं है तो सर्वत्र बाहर भिन्नरूप में कैसे आभासित होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

संविद्द्वारेण तत्सृष्टे शून्ये धियि मरुत्सु च ।
नाडीचक्रानुचक्रेषु बहिर्देहेऽध्वसंस्थितिः ॥ ४ ॥

संविदेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं स्वरूपं गोपयित्वा स्वसमुल्लासिते शून्यप्राण-बुद्धिदेहात्मनि प्रमातरि, बहिःप्रमेये च अनतिरिक्तत्वेऽप्यतिरिक्तमिव षड्विधमपि अध्वानमवभासयति,—इत्युक्तं 'संविद्द्वारेण तत्सृष्टे शून्यादावध्वसंस्थितिः' इति । 'नाडीचक्रानुचक्रेषु' इति मरुत्सामानाधिकरण्येन योज्यम् ॥ ४ ॥

ननु यद्येवं तदस्तु, को दोषस्तन्निरूपणेन पुनः कोऽर्थः? इत्याशङ्क्याह—

तत्राध्वैवं निरूप्योऽयं यतस्तत्प्रक्रियाक्रमम् ।
अनुसन्दधदेव द्राग् योगी भैरवतां व्रजेत् ॥ ५ ॥

'प्रक्रियाक्रमम्' इति कालाग्न्यादेरनाश्रितपर्यन्तं तथातथाऽनुपूर्व्येण अवस्थानम् । 'अनुसन्दधत्' इति 'सर्वमहम्' इति विमर्शनेन स्वात्मविश्रान्तिमयतामापादयन् योगी शीघ्रमेव परसंविदैकात्म्यमियात् ॥ ५ ॥

नचैतदस्मदुपज्ञमेव, इत्याह—

संविद् के द्वारा शून्य, बुद्धि, नाड़ीचक्रानुचक्र वाले प्राण तथा शरीर की सृष्टि करने पर बाह्यरूप में अध्वा की स्थिति होती है ॥ ४ ॥

संविद् ही अपने स्वातन्त्र्य से अपने रूप को छिपाकर अपने में (अपने द्वारा) शून्य, प्राण, बुद्धि, देह रूप प्रमाता एवं बाह्य प्रमेय को समुल्लासित कर अभिन्न होते हुये भी भिन्न के समान छः प्रकार के अध्वाओं को आभासित करती है— इसलिए कहा गया—"संविद्द्वारेण... संस्थितिः" 'नाड़ी चक्रानुचकेषु' इसे मरुत् के साथ सामानाधिकरण्यरूप में जोड़ना चाहिए अर्थात् संवित् के साथ प्राणवायु भी सञ्चारित होता है ॥ ४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो हो, क्या दोष है (= कोई दोष नहीं है) किन्तु उसका निरूपण करने से क्या लाभ? यह शङ्का कर कहते हैं—

यह अध्वा (इसलिए) उस प्रकार निरूपण के योग्य है क्योंकि उसके प्रक्रियाक्रम का अनुसन्धान करने वाला योगी तुरन्त ही भैरव दशा को प्राप्त हो जाता है ॥ ५ ॥

प्रक्रियाक्रम = कालाग्नि (भुवन जो कि सबसे नीचे है वहाँ) से लेकर अनाश्रित (शिव) पर्यन्त उस-उस रूप में क्रमशः स्थिति । अनुसन्धान करने वाला = 'मैं सब हूँ' इस विमर्श के द्वारा आत्मविश्रान्तिमयता को प्राप्त करने वाला, योगी शीघ्र ही पर संविद् के साथ एकात्मता को प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

यह हमारी बुद्धि से प्रसूत नहीं है—यह कहते हैं—

दिदृक्षयैव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन इत्युक्तं स्पन्दशासने ॥ ६ ॥

यथा दिदृक्षावसरे स्वसाक्षितयैव अर्थस्तथा स्फुरति, तथैव योगी धरादि-शिवान्ततत्त्वान्तर्भाविनः सर्वानर्थान् यदा 'सर्वमहम्' इत्यनुसंधानपूर्वं स्वात्मनि क्रोडीकृत्यावतिष्ठते तदा निःशेषवेद्यविगलनेन परभैरवदशावेशचमत्काररूपं यत् फलम्, तत् स्वसंविदेवानुभविष्यति—इत्यत्र बहुनोक्तेन किम्? न कश्चिदर्थ—इत्यर्थः । 'स्वयमेवावभोत्स्यते' इति चात्र तुर्यः पादः ॥ ६ ॥

ननु अध्वप्रक्रियाज्ञानमात्रादेव किमेवं भवेत्?—इत्याशङ्क्याह—

ज्ञात्वा समस्तमध्वानं तदीशेषु विलापयेत् ।
तान् देहप्राणधीचक्रे पूर्ववद् गालयेत्क्रमात् ॥ ७ ॥
तत्समस्तं स्वसंवित्तौ सा संविद्भरितात्मिका ।
उपास्यमाना संसारसागरप्रलयानलः ॥ ८ ॥

'तदीशेषु' इति ब्रह्मादिषु । 'तान्' तदीशानपि देहबुद्धिप्राणशून्यात्मनि

जब (योगी) देखने की इच्छा से समस्त पदार्थों को व्याप्त करके स्थित होता है तब अधिक कहने से क्या लाभ? ऐसा स्पन्दकारिका में कहा गया है ॥ ६ ॥

जैसे दिदृक्षा के समय अपने साक्षी के रूप में विषय उसी प्रकार (= अपने यथार्थ रूप में) स्फुरित होता है उसी प्रकार योगी जब पृथ्वी से लेकर शिव पर्यन्त तत्त्व के अन्दर रहने वाले सभी विषयों को 'यह सब मैं हूँ' इस प्रकार अनुसन्धानपूर्वक अपने अन्दर समाहित कर स्थित होता है तब समस्तवेद्य के विगलित हो जाने से परभैरवदशासमावेशचमत्काररूप जो फल है उसका अपनी ही संवित् अनुभव करेगी—इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ? अर्थात् कोई लाभ नहीं । स्वयमेवावभोत्स्यते यह (स्पन्दकारिका का) चौथा पाद है जिसका अर्थ है = स्वयं ही जान लिया जाता है ॥ ६ ॥

प्रश्न—क्या केवल अध्वप्रक्रिया के जान लेने से ही ऐसा हो जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार ज्ञान प्राप्त कर समस्त अध्वा को उनके स्वामियों में लीन कर देना चाहिए । उन (= स्वामियों) को पूर्व की भाँति क्रमशः देह प्राण और बुद्धि नामक चक्रों में लीन कर देना चाहिए । उन समस्त (चक्रों) को आत्मसंवित् में (लीन कर देने चाहिए) । आपूरित वह संवित् उपास्यमान होती हुई संसारसागर के लिए प्रलयाग्नि हो जाती है ॥ ७-८ ॥

उनके स्वामियों में = ब्रह्मा इत्यादि में । उनको = उनके स्वामियों को, भी

कल्पिते रूपे 'पूर्ववत्' कालाध्वनिरूपितनीत्या 'गालयेत्' देहादारभ्य यथोत्तरं विश्रमयेत्, यावत् 'क्रमात्' प्राप्तावसरं 'तत् समस्तम्' देहादि स्वसंवित्सात्कुर्यात्, येनास्य सा संविदशेषवेद्यग्रासीकारेण पूर्णा सती 'उपास्यमाना' भूयोभूयस्तथा परिशील्यमाना द्वयाद्यवभासतिरस्कारेण परमाद्वयमयतया प्रस्फुरेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु

'अथ कालाग्निरुद्राधः कटाहः संव्यवस्थितः ।
कोटियोजनबाहुल्यस्तस्योर्ध्वे भुवनानि तु ॥
नवनवतिकोट्यश्चाप्यण्डानां तु सहस्रकम् ।
कोटीनां सप्ततिं लक्षाण्ययुतानां सहस्रकम् ॥
अर्बुदान्यथ वृन्दानि खर्वाणि च तथैव च ।
पद्मानि चाप्यसंख्यानीत्येवमादीन्यनेकशः ॥' (स्व० १०।४)

इत्याद्युक्त्या भुवनानामानन्त्ये तदधीशानामपि आनन्त्यम्,—इति तेषां प्रत्येकमेवमनुसंधाने जन्मसहस्रैरपि न कश्चित् पारं यायात्—इत्येतदशक्यानुष्ठानम्—इत्याशङ्क्याह—

श्रीमद्दीक्षोत्तरे चैतानध्वेशान् गुरुरब्रवीत् ।

'गुरुः' इत्याद्यः श्रीकण्ठनाथः । अब्रवीदिति नैयत्येन ॥

देह बुद्धि प्राण शून्यात्मक कल्पितरूपों में । पूर्ववत् = देह से लेकर उत्तरोत्तर विश्राम कराना चाहिए । जबतक क्रम से अवसरप्राप्ति के अनुसार वह समस्त देह आदि अपने संवित्रूप में न हो जाए जिससे इसकी वह संवित् समस्त वेद्य को निगल जाने के कारण पूर्ण होती हुई उपासित होती हुई = बार-बार परिशीलित होती हुई द्वित्व आदि अवभास के तिरस्कारपूर्वक परमाद्वय के रूप में स्फुरित होती है ॥ ७-८ ॥

प्रश्न—"कालाग्निरुद्र के नीचे एक करोड़ योजन विस्तृत कराह है । उसके ऊपर ९९ करोड़ भुवन हैं । अण्डों की संख्या हजार, ७० करोड़, दशहजार लाख, हजार, अरब, वृन्द, खर्व, पद्म, और इस प्रकार अनेक प्रकार से असंख्य है ।" (स्व० तं० १०।४)

इत्यादि उक्ति के द्वारा भुवनों के अनन्त होने पर उनके अधिष्ठाता भी अनन्त हैं । फिर उनमें से प्रत्येक का इस प्रकार अनुसन्धान करने पर हज़ारों जन्म में भी कोई पार नहीं पा सकता—इस प्रकार इसका अनुष्ठान अशक्य है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दीक्षोत्तर तन्त्र में गुरु ने इन अध्वा-स्वामियों को बतलाया है ॥ ९- ॥

गुरु = प्रथम (गुरु) श्रीकण्ठनाथ । बतलाया है—निश्चित रूप से ॥ ८ ॥

तत्रत्यमेव ग्रन्थं पठति—

ब्रह्मानन्तात्प्रधानान्तं विष्णुः पुंसः कलान्तगम् ॥ ९ ॥
रुद्रो ग्रन्थौ च मायायामीशः सादाख्यगोचरे ।
अनाश्रितः शिवस्तस्माद्व्याप्ता तद्व्यापकः परः ॥ १० ॥

ब्रह्माण्डकर्परिकाधोवर्तिनोऽनन्तात्प्रभृति प्रधानान्तं ब्रह्मा व्याप्ता—इति संबन्धः । एवमुत्तरत्रापि योजनीयम् । ग्रन्थौ चेति, चशब्देन तद्गतरूपायामपि मायायां रुद्रो व्याप्तेत्यर्थः । 'ईशः' इतीश्वरः । 'सादाख्यगोचरः' इति शुद्ध-विद्यादितत्त्वत्रयानि । 'तस्मात्' इति सादाख्यगोचरात् अर्थादूर्ध्वं शक्तितत्त्वस्थाने तु 'तद्व्यापकः' इति तेषां ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां पञ्चानामपि कारणानां व्यापकः परः शिवः—इत्यर्थः । अतश्च नियतत्वात्तदीशानां प्रत्युतैतत् सुखोपायम्, इत्यतः परमन्यज्ज्ञानं नास्तीत्युक्तप्रायम् ॥ १० ॥

यदभिप्रायेणैव श्रीस्वच्छन्दशास्त्रमप्येवमाह—

एवं शिवत्वमापन्नमिति मत्वा न्यरूप्यत ।
न प्रक्रियापरं ज्ञानमिति स्वच्छन्दशासने ॥ ११ ॥

यदुक्तं तत्र—

वहीं का ग्रन्थ पढ़ते हैं—

अनन्त से लेकर प्रधान तक ब्रह्मा, पुरुष से लेकर कला तत्त्व तक विष्णु, मायाग्रन्थि में रुद्र, सदाशिव तत्त्व में ईश्वर, उससे ऊपर (शक्ति तत्त्व) में सर्वत्र व्याप्त रहने वाले अनाश्रित शिव व्याप्त रहने वाले है ॥ -९-१० ॥

ब्रह्माण्डकटाह के नीचे वर्त्तमान अनन्त से लेकर प्रधान (तत्त्व) तक ब्रह्मा व्यापी है—इस प्रकार सम्बन्ध है । इसी प्रकार आगे भी जोड़ लेना चाहिए । 'और ग्रन्थि' में यहाँ 'और' शब्द से उस रूपवाली माया में भी रुद्र व्यापक है । ईश = ईश्वरः । सादाख्यतत्त्व, शुद्धविद्या आदि (= ईश्वर और सदाशिव) तीन तत्त्व में व्याप्त है । उससे = सादाख्यविषय से ऊपर शक्तितत्त्व स्थान में । तद्व्यापक = उन ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित शिव तक पाँचों कारणों का व्यापक परमशिव । इसलिए उनके स्वामियों के नियत होने के कारण यह सुखोपाय है । इस प्रकार इससे बढ़कर दूसरा कोई ज्ञान नहीं है—यह भी कहा गया ॥ ९-१० ॥

जिस अभिप्राय से ही स्वच्छन्दशास्त्र भी ऐसा कहता है—

इस प्रकार शिवत्व की प्राप्ति होती है—ऐसा मानकर स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया कि प्रक्रिया से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है ॥ ११ ॥

जैसा कि वहाँ कहा गया है—

'नास्ति दीक्षासमो मोक्षो न विद्या मातृकापरा ।
न प्रक्रियापरं ज्ञानं नास्ति योगस्त्वलक्षकः ॥'

(११।१९८) इति ॥ ११ ॥

नन्वेवमध्वनोऽनुसंधाने कथं बोधस्य साक्षात्कारो भवेत्?—इत्याशङ्क्याह—

त्रिशिरःशासने बोधो मूलमध्याग्रकल्पितः ।
षट्त्रिंशत्तत्त्वसंरम्भः स्मृतिर्भेदविकल्पना ॥ १२ ॥
अव्याहतविभागोऽस्मिभावो मूलं तु बोधगम् ।
समस्ततत्त्वभावोऽयं स्वात्मन्येवाविभागकः ॥ १३ ॥
बोधमध्यं भवेत्किंचिदाधाराधेयलक्षणम् ।
तत्त्वभेदविभागेन स्वभावस्थितिलक्षणम् ॥ १४ ॥
बोधाग्रं तत्तु चिद्बोधं निस्तरङ्गं बृहत्सुखम् ।

श्रीत्रिशिरोभैरवे हि बोध एव मूलमध्याग्रकल्पितः सन् षट्त्रिंशत्तत्त्व-संरम्भस्तथोल्लसितः,—इत्यर्थादुक्तम्, येन तदनुसंधानाद्बोधसाक्षात्कारः स्यात् । तदेवार्थद्वारेण पठति—'स्मृतिः' इत्यादि । इह खलु यो नाम 'अस्मिभावः'

'बुद्ध्यस्मितासुसंरूढो गुणान्पूर्वं विभेद्य च ।

दीक्षा के समान मोक्ष, मातृका से बढ़कर विद्या, प्रक्रिया से बढ़कर ज्ञान और बिना लक्ष्य (= विश्रान्ति धाम) के कोई योग नहीं है ॥ ११ ॥ (स्व० तं० ११।९८)

प्रश्न—इस प्रकार अध्वा का अनुसन्धान होने पर बोध का साक्षात्कार कैसे होता है? यह शङ्का कर कहते हैं—

त्रिशिरोभैरव में बोध मूल मध्य और अग्र (तीन भाग में) कल्पित होकर ३६ तत्त्वों में उल्लखित है । स्मृति, भेदज्ञान, स्पष्ट विभाग वाला अस्मिभाव (ये) बोध के मूल हैं । अपने आत्मा में ही बिना विभाग के समस्त तत्त्वों की भावना बोध का मध्य होता है (जिसमें) थोड़ा-थोड़ा आधार-आधेय भाव होता है । तत्त्वों के भेद के अपसारण के द्वारा स्वभाव में स्थित होना बोध का अग्र (रूप) हैं और वह चिद्बोधरूप तरङ्गहीन महासुख है ॥ १२-१५- ॥

त्रिशिरोभैरव में बोध ही मूल मध्य और अग्र (तीन) रूपों में कल्पित होकर, छत्तीस तत्त्व के संरम्भवाला = उस रूप में उल्लखित होने वाला है—यह अर्थात् कहा गया । जिससे उसका अनुसन्धान होने से बोध का साक्षात्कार होता है । उसी को अर्थ के द्वारा कहते हैं—स्मृति इत्यादि—

यहाँ जो अस्मिभाव है—

विचारयेद्भूतधर्मान् पृथिव्यादिक्रमेण तु ॥'

इत्यादितत्रत्योक्त्या अनात्मरूपबुद्ध्यादिनिष्ठाहंभावः संकुचितः प्रमाता स स्मृतिर्भेदविकल्पना च तत्स्वभाव—इत्यर्थः । स हि 'इदमहं जानामि' इति भेदेनैव विश्वं विकल्पयेत् । न केवलं सद्रूपमेवार्थमेवं विकल्पयेत्, यावद्दग्ध-पित्रादिविषये स्मृतिविकल्पादावसदपि,—इत्युक्तं 'स्मृतिः' इति । अत एवेदन्तायाः प्राधान्यादव्याहतविभागः सुस्फुटभेदात्मक—इत्यर्थः । तच्च बोधगं मूलं बोधस्य परां कोटिं प्राप्तं स्थौल्यमुच्यते,—इत्यर्थः । तथा अयं भेदेनोल्लसितः 'समस्त-तत्त्वभावो' भूतभावादिः 'इदमहम्' इति न्यायेन बोधरूपे 'स्वात्मन्येव' विश्रान्तोऽत एव 'अविभागको' विगलितभेदो बोधमध्यं भवेत् नतु बोधाग्रम्; यतस्तदहन्ते-दन्तयोः सामानाधिकरण्यात् आमुखे भेदप्रतिभासात् 'किंचिदाधाराधेयलक्षणम्' किंचित्पदेन बोधमूलवन्न भेदप्रधानं नापि बोधाग्रवदभेदप्रधानम्,—इति प्रकाशितम्; अत एव अन्तरालवर्तित्वात् 'मध्यम्'—इत्युक्तम् । तथा तत्त्वानां भेदस्य 'विभागेन' मूलत एव शातनेन यत् 'अहम्' इत्यामर्शरूपे स्वात्मन्येवावस्थानं तत् 'बोधाग्रम्' सकलभावाविभागस्वभावः, परां काष्ठां प्राप्तो बोधः—इत्यर्थः । अत एव तच्चिद्बोधरूपं न तु अणुबोधरूपम्, निस्तरङ्गं न तु क्षुब्धम्, 'बृहत् सुखम्'

"बुद्धि की अस्मिता मे सम्यक् आरूढ़ हुआ (साधक), पहले गुणों का भेदन करे (फिर) पृथिव्यादि के क्रम से भूतों के धर्म का विचार करे ।"

इत्यादि वहीं की उक्ति से अनात्मरूप बुद्धि आदि में लगा हुआ अहंभाव ही संकुचित प्रमाता है । वह स्मृति और भेद विकल्पना अर्थात् उसी के स्वभाववाला है । वह (= संकुचित प्रमाता) 'मैं इसे जानता हूँ' इस प्रकार भेदपूर्वक विश्व की कल्पना करता है । वह केवल सद्रूप ही अर्थ की ऐसी (= भेदमयी) कल्पना नहीं करता बल्कि दग्धपितृ आदि के विषय वाले स्मृतिविकल्प आदि असत् में भी (उसके द्वारा कल्पना की जाती है)—इसलिए कहा गया—स्मृतिः । इसीलिए इदन्ता की प्रधानता के कारण (यह बोध) अव्याहत विभाग वाला = भली भाँति स्फुट भेदवाला, है । वह बोध का मूल = बोध की अन्तिम स्थिति को प्राप्त स्थूलता, कही जाती है—यह अर्थ है । तथा यह भेदपूर्वक उल्लखित समस्त तत्त्वभाव = भूतभाव आदि 'यह मैं हूँ' इस न्याय से बोधरूप अपनी आत्मा में ही विश्रान्त है इसीलिए 'अविभागक' = भेदहीन, बोध का मध्य है न कि बोध का अग्र क्योंकि तत्ता और इदन्ता का सामानाधिकरण्य होने से प्रारम्भ में भेद का आभास होने के कारण यह कुछ आधाराधेय रूप है ।

'किञ्चित्' पद से बोधमूल के समान न भेद-प्रधान और न ही बोधाग्र के समान अभेद-प्रधान है—यह प्रकाशित किया गया। इसी कारण बीच में रहने से 'मध्य' कहा गया । तत्त्वों के भेद के विभाग के द्वारा = मूल से ही काट देने से जो 'अहम्' इस प्रकार के आदर्शरूप आत्मा में ही स्थिति होती है वह = बोधाग्र = समस्तभावों का अविभाग = अन्तिम सीमा को प्राप्त बोध है । इसीलिए वह

जगदानन्दरूपं न तु अनानन्दादिरूपमित्यर्थः । यदुक्तं तत्र—

'षट्त्रिंशत्तत्त्वविषये यद्भेदेन विकल्पना ।
स्मृतिः सुस्फुटभेदात्मा मितमाता तदुच्यते ॥
प्रान्तावस्थितिविज्ञानं स्थौल्यं बोधस्य भैरवि ।
समस्ततत्त्वभावोऽयं नावलोक्यो विभागशः ॥
स्वात्मनि संस्थितं विन्द्याद् बोधमध्यं तदुच्यते ।
आधाराधेयभावोऽयमुभयावस्थितस्य च ॥
तत्त्वभेदविभागेन स्वभावस्थितिलक्षणम् ।
तत्पदस्थो न विन्देत चिद्व्योमान्तरवर्तिनः ॥
तदतीतं विजानीयान्मध्यमं प्राप्त्यवस्थितम् ।
प्रान्तावस्थितिविज्ञेयं बोधाग्रं तदिहोच्यते ॥
शक्तिज्ञानं विजानीयात्परमानन्दलक्षणम् ।
नित्योदितं सुखं विद्धि निस्तरङ्गं तु कथ्यते॥
बृहत्सुखेति कथितं चिद्बोधं तु निगद्यते ।' इति ॥ १४ ॥

एवं षड्विधेऽप्यध्वनि संविदैकात्म्यं परिशीलयतो योगिनो भैरवीभाव एव भवेत्—इत्याह—

संविदेकात्मतानीतभूतभावपुरादिकः ॥१५ ॥
अव्यवच्छिन्नसंवित्तिर्भैरवः परमेश्वरः ।

चिद्बोधरूप है न कि अणुबोधरूप, निस्तरङ्ग है न कि क्षुब्ध, बृहद् सुख = जगदानन्द रूप है न कि अनानन्द आदि रूप । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"छत्तीस तत्त्वों के विषय में जो भेदपूर्वक विकल्पना, स्मृति है स्पष्ट भेद वाली वह मितप्रमाता कही जाती है । हे भैरवि ! प्रान्त में जिसकी स्थिति का ज्ञान होता है ऐसी बोध की स्थूलता (जहाँ) यह समस्त तत्त्व भाव अलग-अलग न दिखाई पड़ता हो (प्रत्युत) अपने में स्थित प्रतीत होता हो उसे बोधमध्य कहा जाता है । यह दोनों रूपों में स्थित का आधाराधेय भाव है । तत्त्वभेद के अपसारण के साथ, उस पद में स्थित, स्वभावस्थिति वाले, चिदाकाश में वर्त्तमान लोगों को आभास नहीं करते । उससे परे को प्राप्ति में स्थित मध्यम बोध जानना चाहिये । (चिदाकाश) के प्रान्त में स्थिति के द्वारा विज्ञेय को यहाँ बोधाग्र कहा जाता है । शक्तिज्ञान को परमानन्द रूप जानना चाहिये । उसे नित्योदित निस्तरङ्ग सुख बृहत्सुख चिद्बोध कहा जाता है ॥ १४ ॥

इस प्रकार छहों अध्वाओं में संविद् की एकात्मता का परिशीलन करने वाले योगी को भैरवीभाव प्राप्त हो जाता है—यह कहते हैं—

संविद् के साथ एकात्मता के द्वारा जिसका भूतभाव पुरा आदि समाप्त

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि,—इत्याह—

श्रीदेव्यायामले चोक्तं षट्त्रिंशत्तत्त्वसुन्दरम् ॥ १६ ॥
अध्वानं षड्विधं ध्यायन्सद्यः शिवमयो भवेत् ।

'ध्यायन्' इति स्वसंविदभेदेन परामृशन्नित्यर्थः । यदुक्तं तत्र—

'अध्वानं निखिलं देवि तत्त्वषट्त्रिंशदुज्ज्वलम् ।
चिन्तयन् सद्य आप्नोति पदं शाश्वतमुत्तमम् ॥' इति ॥ १६ ॥

ननु यदि नाम बोधात्मैव षड्विधोऽपि अयमध्वा, तद्बोधस्य देशाद्यनवच्छिन्नत्वात् कथमस्योर्ध्वादिव्यवस्था स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

यद्यप्यमुष्य नाथस्य संवित्त्यनतिरेकिणः ॥ १७ ॥
पूर्णस्योर्ध्वादिमध्यान्तव्यवस्था नास्ति वास्तवी ।
तथापि प्रतिपत्तॄणां प्रतिपादयितुस्तथा ॥ १८ ॥
स्वस्वरूपानुसारेण मध्यादित्वादिकल्पनाः ।

प्रतिपत्रादयो हि संकुचितरूपत्वात् गृहीतदेहाद्यभिमानाः—इति तदनुसारेणो-

---

कर दिया गया है, अनवच्छिन्न संवित् वाला (वह) भैरव परमेश्वर हो जाता है ॥ -१५-१६- ॥

यह केवल यहीं नहीं कहा गया किन्तु अन्यत्र भी—यह कहते हैं—

श्रीदेवीयामल में कहा गया है कि ३६ तत्त्वों से सुन्दर छ प्रकार के अध्वा का ध्यान करने वाला (योगी) उसी दिन (= तत्काल) शिवमय हो जाता है ॥ -१६-१७- ॥

ध्यान करता हुआ = अपने को संविद् से अभिन्न रूप में परामर्श करता हुआ। जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"हे देवि ! छत्तीस तत्त्वों से उज्ज्वल (= प्रकाशमान) उस समस्त अध्वा का चिन्तन करता हुआ योगी तत्काल शाश्वत उत्तम पद को प्राप्त करता है" ॥ १६ ॥

प्रश्न—यदि यह छ प्रकार का भी अध्वा बोधस्वरूप ही है तो बोध के देश आदि (= काल) से अनवच्छिन्न होने के कारण इसकी ऊर्ध्व आदि व्यवस्था कैसे होती है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यद्यपि संविद् से अभिन्न, पूर्ण इस परमेश्वर की ऊर्ध्व से लेकर मध्य तक की व्यवस्था वास्तविक नहीं है तो भी ज्ञाता और प्रतिपादक के अपने-अपने रूप के अनुसार मध्य आदि की कल्पना होती ही है ॥ -१७-१९- ॥

ज्ञाता आदि संकुचितरूप होने के कारण देह आदि के अभिमानी होते हैं—

र्ध्वादिव्यवस्थां कल्पयेयुः, न तु वस्तुतः सा संभवेत्; अत एवोर्ध्वमप्यन्यापेक्षयाधः स्यात् । तस्मात् प्रतिपत्राद्यपेक्षयैवेयं व्यवस्था—यत् पृथिवीतत्त्वं सर्वतत्त्वान्तर्वर्ति तत्त्वान्तराणि च तद्बहिरिति ॥ १८ ॥

तदाह—

ततः प्रमातृसङ्कल्पनियमात् पार्थिवं विदुः ॥ १९ ॥
तत्त्वं सर्वान्तरालस्थं यत्सर्वावरणैर्वृतम् ।

पृथिवीतत्त्वमेव च स्थौल्यस्य परा कोटिः, इति तदुपक्रमं सुखेनावबोधात् तत्रैव प्रथमं भुवनस्थितिरुच्यते,—इत्याह—

तदत्र पार्थिवे तत्त्वे कथ्यते भुवनस्थितिः ॥ २० ॥

तामेवाह—

नेता कटाहरुद्राणामनन्तः कामसेविनाम् ।
पोतारूढो जलस्यान्तर्मद्यपानविघूर्णितः ॥ २१ ॥
स देवं भैरवं ध्यायन् नागैश्च परिवारितः ॥

जलस्यान्तरित्यर्थात् तदुपरि संस्थितः । यदुक्तम्—

इसलिए उसके अनुसार ऊर्ध्व आदि की व्यवस्था की कल्पना करते हैं किन्तु वह वस्तुतः सम्भव नहीं है । इसलिए ऊर्ध्व भी दूसरे की अपेक्षा अधः हो जाता है । इसलिए ज्ञाता आदि की अपेक्षा से ही यह व्यवस्था होती है कि पृथ्वी तत्त्व सब तत्त्वों के अन्दर रहने वाला है और दूसरे तत्त्व उसके बाहर हैं ॥ १८ ॥

वही कहते हैं—

इसलिए प्रमाता के सङ्कल्प के नियम से पार्थिव तत्त्व को सभी के अन्तराल में स्थित माना गया है जो कि सब आवरणों से आच्छादित है ॥ -१९-२०- ॥

पृथिवी तत्त्व ही स्थूलता की अन्तिम सीमा है इसलिए उसका उपक्रम आसानी से जाना जा सकता है (फलतः) पहले उसी में भुवनों की स्थिति कही जा रही है—यह कहते हैं—

तो इस पार्थिव तत्त्व में भुवनों की स्थिति कही जा रही है ॥ -२० ॥

उसी को कहते हैं—

कामसेवी कटाहरुद्रों के नेता अनन्त भगवान् जल के भीतर नाव पर आरुढ, मद्यपान से मत्त (नाविक के समान संसार का सञ्चालन करते) हैं। वे नागों से घिरे हुये भैरव देव (= परमेश्वर) का ध्यान करते रहते हैं ॥ २१-२२- ॥

'संस्थितः सोऽम्भसां मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः।' इति ।

अत एव चास्य अप्तत्त्वसंनिकर्षेण कटाहस्याधो बहिर्देशेऽवस्थानं न त्वन्तः,—इति सिद्धम् । यदुक्तं श्रीनन्दिशाखायाम्—

'कोटियोजनतः स्थौल्यं ब्रह्माण्डस्य कटाहके ।
तथैवोर्ध्वं स्थितं ज्ञेयमन्तरं कथ्यते प्रिये ॥
अष्टानवतिकोटीभिर्ब्रह्माण्डं समुदाहृतम् ।'

इत्युपक्रम्य

'कटाहाधः स्थितं देवि हूहुकं भुवनेश्वरम् ।
शक्त्याधारं तु जानीयादनन्तं वरवर्णिनि ॥' इति ।

श्रीत्रिशिरोभैरवेऽपि—

'ब्रह्माण्डबाह्यतोऽनन्तो विश्वाधारस्तु कथ्यते ।' इति ।

अन्तरवस्थाने चास्य

'दशकोटिमितं तत्तु पोतैः सर्वत्र तत्समम् ।
ऊर्ध्वं तस्य सुरेशानि कोटिमात्रं तमः परम् ॥'

इत्याद्युक्तं भुवनादिमानं वक्ष्यमाणब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभुवनमानसंख्यातोऽतिरिच्येत,

---

जल के भीतर अर्थात् उसके ऊपर, स्थित है । जैसा कि कहा गया है—

"शक्ति के आधारभूत हुहूक जल के ऊपर स्थित है ।"

इसीलिए जलतत्त्व के सन्निकर्ष के कारण कटाह के नीचे बाहर इनकी स्थिति है न कि भीतर—यह सिद्ध हो गया । जैसा कि नन्दिशिखा में कहा गया है—

"हे प्रिये ! ब्रह्माण्ड कटाह में स्थूलता का विस्तार एक करोड़ योजन है । उसी प्रकार इसे ऊपर भी स्थित समझना चाहिये अब अन्तर कहा जा रहा है ॥ ब्रह्माण्ड ९८ करोड़ योजन विस्तार वाला हैं ॥"

इस प्रकार प्रारम्भ कर

"हे देवि ! ब्रह्माण्ड कटाह के नीचे हुहूक (नामक) भुवनेश्वर स्थित हैं । हे वरवर्णिनी ! उन्हें शक्ति का आधार अनन्तनाथ समझना चाहिए ।"

त्रिशिरोभैरव में भी—

"ब्रह्माण्ड के बाहर अनन्त भगवान् हैं जो विश्वाधार कहे जाते हैं ।" भीतर स्थित होने पर इनकी—

"वह दश करोड़ (संख्या) वाले पोतों से सर्वत्र युक्त है । हे सुरेशानि ! उसके ऊपर एक करोड़ (योजन) अन्धकार है ।"

—इति तत्संख्याया आसमञ्जस्यं स्यात् । ननु यद्येवं तदनन्तस्य—

'ब्रह्माण्डमण्डपस्यान्तर्भुवनानि विशोधयेत् ।
आदावनन्तभुवनं कौष्माण्डं हाटकेश्वरम् ॥
अनन्तभुवनस्यानु कालाग्निभुवनं महत् ।
शार्वं ब्राह्मं वैष्णवं च रौद्रं भुवनमुत्तमम् ॥
ब्रह्माण्डोदरमध्ये तु अष्टावेते प्रकीर्तिता: ।'

इत्यादीनामन्त:स्थितिविधायकानां वाक्यानां कोऽर्थ: स्यात् । किञ्च

'ब्रह्मणोऽण्डस्य शकलं कोटिमात्रं प्रमाणत: ।
तदूर्ध्वं कालरुद्रस्तु दशेशानसमन्वित: ॥
कोटिमात्रं पुरं तस्य तज्ज्वाला दशकोटय: ।
अनन्तोऽध: पद्म ऊर्ध्वे अन्ये तु क्रमश: स्थिता: ॥' इति ।

तथा

'अध: कालान्तगो रुद्रो दशेशस्थानमध्यग: ।
पद्मश्चोर्ध्वमधोऽनन्तस्तथान्ये क्रमवर्तिन: ॥'

इत्याद्युक्त्या कालाग्निभुवनान्तरेव अस्य भुवनं न तु पृथक्—इति वक्ष्यमाणाया भुवनसंख्याया अपि न किंचिदासमञ्जस्यम् । इह च अनन्तस्य

इत्यादि के द्वारा उक्त भुवन आदि का परिमाण, वक्ष्यमाण ब्रह्माण्ड के भीतर वर्त्तमान भुवनमान की संख्या से भिन्न हो जाएगा इस कारण उसकी संख्या का आसमञ्जस्य (= असमीचीनता) हो जाएगा । प्रश्न—यदि ऐसा है तो

''ब्रह्माण्डमण्डप के भीतर (वर्त्तमान) भुवनों का शोधन करना चाहिए । पहले अनन्तभुवन पुन: कौष्माण्ड, हाटकेश्वर, अनन्तभुवन के बाद महान् कालाग्नि (फिर) शार्व, ब्रह्म, वैष्णव और भुवनों में उत्तम रौद्र, ब्रह्माण्डोदर के बीच ये आठ (भुवन) कहे गए हैं ।''

इत्यादि अनन्त की अन्त:स्थिति के विधायक वाक्यों का क्या मतलब होगा? और

''ब्रह्माण्ड के टुकड़े एक करोड़ परिमाण वाला है । उसके ऊपर काल रुद्र दश ईशानों से युक्त है । उसका पुर एक करोड संख्या वाला है । उसकी ज्वालायें दश करोड़ योजन तक फैली हैं । नीचे अनन्त ऊपर पद्म उसके ऊपर क्रमश: अन्य पद्म स्थित हैं ॥''

तथा—''नीचे कालान्तरुद्र, मध्य में दश ईशान, पद्म ऊपर और उसके नीचे अनन्त इसी प्रकार क्रमश: रहने वाले दूसरे भी हैं ।''

इत्यादि उक्ति के द्वारा कालाग्नि भुवन के भीतर ही इस (अनन्त) का भुवन है

श्रीसिद्धातन्त्रोक्तं भुवनमानं न ग्राह्यमेव,

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्माद्यत्र यदेवोक्तं तत्कार्यं नान्यतन्त्रतः ॥'

इत्याद्युक्त्या तत्प्रक्रियाया भिन्नत्वात् । तथा च इह नरकाणां द्वात्रिंशत्कोटयो मानं तत्रैकविंशतिः । यदुक्तम्—

'तस्योर्ध्वे नरका घोरा एकविंशतिकोटयः ।' इति ।

इहापि

'अण्डस्यान्तरनन्तः........................ ।' (८।३९३) इति,
'अष्टावन्तः साकं शर्वेण................ ।' (८।३९७)

इति च वक्ष्यमाणं व्याहन्येत—इति किमत्र प्रतिपत्तव्यम्? इदमत्र प्रतिपत्तव्यं यदनन्तस्य बहिरवस्थानमिति । तथाहि—श्रीतन्त्रराजभट्टारके

'ब्रह्माण्डमण्डपान्तर्.......................... ।'

इत्यादिकमनन्तस्य नान्तःस्थितेर्विधायकम्, किन्त्वेवं शुद्धिक्रमस्य तदवस्थितेः पूर्वमुक्तत्वात्, एतावन्मात्रस्यैवात्र विवक्षितत्वात् । यदुक्तं तत्र—

न कि उससे पृथक् । इसलिए वक्ष्यमाण भुवनसंख्या का भी कोई अनौचित्य नहीं है। यहाँ सिद्धा (= मालिनीविजय) तन्त्र में कहा गया भुवनमान नहीं लेना चाहिए क्योंकि—चूँकि क्रिया आदि की भिन्नता के भेद से तन्त्रभेद माना गया है इस कारण जहाँ जो कहा गया (वहाँ) उसी को करना चाहिए न कि दूसरे तन्त्र के अनुसार ।"

इत्यादि उक्ति के कारण उसकी प्रक्रिया भिन्न है । उसी प्रकार यहाँ नरकों की संख्या ३२ करोड़ है वहाँ २१ करोड़ । जैसा कि कहा गया है—

"उसके ऊपर २१ करोड़ घोर नरक हैं ।"

यहाँ भी—

"अण्ड के भीतर अनन्त......... ।" (तं०आ० ८।३९३)

"सर्व के साथ भीतर आठ......... ।" (तं०आ० ८।३९७)

यह आगे कहा जाने वाला कथन खण्डित हो जाएगा । प्रश्न है तो यहाँ क्या मानना चाहिए ? उत्तर देते हैं—यहाँ यह मानना चाहिए कि अनन्त की स्थिति बाहर है । तन्त्रराजभट्टारक में—

ब्रह्माण्डमण्डप के भीतर... ।'

इत्यादि (वर्णन) अनन्त की अन्तःस्थिति का विधायक नहीं है किन्तु इस प्रकार होने वाले शुद्धि के क्रम का (विधायक है) क्योंकि उसकी स्थिति पहले कही गई

'अतो' भुवनदीक्षान्या शृणु पार्वति तत्त्वत: ।
आदिष्ट्के पुरा प्रोक्तमेतन्निखिलतो मया ॥
तथापि तव वक्ष्यामि संक्षेपादिह भामिनि ।

इत्युपक्रम्य

'तेषां विभागमधुना शृणु वीरेन्द्रवन्दिते ।' इति ।

तत्र च अस्यादिषट्के बहिरेवावस्थानं विहितम् । यदुक्तम्—

'यत्तद्भूम्यण्डकं भाति पीतमम्बुजजन्मन: ।
तस्याधोभागगा भान्ति पूर्वदृष्टान्तकारका: ॥
शेषाहिफणमाणिक्यविश्वकर्म्मप्रसादत: ।'

इत्युपक्रम्य

'अनन्तशक्तिचन्द्रांशुपीयूषोर्मिभिरुल्वणै: ।
आलिङ्गितमतश्चोच्चैरप्तत्वाध: पथोच्छलत् ॥
भुवनं तस्य वीरस्य भात्यनन्तस्य स्वश्रिया ।
अनन्तवनितावक्त्रपद्मषण्डसर: सदा ॥'

इति विशेष्य

'ततो हूहुकरुद्रस्य चूडामणिनभ (विव) स्वत: ।

है—इतना ही यहाँ विवक्षित है । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"हे पार्वति ! अब दूसरी भुवनदीक्षा को ठीक से सुनो । मैंने प्रथम छ (आह्निकों) में इसे पूरी तरह कह दिया है तो भी हे भामिनि ! संक्षेप में तुम्हें बता रहा हूँ ।" ऐसा प्रारम्भ कर

"हे वीरेन्द्रवन्दिते ! अब उनका विभाग सुनो ।"

वहाँ प्रथम छ (आह्निकों) में इसकी स्थिति बाहर ही कही गई है । जैसा कि कहा गया है—

"जो वह ब्रह्मा का भूमिअण्डवाला पोत आभासित होता है उसके नीचे वर्त्तमान पूर्वदृष्टान्तकारक शेषनाग के फण पर माणिक्य के समान शोभायमान भुवन जो कि विश्वकर्मा के प्रसाद से निर्मित हैं, भासित होते हैं । ऐसा प्रारम्भ कर

"तीव्र, अनन्तशक्ति वाले चन्द्रमा की किरणरूपी अमृत की लहरों से आलिङ्गित, इसलिए जलतत्त्व के नीचे उच्चमार्ग से उछलता हुआ, उस अनन्त वीर का भुवन है जो कि अनन्तवनिताओं के मुखकमल के षण्डों (= समूहों, से पूर्ण) तालाब रूप है, सदा शोभायमान रहता है ।"

इस प्रकार वैशिष्ट्य बतला कर

त्विषा प्रध्वस्ततिमिरं पुरं वीरगणाकुलम् ॥'

इत्यादिना हूहुकरुद्राणां भुवनानि,

'भैरवीयमहारज्जुप्रबद्धानि महेश्वरि ।
एतान्यप्सु पुराण्यत्र निभृतानि शिवात्मना ॥
लक्षोच्छ्रितानि सर्वाणि सलिलावर्तगानि च ।'

इत्यादिना च तेषां देशं मानं चाभिधाय

'समन्ताद् ब्रह्मणोऽण्डं तु शतकोटिप्रविस्तरम्।
कटाहं च स्मृतं कोटिः शतरुद्रैः समन्वितम् ॥' इति ।

यत्पुनः

'.......................अन्तर्भुवनानि विशोधयेत् ।'

इत्याद्युक्तं तन्मल्लग्रामवद्भूम्ना व्याख्येयम्, अन्यथा हि पूर्वापरव्याघातः स्यात्। एवमत्र अनन्तपूर्वकं शतरुद्रपर्यन्तं भुवनानां शुद्धौ यौगपद्येन तदसंपत्तेः क्रममात्रमेवाभिधित्सितं न त्वन्तर्बहीरूपत्वमपि, तथात्वे तच्छुद्धावविशेषात् । एवं

'एतेषां तु अधस्ताद्वै कालाग्निभुवनं ततः ।
हूहुकाश्च तथा देवि ब्रह्माण्डोदरवर्तिनः ॥'

"इसके बाद हुहूकरुद्र के चूड़ामणिरूपी सूर्य की कान्ति से ध्वस्त अन्धकारवाला, वीरगणों से व्याप्त (हुहूक रुद्रों का) पुर है ।"

इत्यादि के द्वारा हुहूकरुद्रों के भुवनों की और

"हे महेश्वरि ! भैरवीय महा रज्जु से बँधे हुये ये पुर जो कि लाखों की संख्या में ऊँचे तथा पानी की भँवर में जाने वाले थे । शिव के द्वारा जल मे विलीन कर दिये गए ।"

इत्यादि के द्वारा उनके देश और परिमाण को बतलाकर—

"ब्रह्माण्ड के चारो ओर सौ करोड़ (योजन) विस्तीर्ण एवं करोड़ों शतरुद्रों से समन्वित एक कटाह माना गया है ।" और जो—

"...............अन्तर्भुवनों का शोधन करना चाहिए ।"

इत्यादि कहा गया उसकी मल्लग्राम के समान अधिकता से व्याख्या करनी चाहिए । नहीं तो पूर्वापर में विरोध हो जाएगा । इस प्रकार अनन्त से लेकर शतरुद्र पर्यन्त भुवनों की शुद्धि होने पर एक साथ उनकी प्राप्ति न होने से केवल क्रम को ही दिखलाना इष्ट था न कि अन्तः और बाह्यरूपता को भी । क्योंकि वैसा होने पर उनकी शुद्धि में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता ।

"हे देवि ! इनके नीचे कालाग्नि भुवन है उसके नीचे ब्रह्माण्ड के उदर में

इत्यादावपि व्याख्येयम् । एतच्चोत्तानतयैव गृहीत्वा संग्रहकाराः प्रवृत्ताः—इति तत्र तत्र तथाभ्यधुः, येनास्य अन्तरवस्थाने भ्रान्तिबीजत्वं प्ररूढम् । तथा च सोमशंभुः —

'अथ हूहुककालाग्निरुद्रौ हाटक एव च ।
कूष्माण्डश्चाथ शर्वश्च ब्रह्मा विष्णुश्च सप्तमः ॥
रुद्रश्चाष्टाविमे रुद्राः कटाहस्यान्तरे स्थिताः ।' इति ।

गुरुभिरेतन्नाना विकल्पितम्,—इति तन्मतप्रदर्शनाशयेन

'अण्डस्यान्तरनन्त.................................. । (८।३९३) इति,
अष्टावन्तः साकं शर्वेण........................ । (८।३९७)

इति च पुरस्तादिह वक्ष्यति,—इति न पूर्वापरव्याहतत्वम् । यद्वक्ष्यति—

अथ सकलभुवनमानं यत्पूर्वं निगदितं निजैर्गुरुभिः ।
तद्वक्ष्यते समासाद् बुद्धौ येनाशु संक्रामेत् ॥'
(८।३९२) इति ।

यत्तु कालाग्निभुवनान्तरेवास्य भुवनं न पृथक्,—इत्युक्तं तदयुक्तम्; अयं हि हूहुकरुद्राधिपतेर्बहिरवस्थितात् पृथक्शोध्यादनन्तात् कालाग्नेर्भुवनान्तर्वर्ती

रहने वाले हुहूक (रहते हैं) ।''

इत्यादि में भी इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिए । इसे उत्तानरूप (= यथोक्त रूप) में लेकर ही संग्रहकार प्रवृत्त हुये इसलिए स्थान-स्थान पर (उन्होंने) वैसा कहा है जिससें इसकी अन्तःस्थिति के विषय में भ्रान्ति का बीज उत्पन्न हुआ । सोमशम्भु कहते हैं—

''हुहूक, कालाग्निरुद्र, हाटक, कूष्माण्ड, शर्व, ब्रह्मा विष्णु (जो कि) सातवें है और रुद्र आठवें, ये रुद्रगण कटाह के भीतर स्थित हैं ।''

गुरुओं ने इसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की है । इस प्रकार उनके मत को बतलाने के उद्देश्य से—

''अण्ड के भीतर अनन्त... ।'' (तं०आ० ८।३९३) और

''शर्व के साथ आठ भीतर... ।' (तं०आ० ८।३९७)

यह आगे चलकर कहेंगे । इस प्रकार पूर्वापर विरोध नहीं है जैसा कि कहेंगे—

''अब समस्त भुवनों का परिमाण, जो कि अपने गुरुओं के द्वारा कहा गया है, संक्षेप में कहा जाएगा जिससे शीघ्र बुद्धि में संक्रान्त हो जाए ।'' (तं०आ० ८।३९२)

जो कि 'कालाग्नि भुवन के भीतर ही इसका (= अनन्त का) भुवन है न कि

तत्परिवारभूतोऽन्यः । एतस्यैव हि तत्त्वे पृथक्शोध्यत्वमनभिधानीयम्, कालाग्निरुद्रशुद्ध्यैव तच्छुद्धेः; अन्यथा पद्मादीनामपि तदापतेत्—इति अन्तरनेके रुद्राः शोधनीयाः स्युः—इति वृत्तावष्टोत्तरादपि शतादधिकानि प्रसज्येरन् । एवमन्यैश्च यदस्य बहिर्देशावस्थानेऽपि अधःस्थशतरुद्रदशकान्यतरत्वमुक्तं तदप्ययुक्तम्; एवं हि अस्य तन्मध्यपाठेनैव गतार्थत्वादितरमेव पृथगभिधानं स्यात् । यच्च श्रीसिद्धातन्त्रोक्तं भुवनमानमिह न ग्राह्यम्—इत्युक्तं तदप्ययुक्तम्; यतो यदि नाम नरकादिवदनन्तभुवनस्येह मानं किंचिदुच्येत तत्प्रक्रियाभेदादन्यतन्त्रोक्तमग्राह्यमेव—इति स्यात् । भुवनस्य मानमवश्यभावि, तच्चेह नोक्तम्—इति तदाकाङ्क्षायामेव अवश्यमेवान्यतः कुतश्चिदपेक्षणीयम्—इति को नाम श्रीसिद्धातन्त्रे प्रद्वेषः । यद्वा श्रीतन्त्रराजभट्टारकेऽपि अस्य लक्षोच्छ्रितत्वमुक्तम्,—इति तदपेक्ष्यताम्, को नाम नो निर्बन्धः; यावता हि अस्माकमन्तर्भुवनमानसंख्याया आसमञ्जस्यमभिधानीयं तच्च उभयथापि सिद्ध्येत्—इत्यलं बहुना । 'कटाहरुद्राणाम्'—इति कटाहाधोवर्तिनां हूहकरुद्राणाम्; अतश्च तच्छुद्ध्यैव एतच्छुद्धिर्भवेदिति भावः । यदुक्तम्—

पृथक्—ऐसा कहा गया वह (कथन) असमीचीन है । यह उसका परिवारभूत दूसरा (भुवन) है जो कि हुहूक रुद्राधिपति के बाहर वर्त्तमान, अलग से शोधनीय, अनन्त कालाग्निभुवन के भीतर रहने वाला है । यदि यह इसी का तत्त्व होगा तो (उसका) अलग से शोध्य होना नहीं कहना चाहिए क्योंकि कालाग्निरुद्र की शुद्धि से ही उसके शुद्धि हो जाएगी । अन्यथा पद्म आदि के विषय में भी वही बात (= शुद्धि की बात) आ पड़ेगी । इस प्रकार अनेक रुद्र शोधनीय हो जाऐंगे ऐसा होने पर १०८ से अधिक (पद्म) हो जाऐंगे । इसी प्रकार अन्यलोगों के द्वारा जो इसे बाह्यप्रदेश में स्थित होने पर भी अधःस्थ दश शतरुद्रों से भिन्न कहा गया, वह भी अयुक्त है । क्योंकि ऐसा होने पर इसका उनके बीच में पाठ करने से ही गतार्थ होने के कारण पृथक् कथन अतिरिक्त हो जायगा । और जो कि सिद्धातन्त्र में कथित भुवनमान का यहाँ ग्रहण नहीं होना चाहिए—ऐसा कहा गया, वह भी अयुक्त है । क्योंकि यदि नरक आदि के समान यहाँ अनन्तभुवन का कुछ परिमाण कहा जाए तो वह अन्य तन्त्र में कथित (मान) प्रक्रियाभेद के कारण अग्राह्य ही है—ऐसा होने लगेगा । भुवन का परिमाण अवश्य होता है और इसे यहाँ नहीं कहा गया—इसलिए उस (= परिमाण) की आकांक्षा होने पर (इसे) अवश्य कहीं दूसरी जगह से लाना पड़ेगा (तो इसे सिद्धातन्त्र से ही ले लीजिये)—इस प्रकार सिद्धातन्त्र के विषय में (आपको) क्यों द्वेष है । अथवा तन्त्रराजभट्टारक में भी इसको लक्षोच्छ्रित (= एक लाख योजन ऊँचा अथवा एक लाख संख्या वाला ऊँचा) कहा गया है तो उसको मान लीजिये हमें क्या आपत्ति होगी? क्योंकि हमें तो आभ्यन्तरीण भुवनों के परिमाण की संख्या की सङ्गति बैठानी है और वह दोनों प्रकार से सिद्ध हो रही है—इतना (कथन) पर्याप्त है । कटाहरुद्रों का = कटाह के नीचे वर्त्तमान हुहूकरुद्रों का । इसलिए उसकी शुद्धि से ही इसकी शुद्धि हो जाती है—यह तात्पर्य है, जैसा कि कहा गया—

'तेन शुद्धेन शुद्धानि त्वण्डान्यत्रोहकैः सह ।'

(स्व० १०।६) इति ।

एवमुत्तरत्रापि तत्तद्भुवनेश्वरद्वारेणैव तत्तद्भुवनशुद्धिरिति मन्तव्यम् । यदुक्तम्—

'न तत्र दुःखितः कश्चिन्मुक्त्वा दुःखमनङ्गजम् ।
रमन्ते तत्र वै वीरा नारीभिः सह लीलया ॥'

(स्व० १०।८) इति ।

पोतारूढ इति, यदुक्तम्—

'अनन्तः संस्थितोऽधस्तात्पोतारूढो जलान्तरे ।' इति ।

मद्यपानविघूर्णित इति, यदुक्तम्—

'महापानरतः श्रीमान्महामत्तः सदाम्भसि ।' इति ।

भैरवं ध्यायन्नित्यनेन अस्य तदेकप्रवणतया

'भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया ।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ॥' (मा०वि० ९।६४)

इत्यादि तदाज्ञानुविधायित्वमस्ति,—इति प्रथमत एव सर्वक्षिपेण प्रकाशितम् । नागैरिति, यदुक्तम्—

"उसके शुद्ध होने से यहाँ ऊहकों (= विश्व का परिसीमन करने वालों) के साथ अण्ड भी शुद्ध हो जाते हैं ।" (स्व०तं० १०।६)

इसी प्रकार आगे भी भिन्न-भिन्न भुवनेश्वरों के द्वारा ही भिन्न-भिन्न भुवनों की शुद्धि होती है—ऐसा समझना चाहिए । जैसा कि कहा गया है—

"काम से उत्पन्न दुःख को छोड़कर वहाँ और कोई (किसी) दुःखवाला नहीं है। और वीरसाधक नारियों के साथ उसी (दुःख) में आनन्द का अनुभव करते हैं।" (स्व० तं० १०।८)

पोतारूढ जैसा कि कहा गया—

"अनन्तनाथ नीचे जल के भीतर पोत पर आरूढ़ होकर विराजमान हैं ।"

मद्यपान के कारण घूर्णन वाले—जैसा कि कहा गया—

"सदा जल में वर्त्तमान महापान में लगे हुये श्रीमान् महामत्त...।"

भैरव का ध्यान करते हुए—उस (कथन) से उनकी भैरव के प्रति एकनिष्ठता के कारण—

"हे भुवनेश ! शिव की आज्ञा से अनामय पद को जाने वाले इस साधक का प्रतिबन्ध तुम्हें नहीं करना चाहिए ॥" (मा०वि० ९।६४)

'पद्मश्चैव महापद्मः शङ्खपालोऽथ वज्रिणः ।
कार्कोटश्च निषादश्च कम्बलाश्वतरावुभौ ॥
एभिश्चैव महानागैः समन्तात्परिवारितः ।' इति ।

एवं च स्वयमपि नागरूपत्वमेव, इति सिद्धम् ।

यदुक्तम्—

'ऊर्ध्वबाहुर्महाकायो नागरूपी महाबलः ।
फणानां तु सहस्रेण धारयित्वा जगत्स्थितः ॥' इति ।

अत एव श्रीतन्त्रराजभट्टारके शेषाहित्वेनायमुक्तः ॥ २१ ॥

इदानीं ब्रह्माण्डस्यान्तर्भुवनानि वक्तुमुपक्रमते—

कालाग्नेर्भुवनं चोर्ध्वे कोटियोजनमुच्छ्रितम् ॥ २२ ॥
लोकानां भस्मसाद्भावभयान्नोर्ध्वं स वीक्षते ।

ऊर्ध्वे इत्यर्थात् कटाहस्य, स च कोटियोजनानां घनः । यद्वक्ष्यति—

'अधश्चोर्ध्वे कटाहोऽण्डे स घनः कोटियोजनः ।'
(स्व० १०।१६२) इति ।

इत्यादि उन (= भैरव) की आज्ञा के पालन का नियम संकेतित होता है । इसे पहले ही सब के आक्षेप के द्वारा प्रकाशित कर दिया गया है । नागों के द्वारा —जैसा कि कहा गया है—

"पद्म, महापद्म, शङ्खपाल, वज्री, कर्कोटक, निषाद, कम्बल, अश्वतर दोनों इन महानागों के द्वारा चारों तरफ से घिरे हुये ।"

इस प्रकार (नागों से घिरे हुए वे) स्वयं नागरूप हैं—यह सिद्ध हो जाता है— जैसा कि कहा गया है—

"ऊर्ध्वबाहु, महाकाय, नागरूपी महाबलशाली (अनन्तनाथ) हजारों फणों से संसार कों धारण कर स्थित हैं ।"

इसीलिए तन्त्रराजभट्टारक में शेषनाग के नाम से ये कहे गए हैं ॥ २१ ॥

अब ब्रह्माण्ड के भीतर भुवनों का कथन प्रारम्भ करते हैं—

(ब्रह्माण्डकटाह के) ऊपर एक करोड़ योजन ऊँचे कालाग्निभुवन को, लोकों के भस्म होने के डर से, ऊपर की ओर वे (अनन्तनाथ) नहीं देखते ॥ -२२-२३- ॥

ऊपर में अर्थात् कटाह के और वह (कटाह) एक करोड़ योजन घन (= विस्तार वाला) है । जैसा कि कहेंगे—

नोर्ध्वं स वीक्षते इति, यदुक्तम्—

नोर्ध्वं निरीक्षते देवो मेदं भूद्भस्मसाज्जगत् । इति ।

अत एवास्योर्ध्ववक्त्रमनुन्मीलितम्—इति चतुर्वक्त्रत्वमेव सर्वत्रोक्तम् । यदुक्तम्—

'त्रिनेत्रः स चतुर्वक्त्रो वह्निज्वालावलीधरः ।' इति ॥ २२ ॥

ननु

'यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते ।'

(मा०वि० २।६०)

इत्याद्युक्त्या नरकोर्ध्वमस्यावस्थानं युक्तम्, तत् कथं तदध उक्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

स च व्याप्तापि विश्वस्य यस्मात्प्लुष्यन्निमां भुवम् ॥ २३ ॥
नरकेभ्यः पुरा व्यक्तस्तेनासौ तदधो मतः ।

उक्तं च प्राक्—

'निरयेभ्यः पुरा कालवह्नेर्व्यक्तिर्यतस्ततः ।

"(इस) अण्ड में नीचे और ऊपर कटाह है । वह एक करोड़ योजन घना है ।" (स्व०तं० १०।१६२)

वे ऊपर की ओर नहीं देखते । जैसा कि कहा गया है—

"यह जगत् भस्म न हो जाए इसलिए वे देव ऊपर नहीं देखते ।"

इसीलिए इनका ऊर्ध्ववक्त्र (= पञ्चम वक्त्र) बन्द रहता है इसीलिए सर्वत्र इनको चारमुख वाला कहा गया है । जैसा कि कहा गया है—

"वे तीननेत्र वाले, चतुर्मुख और अग्नि की ज्वालावली को धारण करने वाले हैं" ॥ २२ ॥

प्रश्न—"जो जिसकी अपेक्षा गुणों में उत्कृष्ट होता है वह उससे ऊपर माना जाता है ।"

इत्यादि उक्ति के द्वारा नरक के ऊपर इसकी स्थिति ठीक है तो उसके नीचे कैसे कही गई ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह विश्वव्यापी होते हुए भी चूँकि इस धरती का दहन करता हुआ नरकों की अपेक्षा पहले व्यक्त हुआ, इस कारण यह उसके नीचे माना गया है ॥ -२३-२४- ॥

पहले भी कहा गया है—

विभुरप्येष तदधः.............................. ॥

(तं आ. ६।१४२) इति ॥ २३ ॥

दश कोट्यो विभोर्ज्वाला तदर्धं शून्यमूर्ध्वतः ॥ २४ ॥
तदूर्ध्वे नरकाधीशाः क्रमाद् दुःखैकवेदनाः ।
अधो मध्ये तदूर्ध्वे च स्थिता भेदान्तरैर्वृताः ॥ २५ ॥
अवीचिकुम्भीपाकाख्यरौरवास्तेष्वनुक्रमात् ।
एकादशैकादश च दशेत्यन्तः शराग्नि तत् ॥ २६ ॥
प्रत्येकमेषामेकोना कोटिरुच्छ्रितिरन्तरम् ।
लक्षमत्र खवेदास्यसंख्यानामन्तरा स्थितिः ॥ २७ ॥
कूष्माण्ड ऊर्ध्वे लक्षोनकोटिस्थानस्तदीशिता ।

'तदर्धं' पञ्च कोटयः । 'शून्यम्' धूमोष्मादिभयाज्जनरहितम् । यदुक्तम्—

'अस्योपरिष्टाद्देवेशि पञ्च कोट्यो वरानने ।
न कश्चिन्निवसत्यत्र धूमोष्मपरितापितः ॥' (स्व० १०।३०)

इति । 'तदूर्ध्वे' शून्योपरि । अनुक्रमादिति संहारात्मनः, तेन रौरवे कुम्भीपाके चैकादशान्तर्भवन्ति अवीचौ च दश,—इत्यात्मना सह तन्नरकत्रयं

"चूँकि कालाग्नि की अभिव्यक्ति नरक के पहले हुई इसलिए व्यापक होते हुए भी यह उसके नीचे है ॥ २३ ॥ (तं०आ० ६।१४२)

उस व्यापक (कालाग्नि) की ज्वाला दश करोड़ (योजन के अन्तराल में) है । उसके ऊपर उसका आधा (= पाँच करोड़ योजन) शून्य है । उसके ऊपर नरकों के स्वामी लोग क्रमिक दुःखात्मक वेदना वाले हैं । इस प्रकार शून्य के ऊपर नीचे और मध्य में अवान्तर भेदों के सहित अवीचि कुम्भीपाक और रौरव (नरक) स्थित हैं । उनमें क्रमशः ग्यारह-ग्यारह और दश (नरक) भीतर है । (इस प्रकार कुल संख्या) शर = ५ और अग्नि = ३ अर्थात् ३५ हैं । इनमें से प्रत्येक की ऊँचाई ९९ लाख (योजन) है । इनके बीच में ख = ०, वेद = ४ आस्य = १ अर्थात् १४० लाख (नरकों की) स्थिति है । (उसके) ऊपर कूष्माण्ड ९९ लाख स्थान वाले उसके स्वामी हैं ॥ -२४-२८- ॥

उसका आधा = पाँच करोड़ । शून्य = धूप और गर्मी आदि के भय के कारण निर्जन, जैसा कि कहा गया है—

"हे देवेशि ! इसके ऊपर पाँच करोड़ (नरक) हैं । हे वरानने ! धूप और गर्मी से संतप्त इनमें कोई नहीं रहता ।" (स्व० १०।३०)

उसके ऊपर = शून्य के ऊपर । इसे संहार के क्रम से जानना चाहिये । इस

'शराग्नि' पञ्चत्रिंशत्संख्यावच्छिन्नं भवतीत्यर्थः । यदुक्तम्—

'नरकैकादशगतमवीचिं शोधयेत्प्रिये ।
आत्मना द्वादशं देवि कुम्भीपाकं विशोधयेत् ॥
महारौरवसंज्ञं चाप्येवमेव विशोधयेत् ।
पञ्चत्रिंशत्प्रवक्ष्यामि समासेन वरानने ॥
अवीचिः कृमिनिचयो नदी वैतरणी तथा ।
लोहश्च शाल्मलिश्चैवाप्यसिपर्वत एव च ॥
सोच्छ्वासश्च निरुच्छ्वासः पूतिमांसः परस्तथा ।
तप्तत्रपुः क्षारकूपो जतुलेपस्तथैव च ॥
अन्तर्भूता अवीचौ तु कुम्भीपाकस्य श्रूयताम् ।
अस्थिभङ्गः क्रकचच्छेदकूपश्चापि कटङ्कटः ॥
वसामिश्रो ह्ययस्तुण्डस्त्रपुलेपश्च कीर्तितः ।
कुम्भीपाकश्च विज्ञेयस्तीक्ष्णासिश्च तथैव च ॥
तप्तलोहश्च विज्ञेयः क्षुरधारपथस्तथा ।
अशनिश्च सुतप्तश्च द्वादशैते प्रकीर्तिताः ॥
एकादशान्तर्विज्ञेयाः कुम्भीपाकस्य दारुणाः ।
महारौरवराजे च अत ऊर्ध्वं निबोध मे ॥
कालसूत्रो महापद्मः कुम्भः सञ्जीवनेक्षुकौ ।
पाशोऽम्बरीशकश्चैव अयःपट्टस्तथैव च ॥
दण्डयन्त्रस्त्वमेध्यश्च घोररूपस्तथापरः ।
महारौरव एतेषामुपरिष्टाद्व्यवस्थितः ॥'

(स्व० १०।८१-९०) इति ।

प्रकार रौरव और कुम्भीपाक में ग्यारह और अवीचि में दश (नरक) अन्तर्भूत होता है । इस प्रकार उक्त (३२) नरकों के साथ वे तीन नरक मिलकर शराग्नि अर्थात् ३५ संख्या वाले होते हैं । जैसा कि कहा गया है—

"हे प्रिये ! ग्यारह अवीचि नरकों का शोधन करना चाहिए । स्वयं (कुम्भीपाक) को लेकर बारह कुम्भीपाक और इसी प्रकार (बारह) रौरव की शुद्धि करनी चाहिए । हे वरानने ! ३५ (नरकों) का संक्षेप में वर्णन करुँगा । अवीचि में—कृमिनिचय, वैतरणी नदी, लोह वृक्ष, शाल्मली वृक्ष, असिपर्वत, सोच्छ्वास, निरुच्छ्वास, पूतिमांस, तप्तत्रपु, क्षारकूप और जतुलेप हैं । कुम्भीपाक के (नरकों को) सुनो—अस्थिभङ्ग, क्रकचछेद, कूप, कटङ्कट, वसामिश्र, अयस्तुण्ड, त्रपुलेप, तीक्ष्णासि, तप्तलोह, क्षुरधारपथ, अशनि, सुतप्त ये बारह कुम्भीपाक कहे गये हैं। कुम्भीपाक के भीतर ग्यारह दारुण (नरक) कहे गए हैं। इसके बाद अब महारौरवराज में (वर्त्तमान नरकों को) मुझसे जानो । कालसूत्र, महापद्म, कुम्भ,

'एषाम्' इति त्रयान्तर्भूतानां द्वात्रिंशतो नरकाणाम् 'एकोना कोटि:' इति नवनवतिर्लक्षाणि । 'अन्तरम्' इति प्रत्येकं शून्यरूपम्, तेन द्वात्रिंशत् कोटय: । तत्र सचत्वारिंशच्छतं प्रधानम्, तत्रापि द्वात्रिंशत्, तत्रापि त्रयमित्युक्तं स्यात् । यदुक्तम्—

'अत: परं वरारोहे नरका: परिकीर्तिता: ।
पञ्चाशत् कोटयो देवि..................... ॥'(स्व०१०।३१) इति।

तथा,

'तेषु मध्ये शतं श्रेष्ठं चत्वारिंशाधिकं प्रिये ।
तेषामपि वराश्चान्ये द्वात्रिंशन्नरकाधिपा: ॥
राजराजेश्वरास्त्रीणि.............................. ॥' इति ।

एवमुपदेशे च अयमाशयो यत् दीक्ष्यस्य पापभूयस्त्वे तारतम्येन निश्चिते वितत्य नरकाणां शुद्धि: अन्यथा तु संक्षेपेणेति । ऊर्ध्व इति, नरकाणाम् ॥२७॥

नन्वेवंविधेषु नरकेषु के नाम वसन्ति, के वा न?—इत्याशङ्क्याह—

शास्त्रविरुद्धाचरणात् कृष्णं ये कर्म विदधते ॥ २८ ॥
तत्र भीमैर्लोकपुरुषै: पीड्यन्ते भोगपर्यन्तम् ।

सञ्जीवन, इक्षुक, पाश, अम्बरीश, अय:पट्ट, दण्डयन्त्र, अमेध्य, घोररूप । इनके ऊपर महारौरव व्यवस्थित है ।'' (स्व०तं० १०।८१-९०)

इनकी = तीन के अन्तर्भूत ३२ नरकों की । एकोनकोटि = (= एक कम एक करोड़ अर्थात्) ९९ लाख । अन्तर = प्रत्येक शून्य रूप । इस प्रकार ३२ करोड़ होते हैं । उनमें से १४० प्रधान (नरक) है । उनमें भी ३२ और उनमें भी ३ (अत्यन्त प्रमुख हैं—) ऐसा कहना चाहिए । जैसा कि कहा गया है—

हे वरारोहे ! इसके बाद ५० करोड़ नरकों का कथन है ।'' (स्व०तं० १०।३१) और

''उनमें १४० श्रेष्ठ हैं । उनमें भी ३२ नरकों के राजा हैं और उनमें भी तीन राजराजेश्वर हैं ।''

इस प्रकार के उपदेश का यह तात्पर्य है कि दीक्ष्य के पाप अधिक होने पर यदि उनका क्रम निश्चित हो जाए तो विस्तारपूर्वक नरकों की शुद्धि करनी चाहिए अन्यथा संक्षेप में । ऊपर-नरकों के ॥ २७ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के नरकों में कौन लोग रहते हैं कौन नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शास्त्रविरुद्ध आचरण करने के कारण जो लोग पाप कर्म करते हैं वे वहाँ भोगपर्यन्त भयङ्कर लोकपुरुषों के द्वारा पीड़ित होते हैं और जो

ये सकृदपि परमेशं शिवमेकाग्रेण चेतसा शरणम् ॥ २९ ॥
यान्ति न ते नरकयुजः कृष्णं तेषां सुखाल्पतादायि ॥

'शास्त्रविरुद्धाचरणात्' इति विहितस्याकरणात् निषिद्धस्य च करणात् । सुखाल्पतादायीति, प्रमादादपरिनिष्पन्नत्वात् । तदुक्तम्—

'एतेऽतिघोरा नरकास्त्रिकोणाः परिकीर्तिताः ।
असत्कर्मरतानां तु प्राणिनां पातनाय वै ॥
निस्त्रिंशकर्मकर्तॄणां शठानां पापकर्मणाम् ।
निर्दयाधमजातीनां परहिंसारतात्मनाम् ॥
परदाररतानां च शिवशास्त्रस्य दूषिणाम् ।
देवद्रव्यापहाराणां ब्रह्मघ्नपितृघातिनाम् ॥
गोघ्नानां च कृतघ्नानां मित्रविस्रम्भघातिनाम् ।
सुवर्णभूमिहर्तॄणां शौचाचारनिवर्तिनाम् ॥
दयादाक्षिण्यहीनानां पैशुन्यानृतचेतसाम् ।
नरकाश्च समाख्यातास्त्वकर्मपथवर्तिनाम् ॥
शुभकर्मरता लोका नरके न पतन्ति हि ।
तत् समासेन वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥
सत्यं क्षान्तिरहिंसा च शौचं स्नानमकल्कता ।
दया लौल्यं च यस्यासौ नरकान्नाधिगच्छति॥

लोग एक बार भी एकाग्रचित्त होकर परमशिव की शरण में जाते हैं वे नरक के भागी नहीं होते । कृष्णकर्म उनके लिए अल्प सुख देने वाले होते हैं ॥ -२८-३०- ॥

शास्त्रविरुद्ध आचरण के कारण = शास्त्रविहित (आचरण) न करने से और शास्त्रप्रतिषिद्ध के करने से । कम सुख देने वाला—प्रमाद के कारण पूर्णरूप से सम्पन्न न होने के कारण । वही कहा गया है—

"ये अत्यन्त घोर नरक त्रिकोण कहे गए हैं । जो प्राणी असत्कर्म में लगे हुये, क्रूर कर्म करने वाले, दुष्ट, पापी, निर्दय, अधम जाति वाले, परहिंसारत, परदाररत, शैवशास्त्र से द्वेष रखने वाले, देवता एवं द्रव्य के हर्त्ता, ब्रह्महा, पितृहा, गोघ्न, कृतघ्न, मित्र के साथ विश्वासघात करने वाले, सुवर्ण और भूमि का हरण करने वाले, पवित्रता और आचार से हीन, दया दाक्षिण्य से रहित, चुगली करने और झूठ बोलने वाले और असत्कर्म के मार्ग पर चलने वाले प्राणियों के पतन के लिए ये नरक कहे गए हैं । जो लोग शुभ कर्म में लगे हुए हैं वे नरक में नहीं गिरते उन्हें मैं ठीक ढङ्ग से क्रमशः संक्षेप में कहूँगा । जिसके पास सत्य, क्षमा, अहिंसा, शौच, स्नान, अकल्कता (= पाप का अभाव) दया और अलौल्य

शान्तो दान्तः सुहृष्टात्मा त्वनहङ्कारवान्समः ।
अद्रोही चानसूयश्च परैश्वर्ये च निःस्पृहः ॥
अमात्सर्यममानित्वं शिवभक्तिरचापलम् ।
जपध्यानरतिः स्थैर्यं कार्पण्यस्य च वर्जनम् ॥
व्रतानि नियमाश्चैव स्वाध्यायश्च त्रिसन्ध्यता ।
सर्वत्र श्रद्धानत्वमार्जवं ह्रीर्मनस्विता ॥
ओजः प्रशान्तिः संतोषोऽप्रियवाक्यविवर्जनम् ।
परीक्ष्यकारिता नित्यं मनोऽहङ्कारनिग्रहः ॥
अदम्भित्वममानित्वमकल्को ज्ञानशीलता ।
पितृदेवार्चने भक्तिर्गोब्राह्मणशरण्यता ॥
अग्नौ होमो गुरौ दानं ज्ञानिनां पर्युपासनम् ।
एकान्ते च रतिर्ध्यानमात्मन्येव च तुष्टता ॥
अव्यापारः परार्थेषु औदासीन्यमनागसः ।
अक्रोधित्वमनालस्यमिति धर्माः प्रकीर्तिताः ॥
यस्त्वेतान्भजते धर्मान् सोऽमृतत्वाय कल्पते ।
नश्यन्ति पौरुषाः पाशा येऽप्यनन्ताः प्रकीर्तिताः ॥
शिवाचाररतानां तु धार्मिकाणां हि देहिनाम् ।
तस्मादेवं तु विज्ञाय मनो धर्मे नियोजयेत् ॥
यस्य चित्तमसंभ्रान्तं निर्विकल्पमकल्मषम् ।
स याति परमांल्लोकान्नरकांश्च न पश्यति ॥
यस्य बुद्धिरसंमूढा सर्वभूतेष्वपातकी ।

(= लोभ का अभाव) है वह नरक में नहीं जाता । जो शान्त, दान्त, प्रसन्नात्मा, अहङ्काररहित, समदर्शी, अद्रोही, असूयारहित, दूसरे के ऐश्वर्य के विषय में निष्पृह है । जिसके अन्दर मात्सर्य और अभिमान नहीं, शिवभक्ति और अचापल्य है, जप, दान में रति, कृपणता का अभाव, व्रत, नियम, स्वाध्याय, त्रिकालसन्ध्या, सर्वत्र श्रद्धा, सरलता, लज्जा, मनस्विता, ओज, शान्ति, सन्तोष, कटुवाक्य का न कहना, परीक्षा के बाद कार्य करना, मन और अहङ्कार का नियन्त्रण, दम्भ और अभिमान का अभाव, पापराहित्य, ज्ञानी, पितृदेवार्चन में भक्ति, गो ब्राह्मण को शरण देना, अग्निहोम, गुरु के लिए दान, ज्ञानियों की सेवा, परमात्मा के प्रति एकान्तप्रेम, ध्यान, आत्मतृप्ति, व्यापार का अभाव, दूसरे के अर्थ में उदासीनता, पापराहित्य, क्रोध और आलस्य का अभाव, ये कहे गए कर्म हैं । जो इन कर्मों का सेवन करता है वह अमर हो जाता है । शिवाचार में रत और धार्मिक प्राणियों के वे पौरुष पाश जो कि अनन्त कहे गए हैं, नष्ट हो जाते हैं । इसलिए ऐसा जानकर मन को कर्म में लगाना चाहिए । जिसका चित्त स्थिर, संशयहीन, पापरहित है वह परम लोक को प्राप्त होता है और नरक नहीं देखता । जिसकी बुद्धि मोह

अकल्कवान्सत्यवान्योनरकान् स न पश्यति॥'

(स्व० १०।५३-७१) इति ॥ २९ ॥

सहस्रनवकोत्सेधमेकान्तरमथ क्रमात् ॥ ३० ॥

पातालाष्टकमेकैकमष्टमे हाटकः प्रभुः ।

सहस्रशब्दसंनिधेरेकं सहस्रं, तदेषामशीतिसहस्राणि मानं सिद्धम् । पातालाष्टकमिति,—यदुक्तम्—

'आभासं वरतालं च शर्करं च गभस्तिमत् ।
महातलं च सुतलं रसातलमतः परम् ॥
सौवर्णमष्टमं ज्ञेयं सर्वकामसमन्वितम् ।' (स्व० १०।९६)

इति । अष्टम इति, सौवर्णाख्ये । यदुक्तम्—

'तदूर्ध्वं चैव सौवर्णं पातालं परिकीर्तितम् ।
तत्रावसत्यसौ देवो हाटकः परमेश्वरः ॥' (स्व० १०।११६)

इति । यद्यपि चात्र पातालसप्तके

'त्रयोऽसुरास्तथा नागा राक्षसाश्चाविभागतः ।
एकैकत्र च पाताले कथितास्ते वरानने ॥

से रहित है जो सभी प्राणियों के प्रति पाप नहीं करता जो अकल्कवान् और सत्यवान् है वह नरक को नहीं देखता ॥ -२८-३०- ॥

नव हजार (योजन) ऊँचा एकान्तर नरक है । उसके बाद आठपाताल क्रमशः एक के बाद एक हैं । आठवें में हाटक नामक रुद्र रहते हैं ॥ -३०-३१- ॥

सहस्र शब्द निकट रहने के कारण एक सहस्र (समझना चाहिए) । तो इस प्रकार इनका (= नरकों का) परिमाण (= संख्या) ८० हजार सिद्ध होता है । आठपाताल जैसा कि कहा गया है—

''आभास, वरताल, शर्कर, गभस्तिमत्, महातल, सुतल इसके बाद रसातल और आठवाँ सभीकाम से युक्त सौवर्ण (नामक पाताल) समझना चाहिए । (स्व०तं० १०।९६)

आठवें में = सौवर्ण नामवाले में । जैसा कि कहा गया है—

''उसके ऊपर सौवर्ण नामक पाताल कहा गया है । वहाँ यह दीप्यमान हाटक रुद्र रहते हैं ।'' (स्व०तं० १०।११६)

यद्यपि इन सात पातालों में—

''हे वरानने ! एक-एक पाताल में असुर, नाग और राक्षस ये तीन मिलकर

पातालसप्तके ज्ञेयास्तथान्ये भुवनाधिपाः ।
बलो ह्यतिबलश्चैव बलवान्बलविक्रमः ॥
सुबलो बलभद्रश्च बलाध्यक्षश्च कीर्तिताः ।' (स्व० १०।११४)

इत्याद्युक्त्या प्रत्येकं पृथक् भुवनाधिपाः संभवन्ति, तथाप्येषां

'हाटकेन विशुद्धेन सर्वेषां शुद्धिरिष्यते ।'

इत्याद्युक्त्या हाटकरुद्रशुद्ध्यैव शुद्धिः,—इत्यानर्थक्यादिह तदुपदेशो न कृतः ॥ ३० ॥

अस्य चैवमभिधाने किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रतिलोकं नियुक्तात्मा श्रीकण्ठो हठतो बह्वः ॥ ३१ ॥
सिद्धीर्ददात्यसावेवं श्रीमद्रौरवशासने ।

'सिद्धीः' इति सालोक्यादिरूपाः । यदुक्तं तत्र—

'प्रतिलोके नियुक्तात्मा श्रीकण्ठो भगवानसौ ।
करोति हाटको भूत्वा पातालद्वारपालनम् ॥
हठेन भङ्क्त्वा यन्त्राणि पातालेषु महोदयाः ।
सिद्धीरभ्यस्तसन्मन्त्रान् साधकांल्लम्भयत्यसौ ॥' इति ॥ ३१ ॥

रहते हैं—यह तुमसे कहा गया । इसके अतिरिक्त अन्य भुवनेश्वरों को भी जानना चाहिए—बल, अतिबल, बलवान्, बलविक्रम, सुबल, बलभद्र, और बलाध्यक्ष (भुवनाधिप) कहे गए हैं । (स्व० १०।११४)

इत्यादि वचन के कारण प्रत्येक भुवन के अलग भुवनाधिप होते हैं । तो भी—

"हाटक के शुद्ध होने से सबकी शुद्धि हो जाती है ।"

इत्यादि उक्ति के कारण हाटकरुद्र की शुद्धि से ही इनकी शुद्धि हो जाती है । इसलिए निरर्थक होने के कारण इनका उपदेश यहाँ नहीं किया गया ॥-३०-३१-॥

इसका इस प्रकार कथन करने में क्या निमित्त है? यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रत्येक लोक में अपने स्वरूप को नियुक्त करने वाले यह श्रीकण्ठनाथ हठात् अनेक सिद्धियाँ देते हैं—ऐसा रौरव शास्त्र में (कहा गया है) ॥ -३१-३२- ॥

सिद्धियाँ—सालोक्य आदि । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"प्रत्येक लोक में आत्मनियुक्ति वाले यह भगवान् (अनन्तनाथ) हाटकरुद्र बनकर पातालद्वार की रक्षा करते हैं । यह हठपूर्वक पातालों में यन्त्रों को तोड़कर सन्मन्त्र का अभ्यास करने वाले साधकों को अत्यन्त उत्कृष्ट सिद्धियाँ देते

नन्वसावेवं सिद्धीः केषां ददाति?—इत्याशङ्क्याह—

व्रतिनो ये विकर्मस्था निषिद्धाचारकारिणः ॥ ३२ ॥
दीक्षिता अपि ये लुप्तसमया न च कुर्वते ।
प्रायश्चित्तांस्तथा तत्स्था वामाचारस्य दूषकाः ॥ ३३ ॥
देवाग्निद्रव्यवृत्त्यंशजीविनश्चोत्तमस्थिताः ।
अधःस्थगारुडाद्यन्यमन्त्रसेवापरायणाः ॥ ३४ ॥
ते हाटकविभोरग्रे किङ्करा विविधात्मकाः ॥

विकर्मस्थत्वे निषिद्धाचारकारित्वं हेतुः । लुप्तसमया इति, चण्डद्रव्यादि-संस्पर्शात् । अत एव प्रायश्चित्ताकरणाद् भ्रष्टदीक्षाफलाः । यदुक्तम्—

'प्रायश्चित्तमकुर्वाणो मन्त्री विधिविलङ्घने ।
सिद्धिभ्रंशमवाप्नोति........................॥' इति ।

'तत्स्थः' इति वामाचारनिष्ठाः, तेन तत्कारिणस्तद्द्वेषिणश्च—इत्युक्तं स्यात् । तेषामेव च विशेषणं 'देवेत्यादि' । अन्येषां हि एवं नारकित्वमेव भवेत् । यथोक्तम्—

हैं ॥ -३१-३२- ॥

प्रश्न—यह इस प्रकार की सिद्धियाँ किन लोगों को देते हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो व्रती विरुद्धकर्म करते हैं और निषिद्ध आचार करने वाले हैं; दीक्षित होकर भी समय (= संस्कार) का लोप होने के बाद प्रायश्चित्त नहीं करते तथा उस (= वामाचार) में रहते हुये भी वामाचार की निन्दा करते हैं, देव अग्नि द्रव्यवृत्ति के अंश से जीविका चलाते हैं, शिवशासन में स्थित नहीं हैं वे भिन्न-भिन्न रूप में हाटक विभु के आगे किङ्कर के समान रहते हैं ॥ -३२-३५- ॥

विकर्मस्थता में निषिद्धाचार का करना कारण है । लुप्त समय (= संस्कार) वाले चण्डद्रव्य (= चाण्डाल और अशुद्ध द्रव्य अथवा आवेशकारक द्रव्य जैसे सड़ा गला मांस आदि) आदि के स्पर्श के कारण । इसलिए प्रायश्चित्त न करने के कारण भ्रष्ट दीक्षाफल वाले । जैसा कि कहा गया—

"मन्त्र का साधक नियम का उल्लङ्घन करने पर यदि प्रायश्चित्त न करे तो सिद्धिभ्रष्ट हो जाता है ।"

उसमें स्थित = वामाचारनिष्ठ । इससे उसको करने वाले तथा उससे द्वेष रखने वाले—ऐसा कहना चाहिए था । देव अग्नि इत्यादि उन्हीं का विशेषण है । यदि दूसरे लोग ऐसे हों तो नारकी होंगे । जैसा कि कहा गया है—

'यदीच्छेन्नरकं गन्तुं सपुत्रपशुबान्धवः ।
देवेष्वधिकृतिं कुर्याद् गोषु च ब्राह्मणेषु च ॥' इति ।

'उत्तमस्थिताः' इति

'वेदादिभ्यः परं शैवम्............................।'

इत्याद्युक्तेः, ऊर्ध्वोर्ध्वशासनस्थाः । 'विविधात्मका' इति तत्तत्कर्मानुसारेणोत्तमादिभिन्नाः—इत्यर्थः । एतच्चैषां निःष्यन्दफलवत् न तु साक्षात् । तथात्वे हि

'ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्रा वा वीरवन्दिते ।
आचार्यत्वे नियुक्ता ये ते सर्वे तु शिवाः स्मृताः ॥
अन्यथा प्राक्स्वरूपेण ये पश्यन्ति नराधमाः ।
नरके ते प्रपच्यन्ते सादाख्यं वत्सरत्रयम् ॥'
(स्व-४।४११) इति ।

तथा,

'प्राग्जात्युदीरणाद्देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ।
दिनत्रयं तु रुद्रस्य पञ्चाहं केशवस्य च ।
पितामहस्य पक्षैकं नरके पच्यते तु सः ॥' (स्व० ४।५४२)

इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यात् ॥ ३४ ॥

"यदि कोई पुत्र, पशु और बान्धवों के सहित नरक में जाना चाहे तो देवता गौ ब्राह्मण के ऊपर अधिकार करें अर्थात् उनसे बलात् स्वार्थ सिद्ध करे ।"

उत्तमस्थिता—

"वेद आदि की अपेक्षा शैव शास्त्र उत्कृष्ट है ।"

इत्यादि उक्ति के कारण ऊर्ध्व-शासन (= शैवशास्त्र) में स्थित । विविधात्मक—भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार उत्तम आदि अनेक । यह इनके लिए निष्यन्द (= परम्परया) फलवाला है न कि साक्षात् । वैसा होने पर

"हे वीरवन्दिते ! ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र (यदि वे) आचार्य पद पर नियुक्त हो गये तो वे सब शिव माने जाते हैं । जो नराधम उनको (उनके) पहले रूप में देखते हैं वे सदाशिव के तीन वर्ष तक नरक में निवास करते हैं ॥" (स्व०तं० ४।५१४)

तथा

"हे देवि ! (आचार्य की) पूर्वजाति का कथन करने से मनुष्य प्रायश्चित्ती हो जाता है । वह रुद्र के तीन, विष्णु के पाँच और ब्रह्मा के १५ दिनों तक नरक में रहता है ॥" (स्व०तं० ४।५४२)

एवं भोगोपरमे पुनरेषां किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

ते तु तत्रापि देवेशं भक्त्या चेत्पर्युपासते ॥ ३५ ॥
तदीशतत्त्वे लीयन्ते क्रमाच्च परमे शिवे ।
अन्यथा ये तु वर्तन्ते तद्भोगनिरतात्मकाः ॥ ३६ ॥
ते कालवह्निसंतापदीनाक्रन्दपरायणाः ।
गुणतत्त्वे निलीयन्ते ततः सृष्टिमुखे पुनः ॥ ३७ ॥
पात्यन्ते मातृभिर्घोरयातनौघपुरस्सरम् ।
अधमाधमदेहेषु निजकर्मानुरूपतः ॥ ३८ ॥
मानुषान्तेषु तत्रापि केचिन्मन्त्रविदः क्रमात् ।
मुच्यन्तेऽन्ये तु बध्यन्ते पूर्वकृत्यानुसारतः ॥ ३९ ॥
इत्येष गणवृत्तान्तो नाम्ना हुलहुलादिना ।
प्रोक्तं भगवता श्रीमदानन्दाधिकशासने ॥ ४० ॥
पातालोर्ध्वे सहस्राणि विंशतिर्भूकटाहकः ।
सिद्धातन्त्रे तु पातालपृष्ठे यक्षीसमावृतम् ॥ ४१ ॥
भद्रकाल्याः पुरं यत्र ताभिः क्रीडन्ति साधकाः ।

'देवेशम्' इति हाटकम् । 'अन्यथा' इति तत्पर्युपासावैमुख्येन । 'मातृभिः'

इत्यादि श्रुतियों से विरोध हो जाएगा ॥ ३४ ॥

इस प्रकार भोग समाप्त होने पर फिर इनका क्या होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि वे वहाँ (= नरक में) भी भक्ति के साथ, देवेश (= हाटकेश्वर) की, उपासना करते हैं तो (वे पहले) उस (लोक) के ईश्वर तत्त्व में और फिर क्रमशः परमशिव में लीन हो जाते हैं ।

उस (लोक) के भोग में आसक्त जो लोग भिन्न प्रकार से रहते हैं वे कालाग्नि के ताप से दीन और क्रन्दन युक्त होकर गुणतत्त्व में लीन हो जाते हैं और फिर माताओं के द्वारा घोरयातनासमूह के साथ अपने कर्मों के अनुसार सृष्टि के मुख (= प्रारम्भ) में मनुष्यपर्यन्त अधमाधम शरीरों में गिराये जाते हैं । उन (= मनुष्यों) में भी कुछ मन्त्रवेत्ता क्रमशः मुक्त हो जाते हैं और दूसरे (मनुष्य) अपने पूर्णकृत्यों के अनुसार बन्धन को प्राप्त होते हैं । यह गणवृत्तान्त हुलहुल आदि नाम से आनन्दाधिकशास्त्र में भगवान् के द्वारा कहा गया है । पाताल के ऊपर बीस हजार पृथ्वीकटाह है । सिद्धातन्त्र में तो (कहा गया है कि) पातालपृष्ठ में यक्षीभाव से युक्त भद्रकाली का पुर है जिसमें साधक उनके (= यक्षिणियों के) साथ खेलते हैं ॥ -३५-४२- ॥

इत्यपराशक्तिभिः । यदुक्तम्—

'विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून् ।
याः समालिङ्ग्य रुद्राणून् घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥'
(मा०वि० ३।३१) इति ।

'तत्रापि' इति मानुषत्वे । तद्धीना (अन्ये) इत्यमन्त्रविदस्तत्तत्स्वकर्मौचित्येन तत्तज्जात्याद्यनुभवन्ति—इत्यर्थः । नचैतदस्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह— 'प्रोक्तमित्यादि' । यदुक्तं तत्र—

'मातङ्गा हुलहुलाश्चान्ये हेतुका दिव्यरूपिणः ।
कापालिकाश्च कङ्काला महोच्छुष्माश्च शोभनाः ॥'

इत्युपक्रम्य

'एवं संख्याविहीनास्तु महाचण्डेश्वरेरणात् ।
चण्डद्रव्यविलुप्तास्तु दीक्षिताः शिवशासने ॥
चण्डद्रव्येण जीवन्ति ते स्मृता ब्रह्मराक्षसाः ॥' इति ।

तथा

'रमन्ते विविधैर्भोगैस्तेऽपि पातालवासिनः ।
पाताले भूतराजानो भवन्ति बलदर्पिताः ॥'

देवेश = हाटकेश्वर । अन्यथा = उनकी उपासना से विमुख होने के कारण । मातृभिः = अपराशक्तियों के द्वारा । जैसा कि कहा गया है—

जो रुद्राणुओं का आलिङ्गन कर, विषयों में लीन जीवों को, नीचे-नीचे गिराती है, वे अपरा (शक्तियाँ) घोरतरी कही गई हैं ।'' (मा०वि०तं० ३।३१)

उनमें भी = मनुष्यों में । उससे हीन (दूसरे) मन्त्र को न जानने वाले, भिन्न-भिन्न अपने कर्म के अनुरूप भिन्न-भिन्न जन्म का अनुभव करते हैं । यह बात हमने स्वोपज्ञ ही नहीं कही है—यह कहते हैं—प्रोक्तम् इत्यादि । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

''मातङ्ग, हुलहुल, हेतुक, दिव्यरूपी, (अथवा दिव्यरूप वाले हेतुक) कापालिक, कङ्काल और सुन्दर महोच्छुष्म ।''

यहाँ से प्रारम्भ कर

''इस प्रकार महाचण्डेश्वर की प्रेरणा से, असंख्य, चण्डद्रव्य से रहित, शिवसाधना में दीक्षित जो चण्डद्रव्य के द्वारा जीवित रहते हैं वे ब्रह्मराक्षस कहे गए हैं ।''

तथा

''वे पातालवासी भी अनेक प्रकार के भोगों के साथ रमण करते हैं और बल

इति 'भूकटाहक' इति मनुष्याधारभूः । एवमियदन्तं ब्रह्माण्डस्यार्धम् तत्कटाहः कोटिः, कालाग्निपुरं कोटिः, तज्ज्वाला दशकोटयः, धूमः पञ्च, नरका द्वात्रिंशत्, कूष्माण्डपुरं नवनवतिलक्षाणि, पातालाष्टकमशीतिसहस्राणि, भूकटाहो विंशतिः,—इत्येवं पञ्चाशत् कोटयः । अत्रैव श्रीसिद्धयोगीश्वरीमतोक्तं विशेषं दर्शयति 'सिद्धातन्त्रे' इत्यादिना । यदुक्तं तत्र—

'पातालोर्ध्वे भवेद्भद्रं भद्रकालीगृहं शुभम् ।
यक्षिणीनां तु सर्वासां नायिका संप्रकीर्तिता ॥
चतुष्षष्टिः सहस्राणि यक्षिणीनां पुराणि तु ।
तत्र कोटिशतं यावत्कन्यानां तु पुरे पुरे ॥
क्रीडन्ति साधकास्तत्र तैः सार्धं तु मला(हा)बलाः ।
ज्ञात्वा तु यक्षिणीकल्पं सिद्धयोगीश्वरीमते ॥' इति ।
'तस्योर्ध्वे च पुनर्लक्षं तमश्चैवातिदुस्सहम् ।
तप्ताङ्गारनिभा भूमिस्तप्तपाषाणदीपिता ॥' इति ।
'तस्योर्ध्वे च न किंचित्स्याद्यावल्लक्षाश्चतुर्दश ।
पुनर्नागालयं चैवमनन्तभयकारकम् ॥
कृष्णनागसहस्रस्तु लक्षधा परिवारितम् ।' इति ।
'मातृद्रोही पितृद्रोही गुरुद्रोही च भ्रूणहा ।
बालहन्ता व्रजत्यत्र स्त्रीव्यङ्गे च महापशुः ॥

से दर्पित होकर पाताल में प्राणियों के राजा हो जाते हैं ।"

भूकटाहक = मनुष्यों की आधारभूमि । इस प्रकार यहाँ तक ब्रह्माण्ड का आधा भाग है । उस (= ब्रह्माण्ड) का कटाह १ करोड़, कालाग्निपुर १ करोड़, उसकी ज्वाला १० करोड़, धूम पाँच (करोड़), नरक बत्तीस करोड़, कुष्पाण्ड पुर ९९ लाख, ८ पाताल ८० हजार, भूकटाह २०, इस प्रकार (इसका मान) पचास करोड़ होता हैं । इसी विषय में सिद्धयोगीश्वरी मत में कहे गए विशेष को 'सिद्धातन्त्र' में इत्यादि (कथन) के द्वारा दिखलाते हैं—जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"पाताल के ऊपर सुन्दर शुभ भद्रकाली का गृह है । (वह भद्रकाली) सब यक्षिणियों की नायिका कही गई है । यक्षिणियों के ६४ हजार पुर हैं । उनमें एक-एक पुर में एक सौ करोड़ कन्यायें रहती हैं । वहाँ सिद्धयोगीश्वरीमत में यक्षिणीकल्प को जानकर महाबलशाली साधक उन (कन्याओं) के साथ क्रीड़ा करते हैं ।"

उसके ऊपर फिर एक लाख (योजन) अत्यन्त दुःसह अन्धकारपुर है । वहाँ तप्त पाषाण से जलती हुई भूमि तप्त अङ्गार के सदृश है ।"

"उसके ऊपर १४ लाख (योजन) तक कुछ नहीं है । उसके बाद हजारों नागों

तिष्ठते यावत्पाताले मन्त्रमार्गस्य दूषकः ॥' इति ॥ ४१ ॥

एवं ब्रह्माण्डस्य भूकटाहान्तमेकमर्धमभिधाय तदूर्ध्वमपि भुवनादि दर्शयति—

ततस्तमस्तप्तभूमिस्ततः शून्यं ततोऽहयः ॥ ४२ ॥
एतानि यातनास्थानं गुरुमन्त्रादिदूषिणाम् ।
ततो भूम्यूर्ध्व(मध्य) तो मेरुः सहस्राणि स षोडश ॥ ४३ ॥
मग्नस्तन्मूलविस्तारस्तद्द्वयेनोर्ध्वविस्तृतिः ।
सहस्राब्धिवदुच्छ्रायो हैमः सर्वामरालयः ॥ ४४ ॥

सहस्राणीति, योजनानाम् । 'मग्नः' इत्यर्थाद्भूकटाहे । तन्मूलविस्तार इति, तच्छब्देन षोडशानां सहस्राणां परामर्शः । 'तद्द्वयेन' द्वात्रिंशता सहस्रैः । 'सहस्राब्धिवसूच्छ्राय' इति चतुरशीतिसहस्रोच्छ्रितिः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'तस्या मध्ये महामेरुः सौवर्ण............. ।' (स्व. १०।१२१)

इत्याद्युपक्रम्य

'योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
षोडशैव सहस्राणि अधोभागे प्ररोपितः ॥

के द्वारा १ लाख बार घिरा हुआ अनन्तभयकारक नागों का पुर है ।''

मातृद्रोही, पितृद्रोही, गुरुद्रोही, भ्रूणहा, बालघाती, स्त्री के व्यङ्ग (= गुप्ताङ्ग) के विषय में महापशु और मन्त्रमार्ग का निन्दक यहाँ जाता है और इस पाताल में (प्रायश्चित की समाप्ति) तक रहता है ॥ ३५-४१ ॥

इस प्रकार भूकटाहपर्यन्त ब्रह्माण्ड के एक अर्धभाग का कथन कर उसके ऊपर भी भुवन आदि को दिखलाते हैं—

उसके बाद अन्धकार, तप्तभूमि, उसके बाद शून्य, उसके बाद सर्प ये सब गुरुमन्त्र आदि के दूषकों के लिए यातना के स्थान हैं । इसके बाद भूमि के मध्य में १६ हजार (योजन) मेरु पर्वत है । यह (भूकटाह में) डूबा हुआ उतने मूल के विस्तार वाला है । उसके दोगुने (= ३२ हजार योजन) से उसका ऊपरी विस्तार है । सभी देवतागण का स्वर्णिम आवासस्थल (यह सुमेरु) ८४ हजार (योजन) ऊँचा है ॥ -४२-४४ ॥

एक हजार योजन—डूबा हुआ अर्थात् भूकटाह में । उतना मूल का विस्तार यहाँ । 'उतना' शब्द से सोलह हजार का परामर्श है । उसके दो गुने से = ३२ हजार से । सहस्र अब्धि = ४, वसु = ८ अर्थात् ८४ हजार (योजन) ऊँचाई । वही कहा गया है—

''उसके बीच में सुवर्णमय महामेरु है । (स्व०तं० १०।१२१)

इत्यादि से प्रारम्भ कर

तान्येव मूलविस्तारो द्विगुणो मूर्धविस्तरः ।'
(स्व १०।१२३) इति ॥ ४४ ॥

नन्वेवंमानत्वेऽपि अस्य कीदृगाकारः ?—इत्याशङ्क्याह—

मध्योर्ध्वाधःसमुद्वृत्तशरावचतुरश्रकः ।

'समुद्वृत्त' इति सम्यगष्टाश्रतापत्तिपूर्वं उदूर्ध्वं वृत्तः, तेनाधो ब्रह्मभागे चतुरश्रो, मध्ये विष्णुभागेऽष्टाश्रो रुद्रभागे च वृत्त ऊर्ध्वे मस्तके च शरावाकृतिरित्यर्थः ॥

नन्वेवमाकारत्वम्

'अव्यक्तं चतुरष्टाश्रवृत्तभागोपलक्षितम् ।' इति,

तथा

'तच्छत्रं कुक्कुटाण्डं च...................... ।'

इत्याद्युक्त्या पारमेश्वरस्य लिङ्गस्य संभवेत् तत्कथम् ?—इत्याशङ्क्याह—

भैरवीयं च तल्लिङ्गं धरणी चास्य पीठिका ॥ ४५ ॥
सर्वे देवा निलीना हि तत्र तत्पूजितं सदा ।
मध्ये मेरुसभा धातुस्तदीशदिशि केतनम् ॥ ४६ ॥

"चौरासी हजार योजन ऊँचा, सोलह हजार (योजन) पृथ्वी के नीचे धँसा हुआ है। यह मूल का विस्तार है (उसका) दो गुना ऊपर फैला हुआ है।" (स्व०तं० १०।१२३) ॥ ४४ ॥

प्रश्न—इतना परिमाण होने पर भी इसका आकार कैसा है?

यह शङ्का कर कहते हैं—

मध्य में ऊपर और नीचे क्रमशः समुद्वृत्त = (अष्टकोण) शराव (कसोरे जैसा) और चतुष्कोण है ॥ ४५- ॥

समुद्वृत्त = अच्छीतरह अष्टकोणपूर्वक ऊपर उठा हुआ । इससे नीचे = ब्रह्मभाग में चतुष्कोण, मध्य = विष्णुभाग में अष्टकोण और रुद्रभाग अर्थात् ऊर्ध्वमस्तक में शराव (= पुरवा या कसोरा) की आकृतिवाला है ।

प्रश्न—इस प्रकार का आकार

अव्यक्त (का आकार) चतुष्कोण अष्टकोण और वृत्त भाग जैसा है ।" तथा

"वह छाता या मुर्गी के अण्डे जैसा है ।"

इत्यादि उक्ति के द्वारा (यह आकार) परमेश्वर (= शिव) के लिङ्ग का होता है तो यह कैसे ? यह शंका कर कहते हैं—

क्योंकि वह (= मेरु) भैरव का लिङ्ग है । धरणी उसका आधार है ।

ज्योतिष्कशिखरं शंभोः श्रीकण्ठांशश्च स प्रभुः।
अवरुह्य सहस्राणि मनोवत्याश्चतुर्दश ॥ ४७ ॥
चक्रवाटश्चतुर्दिक्को मेरुरत्र तु लोकपाः।
अमरावतिकेन्द्रस्य पूर्वस्यां दक्षिणेन ताम् ॥ ४८ ॥
अप्सरः सिद्धसाध्यास्तामुत्तरेण विनायकाः।
तेजोवती स्वदिश्यग्नेः पुरी तां पश्चिमेन तु ॥ ४९ ॥
विश्वेदेवा विश्वकर्मा क्रमात्तदनुगाश्च ये।
याम्यां संयमनी तां तु पश्चिमेन क्रमात् स्थिताः ॥ ५० ॥
मातृनन्दाः स्वसंख्याता रुद्रास्तत्साधकास्तथा।
कृष्णाङ्गारा निर्ऋतिश्च तां पूर्वेण पिशाचकाः॥ ५१ ॥
रक्षांसि सिद्धगन्धर्वास्तूत्तरेणोत्तरेण ताम्।
वारुणी शुद्धवत्याख्या भूतौघो दक्षिणेन ताम्॥ ५२ ॥
उत्तरेणोत्तरेणैनां वसुविद्याधराः क्रमात्।
वायोर्गन्धवती तस्या दक्षिणे किन्नराः पुनः ॥ ५३ ॥
वीणासरस्वती देवी नारदस्तुम्बुरुस्तथा।
महोदयेन्दोर्गुह्याः स्युः पश्चिमेऽस्याः पुनः पुनः ॥ ५४ ॥

उसमें सभी देवता लीन (= रहते) हैं। वहाँ सब हमेशा पूजित हैं। मेरु के मध्य में ब्रह्मा की मेरुसभा है। उस (सभा) के (ईशान कोण) में शंभु का ज्योतिर्मय शिखर है। उसके प्रभु श्रीकण्ठनाथ के अंश भूत शंभु हैं। उसके नीचे उतरने पर चौदह सहस्त्र योजन विस्तार वाली ब्रह्मा की सभा मनोवती है। उसके चारो ओर चक्रवाट (= नगरसमूह) तथा मेरु बसा हुआ है।

यहाँ अमरावती केन्द्र के पूर्व में लोकपाल उसके दक्षिण में सिद्ध साध्य अप्सरायें, उसके उत्तर में विनायक, अग्निकोण में तेजोवती अग्निपुरी, उसके पश्चिम विश्वेदेव, उसके पीछे विश्वकर्मा, दक्षिण दिशा में संयमनी (पुरी), उसके पश्चिम में क्रमशः मातृनन्दा (पुरी) है जिसमें ग्यारह रुद्र तथा ग्यारह उस (= यम) के साधक कृष्णाङ्गार (= काले कोयले के) समान हैं निर्ऋति भी हैं। उसके पूर्व में पिशाच हैं। उत्तर दिशा में राक्षस और सिद्ध गन्धर्व है। उसके उत्तर में वारुणी शुद्धवती है। उसके दक्षिण में भूतसङ्घ (= प्राणिवर्ग) का निवास है। उसके उत्तर में वसु एवं विद्याधर तथा उसके उत्तर में वायु देवता की गन्धवती नगरी है। उसके दक्षिण में किन्नर है। इसके पश्चिम में वीणाधारिणी सरस्वती देवी (अथवा वीणासरस्वती देवी), नारद और तुम्बुरु रहते हैं। उत्तर में सोमदेव की महोदया नगरी है। उसके

कुबेरः कर्मदेवाश्च तथा तत्साधका अपि ।
यशस्विनी महेशस्य तस्याः पश्चिमतो हरिः ॥ ५५ ॥
दक्षिणे दक्षिणे ब्रह्माश्विनौ धन्वन्तरिः क्रमात् ।

चशब्दद्वयं हेतौ । पूजितमित्यर्थात् त्रिषु लोकेषु । तदुक्तम्—

'लिङ्गरूपी भवेन्मेरुः............................. ।'

इत्युपक्रम्य

'चतुरश्रमधो ब्रह्मा................................. ।' इति,
'मध्ये अष्टाश्रको विष्णुः......................... ।' इति,
'ऊर्ध्वं तु भवति रुद्रो वृत्ताकारः समन्ततः ।
मेरुः सञ्जायते लिङ्गं धरणी चास्य पीठिका॥
आलयः सर्वदेवानां तेन लिङ्गत्वमागतम्।
लीनमस्य जगत्सर्वं ब्रह्माद्यं सचराचरम् ॥' इति ।
'एवं ते भाषितं लिङ्गं त्रिषु लोकेषु पूजितम्।' इति ।
'सुमेरुर्हेमसंपृक्तः शरावाकृतिमस्तकः ।' इति ॥

'धातुः' इति ब्रह्मणः । यदुक्तम्—

पश्चिम में गुह्यसमाज रहता है । वहीं पर कुबेर कर्मदेव और उसके साधक रहते हैं । महेश की (दिशा = ईशान कोण में) यशस्विनी नामक नगरी है। उसके पश्चिम में हरि रहते हैं । उसके दक्षिण में ब्रह्मा उसके दक्षिण अश्विद्वय उनके दक्षिण में धन्वन्तरि रहते हैं ॥ -४५-५६- ॥

दो चकार हेतु (अर्थ) में हैं । पूजित हैं अर्थात् तीनों लोकों में । वही कहा गया है—

"मेरु लिङ्गरूपी है ।"

ऐसा प्रारम्भ कर

"नीचे चारकोण अधःस्थित ब्रह्मा है ।"

"मध्य में आठकोण वाले विष्णु है ।"

"और ऊपर चारो ओर वृत्ताकार रुद्र है । मेरु लिङ्ग है । धरणी इसका आधार (= योनि) है । यह सभी देवों का आलय है इसलिए यह लिङ्ग है क्योंकि ब्रह्मा आदि समस्त चराचर जगत् इसमें लीन हैं ।"

"इस प्रकार तीनों लोकों में पूजित । लिङ्ग का तुम्हें वर्णन किया गया ।"
"सुमेरु सोने से बना हुआ मस्तक में शराव की आकृतिवाला है ।"

धाता का = ब्रह्मा का । जैसा कि कहा गया है—

'तस्योर्ध्वे तु सभा दिव्या नाम्ना चैव मनोवती ।'

(स्व० १०।१२३)

इत्युपक्रम्य

'सर्वभोगगुणोपेता ब्रह्मणस्तु महात्मनः ।'

(स्व० १०।१२४) इति ।

तदीशदिशीति, तच्छब्देन सभापरामर्शः । अत्र च यद्यपि शृङ्गत्रयमस्ति तथाप्येतदिह प्राधान्यादुक्तम् । यदुक्तं किरणायाम्—

'त्रिभिः शृङ्गैः समायुक्तो रुक्मकाञ्चनरत्नजैः ।
रत्नजं त्र्यम्बकस्योक्तं राजतं तु त्रिविक्रमे ॥
सौवर्णं कनकाण्डस्य........................ ।' इति ।

लोकपा इति, भूम्ना । 'दक्षिणेन ताम्' इति तस्या दक्षिणे । तेन तद्दक्षिणेऽप्सरःपुरी, तद्दक्षिणे च सिद्धपुरीत्यादिक्रमः । अप्सरःप्रभृतिभिश्चात्र कामवत्याख्याः स्वपुर्यो लक्ष्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । अत्र च 'बहुवचनादाद्यर्थो लभ्यते' इति नीत्याऽऽदित्यानामपि ग्रहणम्,—इत्यस्मिन्नन्तराले चतस्रः पुर्यो-ऽन्यथा षड्विंशतिर्न स्यात् । 'ताम्' इति अमरावतीम् । तेन तस्या एव वामे विनायकाः,—इति ज्ञेयम् । 'स्वदिशि' इत्यग्निकोणे । तच्चोत्तरत्रापि योज्यम् ।

"उसके ऊपर मनोवती नाम की दिव्यसभा" (स्व० तं० १०।१२३)

ऐसा प्रारम्भ कर

महात्मा ब्रह्मा की सभी भोग और गुणों से युक्त (सभा) है ।" (स्व०तं० १०।१२४)

तदीश की दिशा में—यहाँ तत् शब्द से सभा को समझना चाहिए । यहाँ यद्यपि तीन-शृङ्ग हैं तो भी प्रधान होने के कारण इसका यहाँ कथन है । जैसा कि किरणसंहिता (अथवा किरणागम) में कहा गया है—

"सुवर्ण रजत एवं रत्न से उत्पन्न तीन शृङ्गों से युक्त है । उनमें रत्नज शङ्कर का, रजतमय विष्णु का और स्वर्णमय ब्रह्मा का (शृङ्ग) कहा गया है ।"

लोकप—यह कथन अधिकता के कारण है । दक्षिणेन ताम् = उसके दक्षिण । इस प्रकार उसके दक्षिण अप्सराओं की पुरी और उसके दक्षिण में सिद्धपुरी है—इस प्रकार क्रम है । अप्सरः आदि के द्वारा यहाँ कामवती की अपनी पुरियाँ लक्षित होती हैं । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । यहाँ "बहुवचन से इत्यादि अर्थ का ग्रहण होता है ।" इस नीति के द्वारा आदित्यों का भी ग्रहण होता है । इस प्रकार इस बीच में चार पुरियाँ और हैं अन्यथा वे छब्बीस नहीं होगी । उसका = अमरावती को । इससे उसके बायें विनायक लोग हैं—ऐसा जानना चाहिए । अपनी

'तां पश्चिमेन' इति तस्याः पश्चिमे । तदनुगा इति, उत्तरत्रापि योज्यम् । एतच्च पुरीद्वयं वक्ष्यमाणायाः संयमन्यभिधायाः पुर्याः पुरस्तात्—इत्यर्थसिद्धम् । एता हि सर्वा एव पुर्यः पूर्वाभिमुखाः, येनास्यां पूर्वपश्चिमादिविभागः । 'मातृनन्दा' इति पुर्यभिधानम् । 'स्वसंख्याताः' इत्येकादश । 'तत्साधकाः' इति यमपरिचारकाः । रुद्रा इति, काकाक्षिवत् । 'क्रमात्' इति मातृनन्दानन्तरं यमपरिचारकाणां रुद्राणां पुरी, तदनन्तरमेकादशानामिति । 'रक्षांसि' इति निस्त्रिंशाभिधानानि । 'तस्या दक्षिणे' इत्यर्थात् शुद्धवत्या उत्तरेण । 'पुरः' इति पुरस्तात् । वीणासरस्वती, गान्धर्ववेदवती—इत्यर्थः । 'तत्साधकाः' इति कुबेरपरिचारका यक्षाः । दक्षिणे इत्यर्थादमरावत्याः । 'उत्तरे दक्षिणे' इति द्विवचनादश्विनोर्धन्वन्तरेश्चैकैव पुरीति ज्ञेयम् ॥ ५५ ॥

तदेवोपसंहरति—

भैरवे चक्रवाटेऽस्मिन्नेवं मुख्याः पुरोऽष्टधा ॥ ५६ ॥
अन्तरालगतास्त्वन्याः पुनः षड्विंशतिः स्मृताः ।

'मुख्या' इति, लोकपालसंबन्धित्वात् । 'अन्या' इति गौण्यः । तदुक्तम्—

'सभाया ब्रह्मणोऽधस्ताद्योजनानां चतुर्दश ।

दिशा में = अग्निकोण में । इसे आगे भी समझना चाहिए । 'तां पश्चिमेन' = उसके पश्चिम में । इसके पीछे—इसे आगे भी जोड़ना चाहिए । ये दोनों पुरी आगे कही जाने वाली संयमनी नामकपुरी के पूर्व में स्थित है—यह अर्थात् सिद्ध हो गया। ये सभी नगरियाँ पूर्व को ओर मुख वाली हैं । जिससे इसमें पूर्व पश्चिम आदि विभाग है । 'मातृनन्दा' यह पुरी का नाम है । अपनी संख्या वाली = ग्यारह संख्या वाली । उसके साधक = यम के परिचारक । 'रुद्र' इस पद को काक की अक्षि के समान (दोनों तरफ जोड़ना चाहिए) 'क्रमशः' मातृनन्दा के बाद यमपरिचारक रुद्रों की पुरी है । उसके बाद ग्यारह (रुद्रों) की पुरी है । राक्षसगण = निस्त्रिंश नाम वाले राक्षस । उसके दक्षिण = शुद्धवती के दक्षिण । पुरः = सामने । वीणासरस्वती = गान्धर्ववेद वाली । उसके साधक = कुबेर के परिचारक यक्ष । दक्षिण में—अर्थात् अमरावती के 'उत्तर' और 'दक्षिणे' ऐसे द्विवचन से अश्विद्वय और धन्वन्तरि की एक ही पुरी है । ऐसा जानना चाहिए ॥ ५५ ॥

उसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार इस भैरवीय चक्रवाट में आठ मुख्य पुर है और बीच में छब्बीस अन्य (= गौण) पुरी हैं ॥ -५६-५७- ॥

मुख्य—लोकपालों से सम्बद्ध होने के कारण । अन्य = गौण । वही कहा गया है—

"ब्रह्मा की सभा के नीचे चौदह हजार योजन तक छोड़कर चारों ओर चक्रवाट

सहस्राणि परित्यज्य चक्रवाटः समन्ततः ॥
स्वर्गाष्टकं तदुद्दिष्टं तत्र तिष्ठन्ति लोकपाः ।
पूर्वेणेन्द्रस्य विख्याता पुरी नाम्नामरावती ॥
तेजोवती तथाग्नेय्यां चित्रभानोः प्रकीर्तिता ।
दक्षिणे यमराजस्य नाम्ना संयमनी पुरी ॥
कृष्णाङ्गारा तु नैर्ऋत्यां राक्षसेशस्य कीर्तिता ।
पश्चिमेन जलेशस्य पुरी शुद्धवती स्मृता ॥
वायव्यां तु पुरी वायोर्नाम्ना गन्धवहा प्रिये ।
उत्तरेणापि सोमस्य पुरी नाम्ना महोदया ॥
ऐशान्यामीशराजस्य पुरी नाम्ना यशोवती ।
एतासामन्तरे देवि शृणु षड्विंशतिं पुरीः ॥
दक्षिणेनामरावत्याः कामवत्यप्सरःपुरी ।
सौवर्णी सिद्धसङ्घानां तस्या वै दक्षिणेन तु ॥
तस्या वै दक्षिणेनान्या पद्मरागोपशोभिता ।
आदित्यानां पुरी ख्याता नाम्ना चांशुमती शुभा ॥
साध्यानां राजते दिव्या ख्याता वै कुसुमावती ।
वह्नेः पश्चिमदिग्भागे विश्वेषां रेवती पुरी ॥
तस्यास्तु पश्चिमे देवि दिव्या वै विश्वकर्मणः ।
पश्चिमे धर्मराजस्य मातृनन्दा पुरी स्मृता ॥
क्रीडन्ति मातरस्तत्र मधुपानविघूर्णिताः ।
रुद्राणां पश्चिमे तस्या रोहिता नाम काञ्चनी ॥

हैं । उसे स्वर्गाष्टक कहा गया है । उसमें लोकपाल रहते हैं । पूर्व में अमरावती नाम से विख्यात इन्द्र की पुरी है । आग्नेयी दिशा में चित्रभानु की तेजोवती (पुरी) कही गई है । दक्षिण में यमराज की संयमनी नामक पुरी है । नैर्ऋत्य दिशा में राक्षसेश की कृष्णाङ्गार पुरी है । पश्चिम में जलेश की शुद्धवती पुरी है । हे प्रिये ! वायव्यदिशा में वायु की गन्धवहा नामक पुरी है । उत्तर में सोम की महोदया नामक पुरी और ईशान दिशा में ईशराज की यशोवती नामक पुरी है । हे देवि इनके बीच में छब्बीस पुरियों को सुनो—अमरावती के दक्षिण में अप्सराओं की कामवती पुरी है । उसके दक्षिण सिद्धसङ्घों की सौवर्णी पुरी है । उसके दक्षिण में एक दूसरी, पद्मरागमणियों से शोभित, शुभ अंशुमती नामक पुरी आदित्यों की है । साध्यों की कुसुमावती नामक दिव्य पुरी है । अग्नि (दिशा) के पश्चिमदिग्भाग में विश्वेदेवा लोगों की रेवती पुरी है । उसके पश्चिम में विश्वकर्मा की दिव्या पुरी है । पश्चिम में धर्मराज की मातृनन्दा पुरी है वहाँ मधुपान से मत्त मातायें क्रीडा करती रहती हैं । उसके पश्चिम में रुद्रों की स्वर्णमयी रोहिता नामक पुरी है वहाँ यम के परिचारक शूलधारी रुद्र रहते हैं । उसके पश्चिम वज्र के प्राकार और तोरण वाली, ग्यारह रुद्रों

तत्र शूलधरा रुद्रा यमस्य परिचारकाः ।
तस्य पश्चिमतो ज्ञेया नाम्ना गुणवती पुरी ॥
एकादशानां रुद्राणां वज्रप्राकारतोरणा ।
निर्ऋतेः पूर्वभागे तु पिङ्गला नाम वै पुरी ॥
सुकर्मसंज्ञा देवेशि पिशाचास्तत्र संस्थिताः ।
नैर्ऋत्युत्तरसामीप्ये पुरी कृष्णवती शुभा ॥
निस्त्रिंशा नाम तत्रैव वसन्ति राक्षसाः सदा ।
तस्या अप्युत्तरे भागे पुरी हैमी सुखावती ॥
मित्रो वसति तत्रैव बहुभृत्यजनावृतः ।
अस्या अप्युत्तरे हैमी गान्धर्वी नाम विश्रुता ॥
वसन्ति तत्र गन्धर्वा दिव्यकन्यासमावृताः ।'
(स्व० १०।१३०-१४५) इति ।

तथा

'भूतानां सिद्धसेना तु वरुणस्य तु दक्षिणे ।
हेमसंज्ञा वसूनां तु वरुणस्यापि चोत्तरे ॥
तस्यास्तूत्तरतो देवि नाम्ना सिद्धवती पुरी ।
सर्वविद्याधराणां तु सा पुरी परिकीर्तिता ॥
वायोर्दक्षिणतो देवि सिद्धा नाम पुरी स्थिता।
वसन्ति किन्नरास्तत्र पुरैर्हेमार्कसंनिभैः ॥
वायोः पूर्वेण गान्धर्वी हैमी चित्ररथस्य तु ।
गन्धर्वराजमुख्यस्य दिव्यगन्धर्वनादिता ॥

की पुरी गुणवती नाम से जाननी चाहिए । निर्ऋति के पूर्वभाग में पिङ्गला नामकी पुरी है । हे देवेशि! वहाँ सुकर्मा नामक पिशाच रहते हैं । निर्ऋति के उत्तर पास में ही कृष्णवती नाम की सुन्दरपुरी है । उसमें सदा निंस्त्रिश नामक राक्षस रहते हैं। उसके भी उत्तर भाग में सुखावती नामक सोने की पुरी है । उसमें अनेक दासों से आवृत मित्र रहते हैं । इसके भी उत्तर में सुवर्ण की गान्धर्वी नामक नगरी प्रसिद्ध है। वहाँ दिव्यकन्याओं से युक्त गन्धर्व रहते हैं'' ॥ (स्व०तं०१०।१३०-१४५)

तथा

''वरुण के दक्षिण में भूतों की सिद्धसेना (नामक पुरी) है । वरुण के उत्तर में वसुओं की हेमनामक (पुरी) है । हे देवि उसके भी उत्तर में सिद्धवती पुरी है । वह सभी विद्याधरों की पुरी कही गई है । वायु के दक्षिण में सिद्धा नामक पुरी है वहाँ सुवर्ण और सूर्य के समान नगरों के साथ किन्नर रहते हैं । वायु के पूर्व गन्धर्वराजमुख्य चित्ररथ की दिव्य गन्धर्वों से शब्दायमान स्वर्णमयी गान्धर्वी पुरी है । वहाँ साक्षात् देवी सरस्वती विराजमान है जों सप्तस्वरविभूषित, तीनों ग्रामों (= उस

आस्ते भगवती साक्षात् सप्तस्वरविभूषणा ।
ग्रामत्रयपरीधाना जातिमेखलमण्डिता ॥
मूर्छनातानचित्राङ्गी नानातानकलोदया ।
लक्षणव्यञ्जनोपेता मध्यमेनावगुण्ठिता ॥
गन्धर्वैर्गीयमाना सा तत्र देवी सरस्वती ।
तस्याः पूर्वेण चित्रा वै तुम्बुरोर्नारदस्य च ॥
सोमस्य पश्चात्प्रमदा गुह्यकानां प्रकीर्तिता ॥
पूर्वेण वै तु सोमस्य नाम्ना चित्रवती पुरी ।
सर्वधातुमयी चित्रा कुबेरस्य महात्मनः ॥
षड्विंशतिसहस्रैस्तु कोटीनां परिवारितः ।
यक्षाणामुत्तमः श्रीमानास्ते भोगैरनुत्तमैः ॥
तस्याः पूर्वे शुभा नाम्ना जाम्बूनदमयी पुरी।
तत्र वै कर्मदेवास्तु देवत्वं कर्मणा गताः ॥
पश्चिमेनेशराजस्य विष्णोर्वै श्रीमती पुरी ।
तत्रास्ते श्रीपतिः श्रीमानतसीपुष्पसंनिभः ।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ॥
ईशस्य दक्षिणे भागे नाम्ना पद्मावती पुरी ॥
महापद्मोपविष्टस्य पद्ममालाधरस्य तु ।
पद्मपत्रायताक्षस्य ब्रह्मणः पद्मजन्मनः ।
तस्या दक्षिणतो देवि नाम्ना कामसुखा पुरी ॥

नाम वाले स्वरों) की परिधानवाली, जाति (नामक स्वररूपी) मेखला से मण्डित, मूर्च्छनातानरूपी विचित्र अङ्गों वाली, अनेक तान एवं कला के उदय का स्थान, लक्षणाओं व्यञ्जनाओं से युक्त, मध्यम (स्वर) से अवगुण्ठित तथा गन्धर्वों के द्वारा गीयमान है । उसके पूर्व में तुम्बुरु सोम और नारद की चित्रा नामक पुरी है । पश्चिम में गुह्यकों की प्रमदा नामक (पुरी) कही गयी है । सोम की (पुरी) के पूर्व में महात्मा कुबेर की सर्वधातुमयी विचित्र चित्रवती नाम की पुरी है वहाँ यक्षों में श्रेष्ठ श्रीमान् (कुबेर) २६ हजार प्रकार के उत्तमोत्तम भोगों से युक्त होकर विराजते हैं। उसके पूर्व शुभा नामकी स्वर्णमयी पुरी है । वहाँ पर अपने कर्मों के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर्मदेव नामक (देवता रहते हैं) । देवराज के पश्चिम विष्णु की श्रीमती नामक पुरी है । वहाँ पर अतसी (= अलसी, तीसी) के समान कान्ति वाले, हाथ में शङ्ख चक्र गदा धारण किये हुये पीतवस्त्रधारी लक्ष्मीपति जनार्दन रहते हैं । ईश के दक्षिण भाग में पद्मजन्मा, महापद्म पर उपविष्ट, पद्ममालाधारी, पद्मपत्र के समान विशालनेत्र वाले ब्रह्मा की पद्मावती नामक पुरी है । हे देवि ! उसके दक्षिण कामसुरवा नाम की पुरी है । हे देवेशि ! वहाँ अश्विद्वय तथा धन्वन्तरि रहते हैं। अमरावती के उत्तर में महामेघ नाम की विनायकों की प्रसिद्ध दिव्य बस्ती मानी

अश्विनौ तत्र देवेशि तथा धन्वन्तरिः स्मृतः ।
उत्तरे त्वमरावत्या महामेघेति विश्रुता ॥
विनायकानां सा दिव्या वसतिस्तत्र कल्पिता ।'
(स्व०तं० १०।१४६-१६१) इति च ॥ ५६ ॥

एतच्च पुण्यकर्मणां भोगस्थानम्—इत्याह—

इष्टापूर्तरताः पुण्ये वर्षे ये भारते नराः ॥ ५७ ॥
ते मेरुगाः सकृच्छम्भुं ये वार्चन्ति यथोचितम् ।

'पुण्ये' इति वर्षान्तरेभ्यो वैलक्षण्यं कटाक्षितम् । यथोचितमिति, पौराणिक्या प्रक्रियया—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'इष्टापूर्तरता देवि ये नराः पुण्यभारते ।
त्र्यम्बकं सकृदर्चन्ति मेरुं गच्छन्ति ते नराः ॥'
(स्व० १०।१६९) इति ॥ ५७ ॥

इदानीं मेर्वधो वर्षादि विभक्तुमुपक्रमते—

मेरोः प्रदक्षिणाप्योदग्दिक्षु विष्कम्भपर्वताः ॥ ५८ ॥
मन्दरो गन्धमादश्च विपुलोऽथ सुपार्श्वकः ।
सितपीतनीलरक्तास्ते क्रमात्पादपर्वताः ॥ ५९ ॥

विष्कम्भेति, भुवोऽवष्टम्भकत्वात् ॥ ५९ ॥

गयी है ॥ ५६ ॥ (स्व०तं० १०।१४६-१६१)

यह पुण्यकर्मवालों का भोग स्थान है—यह कहते हैं—

पवित्र भारतवर्ष में जो पुरुष इष्ट एवं पूर्त्त में लगे हुये हैं—अथवा जो शिव की एक बार यथोचित पूजा करते हैं वे सुमेरु पर्वत पर आसीन होते हैं ॥ -५७-५८- ॥

'पवित्र' शब्द से, अन्य देशों से विलक्षणता बतलायी गई है । यथोचित् (का अर्थ है) पौराणिक रीति से । वही कहा गया है—

हे देवि ! पवित्र भारत में जो पुरुष इष्ट-पूर्त्त में लगे हुये हैं अथवा जो एक बार शम्भु की अर्चना करते हैं वे पुरुष सुमेरु (पर्वत) को जाते हैं ॥ ५७ ॥

अब मेरु के नीचे वर्ष आदि का विभाग करने का उपक्रम करते हैं—

मेरु के दक्षिण पश्चिम और उत्तर दिशाओं में, विष्कम्भ पर्वतसमूह मन्दर, गन्धमादन, विपुल, सुपार्श्वक क्रमशः श्वेत, पीत, नील और रक्त वर्ण के (चार) पाद पर्वत (पैर के समान) है ॥ -५८-५९ ॥

पृथ्वी के अवष्टम्भक (= स्थिर रखने वाला) होने के कारण ये विष्कम्भ है ।

तदाह—

एतैर्भुवमवष्टभ्य मेरुस्तिष्ठति निश्चलः ।

एषां च पृथङ्मानस्यानुक्तत्वात् वक्ष्यमाणेलावृताख्यवर्षैकदेशत्वमवगन्तव्यम्, तच्च मेर्वासन्नमन्यथैषां पादपर्वतत्वं न स्यात् ॥

एषु च चतुर्ष्वपि अचलेषु प्रत्येकमुद्यानसरःकल्पवृक्षाः संभवन्ति—इत्याह—

चैत्ररथनन्दनाख्ये वैभ्राजं पितृवनं वनान्याहुः ॥ ६० ॥
रक्तोदमानससितं भद्रं चैतच्चतुष्टयं सरसाम् ।
वृक्षाः कदम्बजम्ब्वश्वत्थन्यग्रोधकाः क्रमशः ॥ ६१ ॥
एषु च चतुर्ष्वचलेषु त्रयं त्रयं क्रमश एतदाम्नातम् ।

अत्र च जम्बूरसोत्था जम्बुनदी संभवतीति शेषः । तदुक्तम्—

'कदम्बो मन्दरे ज्ञेयो जम्बूर्वै गन्धमादने ।
अश्वत्थो विपुले ज्ञेयो न्यग्रोधश्च सुपार्श्वके ॥
सरांस्युपवनान्यत्र अरुणोदं तु पूर्वतः ।
मानसं दक्षिणे ज्ञेयं सितोदं पश्चिमेन तु ॥
महाभद्रमुत्तरतस्ततश्चैत्ररथं वनम् ।
नन्दनं तु सवैभ्राजं पितृसंज्ञं क्रमात्स्थितम् ॥' इति ।

वहीं कहते हैं—

इनके द्वारा पृथ्वी को स्थिर करके सुमेरु निश्चल रहता है ॥ ६०- ॥

इनका पृथक् परिमाण नहीं कहे जाने से वक्ष्यमाण इलावृत नामक वर्ष का एक भाग समझना चाहिए । और वह सुमेरु के समीपस्थ है अन्यथा ये पादपर्वत नहीं हो सकते ॥ ५९ ॥

इन चारों पर्वतों में प्रत्येक में उद्यान, तालाब और कल्पवृक्ष हैं—यह कहते हैं—

इसमें चैत्ररथ, नन्दन, वैभ्राज और पितृवन नामक उद्यान है रक्तोद, मानस, सित और भद्र ये चार तालाब है । कदम्ब, जामुन, पीपल और बरगद क्रमशः ये वृक्ष उनमें हैं । इन चारो पर्वतों में ये तीन-तीन क्रमशः कहे गए हैं ॥ -६०-६२- ॥

"यहाँ जामुन के रस से उत्पन्न जम्बू नदी है । वही कहा गया है—

मन्दराचल में कदम्ब, गन्धमादन में जम्बू, विपुल में अश्वत्थ, और सुपार्श्वक में बरगद को जानना चाहिए । यहाँ तालाब और उपवन (इस प्रकार) हैं—पूर्व में अरुणोद, दक्षिण में मानसरोवर, पश्चिम में सितोद और उत्तर में महाभद्र । इसी

'तत्प्रमाणा स्मृता जम्बूर्गन्धमादनमूर्धनि ।
तस्याः फलसमूहोत्थो रसो ज्ञेयोऽमृतोपमः ॥
तेन जम्बूनदी जाता प्रिये वेगवती भृशम् ।
मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य जम्बूमूलं विशेत्स्वकम् ॥
तत्संपर्कात् समुत्पन्नं कनकं देवभूषणम् ।
तेन जाम्बूनदं लोके जायते भूषणोत्तमम् ॥'
(स्व० १०।१९१) इति ॥ ६१ ॥

मेर्वधो लवणाब्ध्यन्तं जम्बुद्वीपः समन्ततः ॥ ६२ ॥
लक्षमात्रः स नवधा जातो मर्यादपर्वतैः ।

समन्तत इति, वलयाकारत्वेन । तदुक्तम्—

'मेर्वधो वलयाकारो जम्बुद्वीपो व्यवस्थितः ।
लक्षयोजनविस्तारः .... ॥' इति ॥ ६३ ॥

नवधा जातत्वमेव अस्य दर्शयति—

निषधो हेमकूटश्च हिमवान्दक्षिणे त्रयः ॥ ६३ ॥
लक्षं सहस्रनवतिस्तदशीतिरिति क्रमात् ।

प्रकार क्रमशः चैत्ररथ, नन्दन, सर्वभ्राज और पितृवन स्थित है ।''

''यहाँ गन्धमादन के शिखर पर उतने ही प्रमाण वाले जम्बू वृक्ष है । उसके फलसमूह से निकला हुआ रस अमृत के समान है । हे प्रिये ! उससे अत्यन्त वेगवती जम्बूनदी उत्पन्न हुई है (वह नदी) सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करके अपने जम्बूमूल में प्रवेश करती है । उसके सम्पर्क से देवताओं का आभूषण सुवर्ण उत्पन्न होता है । इसीलिए संसार में सुवर्ण उत्तम भूषण होता है ॥ ६१ ॥ (स्वं०तं० १०।१९१)

'सुमेरु के नीचे नमक के सागर तक चारों ओर जम्बूद्वीप है । एक लाख योजन विस्तृत वह (= सुमेरु) मर्याद पर्वतों के द्वारा नव प्रकार से विभक्त हो गया है ॥ -६२-६३- ॥

चारो ओर = गोलाकार में । वही कहा गया है—

''सुमेरु के नीचे गोल आकार में एक लाख योजन विस्तृत जम्बूद्वीप है'' ॥ ६३ ॥

इस (सुमेरु) के नव भागों को दिखाते हैं—

दक्षिण में निषध हेमकूट और हिमवान् ये तीन (पर्वत) क्रमशः १ लाख, ९० हजार और ८० हजार (योजन विस्तार वाले) हैं। बायीं ओर

नीलः श्वेतस्त्रिशृङ्गश्च तावन्तः सव्यतः पुनः॥ ६४ ॥
मेरोः षडेते मर्यादाचलाः पूर्वापरायताः।
पूर्वतो माल्यवान्पश्चाद्गन्धमादनसंज्ञितः ॥ ६५ ॥
सव्योत्तरायतौ तौ तु चतुस्त्रिंशत्सहस्रकौ ।
अष्टावेते ततोऽप्यन्यौ द्वौ द्वौ पूर्वादिषु क्रमात् ॥ ६६ ॥
जाठरः कूटहिमवद्यात्रजारुधिशृङ्गिणः ।
एवं स्थितो विभागोऽत्र वर्षसिद्ध्यै निरूप्यते ॥ ६७ ॥

'दक्षिणत' इति पूर्वाभिमुखस्य मेरोः । लक्षमिति, जम्बुद्वीपस्य तावत्परिमाणत्वात् । एवं सकलद्वीपायतत्वेऽपि एषां बहिर्यथायथं तद्वर्तुलतानुपाततो हेमकूटहिमवतोरायाममानह्रासः, विस्तरस्त्वेषामविशिष्ट एव । यदुक्तम्—

'लवणोदधिपर्यन्ताः सहस्रद्वयविस्तृताः ।'

(स्व० १०।२०१) इति ।

'तावन्त' इति लक्षादिमानाः । चतुस्त्रिंशत्सहस्रकाविति, नीलनिषधाभ्यां सीमन्तित्वेनैवंमानस्येलावृतस्य वक्ष्यमाणत्वात्, विस्तरतस्तु सहस्रम् । यदुक्तम्—

'पूर्वेण माल्यवान्मेरोः पर्वतस्तु विराजते ।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां सुरेश्वरि ॥

नील, श्वेत और त्रिशृङ्ग उतने ही (परिमाण) वाले हैं । पूर्व में माल्यवान् पश्चिम में गन्धमादन नामक (पर्वत) है । ये दोनों ३४ हजार योजन तक दक्षिण और उत्तर की ओर फैले हुये हैं । ये आठ, इनके अतिरिक्त दो-दो (पर्वत) क्रमशः पूर्व आदि (दिशाओं) मे हैं । वे हैं—जाठर, हेमकूट, पारियात्र और जारुधी । इस प्रकार का विभाग वर्ष (= देश) की सिद्धि के लिए बताया जाता है ॥ -६३-६७ ॥

दक्षिण—पूर्वाभिमुख सुमेरु के । एक लाख—क्योंकि जम्बूद्वीप का उतना परिमाण है । इस प्रकार सम्पूर्ण द्वीप में फैलने पर भी बाहर क्रमशः उनकी गोलाई के अनुपात से हेमकूट और हिमवान् के विस्तार का परिमाण कम हो जाता है । शेष बातें इनमें समान हैं । जैसा कि कहा गया है—

नमक के समुद्र तक (ये पर्वत) दो हजार योजन विस्तार वाले हैं । (स्व० १०।२०१)

उतने = एक लाख आदि मान वाले । चौंतीस हजार वाले—नील और निषध पर्वत के सीमावर्त्ती होने से इतने ही विस्तार वाले इलावृत के वक्ष्यमाण होने से। विस्तार—एक हजार (योजन) । जैसा कि कहा गया है—

हे सुरेश्वरि ! मेरु के पूर्व में चौंतीस हजार योजन विस्तृत माल्यवान् पर्वत है ।

याम्योत्तरायतो भाति सहस्रं तस्य विस्तृतिः ।
तथैवापरदिग्भागे तत्तुल्यो गन्धमादनः ॥'

(स्व० १०।२०४) इति ।

अत्र च नीलनिषधमाल्यवद्गन्धमादनाख्यानां चतुर्णां पर्वतानां चत्वारिंशत् सहस्राणि योजनानामुत्सेधोऽन्येषां तु दश—इति ज्ञेयम् । यदुक्तम्—

'नीलश्च निषधश्चैव माल्यवान् गन्धमादनः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रितः ॥'

(स्व० १०।२०५) इति ।

तथा श्रीमृगेन्द्रोत्तरे

........................'दशोत्सेधा नवान्तराः ।' इति ।

एवं दक्षिणोत्तरस्थैस्त्रिभिस्त्रिभिः, पूर्वपश्चात्स्थेन चैकैकेन—इत्यष्टभिः पर्वतैर्विभक्तो जम्बूद्वीपो नवधा जातः । 'ततः' इत्यष्टाभ्यः । 'कूटो' हेमकूटः । हिमवानर्थात् सकैलासः । 'यात्रः' पारियात्रः, स च अर्थान्निषधयुक्तः । तदुक्तम्—

'जठरो हेमकूटश्च पूर्वभागे व्यवस्थितौ ।
कैलासो हिमवांश्चैव दक्षभागे व्यवस्थितौ ॥
निषधः पारियात्रश्च अपरेण महीधरौ ।

उसका विस्तार दक्षिण से उत्तर की ओर है । उसी प्रकार दूसरी (= पश्चिम) दिशा में उसी के समान गन्धमादन है ।'' (स्व० तं० १०।२०४)

इनमें से नील, निषध, माल्यवान् और गन्धमादन नामक चार पर्वतों की ऊँचाई चालीस हजार योजन है । अन्य की दश हजार—ऐसा जानना चाहिये । जैसा की कहा गया है—

''नील, निषध, माल्यवान् और गन्धमादन चालीस हजार योजन ऊँचे हैं ।'' (स्व० तं० १०।२०५)

तथा मृगेन्द्रतन्त्र में—

''शेष नव दशहजार योजन (ऊँचे) हैं ।''

इस प्रकार दक्षिण से उत्तर की ओर स्थित तीन-तीन और पूर्व से पश्चिम की ओर स्थित एक-एक के द्वारा-इस प्रकार आठ पर्वतों से विभक्त जम्बूद्वीप नव प्रकार का हो गया । इससे = आठ से । कूट = हेमकूट । हिमवान् = कैलाश के सहित । यात्र = पारियात्र । वह अर्थात् निषध युक्त है । वही कहा गया है—

''जठर और हेमकूट पूर्वभाग में स्थित हैं । कैलाश और हिमवान् दक्षिण में व्यवस्थित है । निषध और पारिजात पर्वत पश्चिम में तथा जारुधि और शृङ्गवान्

जारुधिः शृङ्गवांश्चैव उत्तरेण व्यवस्थितौ ॥'

(स्व० १०।२०८) इति ।

एते च विष्कम्भपर्वता नियतदेशस्थाः—इति नात्र विभागान्तरनिमित्तं विभागो नवखण्डात्मा ॥ ६७ ॥

तदेवाह—

समन्ताच्चक्रवाटाधोऽनर्केन्दु चतुरश्रकम् ।
सहस्रनवविस्तीर्णमिलाख्यं त्रिमुखायुषम् ॥ ६८ ॥
मेरोः पश्चिमतो गन्धमादो यस्तस्य पश्चिमे ।
केतुमालं कुलाद्रीणां सप्तकेन विभूषितम् ॥ ६९ ॥
मेरोः पूर्वं माल्यवान्यो भद्राश्वस्तस्य पूर्वतः ।
सहस्रदशकायुस्तत्सपञ्चकुलपर्वतम् ॥ ७० ॥
पूर्वपश्चिमतः सव्योत्तरतश्च क्रमादिमे ।
द्वात्रिंशच्च चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि निरूपिते ॥ ७१ ॥
मेरोरुदक् शृङ्गवान्यस्तद्बहिः कुरुवर्षकम् ।
चापवन्नवसाहस्रमायुस्तत्र त्रयोदश ॥ ७२ ॥
कुरुवर्षस्योत्तरेऽथ वायव्येऽब्धौ क्रमाच्छराः ।
दश चेति सहस्राणि द्वीपौ चन्द्रोऽथ भद्रकः ॥ ७३ ॥

उत्तर में व्यवस्थित है । (स्व०तं० १०।२०८)

ये विष्कम्भपर्वत निश्चित देश में है इसकारण यहाँ विभागान्तर का निमित्तभूत नवखण्ड वाला विभाग नहीं है ॥ ६७ ॥

वही कहते हैं—

चक्रवाट के नीचे चारो ओर सूर्य और चन्द्रमा (के प्रकाश) से रहित सब ओर समतल, नव हजार योजन विस्तृत तेरह हजार वर्ष की आयुवाला इला नामक खण्ड (= यूरोप) है । मेरु के पश्चिम में जो गन्धमादन पर्वत है उसके पश्चिम सात कुलपर्वतों से विभूषित केतुमाल 'देश' है । सुमेरु के पूर्व में जो माल्यवान् है और उसके पूर्व जो भद्राश्व (वर्ष) है वह पाँच कुल पर्वतों से युक्त दश हजार वर्ष की आयु वाला है । पूर्व से पश्चिम और दक्षिण से उत्तर क्रमशः ये दो (वर्ष) बत्तीस और चौंतीस हजार (वर्ष आयु वाले) कहे गए हैं । मेरु के उत्तर जो शृङ्गवान् (नामक पर्वत) है उसके बाहर (= उत्तर) कुरु वर्ष है । यह धनुष के समान नव हजार योजन तक फैला हुआ है । इसकी (परिधि में रहने वालों की) आयु तेरह हजार वर्ष है। कुरुवर्ष के उत्तर और वायव्य कोण में समुद्र के बीच क्रमशः ५ एवं

यौ श्वेतशृङ्गिणौ मेरोर्वामे मध्ये हिरण्मयम् ।
तयोर्नवकविस्तीर्णमायुश्चार्धत्रयोदश ॥ ७४ ॥
तत्र वै वामतः श्वेतनीलयो रम्यकोऽन्तरे ।
सहस्रनवविस्तीर्णमायुर्द्वादश तानि च ॥ ७५ ॥
मेरोर्दक्षिणतो हेमनिषधौ यौ तदन्तरे ।
हर्याख्यं नवसाहस्रं तत्सहस्राधिकायुषम् ॥ ७६ ॥
तत्रैव दक्षिणे हेमहिमवद्द्वितयान्तरे ।
कैन्नरं नवसाहस्रं तत्सहस्राधिकायुषम् ॥ ७७ ॥
तत्रैव दक्षिणे मेरोर्हिमवान्यस्य दक्षिणे ।
भारतं नवसाहस्रं चापवत्कर्मभोगभूः ॥ ७८ ॥

'इलाख्यम्' इति इलावृताख्यस्वाम्यधिष्ठितत्वात् इलावृताभिधानं वर्षम्—इत्यर्थः । एतच्च पुरस्तादेव स्फुटीभविष्यति—इति नेहायस्तम् । एवं वर्षान्तरेष्वपि तदभिधानप्रवृत्तौ निमित्तं ज्ञेयम् । तच्च समन्तान्मेरोश्चतुर्दिक्कं नवसहस्रं विस्तीर्णमिति । मध्ये मेरुमूलीयानि षोडशसहस्राण्याकलय्य चतुस्त्रिंशत्सहस्रम्, अत एव माल्यवद्गन्धमादनयोर्दैर्घ्यादियदेव मानमुक्तम्, अत एव सर्वतोदिक्कं

दश हजार (योजन तक फैले), चन्द्र और मद्रक दो द्वीप हैं । मेरु (पर्वत) के बायें जो श्वेत और शृङ्गवान् दो पर्वत हैं वे मध्य में हिरण्मय हैं । उनका विस्तार नव हजार योजन है । उन दोनों में रहने वालों की आयु बारह हजार पाँच सौ वर्ष है । वहाँ (= मेरु के) बायीं ओर श्वेत और नील के बीच में रम्यक है जो नव हजार योजन विस्तारवाला तथा बारह हजार वर्ष आयुयुक्त वासियों वाला है । मेरु के दक्षिण में जो हेम और निषध हैं उनके बीच में हरि नामक (वर्ष) है जो नव हजार (योजन) विस्तृत तथा दश हजार वर्ष की आयु वालों का देश है । उसी के दक्षिण में हेम और हिमवान् दोनों के बीच में किन्नरों का वर्ष (= देश) है । जो नव हजार (योजन विस्तृत) तथा दश हजार वर्ष की आयुवालों (का स्थान) है वही पर मेरु के दक्षिण हिमवान् है । जिसके दक्षिण में नव हजार योजन विस्तृत, चाप के समान कर्मभोग भूमि भारतवर्ष है ॥ ६८-७८ ॥

इलाख्य = इलावृतनामक स्वामी से अधिष्ठित होने के कारण इलावृत नाम देश । यह आगे स्पष्ट हो जाएगा इस कारण यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं हुआ । इसी प्रकार दूसरे वर्षों के विषय में भी उनके नाम की प्रवृत्ति में निमित्त जानना चाहिए अर्थात् उन देशों के नाम उनके स्वमियों के नाम की पीछे रखे गये हैं। और वह मेरु के चारो ओर चारो दिशाओं में नव हजार योजन विस्तृत है । मध्य में मेरु के मूलवाले सोलह हजार को जोड़कर चौंतीस हजार । इसीलिए माल्यवान् और गन्धमादन के विस्तार से इतना ही मान कहा गया । इसीलिए चारों दिशा में

साम्याच्चतुरश्रं न तु वर्षान्तरवदायतचतुरश्रम् । अनर्केन्दुत्वे चक्रवाटाधोवर्तित्वं हेतुः । 'त्रिमुखायुषम्' इति सहस्रशब्दसंनिधेस्त्रयोदशसहस्रायुरित्यर्थः । यदुक्तम्—

'मेरोः समन्ततो रम्यमिलावृतमुदाहृतम् ।
अधस्ताच्चक्रवाटस्य नवसाहस्रविस्तृतम् ॥
योजनानां चतुर्दिक्षु चतुरश्रं समन्ततः ।
नातपो भानुजस्तत्र न च सोमस्य रश्मयः ॥
प्रभवन्ति हि लोकानां मेरोर्भासा प्रभासितम् ।'

(स्व० १०।२११) इति ।

'त्रयोदशाब्दसाहस्रमायुस्तेषां प्रकीर्तितम् ।'

(स्व० १०।२१३) इति च ।

पश्चिमत इति, न तु दक्षिणतोऽवस्थितो विष्कम्भपर्वतः । सप्तेनति, यदुक्तम्—

'जयन्तो वर्धमानश्च अशोको हरिपर्वतः ।
विशालः कम्बलः कृष्णस्तत्र सप्त कुलाद्रयः ॥'

(स्व० १०।२१८) इति ।

सहस्रदशकायुरिति, केतुमालशेषतयापि व्याख्येयम् । उक्तं हि—

समान होने से इसे चतुरश्र कहा गया है न कि दूसरे वर्षों के समान आयताकार चतुरश्र है । सूर्य चन्द्र से रहित होने में चक्रवाट के नीचे होना कारण है । 'त्रिमुखयुष् वाला—सहस्रशब्द के पार्श्ववर्त्ती होने से तेरह हजार वर्ष की आयु वाला-अर्थ है ।

जैसा कि कहा गया है—

"मेरु के चारो ओर रम्य इलावृत कहा गया है । यह चक्रवाट के नीचे नव हजार योजन विस्तृत है । चारो दिशाओं में सब ओर से समतल है । वहाँ सूर्य का ताप और च्रन्द्र की किरणें लोगों के लिये नहीं है । वह मेरु के प्रकाश से प्रकाशित है ।" (स्व०तं० १०।२११)

"उनकी (= उसमें रहने वाले लोगों) आयु तेरह हजार वर्ष कही गयी है ।" (स्व० तं० १०।२१३)

पश्चिम की ओर, न कि विष्कम्भ पर्वत दक्षिण की ओर स्थित है । सात से— जैसा कि कहा गया है—

"जयन्त, वर्धमान, अशोक, हरिपर्वत, विशाल, कम्बल और कृष्ण ये सात कुलपर्वत है ।" (स्व० तं० १०।२१८)

दशहजार आयु, केतुमाल के शेष के रूप में व्याख्या करनी चाहिए । कहा गया है—

..............................जीवन्त्ययुतमेव च ।' इति ।

सपञ्चकुलपर्वतमिति, यदुक्तम्—

'कौरञ्जः श्वेतपर्णश्च नीलो मालाग्रकस्तथा ।
पद्मश्चैव समाख्यातास्तत्र पञ्च कुलाद्रयः ॥'

(स्व० १०।२२०) इति ।

'इमे' इति केतुमालभद्राश्वाख्ये वर्षे । 'क्रमात्' इति यथासंख्येन । तेन पूर्वपश्चिमतो भद्राश्वकेतुमाले द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशत्सहस्राणि, माल्यवान् गन्धमादनश्चैकमेकं सहस्रम्, उभयपार्श्वाभ्यामिलावृतमष्टादश, मेरुः षोडश—इत्येवं पूर्वापरायतजम्बुद्वीपं योजनानां लक्षम्, सव्योत्तरतश्च चतुस्त्रिंशत्, इत्येतदिलावृतमाननिरूपणादेव गतार्थम् । शृङ्गवाँस्तृतीयः पर्वतः, 'तद्बहिः' तस्यापि उदगित्यर्थः । 'चापवत्' इति वलयाकारम्, क्षाराब्धिसामीप्यात् । यदुक्तम्—

'नवयोजनसाहस्रं धन्वाकारं प्रकीर्तितम् ।'

(स्व० १०।२२५)इति ।

आयाममानावचने चात्रायमाशयो यत् शृङ्गवन्माननिरूपणादेव गतार्थमेतत्—इति । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । त्रयोदशेति, अर्थात् सहस्राणि । यदुक्तम् —

"........(वहाँ रहने वाले) दश हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं ।"

पाँच कुलपर्वतों के सहित । जैसा कि कहा गया है—

"कौरञ्ज, श्वेतपर्ण, नील, मालाग्रक और पद्म ये पाँच कुलपर्वत कहे गए हैं ।" (स्व० तं० १०।२२०)

ये = केतुमाल और भद्राश्व नामक वर्ष । क्रमात् = क्रमशः । इस प्रकार पूर्व से से पश्चिम की ओर भद्राश्व और केतुमाल, बत्तीस-बत्तीस हजार (योजन), माल्यवान् और गन्धमादन एक-एक हजार, इस प्रकार दोनों पार्श्वों को मिलाने पर इलावृत अठारह और मेरु षोडश—इस प्रकार पूर्व और पश्चिम की ओर फैला हुआ जम्बूद्वीप एक लाख योजन और दक्षिण से उत्तर चौंतीस हजार योजन-यह इलावृत के परिमाण के निरूपण से ही गतार्थ हो गया । शृङ्गवान् तीसरा पर्वत है । उसके बाहर = उसके भी उत्तर । चापवत् = गोलाकार क्योंकि दुग्ध का समुद्र पास म है इस कारण । जैसा कि कहा गया—

नव हजार योजन, धनुष के आकार का, कहा गया है । (स्व० १०।२२५)

विस्तार और परिमाण का कथन न करने में यह तात्पर्य है कि शृङ्गवान् के मान के निरूपण से ही यह (= इसका विस्तार और परिमाण) गतार्थ हो गया । इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए। तेरह अर्थात् तेरह हजार है जैसा कि कहा गया है—

'त्रिदशाब्दसहस्रायुः कुरुवृक्षफलाशनः ।
युग्मप्रसूतिः कुरुषु श्यामापुष्पद्युतिर्जनः ॥' इति ।

'अब्धौ' इति अब्धिमध्ये । तदुक्तम्—

'तस्य चोत्तरदिग्भागे प्रविश्य लवणोदधिम् ।
योजनानां सहस्राणि चत्वार्येव वरानने ॥
एकाधिकानि विस्तीर्णं चन्द्रद्वीपं प्रकीर्तितम् ।
दशयोजनसाहस्रं द्वीपं भद्रं प्रकीर्तितम् ॥'

(स्व० २०।२२९) इति ।

'तयोः' इति मेरुवामार्धस्थितयोः श्वेतशृङ्गिणोः । तेन शृङ्गवतो दक्षिणे, श्वेतस्य वामे,—इत्यर्थसिद्धम् । 'अर्धत्रयोदश' इति—अर्धेन त्रयोदश द्वादश-सहस्राणि सार्धाणीति यावत् । यदुक्तम्—

'अध्यर्धानि सहस्राणि द्वादशायुर्हिरण्मये ।' इति ।

'अन्तरे' इत्यर्थात् श्वेतस्य दक्षिणे, नीलस्य तु वामे । तानीति, सहस्राणि । 'तदन्तरे' इत्यर्थात् निषधस्य दक्षिणे, हेमकूटस्य वामे । तदुक्तम्—

'हेमकूटस्य सौम्येन निषधस्य च दक्षिणे ।
हरिवर्षं समाख्यातं .... ॥ (स्व० १०।२३६)

"कुरु देश में लोग तीस हजार वर्ष की आयु वाले कुरुवृक्ष के फल को खाने वाले दो सन्तान उत्पन्न करने वाले श्यामापुष्प के समान कान्ति वाले हैं ।"

समुद्र में = समुद्र के मध्य में । वही कहा गया है—

हे वरानने ! "उसके उत्तर दिशा में नमक के सागर में प्रवेश करके चार हजार एक योजन विस्तीर्ण चन्द्रद्वीप कहा गया है । दश हजार योजन भद्रद्वीप कहा गया है ।" (स्व० तं० २०।२२९)

उन दोनों के = मेरु के वामार्द्ध में स्थित श्वेत और शृङ्गवान् पर्वतों के । इसलिए शृङ्गवान् के दक्षिण और श्वेत के बायीं ओर,—यह अर्थात् सिद्ध हो रहा है। अर्धत्रयोदश = आधा के साथ तेरह अर्थात् बारह हजार और पाँच सौ । जैसा कि कहा गया है—

"हिरण्मय में बारह हजार पाँच सौ । (वर्ष की) आयु वाले लोग रहते हैं ।"

बीच में—श्वेत के दायें और नील के बायें । वे = सहस्र । उसके बीच में अर्थात् निषध के दायें और हेमकूट के बायें । वही कहा गया—

"हेमकूट के बायें और निषध के दायें हरिवर्ष कहा गया है ।" (स्व० तं० १०।२३६)

बारह अर्थात् बारह हजार । कैन्नर = किंपुरुष नाम वाला । जैसा कि कहा

इति । द्वादशेति, सहस्राणि । 'कैन्नरम्' इति किंपुरुषसंज्ञम् । यदुक्तम्—

'हेमकूटस्य याम्येन हिमवतश्चतथोत्तरे ।
वर्षं किंपुरुषं नाम.......................... ॥' (स्व० १०।२३८)

इति । 'तत्सहस्राधिकायुषम्' इति तेभ्यो नवसहस्रेभ्यः सहस्रेणाधिकमायुर्यत्र तद्दशसहस्रायुः—इत्यर्थः । अस्य 'दक्षिणे' इत्यर्थात् क्षाराब्धेरुत्तरे । तदुक्तम्—

'याम्ये हिमाचलेन्द्रस्य उत्तरे लवणोदधेः ।
भारतं नाम वर्षं तु तत्र चाल्पं सुखं स्मृतम्' ॥
(स्व० १०।२४०) इति ।

अत एव लवणोदधेर्वलयाकारत्वात् चापवदित्युक्तम् । अस्य च वर्षान्तरवद्भोगभूमित्वेऽपि कर्मभूमित्वमपि अस्ति—इत्याह—'कर्मभूः' इति । यदुक्तम्—

'गुणस्त्वेकः स्थितस्तत्र शुभाशुभफलार्जनम् ।'
(स्व० १०।२४६) इति ॥ ७८ ॥

वर्षान्तराणां हि भोगभूमित्वमेवास्ति, न तु कर्मभूमित्वमपि—इत्याह—

इलावृतं केतुभद्रं कुरुहैरण्यरम्यकम् ।
हरिकिन्नरवर्षे च भोगभूर्न तु कर्मभूः ॥ ७९ ॥

गया—

"हेमकूट के दक्षिण और हिमवान् के उत्तर किंपुरुष नाम का देश है ।" (स्व० तं० १०।२३८)

उनकी अपेक्षा एक हजार अधिक आयुवाला = उन नव हजार से एक हजार अधिक आयु है जहाँ अर्थात् दश हजार वर्ष की आयुवाला । इसके दक्षिण अर्थात् क्षीरसागर के उत्तर । वही कहा गया—

"हिमाचल के दक्षिण और लवणोदधि के उत्तर भारत नाम का वर्ष (= खण्ड) है जहाँ थोड़ा सुख कहा गया है । (स्व० तं० १०।२४०)

इसीलिए क्षीरसागर के वलयाकार होने से धनुष के समान कहा गया है । दूसरे देशों के समान भोगभूमि होते हुये भी यह कर्मभूमि भी है । इसलिए कहा—कर्मभूमि । जैसा कि कहा गया—

"वहाँ एक ही गुण है—शुभ और अशुभ फलों की प्राप्ति" ॥ ७८ ॥ (स्व० तं० १०।२४६)

दूसरे देश भोगभूमि ही है कर्मभूमि नहीं—यह कहते हैं—

"इलावृत, केतुभद्र, कुरु, हिरण्य, रम्यक, हरिवर्ष और किन्नरवर्ष ये देश भोगभूमि हैं न कि कर्मभूमि ॥ ७९ ॥

ननु क्वचिद्भोगभूमावपि कर्मभूमित्वं संभवेत् यदुक्तं प्राक्—

'ते तु तत्रापि देवेशं भक्त्या चेत्पर्युपासते।
तदीशतत्त्वे लीयन्ते क्रमाच्च परमे शिवे ॥
अन्यथा ये तु वर्तन्ते तद्भोगनिरतात्मकाः।
ते कालवह्निसन्तापदीनाक्रन्दपरायणाः ॥
गुणतत्त्वे निलीयन्ते ततः सृष्टिमुखे पुनः।
पात्यन्ते मातृभिर्घोरयातनौघपुरस्सरम् ॥ ७९ ॥'

इति, तत् कथमेतदुक्तं यद्भारतात् अन्यद्भोगभूरेव ?—इत्याशङ्क्याह—

अत्र बाहुल्यतः कर्मभूभावोऽत्राप्यकर्मणाम् ।
पशूनां कर्मसंस्कारः स्यात्तादृग्दृढसंस्कृतेः ॥ ८० ॥

'कर्मभूभावः' कर्मभूमित्वम्—इत्यर्थः । नन्वत्र भूम्नापि कर्मभूमित्वं नास्ति, यत् तिर्यगादयः प्राक्कर्मोपभोगमेव अत्र विदधति न त्वभिनवकर्मार्जनमपि?—इत्याशङ्क्याह—'अत्रापि' इति, अपिर्भिन्नक्रमः । तेनाकर्मणामपीति योज्यम् । अकर्मत्वं चैषामन्यवत्प्रतीतिवृत्तेनायोग्यत्वात् वस्तुवृत्तेन पुनस्तत्तद्वासनादार्ढ्यादस्त्येव एषां कर्मसंस्कारः, तदेषामपि तत्कार्यं शुभाशुभं भवेदेव—इति भावः ॥ ८० ॥

नन्वेवमप्यत्र कर्मभूमित्वं न सिद्ध्येत्, अन्यत्र च भोगभूमित्वम्, यदत्र

प्रश्न—कहीं भोगभूमि भी कर्मभूमि हो सकती है जैसा कि पहले कहा—

"वे लोग यदि वहाँ भी भक्ति के साथ देवेश की उपासना करते हैं तो (वे) ईशतत्त्व में और क्रमशः परमशिव में लीन होते हैं । जो लोग भोग में लगे हुये दूसरी तरह से व्यवहार करते हैं वे कालवह्नि के संताप के कारण दीन आक्रन्द में लगे हुए गुणतत्त्व में लीन होते हैं फिर माताओं के द्वारा घोरयातनासमूह के साथ सृष्टि के मुख में डाल दिये जाते हैं" ॥ ७९ ॥

तो यह कैसे कहा गया कि भारत से भिन्न (भूमि) भोगभूमि ही है? यह शङ्का कर कहते हैं—

यह अधिकतया कर्मभूमि है । क्योंकि यहाँ कर्मरहित पशुओं का उस प्रकार का दृढसंस्कार होने के कारण कर्मसंस्कार रहता है ॥ ८० ॥

कर्मभूभाव = कर्मभूमित्व । प्रश्न—यह अधिकांश में कर्मभूमि नहीं है क्योंकि पक्षी आदि यहाँ पूर्वजन्म के कर्मों का उपभोग ही करते हैं न कि नूतन कर्मों का अर्जन भी ? यह शङ्का कर कहते हैं—'यहाँ भी' इसमें 'भी' शब्द का क्रम भिन्न है । इसलिए कर्मरहित का भी—ऐसी योजना (= अन्वय) करनी चाहिए । इनकी अकर्मता अन्य (= मनुष्य आदि) के समान प्रतीति के अयोग्य होने के कारण है ! वस्तुतस्तु भिन्न-भिन्न वासना की दृढ़ता के कारण इनका कर्मसंस्कार तो रहता ही

केषामपि कर्म न स्यादन्यत्र च स्यात्—इत्याशङ्क्याह—

संभवन्त्यप्यसंस्कारा भारतेऽन्यत्र चापि हि।
दृढप्राक्तनसंस्कारादीशेच्छातः शुभाशुभम् ॥ ८१ ॥
स्थानान्तरेऽपि कर्मास्ति दृष्टं तच्च पुरातने ।
तत्र त्रेता सदा कालो भारते तु चतुर्युगम् ॥ ८२ ॥

'असंस्काराः' इति कर्मणः संन्यस्तत्वात् । 'अन्यत्र स्थानान्तरे' इति स्वर्गादिस्थानमध्ये इत्यर्थः । एकोऽपिशब्दो भिन्नक्रमः, तेन शुभाशुभमपाति योज्यम् । नन्वत्र किं प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'दृष्टं तच्च पुरातने' इति । 'पुरातने' इति भारतरामायणाद्यात्मनि पुराणादौ । तत्र हि जनकस्य भारतवर्षेऽपि अकर्मित्वम्, नहुषस्य स्वर्गेऽपि अशुभकर्मयोगित्वमुक्तम्; अतश्च युक्तमुक्तम्— यद्भारते भूम्ना कर्मभूमित्वमन्यत्र च भोगभूमित्वमिति । तत्रेति, इलावृतादौ । तदुक्तम्—

'नाष्टासु विद्यते काचिद्युगत्रयवती स्थितिः ।
चतुर्युगवती ज्ञेया भारताख्ये वरानने॥'
(स्व० १०।२४७) इति ॥ ८२ ॥

है। इसलिए इनका भी वह कार्य शुभाशुभ होता ही है ॥ ८० ॥

प्रश्न—इस प्रकार की यहाँ कर्मभूमिता और अन्यत्र भोगभूमिता नहीं सिद्ध होती जिससे कि यहाँ किसी का भी कर्म (—कर्त्तृत्व) नहीं है और अन्यत्र है? यह शङ्का कर कहते हैं—

भारत में और अन्यत्र भी संस्कारों का अभाव सम्भव है । दृढ प्राक्तन संस्कार के कारण भगवदिच्छा से शुभाशुभ (फल) भी होते हैं । दूसरे स्थानों में भी कर्म होते हैं और वह पुराणों में देखा भी गया है । वहाँ सदैव त्रेताकाल रहता है भारत में चारो युग होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

संस्कारों का अभाव—कर्म के संन्यास के कारण । दूसरे स्थानों में = स्वर्ग आदि स्थानों में । (श्लोक में) 'अपि' शब्द भिन्न क्रम वाला है । इसलिए शुभ और अशुभ भी-ऐसा जोड़ना चाहिए । प्रश्न—इस विषय में क्या प्रमाण है ? यह शङ्का कर कहा गया—और उसे पुराणों में देखा गया है । पुराणों में—महाभारत रामायण आदि पुराणों में । वहाँ = भारतवर्ष में भी जनक की अकर्मता और नहुष की स्वर्ग में भी अशुभकर्मयुक्तता (देखी गयी है) । इसलिए ठीक कहा गया कि भारत अधिकांशतः कर्मभूमि है और अन्यदेश भोगभूमि ही । वहाँ = इलावृत आदि में । वही कहा गया है—

"आठ (द्वीपों) में तीनों (द्वापर, सतयुग, कलियुग) युगों की कोई स्थिति नहीं है । हे वरानने ! भारत में चारों युगों वाली (स्थिति) है ॥ ८२ ॥ (स्व०

भारतमपि वर्षं जम्बुद्वीपवन्नवखण्डमेव,—इत्याह—

भारते नवखण्डं च सामुद्रेणाम्भसात्र च।
स्थलं पञ्चशती तद्वज्जलं चेति विभज्यते॥ ८३ ॥

सामुद्रेणाम्भसेति, अर्थादष्टधा प्रसृतेन, तथात्वेनैव नवधात्वस्य संपत्तेः । यथा हि जम्बुद्वीपः पर्वतैरष्टभिर्विभक्तो नवधा जातः, तथैतदपि समुद्रैः, किंतु एते पूर्वापरायता एव सर्वे इति । तदुक्तम्—

'नव भेदाः स्मृतास्तत्र सागरान्तरिताः प्रिये ।
एकैकस्य तु द्वीपस्य सहस्रं परिकीर्तितम् ॥
शतानि पञ्च विज्ञेयं स्थलं पञ्च जलं तथा ।
(स्व० १०।२५१) इति ।

यत्तु श्रीमृगेन्द्रे

'नवाब्धिस्रोतसि द्वीपा नवैवात्रार्धकस्थले ।'

इत्याद्युक्तं तत् क्षराब्ध्यपेक्षया, अन्यथात्र दशाब्धिस्रोतांसि स्युः । अतश्च सर्वेषां द्वीपानां पार्श्वद्वयेऽपि सामुद्रमम्भः कन्याख्यस्य तु दक्षिण एव, वारुणेनैव पञ्चशतिकेन समुद्रेणास्य विभक्तत्वात् । तेनास्य वामतो हिमवानेव न तु

१०।२४७)

भारतवर्ष भी जम्बूद्वीप के समान नव खण्डों वाला है—यह कहते हैं—

समुद्र के जल को जोड़कर भारत में नवखण्ड हैं । (एक-एक खण्ड में) पाँच सौ योजन स्थल और उतना ही जल-ऐसा विभाग किया जाता है ॥ ८३ ॥

समुद्रीजल के साथ अर्थात् आठभागों में विभक्त । क्योंकि इसी रीति से नव खण्ड होते हैं । जैसे कि जम्बूद्वीप आठ पर्वतों से विभक्त होकर नव खण्डों का हुआ उसी प्रकार यह भारतवर्ष भी समुद्रों से (नव भागों में विभक्त हुआ) । किन्तु ये सब (समुद्र) पूर्व से पश्चिम की ओर फैले हुये हैं । वही कहा गया है—

"हे प्रिये ! समुद्र को लेकर नव भेद माने गए हैं । एक-एक द्वीप का एक हजार (योजन .परिमाण) कहा गया है । (उसमें) पाँच सौ योजन स्थल और पाँच सौ योजन जल है ।" (स्व० तं० १०।२५१)

जो कि मृगेन्द्र तन्त्र में—

"नव सामुद्रिक स्रोत तथा नव ही स्थल भाग यहाँ है ।"

इत्यादि कहा गया वह क्षीरसागर की अपेक्षा से कहा गया । अन्यथा यही दश समुद्र स्रोत हो जाऐंगे । इसलिए सभी द्वीपों के दोनों ओर समुद्र का जल है । कन्याकुमारी (= नामक स्थान जम्बू) द्वीप के दक्षिण में ही है । क्योंकि पश्चिम के

समुद्रान्तरे, तथात्वे हि समुद्रान्तरितत्वात् द्वीपान्तरवत् तन्निवासिनामपि हिमवानगम्यः स्यात्; अतश्च हिमवत्संनिकर्षेणैव एतन्मितमिति सिद्धम् । तदुक्तं तत्र—

'द्वीपं कुमारिकाख्यं तु हिमवन्निकटे मतम् ।' इति ।

एवं चास्य सहस्रमपि योजनानां स्थलैकरूपत्वमेव,—इत्यर्थलभ्यम् । अत एवास्य श्रीतन्त्रराजभट्टारकादौ हिमवत्सकाशात् सीमान्तविभागं दर्शयितुं तत्पादावस्थिताद्बिन्दुसरोनाम्नः सरोविशेषादारभ्य सहस्रयोजनपरिमाणत्वेन निर्देशः कृतः । तदुक्तं तत्र—

'प्रालेयरोधसो याम्ये सौम्ये वै वीचिमालिनः ।
कार्मुकाकारसंस्थानं वर्षं तत्कुरुमानगम् ॥'

इत्युपक्रम्य

'शीतसानोः समाश्लिष्टं नाम्ना बिन्दुसरः सरः ।
तदारभ्य खण्डमेकं सर्वतः सज्जनाकुलम् ॥
वारिलुप्तं न यन्मानं दुहित्रे तद्ददौ भुवः ।
कुमार्यै भरतो राजा सपत्नेन्दुनभोग्रहः ॥
द्वीपं कुमारिकासंज्ञमतो ह्येतत्प्रगीयते ।

पाँच सौ (योजन विस्तृत समुद्र) से यह विभक्त है । इसलिए इसके बायें हिमालय ही है न कि समुद्र के बीच में क्योंकि वैसा होने पर दो समुद्रों के बीच में होने के कारण दूसरे द्वीपों की भाँति इसमें रहने वालों के लिए भी हिमालय अगम्य हो जाता । इसलिए हिमालय के सन्निकर्ष से ही यह मापा गया है । वही वहाँ कहा गया—

"कुमारिका नामक द्वीप हिमालय के निकट माना गया है ।"

इस प्रकार यह एक हजार योजन तक स्थल ही है । इसीलिए तन्त्रराजभट्टारक आदि में हिमालय से इसका विभाग बतलाने के लिए उसके मूल में स्थित बिन्दुसर नामक विशिष्ट तालाब से प्रारम्भ कर एक हजार योजन परिमाण का निर्देश किया गया है । वही वहाँ कहा गया है—

"प्रालेय रोधस् के दक्षिण और वीचिमाली के बायें धनुषाकार संस्थान वाला जो देश है वह कुरुदेश के परिमाण वाला है ।"

इस प्रकार प्रारम्भ कर

हिमशृङ्ग से सटा हुआ बिन्दुसर नाम का एक तालाब है वहाँ से लेकर एक खण्ड जो सब ओर से सज्जनों से भरा हुआ है, और जिसका मान वारिलुप्त (= जल में डुबा) नहीं है उसे सपत्नेन्दुनभोग्रह (= चन्द्रमा आकाश और ग्रहों को वश) में रखने वाले पृथ्वी के राजा भरत ने अपनी पुत्री कुमारी कन्या को दान में दे

योजनानां सहस्रं तु नानावर्णाश्रमान्वितम् ॥' इति ।

श्रीस्वच्छन्देऽपि—

'बिन्दुसरः प्रभृत्येव कुमार्याह्वं प्रकीर्तितम् ।
योजनानां सहस्रं तु नानावर्णाश्रमान्वितम् ॥'
(स्व० १०।२५४) इति ॥ ८३ ॥

एषां च नवानामपि खण्डानां नामविभागमाह—

इन्द्रः कशेरुस्ताम्राभो नागीयः प्राग्गभस्तिमान् ।
सौम्यगान्धर्ववाराहाः कन्याख्यं चासमुद्रतः ॥ ८४ ॥

'आसमुद्रतः' इति समुद्रादारभ्य, तेन क्षाराब्धिनिकटे इन्द्रद्वीपं यावत्पर्यन्ते हिमवन्निकटे कन्याद्वीपम् । 'ताम्राभः' इति ताम्रवर्णः । प्रागिति, गभस्तिमान् आदौ पश्चान्नागीयः । 'वाराहोः' वारुणः । तदुक्तम्—

'इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रवर्णं गभस्तिमत् ।
नागद्वीपं च सौम्यं च गान्धर्वं वारुणं तथा॥
द्वीपं कुमारिकाख्यं च नवमं परिकीर्तितम् ।'
(स्व० १०।२५३) इति ॥ ८४ ॥

कन्याद्वीपे च नवमे दक्षिणेनाब्धिमध्यगाः ।
उपद्वीपाः षट् कुलाद्रिसप्तकेन विभूषिते ॥ ८५ ॥

दिया । इसलिए यह द्वीप कुमारिका नाम वाला कहा जाता है । नाना वर्ण-आश्रमों से युक्त (यह द्वीप) एक हजार योजन तक फैला है ।''

स्वच्छन्दतन्त्र में भी—

''बिन्दुसर से लेकर एक हजार योजन तक विस्तृत अनेक वर्ण और आश्रमों से युक्त कुमारी नामक द्वीप कहा गया है । (स्व० तं० १०।२५४) ॥ ८३ ॥

इन नव खण्डों का नाम विभाग कहते हैं—

समुद्र से लेकर इन्द्र, कशेरु, ताम्राभ, नागीय, गभस्तिमान्, सौम्य, गान्धर्व, वाराह और कन्या (द्वीप हैं) ॥ ८४ ॥

आसमुद्रतः = समुद्र से प्रारम्भ कर । इससे क्षारसमुद्र के निकट इन्द्रद्वीप है और अन्त में हिमालय के निकट कन्याद्वीप । ताम्राभ = ताँबे के रङ्ग का । प्राक् का अर्थ है कि पहले गभस्तिमान् बाद में नागीय । वाराह = वारुण । वही कहा गया है—

''इन्द्रद्वीप, कशेरु, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व वारुण और नवम कुमारिका द्वीप कहा गया है । (स्व० १०।२५३) ॥ ८४ ॥

अङ्गयवमलयशङ्कुः कुमुदवराहौ च मलयगोऽगस्त्यः ।
तत्रैव च त्रिकूटे लङ्का षडमी ह्युपद्वीपाः ॥ ८६ ॥

दक्षिणेनाब्धिमध्यगा इति, वारुणोदधेर्मध्यस्था—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'कुमार्याख्यस्य निकटे मध्यस्था वारुणोदधेः ।
अतीत्य योजनशतमनुद्वीपाश्च षट् स्मृताः ॥
अङ्गद्वीपो यवद्वीपो मलयद्वीप एव च ।
द्वीपोऽन्यः शङ्कुसंज्ञश्च कुमुदश्च ततोऽन्यतः ॥
वराहश्चैव षष्ठः स्यात्.......................... ।' इति।

कुलाद्रिसप्तकेनेति, यदुक्तम्—

'महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः ।
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च भान्त्येते कुलपर्वताः ॥'
(स्व० १०।२५७) इति ।

मलयगोऽगस्त्य इति, तदुक्तम्—

'कथितो मलयद्वीपे मलयो नाम पर्वतः ।
तस्य पादे त्रिकूटो वै लङ्का तस्योपरि स्थिता ॥'
(स्व० १०।२५९) इति ।

'अगस्त्यशिखरं तत्र मलये भूधरोत्तमे ।

सात कुलपर्वतों के द्वारा विभूषित नवें कन्याद्वीप में दक्षिण की ओर समुद्र के बीच वर्त्तमान छ उपद्वीप हैं—अङ्ग, यव, मलय, शङ्कु, कुमुद और वराह । अगस्त्य मलय में रहते हैं वहीं पर त्रिकूट पर्वत पर लङ्का है । ये छ उपद्वीप है ॥ ८५-८६ ॥

दक्षिण की ओर समुद्र के बीच = पश्चिम समुद्र के बीच । वही कहा गया—

"कुमारी नामक द्वीप के निकट सौ योजन पार कर पश्चिम उदधि के बीच में छ द्वीप स्थित माने गए हैं । अङ्गद्वीप, यवद्वीप, मलयद्वीप, शङ्कु, कुमुद और उसके अतिरिक्त छठाँ बराह ।"

सात कुलाद्रि से—जैसा कि कहा गया है—

"महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र—ये कुलपर्वत हैं ।" (स्व० तं० १०।२५७)

मलय में वर्त्तमान अगस्त्य । वही कहा गया है—

"मलय द्वीप में मलय नाम का पर्वत कहा गया है । उसके पाद में त्रिकूट है और उसके ऊपर लङ्का स्थित है ।" (स्व० तं० १०।२५९)

तत्राश्रमो महापुण्य आगस्त्यः स्फटिकप्रभः ॥' (स्व० १०।२६२)

इति च ॥ ८६ ॥

अत्र च कीदृग्लोकः?—इत्याशङ्क्याह—

द्वीपोपद्वीपगाः प्रायो म्लेच्छा नानाविधा जनाः ।
मुक्ताः काञ्चनरत्नाढ्या इति श्रीरुरुशासने ॥ ८७ ॥

'म्लेच्छा' इति वर्णाश्रमाचारबहिष्कृताः—इत्यर्थः । प्रायःशब्देन च क्वचित्सदाचारा अपि संभवन्ति, इत्युक्तम् । नन्वत्र किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'इति श्रीरुरुशासने' इति । तदुक्तं तत्र—

युक्ता वर्णाश्रमाचारैः कुमार्याख्ये परं प्रजाः ।
इतरे म्लेच्छभूयिष्ठाः प्रभूतमणिकाञ्चनाः ॥' इति ॥ ८७ ॥

नन्वेवमत्र शुभाशुभार्जनेन कोऽर्थः?—इत्याशङ्क्याह—

भारते यत्कृतं कर्म क्षपितं वाप्यवीचितः ।
शिवान्तं तेन मुक्तिर्वा कन्याख्ये तु विशेषतः ॥ ८८ ॥

"उस पर्वतोत्तम मलय के ऊपर अगस्त्य शिखर है । वहाँ पर स्फटिक के समान कान्ति वाला महापुण्य अगस्त्य का आश्रम है ॥ ८५-८६ ॥ (स्व०तं० १०।२४२)

यहाँ के लोग कैसे हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

एक द्वीप से दूसरे उपद्वीप में जाने वाले, अनेक प्रकार के प्रायः म्लेच्छ लोग मोती सुवर्ण और अन्यरत्नों से सम्पन्न हैं—ऐसा रुरुशास्त्र में (कहा गया है) ॥ ८७ ॥

म्लेच्छ = वर्ण और आश्रम के आचार से बहिष्कृत । प्रायः शब्द का तात्पर्य है कि कहीं-कहीं सदाचारी लोग भी होते हैं । प्रश्न-इसमें क्या प्रमाण है—यह शङ्का कर कहा गया—रुरुशास्त्र में । वही वहाँ कहा गया है—

"कुमारी नामक (वर्ष) में प्रजायें वर्ण और आश्रम के आचार से युक्त हैं । दूसरे (वर्ष) में प्रजाओं में म्लेच्छ अधिक है (और वे) प्रचुर मणि और काञ्चन वाले हैं ॥ ८७ ॥"

प्रश्न—इस प्रकार यहाँ शुभाशुभ के अर्जन से क्या तात्पर्य है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भारतवर्ष में जो कर्म किया गया था । क्षीण किये गये उस (= कर्म) से अवीचि से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त मुक्ति होती है । कन्यावर्ष में विशेष रूप से ॥ ८८ ॥

'कर्म' इति शुभाशुभम् । क्षपितमिति, क्रियाज्ञानादिना । तेनात्र कर्मणा कृतेन क्षपितेन वा पृथिव्यादिषु शिवान्तेषु तेषु तेषु तत्त्वेषु भुक्तिस्ततो वा मुक्तिर्भवेत्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'तत्रैव यत्कृतं कर्म शुभं वा यदि वऽशुभम्।
वसन्ति तेन लोकाश्च शिवाद्यावीचिमध्यगाः ॥'

(स्व० १०।२४८) इति ।

तथा,

'कन्याख्ये यत्कृतं कर्म जन्तुभिस्तु सितासितम् ।
स्वर्नारकापवर्गेषु तद्बीजं फलभोगदम् ॥' इति ८८ ॥

नन्वेतत् कन्याद्वीपे विशेषेण भवेत्,—इत्यत्र किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

महाकालादिका रुद्रकोटिरत्रैव भारते ।
गङ्गादिपञ्चशतिका जन्म तेनात्र दुर्लभम् ॥ ८९ ॥

अत्रैवेति कन्याख्ये द्वीपे । यदुक्तम्—

'तत्र मध्ये महद्द्वीपं कुमारीद्वीपसंज्ञितम् ।
तत्र रुद्रायुतं पूर्णमवतीर्णं शुभङ्करम् ॥

कर्म = शुभ-अशुभ । क्षीण किया गया—क्रिया ज्ञान आदि के द्वारा । इस कारण यहाँ किये गए या नष्ट किये गए कर्म से पृथिवी से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त उन-उन तत्त्वों में पहले भोग और फिर मोक्ष होता है । जैसा कि कहा गया है—

"वहीं पर जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किया गया उससे लोग शिवतत्त्व से लेकर अवीचि के बीच निवास करते हैं । (स्व०तं० १०।२४८)

तथा

"जन्तुओं के द्वारा कन्या नामक द्वीप में जो शुभाशुभ कर्म किया जाता है उसका बीज स्वर्ग नरक और अपवर्ग के रूप में फलभोग को प्रदान करने वाला होता है" ॥ ८८ ॥

प्रश्न—कन्या द्वीप में यह विशेष रूप से होता है इसमें क्या निमित्त है? यह शङ्का कर कहते हैं—

यहीं पर भारत में महाकाल से लेकर करोड़ों रुद्र तथा गङ्गा आदि पञ्चशतिका (= पाँच सौ नदियाँ) है इसलिए यहाँ जन्म अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ८९ ॥

यहीं पर = कन्याद्वीप में । जैसा कि कहा गया—

पशूनां हेतुभूतं च स्मरणात्पापनाशनम् ।' इति।

तथा

'महाकालस्तथैकाम्रमेवमादि वरानने ।
तीर्थानां कोटिरुद्दिष्टा महाकामफलोदया ॥
गङ्गादीनां नदीनां च तत्र पञ्च शतानि च ।'
(स्व० १०।२४९) इति ।

तेन तीर्थभूयिष्ठत्वादिनेति ॥ ८९ ॥

ननु वर्षान्तरेषु

'प्रत्यग्राम्बुजपत्राभा जनाश्चातीव कोमलाः ।
जम्बूफलरसाहारा जरामृत्युविवर्जिताः ॥' (स्व० १०।२१३)

इत्याद्युक्त्या सुखभूयिष्ठा जनाः, इह च

'जना रोगभयग्रस्ता दुःखिता मन्दसम्पदः ।' (स्व० १०।२४०)

इत्याद्युक्त्या दुःखभूयिष्ठाः,—इत्यत्र 'जन्म दुर्लभम्' इति केन निमित्तेनोक्तम्? इत्याशङ्क्याह—

अन्यवर्षेषु पशुवद् भोगात्कर्मातिवाहनम् ।
प्राप्यं मनोरथातीतमपि भारतजन्मनाम् ॥ ९० ॥

"इसके बीच में कुमारी द्वीप नामक महाद्वीप है । वहाँ दशहजार रुद्रों का पूर्ण शुभङ्कर (= कल्याणकारी) अवतार है । (वह) पशुओं (= बद्ध जीवों के कल्याण) का हेतुभूत है तथा स्मरण से ही पाप का नाश करने वाला है ।"

"हे वरानने ! (वहाँ) महाकाल एकाग्र आदि तीर्थों कीं, महाकामनाओं के फल का उदय कराने वाली एक करोड़ संख्या कही गई है । वहाँ गङ्गा आदि पाँच सौ नदियाँ प्रवाहित हैं ।" (स्व० तं० १०।२४९)

उस कारण = तीर्थ की अधिकता के कारण ॥ ८९ ॥

प्रश्न—दूसरे-दूसरे वर्षों में—

"ताजे कमल के पत्ते के समान कान्ति वाले लोग अत्यन्त कोमल, जम्बूफल के रस का आहार करने वाले, जरा एवं मृत्यु से रहित हैं ।" (स्व० १०।२१३)

इत्यादि उक्ति के द्वारा, अधिक सुख वाले लोग हैं । और यहाँ के

"लोग रोग और भय से ग्रस्त, दुःखी एवं थोड़ी सम्पत्ति वाले हैं ।" (स्व० १०।२४०)

इत्यादि उक्ति के द्वारा अधिक दुःख वाले है—इस प्रकार 'यहाँ जन्म अत्यन्त दुर्लभ है'—ऐसा किस कारण से कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मनोरथातीतमिति, भोगापवर्गादेर्महीयस्त्वात् ॥ ९० ॥

नन्वेवं चेदविशेषेण भारतजन्मनां सिद्ध्येत् तत् 'कन्याख्ये तु विशेषत:' इति कस्मादुक्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

नानावर्णाश्रमाचारसुखदुःखविचित्रता ।
कन्याद्वीपे यतस्तेन कर्मभूः सेयमुत्तमा ॥ ९१ ॥

यदुक्तम्—

'ये पूर्वोक्ता गुणा लोके भारते वरवर्णिनि ।
ते तत्रैव स्थिता लोके कुमारीसंज्ञके प्रिये ॥'

(स्व० १०।२५५) इति ।

अतश्च एतन्निवासिनामेव शुभाशुभकर्मानुष्ठानात् स्वर्निरयावाप्तिः स्यात् ॥९१॥

तदाह—

पुंसां सितासितान्यत्र कुर्वतां किल सिद्ध्यतः ।
परापरौ स्वर्निरयाविति रौरववार्तिके ॥ ९२ ॥

किमत्र प्रमाणम्?—इत्युक्तम्—'रौरववार्तिके' इति । तदुक्तं तत्र—

अन्य देशों में कर्म का क्षय पशु के समान भोग से होता है । किन्तु भारतवर्ष में जन्म लेने वालों के लिए मनोरथातीत भी प्राप्य है ॥ ९० ॥

मनोरथातीत—भोग और अपवर्ग आदि की अपेक्षा महान् होने से ॥ ९० ॥

प्रश्न—यदि भारत में जन्म लेने वालों को यह सामान्य रूप से सिद्ध हो जाता है तो 'कन्या (= कुमारी) द्वीप में विशेष रूप से' ऐसा कैसे कहा गया ? यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि कुमारीद्वीप में अनेक वर्ण तथा आश्रम के आचार एवं सुख-दुःख की विचित्रता है इसलिए यह उत्तम कर्मभूमि है ॥ ९१ ॥

जैसा कि कहा गया है—

"हे वरवर्णिनी ! भारत लोक में जो गुण पहले कहे गए हे प्रिये ! वे कुमारी नामक लोक में ही स्थित हैं । (स्व०तं० १०।२५५)

इसलिए इसमें रहने वालों को ही शुभाशुभ कर्मों के अनुष्ठान से स्वर्ग एवं नरक की प्राप्ति होती है ॥ ९१ ॥

वही कहते हैं—

यहाँ पुण्यापुण्य कर्म करने वालों को पर और अपररूपी स्वर्ग और नरक प्राप्त होते हैं—ऐसा रौरव वार्त्तिक में (कहा गया है) ॥ ९२ ॥

'पुंसां सितानि कर्माणि कुर्वतामसितानि च ।
सिद्ध्यतः स्वर्गनिरयावत्र क्षिप्रं परापरौ ।' इति॥ ९२ ॥

एतदेव उपसंहरति—

एवं मेरोरधो जम्बूरभितो यः स विस्तरात् ।
स्यात् सप्तदशधा खण्डैर्नवभिस्तु समासतः ॥ ९३ ॥

सप्तदशधेति, इलावृताद्यान्यष्टौ, इन्द्रद्वीपादीनि च नवेति । नवभिरिति, भारतेन सहेलावृताद्यैः ॥ ९३ ॥

नन्वेवङ्खण्डत्वेऽस्य किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

मनोः स्वायंभुवस्यासन् सुता दश ततस्त्रयः ।
प्राव्रजन्नथ जम्ब्वाख्ये राजा योऽग्नीध्रनामकः ॥ ९४ ॥
तस्याभवन्नव सुतास्ततोऽयं नवखण्डकः ।
नाभिर्यो नवमस्तस्य नप्ता भरत आर्षभिः ॥ ९५ ॥
तस्याष्टौ तनयाः साकं कन्यया नवमोंऽशकः ।
भुक्तैस्तैर्नवधा तस्माल्लक्षयोजनमात्रकात् ॥ ९६ ॥

इसमें क्या प्रमाण है ? इसलिए कहा गया—रौरववार्तिक में । वही वहाँ कहा गया है—

"यहाँ पर सित और असित कर्म करने वाले मनुष्यों को शीघ्र ही पर और अपररूपी स्वर्ग तथा नरक प्राप्त होते हैं ॥ ९२ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार मेरु के नीचे और जम्बू के चारो ओर जो (भू-भाग है) वह विस्तृत रूप में सत्रह प्रकार का और संक्षेप में नव खण्डों का है ॥ ९३ ॥

सत्रह प्रकार का—इलावृत आदि आठ और इन्द्रद्वीप आदि नव । नव प्रकार—भारत के साथ इलावृत आदि को लेकर ॥ ९३ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसका खण्ड करने में क्या निमित्त है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वायंभुव मनु के दश पुत्र थे । उनमें से तीन ने संन्यास ले लिया । (सात में से) जम्बू नामक द्वीप में जो अग्नीध्र नामक राजा हुआ उसको नव सुत (= पौत्र) हुये । इसलिए यह नव खण्डों वाला है । जो नवाँ (पौत्र) नाभि (नामक) था, ऋषभ का पुत्र भारत उसका नाती था । कन्या के साथ उसको आठ पुत्र थे । (इसलिए) उस एक लाख योजन विस्तार वाले (जम्बू द्वीप) का उन लोगों ने नव भाग करके (प्रत्येक ने) नवें अंश

'सुता:' इति पौत्रा: । जम्ब्वाख्ये राजेति, अर्थात् एतन्मध्यात् । ऋषभस्यापत्यमार्षभि:, अत एव नप्तेत्युक्तम् । अष्टौ तनया इति, प्रागुक्ता इन्द्राद्या: । तदुक्तम्—

'स्वायंभुवो मनुर्नाम तस्य पुत्र: प्रियव्रत: ।
तस्याथ दश पुत्रा वै जाता वीर्यबलोत्कटा: ॥
अग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेधा मेधातिथिर्वपु: ।
ज्योतिष्मान्द्युतिमान् हव्य: सावन: सत्र एव च ॥
मेधा सत्रोऽग्निबाहुश्च एते प्रव्रजितास्त्रय: ।
सप्तद्वीपेषु ये शेषा अभिषिक्ता महाबला: ॥
जम्बुद्वीपे तथाग्नीध्रस्तस्य पुत्रा नव स्मृता: ।
नाभि: किंपुरुषश्चैव हरिश्चैव इलावृत: ॥
भद्राश्व: केतुमालश्च रम्यकश्च हिरण्मय: ।
नवमस्तु कुरुर्नाम नववर्षाधिपा: स्मृता: ॥
अग्नीध्रतस्तु जाता वै शूराश्चातिबलोत्कटा: ।
तेषां नामाङ्कितानीह नव वर्षाणि पार्वति ॥
नाभे: पुत्रो महावीर्य ऋषभो धर्मतत्पर: ।
तस्यापि हि सुतो ज्ञेयो भरतस्तु प्रतापवान् ॥
तन्नाम्नैव तु विज्ञेयं भारतं वर्षमुत्तमम् ।
तस्याप्यष्टौ पुन: पुत्रा जाता: कन्यापरा प्रिये ॥

का भोग किया ॥ ९४-९६ ॥

सुत = पौत्र । जम्बू नामक द्वीप में—राजा अर्थात् इनमें से । ऋषभ के अपत्य आर्षभि । इसीलिए नाती कहा गया । आठ लड़के = पहले कहे गए इन्द्र आदि । वही कहा गया—

"ब्रह्मा के पुत्र मनु और उनके पुत्र प्रियव्रत थे । उनके उत्कट बल एवं वीर्य वाले अग्नीध्र, अग्निबाहु, मेधा, मेधातिथि, वपु, ज्योतिष्मान् द्युतिमान्, द्रव्यराज, सावन और सत्र नामक दश पुत्र हुये । उनमें से मेधा, सत्र और अग्निबाहु ने संन्यास ले लिया । जो शेष सात महाबली सात द्वीपों में अभिषिक्त हुये उनमें अग्नीध्र जम्बू द्वीप में अभिषिक्त हुआ । उस को नव पुत्र थे—नाभि, किंपुरुष, हरि, इलावृत, भद्राश्व, केतुमाल, रम्यक, हिरण्मय और नवें कुरु । ये नव वर्षों के राजा कहे गये हैं । अग्नीध्र से जो अत्यन्त बलशाली वीर उत्पन्न हुये । हे पार्वति ! उनके नाम से यहाँ नव देश चिह्नित हैं । नाभि के पुत्र ऋषभ थे जो महापराक्रमी और धर्मपरायण थे । उसके पुत्र प्रतापी भरत हुये उन्हीं के नाम से उत्तम भारतवर्ष जाना जाता है । आगे उनके आठ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई । वे आठ पुत्र भारत के आठ द्वीपों में नियुक्त हुये और नवाँ कुमारी नामक द्वीप कन्या के लिए

भारते त्वष्टद्वीपेऽत्र अष्टौ पुत्रा निवेशिताः ।
नवमस्तु कुमार्याह्वः कन्यायाः प्रतिपादितः ॥
तेषां नाम्ना तु ते द्वीपा भरतेन प्रकीर्तिताः ॥' (स्व० १०।२८३)

इति । तस्मादिति, जम्बुद्वीपात् लक्षयोजनमात्रकादिति । तत्रास्य पूर्वपश्चिमतो लक्षयोजनत्वं प्राक् प्रदर्शितम्, दक्षिणोत्तरतस्तु इदानीमुच्यते । तत्र भारतादीनि षड्वर्षाणि प्रत्येकं नवसाहस्राणि—इति चतुष्पञ्चाशत्, हिमवदादयश्च प्रत्येकं द्विसाहस्रा—इति द्वादश, मेरुमूलीयसहस्रषोडशकेन सह इलावृतं चतुस्त्रिंशत् सहस्राणि--इत्येवं योजनानां लक्षं जम्बुद्वीपम् ॥ ९६ ॥

इदानीं तद्बहिरपि संस्थानविशेषं दर्शयति—

लक्षैकमात्रो लवणस्तद्बाह्येऽस्य पुरोऽद्रयः ।
ऋषभो दुन्दुभिर्धूम्रः कङ्कद्रोणेन्दवो ह्युदक् ॥ ९७ ॥
वराहनन्दनाशोकाः पश्चात् सहबलाहकौ ।
दक्षिणे चक्रमैनाकौ वाडवोऽन्तस्तयोः स्थितः ॥ ९८ ॥
अब्धेर्दक्षिणतः खाक्षिसहस्रातिक्रमाद् गिरिः ।
विद्युत्वांस्त्रिसहस्रोच्छ्रदायामोऽत्र फलाशिनः ॥ ९९ ॥
मलदिग्धा दीर्घकेशश्मश्रवो गोसधर्मकाः ।
नग्नाः संवत्सराशीतिजीविनस्तृणभोजिनः ॥ १०० ॥

बनाया गया । भरत ने उनके नाम के अनुसार उन द्वीपों का नाम बनाया ।'' (स्व०तं० १०।२८३)

उससे = एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बू द्वीप से । उसमें इसका पूर्व से पश्चिम एक लाख योजन विस्तार पहले कहा गया । दक्षिण से उत्तर का विस्तार अब कहा जा रहा है । उसमें भारत आदि छ खण्ड थे प्रत्येक ९ हजार योजन विस्तार वाले थे । इस प्रकार (कुल) (९×६) चौवन (हजार योजन हुआ) । हिमालय आदि प्रत्येक दो हजार योजन--इस प्रकार १२ हजार (योजन विस्तार हुआ)। मेरु के १६ हजार योजन मूल के साथ चौंतीस हजार योजन इलावृत इस प्रकार (५४ + १२ + ३४) एक लाख योजन विस्तृत जम्बू द्वीप है ॥ ९४-९६ ॥

अबं उसके बाहर भी विशेष संस्थानों को दिखाते हैं—

जम्बूद्वीप के बाहर की ओर एक लाख योजन विस्तृत क्षार समुद्र है । उसके बाहर पूर्व की ओर ऋषभ दुन्दुभि और धूम्र पर्वत हैं । उत्तर की ओर कङ्क द्रोण और इन्दु, पश्चिम की ओर बराह आनन्द और अशोक, तथा बलाहक के साथ चक्र और मैनाक दक्षिण में है । उन दोनो (= चक्र और मैनाक) के बीच में वाडव स्थित है । समुद्र के दक्षिण बीस हजार योजन विस्तृत और तीन हजार योजन ऊँचा विद्युत्वान् पर्वत है । यहाँ के

निर्यन्त्राणि सदा तत्र द्वाराणि बिलसिद्धये ।
इत्येतद् गुरुभिर्गीतं श्रीमद्रौरवशासने ॥ १०१ ॥
इत्थं य एष लवणसमुद्रः प्रतिपादितः ।
तद्बहिः षडमी द्वीपाः प्रत्येकं स्वार्णवैर्वृताः ॥ १०२ ॥
क्रमद्विगुणिताः षड्भिर्मनुपुत्रैरधिष्ठिताः ।
शाककुशक्रौञ्चाः शाल्मलिगोमेधाब्जमिति षड्द्वीपाः।
क्षीरदधिसर्पिरैक्षवमदिरामधुराम्बुकाः षडम्बुधयः ॥ १०३ ॥
मेधातिथिर्वपुष्माञ्ज्योतिष्मान्द्युतिमता हवी राजा ।
संवर इति शाकादिषु जम्बुद्वीपे न्यरूपि चाग्नीध्रः ॥ १०४ ॥

'लवण' इति लवणाम्भः क्षारसमुद्र—इत्यर्थः ।

'इन्दुः' चन्द्रः । यदुक्तम्—

'वृत्रारिभयसंत्रस्ताः प्रविष्टास्तत्र पर्वताः ।
द्वादशैव महावीरास्तान्ब्रवीमि समासतः ॥'
ऋषभो दुन्दुभिर्धूम्रः प्रविष्टः पूर्वभागतः ।
चन्द्रः कङ्कस्तथा द्रोणः प्रविष्ट उत्तरेण तु ॥
अशोकोऽथ वराहश्च नन्दनश्च तृतीयकः ।
अपरेण नगास्तत्र प्रविष्टा लवणोदधिम् ॥

लोग फल खाकर जीने वाले, गन्दे, दाढ़ी और बाल बढ़ाये, पशुवत् धर्म वाले, नङ्गे, अस्सी वर्ष जीवित रहने वाले, घास-फूस खाने वाले हैं । वहाँ बिल में घुसने के लिए द्वार हमेशा खुले रहते हैं—ऐसा रौरव शास्त्र में गुरु ने कहा है । ऐसा जो नमक का समुद्र कहा गया उसके बाहर ये छ द्वीप प्रत्येक अपने-अपने समुद्रों से घिरे हुए हैं । ये क्रमशः दो गुने विस्तार वाले तथा छः मनुपुत्रों से शासित हैं । उनके नाम शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मली, गोमेध और अब्ज हैं । ये (क्रमशः) दुग्ध, दधि, घृत, इक्षुरस, मदिरा और मधुर जल वाले छ समुद्र से युक्त हैं । यहाँ मेधातिथि, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हवि और संवर ये शाक आदि (द्वीपों) में तथा जम्बू द्वीप में आग्नीध्र राजा कहे गए हैं ॥ ९७-१०४ ॥

नमक—नमकीन पानी वाला समुद्र ।

इन्दु = चन्द्र । जैसा कि कहा गया—

"वृत्रासुर के शत्रु (= इन्द्र के) भय से संत्रस्त पर्वत उस (= क्षार समुद्र) में घुस गए । ये महावीर बारह ही थे उनको मैं संक्षेप में कह रहा हूँ—ऋषभ, दुन्दुभि, धूम्र पूर्व भाग से प्रवेश किये । चन्द्र कङ्क तथा द्रोण उत्तर से, अशोक

चक्रो मैनाकसंज्ञश्च तृतीयश्च बलाहकः ।
दक्षिणेन वरारोहे प्रविष्टाश्चैव भूधराः ॥
चक्रमैनाकयोर्मध्ये तिष्ठेद्वै वडवानलः ।
(स्व० १०।२७३) इति ।

दक्षिणत इति, चक्रमैनाकादिसंनिकर्षेण, 'खाक्षि' इति विंशतिः । गुरुभिरिति, बृहस्पतिपादैः । यदुक्तं तत्र—

'योजनानां सहस्राणि समतिक्रम्य विंशतिम् ।
विद्युत्वानिति विख्यातः समुद्रे दक्षिणे स्थितः ॥
सहस्राण्यायतस्त्रीणि तावानेवोच्छ्रितोऽचलः ।
सहस्रविपुलस्तत्र तृणपर्णफलाशनाः ॥
मलोपचितदिग्धाङ्गा दीर्घश्मश्रुशिरोरुहाः ।
गोधर्माणो जना नग्ना वत्सराशीतिजीविनः ॥
तत्रायन्त्रबिलद्वारप्रवेशाः पुरसंपदः ।' इति ।

क्रमद्विगुणिता इति, तेन शाकद्वीपे द्वे लक्षे, कुशद्वीपे चत्वारि—इत्यर्थक्रमः । 'अब्जः' पुष्करः । इक्षुरेव ऐक्षवः । 'मधुराम्बुकः' स्वादूदः । द्युतिमतेत्यर्थात् सह, 'हविः' हव्यः । तदुक्तम्—

'जम्बुद्वीपं च शाकं च कुशं क्रौञ्चं सशाल्मलिम् ।

वराह और नन्दन पश्चिम से तथा चक्र मैनाक और बलाहक पर्वत दक्षिण से प्रवेश किये । हे वरारोहे ! चक्र और मैनाक के बीच में वड़वानल स्थित है । (स्व०तं० १०।२७३)

दक्षिण की ओर चक्र मैनाक आदि के सम्बन्ध से । खाक्षि = २० । गुरु के द्वारा = बृहस्पति के द्वारा । जैसा कि वहाँ कहा गया—

"बीस हजार योजन फैल कर विद्युत्वान् नामक (पर्वत) समुद्र में दक्षिण में (स्थित) कहा गया है । वह पर्वत तीन हजार योजन और उतने ही (विस्तार के साथ) ऊँचा है । वहाँ हजारों की संख्या में लोग तृण, पत्ता, फल खाने वाले; अङ्गों में गन्दगी लपेटे हुए, दाढ़ी-बाल बढ़ाये हुए, पशुधर्मा, नङ्गे और अस्सी वर्ष की आयु वाले हैं । गृह के प्रवेशद्वार बिना अवरोध के हैं और पुर (= आवासीय गृहमात्र) ही उनकी सम्पत्ति है ।"

क्रमशः दो गुने—इससे शाक द्वीप में दो लाख, कुशद्वीप में चार इस प्रकार अर्थ क्रम है । अब्ज = पुष्कर । इक्षु ही ऐक्षव है । मधुराम्बुक = स्वादिष्ट जल वाला । द्युतिमान से अर्थात् (द्युतिमान् के) साथ । हवि = द्रव्य । वही कहा गया है—

"हे पार्वति ! जम्बूद्वीप, शाक, कुश क्रौञ्च, शाल्मली, गोमेध और पुष्कर ये

गोमेधं पुष्कराख्यं च सप्त द्वीपानि पार्वति' ॥
(स्व०१०।२८४) इति ।
'क्षारः क्षीरं दधि घृतं तथा चेक्षुरसोऽपि च ।
मदिरोदश्च स्वादूदः समुद्राः सप्त कीर्तिताः ॥
जम्बुद्वीपं स्मृतं लक्षं योजनानां प्रमाणतः ।
परिमण्डलतो ज्ञेयः क्षारोदस्तत्समो बहिः ॥
एवं द्विगुणवृद्ध्या तु समुद्रा द्वीपसंस्थिताः ।
(स्व०२१।२८७) इति ।
अग्नीध्रस्तु समाख्यातो जम्बुद्वीपे वरानने ।
शाके मेधातिथिर्नाम वपुष्मान् कुशसंज्ञके ॥
राजा क्रौञ्चेऽथ ज्योतिष्माञ्छाल्मलौ द्युतिमान् स्मृतः।
गोमेधे हव्यनामा च संवरः पुष्करे तथा ॥
(स्व० १०।२९०) इति च ॥ १०४ ॥

द्वीपषट्कमेव च विभजति—

गिरिसप्तकपरिकल्पिततावत्खण्डास्तु पञ्च शाकाद्याः ।
पुष्करसंज्ञो द्विदलो हरियमवरुणेन्दवोऽत्र पूर्वादौ॥ १०५ ॥

'तावन्तः' सप्तैव, गिरिसप्तकस्य पार्श्वगत्यावस्थितत्वात् । 'द्विदल' इति एकेन वलयाकारेण पर्वतेन मध्यतो विभक्तत्वात् । 'पूर्वादौ' इति चतुर्दिक्षु—तदुक्तम्—

सात द्वीप हैं ।" (स्व०तं० १०।२८४)

"क्षार, क्षीर, दधि, घृत, इक्षुरस, मदिरा और स्वादिष्ट जल वाले ये सात समुद्र कहे गए हैं । जम्बू द्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला कहा गया है । उतना ही बाहर की ओर चारो तरफ क्षार समुद्र समझना चाहिए । इसी प्रकार (अन्य) द्वीपों में स्थित समुद्र दो गुने वृद्धि के साथ जानने चाहिए ।" (स्व०तं० २१।२८७)

"हे वरानने ! जम्बू द्वीप में आग्नीध्र, शाक में मेधातिथि, कुश में वपुष्मान्, क्रौञ्च में ज्योतिष्मान्, शाल्मली में द्युतिमान्, गोमेध में हव्यराज और पुष्कर में संवर नामवाले राजा कहे गए हैं" ॥ ९७-१०४ ॥ (स्व० १०।२९०)

छ द्वीपों का विभाग करते हैं—

सात पर्वतों के द्वारा उतने ही शाक आदि पाँच खण्ड परिकल्पित हैं । पुष्कर नामक (द्वीप) दो भागों वाला है । यहाँ पूर्व आदि (दिशाओं) में (क्रमशः) हरि यम वरुण और चन्द्र (लोकपाल) हैं ॥ १०५ ॥

उतने ही = सात ही, क्योंकि सातो पर्वत अगल-बगल स्थित हैं । दो भाग वाला—क्योंकि एक वलयाकार पर्वत के द्वारा मध्य से विभक्त है । पूर्व आदि में =

'मेधातिथेः सप्त पुत्राः शाकद्वीपेऽभिषेचिताः ।
शान्तोभयस्तु शिशिरः सुखदो नन्दकः शिवः ॥
क्षेमकश्च ध्रुवश्चेति वर्षनाम्ना तु तेऽङ्किताः ।
वर्षाणि सप्त ख्यातानि पर्वतांश्च निबोध मे ॥
गोमेधश्चन्द्रसंज्ञश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा ।
ऋषभः सोमकश्चैव वैभ्राजश्च कुलाद्रयः ॥'

(स्व० १०।२९४) इति ।

'कुशे वपुष्मता पूर्वं सप्त पुत्रा निवेशिताः ।
श्वेतलोहितजीमूता हरितो वैद्युतस्तथा ॥
मानसः सुव्रतश्चेति वर्षनाम्नैव चाङ्किताः ।
कुमुदश्चोर्वदश्चैव वराहो द्रोणकङ्कतौ ॥
महिषः कुमुदश्चैव सप्त सीमान्तपर्वताः ।'

(स्व० १०।३००) इति ।

'ज्योतिष्मता सप्त पुत्राः क्रौञ्चद्वीपे निवेशिताः ।
उद्भिज्जश्च समाख्यातो वेणुर्मण्डल एव च ॥
रथकारश्च लवणो धृतिमान्सुप्रतारकः ॥
कपिलश्चेति राजानो वर्षनाम्ना तु तेऽङ्किताः ॥
वैद्रुमो हेमनाभश्च द्युतिमान्पुष्पदन्तकः ।
कुशलो हरिमर्दश्च सप्तैते तु कुलाद्रयः ॥'

(स्व० १०।३०५) इति ।

'सप्त द्युतिमता पुत्राः शल्मलावभिषेचिताः ।

चारों दिशाओं में । वही कहा गया है—

"मेधातिथि के सात पुत्र शाक द्वीप में अभिषिक्त किये गए—शान्तोभय, शिशिर, सुखद, नन्दक, शिव, क्षेमक और ध्रुव । वे वर्षों के नाम से चिह्नित हुये। सात वर्षों को कह दिया गया (अब) मुझसे पर्वतों को जानों । गोमेध, चन्द्र, नारद, दुन्दुभि, ऋषभ, सोमक और वैभ्राज (ये) सात कुलपर्वत हैं ।" (स्व० तं० १०।२९४)

वपुष्मान् ने कुश में सात पुत्रों को लगाया—श्वेत, लोहित, जीमूत हरित, वैद्युत, मानस तथा सुव्रत । ये भी वर्ष के नाम से अङ्कित हैं । कुमुद, उर्वद, वराह द्रोण, कङ्कत, महिष और कुमुद ये सात सीमान्त पर्वत हैं । (स्व०१०।३००)

"ज्योतिष्मान् ने क्रौञ्च द्वीप में सात पुत्रों को नियुक्त किया—उद्भिज्ज, वेणु, मण्डल, रथकार, लवण, धृतिमान्, सुप्रतारक एवं कपिल । वे राजा लोग वर्ष के नाम से अङ्कित हैं । वैद्रुम, हेमनाभ द्युतिमान्, पुष्पदन्तक, कुशल और हरिमर्द ये सात कुलपर्वत हैं ।" (स्व० १०।३०५)

मनोऽनुगस्तथोष्णश्च पावनो ह्यन्धकारकः ॥
मुनिर्दुन्दुभिनामा च कुशलश्चेति ते स्मृताः ।'
(स्व० १०।३०९) इति ।

'क्रौञ्चोऽथ वामनश्चैवाप्यन्धकारो दिवाकृतिः ।
द्विबिन्दुः पुण्डरीकश्च दुन्दुभिश्च कुलाद्रयः ॥'
(स्व० १०।३११) इति ।

'हव्यराजः सुतान्सप्त गोमेधे चाभ्यषेचयत् ।
जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मरीचकः ॥
कुमुदश्चोन्नतश्चैव महाभद्र इति स्मृताः ।'
(स्व० १०।३१५) इति ।

'उदयः केसरश्चैव जठरोऽथ सुरैवतः ।
श्यामोऽम्बिकेयो मेरुश्च शैलाः सीमान्तगास्त्विमे ॥
(स्व० १०।३१७) इति ।

'अतश्च पुष्कराख्ये च संवरस्तत्र नायकः ।
द्वौ पुत्रौ तेन विख्यातौ पुष्कराख्ये निवेशितौ ॥
पर्वतो वलयाकारो मानसोत्तरसंज्ञकः ।'
(स्व० १०।३२३) इति ।

'धातकी मध्यमे राजा महावीतो बहिर्नृपः ।
(स्व० १०।३२४) इति ।

'चतुर्णां लोकपालानां पुरीश्चात्र निबोध मे ।
हरेर्वस्वेकसाराख्या याम्या संयमनी पुरी ॥

द्युतिमान् ने शाल्मली में सात पुत्रों को अभिषिक्त किया । वे मनोऽनुग, उष्ण, पावन, अन्धकार, मुनि, दुन्दुभि एवं कुशल है ।'' (स्व० १०।३०९)

''क्रौञ्च, वामन, अन्धकार, दिवाकृति, द्विविन्दु, पुण्डरीक और दुन्दुभि ये कुलाद्रि है ।'' (स्व० १०।३११)

हव्यराज ने गोमेध में सात पुत्रों का अभिषेक किया—(ये) जलद, कुमार, सुकुमार, मरीचक, कुमुद, उन्नत, और महाभद्र (नाम वाले) कहे गए हैं'' ॥ (स्व० १०।३१५)

''उदय, केशर, जठर, सुरैवत, श्याम, अम्बिकेय और मेरु ये सीमान्तवर्त्ती पर्वत हैं । (स्व १०।३१७)

पुष्कर में—वहाँ संवर सम्राट् हैं । उन्होंने दो विख्यात पुत्रों को पुष्कर में लगाया । यहाँ मानसोत्तर नामक पर्वत वलयाकार में स्थित है ।'' (स्व० १०।३२३)

''पुष्कर के मध्य में धातकी तथा बाहर महावीत राजा हुये ।'' (स्व०१०।३२४)

सुखाह्वा वारुणी चैव सोमस्य तु विभावरी ।'
(स्व० १०।३२७) इति च ॥ १०५ ॥

इयदन्तं सङ्कलयति—

त्रिपञ्चाशच्च लक्षाणि द्विकोट्ययुतपञ्चकम् ।
स्वाद्वर्णवान्तं मेर्वर्धाद्योजननामियं प्रमा ॥ १०६ ॥

तत्र जम्बुद्वीपीयानि अर्थात् पञ्चाशत्सहस्राणि, क्षाराब्धिर्लक्षम्, शाकद्वीपं द्वे क्षीराब्धिश्च, कुशश्चत्वारि दध्यब्धिश्च, क्रौञ्चोऽष्टौ घृताब्धिश्च, शल्मलिः षोडश इक्षुरसाब्धिश्च, गोमेधो द्वात्रिंशत् मदिराब्धिश्च, पुष्करश्चतुःषष्टिः स्वादूदश्च,—इत्येवं मेर्वर्धादारभ्य स्वादूदान्तं ससहस्रपञ्चाशत्त्रिपञ्चाशल्लक्षाधिकं कोटिद्वयं योजनानां प्रमाणं भवेत् । तदुक्तम्—

'कोटिद्वयं त्रिपञ्चाशल्लक्षाणि च ततः परम् ।
पञ्चाशच्च सहस्राणि सप्त द्वीपाः ससागराः ॥' इति ॥ १०६ ॥

सप्तमजलधेर्बाह्ये हैमी भूः कोटिदशकमथ लक्षम् ।
उच्छ्रित्या विस्तारादयुतं लोकेतराचलः कथितः ॥ १०७ ॥
लोकालोकदिगष्टकसंस्थं रुद्राष्टकं सलोकेशम् ।

"मुझसे चारो लोकपालों की पुरी को जानो । विष्णु की वसु, यम की संयमनी, वरुण की सुखा और सोम की विभावरी नामक नगरी है । (स्व० १०।३२७) ॥ १०५ ॥

यहाँ तक का संग्रह करते हुये बतलाते हैं—

सुमेरु के आधे से लेकर स्वादुजल वाले समुद्र तक दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजनों की यह माप है ॥ १०६ ॥

उसमें जम्बू द्वीप का ५० हजार, क्षारसमुद्र १ लाख, शाकद्वीप २ लाख और क्षीरसागर, कुश और दधिसागर, चार लाख क्रौञ्च और घृतसागर, आठ लाख शाल्मली इक्षुरस समुद्र, सोलह लाख गोमेध और मदिराब्धि, बत्तीस लाख पुष्कर और स्वादुअब्धि चौंसठ इस प्रकार मेरु से आरम्भ कर स्वादूदकान्त समुद्र तक २ करोड़ ५३ लाख ५० हजार योजन का परिमाण है वही कहा गया है—

सागरों के सहित सात द्वीप दो करोड़ तिरपन लाख ५० हजार (योजन विस्तृत) हैं ॥ १०६ ॥

सातवें समुद्र के उस पार दश करोड़ योजन स्वर्णमयी भूमि है । उसके बाद एक लाख योजन ऊँचा और दश हजार योजन विस्तृत लोकालोकपर्वत कहा गया है । लोकालोक के चारों ओर (= आठों दिशाओं में) रुद्राष्ट (= आठ रुद्रलोक) अपने लोकेशों के साथ स्थित है ।

केवलमित्यपि केचिल्लोकालोकान्तरे रविर्न बहिः ॥ १०८ ॥

हैमी भूरिति, अर्थाद्देवानां क्रीडार्थम् । 'लोकेतराचलः' इति लोकालोक-पर्वतः । यदुक्तम्—

'ततो हेममयी भूमिर्दशकोट्यो वरानने ।
देवानां क्रीडनार्थाय लोकालोकस्त्वतः परम् ॥
पर्वतो वलयाकारो योजनायुतविस्तृतः ।
लक्षमात्रसमुत्सेधो योजनानां वरानने ॥'
(स्व० १०।३३१) इति ।

सलोकेशमिति, यदुक्तम्—

'लोकपालाः स्थितास्तत्र रुद्राश्चामोघशक्तयः ।'
(स्व० १०।३३३) इति ।

केचिदिति, लीलाकारादयः । एतद्धि तैः समस्तलोकपालत्वात् रुद्रा एव लोकपालास्तत्र स्थिताः—इत्यन्यथा व्याख्यातम् ।

'लोकालोकमतो देवि तत्र रुद्रा व्यवस्थिताः ।
अमोघशक्तयः सर्वे विरजा वसुधामकाः ॥
कर्दमः शङ्खपालश्च पर्जन्यः स्वर्णलोमकः ।
केतुमान्राजनश्चैव पूर्वादीशान्तमास्थिताः ॥

कुछ लोग (कहते हैं) कि केवल (रुद्र ही उसमें रहते हैं) । वहाँ लोकालोक के भीतर सूर्य है बाहर नहीं ॥ १०७-१०८ ॥

स्वर्णमयी भू = अर्थात् देवों की क्रीड़ा के लिए । लोकेतर अचल = लोकालोक पर्वत । जैसा कि कहा गया है—

"हे वरानने ! उसके बाद दश करोड़ योजन स्वर्णमयी भूमि देवताओं की क्रीड़ा के लिए है । उसके बाद गोल आकार वाला दश हजार योजन विस्तृत तथा एक लाख योजन ऊँचा लोकालोक पर्वत है । (स्व०तं० १०।३३१)

लोकेश के सहित—जैसा कि कहा गया है—

"वहाँ अमोघशक्ति वाले रुद्र और लोकपाल स्थित हैं ।"
(स्व०तं० १०।३३३)

कुछ लोग = लीलाकार आदि । समस्त लोकों का पालक होने के कारण वहाँ रुद्र ही लोकपाल है—ऐसी उन लोगों ने दूसरी प्रकार व्याख्या की है ।

"हे देवि ! इसके बाद लोकालोक पर्वत है उसमें रुद्र रहते हैं । वे सब अमोघ शक्ति वाले है । इनके नाम विरज (= निर्मल) वस्तुधाम (= धन-धान्य वाले) । कर्दम, शङ्खपाल, (= शङ्ख से रक्षा करने वाला) पर्जन्य, स्वर्णलोमक

लोकपालास्ततो बाह्ये व्याप्य सर्वमिदं स्थिताः।'

इत्यादीनामेतद्विरुद्धानां श्रुतीनां सम्भवात् । न बहिरिति, रवेर्लोकालोक-समानोच्छ्रायत्वात् मेरुतदन्तरालवर्तित्वाच्च; अत एवान्तःस्थितानामेव लोकानामालोको यत्र, तथा आलोकः प्रकाशोऽलोकश्च तमोऽन्तर्बहिश्च यस्येति स लोकालोक इति । तदुक्तम्—

'तस्यान्तर्भासते भानुर्न बहिः सुरसुन्दरि।' इति ॥ १०८ ॥

एवं लोकालोकमेर्वन्तरालवर्तित्वेऽस्य भानोर्गतिवैचित्र्यं दर्शयति—

पितृदेवपथावस्योदग्दक्षिणगौ स्वजात्परे वीथ्यौ ।
भानोरुत्तरदक्षिणमयनद्वयमेतदेव कथयन्ति ॥ १०९ ॥

तत्रास्य भानोर्मेरुसंनिकर्षेण गच्छत उत्तरो मार्गो, लोकालोकसन्निकर्षेण तु दक्षिणः, तौ च मार्गौ 'स्वजात्परे वीथ्यौ' सुवीथि-अजवीथिशब्दाभ्यां व्यपदेश्यौ—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'सुवीथी उत्तरे तस्य अजवीथी तु दक्षिणे।' (स्व० १०।३३९)

(स्वर्ण जैसे रोम वाला) केतुभान और राजन है । ये पूर्व से लेकर ईशान कोण तक स्थित हैं । इसके बाहर इस सबको व्याप्त कर के लोकपाल स्थित है ।"

इत्यादि इसके विरुद्ध श्रुतियाँ सम्भव हैं । बाहर नहीं—क्योंकि सूर्य लोकालोक जितने ऊँचे मेरु और उस (= लोकालोक) के बीच में (सञ्चरण करता) है । इसीलिए अन्दर वर्त्तमान लोकों का जहाँ प्रकाश होता है । तथा आलोक = प्रकाश और अलोक = अन्धकार भीतर और बाहर है जिसके वह लोकालोक है । जैसा कि कहा गया है—

"हे सुरसुन्दरी ! सूर्य उसके भीतर प्रकाशित होता है न कि बाहर" ॥१०८ ॥

इस प्रकार लोकालोक और मेरु के बीच में होने पर इस सूर्य की गति की विचित्रता की दिखलाते हैं—

इसके पितृपथ और देवपथ उत्तर और दक्षिण की ओर जाने वाले हैं । (उनके नाम) सु और अज के बाद वीथि (= सुवीथि और अजवीथि) नाम वाले हैं । (लोग) इसी को सूर्य का उत्तर और दक्षिण दो अयन अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं ॥ १०९ ॥

मेरु के पास से जाने वाले इस सूर्य का उत्तर मार्ग है और लोकालोक के पास से दक्षिण । वे दोनों मार्ग सू और अज के बाद वीथी = सुवीथि और अजवीथि शब्दों से व्यवहार्य हैं । जैसा कि कहा गया है—

"उसके उत्तर में सुवीथी और दक्षिण में अजवीथी है।" (स्व०तं० १०।३३९)

इति । तावेव च पितृणां देवानां च मार्गः—इत्युक्तं 'पितृदेवपथौ' इति (मार्गौ) । तत्र अजवीथी पितृणां मार्गः, सुवीथी तु देवानाम् । तदुक्तम्—

'अजवीथी दक्षिणं तु सुवीथी चोत्तरायणम् ।
पितृमार्गस्तथा दिव्यः कथितोऽनुक्रमेण तु ॥' इति ।

एतदेव मार्गद्वयमुत्तरायणं दक्षिणायनं च—इत्युक्तम्—'उत्तरदक्षिणमयनद्वय-मेतदेव' इति । तदुक्तम्—

'लोकालोकोपरिष्टात्तु सवितुर्दक्षिणायनम् ।
तथोत्तरायणं तत्र उत्तरेण प्रकीर्तितम् ॥'
(स्व० १०।३३७) इति ॥ १०९ ॥

ननु भानोर्मेरुसन्निकर्षेणोत्तरो मार्गो लोकालोकसन्निकर्षेण तु दक्षिणः—इत्यत्र किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्याह—

'सर्वेषामुत्तरो मेरुर्लोकालोकश्च दक्षिणः ।'

सर्वेषामिति, वर्षाष्टकादिनिवासिनाम् । इलावृते हि भानुरेव न प्रतपति,—इति कस्तद्गतिवैचित्र्येऽपि अवकाशः; भानुरेव हि भगवान् मेरुमधिकृत्य दक्षिणदिग-वस्थिते भारतादौ वर्षत्रये पूर्वतः पश्चात्स्थिते केतुमाले दक्षिणात्, उत्तरदिगवस्थिते कुर्वादौ वर्षत्रये पश्चात्प्राच्ये भद्राश्वेऽपि उदक्तः समुदयन् स्वोदयानुसारेण पूर्वदिगव-

---

वे ही दोनों पितरों और देवताओं के मार्ग हैं—इसलिए कहा गया पितृदेवपथ । उनमें अजवीथी पितरों का मार्ग है और सुवीथी देवताओं का । वही कहा गया है—

''अजवीथी दक्षिणायन है और सुवीथी उत्तरायण । यह क्रमशः पितृमार्ग (या पितृयान) और देवमार्ग (= देवयान) कहा गया है ।''

यही दोनों मार्ग उत्तरायण और दक्षिणायन है—इसलिए कहा गया यही दोनों उत्तर और दक्षिण अयन हैं । वही कहा गया—

''लोकालोक के ऊपर सूर्य का दक्षिणायन (मार्ग) है । वही उत्तर की ओर उत्तरायण मार्ग है ।'' (स्व० तं० १०।३३७) ॥ १०९ ॥

प्रश्न—मेरु के सन्निकर्ष से सूर्य का उत्तरायण और लोकालोक के सन्निकर्ष से दक्षिणायन होता है इसमें क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मेरु सबके उत्तर और लोकालोक (सब के) दक्षिण में है ॥ ११०- ॥

सबके = आठ वर्ष आदि में रहने वालों के । इलावृत में सूर्य चमकता ही नहीं तो वहाँ गतिवैचित्र्य का क्या अवकाश । सूर्य भगवान् ही मेरु पर अधिकृत होकर दक्षिण दिशा में स्थित भारत आदि तीन देशों में, पूर्व से पश्चिम स्थित केतुमाल में, दक्षिण से उत्तर स्थित कुरु आदि तीन देशों में, पश्चिम से पूर्व स्थित

स्थापनात् सर्वेषामुत्तरयति लोकालोकं च दक्षिणयति, येन अस्य तत्सन्निकर्ष-विप्रकर्षाभ्यामुत्तरायणदक्षिणायनादि स्यात् ॥

न केवलमस्यैवं गतावेव वैचित्र्यमस्ति यावदुदयास्तमययोरपि—इत्याह—

उदयास्तमयावित्थं सूर्यस्य परिभावयेत् ॥ ११० ॥

'इत्थम्' इति दक्षिणावर्तभङ्ग्या, मेरोः परिभ्रमणेन—इत्यर्थः ॥ ११० ॥

तदाह—

अर्धरात्रोऽमरावत्यां याम्यायामस्तमेव च ।
मध्यन्दिनं तद्वारुण्यां सौम्ये सूर्योदयः स्मृतः ॥ १११ ॥
उदयो योऽमरावत्यां सोऽर्धरात्रो यमालये ।
केऽस्तं सौम्ये च मध्याह्न इत्थं सूर्यगतागते ॥ ११२ ॥

इह खलु 'सौम्ये' मेरोरुत्तरे भागे महोदयाख्यायां नगर्यां यदा वारुण्या आगच्छतः सूर्यस्योदयदर्शनं भवेत् तदा प्रहरद्वयस्य व्यतीतत्वात् वारुण्यां गन्धवत्याख्यायां नगर्यां मध्याह्नो याम्यायां दक्षिणदिगवस्थितायां संयमन्याख्यायां

भद्राश्व में भी उत्तर की ओर से उदित होते हुए अपने उदय के अनुसार पूर्व दिशा की स्थापना के कारण सबको उत्तर की ओर कर देते है और लोकालोक को दक्षिण की ओर कर देते हैं जिससे इसकी निकटता और दूरी के कारण उत्तरायण और दक्षिणायन आदि होता है ॥

इसका (= सूर्य का) केवल इस प्रकार गति में ही वैचित्र्य नहीं है बल्कि उदय और अस्त के विषय में भी, यह कहते हैं—

इसी प्रकार सूर्य के उदय और अस्त को भी समझना चाहिए ॥ -११० ॥

इस प्रकार = दक्षिणावर्त्त की भङ्गी से मेरु के परिभ्रमण से ॥ ११० ॥

वही कहते हैं—

(जब) अमरावती में अर्धरात्रि होती है तब संयमनी में सूर्यास्त, वारुणी में दोपहर, सौम्य (= महोदया) में सूर्योदय कहा गया है जो अमरावती में (सूर्य का) उदय (काल) है वह यमालय में अर्धरात्रि, वारुणी में सूर्यास्त और सोम्य में मध्याह्न है । इस प्रकार सूर्य का अस्तोदय है ॥ १११-११२ ॥

सौम्य = मेरु के उत्तर भाग में पश्चिम की ओर वर्त्तमान महोदया नामक नगरी में आते हुये सूर्य का (जब) उदय दर्शन होता है तब दो प्रहर के व्यतीत हो जाने से पश्चिम की ओर ही वर्त्तमान गन्धवती नामक नगरी में मध्याह्न होता है । याम्य

नगर्यां च सूर्योऽस्तमेति, प्रहरचतुष्टयातिक्रमेण पर्वतच्छायान्तरितत्वात् प्रकाशो न दृश्यते—इत्यर्थः । पूर्वदिङ्नगर्याममरावत्याख्यायां चार्धरात्रस्तद्वारुण्युदयावसरेऽस्तमयत्वात् प्रहरद्वयेन चोदयस्य भविष्यत्त्वात् । यश्च अमरावत्यां सूर्योदयः सौम्याया आगच्छतो दर्शनं स यमालयेऽर्धरात्रः प्रहरद्वयेन सूर्यस्योदेष्यमाणत्वात्, के वारुणे चास्तमयः सौम्योदयवेलायां तत्र मध्याह्नस्य वृत्तत्वात् इदानीं प्रहरचतुष्टयस्य अतिक्रान्तत्वात्, सौम्ये च प्रहरद्वयस्य अतीतत्वात् मध्याह्न.—इत्यनेनैव क्रमेण पूर्वपश्चिमयोर्विदिक्षु चोदयास्तमयावपि सूर्यस्य चिन्त्यौ—इत्युक्तम्—'इत्थं भानोर्गतागते' इति । यदुक्तम्—

'अर्धरात्रोऽमरावत्यामस्तमेति यमस्य च ।'

(स्व० १०।३३८) इति ।

तथा

'यदैव चामरावत्यामुदयस्तस्य दृश्यते ।
तदास्तमेति वारुण्यामित्यादित्यगतागतम् ॥' इति ।

एतच्च द्वीपान्तरेष्वपि योज्यं सूर्योदयस्य सर्वत्र समानत्वात् ॥ ११२ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति—

= दक्षिण दिशा में स्थित संयमनी नामक नगरी में सूर्यास्त होता है अर्थात् चार प्रहर बीत जाने से पर्वत की छाया के बीच में आ जाने से प्रकाश नहीं दिखलाई पड़ता । पूर्वदिशा में वर्त्तमान अमरावती नामक नगरी में आधी रात होती है क्योंकि दक्षिण दिशा में सूर्य अस्त हो जाता है और दो प्रहर के बाद उदय होने वाला होता है और जब अमरावती में सूर्योदय होता है अर्थात् उत्तर दिशा से आने वाले (सूर्य) का दर्शन होता है तब यम की नगरी में आधीरात होती है क्योंकि दो प्रहर के बाद सूर्य का उदय होने वाला होता है । के = वारुणी दिशा में, अस्तकाल होता है क्योंकि सौम्य की उदयवेला में वहाँ मध्याह्न रहता है फलतः चार प्रहर बीत गया रहता है । सौम्य दिशा में दो प्रहर के व्यतीत हो जाने से मध्याह्न होता है । इस प्रकार इसी क्रम से पूर्व पश्चिम की विदिशाओं (= कोणों) में भी सूर्य के उदय और अस्त समझने चाहिए । इसलिए कहा गया—"इस प्रकार सूर्य के गमनागमन होते है ।" जैसा कि कहा गया है—

"अमरावती में जब आधी रात होती है तब यम की नगरी में सूर्यास्त होता है ।" (स्व०तं० १०।३३८)

"जब अमरावती में उसका उदय दिखलाई पड़ता है तब वारुणी में अस्त होता है । इस प्रकार सूर्य का गमनागमन है ।"

यह (प्रक्रिया) दूसरे द्वीपों में भी जोड़नी चाहिए क्योंकि सूर्य का उदय सर्वत्र समान है ॥ १११-११२ ॥

पञ्चत्रिंशत्कोटिसंख्या लक्षाण्येकोनविंशतिः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि ध्वान्तं लोकाचलाद्बहिः ॥ ११३ ॥
सप्तसागरमानस्तु गर्भोदाख्यः समुद्रराट् ।
लोकालोकस्य परतो यद्गर्भे निखिलैव भूः ॥ ११४ ॥

तदुक्तम्—

'तस्य बाह्ये तमो घोरं दुष्प्रेक्ष्यं जीववर्जितम् ।
पञ्चत्रिंशत्स्मृताः कोट्यो लक्षाण्येकोनविंशतिः ॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां वरानने ।
(स्व० १०।३४१) इति ।

सप्तानां क्षारादीनां लक्षात्प्रभृति द्विगुणद्विगुणया वृद्ध्या सप्तविंशतिलक्षैककोट्यात्म यन्मानं तत्तुल्यमानः—इत्यर्थः । समुद्रराडिति, क्षारादिसमुद्रसप्तकगर्भीकारात् । तदुक्तम्—

'गदिता येऽब्धयः सप्त तेऽत्र गर्भे यतः स्मृताः ।
कथितस्तेन गर्भोदः समस्ताब्धिरसोद्वहः ॥'
(मृगेन्द्रा०) इति ॥ ११४ ॥

अत्र च तमःस्थाने श्रीसिद्धयोगीश्वरमतोक्तं विशदयति—

प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

लोकाचल के बाहर पैंतीस करोड़ उन्नीस लाख चालीस हजार योजन अन्धकार है । सात सागरों के परिमाण वाला गर्भोद नामक समुद्रों का राजा लोकालोक के बाद (स्थित है) जिसके गर्भ में सम्पूर्ण भूमि है ॥ ११३-११४ ॥

वही कहा गया है—

"हे वरानने ! उसके बाहर घोर दुष्प्रेक्ष्य और जीवरहित अन्धकार है (जिसका परिमाण) ३५ करोड़ १९ लाख ४० हजार योजन है ।" (स्व०तं० १०।३४१)

सात क्षार आदि (समुद्रों) का एक लाख से लेकर दो-दो गुनी वृद्धि के साथ एक करोड़ सत्ताईस लाख जो मान है उसके बराबर मान वाला । क्षार आदि सात समुद्र को गर्भ में धारण करने के कारण यह समुद्रों का राजा है । वही कहा गया है—

"जो सात समुद्र कहे गए हैं चूँकि वे यहाँ गर्भीकृत कहे गए हैं इस कारण गर्भोद समस्त समुद्रों के रस का उद्वाहक माना गया है" ॥ ११३-११४ ॥ (मृगेन्द्र०)

इस अन्धकारपूर्ण स्थान के विषय में सिद्धयोगीश्वरी मत का वचन प्रस्तुत करते

सिद्धातन्त्रेऽत्र गर्भाब्धेस्तीरे कौशेयसंज्ञितम् ।
मण्डलं गरुडस्तत्र सिद्धपक्षसमावृतः ॥ ११५ ॥
क्रीडन्ति पर्वताग्रे ते नव चात्र कुलाद्रयः ।
तत उष्णोदकास्त्रिंशन्नद्यः पातालगास्ततः ॥ ११६ ॥
चतुर्दिङ्नैमिरोद्यानं योगिनीसेवितं सदा ।
ततो मेरुस्ततो नागा मेघा हेमाण्डकं ततः ॥ ११७ ॥

तीरे इति, अस्मात्परस्मिन् । तत्र हि लोकालोकसन्निकर्षे गर्भोदः । 'नैमिरोद्यानम्' इति नैमिरपुष्पसंज्ञकमित्यर्थः । नागा इत्यर्थाद्रत्नमय्यां भुवि । मेघा इत्यर्थाद्धरिचन्द्रपर्वतोपरि । 'हेमाण्डकम्' इति हैमाण्डीया कर्परिका—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'गर्भोदस्य परे तीरे कौशेयं नाम मण्डलम् ।
तत्र तिष्ठति देवेशो गरुत्मांश्च समावृतः ॥
सिद्धपक्षसहस्रैस्तु तत्तुल्यबलदर्पितैः ।
तिष्ठन्ति पर्वताग्रे ते क्रीडमाना मुहुर्मुहुः ॥' इति ।
'हुलहालवरक्रोधाः कोटको मूलपर्वतः ।
रोधको वामनः काण्डो विज्ञेयाः कुलपर्वताः ॥' इति ।

है—

सिद्धातन्त्र में (कहा गया कि) इस गर्भसमुद्र के किनारे कौशेय नामक मण्डल है वहाँ सिद्ध पङ्खों वाला (अथवा सिद्ध पङ्खों वाले गरुड़ों या पर्वतों से घिरा हुआ) गरुड़ रहता है । यहाँ पर्वत के अग्र भाग में नव कुलपर्वत क्रीड़ा करते रहते हैं । उसके बाद पातालगामिनी गर्म जल वाली तीस नदियाँ हैं । उनके चारों ओर योगिनियों के द्वारा सर्वदा सेवित नैमिर नामक उद्यान है । इसके बाद मेरु फिर नाग, तत्पश्चात् मेघ और फिर हेमाण्डक है ॥ ११५-११७ ॥

तीर पर—इसके बाद । वहाँ लोकालोक के पास में गर्भोद है । नैमिरोद्यान = निमिर पुष्पों वाला । नाग अर्थात् रत्नमयी पृथ्वी पर । मेघ अर्थात् हरिचन्द्र पर्वत के ऊपर । हेमाण्डक = हेमाण्ड वाली कड़ाही । वही वहाँ कहा है—

"गर्भोद के उस तीर पर कौशेय नामक मण्डल है वहाँ देवताओं के राजा गरुड़ हजारों सिद्ध पङ्ख वाले और उन्हीं के समान बल से दर्पयुक्त (गरुड़ों या पर्वतों) से घिरे हुए रहते हैं । वे (गरुड़) पर्वत के अग्र भाग में बार-बार क्रीड़ा करते हुए विराजमान हैं ।"

"हुल, हाल, वर, क्रोध, कोटक, मूल, रोधक, वामन और काण्ड (ये) कुलपर्वत जानने चाहिए ।"

'पर्वतान्ते पुनस्त्रिंशन्नद्यो योजनविस्तराः ।
उष्णोदकाः स्मृतास्तास्तु पातालतलनिम्नगाः ॥' इति ।
'पुनस्तदापगातीरे वनं नैमेरपुष्पकम् ।
तत्र क्रीडन्ति देवेशि योगिन्यो बलदर्पिताः ॥' इति ।
'वनस्य बाह्यस्य भूमिः सर्वतः संव्यवस्थिता ।
शुष्का जलविहीना तु पुनर्भूमिस्तु रत्नजा ॥
दिङ्मातङ्गसमाकीर्णा समन्तात्परिशोधिता ।
वारणा बहवो यत्र मेरुमन्दरसन्निभाः ॥' इति ।
'ततस्तानप्यतिक्रम्य उत्थितस्तु महाऽचलः ।
हरिश्चन्द्र इति ख्यातो वलयाकारसंस्थितः ॥' इति ।
'तत्र सन्निहिता मेघाः संवर्ताद्या महारवाः ।' इति ।
'पुनस्तद् दृश्यते चाण्डं काञ्चनं चातिभास्वरम् ।' इति ॥ ११७ ॥

तदेव सङ्कलयति—

ब्रह्मणोऽण्डकटाहेन मेरोरर्धेन कोटयः ।
पञ्चाशदेवं दशसु दिक्षु भूर्लोकसंज्ञितम् ॥ ११८ ॥

तत्र मेरोरारभ्य स्वादूदकान्तं प्राक्कलितं ससहस्रपञ्चाशत्त्रिपञ्चाशल्लक्षाधिकं

"पर्वत के अन्त में फिर एक योजन विस्तार वाली, गर्म जल वाली तथा पाताल तल को पहुँचने वाली तीस नदियाँ कही गयी हैं ।"

"पुनः उन नदियों के किनारो पर (नैमेरपुष्पक) नामक वन है । हे देवेशि! वहाँ बल दर्पित योगिनियाँ क्रीड़ा करती रहती हैं ।"

"वन के बाहर की भूमि चारो ओर से सुव्यवस्थित है । वह शुष्क और जलहीन है । उसके बाद की भूमि रत्नों से उत्पन्न, दिग्गजों से व्याप्त चारो ओर से शोधित है जहाँ मेरु मन्दर के समान बहुत से हाथी विराजमान हैं ।"

"उसके बाद उनको भी पार कर के हरिश्चन्द्र नामक महापर्वत वलयाकार में स्थित है ।"

"वहाँ संवर्त्त आदि महाध्वनि वाले मेघ रहते हैं ।"

"उसके बाद वह अण्ड सुवर्णमय और अत्यन्त भास्वर दिखलाई पड़ता है" ॥ ११५-११७ ॥

उसी को संक्षिप्त करते हैं—

मेरु से लेकर (स्वादूदक सागर तक) आधा ब्रह्माण्ड कटाह को जोड़कर पचास करोड़ (भूमियाँ है) । इसी प्रकार दशों दिशाओं में भू-लोक स्थित है ॥ ११८ ॥

कोटिद्वयं हैमी भूः, कोटिदशकं लोकालोकविष्कम्भः, सहस्रदशकं तमः, सहस्र-चत्वारिंशदेकोनविंशतिलक्षाधिकं कोटिपञ्चत्रिंशकं गर्भोदश्च, ससप्तविंशतिलक्षा कोटिरित्येवं कोटिपरिमाणेन ब्रह्माण्डकटाहेन सह अर्थात्पञ्चाशत्कोटयो भवन्ति— इत्येवं 'दशसु दिक्षु' इति सर्वतः कोटिशतं भूर्लोको भवेत् ॥ ११८ ॥

एष च भूर्लोकः चतुर्दशविधस्यापि भूतसर्गस्यास्पदम्—इत्याह—

पशुखगमृगतरुमानुषसरीसृपैः षड्भिरेष भूर्लोकः ।
व्याप्तः पिशाचरक्षोगन्धर्वाणां सयक्षाणाम् ॥ ११९ ॥
विद्याभृतां च किं वा बहुना सर्वस्य भूतसर्गस्य ।
अभिमानतो यथेष्टं भोगस्थानं निवासश्च ॥ १२० ॥

'तरु' इति स्थावरम् । 'विद्याभृताम्' इति ऐन्द्रप्रकारभूतानाम् । किं वा बहुना इति, एषां हि प्रकारप्रकारिभावेन वचनमानन्त्याय भवेदिति भावः । सर्वस्येति, चतुर्दशविधस्य । 'अभिमानतः' इत्यनेन 'एतद्भोगस्थानादित्वमभिमानमात्रसारमेव न तु वास्तवं किञ्चित्' इति दर्शितम् । निवास इति, विनापि भोगं केषाञ्चित्; अतश्चैतदत्रैव शोधनीयम्—इत्याशयः । तदुक्तम्—

'पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्मं चैवाष्टमं विदुः ॥'

मेरु से प्रारम्भ कर स्वादूदक पर्यन्त पहले गिनी गई दो करोड़ तिरपन लाख, पचास हजार योजन स्वर्णभूमि है । दश करोड़ लोकालोक विष्कम्भ (= खण्ड) है । दश हजार योजन अन्धकार है । ३५ करोड़ १९ लाख ४० हजार योजन गर्भोद है। १ करोड़ २७ लाख योजन परिमाण वाले ब्रह्माण्डकटाह के साथ ५० करोड़ योजन (परिमाण) होता है । इस प्रकार दशों दिशाओं में चारों ओर से भूर्लोक १०० करोड़ योजन है ॥ ११८ ॥

यह भूर्लोक चौदह प्रकार की भूतसृष्टि का आश्रय है—यह कहते हैं—

यह पृथ्वी लोक पशु, खग, मृग, वृक्ष, मनुष्य और सरीसृप इन छ से व्याप्त है । पिशाच, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष और विद्याधर यहाँ तक कि समस्त भूतसृष्टि का, अभिमानवश यह यथेष्ट भोगस्थान और निवास है ॥ ११९-१२० ॥

तरु = स्थावर । विद्याभृत् = इन्द्र का एक प्रकार । यहाँ तक कि—इनका प्रकार (= विशेषण) और प्रकारी (= विशेष्य) रूप से कथन आनन्त्य के लिए होगा । सबका = चौदह प्रकार का । अभिमानवश—इससे यह दिखलाया गया कि यह भोगस्थान आदि का होना केवल अभिमान के कारण है न कि यह वास्तविक है । निवास—कुछ लोगों का बिना भोग के । इसलिए इस (चौदह प्रकार) का शोधन यहीं (= भूर्लोक में) कर लेना चाहिए । वही कहा गया है—

(स्व० १०।३५१) इति ।

'पशुपक्षिमृगाश्चैव तथान्ये च सरीसृपाः ।
स्थावरं पञ्चमं चैव षष्ठं मानुषयोनिकम् ॥
देवयोनिसमायुक्तं प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।
चतुर्दशविधं चैव भूर्लोके तु विशोधयेत् ॥'

(स्व० १०।३५३) इति ॥ १२० ॥

इदानीं भुवर्लोकाद्यभिधत्ते—

**भुवर्लोकस्तथा त्वार्काल्लक्षमेकं तदन्तरे ।
दश वायुपथास्ते च प्रत्येकमयुतान्तराः ॥ १२१ ॥
आद्यो वायुपथस्तत्र विततः परिचर्च्यते ।**

'आ अर्कात्' इति अर्कं यावदित्यर्थः । तदुक्तम्—

'भूपृष्ठाद्यावदादित्यं लक्षमेकं प्रमाणतः ।'

(स्व० १०।४२२) इति ।

'अयुतान्तरा' इति दशसहस्रप्रस्थानाः—इत्यर्थः । तत्रेति, वायुपथदशकमध्यात् ॥ १२१ ॥

तदाह—

"(यह संसारमण्डल) पिशाच, राक्षस, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, चन्द्र, वरुण, और आठवाँ ब्रह्मा का माना गया है ।" (स्व०तं० १०।३५१)

"यह संसारमण्डल पशु, पक्षी, मृग तथा अन्य सरीसृप, पाँचवा स्थावर और छठवाँ मनुष्य तथा देवयोनि से युक्त कहा गया है । यह चौदह प्रकार का है इसे पृथ्वीलोक में ही शोधित कर लेना चाहिए ॥ ११९-१२० ॥(स्व०तं० १०।३५३)

अब भुवर्लोक आदि का कथन करते हैं—

पृथ्वी लोक से लेकर सूर्य पर्यन्त एक लाख योजन भुवःलोक है । उसके बीच दश वायुपथ हैं और वें प्रत्येक दश हजार योजन विस्तृत है । उनमें से प्रथम वायुपथ की विस्तृत चर्चा करते हैं ॥ १२१-१२२- ॥

आ अर्कात् = सूर्य तक । वही कहा गया है—

"पृथ्वी से लेकर सूर्य पर्यन्त एक लाख योजन परिमाण है ।" (स्व०तं० १०।४२२)

अयुतान्तर = दश हजार प्रस्थान वाले (प्रस्थान एक प्रकार कर दूरी नापने वाला परिमाण है यह सम्भवतः ४ योजन का होता है)। वहाँ = दश वायुपथ में से (दश दश हजार प्रस्थान वाले दश वायु पथ मिलकर १ लाख प्रस्थान परिमाण बनाते हैं) ॥ १२१ ॥

पञ्चाशद्योजनोर्ध्वे स्यादृतर्द्धिर्नाम मारुतः ॥ १२२ ॥
आप्यायकः स जन्तूनां ततः प्राचेतसो भवेत्।
पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वं तस्मादूर्ध्वंशतेन तु ॥ १२३ ॥
सेनानीवायुरत्रैते मूकमेघास्तडिन्मुचः ।
ये मह्याः क्रोशमात्रेण तिष्ठन्ति जलवर्षिणः ॥ १२४ ॥
तेभ्य ऊर्ध्वं शतान्मेघा भेकादिप्राणिवर्षिणः ।
पञ्चाशदूर्ध्वमोघोऽत्र विषवारिप्रवर्षिणः ॥ १२५ ॥
मेघाः स्कन्दोद्भवाश्चान्ये पिशाचा ओघमारुते ।
ततः पञ्चाशदूर्ध्वं स्युर्मेघा मारकसंज्ञकाः ॥ १२६ ॥
तत्र स्थाने महादेवजन्मानस्ते विनायकाः ।
ये हरन्ति कृतं कर्म नराणामकृतात्मनाम् ॥ १२७ ॥
पञ्चाशदूर्ध्वं वज्राङ्को वायुरत्रोपलाम्बुदाः ।
विद्याधराधमाश्चात्र वज्राङ्के संप्रतिष्ठिताः ॥ १२८ ॥

पञ्चाशद्योजनोर्ध्वे इति, भूपृष्ठात् । आप्यायक इति, यदुक्तम्—

'यो विवर्धयते पुष्टिमोषधीनां बलं तथा ।

वही कहते हैं—

पचास योजन के ऊपर ऋतार्ध नामक वायु (का पथ) है । वह जन्तुओं की वृद्धि करता है । उसके बाद पचास योजन ऊपर तक प्राचेतस है । उसके ऊपर सौ योजन तक सेनानी वायु (का मार्ग) है । यहाँ वे विद्युद्वर्षी मूक मेघ है । जल वर्षा (अवस्था में) वे पृथ्वी से एक कोस की दूरी पर रहते हैं । उसके सौ योजन ऊपर मेढक आदि प्राणिवर्ग की वर्षा करने वाले मेघ हैं ।

उसके पचास योजन ऊपर विषजल की वर्षा करने वाले मेघ है । ओघ मारुत में स्कन्द से उत्पन्न पिशाच नामक मेघ रहते हैं । उसके ५० योजन ऊपर मारक नामक मेघ रहते हैं । उस स्थान में महादेव से उत्पन्न विनायक रहते हैं जो संशयात्मा लोगों के द्वारा किये गए कर्म को नष्ट कर देते हैं । इसके पचास योजन ऊपर व्रजाङ्क नामक वायु है यहाँ (पत्थर की वर्षा करने वाले) उपलाम्बुद नामक बादल रहते हैं । इस वज्राङ्क में निम्नकोटि के विद्याधर रहते हैं ॥ -१२२-१२८ ॥

पचास योजन ऊपर—पृथ्वीतल से । वृद्धि करने वाला—जैसा कि कहा गया है—

"जो अव्यय (नामक वायु) ओषधियों की पुष्टि और बल को बढ़ाता है, मारी

बृंहयेच्च महीं सर्वामाप्याययति चाव्ययः ॥

(स्व० १०।४२४) इति ।

पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वमिति, यथा भूपृष्ठात् पञ्चाशद्योजनानि परिवर्ज्य ऊर्ध्वमृतर्द्धिः स्थितः, तथा तदूर्ध्वमपि पञ्चाशद्योजनान्यन्तरालत्वेन परिस्थाप्य अयम्—इत्यर्थः । 'प्राचेतसः' इति प्रचेतोभिर्निर्मितत्वात्, तदाख्येन चाग्निना सह निवासात्; अत एवाप्यायकत्वं दाहकत्वं च । तदुक्तम्—

'प्राचेतसो नाम वायुः प्रचेतोभिर्विनिर्मितः ।
स वै नाशयते वृक्षान्कदाचित्संप्रवर्तयेत् ॥
अग्निः प्राचेतसो नाम तेनैव सह तिष्ठति ।'

(स्व० १०।४२७) इति ।

'तस्मादूर्ध्वं शतेन' इति प्राचेतसादप्यूर्ध्वं योजनानां शतमतिक्रम्य—इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् । तथाभिधायित्वाभावात् भेकादिप्राणिवर्षित्वादेव च सत्त्ववहा इत्युक्ताः । तदुक्तम्—

'योजनानां शतादूर्ध्वं मेघाः सत्त्ववहाः स्मृताः ।
मत्स्यमण्डूककूर्मांश्च वर्षन्ते दुर्दिने च ते ॥'

(स्व० १०।४३०) इति ।

विषवारिवर्षित्वादेव चोपसर्गादिकारिणः । तदुक्तम्—

पृथिवी को बढ़ाता है और पुष्ट करता है । (स्व०तं० १०।४२४)

पचास योजन के ऊपर, जैसे पृथ्वी तल से पचास योजन छोड़कर ऊपर ऋतर्द्धि (नामक वायु) स्थित है उसी प्रकार उसके ऊपर भी ५० योजन छोड़कर यह (स्थित) है । प्राचेतस—वरुणों के द्वारा निर्मित होने के कारण और उस नामकी अग्नि के साथ निवास होने से । इसीलिए यह वर्द्धक और दाहक है । वही कहा गया है—

"प्राचेतस नाम का वायु प्रचेताओं के द्वारा निर्मित है । वह वृक्षों का नाश करता है और कभी बढ़ाता भी है और प्राचेतस नाम का अग्नि उसी के साथ रहता है । (स्व० तं० १०।४२७)

उसके ऊपर सौ योजन तक = प्राचेतस के ऊपर सौ योजन पार कर । इसी प्रकार आगे भी व्याख्या करनी चाहिए । उस प्रकार का कथन न होने से और मेढ़क आदि प्राणियों की वर्षा होने के कारण सत्त्ववहा कहा गया है । वही कहा गया है—

"सौ योजन ऊपर प्राणिवाही मेघ कहे गए हैं जो दुर्दिन में मत्स्य मण्डूक और कूर्म बरसते हैं ।" (स्व०तं० १०।४३०)

'पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वं वायुरोधः प्रकीर्तितः ॥
तस्मिंस्तु रोगदा मेघा वर्षन्ति च विषोदकम्।
तेनोपसर्गा जायन्ते मारकाः सर्वदेहिनाम् ॥'

(स्व० १०।४३२) इति ।

'ओघे वसन्ति वै दिव्याः पिशाचाः स्कन्ददेहजाः।
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि स्कन्दस्यानुचराः स्मृताः ॥
ते वै दिव्यैश्च कुसुमैरर्चयन्ति हरात्मजम् ।'

(स्व० १०।४४२) इति ।

'तत्र स्थाने' इति अमोघाख्ये मरुति । 'अकृतात्मनाम्' संशयानानाम्। तदुक्तम्—

'तस्मादूर्ध्वं तु तावद्भ्यो देव्यमोघः स्थितो मरुत्।
तस्मिंस्ते मारका मेघा अमोघे संप्रतिष्ठिताः ॥'

(स्व० १०।४३३) इति ।

'अमोघे विनायका घोरा महादेवसमुद्भवाः ।
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि तस्मिन्वायौ प्रतिष्ठिताः ॥
ये हरन्ति कृतं कर्म नराणामकृतात्मनाम् ।

(स्व० १०।४४४) इति च ।

'उपलाम्बुदाः' इति उपलवर्षित्वात् तदाख्याः । विद्याधराधमा इति,

---

विषसम्पृक्त जल के वर्षक होने के कारण रोग उत्पन्न करने वाले हैं । वही कहा गया है—

"५० योजन के ऊपर वायुरोध कहा गया है । उसमें रोगप्रदान करने वाले बादल विषाक्त जल बरसाते हैं । उससे सभी शरीरधारियों को मारने वाले उपसर्ग (= रोग) उत्पन्न होते हैं ।" (स्व०तं० १०।४३२)

ओघ वायु में दिव्य तथा स्कन्द के देह से उत्पन्न पिशाच रहते हैं । स्कन्द के ३० करोड़ हजार अनुचर हैं जो कि दिव्य कुसुमों के द्वारा शङ्कर-पुत्र (स्कन्द) की पूजा करते रहते हैं ।

उस स्थान में = अमोघ नामक वायु पथ में । अकृतात्माओं का = संशययुक्त लोगों का । वही कहा गया है—

"हे देवि ! उसके उतने ही ऊपर अमोघ वायु स्थित है । उस अमोघ में मारक मेघ प्रतिष्ठित हैं ।" (स्व०तं० १०।४३३)

"उस अमोघ वायु में महादेव से उत्पन्न तीस हजार करोड़ घोर विनायक प्रतिष्ठित हैं । जो कि संशयालु लोगों के (द्वारा) किये गए कर्मों का नाश कर देते हैं ।" (स्व०तं० १०।४४४)

वक्ष्यमाणविद्याधरापेक्षया अल्पसिद्धित्वात्; अत एवैषां तत्रत्यमातङ्गारोहादेव तत्तद्गतिभाक्त्वम् ॥ १२८ ॥

एतत्पदप्राप्तौ चैषां निमित्तमाह—

ये विद्यापौरुषे ये च श्मशानादिप्रसाधने ।
मृतास्तत्सिद्धसिद्धास्ते वज्राङ्के मरुति स्थिताः ॥ १२९ ॥

'विद्यापौरुषे' गारुडविद्यादिस्पर्धायाम् । मृता इत्यर्थादितदन्ते । तदुक्तम्—

'वज्राङ्को नाम वै वायुः पञ्चाशद्योजने स्थितः ।
तस्मिंश्चोपलका नाम मेघास्तूपलवर्षिणः ॥'

(स्व० १०।४३४) इति ।

'वज्राङ्केऽपि तथा वायौ मातङ्गाः क्रूरकर्मिणः ।
भिन्नाञ्जननिभा घोरास्तापना नाम विश्रुताः ॥
विद्याधराणामधमा मनःपवनगामिनः ।
ये विद्यापौरुषे ये च वेतालादीञ्श्मशानतः ॥
साधयित्वा ततः सिद्धास्तेऽस्मिन्वायौ प्रतिष्ठिताः ।

(स्व० १०।४४६) इति च ॥ १२९ ॥

उपलाम्बुद = पत्थर की वर्षा करने के कारण उस नाम वाले । अधम—विद्याधर—आगे कहे जाने वाले विद्याधरों की अपेक्षा अल्पसिद्धि वाला होने के कारण । इसीलिए ये वहाँ के मातङ्ग पर आरोहण करने के कारण उस-उस गति वाले हो जाते हैं ॥ १२२-१२८ ॥

इनकी इस पद की प्राप्ति में कारण बतलाते हैं—

जो लोग विद्यापौरुष (शास्त्रार्थ या महाविद्या आदि की साधना) या श्मशान आदि की सिद्धि करने में मर जाते हैं उस सिद्धि के कारण सिद्ध वे लोग वज्राङ्कमरुत् में रहते हैं ॥ १२९ ॥

विद्यापौरुष में = गारुडविद्या आदि की स्पर्धा में । मर गए—अर्थात् इसके अन्त में । वही कहा गया है—

"वज्राङ्क नामक वायु पचास योजन में स्थित है उसमें उपलक नामक उपलवर्षी मेघ (स्थित) हैं ।" (स्व०तं० १०।४३४)

"वज्राङ्क वायु में भी भिन्न अञ्जन के समान घोर, क्रूरकर्मी, तापन नाम से प्रसिद्ध मातङ्ग, जो कि निम्नकोटि के विद्याधर हैं तथा मन या पवन के समान गति वाले हैं, रहते हैं । जो लोग विद्यापौरुष में अथवा वेताल आदि को श्मशान से सिद्ध कर, सिद्ध होते हैं वे इस वायु में प्रतिष्ठित हैं" ॥ १२९ ॥ (स्व०तं० १०।४४६)

पञ्चाशदूर्ध्वं वज्राङ्काद्वैद्युतोऽशनिवर्षिणः ।
अब्दा अप्सरसश्चात्र ये च पुण्यकृतो नराः॥ १३० ॥
भृगौ वह्नौ जले ये च संग्रामे चानिवर्तिनः ।
गोग्रहे वध्यमोक्षे वा मृतास्ते वैद्युते स्थिताः॥ १३१ ॥

पुण्यकृत्त्वमेव व्याचष्टे 'भृगावित्यादिना' । भृग्वादौ मृतास्तथाम्नातत्वात् तच्च लुप्तस्मृत्यादीनाम् । यदुक्तम्—

'भृगौ च स्मृतेर्लुप्त........................ ।' इति ।

तथा,

'परां काष्ठामनुप्राप्तो भिषग्भिः परिवर्जितः।
रसास्वादपरित्यक्तो व्याधिभिः परिपीडितः ॥
विमुखः स्वजनत्यक्तो देहत्यागोद्यतो नरः ।
आरुहेद्भैरवं यो हि स तत्फलमवाप्नुयात्॥
अन्यथा पातयेद्देहं ब्रह्महत्याफलं लभेत ।' इति ।

'संग्रामे' इत्यर्थाच्छरणागतादिनिमित्तम्, अन्यथा हि आत्मघातिन एते भवेयुः—इति कथमेतत्पदप्राप्तिः स्यात् । यदुक्तम्—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।

वज्राङ्क से पचास योजन ऊपर वैद्युत नामक (वायु) है । यहाँ वज्रवर्षी बादल, अप्सरायें तथा जो पुण्यशील नर हैं, (वे रहते हैं) । भृगु (= पर्वत की ढलवाँ भूमि) अग्नि, जल में (मरे हुये) और जो लोग संग्राम में लौट कर नहीं आते अथवा गौ के पकड़ने, मारने या छुड़ाने में जो मर जाते हैं वे वैद्युत लोक में स्थित होते हैं ॥ १३०-१३१ ॥

'भृगु में' इत्यादि के द्वारा पुण्यकृत् की ही व्याख्या करते हैं । भृगु आदि में मृत क्योंकि वैसा आकर ग्रन्थों में कहा गया । और वह, जिनकी स्मृति लुप्त हो जाती है उनके लिए है । जैसा कि कहा गया है—

"स्मृति के लुप्त होने पर, भृगु (= जलप्रपात में गिरकर मरने से.........)"

"(रोग की) अन्तिम अवस्था को प्राप्त, वैद्यों के द्वारा अस्वीकृत, रस के आस्वाद में असक्त, व्याधियों से पीड़ित, निराश, अपने आदमियों के द्वारा परित्यक्त, शरीरत्याग के लिए उद्यत जो मनुष्य भैरव पर आरूढ़ होता है वह उसके फल को प्राप्त होता है । यदि दूसरे प्रकार से प्राणत्याग करता है तो ब्रह्महत्या के फल को पाता है ।"

संग्राम में शरणागत आदि के सन्त्राण के कारण, अन्यथा ये आत्मघाती हो जाऐंगे—इसलिए कैसे इस पद की प्राप्ति होगी । जैसा कि कहा गया है ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(ई०उ० ३ ऋ०) इति ।

स्थिता इति, अर्थाद्विमानैः । तदुक्तम्—

'तावद्भिर्योजनैरेव ततो वै वैद्युतोऽनिलः ।
मेघास्तु वैद्युतास्तस्मिन्निवसन्ति तु वैद्युताः॥
अशनिर्वायुसंक्षोभात्तेष्वसौ जायते महान् ।'
(स्व० १०।४३५) इति ।

'वैद्युतेऽप्सरसस्तस्मिन्वासवेन प्रयोजिताः ।
तिष्ठन्ति सर्वदा तत्र पृथिवीपुरपालने ॥
भृगौ वह्नौ जले वाथ संग्रामेष्वनिवर्तकाः ।
गोग्रहे वन्दिमोक्षे च म्रियन्ते पुरुषोत्तमाः ।
ते व्रजन्ति ततस्तूर्ध्वं विमानैर्मणिचिह्नितैः ॥'
(स्व० १०।४४९) इति ॥ १३१ ॥

वैद्युताद्रैवतस्तावांस्तत्र पुष्टिवहाम्बुदाः ।
ऊर्ध्वं च रोगाम्बुमुचः संवर्तास्तदनन्तरे ॥ १३२ ॥
रोचनाञ्जनभस्मादिसिद्धास्तत्रैव रैवते ।
क्रोधोदकमुचां स्थानं विषावर्तः स मारुतः ॥ १३३ ॥

"असुर्या नामक वे लोक घने अन्धकार से आवृत हैं । जो आत्मघाती मनुष्य होते हैं वे मर कर उन्हीं को प्राप्त होते हैं ।" (ई०उ० ३.३)

स्थित अर्थात् विमानों के द्वारा । वही कहा गया है—

"उसके बाद उतने ही योजन वैद्युत वायु है । उस वैद्युत वायु में वैद्युत मेघ रहते हैं । उनमें वायु के संक्षोभ से महान् वज्रघोष होता है ।" (स्व०तं० १०।४३५)

"उस वैद्युत वायु में इन्द्र के द्वारा नियोजित अप्सरायें सदा पृथ्वीपुर के पालन में लगी रहती हैं । भृगु, वह्नि या जल में (मरने वाले) अथवा संग्राम से न लौटने वाले, मृगों के पालन, बन्धन और मोक्ष के सन्दर्भ में जो उत्तम पुरुष मरते हैं वे मणिखचित विमानों के द्वारा उसके ऊपर चले जाते हैं" ॥ १३१ ॥ (स्व०तं० १०।४४९)

वैद्युत से लेकर उतना (= पचास योजन) रैवत वायु लोक है । उसमें पुष्टिवह नामक मेघ रहते हैं । (उसके) ऊपर उसी के बीच रोगाम्बु बरसने वाले संवर्त्त (नामक मेघ रहते हैं) । उसी रैवत में गोरोचन अञ्जन भस्म आदि की सिद्धि वाले (लोग रहते हैं) । जहाँ क्रोधोदक बरसने वाले बादलों का स्थान है वहाँ विषावर्त्त नामक वायु है । पचास (योजन) ऊपर

पञ्चाशदूर्ध्वं तत्रैव दुर्दिनाब्दा हुताशजाः ।
विद्याधरविशेषाश्च तथा ये परमेश्वरम् ॥ १३४ ॥
गान्धर्वेण सदार्चन्ति विषावर्तेऽथ ते स्थिताः ।
विषावर्ताच्छतादूर्ध्वं दुर्जयः श्वाससंभवः ॥ १३५ ॥
ब्रह्मणोऽत्र स्थिता मेघाः प्रलये वातकारिणः ।
पुष्कराब्दा वायुगमा गन्धर्वाश्च परावहे ॥ १३६ ॥
जीमूतमेघास्तत्संज्ञास्तथा विद्याधरोत्तमाः ।
ये च रूपव्रता लोका आवहे ते प्रतिष्ठिताः ॥ १३७ ॥
महावहे त्वीशकृताः प्रजाहितकराम्बुदाः ।
महापरिवहे मेघाः कपालोत्था महेशितुः ॥ १३८ ॥

'भस्मादि' इत्यादिग्रहणात् पादुकादि । तदुक्तम्—

'तदूर्ध्वं योजनानां तु पञ्चाशद्रैवतः स्मृतः ।
तस्मिन्पुष्टिवहो नाम पुष्टिं वर्षति देहिनाम् ॥'

(स्व० १०।४३६) इति ।

'रैवते तु महात्मानः सिद्धा वै सुप्रतिष्ठिताः ।
गोरोचनाञ्जने भस्म पादुके अजिनादि च ॥

वहीं पर अग्नि से उत्पन्न दुर्दिन नामक बादल रहते हैं । विशिष्ट विद्याधर लोग तथा जो गान्धर्व रीति (= गायन वादन नृत्य) के द्वारा परमेश्वर की अर्चना करते रहते हैं, वे उसमें रहते हैं । विषावर्त्त से १०० योजन ऊपर ब्रह्मा के नि:श्वास से उत्पन्न दुर्जय (नामक वायु) स्थित है । यहाँ प्रलयकाल में हवा उत्पन्न करने वाले मेघ स्थित हैं । परावह (वायु) में पुष्कर नामक मेघ तथा वायु की गति वाले गन्धर्व रहते हैं । जीमूत नामक मेघ तथा उसी नाम वाले उत्तम विद्याधर और जो रूपव्रत (= रूप बदलने वाले अर्थात् बहुरूपिया) लोग हैं वे आवह में प्रतिष्ठित है । महावह में ईश्वर के द्वारा बनाये गए प्रजाओं के हितकारी बादल रहते हैं । महापरिवह मे महेश्वर के कपाल से निकले हुये बादल रहते हैं ॥ १३२-१३८ ॥

भस्म आदि—आदि शब्द से पादुका आदि (समझना चाहिए) । वही कहा गया है—

"उसके पचास योजन ऊपर रैवत (वायुलोक) कहा गया है उसमें पुष्टिवह नामक (मेघ) शरीरधारियों के लिए पुष्टि की वर्षा करते हैं ।" (स्व०तं० १०।४३६)

"रैवत में सिद्ध महात्मा सुप्रतिष्ठित हैं । वे महात्मा गोरोचन अञ्जन, भस्म,

साधयित्वा महात्मानः सिद्धास्ते कामरूपिणः ।'
(स्व० १०।४५१) इति च ।

ऊर्ध्वमिति, रैवतात् । 'तदन्तरे' इति तान्येव पञ्चाशद्योजनान्यन्तरं शून्यरूपं यत्र—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'संवर्ते रोगदा मेघास्ते रोगोदकवर्षिणः ।
पञ्चाशद्योजने ते वै तस्मिंस्तिष्ठन्ति तोयदाः॥'
(स्व० १०।४३७)

इति दुर्दिनाब्दा इति, दुर्दिनकारित्वात् । 'गान्धर्वेण' इति वंशीवीणादिना । तदुक्तम्—

'विषावर्तो नाम वायुः पञ्चाशदुपरि स्थितः ।
तस्मिन्क्रोधोदका नाम मेघा वै संप्रतिष्ठिताः॥
ते क्रोधरागबहुलं संग्रामबहुलं तथा ।
राज्ञां क्षयकरं चैव प्रजानां क्षयदं तथा ॥
वर्षं चैव प्रकुर्वन्ति यदा वर्षन्ति ते घनाः।'
(स्व० १०।४४०) इति ।

'विषावर्ते महावायौ विद्याधरगणाः स्मृताः ।
दशं त्रिंशच्च कोट्यस्ते दिव्याभरणभूषिताः ॥'
(स्व १०।४५३) इति ।

'आग्नेया धूमजा मेघाः शीतदुर्दिनदाः स्मृताः ।

पादुका, चर्म आदि को सिद्ध कर कामरूपी सिद्ध बन गये होते हैं । (स्व० १०।४५१)

ऊपर—रैवत के । उसके बीच—वे ही ५० योजन अन्तर = शून्य रूप है जहाँ वह स्थान । वही कहा गया है—

"संवर्त्त में रोग देने वाले मेघ हैं । वे रोगजल बरसते हैं । वे बादल उसमें ५० योजन तक स्थित है ।" (स्व०तं० १०।४३७)

दुर्दिन मेघ—दुर्दिनकारी होने से । गान्धर्व के द्वारा—बाँस की वंशी आदि के द्वारा । वही कहा गया है—

"विषावर्त्त नामक वायु संवर्त्त से ५० योजन ऊपर स्थित है । उसमें क्रोधोदक नामक मेघ प्रतिष्ठित हैं । जब वे बरसते हैं तो वे क्रोधरागबहुल, संग्रामबहुल, राजाओं और प्रजाओं का क्षय करने वाली वर्षा करते हैं । (स्व० तं० १०।४४०)

"विषावर्त्त महावायु में विद्याधरों का समूह रहता है । वे चालीस करोड़ हैं और दिव्य आभूषणों से अलंकृत हैं । (स्व०तं० १०।४५३)

विषावर्तं नावमिव ते वायुं यान्ति संश्रिता: ॥
तत्र गान्धर्वकुशला गन्धर्वसहधर्मिण: ।
वंशवीणाविधिज्ञाश्च पक्षिण: कामरूपिण: ॥'

(स्व० १०।४५५) इति च ।

अत्र च संवर्तेऽपि महावायाविति उद्द्योतकारव्याख्यापाठात्र भ्रमणीयम् — यत्संवर्ते कथं विद्याधरा नोक्ता विषावर्ते तु उक्ता इति, अस्मत्तर्कित एव हि पाठ: साधु:, महाजनपरिगृहीतत्वात् । एवम्—

'योजनानां शतादूर्ध्वं वायुरोध: प्रकीर्तित: ।' (स्व० १०।४३१)

इत्यादावपि अस्मत्तर्कित एव पाठो ग्राह्य:, अन्यथा हि

'तस्मादूर्ध्वं तु तावद्भ्य:.................... ।' (स्व० १०।४३२)

इत्यादौ तावदर्थस्तन्मतेऽपि न सङ्गत: स्यात् । 'दुर्जय:' इति तन्नामा वायु: । तदुक्तम्—

'ब्रह्मजा नाम वै मेघा ब्रह्मनि:श्वाससम्भवा: ।
उपरिष्टाद्योजनशताद्दुर्जयस्योपरि स्थिता: ॥'

(स्व० १०।४५६) इति ।

गन्धर्वाश्च इति, चशब्दाद् दुर्जयाख्यमेघादीनामपि ग्रहणम् । तदुक्तम्—

"धूम से उत्पन्न अग्निमय मेघ शीत और दुर्दिन प्रदान करने वाले कहे गए हैं । जिस प्रकार ऊपर पाल टंगी हुयी नाव वायु को आश्रित कर बिना पतवार के चलती है उसी प्रकार वे विषावर्त्त को आश्रित करके जाते हैं । वहाँ गान्धर्वविद्या में कुशल; गन्धर्वों के सहकर्मी बाँस की वंशी की विधि को जानने वाले कामरूपी पक्षी रहते हैं ।" (स्वं०तं० १०।४५५)

यहाँ 'संवर्त्त महावायु में भी' ऐसे उद्योतकार के व्याख्यापाठ के कारण भ्रान्त नहीं होना चाहिए कि संवर्त्त में विद्याधर नहीं कहे गए और यहाँ कहे गए क्योंकि महान् लोगों के द्वारा स्वीकृत होने के कारण हमारे द्वारा तर्कित पाठ ही समीचीन है। इस प्रकार—

"सौ योजन ऊपर वायु का रोध कहा गया है ।" (स्व०तं० १०।४३१)

इत्यादि में भी हमारे द्वारा स्वीकृत पाठ ही मानना चाहिए । अन्यथा

उससे ऊपर उतना ही... " (स्व०तं० १०।४३२)

इत्यादि में उतना अर्थ उस मत में भी सङ्गत नहीं होगा । 'दुर्जय' उस नाम वाला वायु । वही कहा गया है—

"ब्रह्मा के निश्वास से उत्पन्न ब्रह्मज नाम के मेघ दुर्जय के ऊपर एक सौ योजन के बाद स्थित है ।" (स्व० तं० १०।४५६)

'तत्रैव दुर्जया नाम इन्द्रस्य परिरक्षकाः ।
परावहाभिधं वायुं ते समाश्रित्य संस्थिताः ॥
महावीर्यबलोपेता दश कोट्यः प्रकीर्तिताः ।
पुष्करावर्तका नाम मेघा वै पद्मजोद्भवाः ॥
शक्रेण पक्षा ये च्छिन्नाः पर्वतानां महात्मनाम् ।
परावहस्तान्वहति मनुजानिव वारणः ॥
तस्मिन्वायुगमा नाम गन्धर्वा गगनालयाः ।'
(स्व०१०।४६१) इति ।

तदाप्रभृति एषां नैरन्तर्येणावस्थानमवसातव्यमन्तरालविधायिन्याः श्रुतेरभावात् । 'तत्संज्ञाः' इति जीमूतसंज्ञाः । तदुक्तम्—

'जीमूता नाम ये मेघा देवेभ्यो जीवसम्भवाः ।
द्वितीयमावहं वायुं मेघास्ते च समाश्रिताः ॥
तस्मिञ्जीमूतका नाम विद्याधरगणा दश ।'
(स्व० १०।४६२) इति ।

'रूपव्रता' इति रूपविडम्बकवद् रूपविधानं न तु वस्तुनिष्ठं वस्तु येषां तेन व्रत(ता) जीविन—इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'ये च रूपव्रता लोकास्तेषां तत्र समाश्रयः ।' इति ।

'गन्धर्वश्च' यहाँ च शब्द से दुर्जय नामक मेघ आदि का भी ग्रहण किया गया है । वही कहा गया है—

"वहीं पर दुर्जय नामक इन्द्र के परिक्षक है । वे परावह नामक वायु को आश्रित कर रहते हैं । महावीर्य और महाबल से युक्त, दश करोड़, ब्रह्मा से उत्पन्न पुष्करावर्त्तक नामक मेघ हैं । महात्मा पर्वतों के जो पङ्ख इन्द्र के द्वारा काट डाले गए थे उन (पर्वतों) को परावह नामक वायु उसी प्रकार ढोता है जैसे हाथी मनुष्यों को । वहाँ गगनवासी वायुगामी (अथवा वायुगम नामक) गन्धर्व रहते हैं ।" (स्व० तं० १०।४६१)

वहाँ से लेकर आगे इनकी निरन्तर स्थिति समझनी चाहिए क्योंकि अन्तराल का कथन करने वाली श्रुति नहीं है । तत्संज्ञ = जीमूतनाम वाले । वही कहा गया है—

"जीमूत नाम के जो मेघ देवताओं की सांसों से जिनका जीवन सम्भव है, वे मेघ दूसरे आवह (नामक) वायु के आधीन हैं । उसमें जीमूत नामक, विद्याधरों का दश गण रहता है ।" (स्व०तं० १०।४६२)

रूपव्रत—रूप बदलने वाले के समान रूप विधान, न कि वस्तुनिष्ठ वस्तु, है जिनका, उससे व्रतजीवी लोग । वही स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

एतदर्धं च उद्द्योतकृता न दृष्टम्,—इति न भ्रमणीयम् । ईशकृता इति उमापतिनिर्मिता: । तदुक्तम्—

'महावहस्ततो वायुर्यत्र द्रोणा: समाश्रिता: ।
तस्मिन्द्रोणा: समाख्याता मेघानां परिरक्षका:॥
हितार्थं तु प्रजानां वै निर्मितास्ते मया पुरा।'
(स्व० १०।४६३) इति ।

मेघा:' इति संवर्ताद्या: । तदुक्तम्—

'उपरिष्टात्कपालोत्था: संवर्ता नाम वै घना: ।
महापरिवहो नाम वायुस्तेषां प़माश्रय: ॥'
(स्व० १०।४६४) इति ॥ १३८ ॥

एतदेव उपसंहरति—

महापरिवहान्तोऽयमृतर्द्धे: प्राङ्मरुत्पथ: ।

एवमत्र योजनानां सहस्रदशकात् ऋतर्द्धेरारभ्य महापरिवहान्तं षोडशानां वायूनामन्तरालेषु यथोक्तक्रमेण सार्धं शतसप्तकं परिसंख्याय शिष्टं विशेषश्रुत्यभावात् सममेव विभजनीयम्, येन प्रत्येकं शतपञ्चकं सार्धक्रोशा चाष्टसप्ततिर्मानं स्यात् ॥

जो रूपव्रत (= रूप बदलने वालों अर्थात् बहुरूपियों का) लोक हैं उनका वहाँ आश्रय है ।''

इस आधे को उद्योतकार ने नहीं देखा-ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए । ईश्वर के द्वारा किये गये = उमापति के द्वारा रचे गये । वही कहा गया है—

''उसके बाद महावह वायु है जहाँ द्रोण नामक मेघ रहते हैं । वे द्रोण मेघों के परिरक्षक कहे गए हैं । मेरे द्वारा प्रजाओं के हित के लिए वे पहले बनाये गए थे।'' (स्व०तं० १०।४६३)

मेघ—संवर्त्त आदि । वही कहा गया है—

''ऊपर कपाल से निकले हुये संवर्त्त नाम के मेघ हैं । महापरिवह नामक वायु उनका आश्रय स्थान है'' ॥ १३८ ॥ (स्व० तं० १०।४६४)

इसी का उपसंहार करते हैं—

ऋतर्धि से लेकर महापरिवह तक पूर्व की ओर वायु का मार्ग है ॥ १३९- ॥

इस प्रकार यहाँ दश हजार योजन वाले ऋतर्द्धि से प्रारम्भ कर महापरिवह तक सोलह वायुओं के बीच उक्त क्रम से साढ़े सात सौ योजन गिनकर बचे हुये का,

अग्निकन्या मातरश्च रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठिताः ॥ १३९ ॥
द्वितीये तत्परे सिद्धचारणा निजकर्मजाः ।
तुर्ये देवायुधान्यष्टौ दिग्गजाः पञ्चमे पुनः ॥ १४० ॥
षष्ठे गरुत्मानन्यस्मिङ्गङ्गान्यत्र वृषो विभुः ।
दक्षस्तु नवमे ब्रह्मशक्त्या समधिति (नि)ष्ठितः ॥ १४१ ॥
दशमे वसवो रुद्रा आदित्याश्च मरुत्पथे ।
नवयोजनसाहस्रो विग्रहोऽर्कस्य मण्डलम् ॥ १४२ ॥
त्रिगुणं ज्ञानशक्तिः सा तपत्यर्कतया प्रभोः ।
स्वर्लोकस्तु भुवर्लोकाद् ध्रुवान्तं परिभाष्यते ॥ १४३ ॥
सूर्याल्लक्षेण शीतांशुः क्रियाशक्तिः शिवस्य सा ।
चन्द्राल्लक्षेण नाक्षत्रं ततो लक्षद्वयेन तु ॥ १४४ ॥
प्रत्येकं भौमतः सूर्यसुतान्ते पञ्चकं विदुः ।
सौराल्लक्षेण सप्तर्षिवर्गस्तस्माद् ध्रुवस्तथा ॥ १४५ ॥
ब्रह्मैवापररूपेण ब्रह्मस्थाने ध्रुवोऽचलः ।
मेघीभूतो विमानानां सर्वेषामुपरि ध्रुवः ॥ १४६ ॥

विशेष श्रुति न होने के कारण, बराबर-बराबर विभाग कर लेना चाहिए जिससे प्रत्येक का पाँच सौ अठहत्तर और आधा = ५७८ (१/२) कोश परिमाण हो जाए ॥ १३८ ॥

दूसरे (वायु पथ) में अग्निकन्या और मातायें रुद्रशक्ति से अधिष्ठित होकर रहती हैं । तीसरे में सिद्ध चारण और निजकर्मज 'अपने कर्म से होने वाले' रहते हैं । चतुर्थ में आठ देवायुध हैं । पाँचवें (वायुपथ) में दिग्गज हैं । छठे में गरुड़ दूसरे (= सातवें) में गङ्गा, अन्यत्र (= आठवें में) वृष विभु हैं । नवम (वायुपथ) में दक्ष रहते हैं जो ब्रह्मशक्ति से आधीष्ठित हैं । दशवें मरुत्पथ में वसु रुद्र और आदित्य रहते हैं । सूर्य का मण्डल ९ हजार योजन शरीर (= विस्तार) वाला है । प्रभु की वह ज्ञानशक्ति सूर्य के रूप में तीन गुना (= सत्ताईस हजार योजन तक) चमकती है । भुवः लोक से ध्रुवपर्यन्त स्वः लोक कहा जाता है । सूर्य से एक लाख (योजन दूर) चन्द्रमा है । यह शिव की क्रियाशक्ति है । चन्द्रमा से एक लाख (योजन दूर) नक्षत्र मण्डल उससे प्रत्येक दो लाख (योजन दूर), मङ्गल (और बुध) और अन्त में सूर्यसुत (= शनि) इस प्रकार पाँच (ग्रह) है । शनि से एक लाख (योजन दूर) सप्तर्षि मण्डल और उसके बाद (एक लाख योजन दूर) ध्रुव है । ब्रह्म ही अपर रूप में ब्रह्मस्थान में (नियोजित) अचल ध्रुव है । (ग्रहों को एक लोक से दूसरे लोक में ले जाने वाले) विमानों का बन्धरज्जु सबके ऊपर स्थिर है ॥ -१३९-१४६ ॥

'मातरो' ब्राह्म्याद्याः । द्वितीय इति, वायुपथे । तत्पर इति, तृतीये । अष्टाविति, नाराचादीनि । तदुक्तम्—

'चतुर्थे पथि चैवात्र वसन्त्यायुधदेवताः ।
नाराचचापचक्रर्ष्टिशूलशक्तीषुमुद्गराः ॥'

(स्व० १०।४६८) इति ।

'दिग्गजा' इति ऐरावतादयः । तदुक्तम्—

'पञ्चमे पथि देवेशि वसन्त्यैरावतादयः ।
ऐरावतोऽञ्जनश्चैव वामनश्च महागजः ॥
सुप्रतीकः करीन्द्रश्च पुष्पदन्तस्तथैव च ।
कुमुदः पुण्डरीकश्च सार्वभौमोऽपि चाष्टमः ॥
दिग्गजा इति विख्याताः स्वासु दिक्षु व्यवस्थिताः ।'

(स्व० १०।४७१) इति ।

अन्यस्मिन्निति, सप्तमे । अन्यत्रेति, अष्टमे । वसवोऽष्टौ, रुद्रा एकादश, आदित्या द्वादश । तदुक्तम्—

'अत्र चाङ्गारकः सर्पिर्नैर्ऋतः सदसत्पतिः ।
बुधश्च धूमकेतुश्च विख्यातश्च ज्वरस्तथा ॥
अजश्च भुवनेशश्च मृत्युः कापालिकस्तथा ।
एकादश स्मृता रुद्राः सर्वकामफलोदयाः ।
धाता ध्रुवश्च सोमश्च वरुणश्चानिलोऽनलः ॥

मातायें—ब्राह्मी आदि । दूसरे में = वायुपथ में । उसके बाद वाले में = तीसरे (पथ) में । आठ—नाराच आदि । वही कहा गया है—

"इस चतुर्थ पथ में वाण, धनुष, चक्र, ऋष्टि, शूल, शक्ति, इषु और मुद्गर (ये आठ) आयुध देवतायें रहती हैं ।" (स्व० तं० १०।४६८)

दिग्गज = ऐरावत आदि । वही कहा गया है—

"हे देवेशि ! पाँचवे पथ में ऐरावत आदि रहते हैं । ऐरावत, अञ्जन, वामन, महागज, सुप्रतीक, करीन्द्र, पुष्पदन्त, कुमुद, पुण्डरीक और आठवाँ सार्वभौम, ये दिग्गज के रूप में प्रसिद्ध है और अपनी-अपनी दिशाओं में व्यवस्थित है ।"

(स्व०तं० १०।४७१)

अन्य में—सातवें में । अन्यत्र—आठवें में आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य रहते हैं । वही कहा गया है—

"यहाँ अङ्गारक, सर्पिस्, नैर्ऋत, सदसस्पति, बुध, धूमकेतु, विख्यात, ज्वर, अज, भुवनेश, तथा मृत्युकापालिक ये सभी कामनाओं का फल देने वाले ग्यारह

प्रत्यूषश्च प्रदोषश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥
वसवः कथिता ह्येते आदित्यांश्च निबोध मे ।
अर्यमा इन्द्रवरुणौ पूषा विष्णुर्गभस्तिमान् ॥
मित्रश्चैव समाख्यातस्त्वजघन्यो जघन्यकः ।
विवस्वांश्चैव पर्जन्यो धाता वै द्वादश स्मृताः ॥
(स्व० १०।४९९) इति ।

त्रिगुणमिति, सप्तविंशतिसहस्राणि । 'तपति' विश्वं प्रकाशयति—इत्यर्थः । ज्ञानस्य हि प्रकाशकत्वमेव स्वभाव—इति भावः । तदुक्तम्—

'ज्ञानशक्तिः परस्यैषा तपत्यादित्यविग्रहा ।'
(स्व० १०।४९८) इति ।

भुवर्लोकादित्यारभ्य सूर्यादिति, भुवर्लोकान्ते स्थितात् । क्रियाशक्तिरिति, जगदाप्यायकारित्वात् । तदुक्तम्—

'चन्द्ररूपेण तपति क्रियाशक्तिः शिवस्य तु ।'
(स्व० १०।५०१) इति ।

नाक्षत्रमिति, मण्डलम् । तदुक्तम्—

'इन्दूर्ध्वे लक्षमात्रेण स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ।' (स्व० १०।५०१)

रुद्र कहे गये हैं । धाता, ध्रुव, सोम, वरुण, अनिल, अनल, प्रत्यूष, प्रदोष ये आठ वसु कहे गये हैं । इस प्रकार (मेरे द्वारा) ये वसु कहे गये । अब आदित्यों को मुझसे जानो—अर्यमा, इन्द्र, वरुण, पूषा, विष्णु, गभस्तिमान्, मन्त्र, अजघन्य, जघन्यक, विवस्वान्, पर्जन्य और धाता ये बारह कहे गए हैं ।'' (स्व०तं० १०।४९९)

त्रिगुण = सत्ताईस हजार । तपति = विश्व को प्रकाशित करते हैं । ज्ञान का स्वभाव ही प्रकाश करना है—यह तात्पर्य है । वही कहा गया है—

''परमेश्वर की यह ज्ञानशक्ति ही आदित्य के रूप में चमकती है ।'' (स्व० १०।४९८)

भुवः लोक से लेकर इस लोक के अन्त में स्थित सूर्य तक । क्रियाशक्ति संसार का भरण करने के कारण यह क्रिया शक्ति कही जाती है । वही कहा गया है—

''शिव की क्रियाशक्ति चन्द्ररूप से चमकती है ।'' (स्व० १०।५०१)

नाक्षत्र = नक्षत्रमण्डल । वही कहा गया है—

''चन्द्रमा के ऊंपर एक लाख योजन की दूरी पर नक्षत्रमण्डल स्थित है'' ॥ (१०।५०१)

इति । लक्षद्वयेन इत्यूर्ध्वम्; तेन नक्षत्रमण्डलादूर्ध्वं लक्षद्वयेन भौमः, ततोऽपि बुधो यावदन्ते सौरः । लक्षेण इत्यूर्ध्वम् । तदुक्तम्—

'अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृग्वङ्गिरा मरीचिश्च ऋषयः सप्त कीर्तिताः ॥' (स्व० १०।५०५)

इति । तथेति, लक्षेणोर्ध्वम्—इत्यर्थः । 'मेधीभूतः' इति बन्धनस्थानतामाप्तः—इत्यर्थः । विमानानामिति, ग्रहादिसम्बन्धिनाम् । तदुक्तम्—

'ब्रह्मैवापररूपेण ध्रुवस्थाने नियोजितः ।
तस्य ज्योतिर्गणो देवि निबद्धो भ्रमते सदा ॥
निश्चलः स तु विज्ञेयः शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ।'
(स्व० १०।५१०) इति ॥ १४६ ॥

अत्र बद्धत्वेऽपि एषामाधारः कः ?—इत्याशङ्क्याह—

अत्र बद्धानि सर्वाण्यप्यूह्यन्ते निलमण्डले ।

अनिलमण्डलानि च कियन्ति ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वस्सप्त मारुतस्कन्धा आमेघाद्याः प्रधानतः ॥ १४७ ॥

स्वरिति, स्वर्गलोके । 'आमेघाद्या' इति आमेघादामेघं तदाद्यो येषाम् ।

दो लाख योजन से—ऊपर की ओर । इस प्रकार नक्षत्रमण्डल से दो लाख योजन ऊपर भौम है । उससे भी (दो लाख योजन ऊपर) बुध और अन्त में शनि १ लाख से ऊपर । वही कहा गया है—

"अत्रि, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, अङ्गिरा और मरीचि ये सात ऋषि (सप्तर्षि) कहे गए हैं ।" (स्व० १०।५०५)

तथा—एक लाख योजन ऊपर । मेधीभूत—बन्धनरूपता को प्राप्त । विमानों का—ग्रह आदि से सम्बद्ध (विमानों) का । वही कहा गया है—

"ब्रह्मा ही अपर रूप से ध्रुव के स्थान में लगाये गए हैं । उससे निबद्ध ज्योतिर्गण सदा घूमते रहते हैं । शिव की शक्ति के द्वारा अधिष्ठित उसे (= ब्रह्मा को) निश्चल जानना चाहिए" ॥ १४६ ॥ (स्व० १०।५१०)

यहाँ (= ध्रुव स्थान में) बद्ध होने पर भी इनका आधार क्या है? यह शङ्का कर कहते हैं—

यहाँ सबके सब अनिलमण्डल में बद्ध माने जाते हैं ॥ १४७- ॥

अनिलमण्डल कितने हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वर्ग में मेघ से प्रारम्भ कर प्रधानरूप से सात वायुस्कन्ध हैं ॥ -१४७ ॥

तदुक्तम् —

'आमेघाद्भास्करात्सोमान्नक्षत्राद् ग्रहमण्डलात् ।
ऋषिसप्तकनिर्देशादाध्रुवान्तं च सप्तमः ॥'
(स्व० १०।५१२) इति ।

तथा

'पृथिव्याः प्रथमः स्कन्ध आमेघेभ्यो य आवहः ।
द्वितीयश्चापि मेघेभ्य आसूर्यात्प्रवहश्च यः ॥
सूर्यादूर्ध्वं तथा सोमादुद्वहो यस्तु वै स्मृतः ।
सोमादूर्ध्वं तथर्क्षेभ्यश्चतुर्थः संवहस्तु सः ॥
ऋक्षेभ्यश्च तथैवोर्ध्वमाग्रहाद्विवहस्तु सः ।
ऊर्ध्वं ग्रहादृषिभ्यस्तु षष्ठो योऽसौ परावहः ॥
सप्तर्षिभ्यस्तथैवोर्ध्वमाध्रुवात्सप्तमस्तु सः ।
वातस्कन्धः परिवहः.................................॥'
(पुरा०) इति ॥ १४७ ॥

केषां चात्र निवासः ?—इत्याह—

इतश्च क्रतुहोत्रादि कृत्वा ज्ञानविवर्जिताः ।
स्वर्यान्ति तत्क्षये लोकं मानुष्यं पुण्यशेषतः ॥ १४८ ॥

एतत्सङ्कलयन्नन्यदवतारयति—

स्वः = स्वर्ग लोग में । आमेघाद्याः—आमेघ से आमेघ, और वह प्रथम है जिनमें । वही कहा गया है—

"मेघ से प्रारम्भ कर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, ग्रहमण्डल, सप्तर्षि, और ध्रुव तक सातवाँ (स्कन्ध) है ।" (स्व० १०।५१२) तथा—

'पृथिवी से लेकर मेघ तक जो प्रथम स्कन्ध (है उसका नाम) आवह है । मेघ से लेकर सूर्य तक का द्वितीय स्कन्ध प्रवह है । सूर्य से लेकर चन्द्र तक जो कहा गया है वह (तृतीय स्कन्ध) उद्वह है । सोम से लेकर नक्षत्रमण्डल तक चतुर्थमार्ग संवह है । नक्षत्रमण्डल से लेकर ग्रहों तक विवह है और ग्रहमण्डल से ऊपर सप्तऋषि तक जो छठां (स्कन्ध) है वह परावह है । सप्तर्षि से ऊपर ध्रुव तक सातवाँ वातस्कन्ध परिवह है । (पुरा०) ॥ १४७ ॥

यहाँ किनका निवास है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यज्ञ होम आदि करके ज्ञानरहित लोग यहाँ से स्वर्ग को जाते हैं । उस (स्वर्ग) का क्षय होने पर पुण्य के शेष होने के कारण पुनः मनुष्यलोक में लौट आते हैं ॥ १४८ ॥

एवं भूमेर्ध्रुवान्तं स्याल्लक्षाणि दश पञ्च च ।
द्वे कोटी पञ्च चाशीतिर्लक्षाणि स्वर्गतो महान् ॥ १४९ ॥
मार्कण्डाद्या ऋषिमुनिसिद्धास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
निवर्तिताधिकाराश्च देवा महति संस्थिताः ॥ १५० ॥
महान्तराले तत्रान्ये त्वधिकारभुजो जनाः ।
अष्टौ कोट्यो महल्लोकाज्जनोऽत्र कपिलादयः॥ १५१ ॥
तिष्ठन्ति साध्यास्तत्रैव बहवः सुखभागिनः ।
जनात्तपोर्ककोट्योऽत्र सनकाद्या महाधियः ॥ १५२ ॥
प्रजापतीनां तत्राधिकारो ब्रह्मात्मजन्मनाम् ।
ब्रह्मालयस्तु तपसः सत्यः षोडश कोटयः ॥ १५३ ॥
तत्र स्थितः स स्वयम्भूर्विश्वमाविष्करोत्यदः ।
सत्ये वेदास्तथा चान्ये कर्मध्यानेन भाविताः ॥ १५४ ॥
आनन्दनिष्ठास्तत्रोर्ध्वे कोटिर्वैरिञ्चमासनम् ।
ब्रह्मासनात्कोटियुग्मं पुरं विष्णोर्निरूपितम् ॥ १५५ ॥
ध्यानपूजाजपैर्विष्णोर्भक्ता गच्छन्ति तत्पदम् ।
वैष्णवात्सप्तकोटीभिर्भुवनं परमेशितुः ॥ १५६ ॥
रुद्रस्य सृष्टिसंहारकर्तुर्ब्रह्माण्डवर्त्मनि ।

इसका संक्षेप करते हुए अन्य (विषय) का प्रारम्भ करते हैं—

इस प्रकार भूमि से लेकर ध्रुव पर्यन्त १५ लाख योजन विस्तार का अन्तराल है । स्वर्ग से आरम्भ कर दो करोड़ पचासी लाख योजन महर्लोक की दूरी है । वहाँ मार्कण्डेय आदि ऋषि मुनि और सिद्ध प्रतिष्ठित हैं । जिनका अधिकार समाप्त हो गया है वे देवता (भी) महर्लोक में स्थित हैं । उस महअन्तराल में दूसरे आधिकारभोगी लोग रहते हैं । महर्लोक से आठ करोड़ (योजन दूर) जनलोक है । यहाँ कपिल आदि रहते हैं और वहीं पर बहुत से सुखी साध्य (= विशेष प्रकार के देवता) लोग रहते हैं । जन लोक से तपो लोक १२ क़रोड़ (योजन दूर) है। यहाँ महाबुद्धिमान् सनक आदि रहते हैं । वहाँ ब्रह्मपुत्र प्रजापतियों का अधिकार है । तपोलोक से सोलह करोड़ योजन दूर ब्रह्मा का आलयभूत सत्यलोक है । वहाँ वह स्वयम्भू रहते हैं । ये विश्व की सृष्टि करते हैं । सत्यलोक में वेद रहते हैं । तथा कर्मध्यान से भावित आनन्दपूर्ण दूसरे लोग (भी रहते) हैं । वहाँ से एक करोड़ योजन ऊपर ब्रह्मा का आसन (= भुवन) है। ब्रह्मासन से दो करोड़ योजन ऊपर विष्णु का पुर कहा गया है । ध्यान, पूजा जप (आदि) के द्वारा विष्णु की भक्ति करने वाले उस पद को प्राप्त होते हैं ।

तत्र भुवर्लोको लक्षेण, ततः सोमस्ततोऽपि नक्षत्रमण्डलम्—इति त्रीणि लक्षाणि । ततो भौमात्सौरान्तं प्रत्येकं लक्षद्वयेन दश, ततः सप्तर्षयो लक्षेण, ततो ध्रुवः—इति पञ्चदश भूमेर्ध्रुवान्तं भवेत् । 'स्वर्गतः' इति स्वर्लोकादारभ्येत्यर्थः । 'देवाः' इति तत्तल्लोकवासिनः सङ्क्रन्दनाद्याः,

> 'ये निवृत्ताधिकारास्तु लोकत्रयनिवासिनः ।
> सङ्क्रन्दनादयस्तेषां महल्लोके लयः स्मृतः ॥'

यदभिप्रायेणैव पूर्वं

> 'कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु क्रीडन्ति महदाह्वये ।'

इत्याद्युक्तम् । 'अन्ये' इति तत्तद्यज्ञानुष्ठातारः कपिलादय इति । तदुक्तम्—

> 'एकपादोऽथ जह्नुश्च कपिलश्चासुरिस्तथा ।
> भौतिको वाड्वलिश्चैव जनलोकनिवासिनः ॥'

(स्व० १०।५०८) इति ।

तथा

> 'साध्या नाम सुरास्तस्मिन्वसन्ति सुखिनः सदा।' इति ।

वैष्णव लोक से सात करोड़ (योजन ऊपर) ब्रह्माण्ड वर्त्म में सृष्टि का संहार करने वाले परमेश्वर रुद्र का भुवन है ॥ १४९-१५७- ॥

उनमें भुवःलोक एक लाख, उसके बाद चन्द्रलोक उसके बाद नक्षत्र मण्डल, इस प्रकार तीन लाख योजन । इसके बाद भूलोक से सूर्यलोक तक प्रत्येक के दो लाख (योजन) होने से दश (लाख योजन) । उसके बाद सप्तर्षि एक लाख, उसके बाद ध्रुव । इस प्रकार भूलोक से लेकर ध्रुवलोक तक १५ लाख योजन विस्तार होता है । स्वर्गतः = स्वर्गलोक से आरम्भ करके । देवतायें = उन-उन लोकों में रहने वाले संक्रन्दन आदि ।

"जिनका अधिकार समाप्त हो गया है ऐसे तीनों लोक में रहने वाले जो संक्रन्दन आदि, उनका महःलोक में लय कहा गया है ।"

इसी अभिप्राय से पहले ही—

"कूष्माण्ड हाटक आदि महद् नामक (लोक) में क्रीड़ा करते हैं ।"

इत्यादि कहा गया । अन्य लोग = भिन्न-भिन्न यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले कपिल आदि। वही कहा गया—

"एकपाद, जह्नु, कपिल, आसुरि, भौतिक और वाड्वलि जनलोक के निवासी हैं ।" (स्व० १०।५०८) तथा—

"उसमें सदैव साध्य नाम वाले देवता सुखपूर्वक रहते हैं ।"

अर्ककोट्यो द्वादश । ब्रह्मात्मजन्मनामित्यर्थान्मानसानाम् । तदुक्तम्—

'सनकश्च सनन्दश्च सनत्कुमारः सनन्दनः ।
शङ्कुश्चैव त्रिशङ्कुश्च तपोलोकनिवासिनः ॥'

(स्व० १०।५२०) इति तथा

'प्रजानां पतयस्तत्र मानसा ब्रह्मण.........।' इति ।

'आविष्करोति' इति सृजति—इत्यर्थः । 'अन्ये' इति शिक्षाकल्पादयः । 'आसनम्' इति आस्यतेऽस्मिन्निति भुवनम् । तदुक्तम्—

'कर्मज्ञानेन संसिद्धा अद्वैतपरिनिष्ठिताः ।
आनन्दपदसंप्राप्ता आनन्दपदमागताः ॥
ऋग्वेदो मूर्तिमांस्तस्मिन्निन्द्रनीलसमद्युतिः ।'

(स्व० १०।५२५) इति ।

'उत्तरेण यजुर्वेदः शुद्धस्फटिकसन्निभः ।'

(स्व० १०।५२६) इति ।

'स्थितः पश्चिमदिग्भागे सामवेदः सनातनः ।'

(स्व० १०।५२७) इति ।

'अथर्वाञ्जनवच्छ्यामः स्थितो दक्षिणतस्तथा।'

(स्व० १०।५२९) इति ।

'षडङ्गानीतिहासाश्च पुराणान्यखिलानि तु ।

अर्ककोटि = बारह (करोड़) । ब्रह्मात्मजन्मा के = (ब्रह्मा के) मानस पुत्रों के । वही कहा गया है—

"सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, सनातन, शङ्कु और त्रिशङ्कु ये तपोलोक में रहने वाले हैं । (स्व० १०।५२०) तथा

"ब्रह्मा के मानस पुत्र प्रजाओं के पतिगण............. ।"

आविष्कार करते हैं = सृष्टि करते हैं । अन्य = शिक्षा कल्प आदि । आसन = जिसमें बैठा जाए = भुवन । वही कहा गया है—

"कर्म ज्ञान के द्वारा सिद्ध, अद्वैत के विषय में परिपक्व, आनन्द पद को प्राप्त आनन्द पद में आते हैं । उसमें (= सत्यलोक में) इन्द्रनील के समान कान्तिवाला मूर्तिमान् ऋग्वेद रहता है ।" (स्व० १०।५२५)

'उत्तर की ओर शुद्ध स्फटिक के समान यजुर्वेद रहता है ।'(स्व० १०।५२६)

"पश्चिम दिशा में सनातन सामवेद स्थित है ।" (स्व० १०।५२७)

"अञ्जन के समान काला अथर्ववेद (सत्यलोक के) दक्षिण में स्थित है ।" (स्व० १०।५२९)

वेदोपनिषदश्चैव मीमांसारण्यकं तथा ॥
स्वाहाकारवषट्कारौ रहस्यानि तथैव च ।
गायत्री च स्थिता यत्र यत्र देवश्चतुर्मुखः ॥'
(स्व० १०।५३०) इति

'कोटियोजनमानेन सत्यलोकोर्ध्वतः प्रिये ।
ब्रह्मासनमिति ख्यातम्...................... ॥'
(स्व० १०।५३३) इति च ।

'तत्पदम्' इति विष्णुपदम् । वैष्णवादिति, तदूर्ध्वम्—इत्यर्थः ॥ १५६ ॥

केषां चात्र निवासः ?—इत्याह—

दीक्षाज्ञानविहीना ये लिङ्गाराधनतत्पराः ॥ १५७ ॥
ते यान्त्यण्डान्तरे रौद्रं पुरं नाधः कदाचन ।

लिङ्गाराधनतत्परा इति, शिवधर्मोत्तरादिप्रक्रियया ॥ १५७ ॥

ननु यद्येवं तत्किमेते तत्रैवासते किमुत ततोऽप्यूर्ध्वं यान्ति ?—इत्याशङ्क्याह—

तत्स्थाः सर्वे शिवं यान्ति रुद्राः श्रीकण्ठदीक्षिताः ॥ १५८ ॥
अधिकारक्षये साकं रुद्रकन्यागणेन ते ।

"वेद के छ अङ्ग, समस्त इतिहास पुराण, वेद और उपनिषद, मीमांसा और आरण्यक, स्वाहा और वषट्, रहस्यविद्या और गायत्री वहीं स्थित है जहाँ ब्रह्मा स्थित हैं ।" (स्व० १०।५३०-३१)

"हे प्रिये ! सत्य लोक से एक करोड़ योजन ऊपर ब्रह्मा का आसन कहा गया है ।" (स्व० १०।५३३)

तत्पद = विष्णुपद । वैष्णव से = उसके ऊपर ॥ १४९-१५६ ॥

यहाँ किन लोगों का निवास है ?—यह कहते हैं—

जो लोग दीक्षा और ज्ञान से रहित हैं तथा लिङ्ग की आराधना में लगे हुए हैं वे दूसरे अण्ड में अर्थात् रुद्रपुर को जाते हैं; कभी भी नीचे नहीं ॥ -१५७-१५८- ॥

लिङ्गाराधन में तत्पर—शिवधर्मोत्तर आदि की रीति से ॥ १५७ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो ये लोग क्यों वहीं रहते हैं उससे ऊपर क्यों नहीं जाते यह शङ्का कर कहते हैं—

उसमें रहने वाले वे सभी रुद्र अधिकार की समाप्ति होने पर रुद्रकन्यागण के साथ, श्रीकण्ठ के द्वारा दीक्षित होकर शिवैक्य को प्राप्त

शिवमिति परम्, 'यान्ति' इति तदैकात्म्यापत्त्या मुच्यन्ते—इत्यर्थः ॥

नन्वेवं माहात्म्यवत्किमेतदेव भुवनमस्ति उत, भुवनान्तराण्यपि ?—इत्याह—

पुरं पुरं च रुद्रोर्ध्वमुत्तरोत्तरवृद्धितः ॥ १५९ ॥

तदाह—

ब्रह्माण्डाधश्च रुद्रोर्ध्वं दण्डपाणेः पुरं स च ।
शिवेच्छया दृणात्यण्डं मोक्षमार्गं करोति च ॥ १६० ॥
सर्वरुद्रौ भीमभवावुग्रो देवो महानथ ।
ईशान इति भूर्लोकात् सप्त लोकेश्वराः शिवाः ॥ १६१ ॥

'ब्रह्माण्ड' इति तत्कर्परिकाधः—इत्यर्थः । 'दृणाति' इति खण्डयति विगतावरणं करोति—इत्यर्थः । 'देवो महान्' इति महादेवः । भूर्लोकादित्यारभ्य, तेन भूर्लोके शर्वोऽधिपतिर्यावत्सत्यलोके ईशानः, इति—क्रमः । पशुपतिस्तु रुद्रलोकेऽधिपतिरित्यर्थसिद्धम् ॥ १६१ ॥

अत्र च लोकानां परापरत्वमप्यस्तीत्याह—

हो जाते हैं ॥ -१५८-१५९- ॥

शिव को = परम (शिव) को । जाते हैं—उनके साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं ॥ १५८ ॥

प्रश्न—महात्म्य वाला क्या यही भुवन है या दूसरे भुवन भी हैं ? यह कहते हैं—

रुद्र (पुर) के ऊपर उत्तरोत्तर वृद्धि के क्रम से कई पुर (= भुवन) हैं ॥ -१५९ ॥

वह कहते हैं—

ब्रह्माण्ड के नीचे रुद्र के ऊपर दण्डपाणि का भुवन है और वह (= दण्डपाणि) शिव की इच्छा के द्वारा अण्ड का भेदन करते हैं और मोक्ष का मार्ग बनाते हैं । शर्व, रुद्र, भीम, भव, उग्र, महादेव और ईशान ये सात शिव भूलोक से प्रारम्भ करके ऊर्ध्व लोकों के शिव हैं ॥ १६०-१६१ ॥

ब्रह्माण्ड—उस कड़ाही के नीचे । दृणाति = खण्डन करते हैं अर्थात् आवरणरहित करते हैं । देव महान् = महादेव । भूर्लोक से = भूर्लोक से लेकर । इस प्रकार भूर्लोक में शर्व अधिपति है जबकि सत्य लोक में ईशान-यही क्रम है । पशुपति रुद्रलोक में अधिपति हैं—यह अर्थात् सिद्ध है ॥ १६०-१६१ ॥

यहाँ लोकों में परापर स्तर भी हैं—यह कहते हैं—

स्थूलैर्विशेषैरारब्धाः सप्त लोकाः परे पुनः ।
सूक्ष्मैरिति गुरुश्चैव रुरौ सम्यङ्न्यरूपयत् ॥ १६२ ॥

विशेषैरिति भूतैः, सूक्ष्मैरिति अविशेषैस्तन्मात्रैः । तदाहुः—

'तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः ।
एते स्मृता विशेषा............................... ॥' (सां०का० ३८)

किमत्र प्रमाणम्—इत्याशङ्क्योक्तम्—'इति गुरुश्चैव रुरौ सम्यङ्न्यरूपयत्' इति ॥ १६२ ॥

तदाह—

ये ब्रह्मणादिसर्गे स्वशरीरान्निर्मिताः प्रभूताख्याः ।
स्थूलाः पञ्च विशेषाः सप्तामी तन्मया लोकाः ॥ १६३ ॥
परतो लिङ्गाधारैः सूक्ष्मैस्तन्मात्रजैर्महाभूतैः ।
लोकानामावरणैर्विष्टभ्य परस्परेण गन्धाद्यैः ॥ १६४ ॥

लिङ्गाधारैः शरीराश्रयैः; अत एव लोकावरणे कारणभूतैः—इत्यर्थः । 'विष्टभ्य परस्परेण' इति सामान्यविशेषरूपतया परस्परावष्टम्भेन अवस्थितैः—

(पञ्च) स्थूल (महाभूतों) से सात लोकों की रचना हुई है और दूसरे (लोक) सूक्ष्म (सामान्यों) के द्वारा रचित हुये हैं—ऐसा रुरुशास्त्र में (मेरे) गुरु ने अच्छी तरह वर्णन किया है ॥ १६२ ॥

विशेषों के द्वारा = भूतों के द्वारा । सूक्ष्मों के द्वारा = सामान्य तन्मात्राओं के द्वारा । वही कहते हैं—

"तन्मात्रायें सामान्य हैं उन पाँच (तन्मात्राओं) से पाँच भूत (उत्पन्न हुये) हैं । ये विशेष कहे गए हैं..." (सां०का० ३८)

इस विषय में क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहा गया—'गुरु ने रुरुशास्त्र में सम्यक् निरूपित किया है' ॥ १६२ ॥

वही कहते हैं—

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के द्वारा अपने शरीर से निर्मित जो प्रभूत नामक प्रतीक उत्पन्न हुए उनमें पाँच विशेष (= पञ्चीकृत स्थूल भूत बने) ये सात लोक उन्हीं (विशेषों) से बनाये गए हैं । उसके बाद (वाले लोक), शरीर के आधार भूत, सूक्ष्म, तन्मात्राओं से उत्पन्न, लोकों का आवरण करने वाले, गन्ध आदि के द्वारा परस्पर आश्रित होकर (स्थित सामान्य और विशेषों के द्वारा बनाये गए हैं) ॥ १६३-१६४ ॥

लिङ्गाधार = शरीर के आश्रयभूत । इसीलिए लोकों के आवरण के विषय में

इत्यर्थः ॥ १६४ ॥

एतदेव सङ्कलयति—

कालाग्नेर्दण्डपाण्यन्तमष्टानवतिकोटयः ।
अत ऊर्ध्वं कटाहोऽण्डे स घनः कोटियोजनम् ॥ १६५ ॥
पञ्चाशत्कोटयश्चोर्ध्वं भूपृष्ठादधरं तथा ।

तत्र अधस्ताद् भूकटाहान्तं पञ्चाशत्कोटयः सङ्कलिताः, ऊर्ध्वं तु भूपृष्ठाद् ध्रुवान्तं पञ्चदश लक्षाणि, महान् सपञ्चाशीतिलक्षे द्वे कोटी, जनोऽष्टौ, तपो द्वादश, सत्यः षोडश, ब्राह्मं भुवनमेकम्, वैष्णवं द्वे, रौद्रं सप्त, कटाह एकः,—इत्येवं पञ्चाशत्कोटयः ॥ १६५ ॥

एतदेव उपसंहरति—

एवं कोटिशतं भूः स्यात् सौवर्णस्तण्डुलस्ततः ॥ १६६ ॥
शतरुद्रावधिर्हुंफट् भेदयेत्तत्तु दुःशमम् ।

तण्डुल इति वर्तुलाकारत्वात् स एव—इत्यर्थः । 'ततः' इति विस्तीर्णः; अत एव शतरुद्रावधिः—इत्युक्तम् । दुःशममिति, वज्रसाराधिकसारत्वात् देवैरपि दुर्भेद्यमित्यर्थः । तदुक्तम्—

कारणभूत । परस्पर विष्टब्ध होकर = सामान्य एवं विशेष रूप में परस्पर आश्रित होकर स्थित (तत्त्वों) के द्वारा ॥ १६३-१६४ ॥

इसी का संग्रह करते हैं—

कालाग्नि से लेकर दण्डपाणि तक ९८ करोड़ (योजन विस्तार) है । इसके ऊपर अण्ड में कटाह है वह एक करोड़ योजन विस्तार वाला है । भूपृष्ठ से ऊपर और नीचे ५० करोड़ (योजन) है ॥ १६५-१६६- ॥

नीचे से लेकर भूकटाह के अन्त तक ५० करोड़ गिने गए हैं । भूपृष्ठ से ऊपर ध्रुव तक १५ लाख, महःलोक २ करोड़ पच्चासी लाख, जनलोक ८ करोड़, तप लोक १२, सत्य लोक १६, ब्रह्मभुवन एक कोटि, वैष्णव दो, रौद्र सात और कटाह एक, इस प्रकार (ये भुवन) ५० करोड़ हैं ॥ १६५ ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार एक सौ करोड़ (योजन) पृथ्वी है । उसके बाद सुवर्णमय वर्तुलाकार शतरुद्रावधि विस्तृत (सौवर्ण परिमण्डल) है । हुं फट् के द्वारा इसका भेदन करना चाहिए । यह अत्यन्त दुर्भेद्य है ॥ -१६६-१६७- ॥

तण्डुल—गोल होने के कारण वही है । ततः = विस्तीर्ण है । इसलिए शतरुद्रावधि ऐसा कहा गया । दुःशमम्—वज्र से भी अधिक कठोर होने के कारण

'एवं कोटिशतं ज्ञेयं पार्थिवं तत्त्वमुच्यते ।
शतरुद्रावधि ज्ञेयं सौवर्णं परिवर्तुलम् ॥
वज्रसाराधिकसारं दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
हुंफट्कारप्रयोगेण भेदयेत्तु वरानने ॥'

(स्व० १०।६२१) इति ॥ १६६ ॥

ननु शतरुद्राः कुत्रावस्थिता—यदवधिकत्वमपि अस्योच्यते—इत्याशङ्क्याह—

प्रतिदिक्कं दश दशेत्येवं रुद्रशतं बहिः ॥ १६७ ॥
ब्रह्माण्डाधारकं तच्च स्वप्रभावेण सर्वतः ।

यदुक्तम्—

'दश दश क्रमेणैव दशदिक्षु समन्ततः ।
पूर्वादिक्रमयोगेन कथयाम्यनुपूर्वशः ॥
कपालीशो ह्यजो बुध्नो वज्रदेहः प्रमर्दनः ।
विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिपः ॥'

(स्व० १०।६२३) इति ।

'अग्निरुद्रो हुताशी च पिङ्गलः खादको हरः ।
ज्वलनो दहनो बभ्रुर्भस्मान्तकक्षयान्तकौ ॥'

(स्व० १०।६२५) इति ।

देवताओं के द्वारा भी दुर्भेद्य है । वही कहा गया है—

इस प्रकार ज्ञेय पार्थिव तत्त्व एक सौ करोड़ योजन कहा गया है । इसे सौवर्ण एवं वर्त्तुलाकार शतरुद्रावधि जानना चाहिए । हे वरानने ! वज्र की कठोरता से अधिक कठोर (वह) देवताओं के द्वारा भी दुर्भेद्य है । इसका भेदन हुंफट्कार के प्रयोग से करना चाहिए ॥ १६६ ॥ (स्व०तं० १०।६२१)

प्रश्न—शतरुद्र कहाँ रहते हैं जो इसकी अवधि माना गया है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रत्येक दिशा में दश-दश, इस प्रकार (दशो दिशाओं में) एक सौ रुद्र बाहर की ओर हैं । और वे अपने प्रभाव से सर्वत्र ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले हैं ॥ -१६७-१६८- ॥

जैसा कि कहा गया है—

"दश-दश के क्रम से दशों दिशाओं में चारो ओर (शतरुद्र रहते हैं) । इनको क्रमशः पूर्व आदि के क्रम से कह रहा हूँ । (पूर्वदिग्वर्त्ती इनके नाम) कपालीश, अज, बुध्न, वज्रदेह, प्रमर्दन, विभूति, अव्यय, शास्ता पिनाकी और त्रिदशाधिप हैं ॥" (स्व० १०।६२३)

'याम्यो मृत्युर्हरो धाता विधाता कर्तृसंज्ञकः ।
संयोक्ता च वियोक्ता च धर्मो धर्मपतिस्तथा॥'

(स्व० १०।६२७) इति ।

'नैर्ऋतो दारुणो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः।
ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूम्रो लोहितदंष्ट्रकौ ॥'

(स्व० १०।६२९) इति ।

'बलो ह्यतिबलश्चैव पाशहस्तो महाबलः ।
श्वेतोऽथ जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जनान्तकः ॥
मेघनादी सुनादी च ....।'

(स्व० १०।६३२) इति ।

शीघ्रो लघुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णो भयानकः ।
पञ्चान्तकः पञ्चशिखी कर्पदी मेघवाहनः ॥'

(स्व० १०।६३४) इति ।

'निधीशो रूपवान्**धन्यः सौम्यदेहो** जटाधरः ।
लक्ष्मीरत्नधरौ **कामी प्रसादश्च** प्रभासकः ॥'

(स्व० १०।६३६) इति ।

'विद्याधिपोऽथ **सर्वज्ञो** ज्ञानदृग्वेदपारगः ।
शर्वः सुरेशो ज्येष्ठश्च भूतपालो बलिः प्रियः ॥'

(स्व० १०।६३८) इति ।

"(अग्निकोण में) अग्निरुद्र, हुताशी, पिङ्गल, खादक, हर, ज्वलन, दहन, बभ्रु भस्मान्तक और क्षयान्तक हैं।" (स्व० १०।६२५)

"(दक्षिण में) याम्य, मृत्यु, हर, धाता, विधाता, कर्त्तृसंज्ञक (= कर्त्ता), संयोक्ता, विमोक्ता, धर्मी और धर्मपति।" (स्व० १०।६२७)

"(नैऋत्यकोण में) नैर्ऋत दारुण, हन्ता, क्रूरदृष्टि, भयानक, ऊर्ध्वकेशी, विरूपाक्ष, धूम्र, लोहित और दंष्टक हैं।" (स्व० १०।६२९)

"(पश्चिम में) बली, अतिबल, पाशहस्त, महाबल, श्वेत, जयप्रद, दीर्घबाहु, जनान्तक, मेघनादी और सुनादी हैं।" (स्व० तं० १०।६३२)

"(वायव्यकोण में) शीघ्र, लघु, वायुवेग, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, भयानक, पञ्चान्तक, पञ्चशिखी, कपर्दी, मेघवाहन रहते हैं।" (स्व० तं० १०।६३४)

"(उत्तर में) निधीश, रूपवान्, धन्य, सोम्यदेह, जटाधर, लक्ष्मीधर, रत्नधर, कामी, प्रसाद और प्रभासक का निवास है।" (स्व० तं० १०।६३६)

"(ईशानकोण में) विद्याधिप, सर्वज्ञ, ज्ञानदृक्, वेदपारग, शर्व, सुरेश, ज्येष्ठ, भूतपाल, बलि और प्रिय रहते हैं।" (स्व०तं० १०।६३८)

'वृषो वृषधरोऽनन्तोऽक्रोधनो मारुताशनः ।
ग्रसनो डम्बरेशौ च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रकः ॥'
(स्व० १०।६४०) इति ।

'शम्भुर्विभुर्गणाध्यक्षस्त्र्यक्षस्तु त्रिदशेश्वरः ।
संवाहश्च विवाहश्च नभो लिप्सुस्त्रिलोचनः ॥'
(स्व० १०।६४२) इति ।

'शतरुद्रा इति ख्याता ब्रह्माण्डं व्याप्य संस्थिताः ।'
(स्व० १०।६४४) इति ।

'स्वप्रभावेण' इति स्ववीर्यमाहात्म्याद्—इत्यर्थः ॥

ननु अण्डं नाम किमुच्यते यदपि ब्रह्मसम्बन्धि स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अण्डस्वरूपं गुरुभिश्चोक्तं श्रीरौरवादिषु ॥ १६८ ॥

तद्ग्रन्थमेव पठति—

व्यक्तेरभिमुखीभूतः प्रच्युतः शक्तिरूपतः ।
आवापवाननिर्भक्तो वस्तुपिण्डोऽण्ड उच्यते ॥ १६९ ॥
तमोलेशानुविद्धस्य कपालं सत्त्वमुत्तरम् ।
रजोऽनुविद्धं निर्मृष्टं सत्त्वमस्याधरं तमः ॥ १७० ॥

"(ऊर्ध्व में) वृष, वृषधर, अनन्त, अक्रोधन, मारुताशन, ग्रसन, डम्बर, ईश. फणीन्द्र और वज्रंदंष्ट्रक रहते हैं ।" (स्व० तं० १०।६४०)

"(अधः में) शम्भु, विभु, गणाध्यक्ष, त्र्यक्ष, त्रिदशेश्वर, संवाह, विवाह, नभ, लिप्सु और त्रिलोचन का वास है । (स्व० तं० १०।६४२)

ये शतरुद्र कहे गए (जो) ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर स्थित हैं । (१०।६४४)

अपने प्रभाव से = अपने पराक्रम की महिमा से—यह अर्थ है ॥

प्रश्न—अण्ड किसे कहते हैं जो कि ब्रह्म से सम्बद्ध है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीरौरव आदि में गुरुओं के द्वारा अण्ड का स्वरूप कहा गया है ॥ -१६८ ॥

उस ग्रन्थ को ही पढ़ रहे हैं—

अभिव्यक्ति की ओर गतिमान् शक्तिरूप से च्युत, भिन्न-भिन्न वस्तुओं के प्रक्षेप वाला, अविभक्त वस्तुपिण्ड अण्ड कहलाता है । तमोलेश से युक्त (इस अण्ड) का ऊर्ध्व कपाल सत्त्वमय है और रजोऽनुविद्ध इस का अधर सत्त्वरहित तमोबहुल है ॥ १६९-१७० ॥

तत्राद्यं श्लोकं विषमत्वात्स्वयमेव व्याचष्टे—

वस्तुपिण्ड इति प्रोक्तं शिवशक्तिसमूहभाक् ।
अण्डः स्यादिति तद्व्यक्तौ संमुखीभाव उच्यते ॥ १७१ ॥
तथापि शिवमग्नानां शक्तीनामण्डता भवेत् ।
तदर्थं वाक्यमपरं ता हि न च्युतशक्तितः ॥ १७२ ॥
तन्वक्षादौ मा प्रसाङ्क्षीदण्डतेति पदान्तरम् ।
तन्वक्षादिषु नैवास्ते कस्याप्यावापनं यतः ॥ १७३ ॥
तन्वक्षसमुदायत्वे कथमेकत्वमित्यतः ।
अनिर्भक्त इति प्रोक्तं साजात्यपरिदर्शकम् ॥ १७४ ॥

अण्डो हि नाम 'वस्तूनां' तन्वक्षादीनां 'पिण्डः' समुदाय उच्यते, तदस्य लक्षणम्—इत्यर्थः । एवमुक्ते हि शिवस्यापि

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं.....................।'

इत्याद्युक्त्या तन्वादिशक्तिसमुदायभाक्त्वात् तत्त्वं प्रसज्यते—इति तस्याण्डस्य व्यक्तौ संमुखीभाव इदंप्रथमतया बहिरवभासो न तु पूर्वमपि—इति 'व्यक्तेरभिमुखीभूतः' इत्यनेनोच्यते येनैवमतिव्याप्तिर्न स्यात्, स हि 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इति न्यायात् सर्वदैवावभासमानः । एवमपि शक्तिमदैकात्म्यभाजः शक्तिसमूहस्या-

---

प्रथम श्लोक के कठिन होने के कारण स्वयं व्याख्या करते हैं—

(यद्यपि) शिवशक्ति के समूह वाली वस्तु पिण्ड कही गयी है । उसका अभिव्यक्ति की ओर झुकना अण्ड कहा जाता है । तथापि शिव के अन्दर निहित शक्तियाँ ही अण्ड होती हैं । इसीलिए दूसरा वाक्य (व्यक्तेरभिमुखीभूत...) है । वे (= शक्तियाँ) शक्तिहीन से (उत्पन्न) नहीं हो सकतीं । शरीर इन्द्रिय आदि अण्ड न माने जाए एतदर्थ दूसरा पद (= आवापन) दिया गया क्योंकि शरीर इन्द्रिय आदि में किसी का भी आवापन नहीं है । शरीर इन्द्रिय आदि के समुदाय में एकत्व कैसे होगा इसलिए साजात्य को बतलाने वाला 'अनिर्भक्त' पद कहा गया ॥ १७१-१७४ ॥

वस्तु = शरीर इन्द्रिय आदि का, पिण्ड = समुदाय, अण्ड कहलाता है । अर्थात् यह इसका लक्षण है । ऐसा कहने पर शिव भी

'इसकी शक्तियाँ ही सम्पूर्ण संसार है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा, तनु आदि शक्तिसमुदाय वाला होने के कारण अण्ड हो जाएगा । इसलिए उस अण्ड की अभिव्यक्ति में संमुखीभाव अर्थात् इदंप्रथम्नया बाहर अवभास न कि पहले भी—यह बात 'व्यक्तेरभिमुखीभूत' इसी से ही कहा जाता है जिससे इस प्रकार अतिव्याप्ति न हो । वह (परमेश्वर) 'यह आत्मा एक

ण्डत्वं प्रसक्तं भवेत् । तासां हि शक्तीनां तत्तदर्थात्मना कादाचित्क एव बहिरभिव्यक्तौ संमुखीभावः, तन्निवृत्त्यर्थं वाक्यान्तरस्योपादानं 'प्रच्युतः शक्तिरूपतः' इति । स हि व्यक्त्यभिमुखीभूतत्वादेव शक्त्यात्मनः सूक्ष्माद्रूपात् 'प्रच्युतः' स्थूलतया व्यक्तेरात्मना बहिः प्रथितः—इत्यर्थः । शक्तीनां तु व्यक्तावभिमुखीभावेऽपि न शक्तिरूपतः प्रच्यावः स्वरूपविप्रलोपप्रसङ्गात् । एवमपि तन्वक्षादावण्डता मा प्रसक्ता भूदिति पदान्तरमुपात्तम् 'आवापवान्' इति । आवापो वस्त्वन्तरप्रक्षेपो विद्यते यस्य स तथा, चतुर्दशविधस्य भूतजातस्य तासु तासु योनिष्वावापनात्; तन्वादौ पुनरेतन्नास्ति अन्याश्रितत्वात्, तथात्वे चान्याश्रयत्वानुपपत्तेः । ननु एवमपि तन्वादीनामानैक्यात् समुदायरूपतया कथमस्यैकत्वेन निर्देशः स्यात्?—इत्युक्तम् 'अनिर्भक्तः' इति । तद्विभागाप्रतिपत्तेरेकत्वानुप्राणकं साजात्यमेव परिदर्शयति येनास्य नगरादिज्ञानवदेकत्वमेव न्याय्यं स्यात् ॥ १७४ ॥

ननु यद्येवं तत्प्रतितत्त्वमण्डत्वं स्यात्—इत्येतद्व्यावर्तनाय वस्तुपिण्डपदस्याप्युपादानम्,—इत्याह—

विनापि वस्तुपिण्डाख्यपदेनैकैकशो भवेत् ।
तत्त्वेष्वण्डस्वभावत्वं नन्वेवमपि किं न तत्॥ १७५ ॥

बार प्रकाशित हुआ तो सदा के लिये हो गया' इस न्याय से सदैव आभासित हो रहा है। इस प्रकार भी शक्तिमान् के साथ एकात्मता वाला शक्तिसमूह अण्ड होने लगेगा। उन शक्तियों का भिन्न-भिन्न रूप में बाह्य अभिव्यक्ति के विषय में कभी-कभी ही संमुखीभाव होता है, उसकी निवृत्ति के लिए दूसरा वाक्य—'शक्तिरूप से च्युत...' कहा गया । वह अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होने के कारण ही शक्त्यात्मक सूक्ष्मरूप से च्युत होकर स्थूलरूप में अभिव्यक्ति के कारण स्वयं बाह्यरूप में प्रकाशित हुआ । शक्तियों के अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होने पर भी उनका शक्तिरूपत्व च्युत नहीं होता क्योंकि तब तो स्वरूप का ही लोप होने लगेगा । ऐसा होने पर भी शरीर इन्द्रिय आदि अण्ड न होने लगें एतदर्थ दूसरा पद आवापवान् कहा गया । आवाप = दूसरी वस्तु का प्रक्षेप जिसमें हो वह, उस प्रकार का, क्योंकि चौदह प्रकार के प्राणिवर्ग का उन-उन योनियों में आवापन होता है । तनु आदि में यह नहीं है क्योंकि वे दूसरे पर आश्रित हैं; वैसा होने पर अन्याश्रयत्व नहीं होगा । प्रश्न—ऐसा होने पर भी तनु आदि के अनेक होने से समुदायरूप होने के कारण कैसे एकरूप में निर्देश होता है ? इसलिए कहा गया—'अनिर्भक्त' । उसके विभाग का ज्ञान न होने से एकत्ववाले साजात्य को दिखला रहे हैं । जिससे इसकी (= अण्ड की) नगर आदि के ज्ञान के समान एकता ही समीचीन है ॥ १७१-१७४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो हर एक तत्त्व अण्ड होने लगेगा इसके निराकरण के लिए वस्तुपिण्ड पद भी दिया गया—यह कहते हैं—

गुणतन्मात्रभूतौघमये तत्त्वे प्रसृज्यते ।
उच्यते वस्तुशब्देन तन्वक्षभुवनात्मकम् ॥ १७६ ॥
रूपमुक्तं यतस्तेन तत्समूहोऽण्ड उच्यते ।

वस्तुशब्देन हि तन्वादिवत् तत्त्वान्यपि उच्यन्ते, तत्तेषामपि पिण्डोऽण्डः—इति तत्कथं स्यात्; एवं तर्हि पृथ्वीतत्त्वस्यापि एककस्याण्डत्वमनभिधानीयम्, अभिधाने वा प्रत्येकमपि तथात्वम्—इति व्यर्थमेव वस्तुपिण्डपदोपादानम् । सत्यम् किन्तु पृथ्वीतत्त्वं स्थौल्यस्य परा कोटिः, इति तत्र तत्त्वान्तराण्यपि अन्तरवस्थितानि प्रत्यक्षमभिलक्ष्यन्ते—इत्येकत्वेऽपि अस्य अनेकतत्त्वमयत्वमिवास्ति इत्युक्तम् । यदाहुः—'ब्रह्माण्डं च पञ्चभूतात्मकम्' इति । एवं तर्हि सर्वत्र सर्वमस्ति—इति पृथ्वीतत्त्वस्यापि तत्त्वान्तरेषु सद्भावः—इति पुनरपि तदवस्थ एव स दोषः । सत्यम्, तथापि पृथ्व्यादीनामूर्ध्वतत्त्वान्तरेषु सूक्ष्मेण रूपेणावस्थितिः, अत्र तु तेषां स्थूलेनेति शेषः । नन्वेवमपि अनेकानि वस्तूनि संभवन्ति—इति वस्तुशब्देन सत्त्वादयः शब्दादयो वा गुणा अपि उच्यन्ते—इति तत्पिण्डात्मनि प्रकृत्यादौ तत्त्वेऽपि अण्डत्वं स्यात्?—इत्याशङ्कां दर्शयति—'नन्वेवमित्यादिना' । गुणेति प्रकृतिः । इदमत्र प्रतिसमाधानं यद् वस्तुशब्दस्य विशेषेण धर्मरूपे प्रतिनियते

'वस्तुपिण्ड' पद के बिना भी तत्त्वों में अलग-अलग अण्डस्वभावता रहेगी । प्रश्न—तो ऐसा होने पर भी गुण (= प्रकृति) तन्मात्र भूतसमूह वाले तत्त्व में भी उस (= वस्तुपिण्ड) की प्राप्ति होगी ? उत्तर देते हैं—चूँकि वस्तु शब्द से तनु अक्ष भुवन वाला रूप कहा गया है । इसलिए उसका समूह अण्ड कहलाता है ॥ १७५-१७७- ॥

वस्तु शब्द से तनु आदि के समान तत्त्वों का भी कथन होता है । इसलिए उनका भी पिण्ड अण्ड होगा—पर यह कैसे होगा ? क्योंकि तब ऐसा होने पर एक-एक पृथ्वी तत्त्व को भी अण्ड नहीं कहना पड़ेगा । और यदि (इनको अण्ड) कह रहे हैं तो प्रत्येक को भी वैसे ही कहना होगा—इस प्रकार वस्तुपिण्ड पद का पाठ ही व्यर्थ है ? (आपका कथन) सत्य है । किन्तु पृथिवीत्व स्थूलता की अन्तिम सीमा है इसलिए उसमें दूसरे तत्त्व भी अन्दर रहते हुये भी प्रत्यक्ष लक्षित होते हैं इस प्रकार एक होते हुए भी यह अनेकमय सदृश हैं—यह कहा गया है । और जो यह कहते हैं कि ब्रह्माण्ड पञ्चभूतात्मक है और इस प्रकार सब कुछ सब जगह है फलतः पृथ्वीतत्त्व की भी दूसरे तत्त्वों में सत्ता है इस प्रकार फिर वह दोष वैसा ही है ? यद्यपि यह कथन सत्य है, तो भी पृथिवी आदि की ऊर्ध्ववर्त्ती अन्य तत्त्वों में सूक्ष्मरूप से स्थिति है और यहाँ (= पृथिवी तत्त्व में) उन (= अन्य तत्त्वों) की स्थूल रूप में स्थिति है । प्रश्न—इस प्रकार भी अनेक वस्तुयें सम्भव हैं—इसलिए वस्तु शब्द से सत्त्व आदि अथवा शब्द आदि गुण भी कहे जाएंगे इस प्रकार उनके पिण्डरूप प्रकृति आदि तत्त्व भी अण्ड होने लगेंगे ? इस आशङ्का को 'नन्वेवम्' इत्यादि के द्वारा दिखलाते हैं । गुण = प्रकृति । यहाँ यह समाधान है

तन्वादावेव वाचकत्वमत्र विवक्षितं न तु सामान्येन—इति तत्समुदाय एव न तु सत्त्वादिसमुदायोऽपि अण्ड उच्यते इति ॥ १७६ ॥

अत्र च यथासंभवमाशङ्का निराकृतैव—इत्याह—

भवेच्च तत्समूहत्वं पत्युर्विश्ववपुर्भृत: ॥ १७७ ॥
तदर्थं भेदकान्यन्यान्युपात्तानीति दर्शितम् ।

पत्युश्च तत्समूहत्वसद्भावे विश्ववपुर्धारित्वं हेतु: । 'भेदकानि' इति, व्यावर्तकानि ॥ १७७ ॥

अन्ये पुनरेतदन्यथा व्याचख्यु:—इत्याह—

तावन्मात्रास्ववस्थासु मायाधीनेऽध्वमण्डले ॥ १७८ ॥
मा भूदण्डत्वमित्याहुरन्ये भेदकयोजनम् ।

'तावन्मात्रासु' इति तन्वादिषु । द्वितीयस्तु सुगमत्वात् स्वयं न व्याकृत:—इति व्याख्यायते—तस्य चाण्डस्य तमोलेशानुविद्धस्य यदुत्तरमुपरितनं कपालं तद्रजोऽनुविद्धं सत्त्वम्, गुणान्तरानुवेधेऽपि तत्त्वाख्यगुणशून्यं रजोऽनुविद्धम्, तम:संभेदेऽपि तत्प्रधानमेवेत्यर्थ: । मध्यं तु रज:प्रधानमित्यर्थसिद्धम् । यदाहु:—

कि यहाँ पर वस्तु शब्द का विशेषत: धर्मरूप, निश्चित होने पर तनु आदि ही सामान्यरूप में वाचक माने गए हैं न कि सत्त्व आदि का समुदाय भी ॥ १७६ ॥

इस विषय में यथासम्भव आशङ्का का निराकरण हो ही गया—यह कहते हैं—

वह समूहता विश्वशरीरधारी विश्वपति की है । इसी के लिए दूसरे विशेषण दिये गये हैं—यह दिखलाया गया ॥ -१७७-१७८- ॥

पति के उस समूहरूप होने में विश्ववपुधारी होना कारण है । भेदक = व्यावर्त्तक ॥ १७७ ॥

दूसरे लोग इसकी दूसरी प्रकार से व्याख्या करते हैं—यह कहते हैं—

उन अवस्थाओं में मायाधीन अध्वमण्डल में अण्डत्व न हों—इसलिए भेदक कहे गये—ऐसा दूसरे कहते हैं ॥ -१७८-१७९- ॥

तावन्मात्र में = तनु आदि में । दूसरे (श्लोकार्द्ध) की सुगम होने से स्वयं व्याख्या नहीं की गई—इसलिए व्याख्या की जाती है—तमोलेश से युक्त इस अण्ड का जो ऊपरी कपाल है वह रजोऽनुविद्ध सत्त्व है । दूसरे गुणों से अनुविद्ध होने पर भी वह (= सत्त्व) (वहाँ) प्रधान है । नीचे वाला कपाल 'निर्मृष्ट सत्त्व' = सत्त्वगुणों से शून्य रजोऽनुविद्ध है, अर्थात् तम: से युक्त होने पर भी उस (= रज:) की प्रधानता है । मध्य (भाग) तो रज:प्रधान है—यह अर्थात् सिद्ध है । जैसा कि कहते हैं—

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥'
(सां० ५५ का०) इति ॥ १७८ ॥

एवं प्रकरणादण्डस्वरूपं व्याख्याय प्रकृतमेवानुसरति—

इत्थमुक्तविरिञ्चाण्डभृतो रुद्राः शतं हि यत् ॥ १७९ ॥
तेषां स्वे पतयो रुद्रा एकादश महार्चिषः ।

एकादशेति, प्रतिदिशमेकः सर्वेषां चैकः, इति । तदुक्तम्—

'स्थितो वै पूर्वतोऽण्डस्य श्वेतः.........।' (स्व०१०।६४६) इति ।
'आग्नेय्यामग्निसङ्काशो वैद्युतः...........।' (स्व०१०।६४८) इति ।
'याम्येऽण्डस्य महाकालः ....।' (स्व०१०।६४९) इति ।
'नैर्ऋते बिकटो नाम.....................।' (स्व०१०।६५०) इति ।
'पश्चिमेऽण्डस्य यो रुद्रो महावीर्य इति स्मृतः ।'
(स्व०१०।६५१) इति ।
'वायव्यां दिशि चाण्डस्य वायुवेगः...... ।' (स्व०१०।६५२) इति ।
'सुभद्रनामोत्तरतः...........................।' (स्व०१०।६५३) इति ।
'विद्याधरो नाम रुद्र ऐशान्याम्.........।' (स्व० १०।६५४) इति ।

ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त यह ब्रह्माण्ड "ऊर्ध्व भाग सत्त्वप्रधान, मूल सर्ग तमःप्रधान और मध्य में रजोविशाल है । (सां०का० ५५) ॥ १७८ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गवश अण्ड के स्वरूप की व्याख्या कर प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

इस प्रकार उक्त ब्रह्माण्ड के जो सौ रुद्र हैं उनके अपने स्वामी महातेजस्वी ग्यारह रुद्र हैं ॥ -१७९-१८०- ॥

ग्यारह—प्रति दिशा में एक और सब का एक । वही कहा गया है—

"अण्ड के पूर्व में श्वेत (रुद्र) स्थित हैं..." (स्व०तं० १०।६४६)
"अग्नि दिशा में अग्नि के समान वैद्युत..." (स्व०तं० १०।६४८)
"अण्ड के दक्षिण में महा काल..." (स्व०तं० १०।६४९)
"नैर्ऋत में विकट..." (स्व०तं० १०।६५०)
"अण्ड के पश्चिम में जो रुद्र हैं वे महावीर्य हैं ।" (स्व०तं० १०।६५१)
"अण्ड की वायव्य दिशा वायुवेग..." (स्व०तं० १०।६५२)
"उत्तर में सुभद्र..." (स्व०तं० १०।६५३)
"ईशान में विद्याधर..." (स्व०तं० १०।६५४)

'अधः कालाग्निरुद्रोऽन्यः..............।' (स्व० १०।६५६) इति ।
'एतैः समावृतो रुद्रो...................।' (स्व० १०।६५७) इति ।
'वीरभद्रो वृतो रुद्रैरुपर्यण्डस्य संस्थितः ।'
'एकादशो महाकायैः..............।' (स्व० १०।६५८) इति च ।

श्रीपूर्वशास्त्रे पुनरियान्विशेषो यत् तत्रैषां प्रतिदशकं तन्मध्यादेव एक एकः पतिः, इति । वीरभद्रस्तु उभयथाप्यविशिष्टः ॥ १७९ ॥

तदाह—

अनन्तोऽथ कपाल्यग्निर्यमनैर्ऋतकौ बलः ॥ १८० ॥
शीघ्रो निधीशो विद्येशः शम्भुः सवीरभद्रकः ।

श्रीवीरभद्रस्य सत्त्वं सर्वाधिपत्यात् । तदुक्तं तत्र—

'अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथा परः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥
शीघ्रो निधीश्वरश्चैव सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शम्भुश्च वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभाः ॥'
(मा० वि० ५।१४) इति ॥ १८० ॥

कथं चैषामत्रावस्थानम्?—इत्याह—

मधु मधुकृतः कदम्बं केसरजालानि यद्वदावृणुते ॥ १८१ ॥
तद्वत्ते शिवरुद्रा ब्रह्माण्डमसंख्यपरिवाराः ।

"नीचे अन्य कालाग्निरुद्र हैं..." (स्व०तं० १०।६५६)

"इनसे घिरे हुए रुद्र..." (स्व०तं० १०।६५७)

"अण्ड के ऊपर भीमकाय रुद्रों से आवृत वीरभद्र नामक ग्यारहवें रुद्र स्थित हैं ।" (स्व०तं० १०।६५८)

श्रीपूर्वशास्त्र में इतना विशेष है कि वहाँ इनमें से दश-दश के ऊपर उन्हीं में से एक-एक पति हो जाता है । वीरभद्र तो दोनों रूपों में एक है ॥ १७९ ॥

अनन्त, कपालीश, अग्नि, यम, नैर्ऋतक, बल, शीघ्र, निधीश, विद्येश, शम्भु और वीरभद्रक ॥ -१८०-१८१- ॥

वीरभद्र की सत्ता सब के अधिपति होने से है । वही वहाँ कहा है—

"उनमें अनन्त प्रथम है, कपालीश दूसरा, अग्निरुद्र, यम, नैर्ऋत, बल, शीघ्र निधीश्वर, सर्वविद्याधिप शम्भु, वीरभद्र ये सब निर्धूम अग्नि के समान कान्ति वाले हैं ॥ १८० ॥ (मा०वि० ५।१४)

यहाँ इनकी स्थिति कैसी है—यह कहते हैं—

शराष्टनियुतं कोटिरित्येषां सन्निवेशनम् ॥ १८२ ॥
श्रीकण्ठाधिष्ठितास्ते च सृजन्ति संहरन्ति च ।
ईश्वरत्वं दिविषदामिति रौरववार्तिके ॥ १८३ ॥

तदुक्तम्—

'आवृत्याण्डं स्थिता ह्येते मधु यद्वन्मधुव्रताः ।
कदम्बकुसुमं यद्वत्केसरैः परिवारितम् ॥' इति ।

'शराः' पञ्च, 'नियुतम्' दश लक्षाणि । तेन पञ्चाशीतिः सहस्राणि दश लक्षाणि कोटिश्चैका तद्भुवनानां प्रत्येकं प्रमाणमिति । अत्र च किं प्रमाणम्—इत्युक्तम् 'इति रौरववार्तिके' इति । तदुक्तं तत्र—

'पञ्चाशीतिर्योजनानां नियुतानां तथा परा ।
कोटिश्च तन्निवेशस्य विस्तारः परिकीर्तितः ॥' इति ।
'श्रीकण्ठाधिष्ठितास्ते च देवानां मनसेप्सितम् ।
ऐश्वर्यं संप्रयच्छन्ति हरन्ति च महौजसः ॥' इति च ॥ १८३ ॥

अत्र चेयानन्यत्र विशेषः—इत्याह—

सिद्धातन्त्रे तु हेमाण्डाच्छतकोटेर्बहिः शतम् ।

जिस प्रकार भ्रमर मधु को और केशरजालकदम्ब को आवृत करते हैं उसी प्रकार असंख्य परिवार वाले वे शिवरुद्र ब्रह्माण्ड को (घेरे रहते हैं) । इनका सन्निवेश (= प्रतिभुवन का परिमाण) एक करोड़ दशलाख पच्चासी (हजार) है । श्रीकण्ठ से अधिष्ठित होकर वे सृष्टि और संहार करते हैं । वे देवताओं के ईश्वर हैं—ऐसा रौरववार्त्तिक में (कहा गया है) ॥१८१-१८३॥

वही कहा गया है—

"जिस प्रकार भ्रमर मधु को घेर कर स्थित रहते हैं अथवा कदम्बकुसुम केशरजाल से घिरा होता है उसी प्रकार ये ब्रह्माण्ड को घेर कर स्थित हैं ।"

शर = पाँच, नियुत = दशलाख । इससे पच्चासी हजार दश लाख और एक करोड़—यह प्रत्येक भुवन का परिमाण है । इसमें क्या प्रमाण है ? इसलिए कहा गया—रौरववार्त्तिक में । वही वहाँ कहा गया है—

"उसके निवेश का विस्तार एक करोड़ दशलाख पच्चासी हजार कहा गया है ।"

श्रीकण्ठ के द्वारा अनुशासित वे महातेजस्वी (रुद्र) देवताओं को यथेष्ट ऐश्वर्य देते हैं और लेते हैं ॥ १८३ ॥

इस विषय में दूसरी जगह यह विशेष है—यह कहते हैं—

अण्डानां क्रमशो द्विद्विगुणं रूप्यादियोजितम् ॥ १८४ ॥
तेषु क्रमेण ब्रह्माणः संस्युर्द्विगुणजीविताः ।
क्षीयन्ते क्रमशस्ते च तदन्ते तत्त्वमम्मयम् ॥ १८५ ॥

शतमिति, संख्योपलक्षणपरमेषामसंख्यत्वात् ।

यदुक्तम्—

'पृथग्द्वयमसंख्यातमेकैकं च पृथग्द्वयम् ।'

(मा०वि० २।५०) इति ।

'द्विद्विगुणम्' इति द्विशतकोटिचतुःशतकोट्यादि । 'रूप्यादि' इत्यादि-शब्दात्ताम्रादियोजितत्वम् । द्विगुणजीविता इत्याद्यब्रह्मापेक्षया । तदुक्तं तत्र—

ऊर्ध्वं कालानलं नाम ब्रह्माण्डं द्विगुणं स्थितम् ।
तावद्यावच्छतं पूर्णमण्डानां ब्रह्मणां तथा ॥
वृद्धिस्तेषु स्मृता देवि द्विगुणा वीरवन्दिते ।
द्विगुणं च भवेदायुः प्रथमात् पद्मजन्मनः ॥
अधुना संप्रवक्ष्यामि अण्डानां नामगोचरम् ।
काञ्चनं कालसंज्ञं च वेतालं च महोदरम् ॥' इत्यादि ।

सिद्धातन्त्र में (कहा गया है कि) सौ करोड़ योजन (विस्तृत) स्वर्णमय (ब्रह्मा) अण्ड से बाहर सौ अण्ड हैं । ये क्रमशः रजत आदि से जुड़े हुये दो-दो गुने (विस्तार वाले) हैं । उनमें क्रमशः दो गुनी आयुवाले ब्रह्मा लोग रहते हैं । वे क्रमशः नष्ट होते रहते हैं । उसके अन्त में जलमय तत्त्व है ॥ १८४-१८५ ॥

शतम्—यह संख्या लाक्षणिक है क्योंकि ये (= ब्रह्माण्ड) असंख्य है ।

जैसा कि कहा गया है—

"दो दो की अलग संख्या वाले असंख्य अण्ड हैं और एक-एक संख्या वाले अलग-अलग हैं ।" (मा०वि० २।५०)

दो-दो गुना = दो सौ करोड़, चार सौ करोड़ इत्यादि । रूप्यादि—आदि शब्द से ताम्र आदि से जड़े हुए । दो गुनी आयु वाले—प्रथम ब्रह्मा की अपेक्षा । वही वहाँ कहा गया है—

"ऊपर कालानल नाम का दोगुने (विस्तार वाला) ब्रह्माण्ड स्थित है । हे देवि ! हे वीरवन्दिते ! जबतक सौ अण्ड और सौ ब्रह्मा पूर्ण नहीं होता तब तक उनमें दो गुनी वृद्धि कही गई है । प्रथम ब्रह्मा से लेकर उत्तरोत्तर ब्रह्माओं की (क्रमशः) दो गुनी आयु कही गई है । अब अण्डों का नाम कह रहा हूँ । काञ्चन, काल, वैताल, महोदर," से लेकर ।

'गह्वरं शततमं विद्धि सर्वेषामुपरि स्थितम् । इत्यन्तम् ।

तथा—

'प्रथमं काञ्चनं प्रोक्तं रौक्मं चैव द्वितीयकम् ।
ताम्रं च लोहजं चैव क्रमादेवं व्यवस्थिताः ॥
महाकल्पे क्षयं यान्ति सदेवाः सपितामहाः ।
अन्तरक्षीयते ह्येकं महाकल्पशते शते॥
तावद्यावत्स्थितं शेषं गह्वरं तु महाण्डकम् ।
महाक्षये क्षयस्तस्य सामान्येनैव लुप्यते ॥' इति ॥ १८५ ॥

एवं तत्त्वान्तराणामपि उत्तरोत्तरवृद्ध्या मानं समस्ति—इत्याह—

धरातोऽत्र जलादि स्यादुत्तरोत्तरतः क्रमात् ।
दशधाहङ्कृतान्तं धीस्तस्याः स्याच्छतधा ततः ॥ १८६ ॥
सहस्रधा व्यक्तमतः पौंस्नं दशसहस्रधा ।
नियतिर्लक्षधा तस्मात्तस्यास्तु दशलक्षधा ॥ १८७ ॥
कलान्तं कोटिधा तस्मान्माया विद्दशकोटिधा ।
ईश्वरः शतकोटिः स्यात्तस्मात्कोटिसहस्रधा ॥ १८८ ॥
सादाख्यं व्यश्नुते तच्च शक्तिर्वृन्देन संख्यया ।
व्यापिनी सर्वमध्वानं व्याप्य देवी व्यवस्थिता ॥ १८९ ॥

"सौवाँ गह्वर (नामक ब्रह्माण्ड) समझो जो सबके ऊपर स्थित है ।" यहाँ तक सौ ब्रह्माण्डों का वर्णन है ।

"पहला (ब्रह्माण्ड) काञ्चन, दूसरा रौक्म कहा गया है । ताम्र, लोह, इसी प्रकार क्रमशः व्यवस्थित हैं । (ये ब्रह्माण्ड) देवताओं और पितामहों के सहित महाकल्प में क्षय को प्राप्त होते हैं । सौ-सौ महाकल्प में एक-एक ब्रह्माण्ड बीच में तब तक क्षीण होता रहता है जब तक गह्वर नामक महा अण्ड शेष बच जाता है। महाक्षय होने पर उसका भी क्षय हो जाता है तब सामान्यतः (सब का) लोप हो जाता है ॥ १८५ ॥

इसी प्रकार दूसरे तत्त्वों का भी उत्तरोत्तर वृद्धिक्रम से परिमाण सम्भव है। यह कहते हैं—

पृथिवी से लेकर जल तत्त्व आदि उत्तरोत्तर क्रम से अहङ्कार तत्त्व तक दशगुना अधिक है । बुद्धि तत्त्व (अहङ्कार से) सौ गुना अधिक है । उससे हजार गुना अधिक प्रकृति है । पुरुष तत्त्व दश हजार गुना अधिक, नियति एक लाख, उससे दश लाख अधिक कला, कला से १ करोड़ गुना माया उससे दश करोड़ गुना विद्या, ईश्वर सौ करोड़ और उसकी अपेक्षा सदाशिव हजार करोड़ गुना व्याप्त हैं । उससे एक वृन्द संख्या बड़ी शक्ति

अप्रमेयं ततः शुद्धं शिवतत्त्वं परं विदुः ।

उत्तरोत्तरत इति, यथा धरातो जलं दशगुणम्, ततोऽपि तेजो यावदन्तेऽहङ्कारः । 'तस्या' इति अहङ्क्रियायाः । 'वित्' इति विद्या । 'व्यश्नुते' व्याप्नोतीत्यर्थः । सर्वमिति, शक्त्यादिधरान्तम् ।

तदुक्तम्—

'अथोपरिष्टात्तत्त्वानि उदकादिशिवान्तकम् ।
उत्तरोत्तरयोगेन दशधा संस्थितानि तु ॥
अहङ्कारस्तदूर्ध्वं तु बुद्धिस्तु शतधा स्थिता ।
ऊर्ध्वं सहस्रधा ज्ञेयं प्रधानं वरवर्णिनि ॥
पौरुषं दशसाहस्रं नियतिर्लक्षधा स्मृता ।
तदूर्ध्वं दश लक्षाणि कला यावत्तु सुव्रते ॥
माया तु कोटिधा व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम् ।
दशकोटिगुणा विद्या मायां व्याप्य व्यवस्थिता ॥
शतकोटिगुणेनैव व्याप्तासावीश्वरेण तु ।
सादाख्यं कोटिसाहस्रं बिन्दुनादं तदूर्ध्वतः ॥
योजनानां तु वृन्दं वै शक्तिर्व्याप्य व्यवस्थिता ।
व्यापिनी सर्वमध्वानं व्याप्य देवी व्यवस्थिता ॥
अप्रमेयं ततो ज्ञेयं शिवतत्त्वं वरानने ।'
(स्व० १।६७३) इति ॥ १८९ ॥

है और व्यापिनी देवी समस्त अध्वाओं को व्याप्त करके स्थित है । उसके बाद परम, शुद्ध शिवतत्त्व अप्रमेय माना गया है ॥ १८६-१९०- ॥

उत्तरोत्तर—जैसे पृथिवी से जल दश गुना अधिक है उससे भी तेज और अन्त में अहङ्कार (दश गुना है) । उससे = अहङ्कार से । वित् = विद्या । व्यश्नुते = व्याप्त है । सबको = शक्ति से लेकर धरातत्त्व तक ।

वही कहा गया है—

"इसके ऊपर जल से लेकर शिवतत्त्व तक के समस्त तत्त्व उत्तरोत्तर क्रम से दश गुना अधिक व्यापक हैं । अहङ्कार और उसके ऊपर बुद्धि सौ गुना अधिक व्यापकरूप में स्थित है । हे वरवर्णिनि ! प्रकृतितत्त्व को हजार गुना अधिक व्यापक समझना चाहिए। पुरुष तत्त्व दश हजार और नियति एक लाख (गुना अधिक) मानी गयी है। हे सुव्रते ! उसके ऊपर एक लाख कला, और माया एक करोड़ गुना सब चराचर को व्याप्त कर स्थित है । माया को व्याप्त करके दश करोड़ गुना विद्या स्थित है । और यह सौ करोड़ गुने ईश्वर के द्वारा व्याप्त है । सदाशिव दश करोड़, उसके ऊपर बिन्दु और नाद । शक्ति वृन्दयोजन व्याप्त करके स्थित

एतच्चान्यत्र न क्वचिदपि दृष्टम्—इत्यतः परं मोक्षस्य न कारणम्—इत्याह—

जलादेः शिवतत्त्वान्तं न दृष्टं केनचिच्छिवात् ॥ १९० ॥
ऋते ततः शिवज्ञानं परमं मोक्षकारणम् ।

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तथा चाह महादेवः श्रीमत्स्वच्छन्दशासने ॥ १९१ ॥

तदेव अर्थद्वारेण पठति—

नान्यथा मोक्षमायाति पशुर्ज्ञानशतैरपि ।
शिवज्ञानं न भवति दीक्षामप्राप्य शाङ्करीम् ॥ १९२ ॥
प्राक्तनी पारमेशी सा पौरुषेयी च सा पुनः।

दीक्षामप्राप्येति, यदुक्तम्—

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे।' (मा०वि० ४।६)

इति । प्राक्तनीति, तत्तज्जन्मान्तरीयाभ्यासबलाद् अनुपायरूपतामाप्तेत्यर्थः ।

है। व्यापिनी देवी समस्त अध्वा को व्याप्त करके स्थित है । हे वरानने ! उसके बाद शिव तत्त्व को अप्रमेय जानना चाहिए'' ॥ १८९ ॥ (स्व०तं० १०।६७३)

यह कहीं अन्यत्र नहीं देखा गया—इसलिए इसके अतिरिक्त मोक्ष का कोई दूसरा कारण नहीं है—यह कहते हैं—

शिव के अतिरिक्त जल से लेकर शिवतत्त्व तक का दर्शन किसी ने नहीं किया है इसलिए शिवज्ञान मोक्ष का परम कारण है ॥ -१९०-१९१- ॥

इसमें क्या प्रमाण है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

यही बात महादेव ने स्वच्छन्द तन्त्र में कही है ॥ -१९१ ॥

वही अर्थ के द्वारा कहते हैं—

अन्यथा सैकड़ों ज्ञान के द्वारा भी पशु मोक्ष को नहीं प्राप्त करता । शैवी दीक्षा को बिना प्राप्त किये शिवज्ञान नहीं होता । पूर्वजन्म की (दीक्षा) परमेश्वर द्वारा प्रदत्त होती है और फिर वह पौरुषेयी भी होती है ॥ १९२-१९३- ॥

दीक्षा को न प्राप्त करके—जैसा कि कहा गया है—

''बिना दीक्षा के शाङ्कर योग में अधिकार नहीं है ।'' (मा०वि० ४।६)

प्राक्तनी = भिन्न-भिन्न जन्मान्तरीय अभ्यास के बल से अनुपायरूपता को

'पारमेशी' इति विद्येश्वरादिवत् साक्षात्परमेश्वरकर्तृका । 'पौरुषेयी' इति शास्त्रक्रमेणाचार्यकर्तृका । तदुक्तं तत्र—

'यत्र दृष्टं पशुज्ञानैः कुपथभ्रान्तदृष्टिभिः ।' (स्व० १०।६७४)

इत्याद्युपक्रम्य

'विना प्रसादादीशस्य ज्ञानमेतन्न लभ्यते ।
न चापि भावो भवति दीक्षामप्राप्य देहिनाम्॥
यदा तु कारणाच्छक्तिर्भवेन्निर्वाणकारिका ।
शिवेच्छया प्रपद्येत दीक्षां ज्ञानमयीं शुभाम् ॥
मन्त्रयोगात्मिकां दिव्यां ततो मोक्षं व्रजेत्पशुः ।
नान्यथा मोक्षमाप्नोति पशुर्ज्ञानशतैरपि ॥
यस्य प्रकाशितं सर्वं शिवेनानन्तरूपिणा ।
स एव मोक्षं व्रजति शिवः साक्षान्महेश्वरः ॥
तेनेदं ज्ञानमुख्यं तु पुरा प्रोक्तं मया तव ।'
(स्व० १०।७०६) इति ॥ १९२ ॥

इदानीमप्तत्त्वे भुवनानि वक्तुमुपक्रमते—

शतरुद्रोर्ध्वतो भद्रकाल्या नीलप्रभं जयम् ॥ १९३ ॥
न यज्ञदानतपसा प्राप्यं काल्याः पुरं जयम्।

प्राप्त । पारमेशी = विद्येश्वर आदि के समान् साक्षात् परमेश्वरविहित । पौरुषेयी = शास्त्र के क्रम से आचार्य द्वारा विहित । वही वहाँ कहा गया है—

"कुपथ के कारण भ्रान्तदृष्टि वाले पशुज्ञान वालों के द्वारा जो दृष्ट नहीं है ।" इत्यादि से प्रारम्भ कर..

"ईश्वर के प्रसाद के बिना यह ज्ञान नहीं होता और दीक्षा को प्राप्त न कर जीवों के मन में शिव समावेश प्राप्ति का भाव भी नहीं होता । जब (समुचित) कारणवश निर्वाणप्रद शक्ति उपलब्ध होती है तब जीव शिव की इच्छा से शुभ ज्ञानमय मन्त्रयोगात्मक दिव्य दीक्षा को प्राप्त करता है और मोक्षलाभ करता है । अन्यथा पशु असंख्य प्रकार के ज्ञान से भी मोक्ष नहीं प्राप्त करता । अनन्तरूपी शिव के द्वारा जिसको समस्त ज्ञान प्रकाशित कर दिया गया वही मोक्षलाभ करता है। शिव साक्षात् महेश्वर हैं । उनके द्वारा पहले कहा गया यह मुख्य ज्ञान मैंने तुमसे कहा" ॥ १९२ ॥ (स्व०तं० १०।७०६)

अब जल तत्त्व में भुवनों का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

शतरुद्र के ऊपर भद्रकाली का नीलमणि की कान्ति वाला जय (नामक भुवन) है । काली का वह जय (नामक) पुर यज्ञ दान और तप से

तद्भक्तास्तत्र गच्छन्ति तन्मण्डलसुदीक्षिताः ॥ १९४ ॥

'नील' इति इन्द्रनीलम् । तन्मण्डलसुदीक्षिता इति, 'अतो भुवनभर्तरि' इत्याद्युक्त्या तद्भुवनं प्राप्तुम्—इत्यर्थः ॥ १९४ ॥

ननु किं तत्प्राप्त्या?—इत्याशङ्क्याह—

निर्बीजदीक्षया मोक्षं ददाति परमेश्वरी ।

नन्वप्तत्त्वावस्थितैतद्भुवनमात्रप्राप्त्या कथमेवम्?—इत्याशङ्क्याह—

विद्येशावरणे दीक्षां यावतीं कुरुते नृणाम् ॥ १९५ ॥
तावतीं गतिमायान्ति भुवनेऽत्र निवेशिताः ।

इयं हि भगवती

'सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति ।
योगमायाप्रतिच्छन्ना कुमारी लोकभावनी ॥
अचिन्त्या चाप्रमेया च......................।' (स्व० १०।७२७)

इत्युक्त्या सर्वोत्कृष्टा, येनैवमत्र माहात्म्यमुक्तम् ॥ १९५ ॥

प्राप्य नहीं है । उस मण्डल में भलीप्रकार दीक्षित उस (= काली) के भक्त ही वहाँ जाते हैं ॥ -१९३-१९४ ॥

नील = इन्द्रनील । उस मण्डल में सुदीक्षित—'अतः भुवनभर्त्ता में' इत्यादि उक्ति के द्वारा उस भुवन को प्राप्त करने के लिये ॥ १९४ ॥

प्रश्न—उसको प्राप्त करने से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

परमेश्वरी निर्बीज दीक्षा के द्वारा उसे मोक्ष प्रदान करती है ॥१९५-॥

प्रश्न—जल तत्त्व में स्थित इस भुवन को मात्र प्राप्त कर लेने से ऐसा कैसे होता है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

विद्येश के मण्डल में मनुष्यों की जितनी दीक्षा (भद्रकाली) करती है, इस भुवन में प्रतिष्ठित (लोग) उतनी ही गति को प्राप्त करते हैं ॥ -१९५-१९६- ॥

क्योंकि यह भगवती—

"वह देवी सभी देवियों के नाम और रूपों के माध्यम से स्थित है । (वह) योगमाया के द्वारा आच्छन्न कुमारी लोकों को उत्पन्न करने वाली (या मोहित करने वाली) अचिन्त्य और अप्रमेय है ।" (स्व०तं० १०।७२७)

उस उक्ति के द्वारा सबसे बढ़ कर हैं जिससे यहाँ इस प्रकार महिमा कही गयी ॥ १९५ ॥

ततः कोट्या वीरभद्रो युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ १९६ ॥
विजयाख्यं पुरं चास्य ये स्मरन्तो महेश्वरम् ।
जलेषु मरुषु चाग्नौ शिरश्छेदेन वा मृताः ॥ १९७ ॥
ते यान्ति बोधमैशानं वीरभद्रं महाद्युतिम् ।
वैरभद्रोर्ध्वतः कोटिर्विष्कम्भाद्विस्तृतं त्रिधा ॥ १९८ ॥
रुद्राण्डं सालिलं त्वण्डं शक्रचापाकृति स्थितम् ।

'मरुषु' इति महापथे महेश्वरं स्मरन्तो मृताः—इति सर्वत्र संबन्धः । अन्यथा हि वैद्युतं यान्ति,—इति पूर्वमुक्तम् । 'ऐश्वरं बोधम्' रौद्रं तेजः, स हि रुद्रक्रोधादुद्भूतः—इति भावः । 'वैरभद्रोर्ध्वतः' इति वीरभद्रसंबन्धिनो विजयाख्यात्पुरादूर्ध्वम्—इत्यर्थः । 'सालिलमण्डम्' अम्मयमावरणम्, तत्प्रधानं भुवनमिति यावत् । अत एवाप्तत्त्वीयानां समस्तानां भुवनानामूर्ध्वं तेजस्तत्त्वस्य चाधःस्थितं तच्चाण्डं 'रुद्राण्डम्' तच्छब्दव्यपदेश्यम् । अत्रापि च वीरभद्राख्य एवासौ भगवान्महात्मा रुद्रः सूक्ष्मरूपेणास्ते—इत्यभिप्रायः । तच्च विष्कम्भात्कोटिः, ऊर्ध्वमेतन्मानम्—इत्यर्थः । विस्तृतं त्रिधेति, तिर्यक्कोटित्रयपरीमाणमित्यर्थः । एतच्च निखिलाप्तत्त्वापेक्षया न व्याख्येयम्, तन्मानस्य धरापेक्षया दशगुणत्वेन प्रागेवोक्तत्वात् । यदुक्तम्—

उसके बाद एक करोड़ योजन ऊपर युगान्त अग्नि के समान कान्ति वाले वीरभद्र रहते हैं । इनका विजय नामक पुर है । जो लोग महेश्वर का स्मरण करते हुए जल, मरुभूमि, अग्नि में अथवा शिरश्छेद के द्वारा मरते हैं वे ऐशान महाद्युति वीरभद्र को प्राप्त होते हैं । वीरभद्र के (पुर) से एक करोड़ योजन ऊपर विस्तृत रुद्राण्ड है । यह जलीय विष्कम्भ अण्ड इन्द्रधनुष की आकृति में स्थित है ॥ -१९६-१९९- ॥

मरु में अर्थात् महापथ में, महेश्वर का स्मरण करते हुये मरने वाले—ऐसा सर्वत्र सम्बन्ध है । अन्यथा 'विद्युत् लोक को प्राप्त करते हैं—यह पहले ही कहा गया है । ऐश्वर बोध = रौद्र तेज । वह (बोध) रुद्र के क्रोध से उत्पन्न हुआ है—यह तात्पर्य है । वैरभद्र के ऊपर = वीरभद्रसम्बन्धी विजय नामक पुर के ऊपर । सलिलमण्डल = जलमय आवरण की प्रधानता वाला भुवन । इसीलिए जलतत्त्व वाले समस्त भुवनों के ऊपर और तेजस्तत्त्व के नीचे स्थित वह अण्ड रुद्र अण्ड है जो 'तत्' शब्द से कहा गया है । यहाँ भी वीरभद्र नामक ही ये भगवान् महात्मा रुद्र सूक्ष्मरूप से रहते हैं—यह अभिप्राय है । विष्कम्भ से कोटि (= एक करोड़) ऊपर इसका परिमाण है । तीन प्रकार से विस्तृत है अर्थात् तिर्यक् रूप से तीन करोड़ योजन परिमाण वाला है । यह समस्त जलतत्त्व की अपेक्षा से है—ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिए क्योंकि उस (= जल) का परिमाण पृथ्वी की अपेक्षा दश गुना अधिक है—यह पहले ही कहा गया है ।

'भुवनस्यास्य देवेशि ह्युपर्यावरणं महत् ।
अम्मयं तु घनं चाति शक्रचापाकृति स्थितम् ॥
वितानमिव तद्भद्रमन्तरे समवस्थितम् ।
तत्र चास्ते महात्मासावङ्गुष्ठाग्रप्रमाणकः ।
तत्र योजनकोटिर्वै विष्कम्भादूर्ध्वमुच्यते ।
तिर्यक्त्रिगुणविस्तारमाप्यमावरणं प्रिये ॥'
(स्व० १०।७५८) इति ।
'रुद्राण्ड इति विख्यातं रुद्रलोक इति प्रिये ।' (स्व० १०।७५९)

इति च । एवमिति सिद्धम्—यदप्तत्त्वस्यारम्भ एव भद्रकाल्या भुवनम्, अत एव तत्र 'शतरुद्रोर्ध्वतः' इत्युक्तम्, प्रान्ते तु वीरभद्रस्य स्थूलसूक्ष्मतया पुरद्वयमिति ॥ १९८ ॥

तन्मध्ये तु भुवनान्तराणि किं स्थितानि न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

आ वीरभद्रभुवनाद्भद्रकाल्यालयात्तथा ॥ १९९ ॥
त्रयोदशभिरन्यैश्च भुवनैरुपशोभितम् ।

आङ्शब्दो मर्यादायाम्, तेन भद्रकाल्यालयादारभ्य वीरभद्रभुवनं यावत् अर्थात् भद्रकाल्यालयेन सह त्रयोदश भुवनान्यवस्थितानि—इत्यर्थः । उपशोभितमिति, अर्थादप्तत्त्वम्, एवं-पाठ एव च आगम इति उद्द्योतकारव्याख्यया न

जैसा कि कहा गया है—

"हे देवेशि ! इस भुवन के ऊपर अत्यन्त घना जलमय आवरण इन्द्रधनुष के आकार में स्थित है । वह कल्याणकृत (आवरण) वितान के समान बीच में स्थित है । हे प्रिये ! उसके बाद में अंगुष्ठ के अग्रभाग के परिमाण वाले महात्मा रहते हैं। वहाँ विष्कम्भ से एक करोड़ योजन ऊपर तिर्यक् रूप में तीन गुना (= तीन करोड़) विस्तार वाला जलीय आवरण है ।" (स्व०तं० १०।७५८)

"हे प्रिये वह रुद्राण्ड रुद्रलोक नाम से प्रसिद्ध है ।" (स्व०तं० १०।७५९)

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जल तत्त्व के आरम्भ में भद्रकाली का भुवन है । इसीलिए वहाँ 'शतरुद्र के ऊपर'—ऐसा कहा गया है । अन्त में वीरभद्र के दो पुर स्थूल और सूक्ष्म रूप में स्थित हैं ॥ १९८ ॥

उसके बीच में दूसरे भुवन स्थित हैं या नहीं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

भद्रकाली के पुर से लेकर वीरभद्र के पुर तक (स्थित) तेरह अन्य भुवनों के द्वारा (यह जलतत्व) शोभित है ॥-१९९-२००- ॥

'आङ्' उपसर्ग मर्यादा अर्थ में है । इससे भद्रकाली के पुर से लेकर वीरभद्र के भुवन तक । अर्थात् भद्रकाली के पुर के साथ तेरह भुवन स्थित हैं । उपशोभित

भ्रमितव्यम् ॥ १९९ ॥

तान्येवाह—

ततो भुवः सहाद्रेः पूर्गन्धतन्मात्रधारणात् ॥ २०० ॥
मृता गच्छन्ति तां भूमिं धरित्र्याः परमां बुधाः ।
अब्धेः पुरं ततस्त्वाप्यं रसतन्मात्रधारणात् ॥ २०१ ॥
ततः श्रियः पुरं रुद्रक्रीडावतरणेष्वथ ।
प्रयागादौ श्रीगिरौ च विशेषान्मरणेन तत् ॥ २०२ ॥
सारस्वतं पुरं तस्माच्छब्दब्रह्मविदां पदम् ।
रुद्रोचितास्ता मुख्यत्वाद्रुद्रेभ्योऽन्यास्तथा स्थिताः ॥ २०३ ॥
पुरेषु बहुधा गङ्गा देवादौ श्रीः सरस्वती ।
लकुलाद्यमरेशान्ता अष्टावप्सु सुराधिपाः ॥ २०४ ॥

'सहाद्रेः' इति मेर्वादिप्रागुक्तपर्वतयुक्तायाः—इत्यर्थः । 'रसतन्मात्रधारणात्' इति रसतन्मात्रधारणयेत्यर्थः । मृता गच्छन्ति—इति प्राच्येन संबन्धः । रुद्रस्य क्रीडयावतरणेषु न तु अनुजिघृक्षया, तत्र हि नैतावन्मात्रप्राप्तिर्भवेत्—इति भावः । एतच्चाग्रत एव व्यक्तीभविष्यति—इति नेहायस्तम् । 'तत्' श्रियः पुरम्,

---

अर्थात् जल तत्त्व (उपशोभित है) । इसी प्रकार का पाठ आगम में भी है इसलिए उद्योतकार की व्याख्या से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए ॥ १९९ ॥

उन्हीं (भुवनों) का कथन करते हैं—

इसके बाद पर्वतों से युक्त, गन्धतन्मात्रा को धारण करने के कारण भूपुर है । विद्वान् लोग मरने के बाद भगवती धरित्री की उस परम भूमि को प्राप्त होते हैं । उसके बाद इस तन्मात्र को धारण करने के कारण जलमय अब्धिपुर है । इसके बाद रुद्र का क्रीड़ा के (लिए) अवतरण होने पर श्रीपुर है । प्रयाग आदि और श्रीपर्वत पर विशेष रूप से मरने से वह (पुर प्राप्त होता है) । उसके ऊपर सारस्वतपुर है जो शब्दब्रह्मज्ञानियों का स्थान है । ये भूमियां मुख्यरूप से रुद्रों के द्वारा सेवित हैं किन्तु रुद्रों से अन्य लोग भी उनमें रहते हैं इन पुरों में गङ्गा लक्ष्मी और सरस्वती तथा लकुल से लेकर अमरेश तक सुरों के आठ स्वामी जललोक में निवास करते हैं ॥ -२००-२०४ ॥

सहाद्रेः = पूर्वोक्त मेरु आदि पर्वतों से युक्त । रसतन्मात्रधारणात् = रसतन्मात्रा को धारण करने के कारण । मर कर जाते हैं—यह पूर्व (श्लोक) से सम्बन्ध है । रुद्र का क्रीड़ा के लिए अवतार होने पर न कि अनुग्रह की इच्छा से । क्योंकि वैसा होने पर इतनी ही प्राप्ति नहीं होगी । यह आगे स्पष्ट होगा इसलिए यहाँ

गच्छन्तीति प्राच्येन संबन्धः । 'शब्दब्रह्मविदाम्' इति गीतज्ञानां वाक्तत्त्वधारणा-निष्ठानां च । तदुक्तम् —

'हाहा हूहूश्चित्ररथस्तुम्बुरुर्नारदस्तथा ।
विश्वावसुर्विश्वरथो दिव्यगीतविचक्षणाः ॥
संयोज्य मनसात्मानं त्यक्त्वा कर्मफलस्पृहाम् ।
ते वै सारस्वतं स्थानं प्राप्ता वै सुरपूजिते ॥
ये च वाग्धारणां ध्यात्वा प्राणान्मुञ्चन्ति देहिनः ।
ते वै सारस्वतं लोकं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः ॥'

(स्व० १०।८४३) इति ।

'अप्सु' इत्यनेन तत्त्वयोजनाख्यमपि प्रमेयमुट्टङ्कितम्, एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् । अष्टावित्यनेन भद्रकाल्या भुवोऽब्धेः श्रियः सरस्वत्याश्च भुवनानां पञ्चकेन सह त्रयोदश भवन्ति इति प्रागुपक्रान्तायाः संख्याया अपि सङ्कलनं स्मारितम् । तदुक्तम्—

'लकुली भारभूतिश्च दिण्ड्याषाढी च पुष्करः ।
नैमिषश्च प्रभासश्च अमरेशस्तथाष्टमः ॥
एतत्पत्यष्टकं प्रोक्तम्............................ ।'

(मा० वि० ५।१७) इति ।

श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे पुनरेषाम्

विस्तार नहीं किया गया । तत् = श्रीपुर को जाते है—यह पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है । शब्दब्रह्मवेत्ता का = गीत को जानने वाले तथा वाक्तत्त्व की धारणा में लगे हुये लोगों का । वही कहा गया है—

हे सुरपूजिते ! हाहा, हूहू, चित्ररथ, तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु और विश्वरथ दिव्यगीत में विचक्षण ये सब मन से आत्मा को युक्त कर और कर्मफल की इच्छा को छोड़कर सारस्वत पद को प्राप्त होते हैं । और जो प्राणी वाग्धारणा का ध्यान कर प्राणों का त्याग करते हैं वे उत्तम पुरुष सारस्वत लोक को प्राप्त करते हैं ।'' (स्व० तं० १०।८४३)

'अप्सु' इस पद से तत्त्वयोजन नामक प्रमेय भी कहा गया । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए । 'आठ' इससे भद्रकाली, पृथ्वी, समुद्र लक्ष्मी और सरस्वती के पाँच भुवनों के साथ तेरह (भुवन) हो जाते हैं—इस प्रकार पूर्वोक्त संख्या का भी सङ्कलन स्मारित हुआ ।

वही कहा गया है—

''लकुल, भारभूति, दिण्ड्याषाढी, पुष्कर, नैमिष, प्रभास, और आठवाँ अमरेश ये आठ पति कहे गए हैं ।'' (मा०वि० ५।१७)

'अमरेशं प्रभासं च नैमिषं पुष्करं तथा।
आषाढिं दिण्डिमुण्डं च भारभूतिं च लाकुलम् ॥
गुह्याष्टकमिति ख्यातं जलावरणगं प्रिये।'
(स्व० १०।८५४)

इत्यादिनाऽन्यथा पाठः। इह श्रीस्वच्छन्दशास्त्रानुसारं प्रक्रमेऽपि सर्वत्र पूर्वशास्त्रप्रक्रिययैषां पाठेऽयमाशयो यदेतदेव भुवनेशाष्टकमप्तत्त्वे सर्वागमेषु प्रधानतयोक्तमित्यत एव प्रतिष्ठायामेतदाद्यष्टकसप्तकस्वीकारेणैव सर्वत्र भुवनानां सङ्कलनम् ॥ २०४ ॥

ततस्तु तैजसं तत्त्वं शिवाग्नेरत्र संस्थितिः।
ते चैनं वह्निमायान्ति वाह्नीं ये धारणां श्रिताः॥ २०५ ॥
भैरवादिहरीन्द्वन्तं तैजसे नायकाष्टकम्।
प्राणस्य भुवनं वायोर्दशधा दशधा तु तत् ॥ २०६ ॥
ध्यात्वा त्यक्त्वाऽथ वा प्राणान् कृत्वा तत्रैव धारणाम्।
तं विशन्ति महात्मानो वायुभूताः खमूर्तयः ॥ २०७ ॥
भीमादिगयपर्यन्तमष्टकं वायुतत्त्वगम्।
खतत्त्वे भुवनं व्योम्नः प्राप्यं तद्व्योमधारणात् ॥ २०८ ॥
वस्त्रापदान्तं स्थाण्वादि व्योमतत्त्वे सुराष्टकम्।

स्वच्छन्दतन्त्र में पुनः इनका—

"हे प्रिये ! अमरेश, प्रभास, नैमिष, पुष्कर, आषाढ़ी, दिण्डिमुण्ड, भारभूति, लाकुल ये गुह्यष्टक जलावरण में स्थित प्रसिद्ध है। (स्व०तं० १०।८५४)

इत्यादि के द्वारा भिन्न पाठ है। यहाँ स्वच्छन्दशास्त्र के अनुसार प्रक्रम होने पर भी सर्वत्र पूर्वशास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार पाठ होने में यह तात्पर्य है कि ये ही आठ भुवनेश जलतत्त्व के विषय में सभी आगमों में मुख्यरूप से कहे गए हैं। इसलिए प्रतिष्ठा में इन प्रथम सात को स्वीकार कर लेने से सर्वत्र भुवनों का सङ्कलन हो जाता है ॥ २०४ ॥

इसके बाद तैजस तत्त्व है। यहाँ शिवाग्नि की स्थिति है। जो अग्नि सम्बन्धी धारणा का आश्रय लेते हैं वे इस अग्निलोक को प्राप्त करते हैं। इस तैजस (तत्त्व) में भैरव से लेकर हरीन्दु तक आठ नायक हैं। (उसके ऊपर) प्राणवायु का भुवन है। वह दश-दश प्रकार का है। महात्मा लोग ध्यान कर, अथवा उसमें धारणा कर प्राण को त्याग देने के बाद वायुवत् आकाशरूप होकर उसमें प्रवेश करते हैं। भीम से लेकर गया पर्यन्त आठ वायुतत्त्वगामी पुर है। शून्यतत्त्व में व्योम का भुवन है। वह व्योम में धारणा के द्वारा प्राप्त होता है। व्योमतत्त्व में स्थाणु से लेकर वस्त्रापद तक

'ततः' इत्यप्तत्त्वात् । तदुक्तम्—

'तत्र भैरवकेदारमहाकालाः समध्यमाः ।
आम्रातकेशजल्पेशश्रीशैलाः सहरीन्दवः ॥' (मा० वि० ५।१८)

इति । श्रीस्वच्छन्दे तु—

'हरिश्चन्द्रं च श्रीशैलं जल्पमाम्रातकेश्वरम् ।
महाकालं मध्यमं च केदारं भैरवं तथा ॥
अतिगुह्यं समाख्यातम्.......................।
(स्व० १०।८७३)

इति । 'वायौ' इति वायुतत्त्वे । दशधेति, प्राणादिनागादिभेदात् । ध्यानाद्यप्येवमिति पुनर्दशधेति । भीमादीति, तदुक्तम्—

'भीमेश्वरमहेन्द्राट्टहासाः सविमलेश्वराः ।
कनखलं नाखलं च कुरुक्षेत्रं गया तथा ॥'
(मा० वि० ५।१९) इति ।

श्रीस्वच्छन्दे तु—

'गयां चैव कुरुक्षेत्रं नाखलं कनखलं तथा ।
विमलं चाट्टहासं च माहेन्द्रं भीममष्टमम् ॥
गुह्याद्गुह्यतरं ह्येतत् .... ।'
(स्व० १०।८८४) इति ।

आठ देवता रहते हैं ॥ २०५-२०९- ॥

उसके बाद = जलतत्त्व के बाद । वही कहा गया—

"वहाँ भैरव, केदार, महाकाल, मध्यम, आम्रातकेश, जल्पेश श्रीशैल और हरीन्दु (आग्नेय भुवन में रहते) हैं ।" (मा०वि० ५।१८)

स्वच्छन्द तंत्र में तो—

"हरिश्चन्द्र, श्रीशैल, जल्प, आम्रातकेश्वर, महाकाल, मध्यम, केदार और भैरव ये उमा के द्वारा ख्यात अतिगुह्य (= श्रेष्ठ गुह्य) हैं ॥" (स्व०तं० १०।८७३)

वायु में = वायु तत्त्व में । दश प्रकार—प्राण आदि (= प्राण अपान समान, उदान, व्यान) तथा नाग आदि (नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त धनञ्जय) के भेद से । इसी प्रकार ध्यान आदि भी दश प्रकार के है । भीम आदि, वही कहा गया है—

"भीम, ईश्वर, महेन्द्र, अट्टहास, विमलेश्वर, कनरवल, नारवल, कुरुक्षेत्र और गया ।" (मा०वि० ५।१९)

स्वच्छन्दतन्त्र में तो—

'व्योम्नः' इत्याकाशस्य । तदुक्तम्—

'स्थाणुस्वर्णाक्षकावाद्यौ रुद्रगोकर्णकौ परौ ।
महालयाविमुक्तेशरुद्रकोट्यम्बरापदाः ॥'

(मा० वि० ५।२०) इति ।

श्रीस्वच्छन्दे तु—

'वस्त्रापदं रुद्रकोटिमविमुक्तं महालयम् ।
गोकर्णं भद्रकर्णं च स्वर्णाक्षं स्थाणुमष्टमम् ॥
पवित्राष्टकमेतत्................................ ।

(स्व० १०।८८७) इति ॥ २०८ ॥

ननु

'न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे।'

(मा० वि० ४।६)

इत्याद्युक्तयुक्त्या दीक्षामन्तरेणाधिकार एव शाङ्करे योगे नास्ति—इति का कथा तदभ्यासादेर्वृत्तायां च दीक्षायां निर्व्यूढे च योगाभ्यासे जीवत एव मुक्तिर्भवेत् —इति कस्तत्र शरीरान्ते सन्देहः। गन्धतन्मात्रधारणाद्यभ्यस्यन्तो योगिनः शरीरान्ते धरादिभुवनान्यासादयन्ति—इति कथमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

"गया, कुरुक्षेत्र, नारवल, कनरवल, विमल, अट्टहास, माहेन्द्र और आठवाँ भीम ये गुह्य से गुह्यतर हैं ।" (स्व०तं० १०।८८४)

व्योम्नः = आकाश का । वही कहा गया है—

स्थाणु और स्वर्णाक्षक प्रथम युग्म, रुद्र गोकर्ण दूसरे युग्म, महालय, अविमुक्तेश, रुद्रकोटि और वस्त्रापद ये ८ व्योमतत्त्व में रहते हैं ।" (मा०वि० ५।२०)

स्वच्छन्द में तो—

"वस्त्रापद, रुद्रकोटि, अविमुक्त, महालय, गोकर्ण, भद्रकर्ण, स्वर्णाक्ष और आठवाँ स्थाणु ये आठ पवित्राष्टक हैं ।" (स्व० १०।८८७) ॥ २०८ ॥

प्रश्न—दीक्षा के बिना शैवी साधना में अधिकार नहीं है ।" (मा०वि० ४।६)

इत्यादि उक्तयुक्ति के द्वारा दीक्षा के बिना शाङ्करयोग में अधिकार ही नहीं है—तो उसके अभ्यास आदि की क्या बात । और दीक्षा हो जाने के बाद योगाभ्यास के दृढ़ होने पर जीते जी ही मुक्ति हो जाती है फिर उस शरीरान्त में क्या सन्देह। प्रश्न—गन्धतन्मात्र में धारणा आदि का अभ्यास करने वाले योगी देहान्त के बाद पृथ्वी आदि भुवनों को प्राप्त करते हैं—यह कैसे कहा गया—यह शङ्का कर कहते हैं—

अदीक्षिता ये भूतेषु शिवतत्त्वाभिमानिनः ॥ २०९ ॥
ज्ञानहीना अपि प्रौढधारणास्तेऽण्डतो बहिः।
धराब्धितेजोऽनिलखपुरगा दीक्षिताश्च वा ॥ २१० ॥
तावत्संस्कारयोगार्थं न परं पदमीहितुम् ।
तथाविधावतारेषु मृताश्चायतनेषु ये ॥ २११ ॥
तत्पदं ते समासाद्य क्रमाद्यान्ति शिवात्मताम् ।

भूतेष्विति, पृथिव्या एव प्राधान्याद् बहुवचनेन निर्देशः । यद्वा तन्मध्यात् 'प्रौढधारणा' इति पातञ्जलादिपाशवयोगाभ्यासात् । दीक्षिता इति,

'यो यत्राभिलषेद्भोगान्स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाक्.................................... ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या धरादिपदाप्तये एव कृतलोकधर्मिसाधकदीक्षाः—इत्यर्थः । तदाह—'तावत्संस्कारेत्यादि' । तथाविधावतारेष्विति, भूमण्डलगतेष्वमरेशाद्यायतनेषु ॥ २११ ॥

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

पुनः पुनरिदं चोक्तं श्रीमद्देव्याख्ययामले ॥ २१२ ॥

दीक्षारहित जो लोग भूतों में शिवतत्त्व के अभिमानी हैं और ज्ञानहीन होते हुये भी (उन भूतों में से किसी एक में) प्रौढ़ धारणा वाले हैं वे (इस) अण्ड के बाहर पृथ्वी जल तेज वायु या आकाश पुर को प्राप्त होते हैं । अथवा जो दीक्षित भी हैं किन्तु (पृथिवी आदि को शिवतत्त्व मानने के) संस्कार से युक्त है और परमपद के इच्छुक नहीं है वे भी वहाँ भूतों के पुर में जाते हैं ।

उस प्रकार के अवतारों वाले आयतनों में जो मरते हैं वे उस पद को प्राप्त करके क्रमशः शिवात्मता को प्राप्त होते हैं ॥ -२०९-२१२- ॥

भूतों में—पृथिवी की ही प्रधानता के कारण बहुवचन के द्वारा निर्देश किया गया है । अथवा पातञ्जल आदि पाशव योग के अभ्यास से उसमें प्रौढ़ धारणा वाले । दीक्षित—

"जो जिस लोक में भोगों की इच्छा करता है वह वहीं नियोजित होकर सिद्धि को प्राप्त करता है ।"

इत्यादि उक्तयुक्ति के द्वारा धरा आदि पद की प्राप्ति के लिए ही लोकधर्मी-साधक दीक्षा वाले । वही कहते हैं—तावत् संस्कार इत्यादि । उस प्रकार के अवतार वाले—भूमण्डलगत इन्द्र आदि के आयतनों में ॥ २११ ॥

इस विषय में क्या प्रमाण है—यह शङ्का कर कहते हैं—

पुन: पुनरिति, प्रत्यष्टकम् । तदुक्तं तत्र—

'ये मृता जन्तवस्तत्र ते व्रजन्तीह तत्पदम् ।' इति ।
'एतेष्वपि मृता: सम्यग्घित्वा लोकानशेषत: ।
दीप्यमानास्तु गच्छन्ति स्थानेष्वेतेषु ते प्रिये ॥' इति ॥ २१२ ॥

न केवलमेतदत्रैवोक्तं यावदन्यत्रापि—इत्याह—

श्रीकामिकायां कश्मीरवर्णने चोक्तवान्विभु: ।

तद्ग्रन्थमेव पठति—

सुरेश्वरीमहाधाम्नि ये म्रियन्ते च तत्पुरे ॥ २१३ ॥
ब्राह्मणाद्या: सङ्करान्ता: पशव: स्थावरान्तगा: ।
रुद्रजातय एवैते इत्याह भगवाञ्छिव: ॥ २१४ ॥
आकाशावरणादूर्ध्वमहङ्कारादध. प्रिये ।
तन्मात्रादिमनोऽन्तानां पुराणि शिवशासने ॥ २१५ ॥

शिवशासने इति, उक्तानीति शेष: । तदुक्तम्—

आकाशावरणादूर्ध्वमहङ्कारादध: प्रिये ।

देवीयामल में यह बार-बार कहा गया है ॥ -२१२ ॥

पुन:-पुन: प्रत्येक अष्टक में । वही वहाँ कहा गया है—

"जो जन्तु यहाँ मरते हैं वे वहाँ उस पद को प्राप्त होते हैं ।"

"हे प्रिये ! इनमें भी मरे हुये लोग सम्पूर्ण लोकों को अच्छी प्रकार छोड़ कर देदीप्यमान होते हुये तुम्हारे इस स्थान को प्राप्त होते हैं" ॥ २१२ ॥

यह केवल यहीं नहीं अन्यत्र भी कहा गया है—यह कहते हैं—

परमेश्वर ने कामिकाशास्त्र में कश्मीरवर्णन के प्रसङ्ग में कहा है ॥ २१३- ॥

उस ग्रन्थ का ही पठन करते हैं—

सुरेश्वरी के महाधाम (= तेज) वाले उस पुर में ब्राह्मण से लेकर शङ्कर तक के जीव एवं स्थावर तक जो मरते हैं, वे रुद्र स्तर के होते हैं—ऐसा भगवान् शिव नें कहा है । हे प्रिये ! आकाशावरण से ऊपर और अहङ्कार से नीचे तन्मात्राओं से लेकर मन पर्यन्त पुर शैव शास्त्र में (कहे गए) हैं ॥ -२१३-२१५ ॥

शिवशासन में, कहे गए हैं—यह शेष है । वही कहा गया है—

'हे प्रिये ! आकाशावरण से ऊपर और अहङ्कार से नीचे के भुवनों का वर्णन

भुवनानि प्रवक्ष्यामि........................॥'

(स्व० १०।८९५) इति ॥ २१५ ॥

तान्येवाह—

पञ्चवर्णयुतं गन्धतन्मात्रमण्डलं महत् ।
आच्छाद्य योजनानेककोटिभिः स्थितमन्तरा ॥ २१६ ॥
एवं रसादिमात्राणां मण्डलानि स्ववर्णतः ।
शर्वो भवः पशुपतिरीशो भीम इति क्रमात् ॥ २१७ ॥
तन्मात्रेशा यदिच्छातः शब्दाद्याः खादिकारिणः ।
ततः सूर्येन्दुवेदानां मण्डलानि विभुर्महान् ॥ २१८ ॥
उग्रश्चेत्येषु पतयस्तेभ्योऽर्केन्दू सयाजकौ ।
इत्यष्टौ तनवः शंभोर्याः पराः परिकीर्तिताः ॥ २१९ ॥
अपरा ब्रह्मणोऽण्डे ता व्याप्य सर्वं व्यवस्थिताः ।
कल्पे कल्पे प्रसूयन्ते धराद्यास्ताभ्य एव तु ॥ २२० ॥
ततो वागादिकर्माक्षयुक्तं करणमण्डलम् ।
अग्नीन्द्रविष्णुमित्राः सब्रह्माणस्तेषु नायकाः ॥ २२१ ॥
प्रकाशमण्डलं तस्माच्छ्रुतं बुद्ध्यक्षपञ्चकम् ।
दिग्विद्युदर्कवरुणभुवः श्रोत्रादिदेवताः ॥ २२२ ॥
प्रकाशमण्डलादूर्ध्वं स्थितं पञ्चार्थमण्डलम् ।

करुँगा...।' (स्व०तं० १०।८९५) ॥ २१५ ॥

उन्हीं को कहते हैं—

पाँच रङ्गों से युक्त महान् गन्धतन्मात्र मण्डल एक करोड़ योजन तक विस्तृत होकर बीच में स्थित हैं । इसी प्रकार रस आदि तन्मात्राओं के मण्डल अपने-अपने रङ्गों से (युक्त होकर स्थित हैं) । शर्व, भव, पशुपति, ईशान और भीम ये क्रमशः तन्मात्राओं के स्वामी है जिनकी इच्छा से आकाश आदि को उत्पन्न करने वाले शब्द आदि (प्रादुर्भूत होते हैं) । इसके बाद सूर्य चन्द्रमा और वेदों का मण्डल है । रुद्र, महादेव और उग्र ये इनके पति हैं । इनसे सूर्य सोम और यजमान (निकले) हैं । ये शङ्कर की आठ शरीर हैं जो परा कही गई हैं । अपरा शरीर ब्रह्माण्ड में हैं और वे सबको व्याप्त करके स्थित हैं । उनसे भिन्न-भिन्न कल्पों में पृथ्वी आदि उत्पन्न होती हैं । उसके ऊपर वाग् आदि कर्मेन्द्रियों से युक्त इन्द्रियमण्डल है । ब्रह्मा के सहित अग्नि, इन्द्र, विष्णु और सूर्य उनके नायक हैं । इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रियों से युक्त प्रकाशमण्डल है । दिक्, विद्युत्, अर्क वरुण और पृथ्वी ये श्रोत्र आदि की देवतायें हैं । प्रकाश-

मनोमण्डलमेतस्मात् सोमेनाधिष्ठितं यतः ॥ २२३ ॥
बाह्यदेवेष्वधिष्ठाता साम्यैश्वर्यसुखात्मकः ।
मनोदेवस्ततो दिव्यः सोमो विभुरुदीरितः ॥ २२४ ॥

पञ्चवर्णयुतमिति, तदुक्तम्—

'शुक्लपीतसितरक्तहरितं स्फटिकप्रभम् ।
पञ्चवर्णसमायुक्तशक्रचापसमप्रभम् ॥'
(स्व० १०।८९७) इति ।

'अन्तराच्छाद्य' इति वितानवदाकाशादिसर्वमन्तर्गर्भीकृत्य—इत्यर्थः। तदुक्तम्—

'आदौ तु गन्धतन्मात्रं विस्तीर्णं मण्डलं महत् ।
स्थितं वितानवद् देवि योजनानेककोटयः ॥'
(स्व० १०।८९६) इति ।

'शर्वो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ।
तस्मात्तु जायते पृथ्वी शर्वेशेन प्रचोदिता ॥'
(स्व० १०।८९८) इति ।

यदिच्छात इति, अन्यथा कथमेषां जडानां कारणता भवेत्—इति भावः । **एवमिति,** गन्धतन्मात्रमण्डलवत्—इति भावः । तदुक्तम्—

'तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रसतन्मात्रमण्डलम् ।

मण्डल के ऊपर (रूप रस आदि) पाँच विषयों का मण्डल है । इसके ऊपर चन्द्रमा से अधिष्ठित मनोमण्डल है । चूँकि (यह) मनोदेव बाह्य देवताओं (= इन्द्रियों) का अधिष्ठाता है साम्य ऐश्वर्य सुख वाला है इसलिए दिव्य सोम और विभु कहा गया है ॥ २१६-२२४ ॥

पाँच वर्ण से युक्त—वही कहा गया है—

"शुक्ल, पीत, श्वेत, रक्त और हरित, स्फटिक के समान कान्तिवाले, पाँच रङ्गों से युक्त इन्द्रधनुष के समान ।" (स्व०तं० १०।८९७)

भीतर से ढँक कर = तम्बू के समान आकाश आदि सबको अपने भीतर रख कर । वही कहा गया है—

"हे देवि ! पहले महान् गन्धतन्मात्रमण्डल फैला हुआ है । यह वितान के समान एक करोड़ योजन तक स्थित है ।' (स्व० १०।८९६)

हे वरानने ! वहाँ शर्व ही एकमात्र अधिपति हैं । उस मण्डल से शर्वेश के द्वारा प्रेरित पृथिवी उत्पन्न होती है । (स्व०तं० १०।८९८)

जिसकी इच्छा से—अन्यथा ये जड़ कैसे कारण बनते । इस प्रकार = गन्धतन्मात्र मण्डल के समान । वही कहा गया है—

हरितं मरकतश्यामं चाषपक्षनिभं प्रिये ॥
भवो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ।
तस्मादापो विनिष्क्रान्ता भवेशेन प्रचोदिताः ॥
तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रूपतन्मात्रमण्डलम् ।
स्फुरत्सूर्यांशुदीप्ताभं पद्मरागसमप्रभम् ॥
रुद्रः पशुपतिस्तत्र एक एवावतिष्ठते ।
तस्मात्तेजो विनिष्क्रान्तं तद्वै पशुपतीच्छया ॥'

(स्व० १०।९०२) इति ।

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं स्पर्शतन्मात्रमण्डलम् ।
सन्ध्यारुणसमच्छायं............................. ॥

(स्व० १०।९०४) इति ।

'तत्रैव मण्डले देवि ईशानः संव्यवस्थितः ।
तस्माद्वायुर्विनिष्क्रान्त ईशेच्छाप्रेरितः प्रिये ॥

(स्व० १०।९०५) इति ।

'तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं शब्दतन्मात्रमण्डलम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं स्वच्छोदकसमप्रभम् ॥'

(स्व० १०।९०७) इति ।

'भीमस्तत्राधिपत्येन एक एवावतिष्ठते ।
तस्मान्नभो विनिष्क्रान्तं भीमेच्छाचोदितं महत् ॥

(स्व० १०।९०९) इति ।

"हे प्रिये ! उस मण्डल के ऊपर हरित, मरकत के समान श्याम, चाष (पक्षी) के पङ्ख के समान रसतन्मात्र मण्डल है । हे वरानने ! वहाँ एक भव ही अधिपति है । भवेश के द्वारा प्रेरित, उस मण्डल से जल निकला हुआ है । उस मण्डल से ऊपर रूपतन्मात्र मण्डल है । (यह) चमकते हुए सूर्य की किरणों की आभा वाला, पद्मराग के समान कान्तिमान् है । वहाँ एक मात्र रुद्र ही पशुपति है । पशुपति की इच्छा से उससे तेज निकला हुआ है ।" (स्व०तं० १०।९०२)

"उस मण्डल से ऊपर सन्ध्याकालिक अरुण के समान छाया वाला स्पर्शतन्मात्र मण्डल है ।" (स्व० १०।९०४)

"हे देवि ! उस मण्डल में ईशान ही व्यवस्थित हैं । हे प्रिये ! ईश्वर की इच्छा से प्रेरित उससे वायु निकला है ।" (स्व० १०।९०५)

उस मण्डल से ऊपर नीलकमलदल के समान श्याम, स्वच्छ जल के समान कान्तिवाला शब्दतन्मात्र मण्डल है ।" (स्व० १०।९०७)

"वहाँ एक भीम ही अधिपति के रूप में वर्त्तमान है । भीम की इच्छा से चोदित उससे महान् आकाश निकला है ।" (स्व० १०।९०९)

'ततः' इति तत्तन्मात्रमण्डलमाश्रित्येत्यर्थः । तेन च शब्दतन्मात्रस्योपरितने भागे मण्डलत्रयमेतद्वर्तते, इति । 'विभुः' इति रुद्रः । 'महान्' इति महादेवः । 'तेभ्य' इति निजनिजरुद्राधिपतिचोदितेभ्यः सूर्यादिमण्डलेभ्यः । यदुक्तम्—

'तत् ऊर्ध्वं सूर्यसंज्ञं यत्र रुद्रो विभुः स्थितः ।
तत ऊर्ध्वं सोमसंज्ञं महादेवश्च तत्पतिः ॥
उग्रेशाधिष्ठितं तस्मादूर्ध्वं वै वेदमण्डलम् ।
एभ्यः सूर्यस्तथा सोमो यजमानो विनिर्गताः ॥
कल्पे कल्पे ह्यसंख्याताः.......................। इति ।

'परा' इति तन्मात्रादीनां सूक्ष्मरूपत्वात् । 'ताभ्यः' इति पराभ्यस्तनुभ्यः । 'तत' इति तन्मात्रेभ्योऽनन्तरं 'करणमण्डलम्' इति, तत्तच्छब्दोदीरणादि-व्यापारात्मकत्वात् करणप्रधानं पञ्चानां तत्त्वानां मण्डलं समूह—इत्यर्थः । तच्च वागादिभिः कर्मेन्द्रियैः सम्बद्धं न तु बुद्धीन्द्रियैरित्युक्तं—'वागादिकर्माक्षयुक्तम्' इति । तदुक्तम्—

'एभ्यः परतरं चापि मण्डलं करणात्मकम् ।' (स्व० १०।९९९)

इत्युपक्रम्य

'कर्मदेवाः प्रवर्तन्ते तस्माद्वै सर्वदेहिनाम् ।

उससे = उस तन्मात्रमण्डल को आधार मानकर । इससे शब्दतन्मात्र के ऊपरी भाग में ये तीन मण्डल है । विभु = रुद्र । महान् = महादेव ! उनसे = अपने-अपने रुद्राधिपति के द्वारा प्रेरित सूर्य आदि मण्डलों से । जैसा कि कहा गया है—

"उसके ऊपर सूर्य नामक मण्डल है जहाँ विभु रुद्र है । उसके ऊपर सोम नामक मण्डल हैं । उसके पति महादेव हैं । उसके ऊपर उग्रेश से अधिष्ठित वेदमण्डल है । इनसे कल्प-कल्प में असंख्य सूर्य चन्द्रमा और यजमान निकलते हैं ।"

'परा' तन्मात्रा आदि के सूक्ष्मरूप वाली होने के कारण । उनसे = परा शरीरों से । उसके बाद = तन्मात्राओं के बाद, करणमण्डल है । भिन्न-भिन्न शब्दों के कथन आदि व्यापार वाला होने के कारण पाँच तत्त्वों का कारण प्रधान मण्डल = समूह । वह वाक् आदि कर्मेन्द्रियों से सम्बद्ध है न कि ज्ञानेन्द्रियों से, इसलिए कहा गया वाग् आदि कर्मेन्द्रियों से युक्त । वही कहा गया है—

"इनके बाद करणात्मक मण्डल है ।" (स्व०तं० १०।९९९)

ऐसा प्रारम्भ कर—

"उससे सभी शरीरियों के कर्मदेवता प्रवृत्त होते हैं । वाक्, पाणि, पाद, पायु,

वाक्पाणिपादपायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमः ॥'

(स्व० १०।९२१) इति ।

'तेषु' इति वागादिषु पञ्चसु तत्त्वेषु । तेन वाक्तत्त्वे वह्निर्नायको यावदुपस्थतत्त्वे ब्रह्मा ।

तदुक्तम्—

'कर्मेन्द्रियाणां पतयो वह्नीन्द्रहरिवेधसः ।
मित्रश्च.. ॥' इति ।

तस्मात्करणमण्डलादूर्ध्वं तत्तच्छब्दाद्यर्थप्रकाशत्वात् प्रकाशप्रधानं तत्त्वानां मण्डलं बुद्ध्यक्षपञ्चकं 'श्रुतम्' तत्त्वेन विख्यातम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'तेभ्यः प्रकाशकं नाम परितः सूर्यसन्निभम् ।
तस्माद्वै संप्रवर्तन्ते पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि तु ॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका च यथाक्रमम् ।'

(स्व० १०।९२३) इति ।

श्रोत्रादीति, तेन श्रोत्रे दिशां देवतात्वं यावद्घ्राणे पृथिव्या इति । तदुक्तम्—

'घ्राणादिश्रोत्रपर्यन्ता पृथिवी च अपां पतिः ।
रविर्विद्युद्दिशो ह्येवं स्थिता बुद्धीन्द्रियेषु ते ॥' इति ।

और पाँचवाँ उपस्थ ये कर्मेन्द्रियाँ हैं ।"

उनमें = वाक् आदि पाँच तत्त्वों में । इस प्रकार वाक्तत्त्व में अग्नि नायक है जबकि उपस्थ तत्त्व में ब्रह्मा ।

वही कहा गया है—

"अग्नि इन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और मित्र, ये कर्मेन्द्रियों के स्वामी है ।"

इस करणमण्डल के ऊपर उन-उन शब्द आदि तत्त्वों का प्रकाश होने के कारण तत्त्वों का प्रकाशप्रधान मण्डल पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का श्रुत है = तत्त्व के रूप में प्रसिद्ध है । वही कहा गया है—

"उनसे ऊपर चारो ओर सूर्य के समान प्रकाशमण्डल है । उससे पाँच ज्ञानेन्द्रियों में (पाँच देवता) प्रवृत्त होते हैं । श्रोत्र, त्वक्, चक्षुष्, जिह्वा, और नासिका क्रमशः (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) हैं ।" (स्व०तं० १०।९२३)

श्रोत्र आदि—इस प्रकार श्रोत्र की देवता दिशायें हैं जबकि घ्राण की पृथिवी । वही कहा गया है—

"घ्राण से लेकर श्रोत्रपर्यन्त बुद्धीन्द्रियों में पृथिवी, वरुण, रवि, विद्युत्, और दिशायें स्थित हैं ।"

प्रकाशमण्डलादूर्ध्वमिति, मनस्तत्त्वे तत्रैव पञ्चानामपि शब्दादीनामर्था-नामवस्थानमुचितम्, यत्तद्विषयत्वेनैव मनस्तानि तानीन्द्रियाणि प्रवर्तयतीति । तदत्रैषां परेण रूपेणैतद्भुवनमिति भावः ।

यदुक्तम्—

'एभ्यः परतरं चास्ति चन्द्रमण्डलसन्निभम् ।
विस्तारात्परिणाहाच्च सर्वतो रश्मिमण्डलम् ।
तस्माद्वै संप्रवर्तन्ते पञ्चार्थाः सर्वदेहिनाम् ॥'

(स्व० १०।९२५) इति ।

मनोमण्डलमिति, मनसः प्रधानं भुवनमित्यर्थः । एतस्मादिति प्रकाश-मण्डलादप्यूर्ध्वम् । अत्र च सोमस्याधिष्ठातृत्वे किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्याह—'यतः' इत्यादि । यतः साम्येनाविशेषेण सर्वेन्द्रियाणां तत्तद्विषयौन्मुख्येन प्रवर्तक-त्वात्मकं यत् 'ऐश्वर्यसुखम्' स्वातन्त्र्यचमत्कारस्तदात्मकः संस्तत्तत्सङ्कल्पात्म-व्यवहाररूपत्वात् मन एव देवो 'बाह्यदेवेषु' बहीरूपतया द्योतमानेषु बुद्धीन्द्रियादि-ष्वधिष्ठाता, ततोऽस्य 'दिव्यः' सर्वदेवानामाप्यायकारितया दिवे हितः सोमो विभुरुक्तः—इत्यर्थः ॥ २२४ ॥

ततोऽपि सकलाक्षाणां योनेर्बुद्ध्यक्षजन्मनः ।
स्थूलादिच्छगलान्ताष्टयुक्तं चाहङ्कृतेः पुरम् ॥ २२५ ॥

प्रकाशमण्डल से ऊपर—मनस्तत्त्व में, वहीं पर पाँच शब्द आदि अर्थों की स्थिति उचित है क्योंकि उनके विषय के रूप में मन ही उन-उन इन्द्रियों को प्रवृत्त कराता है । इसलिए यहाँ पररूप में इनका यह भुवन है ।

जैसा कि कहा गया है—

"इनके ऊपर चन्द्रमण्डल के समान सब ओर से विस्तृत और व्यापक रश्मिमण्डल है । उससे सब शरीरियों के पाँच तत्त्व प्रवृत्त होते हैं ।" (स्व०तं० १०।९२५)

मनोमण्डल = मन की प्रधानता वाला भुवन । इससे = प्रकाशमण्डल से भी ऊपर । यहाँ सोम के अधिष्ठाता होने में क्या कारण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—क्योंकि इत्यादि । क्योंकि साम्येन = समान रूप से सब इन्द्रियों का उन-उन विषयों की ओर उन्मुखता के कारण प्रवर्त्तकतारूप जो 'ऐश्वर्य सुख' = स्वातन्त्र्यचमत्कार, तदात्मक होता हुआ, भिन्न-भिन्न सङ्कल्पात्मक व्यवहाररूप होने से मन ही देव है अर्थात् बाह्यदेवों का = बाह्यरूप में द्योतमान ज्ञानेन्द्रिय आदि का, अधिष्ठाता है । इस कारण यह दिव्य—सब देवताओं का आपूरक होने के कारण दिव के लिए हित, सोम विभु कहा गया है ॥ २१६-२२४ ॥

इसके ऊपर समस्त इन्द्रियों की योनि एवं बुद्धि रूपी इन्द्रिय से उत्पन्न

बुद्धितत्त्वं ततो देवयोन्यष्टकपुराधिपम् ।
पैशाचप्रभृतिब्राह्मपर्यन्तं तच्च कीर्तितम् ॥ २२६ ॥
एतानि देवयोनीनां स्थानान्येव पुराण्यतः ।
अवतीर्यात्मजन्मानं ध्यायन्तः संभवन्ति ते ॥ २२७ ॥

उक्तम्—'ततोऽपि' इति मनसोऽप्यनन्तरम् । 'अहङ्कृतेः' इति अहङ्कारस्य । ननु किमिति नामास्य मनस ऊर्ध्वं बुद्धेश्चाधोऽवस्थानम्?—इत्याशङ्क्योक्तम् 'सकलाक्षाणां योनेर्बुद्ध्यक्षजन्मनः' इति । 'स्थूल' इति स्थूलेश्वरः । 'छगल' इति छगलाण्डः । तदुक्तम्—

'स्थूलस्थलेश्वरौ शंकुकर्णकालञ्जरावपि ।
मण्डलेश्वरमाकोटदुरण्डच्छगलाण्डकाः ॥'
(मा० वि० ५।२१) इति ।

श्रीस्वच्छन्दे च—

'छगलाण्डं दुरण्डं च माकोटं मण्डलेश्वरम् ।
कालञ्जरं शंकुकर्णं स्थूलेश्वरस्थलेश्वरौ ॥
स्थाण्वष्टकं समाख्यातं..................... ।'
(स्व० १०।८८९) इति ।

देवयोन्यष्टकमेव 'पुराधिपम्' भुवनेश्वरं यत्र तत्तथा । 'तत्' इति

तथा स्थूलेश्वर से लेकर छगलाण्ड तक आठ से युक्त अहङ्कार का पुर है । उसे बाद आठ देवयोनियों के पुरों का अधिपति बुद्धितत्त्व है । वह पैशाच से लेकर ब्राह्मपर्यन्त कहा गया है । वे ही पुर देवयोनियों के स्थान हैं । इनसे नीचे उतर कर परमशिव का ध्यान करते हुये वे (देवतायें) उत्पन्न होती हैं ॥ २२५-२२७ ॥

उससे भी (ऊपर) = मन के भी बाद । अहङ्कृति का = अहङ्कार का । प्रश्न—इस (= अहङ्कार) की स्थिति मन से ऊपर और बुद्धि से नीचे क्यों हैं ? यह शङ्का कर कहा गया—यह समस्त इन्द्रियों की योनि और बुद्धि इन्द्रिय को उत्पन्न करने वाला है । स्थूल = स्थूलेश्वर । छगल = छगलाण्ड । वही कहा गया है—

"स्थूल, स्थूलेश्वर, शङ्कुकर्ण, कालञ्जर, मण्डलेश्वर, माकोट, दुरण्ड, छगलाण्ड ।" (मा०वि० ५।२१)

और स्वच्छन्दतन्त्र में—

"छगलाण्ड, दुरण्ड, माकोट, मण्डलेश्वर, कालञ्जर, शङ्कुकर्ण, स्थूलेश्वर और स्थलेश्वर ये आठ स्थाणु कहे गए है ।" (स्व०तं० १०।८८९)

देवयोन्यष्टकम् । तदुक्तम्—

'पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्ममष्टममुच्यते ॥'

(मा० वि० ५।२३) इति ।

एतान्येव बुद्धिगतानि ककुभादीनि पुराणि आसां देवयोनीनां 'स्थानानि' मुख्यानि अवस्थितेर्धामानि—इत्यर्थः । अधः पञ्चाष्टकादिरूपतयाऽवस्थितानां पुनरासाममुख्यानि भुवनानीति भावः । 'अवतीर्य' इत्यर्थादधो ब्रह्माण्डादौ, 'संभवन्ति' इति पुनः-पुनः सृष्टिमासादयन्ति—इत्यर्थः ॥ २२७ ॥

अत्रैव निमित्तमाह—

परमेशनियोगाच्च चोद्यमानाश्च मायया ।
नियामिता नियत्या च ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ॥ २२८ ॥
व्यज्यन्ते तेन सर्गादौ नामरूपैरनेकधा ।

ब्रह्मणः सर्गादौ 'व्यज्यन्ते' तथा तथा स्थूलेन रूपेण व्यक्तीभवन्ति—इत्यर्थः । अनेकधेति, तारतम्यादिभेदात् ॥ २२८ ॥

न चैवमपि आसां बुद्धाववस्थितेभ्यो भुवनेभ्यः प्रच्यावः—इत्याह—

आठ देवयोनियाँ ही पुराधिप = भुवनेश्वर हैं जहाँ वह । तत् = आठ देवयोनियाँ हैं । वही कहा गया है—

"पैशाच, राक्षस, याक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और आठवाँ ब्राह्म ये आठ देव योनियाँ कही जाती हैं ।" (मा०वि० ५।२३)

ये ही बुद्धिस्थ ककुभ आदि पुर इन देवयोनियों के स्थान = रहने के स्थल हैं । नीचे पाँच अष्टकों के रूपों में स्थित, इनके अमुख्य धाम हैं । अवतरण कर अर्थात् नीचे ब्रह्माण्ड आदि में । सम्भूत होते हैं = बार-बार सृष्टि को प्राप्त करते हैं ॥ २२५-२२७ ॥

इसमें कारण बतलाते हैं—

परमेश्वर के आदेश से, माया के द्वारा प्रेरित तथा नियति के द्वारा नियन्त्रित, अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा की सृष्टि के प्रारम्भ में उन्हीं के द्वारा नामरूप के माध्यम से अनेक प्रकार से ये अभिव्यक्त होते हैं ॥ २२८-२२९- ॥

ब्रह्मा की सृष्टि के प्रारम्भ में व्यक्त होते हैं = भिन्न-भिन्न स्थूल रूप से प्रकट होते हैं । अनेकधा = तारतम्य आदि के भेद से ॥ २२८ ॥

ऐसा होने पर भी इन (देवयोनियों) का बुद्धिस्थ भुवनों से पतन नहीं होता—यह कहते हैं—

स्वांशेनैव महात्मानो न त्यजन्ति स्वकेतनम् ॥ २२९ ॥

एतच्च बृहस्पतिपादैरेव स्वग्रन्थे व्याकृतम्—इत्याह—

उक्तं च शिवतनाविदमधिकारपदस्थितेन गुरुणा नः ।
अष्टानां देवानां शक्त्याविर्भावयोनयो ह्येताः ॥ २३० ॥

'देवानां' पिशाचादीनाम् 'आविर्भावोः' व्यक्तिस्तेन शक्तिव्यक्तिरूपाद् विविधा योनयः—इत्यर्थः । तत्र बुद्धौ शक्त्यात्मना आसामवस्थितिरधस्तु व्यक्त्यात्मनेति ॥ २३० ॥

तदाह—

तनुभोगाः पुनरेषामधः प्रभूतात्मकाः प्रोक्ताः ।

'प्रभूतात्मकाः' स्थूलरूपाः ॥

तदेव दर्शयति—

चत्वारिंशत्तुल्योपभोगदेशाधिकानि भुवनानि ॥ २३१ ॥

चत्वारिंशदिति, लकुल्यादिभेदात् ॥ २३१ ॥

अपने अंश से—(अन्यत्र व्यक्त होने वाले ये) महात्मा लोग अपने स्थान को (अपने अंश से) नहीं छोड़ते ॥ -२२९ ॥

बृहस्पति ने इसे इस प्रकार अपने ग्रन्थ में स्पष्ट किया है—यह कहते हैं—

अधिकारपद पर स्थित, हमारे गुरु के द्वारा शिवतनु (= शास्त्र) में यह कहा गया है । ये (विविध देवयोनियाँ) आठ देवताओं की शक्ति से उत्पन्न होती हैं ॥ २३० ॥

देवताओं का = पिशाच आदि का । आविर्भाव = अभिव्यक्ति, इस प्रकार शक्ति की अभिव्यक्तिरूप से विविध योनियाँ है । इस स्थिति में बुद्धितत्त्व में इनकी अवस्थिति शक्तिरूप में और नीचे के तत्त्वों में अभिव्यक्त रूप में होती है ॥ २३० ॥

वही कहते हैं—

नीचे (के लोकों में) इनके शरीर भोग स्थूलरूप में कहे गए हैं ॥ २३१- ॥

प्रभूतात्मक = स्थूलरूप ॥

वही दिखलाते हैं—

समान उपभोग वाले भुवनों की संख्या चालिस है ॥ -२३१ ॥

ननु यद्येषां तुल्योपभोगादित्वमस्ति तत्कथं गुह्याष्टकाद्यष्टकपञ्चकतया भेद:?—इत्याशङ्क्याह—

साधनभेदात्केवलमष्टकपञ्चकतयोक्तानि ।

साधनभेदमेवाह—

एतानि　　भक्तियोगप्राणत्यागादिगम्यानि ॥ २३२ ॥
तेषूमापतिरेव प्रभु: स्वतन्त्रेन्द्रियो विकरणात्मा ।
तरतमयोगेन ततोऽपि देवयोन्यष्टकं लक्ष्यं तु ॥ २३३ ॥

प्राणत्याग एतत्क्षेत्रादौ, आदिशब्दाल्लोकधर्मिसाधकदीक्षादि । **एषां चैवं** व्यक्तीभाव: किं स्वयमुत कस्यापि अधिष्ठानेन?—इत्याशङ्क्याह—**'तेष्वित्यादि'** पिशाचादिषु । स्वतन्त्रेन्द्रियत्वादेव 'विकरणात्मा' स्वेच्छाधीनेन्द्रियवृत्ति:—इत्यर्थ: । यदुक्तं तत्रैव—

'इच्छाधीनानि पुनर्विकरणसंज्ञानि ।' इति ।

नन्वासामविशेषेणैव किं सर्वत्रावस्थानं न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

लकुली आदि के भेद से चालिस ॥ २३१ ॥

प्रश्न—यदि इनका उपभोग आदि समान है तो गुह्याष्टक आदि अष्टपञ्चक—इस प्रकार का भेद कैसे है—यह शङ्का कर कहते हैं—

साधनभेद के कारण ये आठ (भुवन) पाँच (भेद वाले) कहे गए हैं ॥ २३२- ॥

साधनभेद को बतलाते हैं—

ये भक्ति, योग और प्राणत्याग के द्वारा प्राप्य हैं । उनमें उमापति (परमेश्वररूपी श्रीकण्ठ) ही अधिष्ठाता है (वे) स्वाधीन इन्द्रियवाले तथा स्वेच्छाधीन इन्द्रियवृत्तिवाले हैं । आगे देवयोनियों को तरतम भाव से उस (= बुद्धि) से उत्पन्न समझना चाहिए ॥ -२३२-२३३ ॥

प्राणत्याग—इन क्षेत्र आदि में । आदि शब्द से लोकधर्मीसाधक दीक्षा आदि (जानना चाहिए) । इनकी इस प्रकार अभिव्यक्ति क्या स्वयं होती है या किसी के अधिष्ठान से ?—यह शङ्का कर कहते हैं—उनमें = पिशाच आदि में । स्वतन्त्रेन्द्रिय वाला होने से ही (वह) विकरणात्मा = स्वेच्छाधीन इन्द्रियवृत्तियों वाला है । वही वहाँ कहा गया है—

"इच्छाधीन विकरण नाम वाले होते हैं ।"

प्रश्न—इनकी समान रूप से सर्वत्र स्थिति रहती है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'तरतमेत्यादि' । 'ततः' इति बुद्धेः । अपिर्भिन्नक्रमः, तेन अष्टावपीति योज्यम् ॥ २३३ ॥

न केवलमासामेव तरतमभावो यावदक्षाणामपि—इत्याह—

लोकानामक्षाणि च विषयपरिच्छित्तिकरणानि ।

पिशाचादयो हि व्यवहितमपि चक्षुषा पश्यन्ति—इत्याशयः ॥

न केवलमासां प्रतितत्त्वमेव तरतमभावो यावदन्योन्यमपि—इत्याह—

गन्धादेर्महदन्तादेकाधिक्येन जातमैश्वर्यम् ॥ २३४ ॥
अणिमाद्यात्मकमस्मिन्पैशाचाद्ये विरिञ्चान्ते ।

गन्धशब्देनात्र पृथ्व्या अभिधानम्, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । एकाधिक्येन इति, तत्पैशाचे यादृशमैश्वर्यं ततोऽपि द्विगुणं राक्षसे, यावद् ब्राह्मेऽष्टगुणम्—इत्यर्थः ॥ २३४ ॥

अत एव च दीक्षायामेतच्छुद्धौ यतितव्यम्—इत्याह—

ज्ञात्वैवं शोधयेद् बुद्धिं सार्धं पुर्यष्टकेन्द्रियैः ॥ २३५ ॥

तरतम योग से—उससे = बुद्धि से । अपि शब्द का क्रम भिन्न है । इसलिए आठ भी ऐसा अन्वय करना चाहिये ॥

इन्हीं का केवल तरतम भाव नहीं है इन्द्रियों का भी है—यह कहते हैं—

इन्द्रियाँ लोगों (= मनुष्यों) की विषय की सीमा करने वाली हैं'' ॥ २३४- ॥

तात्पर्य यह है कि पिशाच आदि व्यवहित (वस्तु) को भी आँख से देख लेते हैं किन्तु मनुष्य या पशु-पक्षी आदि अव्यवहित वस्तु का ही प्रत्यक्ष करते हैं ॥

इनका केवल प्रत्येक तत्त्व के साथ ही तरतम भाव नहीं है बल्कि एक का दूसरे के साथ भी है—यह कहते हैं—

इस पैशाच से लेकर ब्राह्म योनि में पृथिवी से लेकर महत् तत्त्व तक अणिमा आदि ऐश्वर्य एक-एक गुना अधिक है ॥ -२३४-२३५- ॥

गन्ध शब्द से पृथिवी का कथन है क्योंकि कार्य और कारण में अभेद मान लिया जाता है । एक अधिक—पैशाच योनि में जैसा ऐश्वर्य है उसका दो गुना राक्षस योनि में । इसी प्रकार ब्राह्म योनि में आठ गुना है ॥ २३४ ॥

इसीलिए दीक्षा के समय इसकी शुद्धि के लिए प्रयास करना चाहिए—यह कहते हैं—

ऐसा जानकर पुर्यष्टक इन्द्रियों के साथ बुद्धि का शोधन करना

एवमिति, बुद्धेरेवेदं निखिलं जगद्विजृम्भितम्—इत्यत एवोक्तं 'पुर्यष्टकेन्द्रियैः सार्धम्' इति ॥ २३५ ॥

न केवलमत्र देवयोन्यष्टकमेवास्ति यावदन्यदपि—इत्याह—

क्रोधेशाष्टकमानीलं संवर्ताद्यं ततो विदुः ।
तेजोष्टकं बलाध्यक्षप्रभृतिक्रोधनाष्टकात् ॥ २३६ ॥
अकृतादि ततो बुद्धौ योगाष्टकमुदाहृतम् ।
स्वच्छन्दशासने तत्तु मूले श्रीपूर्वशासने ॥ २३७ ॥
योगाष्टकपदे यत्तु सोमे श्रैकण्ठमेव च ।
ततो मायापुरं भूयः श्रीकण्ठस्य च कथ्यते ॥ २३८ ॥
तेन द्वितीयं भुवनं तयोः प्रत्येकमुच्यते ।
तत्र मायापुरं देव्या यया विश्वमधिष्ठितम् ॥ २३९ ॥
प्रतिकल्पं नामभेदैर्भण्यते सा महेश्वरी ।
उमापते पुरं पश्चान्मातृभिः परिवारितम् ॥ २४० ॥
श्रीकण्ठ एव परया मूर्त्योमापतिरुच्यते ।

'आनीलम्' इति नीलोत्पलाभम् । तदुक्तम्—

चाहिए ॥ -२३५ ॥

ऐसा—बुद्धि से ही यह समस्त संसार निकला हुआ है—इसीलिए कहा गया—पुर्यष्टक इन्द्रियों के साथ ॥ २३५ ॥

यहाँ केवल आठ देव योनियाँ ही नहीं है बल्कि और भी है—यह कहते हैं—

सम्पूर्ण रूप से नील आभावाले संवर्त्त आदि आठ क्रोधेश हैं । उसके बाद आठ क्रोधेश के ऊपर बलाध्यक्ष आदि आठ तेजोऽष्टक है । इसके बाद बुद्धि तत्त्व में वर्त्तमान अकृत आदि योगाष्टक कहे गए हैं । यह बात स्वच्छन्दतन्त्र एवं मालिनीविजय में स्पष्ट तथा उक्त है । योगाष्टकपद श्रीकण्ठ के उस रूप के साथ प्रयुक्त होता है जब वे रुद्रलोक में ज्योतिष्क शिखर पर उमा के साथ शर्व आदि से परिवृत रहते हैं ।

इसके बाद पर रूप से श्रीकण्ठ से अधिष्ठित मायापुर कहा जाता है । यह उमापति तथा श्रीकण्ठ दोनों के अलग-अलग अधिकार से दो प्रकार से गृहीत है जहाँ पर (उस) देवी की मायापुरी है जिसके द्वारा विश्व नियन्त्रित है । वह महेश्वरी भिन्न-भिन्न कल्पों में भिन्न-भिन्न नामों से कही जाती है । उसके ऊपर माताओं से परिवारित उमापति का पुर है । श्रीकण्ठ ही परमूर्त्ति प्राप्त करने के कारण उमापति कहे जाते हैं ॥ २३६-२४१- ॥

'संवर्तस्त्वेकवीरश्च कृतान्तो जननाशनः ।
मृत्युहर्ता च रक्ताक्षो महाक्रोधश्च दुर्जयः ॥
नीलोत्पलदलाभानि तेषां वै भुवनानि तु ।'
(स्व० १०।९७६) इति ।

क्रोधनाष्टकादिति, तदूर्ध्वम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'क्रोधेश्वराष्टकादूर्ध्वं स्थितं तेजोऽष्टकं महत् ।
बलाध्यक्षो गणाध्यक्षस्त्रिदशस्त्रिपुरान्तकः ॥
सर्वरूपश्च शान्तश्च निमेषोन्मेष एव च ।'
(स्व० १०।९७८) इति ।

'ततः' इति तेजोष्टकादनन्तरम् । तदुक्तम्—

'अकृतं च कृतं चैव वैभवं ब्राह्ममेव च ।
वैष्णवं त्वथ कौमारमौमं श्रैकण्ठमेव च ॥'
(स्व० १०।९८१) इति ।

तुशब्दो व्यतिरेके 'मूल' इति प्रकृतौ । यदुक्तं तत्र—

'योगाष्टकं प्रधानं च........................ ।' इति ।

'योगाष्टकपदे' इत्यपरेण रूपेणोक्तम्, भूय इति परेण रूपेण, तयोरिति

आनील = नील कमल के समान । वही कहा गया है—

"संवर्त्त एकवीर, कृतान्त, जननाशन, मृत्युहर्त्ता, रक्ताक्ष, महाक्रोध और दुर्जय ये आठ क्रोधेश्वर हैं । इनके भुवन नीलकमल के दल के समान है ।" (स्व०तं० १०।९७६)

क्रोधनाष्टक से—उसके ऊपर । वही कहा गया है—

"क्रोधनाष्टक से ऊपर महान् तेजोऽष्टक स्थित हैं उनके नाम हैं—बलाध्यक्ष, गणाध्यक्ष, त्रिदश, त्रिपुरान्तक, सर्वरूप, शान्त, निमेष और उन्मेष ॥ (स्व०तं० १०।९७८)

ततः = तेजोऽष्टक के बाद । वही कहा गया है—

"अकृत, कृत, वैभव, ब्राह्म, वैष्णव, कौमार, भौम और श्रीकण्ठ ये आठ योगाष्टक के नाम से जाने जाते हैं ।" (स्व०तं० १०।९८१)

'तु' शब्द किसी दूसरे शब्द के साथ जुटता है । मूल में = प्रकृति में । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"योगाष्टक प्रधान (के अधीन) है ।"

'योगाष्टकपदे' यह अपररूप से कहा गया है । 'भूयः' यह पर रूप से । उन

उमापतिश्रीकण्ठयोः, तत्रेति द्वयनिर्धारणे । पुरमिति, अर्थाद् द्वितीयम् । एवं विश्वाधिष्ठाने हेतुर्भण्यते 'सा महेश्वरी' इति । तदुक्तम्—

'ततः साक्षाद्भगवती जगन्माता व्यवस्थिता ।
उमा त्वमेया विश्वस्य विश्वयोनिः स्वयंभवा ॥'
(स्व० १०।९८३) इत्यादि ।

'कल्पे पूर्वे जगन्माता जगद्योनिर्द्वितीयके ।
तृतीये शाम्भवी नाम चतुर्थे विश्वरूपिणी ॥'
(स्व० १०।९९२) इत्यादि ।

मध्ये

'कात्यायनीति दुर्गेति विविधैर्नामपर्यायैः ।
मानुषाणां तु भक्तानां वरदा भक्तवत्सला ॥
पूर्वमेवावतीर्णासि विन्ध्यपर्वतमूर्धनि ।' (स्व १०।१००३)

इत्यन्तम् । 'पश्चात्' इत्युमापुरानन्तरम् । ननु श्रीकण्ठस्य 'भूयः पुरं कथ्यते' इत्युपक्रम्य कथमुमापतेरित्युक्तम्?—इत्याशङ्क्याह—'श्रीकण्ठ एव' इत्यादि ॥ २४० ॥

कास्ता मातरः?—इत्याशङ्क्याह—

ब्राह्म्यैशी स्कन्दजा हारी वाराह्यैन्द्री सविच्चिका (चर्चिका)॥ २४१ ॥

दोनों का = उमापति और श्रीकण्ठ का । उसमें = दो के निश्चय करने में पुर अर्थात् दूसरा (पुर) । इस प्रकार विश्व के अधिष्ठान में हेतु कहा जाता है—'वह महेश्वरी' । वही कहा गया है—

"उसके बाद साक्षात् भगवती जगन्माता उमा स्थित हैं जो कि विश्व के ज्ञान से परे, विश्व की कारणभूत और स्वयंभू हैं ।" (स्व० १०।९८३)

"यह प्रथम कल्प में जगन्माता, द्वितीय में जगद्योनि तृतीय में शाम्भवी और चतुर्थ कल्प में विश्वरूपिणी (नामवाली है) ।" (स्व०तं० १०।९९२)

इत्यादि । और मध्य में

"कात्यायनी, दुर्गा इत्यादि अनेक पर्याय नामों से (कही जाती है) । भक्त मनुष्यों के लिए वरदायिनी, भक्तवत्सला (वह) विन्ध्यपर्वत्त के ऊपर पहले ही अवतीर्ण हैं ।" (स्व०तं० १०।१००३)

इत्यादि अन्त तक उसका वर्णन है । बाद में = उमापुर के बाद । प्रश्न—श्रीकण्ठ का 'पुनः पुर कहा जाता है'—ऐसा प्रारम्भ कर पुनः 'उमापति का'—ऐसा क्यों कहा गया ? यह शङ्का कर कहते हैं—'श्रीकण्ठ ही.....' इत्यादि ॥ २४०- ॥

वे मातायें कौन सी हैं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

पीता शुक्ला पीतनीले नीला शुक्लारुणा क्रमात् ॥
अग्नीशसौम्ययाम्याप्यपूर्वनैर्ऋतगास्तु ताः ॥ २४२ ॥
अंशेन मानुषे लोके धात्रा ता ह्यवतारिताः ।

तदुक्तम्

'ब्राह्मी कमलपत्राभा दिव्याभरणभूषिता ।
आग्नेय्यां दिशि........................... ।'
(स्व० १०।१०१७) इति ।

'शङ्खगोक्षीरसङ्काशा त्वैशान्यां तु वरानने ।
माहेश्वरी....................................... ॥'
(स्व० १०।१०१८) इति ।

'कौमारी पद्मगर्भाभा हारकेयूरभूषिता ।
दिश्युत्तरस्यां............................... ॥'
(स्व० १०।१०१९) इति ।

'स्निग्धनीलोत्पलनिभा हारकुण्डलमण्डिता ।
दक्षिणस्यां दिशि तु सा उपास्ते परमेश्वरम् ॥
वैष्णवीति च विख्याता .... ।'
(स्व० १०।१०२०) इति ।

'नीलजीमूतसङ्काशा सर्वाभरणाभूषिता ।

ब्राह्मी, ऐशानी, स्कन्दजा, हारी (= वैष्णवी), वाराही, ऐन्द्री, चर्चिका (= चामुण्डा), (ये देवियाँ) क्रमशः पीता, शुक्ला, पीतनीला, नीला तथा शुक्ला रूपा हैं । वे अग्नि, ईशान, सौम्य, याम्य, आप्य, पूर्व, और नैर्ऋत दिशाओं में रहती हैं । ब्रह्मा के द्वारा वे मनुष्य लोक में आंशिक रूप में अवतारित की गयी हैं ॥ -२४१-२४३- ॥

वही कहा गया है—

"कमलपत्र के समान, दिव्य आभरण से अलंकृत ब्राह्मी अग्नि कोण में है ।" (स्व० तं० १०।१०१७)

"हे वरानने ! शङ्ख अथवा गाय के दूध के समान माहेश्वरी ईशान दिशा में (स्थित) है ।" (स्व० १०।१०१८)

"उत्तर दिशा में पद्मगर्भ के समान कान्तिवाली, हार और केयूर से अलंकृत कौमारी (स्थित) है ।" (स्व०। १०।१०१९)

"स्निग्ध नील कमल के समान, हार और कुण्डल से अलंकृत जो देवी दक्षिण दिशा में परमेश्वर की उपासना करती है वह वैष्णवी के नाम से विख्यात है।" (स्व० १०।१०२०)

वारुण्यां दिशि वाराही....................

॥'

(स्व० १०।१०२१) इति ।

'शङ्खकुन्देन्दुधवला हारकुण्डलमण्डिता ।
ऐन्द्र्यां दिशि तु चैन्द्राणी................. ॥'

(स्व० १०।१०२२) इति ।

करालवदना दीप्ता सर्वाभरणभूषिता ।
नैर्ऋत्यां दिशि चामुण्डा................. ॥'

(स्व० १०।१०२३) इति च ।

अंशेनेति, न तु सर्वसर्विकया । तदुक्तम्—

'न त्यजन्ति हि ता देवं सर्वभावसमन्वितम् ।
अंशेन मानुषं लोकं ब्रह्मणा चावतारिताः ॥
असुराणां वधार्थाय मानुषाणां हिताय च ।'

(स्व० १०।१०२५) इति ॥ २४२ ॥

न चेयदन्तमेवासां व्याप्तिः—इत्याह—

स्वच्छन्दास्ताः पराश्चान्याः परे व्योम्नि व्यवस्थिताः ॥ २४३ ॥
स्वच्छन्दं ता निषेवन्ते सप्तधेयमुमा यतः ।

"नील बादल के समान तथा सभी आभूषणों से युक्त वाराही पश्चिम दिशा में स्थित है ।" (स्व०१०।१०२१)

"शङ्ख, कुन्द पुष्प एवं चन्द्रमा के समान धवल तथा हार एवं कुण्डल से विभूषित इन्द्राणी पूर्व दिशा में विराजमान हैं ।" (स्व० १०।१०२२)

"भयङ्कर मुख वाली, चमकती हुई, समस्त आभूषणों से युक्त चामुण्डा नैर्ऋत्य दिशा में वर्त्तमान है ।" (स्व० १०।१०२३)

आंशिकरूप से न कि सम्पूर्णरूप में । वही कहा गया है—

(ये देवियाँ मृत्युलोक में जाने के लिए) प्रेरित हुई भी (अथवा हितकारिणी) समस्त भावों से युक्त परमेश्वर को छोड़ती नहीं हैं । असुरों के वध तथा मनुष्यों के कल्याण के लिए ब्रह्मा के द्वारा मनुष्य लोक में ये सब आंशिक रूप में अवतारित की गयीं ॥ २४२ ॥ (१०।१०२५)

यहीं तक इनकी व्याप्ति नहीं है—यह कहते हैं—

स्वच्छन्द वे और दूसरी परा (आदि देवियाँ) परम व्योम में रहती है । वे स्वच्छन्द (= परमेश्वर) की सेवा करती हैं । क्योंकि उमा सात रूपों वाली है ॥ -२४३-२४४- ॥

शक्तिः । तदुक्तम्—

'स्वच्छन्दाश्च पराश्चान्याः परे व्योम्नि व्यवस्थिताः ।
स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागतः ॥
उमा वै सप्तधा भूत्वा नामरूपविपर्ययैः ।'
(स्व० १०।१०२७) इति ॥ २४३ ॥

उमापतिपुरस्योर्ध्वं स्थितं मूर्त्यष्टकं परम् ॥ २४४ ॥
शर्वादिकं यस्य सृष्टिर्धराद्या याजकान्ततः ।
ताभ्य ईशानमूर्तिर्या सा मेरौ संप्रतिष्ठिता ॥ २४५ ॥
श्रीकण्ठः स्फटिकाद्रौ सा व्याप्ता तन्वष्टकैर्जगत् ।
ये योगं सगुणं शम्भोः संयताः पर्युपासते ॥ २४६ ॥
तन्मण्डलं वा दृष्ट्वैव मुक्तद्वैता हृतत्रयाः ।

मूर्त्यष्टकमिति, तदधिष्ठातृ परमिति, अपरस्य परापरस्य च पूर्वमुक्तत्वात् । 'यस्य' इति मूर्त्यष्टकाधिष्ठातुः शर्वादेः । 'ताभ्यः' इति अष्टाभ्यो मूर्तिभ्यो मध्यात् 'सगुणम्' इति सत्त्वादिवृत्तिप्रधानं न तु पराद्वयरूपम् । तन्मण्डलमिति,

---

परम व्योम में = उन्मना स्तर पर । उमा = परम शिव से अभिन्न परमेश्वर की शक्ति । वही कहा गया है—

"स्वच्छन्द वे और दूसरी परा (आदि देवियाँ) पर व्योम में स्थित है । ये स्वच्छन्द (= परमेश्वर) की सेवा में रत है । उमा ही भिन्न-भिन्न नामरूपों में पर-अपर विभाग से सात रूपों में होकर (स्थित है)" ॥ २४३ ॥ (स्व० १०।१०२७)

उमापतिपुर के ऊपर शर्व आदि (= शर्व, भव, रुद्र, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव, उग्र) पर मूर्त्यष्टक (= परा आठ मूर्त्तियाँ) स्थित हैं । जिसकी सृष्टि पृथ्वी से लेकर यजमान तक है । उन (= आठ मूर्त्तियों) में से जो ईशान मूर्त्ति है वह मेरु (पर्वत) पर स्थित हैं । श्रीकण्ठ स्फटिक पर्वत पर (स्थित) हैं । वह (= श्रीकण्ठमूर्त्ति) अपनी आठ (पृथिवी जल आदि) शरीरों से संसार को व्याप्त किये हुये हैं । जो संयमशील (पुरुष) शिव के सगुण योग की उपासना करते हैं वे उस मण्डल को देख कर ही द्वैतरहित तथा त्रयशून्य (सत्त्व रजस् तमस् रूप तीन से शून्य) हो जाते हैं ॥ -२४४-२४७- ॥

आठ मूर्त्तियाँ—उस (पुर) की अधिष्ठातृ पर (देवता) । क्योंकि अपर और परापर पहले ही कह दिये गये हैं । जिसका = आठ मूर्त्तियों के अधिष्ठाता शर्व आदि का । उनसे = आठ मूर्त्तियों में से । सगुण = सत्त्व आदि वृत्ति की प्रधानता वाले, न कि पराद्वय रूप । उस मण्डल को = श्रीकण्ठ आदि के द्वारा उक्त

श्रीश्रीकण्ठाद्युक्तम् । 'मुक्तद्वैताः' इति सांख्यादिक्रमेण लब्धकैवल्याः ॥ २४६ ॥

ननु यदि नाम योगस्येयदन्तं प्राप्तौ सामर्थ्यमस्ति तत्कथमस्य अधराधरतत्त्वप्राप्तिरप्युक्ता ?—इत्याशङ्क्याह—

गुणानामाधरौत्तर्याच्छुद्धाशुद्धत्वसंस्थितेः ॥ २४७ ॥
तारतम्याच्च योगस्य भेदात्फलविचित्रता ।
ततो भोगफलावाप्तिभेदाद्भेदोऽयमुच्यते ॥ २४८ ॥

'आधरौत्तर्यात्' इति गुणप्रधानभावात् । शुद्धत्वम्, निर्बीजत्वात् । अशुद्धत्वम्, सबीजत्वात् । 'तारतम्यात्' इति मृदुमध्याधिमात्ररूपत्वात् । फल-विचित्रतेति, तत्तत्त्वप्राप्तिरूपा येनायं भेदः । कस्यचिद्योगस्योर्ध्वोर्ध्वं तत्त्वेषु प्राप्तिनिमित्तत्वम्, अन्यस्य च अधराधरेष्विति ॥ २४८ ॥

मूर्त्यष्टकोपरिष्टात्तु सुशिवा द्वादशोदिताः ।
वामाद्येकशिवान्तास्ते कुङ्कुमाभाः सुतेजसः॥ २४९ ॥
तदूर्ध्वं वीरभद्राख्यो मण्डलाधिपतिः स्थितिः ।
यत्त(स्त) त्सायुज्यमापन्नः स तेन सह मोदते ॥ २५० ॥
ततोऽप्यङ्गुष्ठमात्रान्तं महादेवाष्टकं भवेत् ।

(मण्डल) को । द्वैतरहित = सांख्य आदि के क्रम से कैवल्य को प्राप्त ॥ २४६ ॥

प्रश्न—यदि यहाँ तक प्राप्ति के विषय में योग का सामर्थ्य है तो इसके नीचे-नीचे के तत्त्वों की प्राप्ति भी क्यों कहीं गयी ? यह शङ्का कर कहते हैं—

गुणों के गौणप्रधान भाव, शुद्ध अशुद्ध स्थिति और योग के तारतम्य के कारण वेद (= ऋग् आदि) से विचित्र फल (उपलब्ध होते) हैं । इस कारण भोगफल की प्राप्ति के भेद से यह भेद कहा जाता है ॥ -२४७-२४८ ॥

आधरौत्तर्य के कारण = गुणप्रधानभाव के कारण । शुद्धता—निर्बीज होने के कारण होती है अशुद्धता = सबीज होने के कारण होती है । तारतम्य के कारण = मृदु मध्य और अधिमात्र (= तीव्र) रूप होने के कारण । फलविचित्रता—उस तत्त्व की प्राप्तिरूपा, जिससे यह भेद है । कोई योग ऊर्ध्व तत्त्वों की प्राप्ति का कारण है दूसरा निम्न-निम्न (तत्त्वों) की ॥ २४८ ॥

मूर्त्यष्टक के ऊपर कुंकुम के समान कान्ति वाले तेजस्वी वाम से लेकर शिव पर्यन्त बारह सुशिव कहे गए हैं । उसके ऊपर वीरभद्र नामक मण्डलाधिपति स्थित हैं । जो (मनुष्य) उनके सायुज्य को प्राप्त कर लेता है वह उनके साथ आनन्द उठाता है । उसके बाद अङ्गुष्ठमात्र तक महादेवाष्टक हैं ॥ २४९-२५१- ॥

'सुतेजसः' इति सूर्यकोटिसमप्रभाः । तदुक्तम्—

'वामो भीमस्तथोग्रश्च शिवः शर्वस्तथैव च।
विद्यानामधिपश्चैव एकवीरः प्रचण्डधृत् ॥
ईशानश्चाप्युमाभर्ता अजेशोऽनन्त एव च ।
तथा एकशिवश्चैव सुशिवा द्वादश स्मृताः॥
सर्वे कुङ्कुमसङ्काशाः सूर्यकोटिसमप्रभाः ।'

(स्व० १०।१०३८) इति ।

तदूर्ध्वमिति, तच्छब्देन सुशिवपरामर्शः । 'ततः' इति वीरभद्रमण्डलादप्यनन्तरम् । तदुक्तम्—

'महादेवो महातेजा वामदेवभवोद्भवौ ।
एकपिङ्गेक्षणेशानभुवनेशपुरःसराः ॥
अङ्गुष्ठमात्रसहिता महादेवाष्टके शिवाः ।'

(स्व० १०।१०४२) इति ॥ २५० ॥

एतदेवोपसंहरति—

बुद्धितत्त्वमिदं प्रोक्तं देवयोन्यष्टकादितः ॥ २५१ ॥
महादेवाष्टकान्ते तद् योगाष्टकमिहोदितम् ।
तत्र श्रैकण्ठमुक्तं यत् तस्यैवोमापतिस्तथा ॥ २५२ ॥
मूर्तयः सुशिवा वीरो महादेवाष्टकं वपुः ।

सुतेज वाले = करोड़ों सूर्य के समान कान्ति वाले । वही कहा गया—

"वाम, भीम, उग्र, शिव, शर्व, विद्यापति, एकवीर, प्रचण्डधृत्, ईशान उमाभर्त्ता, अजेश, अनन्त तथा एकशिव ये बारह सुशिव कहे गए हैं । (स्व० तं० १०।१०३८)

उसके ऊपर—यहाँ उस पद से सुशिव समझना चाहिए । उसके बाद = वीरभद्रमण्डल के बाद । वही कहा गया है—

"महादेव, महातेज, वामदेव, भवोद्भव, एकपिङ्गेक्षण, ईशान, भुवनेश और अङ्गुष्ठमात्र को लेकर ये शिवमहादेवाष्टक की गणना में आते हैं ॥ २५० ॥ (स्व० तं० १०।१०४२)

इसी का उपसंहार करते हैं—

आठ देवयोनि से लेकर महादेवाष्टक तक बुद्धितत्त्व (—वासी मण्डल) कहा गया । वह यहाँ योगाष्टक कहा गया है । उसमे श्रीकण्ठ सम्बन्धी जो (भुवन) कहा गया उमापति, सुशिव मूर्त्तियाँ, वीरभद्र तथा महादेवाष्टक उसी का शरीर है ॥ -२५१-२५३- ॥

एवंविधे च बुद्धितत्त्वे योगाष्टकमध्ये यदष्टमं श्रैकण्ठं भुवनमुक्तं तदधिष्ठाता च यः श्रीकण्ठनाथ उक्तः, तस्यैवायमुमापतेरारभ्य सर्वः प्रपञ्चः—इत्युक्तम्—'तस्यैवेत्यादि' । 'वीरो' वीरभद्रः । तदुक्तम्—

'सर्वेश्वरानधिष्ठाय श्रीकण्ठः कारणेच्छया ।
एकः स बहुभी रूपैरास्ते प्रतिनिकेतनम् ॥' इति ॥ २५२ ॥

उपरिष्टाद्धियोऽधश्च　　प्रकृतेर्गुणसंज्ञितम् ॥ २५३ ॥
तत्त्वं तत्र तु संक्षुब्धा गुणाः प्रसुवते धियम् ।

'गुणसंज्ञितं तत्त्वम्' गुणतत्त्वम्—इत्यर्थः । ननु 'प्रकृतेर्महान्' (सां०का० २२) इत्युक्त्या प्रकृत्यनन्तरं तत्कार्यभूतं बुद्धितत्त्वमन्यैरुक्तम्—इति कथमिहान्तरा गुणतत्त्वमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—'तत्र तु' इत्यादि । तुशब्दो हेतौ । 'संक्षुब्धाः' इति परस्पराङ्गाङ्गिभावेन वैषम्यापत्त्या कार्यजननोन्मुखाः—इत्यर्थः । प्रकृतौ हि तेषामविशेषेणावस्थानम् । यदाहुः—

"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।"
(सा० सू० १।६१) इति ॥

न च वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यं जनयेत्, बीजं हि जलादिसंपर्कादुच्छून-

---

इस प्रकार के बुद्धितत्त्व में योगाष्टक में जो आठवाँ श्रीकण्ठ वाला भुवन कहा गया है और उसके अधिष्ठाता जो श्रीकण्ठ नाथ कहे गए हैं उमापति से लेकर सारा प्रपञ्च उन्हीं का है—यही कहा गया—उसी का इत्यादि । वीर = वीरभद्र । वहीं कहा गया है—

"कारण (= परम शिव) की इच्छा से श्रीकण्ठ सभी ईश्वरों को अधिष्ठित कर एक होते हुए भी प्रत्येक भुवन में अनेक रूपों में रहते हैं" ॥ २५२ ॥

बुद्धितत्त्व के ऊपर और प्रकृति के नीचे गुण नामक तत्त्व है । वहाँ क्षोभ को प्राप्त गुण बुद्धितत्त्व को प्रकट करते हैं ॥ -२५३-२५४- ॥

गुणसंज्ञित तत्त्व = गुणतत्त्व । प्रश्न—"प्रकृति से महत् तत्त्व..." इस उक्ति से अन्य लोगों के द्वारा प्रकृति के बाद उसका कार्य बुद्धितत्त्व कहा गया है । फिर यहाँ बीच में गुण तत्त्व कैसे कहा जा रहा है ? यह शङ्का कर कहते हैं "वहाँ तो" इत्यादि । तु शब्द हेतु अर्थ में प्रयुक्त है । संक्षुब्ध = परस्पर अङ्गअङ्गीसम्बन्ध से वैषम्य की प्राप्ति' के द्वारा कार्य को उत्पन्न करने की ओर उन्मुख । प्रकृति की स्थिति में उनकी स्थिति सामान्य रूप से (= साम्यावस्था में) रहती है । जैसा कि कहा गया है—

"सत्त्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है ।"

वैषम्य को न प्राप्त होने वाला कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता । बीज

तामापन्नं सत् अङ्कुरादि उत्पादयेत् नान्यथा, तथात्वे हि मूलादपि तदुत्पादः स्यात्, तदाह—

न वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यसूतये ॥ २५४ ॥

अत एव वैषम्यमनापन्ना प्रकृति कथं बुद्धिजन्मनि कारणं स्यात् ? इत्याह—

गुणसाम्यात्मिका तेन प्रकृतिः कारणं भवेत् ।

'तेन' इति वैषम्यापत्तिभावेन । तदवश्यं प्रकृतिकार्यं तत्क्षोभरूपं गुणतत्त्व-मन्तराङ्गीकार्यं येन बुद्धिजन्म स्यात् ॥

ननु यद्येवं तद् गुणतत्त्वमपि प्रकृतिः किं क्षोभं विना जनयेन्न वा ? तत्राद्ये पक्षे बुद्धितत्त्वमेव तथा जनयतु किमन्तराकल्पितेन गुणतत्त्वेन । अथ सति क्षोभे तत् सोऽपि क्षोभः किं क्षोभान्तरे सत्यसति वा ? इत्यनवस्था स्यात्, येन न गुणानां नापि बुद्धेर्जन्म सिद्ध्येत्; तदाह—

नन्वेवं सापि संक्षोभं विना तान्विषमान्गुणान् ॥ २५५ ॥
कथं सुवीत तत्राद्ये क्षोभे स्यादनवस्थितिः ।

जल आदि के सम्पर्क से उच्छूनता को प्राप्त होकर ही अङ्कुर आदि को उत्पन्न करेगा अन्यथा नहीं । क्योंकि वैसा होने पर मूल से भी उसकी उत्पत्ति होने लगेगी । वही कहते हैं—

वैषम्य को अप्राप्त कारण कार्य की उत्पत्ति के लिए (समर्थ) नहीं है ॥-२५४ ॥

इसीलिए वैषम्य को अप्राप्त प्रकृति बुद्धि की उत्पत्ति में कारण कैसे हो सकती है । यह कहते है—

इसलिए गुणों की साम्यरूपा प्रकृति कारण है ॥

इसलिए = वैषम्य की प्राप्ति के कारण । इसलिए बीच में प्रकृति का कार्य उसका क्षोभरूप गुणतत्त्व अवश्य स्वीकार करना चाहिए जिससे बुद्धि का जन्म हो ।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो प्रकृति गुणतत्त्व को बिना क्षोभ के उत्पन्न करेगी या नहीं ? प्रथम पक्ष में उस प्रकार प्रकृति बुद्धितत्त्व को ही उत्पन्न करे मध्य मे कल्पित गुणतत्त्व का क्या प्रयोजन । और यदि क्षोभ होने पर (उत्पन्न करती है) तो वह क्षोभ भी दूसरे क्षोभ के होने पर होगा या न होने पर ? इस प्रकार अनवस्था होने लगेगी जिससे कि न तो गुणों का और न बुद्धि का जन्म सिद्ध होगा, वह कहते हैं—

प्रश्न है कि इस प्रकार वह क्षोभ के बिना उन विषम गुणों को

ननु भवेदयं दोष: किंतु सांख्यस्य न पुनरस्माकम्, न हि नाम जडं कारणं क्षोभं विना कार्यमेव जनयितुमलम् लोके बीजाङ्कुरादौ तथा दर्शनात्, तदाह—

सांख्यस्य दोष एवायं......................

एवकारो भिन्नक्रम: । तेन सांख्यस्यैवेति । यद्वा तस्यापि नायं दोषो यत्तेन स्वत एव क्षुब्धास्ते गुणा अव्यक्तस्य रूपमिष्टम्, अन्यथा कथं तत्कार्योत्पाद: स्यात्; अत एव 'प्रसवधर्मि' (सां० का० ११) इत्युक्तम् ॥ तदाह—

.................यदि वा तेन ते गुणा: ॥ २५६ ॥

अव्यक्तमिष्टा:

ननु यद्येवं तत्तस्य 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:' इति कथं सङ्गच्छेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

साम्यं तु सङ्गमात्रं न चेतरत् ।

साम्यं पुनरत्र गुणानां सङ्गमात्रत्वम्, क्षुब्धत्वेऽपि समस्पर्धितया समुदितत्वमेव केवलं विवक्षितं न त्वितरत्, अक्षुब्धत्वात् अविशेषेणावस्थानम्, तथात्वे हि

कैसे उत्पन्न करेगी । फलत: प्रथम क्षोभ के विषय में अनवस्था हो जाएगी ॥ -२५५-२५६- ॥

यह दोष सांख्य के (पक्ष में) होगा हमारे (पक्ष में) नहीं । जड़ कारण क्षोभ के बिना कार्य को ही उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होगा । क्योंकि लोक में बीज अङ्कुर आदि के विषय में वैसा देखा जाता है । वह कहते हैं—

यह सांख्य का ही दोष होगा ॥ २५६- ॥

एवकार का क्रम भिन्न है । इस प्रकार सांख्य का ही—ऐसा (समझना चाहिए) अथवा उसके मत में भी यह दोष नहीं है क्योंकि उसने स्वत: क्षुब्ध उन गुणों को अव्यक्त का रूप माना है । अन्यथा उनके कार्यों की उत्पत्ति कैसे होगी ? इसीलिए "प्रसवधर्मी" ऐसा कहा गया है । वही कहते हैं—

अथवा उसके द्वारा वे (= क्षुब्ध) गुण अव्यक्त माने गए हैं ॥ -२५६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो उस (= सांख्यवादी) का "सत्त्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है" यह (सिद्धान्त) कैसे सङ्गत होगा ? यह शङ्का कर कहते हैं—

साम्य (का अर्थ) है—केवल सङ्गति, दूसरा कुछ नहीं ॥ २५७- ॥

यहाँ साम्य का अर्थ है—केवल साथ-साथ रहना । क्षुब्ध होने पर भी समान स्पर्धा वाला होने के कारण केवल समुदित होना ही विवक्षित है न कि अन्य कुछ। क्षुब्ध न होने के कारण सामान्य रूप में इनकी स्थिति रहती है । क्योंकि वैसा होने

यथोक्तदोषावकाशात्मा बाधः स्यात् ॥

तत्र सांख्यानां कश्चिद्दोष उक्तः किन्तु गुणतत्त्ववादिनामेव ?—इत्याशङ्क्याह—

अस्माकं तु स्वतन्त्रेशतथेच्छाक्षोभसङ्गतम् ॥ २५७ ॥
अव्यक्तं बुद्धितत्त्वस्य कारणं क्षोभिता गुणाः।

इह तावज्जडं कारणं क्षुब्धतामनापन्नं सत् कार्यं जनयितुमेव नालमित्युक्तम्, न चास्य क्षुब्धतापत्तावपि क्षोभान्तरमपेक्षणीयम् ईश्वरेच्छातस्तथाभावात्, न च तामन्तरेण कार्यकारणभाव एव स्यात्—इत्यग्रे भविष्यति—इति नेहायस्तम् । अतश्च अस्मद्दर्शने प्रकृतितत्त्वाधिष्ठातुः स्वतन्त्रस्येश्वरस्य तथा स्वतन्त्रैवेयमिच्छा, तया क्षुब्धमव्यक्तं क्षोभिता गुणा गुणात्मतत्त्वात्मतां यातं सत् बुद्धितत्त्वस्य 'कारणम्' तत्प्रसवसमर्थम्—इत्यर्थः ॥ २५७ ॥

ननु यद्येवं तदीश्वरेच्छातः क्षुब्धं सदव्यक्तं बुद्धितत्त्वमेव जनयतु किमन्तरापरिकल्पितेन प्रतिपत्तिगौरवकारिणा गुणतत्त्वेन?—इत्याह—

ननु तत्त्वेश्वरेच्छातो यः क्षोभः प्रकृतेः पुरा ॥ २५८ ॥

पर उक्त (= अनवस्था) दोष के अवकाश वाला बाध हो जाएगा ॥

इसलिए सांख्यों के (मत में) कोई दोष नहीं कहा गया किन्तु गुणतत्त्ववादियों के (मत में) ? यह शङ्का कर कहते हैं—

हमारे (मत में) तो स्वतन्त्र ईश्वर की उस प्रकार की इच्छा से क्षोभ को प्राप्त अव्यक्त (अर्थात्) क्षोभित गुण बुद्धि तत्त्व का कारण है ॥ -२५७-२५८- ॥

जड़ कारण क्षोभ को प्राप्त न होकर कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं है— यह कहा गया । इस (जड़ कारण) के क्षोभ को प्राप्त होने पर भी दूसरा क्षोभ आवश्यक नहीं है क्योंकि ईश्वर की इच्छा से वैसा हो जाता है । और उस (= ईश्वरेच्छा) के बिना कार्यकारण भाव ही नहीं होगा—यह आगे (स्पष्ट) होगा इसलिए यहाँ विस्तृत नहीं किया गया । इसलिए हमारे दर्शन में प्रकृति तत्त्व के अधिष्ठाता स्वतन्त्र ईश्वर की उस प्रकार की यह स्वतन्त्र इच्छा ही है । उसके द्वारा क्षुब्ध अव्यक्त (अर्थात्) क्षोभित गुण (अर्थात्) गुणात्मक तत्त्वरूप को प्राप्त हुआ (अव्यक्त) बुद्धितत्त्व का कारण = उसको उत्पन्न करने में समर्थ होता है ॥ २५७॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो ईश्वरेच्छा के कारण क्षुब्ध अव्यक्त (तत्त्व) ही बुद्धि तत्त्व को उत्पन्न करे ज्ञान का गौरव बढ़ाने वाले मध्य में परिकल्पित गुणतत्त्व से क्या लाभ ? यह कहते हैं—

प्रश्न है कि तत्त्वों के अधिष्ठाता ईश्वर की इच्छा से जो प्रथम प्रकृति

तदेव बुद्धितत्त्वं स्यात् किमन्यैः कल्पितैर्गुणैः ।

एतदेव प्रतिविधत्ते—

नैतत्कारणतारूपपरामर्शावरोधि यत् ॥ २५९ ॥
क्षोभान्तरं ततः कार्यं बीजोच्छूनाङ्कुरादिवत्।

तद्धि नाम कारणमुच्यते यत्क्षोभापत्तावपि तद्रूपतापरामर्शमेव अवरुन्ध्यात, उच्छूनमपि हि बीजं बीजमेवोच्यते, तेन तत्क्षोभरूपमपि गुणतत्त्वं कारणत्वपरामर्शमवरोद्धुमुत्सहते, तथात्वेऽपि कथंचित् प्रकृत्यैक्यानपायात्; अतश्च गुणतत्त्वं नाम न प्रकृतितत्त्वातिरिक्तं तत्त्वान्तरं किन्तु तस्यैव कार्यजननोन्मुखं क्षुब्धं रूपान्तरमिति । तस्य हि तत्त्वान्तरत्वे सप्तत्रिंशत्तत्त्वानि स्युरिति ।

'षट्त्रिंशत्तत्त्वमुख्यानि यथा शोध्यानि पार्वति ।
पृथिव्यादिशिवान्तानि............................ ॥ (स्व० ५।२)

इत्यादि दुष्येत् ।

'चतुर्विंशतितत्त्वानि ब्रह्मा व्याप्य व्यवस्थितः ।
प्रधानान्तं....................................... ॥

का क्षोभ होता है वही बुद्धि तत्त्व हो जाए, अन्य कल्पित, गुणों से क्या (प्रयोजन) ? ॥ -२५८-२५९- ॥

इसी का समाधान करते हैं—

ऐसा नहीं है क्योंकि जो कारणतारूप परामर्श का रोधक होता है उस क्षोभ के बाद कार्य होता है, जैसे कि बीज उसकी उच्छूनता और उसके बाद अङ्कुर ॥ -२५९-२६०- ॥

कारण वही कहलाता है जो क्षोभ की प्राप्ति होने पर भी उस (= क्षोभ) रूपता के परामर्श को ही रोक दे । उच्छून बीज भी बीज ही कहलाता है । इसलिए वह क्षोभरूप भी गुणतत्त्व कारण के परामर्श को रोक सकता है । वैसा होने पर भी किसी प्रकार (गुणों से) प्रकृति की एकता का नाश नहीं होता । इसलिए गुणतत्त्व प्रकृतितत्त्व से अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है किन्तु उसी का कार्यजनन की ओर उन्मुख रूपान्तर है । उस (गुण) के तत्त्वान्तर होने पर सैंतीस तत्त्व हो जाऐंगे । फलतः

"हे पार्वती ! पृथिवी से लेकर शिव तत्त्वपर्यन्त ३६ मुख्य तत्त्वों का जिस प्रकार शोधन करना चाहिए...।" (स्व० तं० ५।२)

इत्यादि (वचन का) खण्डन हो जाएगा ।

"(पृथ्वी से लेकर) प्रकृतिपर्यन्त २४ तत्त्वों को व्याप्त करके ब्रह्मा स्थित

(स्व० ११।४६) इति ।

तथा

'..............................पुरुषः पञ्चविंशकः ।'

इत्याद्यपि विरुद्ध्येत, एवं हि प्रधानं पञ्चविंशं स्यात् पुरुषश्च षड्विंशकः इति । तस्मात् यथा मायाया ग्रन्थितत्त्वात्मना द्वैविध्यं तथा प्रकृतेरपि क्षुब्धाक्षुब्ध-रूपतया,—इत्यवगन्तव्यं येन सर्वं समञ्जसं स्यात् । बुद्धितत्त्वं तु सर्वस्यैवोद्रेकादत्यन्तमेव ततो विलक्षणं बीजादिवाङ्कुरः,—इति तत्कार्यमेव न तु कारण-मपि,—इत्यवश्यमन्तरा बुद्धिकारणं गुणतत्त्वमङ्गीकार्यम् । एवं 'स्वतः क्षुब्धा एव गुणाः प्रकृतिः?—इत्यभिदधतोऽपि सांख्यस्य न दोषावकाशः,—इति प्रकाशितम् । तथात्वे हि गुणानामक्षुब्धमपि रूपं पूर्वं वक्तव्यम् अन्यथा क्षुब्धत्वं किमपेक्षं स्यात्; अत एवात्र 'बीजोच्छूनाङ्कुरादिवत्' इत्यवस्थात्रयमेव दर्शितम् ॥ २५९ ॥

एवं गुणतत्त्वं साधयित्वा तदन्तर्वर्ति भुवनजातमपि दर्शयति—

क्रमात्तमोरजःसत्त्वे गुरूणां पङ्क्तयः स्थिताः ॥ २६० ॥
तिस्रो द्वात्रिंशदेकातस्त्रिंशदप्येकविंशतिः ।
स्वज्ञानयोगबलतः क्रीडन्तो दैशिकोत्तमाः ॥ २६१ ॥

हैं..... । (स्व० तं० ११।४६)

तथा "..............पुरुष पचीसवाँ तत्त्व है ।"

इत्यादि (वचन) भी बाधित हो जाएंगे । क्योंकि ऐसा होने पर प्रकृति पचीसवाँ और पुरुष छब्बीसवाँ (तत्त्व) होने लगेगा । इसलिए जैसे ग्रन्थि और तत्त्व की दृष्टि से माया का दो प्रकार है उसी प्रकार प्रकृति का भी क्षुब्ध और अक्षुब्ध रूप से (दो प्रकार है)—ऐसा समझना चाहिए जिससे सब सङ्गत हो जाएगा । सबका उद्भूत रूप होने के कारण बुद्धितत्त्व उस (प्रकृति) से अत्यन्त विलक्षण है जैसे कि बीज से अङ्कुर । इसलिए (यह) उसका कार्य ही है न कि कारण भी । इसलिए बीच में बुद्धि का कारणगुणत्त्व अवश्य मानना चाहिए । इस प्रकार—"स्वतः क्षुब्ध ही गुण प्रकृति है"—ऐसा कहने वाले सांख्य के मत में दोष का स्थान नहीं है—यह स्पष्ट हो गया । वैसा होने पर गुणों के अक्षुब्ध भी रूप को पहले कहना चाहिए अन्यथा क्षोभ किसकी अपेक्षा से होगा ? इसीलिए "बीज, उच्छूनता और अङ्कुर आदि के समान" तीन अवस्थायें दिखाईं गई ॥ २५९ ॥

इस प्रकार गुणतत्त्व को सिद्ध कर उसके अन्दर वर्त्तमान भुवनों को भी दिखलाते हैं—

तमोगुण रजोगुण और सत्त्वगुण में गुरुओं की क्रमशः तीन पंक्तियाँ स्थित हैं । (उनमें क्रमशः) पहली बत्तीस, उसके बाद तीस, और इक्कीस,

त्रिनेत्राः पाशनिर्मुक्तास्तेऽत्रानुग्रहकारिणः ।

'तमोरजःसत्त्वे' इति समाहारः । तदुक्तम्—

'प्रथमा तमसः पङ्क्तिरुपरिष्टाद् व्यवस्थिता ।
तेषां नामानि कथ्यन्ते यथावदनुपूर्वशः ॥
शिवः प्रभुर्वामदेवश्चण्डश्चैव प्रतापवान् ।
प्रह्लादश्चोत्तमो भीमः करालः पिङ्गलस्तथा ॥
महेन्द्रो दिनकृच्चैव प्रतोदो दश एव च ।
कडेवरश्च विख्यातस्तथैव च कटङ्कटः ॥
अम्बुहर्ता च नारीशः श्वेत ऋग्वेद एव च ।
यजुर्वेदः सामवेदस्त्वथर्वा सुशिवस्तथा ॥
विरूपाक्षस्तथा ज्येष्ठो विप्रो नारायणस्तथा ।
गण्डोदरो यमो माली गहनेशश्च पीडनः॥
प्रथमा पङ्क्तिरुद्दिष्टा रुद्रैर्द्वात्रिंशता वृता ।
रजसश्चोपरिष्टात्तु द्वितीया पङ्क्तिरुच्यते ॥
शुक्लो दासः सुदासश्च लोकाक्षः सूर्य एव च ।
सुहोत्र एकपादश्च गृद्ध्रश्चैव शिवेश्वरः ॥
गौतमश्चैव योगीशो दधिबाहुस्तथापरः ।
ऋषभश्चैव गोकर्णो देवश्चैव गुहेश्वरः ॥
गुहेशानः शिखण्डी च जटी माली तथोग्रकः ।
भृगुः शिखी तथा शूली सुगतिश्च सुपालनः ॥

तीन नेत्र वाले पाशमुक्त उत्तम गुरु क्रीड़ा करते हैं । वे यहाँ (= भूर्लोक में) अनुग्रह करने वाले हैं ॥ -२६०-२६२- ॥

"तमोरजःसत्त्वे" इस पद में समाहार द्वन्द है । वही कहा गया है—

'प्रथम तमस् की पंक्ति ऊपर व्यवस्थित है । उनके नाम यथावत् क्रमशः कहे जा रहे हैं—

प्रभु, शिव वामदेव, प्रतापवान् चण्ड, प्रह्लाद, उत्तम भीम, कराल, पिङ्गल, महेन्द्र, दिनकर, प्रतोद, दक्ष, कडेवर, विख्यात, कटङ्कट, अम्बुहर्त्ता, नारीश, श्वेत, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वा, सुशिव, विरूपाक्ष, ज्येष्ठ, विप्र, नारायण, गण्डोदर, यम, माली, गहनेश, पीडन, (इन) बत्तीस रुद्रों से आवृत यह प्रथम पंक्ति है ।

(उसके) ऊपर रजस् की दूसरी पंक्ति कहीं जाती है । शुक्ल, दास, सुदास, लोक के नेत्रभूत सूर्य, सुहोत्र, एकपाद, गृध्र, शिवेश्वर, योगीश, गौतम, दधिबाहु, ऋषभदेव, गोकर्ण, गुहेश्वर, गुहेशान, शिखण्डी, जटी, माली, उग्रक, भृगु, शिरवी,

अट्टहासो दारुकश्च लाङ्गुलिश्च त्रिदण्डकः।
भावनश्च तथा भाव्यो लकुलेशस्तथा परः ॥
त्रिंशद्रुद्राः समाख्याता द्वितीया पङ्क्तिरुत्तमा।
सत्त्वस्य चोपरिष्टात्तु तृतीया पङ्क्तिरुच्यते ॥
देवारुणो दीर्घबाहुररिर्भूतिश्च स्थाणुकः।
सद्योजातस्तथा शण्ठी षण्मुखश्चतुराननः ॥
चक्रपाणिश्च कूर्माक्षस्त्वर्धनारीश एव च ।
संवर्तकश्च भस्मीशः कामनाशन एव च ॥
कपाली भूर्भुवश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।
वौषट्कारस्तथा स्वाहा सुधा च परिकीर्तिता॥
एकविंशतिरुद्रास्तु पङ्क्तिरेषा तृतीयिका ।
(स्व० १०।१०५८) इति ॥ २६१ ॥

इयदन्तं भुवनानि सङ्कलयति—

बुद्धेश्च गुणपर्यन्तमुभे सप्ताधिके शते ॥ २६२ ॥
रुद्राणां भुवनानां च मुख्यतोऽन्ये तदन्तरे ।

बुद्धेरिति, कार्यप्रपञ्चरूपायाः । तेन पृथ्वीतत्त्वादारभ्य गुणतत्त्वपर्यन्तं मुख्यतोऽन्यथा संख्याया आनन्त्यात् भुवनानां सप्ताधिकं शतद्वयं भवेत् । तथा हि पृथिव्यामधस्तादनन्तस्यैकं भुवनम्, अन्तः कालाग्निकूष्माण्डहाटकब्रह्मविष्णुरुद्राणां षट्, बहिः शतरुद्राणां शतम्, तदधिष्ठातुर्वीरभद्रस्य चैकम्—इत्यष्टोत्तरं शतम् । अप्तत्त्वे तदधिष्ठातुर्वीरभद्रस्य गुह्याष्टकस्य च—इति नव भुवनानि । तेजस्तत्त्वे

शूली, सुगति, सुपालन, अट्टहास, दारुक, लाङ्गुलि, त्रिदण्डक, भावन, भाव्य, लकुलेश ये तीस रुद्र कहे गये (जो) दूसरी उत्तम पक्तिं (में) हैं ।

उसके ऊपर सत्त्व की तीसरी पंक्ति कही जाती है—देवारुण, दीर्घबाहु, अरिभूति, स्थाणुक, सद्योजात, शण्ठी, षण्मुख, चतुरानन, चक्रपाणि, कूर्माक्ष, अर्धनारीश, संवर्त्तक, भस्मेश, कामनाशन, कपाली, भूः, भुवः, वषट्कार, वौषट्कार, स्वाहा, स्वधा, (ये) इक्कीस रुद्र कहे गए हैं । यह तीसरी पंक्ति है । (स्व० १०।१०५८) ॥ २६१ ॥

यहाँ तक भुवनों की गणना करते हैं—

(विस्तारयुक्त) बुद्धि तत्त्व से लेकर गुण पर्यन्त रुद्रों और भुवनों की मुख्य संख्या २०७ है । दूसरे उनके बीच में (रहते) हैं ।।-२६२-२६३-।।

बुद्धि के = कार्यप्रपञ्च रूप (बुद्धि) के । इस प्रकार पृथ्वी तत्त्व से लेकर गुणतत्त्व तक मुख्य रूप से भुवनों की संख्या दो सौ सात है अन्यथा अनन्त संख्या है । वह इस प्रकार—पृथिवी में नीचे अनन्त का एक भुवन है । पृथ्वी के

शिवाग्नेरतिगुह्याष्टकस्य च—इति नव । आकाशतत्त्वे आकाशस्य पवित्राष्टकस्य चेति नव । तन्मात्रेषु मूर्तीनामष्टौ, कर्मेन्द्रियाधिपानां पञ्च, ज्ञानेन्द्रियाधिपानां पञ्च, मनसि सोमस्यैकम्, अहङ्कारेऽहङ्कारेशस्य स्थाण्वष्टकस्य चेति नव, बुद्धौ देवयोनिक्रोधतेजोयोगाख्यानि चत्वार्यष्टकानि, इति द्वात्रिंशत्, गुणतत्त्वे च पङ्क्तित्रयमिति ॥ २६२ ॥

अन्यत्र पुनरियान्विशेषः—इत्याह—

योगाष्टकं गुणस्कन्धे प्रोक्तं शिवतनौ पुनः ॥ २६३ ॥

'गुणस्कन्धे' गुणतत्त्वे ॥ २६३ ॥

तद्ग्रन्थमेव पठति—

योनीरतीत्य गौणे स्कन्धे स्युर्योगदातारः ।
अकृतकृतविभुविरिञ्चा हरिर्गुहः क्रमवशात्ततो देवी ॥ २६४ ॥
करणान्यणिमादिगुणाः कार्याणि प्रत्ययप्रपञ्चश्च ।
अव्यक्तादुत्पन्ना गुणाश्च सत्त्वादयोऽमीषाम् ॥ २६५ ॥

अन्दर कालाग्नि, कूष्माण्ड, हाटक, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के छ (भुवन हैं) । बाहर शतरुद्रों के सौ और उनके अधिष्ठाता वीरभद्र का एक—इस प्रकार १०८ (भुवन हुये) । जलतत्त्व में आठ गुह्य देवता का और एक उनके अधिष्ठाता का इस प्रकार नव भुवन हैं । तेजस्तत्त्व में शिवाग्नि तथा आठ अतिगुह्य का इस प्रकार नव (भुवन); वायु तत्त्व में प्राण का और आठ गुह्य से भी गुह्य का—इस प्रकार नव (भुवन) हैं । आकाशतत्त्व में आकाश का और आठ पवित्रों का इस प्रकार नव । तन्मात्राओं में मूर्त्तियों के आठ, कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता के पाँच; मन में चन्द्रमा का एक, अहङ्कार में अहङ्कारेश का और आठ स्थाणुओं का इस प्रकार नवसंख्या हैं । बुद्धितत्त्व में देवयोनि, क्रोध, तेजस् और योग के आठ-आठ इस प्रकार बत्तीस और गुणतत्त्व में तीन पंक्तियाँ हैं ॥ २६२ ॥

दूसरी जगह इतना वैशिष्ट्य है—यह कहते हैं—

गुण तत्त्व में आठ योगदाता रहते हैं और शिवतत्त्व में तो (पहले) ही कह दिया गया है ॥ -२६३ ॥

गुणस्कन्ध में = गुणतत्त्व में ॥ २६३ ॥

उस ग्रन्थ को ही पढ़ते हैं—

अकृत, कृत, विभु, विरिञ्च, हरि, ओम, गुह और देवी (= भगवती उमा) ये आठ योगदाता लोग योनियों का अतिक्रमण कर गौणतत्त्व में रहते हैं । इन्द्रियाँ, अणिमा आदि सिद्धियाँ, गुण, तथा बुद्धिसर्ग ये

धर्मज्ञानविरागानैश्वर्यं तत्फलानि विविधानि ।
यच्छन्ति गुणेभ्योऽमी पुरुषेभ्यो योगदातारः ॥ २६६ ॥
तेभ्यः परतो भुवनं सत्त्वादिगुणासनस्य देवस्य ।
सकलजगदेकमातुर्भर्तुः श्रीकण्ठनाथस्य ॥ २६७ ॥

'प्रत्ययप्रपञ्चः' इति विपर्ययादिः पञ्चाशदाद्यः । 'अमीषाम्' अकृतादीनां योगदातॄणाम् । एतच्चैषां दातृत्वं यत्परेभ्योऽपि धर्मादि प्रयच्छन्तीति । 'परतः' इत्यूर्ध्वम् ॥ २६७ ॥

ननु एभ्योऽप्यूर्ध्वमवस्थानेन अस्य किं स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—

येनोमागुहनीलब्रह्मऋभुक्षकृताकृतादिभुवनेषु ।
ग्रहरूपिण्या शक्त्या प्राभ्व्याधिष्ठानि भूतानि ॥ २६८ ॥

'नीलो' विष्णुः, ग्रहरूपिण्येति, अवष्टम्भात्मिकया—इत्यर्थः । 'अधिष्ठानि' अधिष्ठितानि ॥ २६८ ॥

तत्तदधिष्ठानमेव व्याचष्टे—

उपसंजिहीर्षुरिह यश्चतुराननपङ्कजं समाविश्य ।
दग्ध्वा चतुरो लोकाञ्जनलोकान्निर्मिणोति पुनः ॥ २६९ ॥

सब अव्यक्त से उत्पन्न सत्त्व आदि गुण के कार्य हैं । योग को देने वाले लोग धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य और उसके अनेक फल गुण—(स्कन्ध में समाविष्ट) पुरुषों को देते हैं । इसके बाद सत्त्व आदि गुणों वाले, समस्त संसार के एक ज्ञाता तथा भर्त्ता देव श्रीकण्ठनाथ का भुवन है ॥ २६४-२६७ ॥

प्रत्यय प्रपञ्च = विपर्यय अशक्ति आदि पचास । इनका = अकृत आदि योगदाताओं का । ये जो दूसरों को धर्म आदि देते हैं यही इनका दातृत्व है । परतः = ऊपर ॥ २६७ ॥

प्रश्न—इनके भी ऊपर स्थित होने से इन (श्रीकण्ठनाथ) का क्या (लाभ) है? यह शङ्का कर कहते हैं—

जिससे कि (इनके द्वारा) उमा, गुह, नील, ब्रह्मा, ऋभुक्ष, कृत, अकृत आदि के भुवनों में ग्रहरूपी प्राभ्वी शक्ति के द्वारा प्राणियों का नियन्त्रण किया जाता है ॥ २६८ ॥

नील = विष्णु । गुहरूपिणी = अवष्टम्भक रूपा । अधिष्ठ = अधिष्ठिता ॥ २६८ ॥

उन-उन अधिष्ठानों को कहते हैं—

यस्येच्छातः सत्त्वादिगुणशरीरा विसृजति रुद्राणी ।
अनुकल्पो रुद्राण्या वेदी तत्रेज्यतेऽनुकल्पेन ॥ २७० ॥
पशुपतिरिन्द्रोपेन्द्रविरिञ्चैरथ तदुपलम्भतो देवैः ।
गन्धर्वयक्षराक्षसपितृमुनिभिश्चित्रितास्तथा यागाः॥ २७१ ॥

'समाविश्य' इति अधिष्ठाय 'दग्ध्वा' इति अर्थात्कालाग्निरूपतया । 'रुद्राणी' उमादेवी । 'अनुकल्पो' गौणी मूर्तिः, 'वेदी' क्रियाशक्त्यात्मा पीठिका । तत्रेति वेद्याम् । पशुपतिरिति, अर्थाद् बाह्यलिङ्गरूपः ॥ २७१ ॥

गुणानां यत्परं साम्यं तदव्यक्तं गुणोर्ध्वतः।
क्रोधेशचण्डसंवर्ता ज्योतिःपिङ्गलसूरकौ ॥ २७२ ॥
पञ्चान्तकैकवीरौ च शिखोदश्चाष्ट तत्र ते ।

'परं साम्यम्' इति अक्षुब्धतयावस्थानम्, अत एव 'अव्यक्तम्'—इत्युक्तम् । इह सर्वत्र भुवनेश्वराणामादिग्रहणेनैव प्रक्रान्तेऽपि संग्रहे स्वकण्ठेनैव पाठेऽयमाशयो यदत्र बहूनि शास्त्रान्तरेष्वसमञ्जसानि पाठान्तराणि संभवन्ति—इति श्रोतॄणां मा भूत्संमोहः—इति । तदुक्तं श्रीरुरौ—'

(सृष्टि का) उपसंहार करने की इच्छावाले जो ब्रह्मा के कमल में अधिष्ठित होकर (भूभुर्वः स्वर्ग एवं महः) चार लोकों को भस्मसात् करके जनलोकों का निर्माण करते हैं, जिसकी इच्छा से ज्ञत्त्व आदि गुणों की शरीर वाली रुद्राणी सृष्टि करती है, रुद्राणी के द्वारा सृजित अनुकल्प (= मुख्यवस्तु के अभाव में कल्पित वस्तु) ही वेदी है । उस (वेदी) पर इन्द्र उपेन्द्र, ब्रह्मा और अन्य देवताओं तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और मुनिगण के द्वारा भगवान् पशुपति पूजित होते हैं और उपर्युक्त वे इन्द्र आदि नाना प्रकार के यज्ञ करते रहते हैं ॥ २६९-२७१ ॥

समावेश करके = अधिष्ठित होकर, जलाकर—अर्थात् कालाग्नि के रूप से । रुद्राणी = उमादेवी । अनुकल्प = गौणीमूर्त्ति । वेदी = क्रियाशक्तिरूप पीठ । वहाँ = वेदी में । पशुपति = बाह्यलिङ्गरूप ॥ २७१ ॥

गुणों का जो परम साम्य है वह अव्यक्त (कहलाता) है । गुणों के ऊपर क्रोधेश, चण्ड, संवर्त्त, ज्योतिष्, पिङ्गल, पञ्चान्तक, एकवीर और शिखोद आठ वहाँ रहते हैं ॥ २७२-२७३- ॥

पर साम्य = अक्षुब्ध रूप में स्थिति, इसीलिए 'अव्यक्त' ऐसा कहा गया । यहाँ सर्वत्र भुवनेश्वरों की (गणना न कर) आदि ग्रहण के द्वारा ही प्रस्तुत (अन्य) का संग्रह (संभव) होने पर भी अपने ही मुख से (उन नाम का) पाठ करने में यह तात्पर्य है—कि यहाँ बहुत से दूसरे शास्त्रों में भिन्न पाठ सम्भव हैं—अतः श्रोताओं

'क्रोधेशचण्डसवंर्तज्योति:पिङ्गलसूरका: ।
पञ्चान्तकैकवीरेशशिखोदाख्या महेश्वरा: ॥' इति ।

श्रीनन्दिशिखायामपि—

'अष्टौ भुवनपाला ये क्रोधेशश्चण्डसंज्ञक: ।
संवर्त: पिङ्गलो ज्योतिस्तथा पञ्चान्तको विभु: ॥
एकवीर: शिखोदश्च गुणानां परत: स्थिता: ।' इति ॥ २७२ ॥

अत्रापि शिवतनावुक्तं विशेषं दर्शयति—

गहनं पुरुषनिधानं प्रकृतिर्मूलं प्रधानमव्यक्तम् ॥ २७३ ॥
गुणकारणमित्येते मायाप्रभवस्य पर्याया: ।

नन्वेवमभिधानानामत्र प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

यावन्त: क्षेत्रज्ञा: सहजागन्तुकमलोपदिग्धचित: ॥ २७४ ॥
ते सर्वेऽत्र विनिहिता रुद्राश्च तदुत्थभोगभुज: ।
मूढविवृत्तविलीनै: करणै: केचित्तु विकरणका: ॥ २७५ ॥

को भ्रम न हो । वही रुरु में कहा गया है—

"क्रोधेश, चण्ड, संवर्त्त, ज्योतिष, पिङ्गल, पञ्चान्तक, एकवीरेश और शिखोद नामक महेश्वर है ।"

नन्दिशिखा में भी—

"जो आठ भुवनपाल क्रोधेश, चण्ड, संवर्त्त, पिङ्गल, ज्योतिष तथा विभुपञ्चान्तक, एकवीर और शिरवोद है वे गुणों के ऊपर स्थित है" ॥ २७२ ॥

यहाँ भी शिवतत्त्व में कथित विशेष को दिखलाते हैं—

गहन = पुरुषनिधान (= पुरुष), प्रकृति = मूल, प्रधान = अव्यक्त, गुणों से उत्पन्न ये माया से उत्पन्न (तत्त्व) के पर्याय हैं ॥ -२७३-२७४-॥

प्रश्न—इस प्रकार के नामों का यहाँ क्या प्रवृत्तिनिमित्त[1] है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

सहज और आगन्तुक अर्थात् आणव, और मायीय कार्म मलों से उपदिग्ध चित्तवाले जितने क्षेत्रज्ञ (= जीव) हैं और उनसे मिलने वाले भोगों को भोगने वाले जो रुद्र हैं वे सब के सब यहाँ निहित हैं । (उनमें से कुछ लोग) मूढ अथवा विवृत्त अथवा विलीन इन्द्रियों के द्वारा (भोग करते हैं) और कुछ इन्द्रियरहित होकर ॥ -२७४-२७५ ॥

---

१. वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वं प्रवृत्तिनिमित्तत्वम् ।

यतोऽत्र सर्व एव क्षेत्रज्ञा रुद्रा वा विनिहिताः सन्तः केचिन्मूढादिरूपैः करणैस्तदुत्थं भोगं भुञ्जते, केचित्तु विकरणा एव—इति । 'सहजः' आणवः । 'आगन्तुकौ' कार्ममायीयौ ॥ २७५ ॥

मूढ़ादिरूपत्वमेव व्याचष्टे—

अकृताधिष्ठानतया कृत्याशक्तानि मूढानि ।
प्रतिनियतविषयभाञ्जि स्फुटानि शास्त्रे विवृत्तानि ॥ २७६ ॥
भग्नानि महाप्रलये सृष्टौ नोत्पादितानि लीनानि ।
इच्छाधीनानि पुनर्विकरणसंज्ञानि कार्यमप्येवम् ॥ २७७ ॥

'कृत्यम्' शब्दाद्यालोचनम्; अत एव बाधिर्यादिविशिष्टवृत्तित्वे हेतुः 'प्रतिनियतविषयभाञ्जि' इति । सृष्टावनुत्पाद एव लीनत्वे हेतुः । 'इच्छाधीनानि' इति स्वात्मायत्तानि—इत्यर्थः । अत एव श्रीकण्ठादीनां स्वतन्त्रेन्द्रियत्वम् । यदुक्तमत्रैव—

'तेषूमापतिरेव प्रभुः स्वतन्त्रेन्द्रियो विकरणात्मा ।' (तं० ८।२२९)

एवमिति, मूढादिभेदाच्चतुर्धा ॥ २७७ ॥

पुंस्तत्त्वे तुष्टिनवकं सिद्धयोऽष्टौ च तत्पुरः ।

क्योंकि यहाँ सभी क्षेत्रज्ञ अथवा रुद्र विनिहित होकर कुछ तो मूढ आदि इन्द्रियों के द्वारा उससे उत्पन्न भोग को भोगते हैं और कुछ बिना इन्द्रियों के । सहज = आणव । आगन्तुक = कार्म और मायीय ॥ २७५ ॥

मूढ आदि के स्वरूप की व्याख्या करते हैं—

अकृत का अधिष्ठान होने के कारण कार्यों में असक्त (इन्द्रियाँ) मूढ (कहलाती) हैं । निश्चित विषयवाली स्पष्ट (इन्द्रियाँ) शास्त्र में विवृत्त (कही गयी) है । महाप्रलय में नष्ट और सृष्टि होने पर अनुत्पन्न (इन्द्रियाँ) लीन हैं तथा इच्छा के अधीन (वे) विकरण नाम वाली हैं । उनका कार्य भी ऐसा ही है ॥ २७६-२७७ ॥

कृत्य = शब्द आदि (विषयों) का आलोचन । इसीलिए बाधिर्य आदि विशिष्टवृत्ति में निश्चित विषय वाला होना हेतु है । सृष्टि में उत्पन्न न होना लीन होने में कारण है । इच्छाधीन = अपने अधीन । इसीलिए श्रीकण्ठ आदि स्वतन्त्र इन्द्रियवाले हैं । जैसा कि इसी (ग्रन्थ) में कहा गया है—

"उनमें उमापति ही स्वतन्त्र इन्द्रिय वाले विकरण रूपवाले प्रभु (= जितेन्द्रिय) हैं ।"

इसी प्रकार का = मूढ आदि भेद से चार प्रकार का है ॥ २७७ ॥ (तं०आ० ८।२२९)

तावत्य एवाणिमादिभुवनाष्टकमेव च ॥ २७८ ॥

तावत्यः, नवाष्टौ च । तदुक्तम्—

'अम्बा च सलिला ओघा वृष्टिः सार्धं च तारया।
सुतारा च सुनेत्रा च कुमारी च ततः परम् ॥
उत्तमाम्भसिका चैव तुष्टयो नव कीर्तिताः ।
तारा चैव सुतारा च तारयन्ती प्रमोदिका ॥
प्रमुदिता मोदमाना रम्यका च ततः परम् ।
सदाप्रमुदिका चैव सिद्ध्यष्टकमुदाहृतम् ॥
अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ।
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं यदुदाहृतम् ॥
यत्रकामावसायित्वमणिमाद्यष्टकं स्मृतम् ।'
(स्व० १०।१०७०) इति ॥ २७८ ॥

तुष्ट्यादीनां च किं रूपम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अतत्त्वे तत्त्वबुद्ध्या यः सन्तोषस्तुष्टिरत्र सा ।
हेयेऽप्यादेयधीः सिद्धिः

न चैतदस्मदुपज्ञमेवेत्याह—

तथा चोक्तं हि कापिलैः ॥ २७९ ॥

तदाह—

पुरुष तत्त्व में नव तुष्टियाँ और उसके पहले अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ हैं । भुवन भी आठ है ॥ २७८ ॥

उतने = नव और आठ । वही कहा गया है—

"अम्बा सलिला, ओघा, वृष्टि, तारा, सुतारा, सुनेत्रा, कुमारी, और उत्तमाम्भसिका ये नव तुष्टियाँ कही गई हैं । तारा, सुतारा, तारयन्ती, प्रमोदिका, प्रमुदिता, मोदमाना, रम्यका और सदाप्रमुदिता ये आठ सिद्धियाँ कही गयी हैं । अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व ये आठ अणिमादि है ।" (स्व०तं० १०।१०७०) ॥ २७८ ॥

तुष्टि आदि का क्या स्वरूप है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अतत्त्व के विषय में तत्त्वबुद्धि, के द्वारा जो सन्तोष है वही यहाँ तुष्टि है । और हेय के विषय में उपादेय बुद्धि सिद्धि है ॥ २७९- ॥

यह हमने अपने मन से नहीं कहा है—यह कहते हैं—

सांख्य वालों ने ऐसा कहा है ॥ -२७९ ॥

आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
पञ्च विषयोपरमतोऽर्जनरक्षासङ्गसंक्षयविघातैः ॥ २८० ॥
ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः ॥ २८१ ॥

'आध्यात्मिक्यः' इति अनात्मरूपे प्रकृत्यादौ भवन्ति—इत्यर्थः । तत्र प्रधान-महदादिरूपतयाष्टविधा प्रकृतिरेव विश्वोत्पत्तिनिमित्तं नान्यत्—इति तत्रैव सङ्गद्वेषादि-निवृत्तिनिमित्तं भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यतो योगिनः प्रकृत्याख्या तुष्टिः । एवं च प्रकृते-रविशेषात् सर्वदा सर्वस्माच्च सर्वस्योत्पत्तिः स्यात्—इति यथास्वोपादानं भावाना-मुत्पादो न्याय्यः—इति । तदेव विश्वकारणम्—इति पृथिव्यादावुपादान एव भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यत उपादानाख्या । एवमपि कालमपेक्ष्य भावनामुत्पत्तिरिति स एव विश्वकारणम्—इति तत्रैव भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यतः कालाख्या । एवमपि भाग्य-विशेषात्फलविशेषः—इति तेषामेव विश्वकारणत्वमिति तत्रैव भोक्तृत्वाद्यध्यवस्यतो भाग्याख्येति चतस्रः । पञ्चेति, बाह्यविषयोपरमस्य पञ्चहेतुत्वात्, ते चार्जनादयः, सर्वस्य सुखार्थं विषयेषु प्रवृत्तिः न च तेभ्यः कदाचिदपि तद्भवेत् यद्विषयाणा-

---

वही कहते हैं—

प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य नामक चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ हैं। अर्जन, रक्षा, आसक्ति, संक्षय और विघात के कारण (पाँचो) विषयों से विराग के कारण पाँच (इस प्रकार नव तुष्टियाँ) हैं । ऊह, शब्द, अध्ययन, त्रिविध दुःखों का नाश, मित्रलाभ, दान ये आठ सिद्धियाँ हैं । सिद्धि के पहले तीन प्रकार का अंकुश है ॥ २८०-२८१ ॥

आध्यात्मिक—अनात्मरूप प्रकृति आदि के विषय में होती है । उनमें प्रकृति महत् आदि के रूप में आठ प्रकार की प्रकृति ही विश्व की उत्पत्ति का कारण है दूसरा कुछ नही—यह (समझ कर) उसी में आसक्ति द्वेष आदि की निवृत्ति का कारणभूत भोक्तृत्व आदि का निश्चय करने वाले योगी की प्रकृति नामक तुष्टि होती है । इसी प्रकार प्रकृति के समान होने के कारण सदा सब से सब की उत्पत्ति होने लगेगी—इसलिए अपने-अपने उपादान के अनुसार पदार्थो की उत्पत्ति उचित है। वही विश्व का कारण है यह सोच कर पृथ्वी आदि उपादान को ही भोक्ता मान लेना उपादान नामक (तुष्टि) है । इसी प्रकार काल की अपेक्षा करके पदार्थों की उत्पत्ति होती है इसलिए वही विश्व का कारण है—इस (विचार) से उसी को भोक्ता मान लेने वाले की काल नामक (तुष्टि) होती है । ऐसे ही भाग्यविशेष के कारण विशेष फल मिलता है—इसलिए वे ही विश्व का कारण है—इस (धारणा) से उसी में भोक्तृत्व का निश्चय करने वाले की भाग्य नामक तुष्टि होती है—इस प्रकार चार (तुष्टियाँ) हैं । पाँच—बाह्य विषयो से उपरम पाँच का हेतु है और वे पाँच है—अर्जन आदि (= अर्जन, रक्षण, आसक्ति, सक्षयं और परोपघात) । सबकी विषयों

मर्जनादौ त्रितये यतमानस्य पुंसः परं कष्टमेव, एवमपि एषामाकस्मिकः स्वयमेव संक्षयः—इति महत्कष्टम्, न चैतत्परोपघातं विना सिद्ध्येत्—इति कष्टात्कष्टतरम्। तदेषामेवं दोषदर्शनान्माध्यस्थ्यमवलम्बमानस्य योगिनः पञ्चेति नवाम्बाद्यास्तुष्टयः क्रमेण उक्ताः । अनेन च पाठेनैवमीश्वरकृष्णः शिक्षितः—यदन्यथा नवानां तुष्टीनां स्वकण्ठेनैवोपादानं न स्यादिति । ऊहः प्रत्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेण स्वयमेव तत्तदर्थविषयः प्रत्ययः, शब्दः स्वयमेवमप्रतिपत्तौ तद्विषयः सकृद्गुरूपदेशः, अध्ययनमेवमप्रतिपत्तौ तत्रैव पौनःपुन्येनाभ्यासः, एषां पञ्च प्रत्यनीका दुःखत्रयं सन्देहो दौर्भाग्यं चेति । तत्र दुःखत्रयस्य शास्त्रान्तरदृष्टैरुपायैर्विघातं कृत्वा कल्याणमित्रपरिचयाच्च सन्देहं व्युदस्य, दानेन च दौर्भाग्यमपाकृत्य पूर्वेषां त्रयाणामन्यतमेन साधयन्ति—इत्यष्टौ सिद्धयस्ताराद्याः क्रमेण उक्ताः । ननु सर्वेषामविशेषेणैताः सिद्धयः किं न स्युः?—इत्याशङ्क्योक्तम् 'सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविधः' इति । पूर्वो विपर्ययाशक्त्यतुष्टिलक्षणोऽङ्कुशो निरोधकारित्वात्, तेनाविशेषेण सर्वप्राणिषु सिद्धीनामप्रवृत्तिरिति ॥ २८१ ॥

अणिमाद्यूर्ध्वतस्तिस्रः पङ्क्तयो गुरुशिष्यगाः ।
तत्रापि त्रिगुणच्छायायोगात् त्रित्वमुदाहतम् ॥ २८२ ॥

में प्रवृत्ति सुख के लिए होती है किन्तु इन (= विषयों) से वह (= सुख) कभी भी नहीं होगा प्रत्युत विषयों के अर्जन आदि तीन के विषय में प्रयत्न करने वाले पुरुष को कष्ट ही मिलता है और भी इनका स्वयं आकस्मिक क्षय हो जाता है जो कि महाकष्ट है । यह (अर्जन आदि) दूसरे के उपघात के बिना नहीं सिद्ध होगा—इस प्रकार कष्ट से भी कष्टतर है । तो इस प्रकार इनके दोषों को समझ लेने से मध्य मार्ग का अवलम्बन करने वाले योगी की पाँच—इस प्रकार अम्बा आदि नव तुष्टियाँ क्रम से कही गई है । इस प्रकार इसपाठ से ईश्वरकृष्ण शिक्षित हुये । अन्यथा नव तुष्टियों का अपने मुख से कथन न करते । प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को छोड़कर स्वयं भिन्न-भिन्न अर्थ वाला ज्ञान (ऊह है) । स्वयं ऐसा ज्ञान न होने पर उस विषय का एक बार गुरु के द्वारा उपदेश शब्द है । इस प्रकार भी ज्ञान न होने पर उसी में पुनः-पुन अभ्यास अध्ययन है । इनके पाँच विरोधी है—तीन दुःख, सन्देह और दुर्भाग्य । तीनों दुःखों का दूसरे शास्त्रों में वर्णित उपायों के द्वारा नाश करके कल्याणमित्र के परिचय से सन्देह का निराकरण कर, दान के द्वारा दुर्भाग्य को हटाकर प्रथम तीन में से किसी एक के द्वारा साधक लोग इष्ट को सिद्ध करते हैं—इस प्रकार तारा आदि आठ सिद्धियाँ क्रम से कही गयीं । प्रश्न—ये सिद्धियाँ सबको समान रूप से क्यों नहीं उपलब्ध होती ? यह शङ्का कर कहते हैं—सिद्धि के पूर्व तीन अंकुश है । पूर्व = पहले वर्त्तमान विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि नामक अंकुश । क्योंकि ये ही (सिद्धियों को) रोकने वाले हैं । इस कारण सभी प्राणियों को समान रूप से सिद्धियाँ नहीं मिलती ॥ २८०-२८१ ॥

अणिमा आदि के ऊपर गुरु शिष्य की तीन पंक्तियाँ है । उनमें भी

नाडीविद्याष्टकं चोर्ध्वं पङ्क्तीनां स्यादिडादिकम् ।

तत्रापीति, अपिशब्देन न केवलं गुणतत्त्वे गुरूणां गुणत्रययोगितया त्रित्वमुक्तं यावदिहापि—इत्यभिहितम् । तदुक्तम्—

'यथोर्ध्वं गुरुशिष्याणां पङ्क्तित्रयमतः शृणु ।
मस्करी पूरणः कृत्स्नः कपिलः काश एव च॥
सनत्कुमारगौतमवसिष्ठाद्यांशकास्तथा ।
काश्यपो नासिकेतुश्च गालवो भौतिकस्तथा ॥
शाकल्यस्तु समाख्यातो दुर्वासाः परमो मुनिः ।
वाल्मीकिश्च गुरुश्रेष्ठः सपराशरगालवः ॥
पिप्पलादश्च सौमित्रो वायुपुत्रो भदन्तकः ।
मस्कर्यादिभदन्तान्ता दृष्टादृष्टस्य वादिनः ॥
द्वाविंशतिर्गुरुवराः प्रथमा पङ्क्तिरिष्यते ।
जह्नुश्च तृणबिन्दुश्च मुनिस्तार्क्ष्यस्तथैव च ॥
ध्यानाश्रयोऽथ दीर्घश्च होताऽजगर एव च ।
अगस्त्यो वसुभौमश्च उपाध्यायश्च कीर्तितः ॥
शुक्रो भृग्वङ्गिरा रामो जमदग्निसुतोर्ध्वगः ।
स्थूलशिरा बालखिल्यो मनुजश्चेति कीर्तितः ॥
वज्रात्रेयो विशुद्धश्च शिवश्चारुरथानुगः ।
जह्न्वादिचारुपर्यन्ता द्वितीया पङ्क्तिरिष्यते ॥

तीनों गुणों की छाया के कारण त्रित्व कहा गया है । पंक्तियों के ऊपर इडा आदि आठ नाड़ीविद्यायें हैं ॥ २८२-२८३- ॥

तत्रापि (= उसमें भी)—यहाँ अपि शब्द से केवल गुणतत्त्व में ही तीनों गुणों से युक्त होने के कारण त्रित्व कहा गया है बल्कि यहाँ भी—यह कहा गया है । वही कहा गया है—

"(अणिमा आदि के) ऊपर जिस प्रकार गुरुशिष्यों की तीन पंक्तियाँ है उसे सुनो—मस्करी, पूरण, कृत्स्न, कपिल, काश, सनत्कुमार, गौतम, वशिष्ठ, आद्यांशक काश्यप, नासिकेतु, गालव 'भौतिक', शाकल्य, परममुनि दुर्वासा, गुरुश्रेष्ठ वाल्मीकि, पराशर, गालव, पिप्पलाद, सौमित्र, वायुपुत्र, भदन्तक, । मस्करी से लेकर भदन्त पर्यन्त (ये) बाईस गुरुवर दृष्ट और अदृष्ट के वक्ता हैं । यह पहली पंक्ति मानी जाती है ।

जह्नु, तृणबिन्दु, मुनि, तार्क्ष्य, ध्यानाश्रय, दीर्घ, होता, अजगर, अगस्त्य, वसुभौम, उपाध्याय, शुक, भृगु, अङ्गिरा, ऊर्ध्वरेता, जमदग्निपुत्र (= परशुराम), राम, स्थूलशिराः बालखिल्य, मनुज, वज्र, आत्रेय, विशुद्ध, शिव, चारु (चारुरथ) ।

हरो जण्ठी प्रतोदश्च अमरेशश्चतुर्थकः ।
कृष्णपिङ्गेशरुद्रश्च इन्द्रजिद् वृषभः शिवः ॥
यमः क्रूरश्च विख्यातो गङ्गाधर उमापतिः ।
भूतेश्वरः कपालीशः शङ्करश्च तथैव च ॥
अर्धनारीश्वरश्चैव पिङ्गलश्च तथा परः ।
महाकालश्च संवर्तो मण्डली त्वेकवीरकः ॥
तथा चान्यश्च विख्यातो भारभूतेश्वरो ध्रुवः ।
जह्न्वादिचारुपर्यन्ता ऋषयः पञ्चविंशतिः ॥
हरादयो ध्रुवान्ताश्च गुरवो विंशतिः स्मृताः ।'
(स्व० १०।१०८३) इति ।

अत्र च पङ्क्तिद्वये गुरुशब्दोपादानान्मध्यमायां पङ्क्तौ शिष्या एव—इत्यर्थ-सिद्धम् । नाडीरूपाश्च ता विद्यास्तदधिष्ठातृदेवताः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'इडा च चन्द्रिणी चैव शान्तिः शान्तिकरी तथा ।
माला च मालिनी चैव स्वाहा चैव सुधा तथा ॥'
(स्व० १०।१०८५) इति ॥ २८२ ॥

ननु नाड्यधिष्ठातृदेवतानां पुंस्तत्त्वावस्थाने किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

पुंसि नादमयी शक्तिः प्रसराख्या च यत्स्थिता ॥ २८३ ॥

चोऽवधारणे । यद्यस्मात्पुंस्तत्त्वाधिष्ठातरि संकुचितरूपत्वात् अणुशब्दादि-

---

जह्नु से लेकर चारु पर्यन्त दूसरी पंक्ति मानी जाती है ।

हर, जण्ठी, प्रतोद, अमरेश, कृष्णपिङ्गेश, रुद्र, इन्द्रजित्, वृषभ, शिव, क्रूर यम, गङ्गाधर उमापति, भूतेश्वर कपालीश, शङ्कर, अर्धनारीश्वर, पिङ्गल, महाकाल, संवर्त्त, मण्डली एकवीर, भारभूतेश्वर, ध्रुव । जह्नु से लेकर चारुपर्यन्त पचीस ऋषि हैं । हर से लेकर ध्रुव तक बीस गुरु माने गए हैं ।" (स्व० तं० १०।१०८३)

यहाँ दो पंक्तियों में गुरु शब्द का प्रयोग करने से मध्यम पंक्ति में शिष्य ही हैं—यह अर्थात् सिद्ध है । नाड़ी रूप वे विद्यायें अर्थात् उनकी अधिष्ठात्री देवतायें । वही कहा गया है—

"इडा, चन्द्रिणी, शान्ति, शान्तिकरी, माला, मालिनी, स्वाहा और सुधा ।" (स्व० तं० १०।१०८५) ॥ २८२ ॥

प्रश्न—नाड़ियों की अधिष्ठात्री देवतायें पुरुषतत्त्व में किस कारण रहती हैं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

क्योंकि पुरुषतत्त्व में प्रसरा नामक नादमयी शक्ति रहती है ॥ २८३ ॥

'च' शब्द का प्रयोग निश्चय अर्थ में है । जिस कारण पुरुष तत्त्व के

व्यपदेश्ये पुंस्येव, नदति स्वात्माभेदेन विश्वं परामृशति इति 'नादः' स्वातन्त्र्यात्मपरकर्तृत्वलक्षणो विमर्शः, तन्मयी शक्तिर्बहीरूपतया प्रसरणशीलत्वात् प्रसराख्या स्थिता, क्रियाशक्तिपर्यन्तेन स्थूलरूपेण स्फुरति—इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति, चिच्छक्तिरेव हि स्वस्वातन्त्र्यात् संकुचितात्मरूपतामाभास्य देहाद्यात्मतामपि जिघृक्षुः प्रथमं नाडीरूपतामियादिति । यदुक्तं प्राक्—

'चित्स्पन्दप्राणवृत्तीनामन्त्या या स्थूलता सुषिः ।
सा नाडीरूपतामेत्य देहं सन्तानयेदिदम्' ॥
(तं० ७।६६) इति ॥ २८३ ॥

ननु भवेदेवं यदि पुंसः कर्तृत्वं सिद्ध्येत्, तदेव पुनरतिदुर्लभं यत् तथात्वेऽस्य क्षीरादिवदचैतन्यं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

न ह्यकर्ता पुमान्कर्तुः कारणत्वं च संस्थितम् ।

एवं हि भुजिक्रियाकर्तृत्वायोगात् भोक्तृत्वमपि अस्य न स्यात् ।

ननु भवद्भिर्जगतां कार्यत्वं साधयितुं पुंसः कर्तृत्वमभ्युपेयते, तच्च अस्माकं प्रकृतिरेव उद्वोढुमुत्सहते—इति किं तेन अचैतन्याधायिना ?—इत्याशङ्क्योक्तम्

अधिष्ठाता होने में अर्थात् संकुचित रूप होने के कारण अणुशब्द से व्यवहार किये जाने वाले पुरुष में ही—नदन करती है अर्थात् अपने से अभिन्न रूप में विश्व का परामर्शन करती है अतः नाद = अर्थात् स्वातन्त्र्यरूप परकर्तृत्वलक्षण वाला विमर्श, तन्मयी शक्ति—बाह्यरूप में प्रसरण शील होने के कारण प्रसरा नामक, स्थित है = क्रियाशक्तिपर्यन्त वाले स्थूलरूप से स्फुरित होती है । ऐसा कहा जाता है कि चित् शक्ति ही अपने स्वातन्त्र्य से अपनी संकुचितरूपता को आभासित कर देह आदि रूप का भी ग्रहण करने की इच्छा वाली पहले नाड़ीरूपता को प्राप्त करती है । जैसा कि पहले कहा गया है—

"चित् स्पन्द प्राण की वृत्तियों की अन्तिम स्थूलता सुषि (स्पन्द चित्, स्पन्द, प्राण की कारण से कार्य की ओर उन्मुखता की अन्तिम स्थूलता) है वह नाड़ीरूपता को प्राप्त कर इस देह को बनाती है" ॥ २८३ ॥ (तं०आ० ७।६६)

प्रश्न—ऐसा हो जाता यदि पुरुष का कर्तृत्व सिद्ध होता किन्तु वही (= कर्तृत्व ही) अत्यन्त दुर्लभ है क्योंकि वैसा होने पर यह दुग्ध आदि के समान जड़ हो जाएगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पुरुष अकर्त्ता नहीं है और कर्त्ता की कारणता सिद्ध है ॥ २८४- ॥

ऐसा होने पर 'भुजि' क्रिया का कर्त्ता न होने से यह भोक्ता भी नहीं होगा ।

प्रश्न—आप संसार की कार्यता को सिद्ध करने के लिए पुरुष का कर्तृत्व मानते हैं, वह (= कर्तृत्व) तो हमारी प्रकृति ही वहन कर सकती है इसलिए उस

—'कर्तुः कारणत्वं च संस्थितम्' इति । कर्तुरिति न तु जडस्य प्रकृत्यादेः । एतच्च समनन्तराह्निक एव साधयिष्यते तत एवावधार्यम् ॥

ननु यद्यचैतन्यात्पुंसः कर्तृत्वं नाभ्युपेयेत तत्तथात्वेऽपि तन्नोपरमेत्—इत्याह—

अकर्तर्यपि वा पुंसि सहकारितया स्थिते ॥ २८४ ॥
शेषकार्यात्मतैष्टव्यान्यथा सत्कार्यहानितः ।

इह तावद्विश्वोत्पत्तौ प्रकृतिः कारणं सा च पुरुषमनपेक्ष्य न किञ्चिदाधातुं शक्नुयात् तत्संयोगेनैव विश्वोत्पादस्योक्तत्वात् । यदाहुः—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थंतथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संसर्गस्तत्कृतः सर्गः ॥

(सां० का० २१) इति ।

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् पुमानपि विश्वोत्पत्तौ कारणम्, तच्च विश्वस्य तद्रूपानुवृत्त्यसंभवात् नोपादानरूपं किंतु सहकारिरूपम् तथात्वे च अस्योपादेयातिरिक्तसहकार्यात्मतावश्यमेषितव्याऽन्यथा सत्कार्यवादो हीयेत—इत्येवमपि अस्य

चैतन्य के धारक को (मानने से) क्या लाभ ? यह शङ्का कर कहा गया—'कर्त्ता की कारणता सिद्ध है ।'

कर्त्ता की न कि जड़ प्रकृति आदि की । यह बात अगले आह्निक में ही सिद्ध की जाएगी इसलिए वहीं से समझना चाहिए ॥

प्रश्न—यदि चैतन्याभाव के कारण पुरुष का कर्त्तृत्व नहीं माना जाएगा तो वैसा होने पर भी वह (कर्त्तृत्व से) उपरत नहीं होगा ? यह कहते हैं—

पुरुष के कर्त्ता न होने पर भी सहकारी के रूप में स्थित होने पर (उसकी) शेषकार्यरूपता माननी ही पड़ेगी अन्यथा सत्कार्यवाद की हानि हो जाएगी ॥ -२८४-२८५- ॥

विश्व की उत्पत्ति में प्रकृति कारण है और पुरुष की उपेक्षा करके वह कुछ भी नहीं कर सकती क्योंकि उसके संयोग से ही विश्व की उत्पत्ति कही गई है । जैसा कि कहते हैं—

"पुरुष का (प्रकृति को) देखने के लिए और प्रकृति का (पुरुष के) कैवल्य के लिए लंगड़े और अन्धे के समान दोनों का संयोग होता है और उसके परिणाम-स्वरूप सृष्टि होती है ।" (सां० का० २१)

इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के होने के कारण पुरुष भी विश्व की उत्पत्ति में कारण है । किन्तु विश्व की उस (= पुरुष) के रूप में अनुवृत्ति असंभव होने से वह (पुरुष) उपादान कारण नहीं है किन्तु सहकारी कारण है और ऐसा होने पर इसकी उपादेय से भिन्न सहकारिरूपता अवश्य माननी चाहिए अन्यथा सत्कार्यवाद

विश्वात्मतापरिणामादचैतन्यमेवापतेत् ॥ २८४ ॥

तदेवं विश्वोत्पत्तौ पुंस एव कर्तृत्वमेष्टव्यं येनास्य तत्तद्रूपोपग्रहेऽपि स्वस्वरूपाप्रच्युतेरचैतन्यं न स्यात्, तदाह—

तस्मात्तथाविधे कार्ये या शक्तिः पुरुषस्य सा॥ २८५ ॥
तावन्ति रूपाण्यादाय पूर्णतामधिगच्छति ।

'तथाविधे' इति क्रियाशक्त्यात्मनि स्थूलरूपे । तावन्तीति, नाडीविद्यादिरूपाणि । पूर्णतामित्येवमपि स्वात्ममात्रविश्रान्तत्वात् ॥ २८५ ॥

इदानीं प्रकृतमेवानुसरति—

नाड्यष्टकोर्ध्वे कथितं विग्रहाष्टकमुच्यते॥ २८६ ॥

कथितमिति—सर्वशास्त्रे ॥ २८६ ॥

तदाह—

कार्यं हेतुर्दुःखं सुखं च विज्ञानसाध्यकरणानि ।
साधनमिति विग्रहतायुगष्टकं भवति पुंस्तत्त्वे ॥ २८७ ॥

समाप्त हो जाएगा—इस प्रकार इस रूप में भी इसका विश्व के रूप में परिणाम होने से अचैतन्य ही आएगा ॥ २८४ ॥

तो इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति में पुरुष को ही कर्त्ता मानना चाहिए जिससे इसकी, भिन्न-भिन्न रूप धारण करने पर भी, अपने स्वरूप से च्युति न होने के कारण जड़ता न हो—वह कहते हैं—

इस कारण उस प्रकार के कार्य में पुरुष की जो शक्ति है वह उतने रूपों को लेकर पूर्णता को प्राप्त होती है ॥ -२८५-२८६- ॥

उस प्रकार के = क्रियाशक्त्यात्मक स्थूल रूप के । उतने = नाड़ीविद्या आदि रूप । पूर्णता को—ऐसा होने पर भी स्वात्ममात्र में विश्रान्त होने से ॥ २८५ ॥

अब प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

ऊपर आठ नाड़ियों का कथन हुआ अब आठ शरीरों को कहते हैं ॥ -२८६ ॥

कहा गया—सभी शास्त्रों में ॥ २८६ ॥

वह कहते हैं—

कार्य, हेतु, दुःख, सुख, विज्ञान, साध्य, करण तथा साधन ये आठ, पुरुषतत्त्व में शरीरधारी होते हैं ॥ २८७ ॥

कार्यं तन्मात्रं हेतुरिति, वागादीन्द्रियदशकात्मकारणम् । 'विज्ञानसाध्य' इत्यनेन बुद्धिकर्मेन्द्रियाभिव्यङ्ग्यं ज्ञानमात्रं व्यापारमात्रं चोक्तम् । करणेति, अन्तः-करणत्रयम् । साधनमिति, सर्वकारणं प्रधानमित्यर्थः । विग्रहतायुगिति, सूक्ष्म-शरीरारम्भकत्वात्, भवति—इति सूक्ष्मेण रूपेण, स्थूलेन रूपेणैषामुक्तत्वात्, परेण च रूपेण मायाया वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २८७ ॥

भुवनं देहधर्माणां दशानां विग्रहाष्टकात् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्माकल्काक्रुधो गुरोः ॥ २८८ ॥
शुश्रूषाशौचसन्तोषा ऋजुतेति दशोदिताः ।
पुंस्तत्त्व एव गन्धान्तं स्थितं षोडशकं पुनः ॥ २८९ ॥
आरभ्य देहपाशाख्यं पुरं बुद्धिगुणास्ततः ।
तत्रैवाष्टावहङ्कारस्त्रिधा कामादिकास्तथा ॥ २९० ॥
पाशा आगन्तुकगाणेशवैद्येश्वरभेदिताः ।
त्रिविधास्ते स्थिताः पुंसि मोक्षमार्गोपरोधकाः॥ २९१ ॥

विग्रहाष्टकादिति, ऊर्ध्वम् । पुंस्तत्त्व एवेत्यर्थात्, दशविधस्यापि धर्मस्योर्ध्वम् । देहपाशेत्याद्यावृत्यापि एतदनन्तरं देहपाशानां सूक्ष्मदेहारम्भिणां विषयशब्दवाच्यानां

कार्य (= सूक्ष्म शरीर), उसके हेतु हैं = तन्मात्र - वाग् आदि दश इन्द्रियाँ वे सूक्ष्मशरीर का कारण होती हैं । 'विज्ञान साध्य—'अंश के द्वारा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से व्यंग्य केवल ज्ञान और केवल व्यापार कहा गया है । करण = तीन अन्तःकरण । साधन = सबका कारण—प्रकृति । विग्रहतायुक्—सूक्ष्मशरीर का आरम्भक होने के कारण । होता है—सूक्ष्मरूप से, क्योंकि स्थूलरूप से इनका कथन हो चुका है और पररूप (= कारणरूप) से माया का आगे कथन होगा ॥ २८७ ॥

आठ विग्रह वालों के (ऊपर) दश देहधर्मों का भुवन है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकल्कता (= धोखा न देना), अक्षोभ, गुरु की सुश्रूषा, शौच, सन्तोष और सरलता ये दश (देह धर्म) कहे गए हैं । गन्धपर्यन्त सोलह तत्त्व (= ५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + तन्मात्रायें + १ मन) पुरुषतत्त्व में ही स्थित हैं । पुनः (देहपाशों = शब्दादि पाँच विषयों) के देहपाश नामक पुर (का संशोधन करना चाहिए) । उसके बाद वहीं पर बुद्धि के आठ गुण तथा तीन प्रकार का अहङ्कार है । उसके बाद आगन्तुक, गणेशसम्बन्धी तथा विद्येश्वर से सम्बद्ध, तीन प्रकार वाले काम आदि (= क्रोध, लोभ), जो कि मोक्षमार्ग के रोधक हैं, पुरुष तत्त्व में स्थित हैं ॥ २८८-२९१ ॥

आठ विग्रह से—ऊपर । पुरुषतत्त्व में ही अर्थात् दशों प्रकार के धर्मों के

शब्दादीनां पञ्चानामपि पुरं व्याख्येयम् । तदुक्तम्—

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
विषयास्तु समाख्याताः शोधनीयाः प्रयत्नतः ॥'

(स्व० १०।१०९६) इति ।

एतच्च यद्यपि श्रीस्वच्छन्दे त्रिविधादहङ्कारादन्तरमुक्तं तथापि इह विकार-षोडशकसाजात्येनैवं व्याख्यातम् । शब्दादीनामेव च सर्वतोमुखं परं बन्धकत्वं समस्ति—इति परसूक्ष्मस्थूलतयैषां तत्र तत्र पौनःपुन्येन शोध्यत्वेनाभिधानम्—इति न कश्चिद्दोषः । कामादिकाः पाशास्त्रिविधा उदिता—इति संबन्धः । एषां चात्र अवस्थाने हेतुर्मोक्षमार्गोपरोधका इति । तदुक्तम्—

'कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहः पैशुन्यमेव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिक्षुत्तृट्तृष्णास्तथैव च ॥
विषादश्च भयं चैव मदो हर्षणमेव च ।
रागो द्वेषश्च वैचित्त्यं कुपितानृतद्रोहिता ॥
माया मात्सर्यं धर्मश्च अधर्मश्चास्वतन्त्रता ।
आगन्तुकाश्च बोद्धव्या गणपाशान्निबोध मे ॥
देवी नन्दिमहाकालौ गणेशो वृषभस्तथा ।
भृङ्गी चण्डेश्वरश्चैव कार्तिकेयोऽष्टमः स्मृतः ॥

ऊपर। देहपाश शब्द की आवृत्ति के द्वारा—इसके बाद देहपाश जो कि सूक्ष्मदेह के आरम्भक हैं, विषयशब्द के वाच्य—शब्द आदि हैं उन पाँचों के पुर हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिए (अथवा इनका शोधन करना चाहिए) । वही कहा गया है—

"शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पाँचवाँ गन्ध ये विषय कहे गए हैं। (इनका) प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिए ।" (स्व० तं० १०।१०९६)

यद्यपि स्वच्छन्द तन्त्र में इसका कथन त्रिविध अहङ्कार के बाद किया गया है तथापि यहाँ सोलह विकारों के सजातीय होने के कारण ऐसा कहा गया । शब्द आदि ही की सर्वतोमुखी परमबन्धकता सम्भव है—इसलिए पर सूक्ष्म स्थूल रूप में इनका स्थान-स्थान पर बारम्बार शोध्य के रूप में कथन किया गया है—अतः कोई दोष नहीं है । काम आदि पाश तीन प्रकार के कहे गए हैं—ऐसा सम्बन्ध है । इनकी यहाँ अवस्थिति में कारण (कहा गया)—मोक्ष मार्ग के अवरोधक हैं । वही कहा गया है—

"काम, क्रोध, लोभ, मोह, चुगली, जन्म, मृत्यु, वार्द्धक्य, रोग, भूख, प्यास, विषाद, भय, मद, हर्ष, राग, द्वेष, चित्त की अस्थिरता, कोप, असत्य, द्रोह, माया, मात्सर्य, धर्म, अधर्म, अस्वतन्त्रता, ये (२६) आगन्तुक (पाश) हैं । अब मुझसे गणपाशों को जानो—देवी, नन्दी, महाकाल, गणेश, वृषभ, भृङ्गी, चण्डेश्वर,

अनन्तस्त्रितनुः सूक्ष्मः श्रीकण्ठश्च शिवोत्तमः ।
शिखण्डी चैकनेत्रश्च एकरुद्रस्तथा परः ॥
विद्येश्वराष्टकान्पाशान्दीक्षाकाले विशोधयेत् ।'
(स्व० १०।११०१) इति ॥ २९१ ॥

नन्विह त्रिविधाः पाशाः—आणवः कार्मो मायीयश्चेति । तत्र विकारषोडशकादेः पाशत्वं यद्य(द)भिधीयते तदास्ताम्, स हि मायीयस्यैव पाशस्य प्रपञ्चः; यत्पुनरिदं गणानां विद्येशानां च पाशत्वमुच्यते तदपूर्वमिव नः प्रतिभासते?—इत्याशङ्क्याह—

यत्किञ्चित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥ २९२ ॥

इह खलु पूर्वमुक्तस्वरूपात्प्रकाशैकमात्रवपुषः 'परात्' पूर्णाच्छिवात् यत्किञ्चित् न तु नियतमेव 'अन्यत्' अतिरिक्तं तन्निखिलमेव पाश उच्यते, बन्धकतयैव अभिमतम्—इत्यर्थः । ननु परस्मात्प्रकाशादन्यन्नाम न किञ्चिदेव सम्भवेत् तदतिरेकेणास्य भानायोगात्, तथात्वे वा तदेकमात्ररूपत्वात् तत्कस्य पाशत्वेन अभिधानम् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात्' इति । स हि परः शिवः परमाद्वैतसंविद्रूपत्वेऽपि स्वातन्त्र्यसुन्दरो येन स्वं (स्व) रूपं गोपयित्वा तेन तेन संकुचितेन रूपेण प्रस्फुरेत्, यतोऽयं भेदप्रथात्मा मायीय एव मलः प्रबलतामियात् ॥ २९२ ॥

आठवें कार्त्तिकेय, अनन्त, त्रितनु, सूक्ष्म, श्रीकण्ठ, शिवोत्तम, शिखण्डी, एकनेत्र तथा अन्तिम एकरुद्र (१६) तथा आठ विद्येश्वरपाशों का दीक्षाकाल में शोधन करना चाहिए ।'' (स्व० १०।११०१) ॥ २८८-२९१ ॥

प्रश्न—पाश तीन प्रकार के हैं—आणव, कार्म और मायीय । यहाँ जो सोलह विकारों को पाश कहा गया वह तो रहे क्योंकि वह मायीय पाश का ही विस्तार है । किन्तु यहाँ जो गणों को और विद्येश्वरों को पाश कहा गया वह हमें अपूर्व ही लग रहा है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

उक्त परम अद्वैत संवित्स्वातन्त्र्यसुन्दर परम शिव रूप से अतिरिक्त जो कुछ है वह पाश कहा जाता है ॥ २९२ ॥

पूर्वोक्त रूप वाले केवल प्रकाशशरीर पर = पूर्ण शिव से, जो कुछ, न कि निश्चित रूप से, भिन्न = अतिरिक्त है, वह सब पाश कहा जाता है अर्थात् बन्धन वाला माना गया है । प्रश्न—परप्रकाश से भिन्न कुछ भी सम्भव नहीं है क्योंकि उससे भिन्न इसका आभास ही नहीं होगा, अथवा वैसा होने पर वही एकमात्र होगा फिर किसका पाश के रूप में कथन है ? यह शङ्का कर कहा गया—'परम अद्वैत संवित्स्वातन्त्र्यसुन्दर............' । वह परशिव परम अद्वैत संवित् रूप होने

नन्वेवं वेदकैकस्वरूपात् पराच्छिवादन्ये वेद्यैकरूपास्तनुकरणादयो जडा यदि पाशत्वेनेष्यन्ते तदास्ताम्, कथं पुनः वेदकैकस्वभावाः पररूपाः प्रमातारोऽपि ?— इत्याशङ्क्याह—

तदेवं पुंस्त्वमापन्ने पूर्णेऽपि परमेश्वरे ।
तत्स्वरूपापरिज्ञानं चित्रं हि पुरुषास्ततः ॥ २९३ ॥

इह खलु पारमेश्वराद्रूपात् भेदेन प्रथनं नाम बन्धो यदख्यातिरिति सर्वत्रोद्घोष्यते तच्च वेदकानां वेद्यानां चाविशिष्टम्—इति सर्वेषामपि पाशरूपतायां समानः पन्थाः । एवमपि तत्स्वरूपापरिज्ञाने पुंसामन्योन्यमतिशयः संभवेत् येनैषामपि वैचित्र्यम् । तथा हि—कस्यचिदेक एव मलः कस्यचित् द्वौ, कस्यचित्त्रयोऽपीति । एवमपि पाशरूपतायामेषां न कश्चिद्विशेषः, पारमेश्वरस्य स्वरूपापरिज्ञानस्य तादवस्थ्यात् । एवं च विद्येशत्वं त्वपरा मुक्तिः—इत्यादि युक्तमेव । अत एव

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।'

(स्व० ४।४२९) इत्याद्युक्तम् ॥ २९३ ॥

पर भी स्वातन्त्र्यसुन्दर है जिस कारण (वह) अपने रूप को छिपा कर भिन्न-भिन्न संकुचित रूप से प्रस्फुरित होता है । वह भेदप्रथारूप प्रबल मायीय मल हो जाता है ॥ २९२ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर ज्ञातृरूप पर शिव से भिन्न वेद्यरूप शरीर इन्द्रियाँ आदि जड़ पदार्थ यदि पाश माने जाँय तो कोई हर्ज नहीं लेकिन ज्ञातृरूप स्वभाव वाले पररूप प्रमातृगण भी कैसे (पाश माने जाते हैं?)—यह शङ्का कर कहते हैं—

तो इस प्रकार पूर्ण परमेश्वर के पुरुषरूप प्राप्त होने के बाद अपने स्वरूप का परिज्ञान नहीं रहता । फलतः पुरुष विचित्र होते हैं (और ये भी पाश ही हैं) ॥ २९३ ॥

यहाँ पारमेश्वर रूप से भिन्न रूप में विस्तार ही बन्ध है जो सर्वत्र अख्याति के रूप में कहा जाता है वह वेदक और वेद्य के विषय में समान है—इस प्रकार सबका पाशरूप होने में एक समान ही मार्ग है । तो भी उस (= स्वात्म) रूप का ज्ञान न होने पर पुरुषों में परस्पर अतिशय सम्भव है जिस कारण इनमें भी भेद है। वह इस प्रकार—कोई एक मलवाला है कोई दो और कोई तीनों (मल) वाला। इस पर भी इनकी पाशरूपता में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि अपने रूप का अज्ञान वैसा (= सबमें समान) ही है । इस प्रकार 'विद्येश्वरत्व अपर मुक्ति है' इत्यादि कथन ठीक ही है । इसीलिए—

"हे वरारोहे ! समना तक अनन्त पाशजाल है ।" (स्व० ४।४२९)

इत्यादि कहा गया है ॥ २९३ ॥

एवमिहापि अनुक्तं यत्किञ्चित्पराच्छिवादन्यत् तत्सर्वं पाशतयैव ज्ञेयमित्याह—

उक्तानुक्तास्तु ये पाशाः परतन्त्रोक्तलक्षणाः ।
ते पुंसि सर्वे तांस्तत्र शोधयन्मुच्यते भवात् ॥ २९४ ॥
पुंस ऊर्ध्वं तु नियतिस्तत्रस्थाः शङ्करा दश ।
हेमाभाः सुसिताः कालतत्त्वे तु दश ते शिवाः ॥ २९५ ॥
कोटिः षोडशसाहस्रं प्रत्येकं परिवारिणः ।
रागे वीरेशभुवनं गुर्वन्तेवासिनां पुरम् ॥ २९६ ॥
पुरं चाशुद्धविद्यायां स्याच्छक्तिनवकोज्ज्वलम् ।
मनोन्मन्यन्तगास्ताश्च वामाद्याः परिकीर्तिताः ॥ २९७ ॥
कलायां स्यान्महादेवत्रयस्य पुरमुत्तमम् ।

'शङ्कराः' इत्येतत्संज्ञाः ।

'वामदेवस्तथा शर्वस्तथा चैव भवोद्भवौ ।
वज्रदेहः प्रभुश्चैव दाता च क्रमविक्रमौ ॥
सुप्रभेदश्च दशमो नियत्यां शङ्कराः स्मृताः ।'

(स्व० १०।११०४) इति ।

हेमाभा इति, शङ्कराः । सुसिता इति, शिवाः । तदुक्तम्—

इस प्रकार यहाँ भी जो कुछ उक्त नहीं है तथा परमशिव से भिन्न है उस सबको पाश के रूप में ही जानना चाहिए—यह कहते हैं—

उक्त अथवा अनुक्त जो पाश, जिनका लक्षण अन्य तन्त्रों के द्वारा (अथवा अन्य तन्त्रों में) कहा गया है, वे सब पुरुष तत्त्व में (स्थित हैं) । उनका वहाँ शोधन करने वाला संसार (या जन्म) से मुक्त हो जाता है । पुरुष तत्त्व के ऊपर नियति तत्त्व है । वहाँ स्वर्ण की सी कान्ति वाले दश शङ्कर हैं । काल तत्त्व में दश अत्यन्त श्वेत शिव हैं । प्रत्येक के परिवार एक करोड़ सोलह हजार हैं । राग तत्त्व में वीरेश का भुवन है जो गुरु के अन्तेवासियों का पुर है । अशुद्ध विद्यातत्त्व में नव शक्तियों से उज्ज्वल दूसरा (पुर) है । वे (शक्तियाँ) वामा से लेकर उन्मना तक कही गई है । कला तत्त्व में तीन महादेवों का उत्तम पुर है ॥ २९४-२९८- ॥

शङ्कर—इस नाम वाले ।

"वामदेव, शर्व, भव, उद्भव, वज्रदेह, प्रभु, दाता, क्रम, विक्रम और दशवें सुप्रभेद ये दश शङ्कर नियति (तत्त्व) में (स्थित) माने गए हैं । (स्व० १०।११०४)

हेमाभ-शङ्कर । अत्यन्त स्वच्छ-शिव । वही कहा गया है—

'हेमाभाः शङ्कराः प्रोक्ताः शिवाः स्फटिकसंनिभाः ।'
(स्व० १०।११०८) इति ।

'शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धश्च प्रशान्तः परमाक्षरः ।
शिवश्च सुशिवश्चैव ध्रुवश्चाक्षरशंभुराट् ॥
दशैते कालतत्त्वे तु शिवा ज्ञेया वरानने ।'
(स्व० १०।११०७) इति च ।

वीरेशभुवनमिति, अर्थादष्टसंख्यावच्छिन्नम् । 'परम्' इति अन्यत् दशसंख्यावच्छिन्नम् । तदुक्तम्—

'अत ऊर्ध्वं हरिहरौ रागतत्त्वे निबोध मे ।
संहृष्टः सुप्रहृष्टश्च सुरूपो रूपवर्धनः ॥
मनोन्मनो महावीरो वीरेशाः परिकीर्तिताः ।'
(स्व० १०।१११२) इति ।

'कल्याणः पिङ्गलो बभ्रुर्वीरश्च प्रभवस्तथा ।
मेघातिथिश्छेदकश्च दाहकः शास्त्रकारिणः ॥
पञ्च शिष्यास्तथाचार्या दशैते संव्यवस्थिताः ।'
(स्व० १०।१११४) इति च ।

'ताः' इति शक्तयः । तदुक्तम्—

'वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली विकरणी तथा ।

"शङ्करों को स्वर्णाभ तथा शिवों को स्फटिकसमान कहा गया है ।" (१०।११०८)

हे वरानने ! "कालतत्त्व में शुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध, प्रशान्त, परमाक्षर, शिव, सुशिव, ध्रुव, अक्षर एवं शम्भुराट्—इन दश शिवों को जानना चाहिए ।" (स्व० १०।११०७)

वीरेश का भुवन—अर्थात् आठ संख्या वाला । पर—अर्थात् दूसरा दश संख्या वाला । वही कहा गया है—

"इसके बाद राग तत्त्व में (स्थित वीरेशों को) मुझसे जानो । हरि, हर, संहृष्ट, सुप्रहृष्ट, सुरूप, रूपवर्द्धन, मनोन्मन और महावीर ये ८ वीरेश कहे गए हैं ।" (स्व० १०।१११२)

"कल्याण, पिङ्गल, बभ्रु, वीर, प्रभव ये पाँच शिष्य तथा मेधा, अतिथि, छेदक, दाहक एवं शास्त्रकारी ये पाँच आचार्य, इस प्रकार दश स्थित हैं ।" (स्व० १०।१११४)

वे = शक्तियाँ । वही कहा गया है—

"वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, विकरणी, बलविकरणी, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी

बलविकरणी चैव बलप्रमथनी तथा ॥
सर्वभूतदमनी च तथा चैव मनोन्मनी ।'
(स्व० १०।११४) इति च ।

अत्र च स्त्रीपाठ एव साधुर्महाजनैः परिगृहीतत्वात् । उत्तममिति, विश्वस्य परायां काष्ठायामधिरोहात् । तदुक्तम्—

'महादेवो महातेजा महाज्योति.............. ।' इति ॥ २९७ ॥

इदानीं ग्रन्थितत्त्वशक्त्यात्मना त्रिप्रकारं मायायाः स्वरूपं निरूपयति—

ततो माया त्रिपुटिका मुख्यतोऽनन्तकोटिभिः ॥ २९८ ॥
आक्रान्ता सा भगबिलैः प्रोक्तं शैव्यां तनौ पुनः ।
अङ्गुष्ठमात्रपर्यन्तं महादेवाष्टकं निशि ॥ २९९ ॥
चक्राष्टकाधिपत्येन तथा श्रीमालिनीमते ।

मुख्यत इति, अन्यथा हि अस्या वक्ष्यमाणदृशा पुटानामानैक्यम् । 'महादेवाष्टकं निशि' इत्यत्रापि 'शैव्यां तनौ' इति योज्यम् । तदुक्तं तत्र—

'भगबिलसहस्रकलितं गुहाशिरो यत्प्रपञ्चसर्वगतम् ।' इति ।

'तत्रानघप्रभावः प्रथमश्चक्राधिपो महातेजाः ।
वामो नाम्ना बलवान् द्वितीयचक्राधिपो रुद्रः ॥

तथा मनोन्मनी (ये दश शक्तियाँ हैं)।'' (स्व० १०।११४४)

यहाँ स्त्रीलिङ्ग वाला पाठ ही उचित है क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों ने (उसे) माना है । उत्तभ—क्योंकि विश्व का पराकाष्ठा में अधिरोहण है । वही कहा गया है—

''महादेव, महातेजा, महाज्योति................'' ॥ २९८- ॥

अब ग्रन्थि, तत्त्व एवं शक्ति के रूप में माया के तीन प्रकार के स्वरूप को बतलाते हैं—

इसके ऊपर माया मुख्यतया तीन प्रकार की है । वह अनन्त कोटि भगबिलों (= ऐश्वर्यात्मक आकर्षक कामत्रिकोण कुण्डों) से आक्रांत (= परिवेष्टित) है ऐसा शिवतनु शास्त्र में कहा गया है । पुनः चक्रों के अधिपति के रूप में अंगुष्ठमात्र तक आठ महादेव निशाटन शास्त्र में (कहे गए हैं) । ऐसा मालिनीविजय तन्त्र में भी कहा गया है ॥ -२९८-३००-॥

मुख्यरूप से—अन्यथा वक्ष्यमाण रीति से पुरों की अनेकता है । निशा में आठ महादेव—यहाँ भी 'शैवी तनु में' ऐसा जोड़ना चाहिए । वही वहाँ कहा गया है—

''गुहाशिर जो कि प्रपञ्च का सर्वस्व है हजारों भगबिलों से युक्त है ।''

''वहाँ निष्कलुष प्रभाव वाले महातेज वाम(देव) नामक प्रथम चक्रेश (रहते) हैं ।

चक्रं भवोद्भवाख्यस्तृतीयमधितिष्ठति स्ववीर्येण ।
प्रभुरेकपिङ्गचक्षुश्चक्रस्य पतिश्चतुर्थस्य ॥
ईशान इति प्रथितो यच्चक्रं पञ्चमं प्रवर्तयति।
षष्ठस्याधिष्ठाता भुवनेशो भुवनचक्रस्य ॥
प्रथितः पुरःसराख्यो यः सप्तमचक्रनायको देवः ।
अङ्गुष्ठमात्रनामा पतिरष्टमभुवनचक्रस्य ॥'

इति च । न केवलमत्रैवैतदुक्तं यावदन्यत्रापि—इत्याह—'तथा श्रीमालिनीमते' इति । यदुक्तं तत्र—

'महातेजःप्रभृतयो मण्डलेशानसंज्ञकाः ।
मायातत्त्वे स्थितास्तत्र वामदेवभवोद्भवौ ॥
एकपिङ्गेक्षणेशानभुवनेशपुरःसराः ।
अङ्गुष्ठमात्रसहिताः कालानलसमत्विषः ॥'

(मा० वि० ५।२९) इति ॥ २९९ ॥

अत्र च श्रीपूर्वशास्त्रादपि विशेषान्तरमस्ति—इत्याह—

वामाद्याः पुरुषादौ ये प्रोक्ताः श्रीपूर्वशासने॥ ३०० ॥
ते मायातत्त्व एवोक्तास्तनौ शैव्यामनन्ततः ।

पुरुषादाविति, आदिशब्दाद्रागतत्त्वम् । यदुक्तं तत्र—

रुद्र दूसरे चक्राधिप हैं । अपने पराक्रम से तीसरे चक्र के स्वामी भवोद्भव है । चतुर्थ चक्र के अधिपति एकपिङ्गाक्ष है । पञ्चम चक्र का प्रवर्त्तन करने वाले ईशाननाम से विख्यात हैं । छठें भुवनचक्र के अधिष्ठाता भुवनेश है । जो पुरःसर नाम से प्रसिद्ध हैं वे देव सप्तम चक्र के नायक है । अष्टम भुवन चक्र के अधिपति का नाम अंगुष्ठमात्र है ।''

यह (बात) केवल यहीं नहीं कही गई है बल्कि अन्यत्र भी—यह कहते हैं—तथा श्रीमालिनीमत में । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

''महाकालानल के समान कान्ति वाले तेजस्वी आदि मण्डलेशान संज्ञावाले वामदेव, भवोद्भव, एकपिङ्गाक्ष, ईशान, भुवनेश आदि अङ्गुष्ठमात्र के सहित वहाँ मायातत्त्व में स्थित हैं । (मा०वि० ५।२९) ॥ २९९ ॥

इस विषय में श्रीपूर्वशास्त्र से भी भेद है—यह कहते हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र में जो वामदेव आदि पुरुष आदि (तत्त्वों) में कहे गए हैं वे शिवतनु शास्त्र में अनन्त पर्यन्त मायातत्त्व में ही (स्थित) कहे गए हैं ॥ -३००-३०१- ॥

पुरुष आदि में—आदि शब्द से राग तत्त्व (समझना चाहिए) जैसा कि वहाँ

'पुरुषे वामभीमोग्रभवेशानैकवीरका: ।
प्रचण्डो माधवोऽजश्च अनन्तैकशिवावथ ॥'

(मा० वि० ५।२६) इति ।

'अनन्तत:' इति अनन्तपर्यन्तम्—इत्यर्थ: । यदुक्तं तत्र—

'वामस्य ततो भुवनं तस्माद्भैमं ततोऽपि चोग्रस्य ।
तस्माद्भवस्य भुवनं तदुपरि सर्वस्य देवस्य ॥' इति ।

'तस्मादगुणैर्विचित्रैर्भुवनवरं चक्रवीरस्य ।' इति ।

'अपरिमितगुणनिधानं भुवनवरं तदुपरि प्रचण्डस्य ।
यत्र प्रचण्डनामा स्थितोऽनुशास्त्येकवीरादीन् ॥'

इति च ॥ ३०० ॥

अत्र चैषामुपदेशेन कोऽर्थ: ?—इत्याशङ्क्याह—

कपालव्रतिन: स्वाङ्गहोतार: कष्टतापसा: ॥ ३०१ ॥
सर्वाभया: खड्गधाराव्रतास्तत्तत्त्ववेदिन: ।

'तत्तत्त्ववेदिन:' इति वामादिसायुज्यभाज:—इत्यर्थ: । तदुक्तम्—

कहा गया है—

"वामदेव, भीम, उग्र, भव, ईशान, एकवीर, प्रचण्ड, माधव, अज, अनन्त और एक शिव (ये) पुरुष (तत्त्व) में (रहते) हैं ।" (मा०वि०त० ५।२६)

अनन्तत: = अनन्तपर्यन्त । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"इसके बाद वामदेव का भुवन, उसके पश्चात् भीम का, फिर उग्र का, तत्पश्चात् भव का भुवन उसके ऊपर शर्व देव का ।"

"उसके बाद विचित्रगुणों से (युक्त) चक्रवीर का श्रेष्ठ भुवन है ।"

"उसके ऊपर प्रचण्ड का असीम गुणों का आकारश्रेष्ठ भुवन है जहाँ कि प्रचण्ड नामक (महादेव) एकवीर आदि का अनुशासन करते हैं" ॥ ३०० ॥

किन्तु यहाँ इनके उपदेश से क्या तात्पर्य है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(जो) कपालव्रती, अपने अङ्ग का हवन करने वाले, कष्ट तापस (= कठिन तपस्या करने वाले), सबको अभय देने वाले अथवा खड्गधाराव्रत करने वाले होते हैं वे (यथायोग्य) उन-उन तत्त्वों के ज्ञाता होते हैं ॥ -३०१-३०२- ॥

उन तत्त्वों को जानने वाले = वामदेव आदि के साथ सायुज्य के भागी । वही कहा गया है—

'ज्ञातज्ञेया विप्राः कापालव्रतभृतो विगतसङ्गाः ।
भस्मोपलेपनिष्ठा व्रजन्ति वामस्य सायुज्यम् ॥
उपलब्धवेदनीया अतिभीमपदेप्सवो निजशिरोभिः ।
स्वयमुल्लूनैरिष्ट्वा भौमं गच्छन्ति तद्धाम ॥
विहितोग्रयोगविधयो ये धीरा दुष्करे तपस्युग्रे ।
ध्यायन्त्युग्रमजस्रं तेऽपि लभन्ते गुणानौग्रान् ॥
विज्ञाय भवं देवं भीतानामभयदानसंसिद्धाः ।
भवपदमारोहन्तो ध्यानाहितचेतसो विप्राः ॥
स्रग्वस्त्रालङ्कारैरभिरामं रूपमात्मनः कृत्वा ।
असिधाराव्रतनिष्ठाः पूर्वपदं ध्यायिनो यान्ति ॥' इति ॥ ३०१ ॥

नन्वेषामपि सृष्ट्यादिकारी प्रभुरनन्तोऽस्ति—इति किमेतावत्पदप्राप्त्या—इत्याशङ्क्याह—

क्रमात्तत्तत्त्वमायान्ति यत्रेशोऽनन्त उच्यते ॥ ३०२ ॥

'तत्तत्त्वम्' इति मायीयं प्रधानं भुवनम्—इत्यर्थः । ईश इति, अर्थादियदन्तस्याध्वनः ॥ ३०२ ॥

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

"वे ब्राह्मण जो ज्ञेय को जानने वाले, कपालव्रत धारण करने वाले, आसक्तिरहित एवं भस्मोपलेप में निष्ठा रखने वाले है वामदेव के सायुज्य को प्राप्त करते हैं । ज्ञातव्य को जानने वाले, अतिभीम पद के इच्छुक, अपने शिरों से स्वयं नोचे गए (बालों) से यज्ञ करके इस भौम धाम को जाते हैं । उग्र योग का विधान करने वाले जो घोर (साधक) दुष्कर एवं उग्र तपस्या के द्वारा निरन्तर उग्र का ध्यान करते हैं, उग्र के गुणों को प्राप्त करते हैं । भवदेव को जान कर भयभीत लोगों को अभय देने में सिद्ध भवपद पर आरुढ़ होने जाले, ध्यान में चित्त को लगाने वाले विप्र माला वस्त्र एवं अलङ्कारों से अपने रूप को सुन्दर बना कर असिधारा व्रत में लगे हुये ध्यानी पूर्व पद को प्राप्त होते हैं" ॥ ३०१ ॥

प्रश्न—इनकी भी सृष्टि आदि के कर्त्ता भगवान् अनन्त हैं तो इन पदों की प्राप्ति से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(ये लोग) क्रमशः उस तत्त्व को प्राप्त होते हैं जहाँ के स्वामी अनन्त कहे जाते हैं ॥ -३०२ ॥

उस तत्त्व को = मायीयप्रधान भुवन को । ईश्वर = यहाँ तक के अध्वा के ॥ ३०२ ॥

इस विषय में क्या प्रमाण है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

उक्तं च तस्य परतः स्थानमनन्ताधिपस्य देवस्य।
स्थितिविलयसर्गकर्तुर्गुहाभगद्वारपालस्य ॥ ३०३ ॥

उक्तमिति, शिवतनावेव । 'परतः' इत्यूर्ध्वम् । 'गुहा' इति माया ॥ ३०३॥

स्थित्यादिकारित्वमेवास्य दर्शयति—

धर्मानणिमादिगुणाञ्ज्ञानानि तपःसुखानि योगांश्च ।
मायाबिलात्प्रदत्ते पुंसां निष्कृष्य निष्कृष्य ॥ ३०४ ॥
तच्छक्तीद्धस्वबला गुहाधिकारान्धकारगुणदीपाः ।
सर्वेऽनन्तप्रमुखा दीप्यन्ते शतभवप्रमुखान्ताः ॥ ३०५ ॥
सोऽव्यक्तमधिष्ठाय प्रकरोति जगन्नियोगतः शम्भोः ।
शुद्धाशुद्धस्त्रोतोऽधिकारहेतुः शिवो यस्मात् ॥ ३०६ ॥

तच्छक्तीति, तच्छब्देन अनन्तपरामर्शः । अनेन च न केवलमयं क्षेत्रज्ञानामेव स्थितिं विधत्ते यावद्रुद्राणामपि—इत्युक्तम् । 'गुणाः' सर्वज्ञत्वादयः । अनन्तप्रमुखा इति, अनन्तस्वामिकाः—इत्यर्थः । जगदिति, कार्यकारणात्मनियोगतः शम्भोरिति, न तु स्वेच्छामात्रात् । अत्र हेतुः 'शुद्धेत्यादिना' । तदुक्तं तत्र—

उसके ऊपर स्थिति प्रलय और सृष्टि के कर्त्ता, गुहाभग (= मायाबिल) के द्वारपाल, अनन्तनाथ देव का स्थान कहा गया है ॥ ३०३ ॥

कहा गया है—शिवतनु (शास्त्र) में । बाद में = ऊपर । गुहा = माया ॥ ३०३ ॥

इनकी स्थिति आदि की कर्तृता को दिखलाते हैं—

वे (= अनन्तनाथ) मायाबिल से निकाल-निकाल कर पुरुषों को धर्म, अणिमा आदि गुण, ज्ञान, तपस्, सुख और योग प्रदान करते हैं ।

उन (अनन्तनाथ) की शक्ति से अपने बल को उद्दलित पाकर माया के अधिकार रूपी अन्धकार के लिए गुण रूपी दीप वाले अनन्तनाथ के अधीन वर्त्तमान शतरुद्र आदि प्रकाशित होते हैं । चूँकि शिव शुद्धाशुद्ध स्रोत के अधिकार के कारणभूत हैं (इसलिए) वे अव्यक्त में अधिष्ठित होकर शम्भु के नियोग से संसार का निर्माण करते हैं ॥ ३०४-३०६ ॥

उसकी शक्ति—यहाँ 'उस' शब्द से अनन्त को समझना चाहिए । उससे ये केवल क्षेत्रज्ञों की ही स्थिति का विधान नहीं करते बल्कि गुणों की भी—यह कहा गया । गुण—सर्वज्ञत्व आदि । अनन्तप्रमुख = अनन्त जिनके स्वामी हैं वे लोग । जगत्—कार्यकारणरूप । शम्भु के नियोग (= आदेश) से—न कि केवल अपनी इच्छा से । इसमें हेतु (दिखलाते हैं) शुद्ध इत्यादि के द्वारा, वही वहाँ कहा गया है—

'अव्यक्तमधिष्ठाय प्रकरोति जगद्यतः स देवेशः ।
संसारमहाविवरे पर्यस्तांस्त्रायते च यतः ॥
शिवयोगबलोपेतस्तस्मात्पत्युर्नियोग आसीनः ।
शुद्धाशुद्धस्रोतोऽधिकारहेतुः शिवो ज्ञेयः ॥' इति ॥३०६॥

ननु को नाम शुद्धाशुद्धयोः स्रोतसोरधिकार ?—इत्याशङ्क्याह—

शिवगुणयोगे तस्मिन् महति पदे ये प्रतिष्ठिताः प्रथमम् ।
तेऽनन्तादेर्जगतः सर्गस्थितिविलयकर्तारः ॥ ३०७ ॥
मायाबिलमिदमुक्तं परतस्तु गुहा जगद्योनिः ।

'महति पदे' इति शुद्धे स्रोतसि । तस्य विशेषणं 'शिवगुणयोगे' इति, सर्वज्ञत्वादिसंभवात् । अनन्तादेरिति 'अनन्तोः' मायातत्त्वाधिष्ठाता । मायाबिलमिति, ग्रन्थिरूपा माया, गुहेति, तत्त्वरूपा । 'परतः' इति अशुद्धे स्रोतसि—इत्यर्थः । तेन ग्रन्थितत्त्वरूपतया द्विविधापि माया जगद्योनिरिति संबन्धः । उक्तं च तत्र—

'परतो गुहा भगवती जगतामुत्पत्तिकारणं माया ।
यस्यां स्थितिमनुभूय प्रविलीयन्ते पुनर्लोकाः ॥' इति ॥ ३०७॥

अत्र च भगसंज्ञायां प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

"वे देवेश, चूँकि, अव्यक्त में अधिष्ठित होकर संसार का निर्माण करते हैं और संसाररूपी महाबिल में गिरे हुये लोगों की रक्षा करते हैं इस कारण शिवयोग के बल से युक्त, पति के नियोग में स्थित शुद्धाशुद्ध स्रोत के अधिकार के कारणभूत उनको शिव समझना चाहिए" ॥ ३०६ ॥

शुद्धाशुद्ध स्रोत का अधिकार क्या है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

जो लोग उस शिवगुणयोग वाले महापद पर पहले प्रतिष्ठित हो गये वे अनन्त से लेकर जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय के कर्त्ता हैं । यह (= शुद्ध स्त्रोत ग्रन्थि) मायाबिल कहा गया है । उसके बाद की गुहा संसार का कारण है ॥ ३०७-३०८- ॥

महा पद पर—शुद्ध स्रोत में । उसका विशेषण है—शिवगुणयोग वाले—क्योंकि (उसमें) सर्वज्ञत्व आदि सम्भव हैं । अनन्त आदि का—अनन्त = माया तत्त्व के अधिष्ठाता । मायाबिल = ग्रन्थिरूपा माया । गुहा = तत्त्वरूपा । उसके बाद—अशुद्ध स्रोत में । इस कारण ग्रन्थि एवं तत्त्व के रूप से दो प्रकार की माया संसार का कारण है । वहाँ कहा भी गया है—

"उसके बाद भगवती गुहा (अर्थात्) संसार की उत्पत्ति का कारण माया है जिसमें लोक (= जीव) स्थिति का अनुभव कर (उसी में) विलीन होते हैं ॥३०७॥

उत्पत्त्या तेष्वस्याः पतिशक्तिक्षोभमनुविधीयमानेषु ॥ ३०८ ॥
योनिविवरेषु नानाकामसमृद्धेषु भगसंज्ञा ।
कामयते पतिरेनामिच्छानुविधायिनीं यदा देवीम् ॥ ३०९ ॥
प्रतिभगमव्यक्ताद्याः प्रजास्तदास्याः प्रजायन्ते ।

'तेषु' इति सृष्ट्यादिलाभरूपेष्वित्यर्थः । 'अस्याः' इति ग्रन्थिरूपाया मायायाः । 'एनाम्' इति ग्रन्थिरूपामेव मायाम् । 'प्रतिभगम्' इति भगे भगे इत्यर्थः । अत एव प्रकृत्यण्डादेरसंख्याततत्वम् । एतत्साम्यनिमित्त एव चात्र लौकिकः स्त्रीपुंसवृत्तान्तोऽपि कटाक्षितः ॥ ३०९ ॥

एते चानवच्छिन्ना—इत्याह—

तेषामतिसूक्ष्माणामेतावत्त्वं न वर्ण्यते विधिषु ॥ ३१० ॥

'विधिषु' शास्त्रेषु ॥ ३१० ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनेन द्रढयति—

अववरकाण्येकस्मिन्यद्वत्साले बहूनि बद्धानि ।

यहाँ भगसंज्ञा का प्रवृत्तिनिमित्त (= वाच्यार्थ) क्या है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस (माया) की उत्पत्ति के कारण पतिशक्ति के क्षोभ का विधान करने वाले वे योनिविवर जब अनेक प्रकार की काम भावना से समृद्ध हो जाते हैं तब (वे) भगनाम वाले होते हैं । और जब पति इच्छानुकूल कार्य करने वाली इस (माया) की कामना करता है तो एक-एक भग में इसकी अव्यक्त आदि प्रजायें उत्पन्न होती हैं ॥ -३०८-३१०- ॥

उनमें = सृष्टि आदि लाभ रूप (उन) में । उसका = ग्रन्थिरूपा माया का । इसको = ग्रन्थिरूपा माया को । प्रतिभगम् = प्रत्येक भग में, इसीलिए प्रकृत्यण्ड से लेकर (= अण्डों की) असंख्यता है । इस साम्य के आधार पर यहाँ लौकिक स्त्रीपुरुष व्यवहार के ऊपर कटाक्ष हुआ (अर्थात् जैसे स्त्री के भग के प्रति आकृष्ट होने पर पति के द्वारा सृष्टि होती है उसी प्रकार परमेश्वर अपनी शक्ति के प्रति आकृष्ट होकर अनन्त अण्डों की रचना करता है ।) ॥ ३०९ ॥

ये अनवच्छिन्न हैं—यह कहते हैं—

अत्यन्त सूक्ष्म उनकी इयत्ता (= निश्चित संख्या) शास्त्रों में वर्णित नहीं है ॥ -३१० ॥

विधि में = शास्त्रों में ॥ ३१० ॥

इसी को दृष्टान्त के द्वारा पुष्ट करते हैं—

योनिबिलान्येकस्मिंस्तद्वन्मायाशिरःसाले ॥ ३११ ॥
मायापटलैः सूक्ष्मैः कुड्यैः पिहिताः परस्परमदृश्याः।
निवसन्ति तत्र रुद्राः सुखिनः प्रतिबिलमसंख्याताः ॥ ३१२ ॥
स्थाने सायुज्यगताः सामीप्यगताः परे सलोकस्थाः ।

'तत्र स्थाने' इति ग्रन्थिरूपायां मायायाम् ।

असंख्यातत्वे निमित्तमाह 'सायुज्य' इत्यादि ॥ ३१२ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति—

प्रतिभुवनमेवमयं निवासिनां गुरुभिरुद्दिष्टः ॥ ३१३ ॥

एषां चाधिष्ठातृभिः सममियत्ताकलने निमित्ताभावं दर्शयति—

अपि सर्वसिद्धवाचः क्षीयेरन्दीर्घकालमुद्गीर्णाः ।
न पुनर्योन्यानन्त्यादुच्यन्ते स्रोतसां संख्याः ॥ ३१४ ॥

नन्वस्मात्स्रोतसः किं स्रोतोन्तराणि विलक्षणानि न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

जिस प्रकार एक मकान में बहुत से छिद्र किये जाँय उसी प्रकार एक मायाशिररूपी भवन में (असंख्य) योनिरूपी बिल हैं । उस परस्थान में प्रत्येक बिल में सायुज्य, सामीप्य और सालोक्य (मुक्ति) को प्राप्त हुये असंख्य रुद्र जो कि सूक्ष्म मायापटल रूपी दीवार से व्यवहित होने के कारण परस्पर अदृश्य रहते हैं, सुखपूर्वक निवास करते हैं ॥ ३११-३१३- ॥

उस स्थान में—ग्रन्थिरूपा माया में ।

असंख्यता में कारण बतलाते हैं—सायुज्य इत्यादि ॥ ३१२ ॥

इसी का अन्यत्र भी वर्णन करते हैं—

प्रत्येक भुवन में रहने वालों के विषय में ऐसा ही यह (सिद्धान्त) गुरुओं के द्वारा उपदिष्ट है ॥ -३१३ ॥

अधिष्ठाताओं के समान इनकी इयत्ता के निर्धारण में कारण के अभाव को दिखलाते हैं—

सर्वसिद्धवाक् लोग दीर्घकाल तक वर्णन करते हुए भले ही थक जाँय किन्तु योनियों के आनन्त्य के कारणभूत स्रोतसों की संख्या नहीं कही जा सकती ॥ ३१४ ॥

प्रश्न—इस (ग्रथिरूपा माया) स्रोत से क्या दूसरे स्रोत विलक्षण है—या

तस्मान्निरयाद्येकं यत्प्रोक्तं द्वारपालपर्यन्तम् ।
स्त्रोतस्तेनान्यान्यपि तुल्यविधानानि वेद्यानि ॥ ३१५ ॥
अव्यक्तकले गुहया प्रकृतिकलाभ्यां विकार आत्मीयः।
ओतः प्रोतो व्याप्तः कलितः पूर्णः परिक्षिप्तः ॥ ३१६ ॥

गुहाया हि अव्यक्तं कला च विकारः, अतश्च तयाव्यक्तकलयोरोतत्वादि न्याय्यम् । कारणेन हि स्वकार्यापूरकेण भाव्यम् । यदाहुः—

'कारणमापूरकं च तस्यैव ।'

इति । आपूरणमेव च 'ओतः प्रोतः' इत्यादिना विभक्तम् । 'आत्मीयः' इति महदादिरविद्यादिश्च ॥ ३१६ ॥

एवमस्याः शास्त्रान्तरेभ्यो विशेषं दर्शयित्वा प्रकृतमेवाह—

मध्ये पुटत्रयं तस्या रुद्राः षडधरेऽन्तरे ।
एक ऊर्ध्वे च पञ्चेति द्वादशैते निरूपिताः ॥ ३१७ ॥

'अधरे' इति पुटे । एवमन्यत्र ॥ ३१७ ॥

तान्येव पठति—

नहीं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

इस कारण निरय (= अशुद्धस्त्रोत) से लेकर द्वारपाल तक जो एक स्त्रोत कहा गया उसके आधार पर अन्य स्त्रोतों को भी तुल्यविधान वाले समझने चाहिए । गुहा (= माया) के द्वारा अव्यक्त और कला, आत्मा का विकार (= महत् से लेकर जीव जगत् तक का विकार) प्रकृति और कला से, व्याप्त ओतप्रोत कलित, पूर्ण और परिक्षिप्त है ॥ ३१५-३१६ ॥

अव्यक्त और कला गुहा का विकार है । इसलिए अव्यक्त और कला का उसके द्वारा ओतप्रोत आदि होना समीचीन है । कारण को अपने कार्य का आपूरक होना चाहिए । जैसा कि कहते हैं—

"और कारण उसी (= कार्य) का आपूरक होता है ।"

आपूरण ही ओतःप्रोत (शब्द) इत्यादि के द्वारा विभक्त है । आत्मा का (विकार) महत् आदि और अविद्या आदि है ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार दूसरे शास्त्रों से इसका भेद दिखाकर प्रस्तुत का कथन करते हैं—

उसके मध्य में तीन पुट हैं—नीचे छ रुद्र हैं बीच में एक और ऊपर पाँच । इस प्रकार ये १२ बतलाये गये ॥ ३१७ ॥

अधर में—पुट में । इसी प्रकार अन्यत्र (समझना चाहिए) ॥ ३१७ ॥

गहनासाध्यौ हरिहरदशेश्वरौ त्रिकलगोपती षडिमे ।
मध्येऽनन्तः क्षेमो द्विजेशविद्येशविश्वशिवाः ॥ ३१८ ॥
इति पञ्च तेषु पञ्चसु षट्सु च पुटगेषु तत्परावृत्त्या ।
परिवर्त्तते स्थितिः किल देवोऽनन्तस्तु सर्वथा मध्ये ॥ ३१९ ॥

तदुक्तम्—

'गहनश्च असाध्यश्च तथा हरिहरः प्रभुः ।
दशेशानश्च देवेशि त्रिकलो गोपतिस्तथा ॥
अधःपुटे तु विज्ञेया मायातत्त्वे वरानने ।
क्षेमेशो ब्राह्मणस्वामी विद्येशानस्तथैव च ॥
विश्वेशश्च शिवश्चैव अनन्तः षष्ठ उच्यते ।
ऊर्ध्वं मायापुटस्थास्तु रुद्रा एते प्रकीर्तिताः ॥
एषां मध्ये तु भगवाननन्तेशो जगत्पतिः ।(स्व० १०।११२५)

इति । अत्र चैषां परेण रूपेणान्यथावस्थानेऽपि अनन्तस्य न कश्चिद्विशेषः— इत्याह 'तेषु' इत्यादि । पुटगेष्विति, अर्थादूर्ध्वाधः । तत्परावृत्त्येति, तच्छब्देन रुद्राणां परामर्शः, तेन अधःपुटे ऊर्ध्वपुट एव च उपर्युपरिभावस्य व्यत्ययादेषां स्थितिः परिवर्तते—इति यावत् । तदुक्तम्—

उन्हीं (= १२ रुद्रों) को कहते है—

गहन, असाध्य, हरिहर, दशेश्वर, त्रिकल और गोपति ये (अधपुट में हैं) मध्य में अनन्त हैं ऊपर वाले पुट में क्षेमेश, द्विजेश, विद्येश, विश्वेश और शिव ये पाँच है । उन पुटवर्त्ती पाँच और छ रुद्रों में उनके स्थानपरिवर्त्तन के द्वारा स्थिति बदलती रहती है । किन्तु अनन्त देव सर्वथा मध्य में रहते हैं ॥ ३१८-३१९ ॥

वही कहा गया है—

"हे देवेशि ! गहन, असाध्य, प्रभु, हरिहर, दशेशान, त्रिकल और गोपति मायातत्त्व में अधःपुर में जानना चाहिए । क्षेमेश, ब्राह्मणस्वामी, विद्येश, विश्वेश, शिव और अनन्त छठें कहे जाते हैं । ये रुद्र ऊर्ध्व मायापुरवासी कहे गए हैं । इनके मध्य में भगवान् जगत्पति अनन्तेश रहते हैं ।" (स्व०तं० १०।११२५)

यहाँ इनकी दूसरे रूप में स्थिति होने पर भी अनन्त की (स्थिति में) कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए कहा—उनमें—इत्यादि । पुटवर्त्तियों में—अर्थात् ऊपर नीचे । उनके परिवर्त्तन से—यहाँ 'उन' शब्द से रुद्रों को जानना चाहिए । इसलिये अधःपुट और ऊर्ध्वपुट में ही व्यत्यय से उनकी (= रूद्रों की) स्थिति परिवर्त्तित होती है । वही कहा गया है—

प्रथमेन तु भेदेन रुद्रा द्वादश कीर्तिताः ।
अस्मिंस्तु ये महारुद्रा मायातत्त्वे व्यवस्थिताः॥
तानहं संप्रवक्ष्यामि भेदत्रयविभागशः ।
गोपतिश्च ततो देवि अधोग्रन्थौ व्यवस्थितः ॥
ग्रन्थ्यूर्ध्वं संस्थितो विश्वस्त्रिकलः क्षेम एव च ।
ब्रह्मणोऽधिपतिश्चैव शिवश्चैव स पञ्चमः ॥
अध ऊर्ध्वमनन्तस्तु............................ ।'(स्व० १०।११३०)

इति । एवमत्र अधःपुटे परापररूपतया सप्त भुवनानि, ऊर्ध्वपुटे च दश, मध्यपुटे च पुनरेकमेव—इत्यष्टादश ॥ ३१९ ॥

अन्यत्र पुनरियान्विशेषः—इत्याह—

ऊर्ध्वाधरगकपालकपुटषट्कयुगेन तत्परावृत्त्या ।
मध्यतोऽष्टाभिर्दिक्स्थैर्व्याप्तो ग्रन्थिर्मतङ्गशास्त्रोक्तः ॥ ३२० ॥

षट्कयुगेनेति, रुद्राणां, तेनोर्ध्वकपालेऽवस्थितैः षड्भिरनन्ताद्यै रुद्रैरधश्च गोपत्यादिभिर्मध्ये च विग्रहेशाद्यैरष्टभिः,—इति विंशत्या रुद्राणां मायाग्रन्थिरधिष्ठितः—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'ग्रन्थेरूर्ध्वं कपालानि षट्संख्यातानि सुव्रत ।
तावन्त्यधस्ताद्रम्याणि रचितानीह धातुभिः ॥' (मतं० ८।६७)

"प्रथम भेद से बारह रुद्र कहे गये । इस मायातत्त्व में जो महारुद्र व्यवस्थित हैं उनको तीन भेद के विभाग से मैं कहता हूँ । हे देवि ! गोपति अधोग्रन्थि में व्यवस्थित हैं । ग्रन्थि के ऊपर विश्व, त्रिकल, क्षेम, ब्रह्मणस्पति और पाँचवें शिव हैं । इसके ऊपर अनन्त हैं । (स्व० तं० १०।११३०)

इसी प्रकार यहाँ अधःपुर में पर-अपर रूप से सात भुवन हैं । ऊर्ध्वपुर में दश और मध्यपुर में एक—इस प्रकार अठारह ॥ ३१९ ॥

दूसरी जगह इतना अन्तर है—यह कहते हैं—

ऊपर नीचे वर्तमान दो पुरों में उन (रुद्रों) के परिवर्तन के साथ बारह और मध्य में आठ दिग्वासी (रुद्रों) के द्वारा मतङ्गशास्त्र में कथित (माया) ग्रन्थि व्याप्त है ॥ ३२० ॥

रुद्रों के दो षट्कों (६ + ६ = १२) के द्वारा—इससे ऊर्ध्व कपाल में स्थित अनन्त आदि रुद्रों, नीचे (स्थित) गोपति आदि और मध्य में स्थित विग्रहेश (= अनन्त) आदि आठ—इस प्रकार बीस रुद्रों के द्वारा माया ग्रन्थि अधिष्ठित है । वही वहाँ कहा गया है—

"हे सुव्रते ! ग्रन्थि के ऊपर छ कपाल और उतने ही कपाल नीचे हैं, ये

इत्याद्युपक्रम्य

'अनन्तोऽनन्तवीर्यात्मा सर्वेषां मूर्ध्नि संस्थितः ।
ततोऽधस्ताच्छिवो नाम रुद्रो भुवनकृत् प्रभुः ॥
विश्वेशश्च महातेजा विद्येशानः परस्ततः ।
ततोऽन्यो ब्राह्मणस्वामी क्षेमेशश्चाप्यनन्तरम् ॥
एते षट् भुवनेशानाः............................ ।'

(मतं० ८।८२) इति ।

'एभ्योऽधः संस्थितो ग्रन्थिर्दुर्भेद्यश्चातिविस्तृतः ।
यत्रासौ विग्रहेशानः........................... ॥'

(मतङ्ग।८।८४) इति ।

'यत्र शर्वो भवश्चैव उग्रो भीमश्च वीर्यवान् ।
भस्मान्तको दुन्दुभिश्च श्रीवत्सश्च महाबलः ॥
तस्माद् ग्रन्थेरधश्चक्रं षट्कपालमयं महत् ।'

(मतङ्ग० ८।८६) इति ।

'गोपतेर्भुवनं दिव्यं त्रिकलस्याप्यनन्तरम् ।
तदधस्ताद्दशेशस्य भुवनं चारु निर्मलम् ॥
हरेर्हरस्य देवस्य तथा हरिहरस्य च ।'

(मतङ्ग० ८।८८) इति च ॥ ३२० ॥

अन्यत्र पुनर्विशेषान्तरमप्यस्ति—इत्याह—

धातुओं के द्वारा सुन्दर रूप में रचे गए हैं ।'' (मतं० ८।६७)

यहाँ से प्रारम्भ कर—

''अनन्तवीर्य वाले अनन्त सबके ऊपर स्थित हैं । उनके नीचे भुवन के कर्त्ता शिव नामक रुद्र हैं । उसके बाद महातेजस्वी विश्वेश तत्पश्चात् विद्येशान, उसके बाद ब्राह्मणस्वामी, अनन्तर क्षेमेशान ये छ भुवनेश हैं ।'' (मतं० ८।८२)

''इनके नीचे अत्यन्त विस्तृत और दुर्भेद्य ग्रन्थि स्थित हैं । जहाँ ये विग्रहेशान (रहते हैं) ।'' (मत० ८।८४)

''जहाँ शर्व, भव, उग्र, वीर्यवान् भीम, भस्मान्तक, दुन्दुभि महाबली श्रीवत्स (रहते हैं) । उस ग्रन्थि के नीचे छ कपालों वाला महान् चक्र है ।'' (मतं० ८।८६)

''गोपति का दिव्य भुवन, उसके बाद त्रिकल का, उसके नीचे दशेश देव, हरि, हर तथा हरिहर का सुन्दर निर्मल भुवन है--यह कहते हैं'' ॥ ३२० ॥ (मतं० ८।८८)

अन्यत्र भेदान्तर भी है—यह कहते हैं—

श्रीसारशासने पुनरेषा षट्पुटतया विनिर्दिष्टा ।

यदुक्तं तत्र—

'तस्याधस्तान्महामाया षट्पुटा संव्यवस्थिता ।' इति ॥

एवं मायाया ग्रन्थिरूपतामुपसंहरंस्तत्त्वरूपतां वक्तुमुपक्रमते—

ग्रन्थ्याख्यमिदं तत्त्वं मायाकार्यं ततो माया ॥ ३२१ ॥

मायाकार्यमिति, जननौन्मुख्यात् मायातत्त्वमेव वैषम्यमापन्नम्—इत्यर्थः । तस्य पुनरक्षुब्धमेव रूपम् ॥ ३२१ ॥

अत आह--

मायातत्त्वं विभु किल गहनगरूपं समस्तविलयपदम्।

'विभु' व्यापकम्, अत एव गहनम् । अरूपमिति, सूक्ष्मत्वात् । समस्तविलयपदमिति, सूक्ष्मेण क्रमेणात्र विश्वस्यावस्थानात् ॥

अत एव न चात्र कश्चिद्भौवनविभागः—इत्याह--

तत्र न भुवनविभागो युक्तो ग्रन्थावसौ तस्मात् ॥ ३२२ ॥

सारशास्त्र में यह (ग्रन्थि) छ पुरों के रूप में वर्णित है ॥ ३२१- ॥

जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"उसके नीचे छ पुरों वाली महामाया व्यवस्थित है" ॥ ३२०- ॥

इस प्रकार माया की ग्रन्थिरूपता का उपसंहार करते हुये उसकी तत्त्वरूपता का वर्णन प्रारम्भ करते हैं—

यह ग्रन्थिनामक तत्त्व माया का कार्य है उसके बाद माया है ॥-३२१॥

माया का कार्य—सृष्टि की उन्मुखता के कारण माया तत्त्व ही वैषम्य को प्राप्त हो गया । उस (= मायातत्त्व) का रूप तो अक्षुब्ध है ॥ ३२१ ॥

इसलिए कहते हैं—

मायातत्त्व व्यापक, गहन, नीरूप तथा समस्त विलय का स्थान है ॥ ३२२- ॥

विभु = व्यापक, क्योंकि सूक्ष्म क्रम से यहाँ विश्व स्थित रहता है ॥ ३२२ ॥

इसलिए यहाँ कोई भुवनात्मक विभाग नहीं है—यह कहते हैं—

इसी कारण इस ग्रन्थि में यहाँ कोई भुवनात्मक विभाग नहीं है ॥ -३२२ ॥

ग्रन्थाविति, तस्यैव स्थूले रूपे इत्यर्थः ॥ ३२२ ॥

नन्वेवमपि अस्या जाड्यात् कथमेवं कार्याविर्भावने सामर्थ्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

मायातत्त्वाधिपतिः सोऽनन्तः समुदितान्विचार्याणून् ।
युगपत्क्षोभयति निशां सा सूते संपुटैरनन्तैः स्वैः ॥ ३२३ ॥

क्षोभयतीति, कार्यप्रसवयोग्यां करोति—इत्यर्थः । संपुटैरिति, भगाकारैः । एषां चानन्त्यं शिवतनुग्रन्थेनैव उक्तम् ॥ ३२३ ॥

अत एव कार्यस्यापि आनन्त्यमित्याह—

तेन कलादिधरान्तं यदुक्तमावरणजालमखिलं तत् ।
निःसंख्यं च विचित्रं मायैवैका त्वभिन्नेयम् ॥ ३२४ ॥

ननु कारणस्यैक्येऽपि कार्यमनन्तमित्यत्र किं प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च धराव्यक्तात्मकं द्वयम् ।
असंख्यातं निशाशक्तिसंज्ञं त्वेकस्वरूपकम् ॥ ३२५ ॥

ग्रन्थि में = उसी के स्थूल रूप में ॥ ३२२ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी इसके जड़ होने के कारण कार्य को प्रकट करने में ऐसा सामर्थ्य कैसे है?—यहाँ शङ्का कर कहते हैं—

मायातत्त्व के अधिपति अनन्त, विचार करके समस्त अणुओं तथा निशा (= माया) को एक साथ क्षुब्ध करते हैं और वह अपने अनन्त संपुटों से प्रसव करती है ॥ ३२३ ॥

क्षुब्ध करते हैं = कार्यप्रसव के योग्य करते हैं । संपुट के द्वारा = भगाकार संपुट के द्वारा । इनकी अनन्तता शिवतनु ग्रन्थ के ही द्वारा कही गई है ॥३२३ ॥

इसीलिए कार्य की भी अनन्तता है—यह कहते हैं—

इसलिए कला से लेकर पृथ्वी (तत्त्व) तक जो आवरणजाल कहा गया है वह समस्त (जाल) असंख्य और विचित्र है । केवल यह माया एक और अभिन्न है ॥ ३२४ ॥

प्रश्न—कारण के एक होने पर भी कार्य अनन्त हैं—उसमे क्या प्रमाण है—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीपूर्व शास्त्र (= मालिनीविजयतन्त्र) में धरा और अव्यक्त रूप दो तत्त्व असंख्य कहा गया है । निशाशक्ति नामक (तत्त्व) एक रूप वाला है ॥ ३२५ ॥

तदुक्तं तत्र—

'पृथग्द्वयमसंख्यातमेकैकं च पृथग्द्वयम् ।'

(मा० वि० २।५०) इति ॥ ३२५ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवावतारयति—

पाशाः पुरोक्ताः प्रणवाः पञ्च मानाष्टकं मुनेः ।
कुलं योनिश्च वागीशी यस्यां जातो न जायते ॥ ३२६ ॥

पुरेति पुंस्तत्त्वप्रकरणे । मुनेः कुलमिति गुरुशिष्यादिरूपतया प्रागेव उक्तम् । योनिरिति,

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे'

इति स्थित्या विश्वकारणम् । जात इति मन्त्रादिबलेन । न जायते इति, परशिवे योजितत्वात् ॥ ३२६ ॥

किं बहुना यत्किञ्चित्कलादावधराध्वन्युक्तं तत्सर्वमत्रैव स्थितम्—इत्याह—

दीक्षाकालेऽधराध्वस्थशुद्धौ यच्चाधराध्वगम् ।
अनन्तस्य समीपे तु तत्सर्वं परिनिष्ठितम् ॥ ३२७ ॥

वही वहाँ कहा गया है—

"दोनों अलग-अलग असंख्य हैं और एक-एक करके दो अलग-अलग है ।" (मा०वि०तं० २।५०) ॥ ३२५ ॥

प्रसङ्गवश इसका कथन कर प्रकृत की अवतारणा करते हैं—

पाश, पाँच प्रणव, आठ प्रमाण, मुनि का कुल और जिसमें उत्पन्न हुआ भी (जीव) उत्पन्न नहीं होता (वह) वागीश्वरी योनि (= शुद्ध विद्या, ये सब) पहले कह दिये गए ॥ ३२६ ॥

पहले—पुंस्तत्त्व प्रकरण में । मुनि का कुल—गुरु शिष्य आदि के रूप में पहले ही कहा गया । योनि—

"वाणी ने ही समस्त भुवनों को उत्पन्न किया"

इस स्थिति से (वाणी ही) विश्व का कारण है । उत्पन्न हुआ—मन्त्र आदि के बल से । नहीं उत्पन्न होता क्योंकि परशिव में जोड़ दिया जाता है ॥ ३२६ ॥

यहाँ तक कि जो कुछ कला आदि अशुद्ध अध्वा में कहा गया है वह सब यहीं स्थित है—यह कहते हैं—

दीक्षा के समय अशुद्ध अध्वा में स्थित (तत्त्वों) की शुद्धि होने पर जो कुछ अशुद्ध अध्वा में है वह सब अनन्त के समीप में स्थित हो जाता

कारणे हि कार्यस्य सूक्ष्मेण रूपेणावस्थानमुचितम्—इति भावः ॥ ३२७ ॥

ननु भवतु नामैतत्, प्रणवादि पुनः किमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

साध्यो दाता दमनो ध्यानो भस्मेति बिन्दवः पञ्च ।
पञ्चार्थगुह्यरुद्राङ्कुशहृदयलक्षणं च सव्यूहम् ॥ ३२८ ॥
आकर्षादर्शौ चेत्यष्टकमेतत्प्रमाणानाम् ।

'बिन्दवः' प्रणवाः ॥ ३२८ ॥

एषां च सर्वेषामेव यथासंभवं स्वरूपमभिधातुमाह—

अलुप्तविभवाः सर्वे मायातत्त्वाधिकारिणः ॥ ३२९ ॥
मायामयशरीरास्ते भोगं स्वं परिभुञ्जते ।

स्वमिति, स्वाधिकारोचितम्—इत्यर्थः ॥ ३२९ ॥

मायामयशरीरत्वमेव व्याचष्टे—

प्रलयान्ते ह्यनन्तेन संहृतास्ते त्वहर्मुखे ॥ ३३० ॥
अन्यानन्तप्रसादेन विबुधा अपि तं परम् ।

है ॥ ३२७ ॥

क्योंकि कार्य का कारण में सूक्ष्म रूप से अवस्थान उचित ही है—यह भाव है ॥ ३२७ ॥

प्रश्न—ऐसा है तो हो, प्रणव आदि क्या कहलाता है ?—यह शङ्का कर कहते है?—

साध्य, दाता, दमन, ध्यान, भस्म ये पाँच बिन्दु (= प्रणव) हैं । पञ्चार्थ, गुह्य, रुद्राङ्कुश, हृदय, लक्षण, व्यूह, आकर्ष और आदर्श ये आठ प्रमाण हैं ॥

बिन्दु = प्रणव ॥ ३२८ ॥

इन सबका यथासम्भव स्वरूप बतलाने के लिए कहते हैं—

जिनका वैभव लुप्त नहीं है तथा (जो) मायातत्त्व के अधिकारी हैं वे सब मायामय शरीर वाले होकर अपने भोग को भोगते हैं ॥ -३२९-३३०- ॥

अपना = अपने अधिकार के योग्य ॥ ३२९ ॥

मायामयशरीरत्व की व्याख्या करते हैं—

प्रलय के अन्त में अनन्त के द्वारा संहार किये जाने पर वे (ब्रह्मा के) दिन के प्रारम्भ में दूसरे अनन्त की कृपा से उस परमेश्वर के विषय में भी

सुप्तबुद्धं मन्यमानाः स्वतन्त्रम्मन्यताजडाः ॥ ३३१ ॥
स्वात्मानमेव जानन्ति हेतुं मायान्तरालगाः ।

'अहर्मुखे' पुनःसृष्टौ । अन्यानन्तेति, अन्यशब्दो मायाधिकार्यपेक्षया । तं परमनन्तं हेतुं न जानन्ति, अपि तु स्वात्मानमेव—इति संबन्धः । अत्र च एवकारसामर्थ्यान्निषेधावगमः, तदपरिज्ञाने च हेतुद्वयं सुप्तबुद्धं मन्यमानाः स्वतन्त्रंमन्यताजडाश्चेति । स्वात्मनि च तथापरिज्ञाने हेतुः 'मायान्तरालगा' इति । इदमुक्तं भवति—यद्यपि एषां

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः ।'

इत्याद्युक्त्या अनन्तादीनामेव सृष्टिसंहाराः, तथाप्येते मायामोहितत्वात् ऐश्वर्यमदेनैतन्न जानते, प्रत्युत वयमेव जगतां सृष्टिसंहारकारिणो न पुनरस्मदप्यधिकः कश्चिदस्ति—इति; यत एते स्वात्मनि पारतन्त्र्येऽपि स्वातन्त्र्याभिनिवेशात् सुप्तप्रबुद्धन्यायेन सृष्टिं प्रलयं च स्वात्माधीनमेव मन्यन्ते इति । तदुक्तम्—

'ऐश्वर्यमदमाविश्य मन्यमाना महोदयाः ।
मत्तः श्रेष्ठतरं नान्यत्कारणं जगतां परम् ॥

विबुध (= अज्ञानी) होते हुये अपने को ही सुप्त प्रबुद्ध तथा स्वतन्त्र मानने के कारण जड़ वे माया के अन्तराल में वर्त्तमान अपने को ही (सृष्टि और संहार का) हेतु मानते हैं ॥ -३३०-३३२- ॥

अहर्मुख में = पुनः सृष्टि होने पर । अन्य अनन्त—(यहाँ) अन्य शब्द का प्रयोग माया के अधिकारी की अपेक्षा से किया गया है । उस परम अनन्त हेतु को नहीं जानते बल्कि अपने को ही (हेतु मानते हैं)—यह सम्बन्ध है । यहाँ पर 'एव' के सामर्थ्य से निषेध का ज्ञान होता है । उस (परम तत्त्व) के अपरिज्ञान में दो हेतु हैं—(अपने को) सुप्तप्रबुद्ध मानने वाले तथा स्वतन्त्र मानने के कारण जड़ । अपने को वैसा जानने में हेतु है—माया के अन्तराल में रहना । यह कहा जाता है—यद्यपि इनका

''शुद्ध अध्वा में शिव कर्त्ता कहे गए हैं और अशुद्ध अध्वा में भगवान् अनन्त ।''

इत्यादि उक्ति के द्वारा अनन्त आदि ही सृष्टिसंहार करते हैं तथापि माया से मोहित होने से ऐश्वर्यमद के कारण वे यह नहीं जानते बल्कि 'हम ही संसार के सृष्टिसंहारकारी हैं हमसे बढ़कर कोई नहीं है—(ऐसा समझते हैं) । क्योंकि ये स्वयं परतन्त्र होते हुये भी स्वातन्त्र्य के भ्रम के कारण सुप्तप्रबुद्धन्याय से सृष्टि और प्रलय को अपने अधीन मानते हैं । वही कहा गया है—

''ऐश्वर्यमद से आविष्ट होकर (अपने को) महान् उदय वाला मानते हुए (वे समझते हैं कि) मुझसे बढ़कर संसार का दूसरा कारण नहीं है, मैं ही इस समस्त

अहमेव समस्तस्य जगतोऽस्य जगत्पतिः ।'

(मतङ्ग० ८।७३) इति ।

यतोऽधोदृष्टयः सर्वे स्वसृष्टिमदमोहिताः ।
तस्मिन्नभिरताः सन्तः क्रीडाभोगेष्वनिन्दिताः ॥
स्वकार्यकरणैः सम्यक्संहारे स्वापमागताः ।
ततः क्षोभिकयाविष्टाः संप्रबुद्धाः परस्परम् ॥
तद्विधामेव पश्यन्ति स्वां सृष्टिं रचनोज्ज्वलाम् ।
सुप्तोत्थिता वयं किं नु स्वनिद्रावशवर्तिनः ॥
क्रीडामो विगतक्लेशाः स्वार्जितेषु बुभुक्षवः ।
सूक्ष्मपाशावृताः सर्वे न च स्थूलैस्तिरस्कृताः ॥'

(मतङ्ग० ८।८०) इति ॥ ३३२ ॥

एवं मायाया ग्रन्थितत्त्वरूपतया द्वैविध्यं निरूप्य शक्तिरूपतामपि आख्यातुमाह—

अतः परं स्थिता माया देवी जन्तुविमोहिनी ॥ ३३२ ॥
देवदेवस्य सा शक्तिरतिदुर्घटकारिता ।
निर्वैरपरिपन्थिन्या तया श्रमितबुद्धयः ॥ ३३३ ॥
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ।
गुरुदेवाग्निशास्त्रेषु ये न भक्ता नराधमाः ॥ ३३४ ॥

संसार का स्वामी हूँ ।'' (मतङ्ग ८।७३)

''जिससे सभी निम्न दृष्टिवाले अपने सृष्टि के मद से मूढ़ होकर उसमें अभिरत होते हुए, क्रीड़ाभोग में उच्च धारणा रखते हुए अपने कार्य एवं इन्द्रियों के साथ पूर्ण प्रलयकाल में सुषुप्ति को प्राप्त हो जाते हैं । इसके बाद क्षोभिका के द्वारा आविष्ट एवं प्रबुद्ध होकर परस्पर उसी प्रकार की अपनी रचनोज्ज्वला सृष्टि को देखते हैं । (वे सोचते हैं कि) क्या हम लोग अपनी निद्रा के वश में हो कर सो कर उठे हैं । (हम लोग) क्लेशरहित होकर क्रीड़ा करेंगे, अपने द्वारा अर्जित का भोग करना चाहेंगे । (ऐसे वे) सब सूक्ष्म पाश से आवृत होते हैं और स्थूल (पाशों) से रहित नहीं होते । (मत०तं० ८।८०) ॥ ३३२ ॥

इस प्रकार ग्रन्थि एवं तत्त्व के रूप में माया के दो प्रकारों का निरूपण कर (उसकी) शक्तिरूपता को भी कहते हैं—

इसके पश्चात् जीवों को मोह में डालने वाली देवी माया स्थित है । वह देवाधिदेव की अत्यन्त दुर्घटकारिणी शक्ति है । समभाव की विरोधिनी उस (माया) के द्वारा भ्रान्तमति वाले (जो) वादी लोग 'यह तत्त्व है और यह नहीं' ऐसा विवाद करते हैं, गुरु, देवता, अग्नि और शास्त्र के

सत्पथं तान्परित्याज्य सोत्पथं नयति ध्रुवम् ।
असद्युक्तिविचारज्ञाञ्छुष्कतर्कावलम्बिनः ॥ ३३५ ॥
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।

देवीति, देवाभिन्नत्वात् । अतिदुर्घटकारितेति, स्वातन्त्र्यरूपत्वात् 'विवदन्ति, इति विमतिं कुर्वन्तीत्यर्थः । शुष्केति, वस्तुशून्यत्वात् ॥ ३३५ ॥

नन्वेवंविधाया अस्याः कथं समुच्छेदः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

शिवदीक्षासिना च्छिन्ना शिवज्ञानासिना तथा ॥ ३३६ ॥
न प्ररोहेत्पुनर्नान्यो हेतुस्तच्छेदनं प्रति ।

दीक्षेति, क्रिया । नान्यो हेतुरिति, शास्त्रान्तरोदितः ॥ ३३६ ॥

महामायोर्ध्वतः शुद्धा महाविद्याथ मातृका ॥ ३३७ ॥
वागीश्वरी च तत्रस्थं वामादिनवसत्पुरम् ।

शुद्धत्वादेव च अस्या महत्त्वमित्युक्तं 'महाविद्या' इति ॥ ३३७ ॥

विषय में जो नराधम भक्ति नही रखते वह उनको सन्मार्ग से हटाकर निश्चित रूप से उन्मार्ग (असन्मार्ग) पर ले जाती है । (जो) असद् युक्ति, (असद्) विचार और (असद्) ज्ञान वाले तथा शुष्क तर्क का अवलम्बन करते हैं उनको अमोक्ष में मोक्ष की लिप्सा से माया भ्रमित करती रहती है ॥ -३३२-३३६- ॥

देवी—देव से अभिन्न होने के कारण । अतिदुर्घटकारिता—क्योंकि यह स्वातन्त्र्य रूप है । विवाद करते हैं—विपरीत विचार करते हैं । शुष्क—वस्तुशून्य होने के कारण ॥ ३३५ ॥

प्रश्न—इस प्रकार की इस (माया) का उच्छेद कैसे होगा—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिवदीक्षा रूपी खड्ग तथा शिवज्ञान रूपी तलवार से कटी हुई यह (= माया) पुनः अंकुरित नहीं होती । उसको काटने के लिए दूसरा हेतु नहीं है ॥ -३३६-३३७- ॥

दीक्षा = क्रिया । दूसरा हेतु नहीं है—अन्यशास्त्रों में उक्त ॥ ३३६ ॥

महामाया के ऊपर शुद्ध महाविद्या है इसके बाद मातृका और वागीश्वरी है । वहाँ पर वामा आदि नव (देवताओं) का सुन्दर पुर है ॥ -३३७-३३८- ॥

शुद्ध होने के कारण ही इसका महत्त्व है इसलिए कहा गया—महाविद्या ॥ ३३७ ॥

वामाद्या एव पठति—

वामा ज्येष्ठा रौद्री काली कलविकरणीबलविकारिके तथा ॥ ३३८ ॥
मथनी दमनी मनोन्मनी च त्रिदृशः पीताः समस्तास्ताः ।
सप्तकोट्यो मुख्यमन्त्रा विद्यातत्त्वेऽत्र संस्थिताः ॥ ३३९ ॥
एकैकार्बुदलक्षांशाः पद्माकारपुरा इह ।
विद्याराज्ञ्यस्त्रिगुण्याद्याः सप्त सप्तार्बुदेश्वराः ॥ ३४० ॥

'अंशा' इति परिवाराः 'सप्तार्बुदेश्वरा' इति, अर्बुदशब्देनात्र कोटिर्लक्ष्यते, तेन सप्तकोटिसंख्याकानां मन्त्राणामीश्वर्य—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'त्रिगुणी ब्रह्मवेताली स्थाणुमत्यम्बिका परा ।
रूपिणी मर्दिनी ज्वाला सप्तसंख्यास्तदीश्वराः ॥
विद्याराज्ञ्यस्तथा ख्याताः........................ ।'
(स्व० १०।११४९) इति ॥ ३४० ॥

विद्यातत्त्वोर्ध्वमैशं तु तत्त्वं तत्र क्रमोर्ध्वगम् ।
शिखण्ड्याद्यमनन्तान्तं पुराष्टकयुतं पुरम् ॥ ३४१ ॥
शिखण्डी श्रीगलो मूर्तिरेकनेत्रैकरुद्रकौ ।
शिवोत्तमः सूक्ष्मरुद्रोऽनन्तो विद्येश्वराष्टकम् ॥ ३४२ ॥
क्रमादूर्ध्वोर्ध्वसंस्थानं सप्तानां नायको विभुः ।

वामा आदि को कहते हैं—

वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरिणी, बलविकारिका, मथनी, दमनी एवं मनोन्मनी ये सभी देवतायें पीत रङ्ग की हैं । इस विद्यातत्त्व में सात करोड़ मुख्य मन्त्र स्थित हैं । यहाँ एक-एक करोड़ लाख अंश (= परिवार) वाले कमल के आकार वाले पुर हैं । त्रिगुणी आदि सात विद्यारानियाँ तथा सात अर्बुदेश्वर हैं ॥ -३३८-३४० ॥

अंश = परिवार । सात अर्बुदेश्वर—यहाँ अर्बुद शब्द से करोड़ समझना चाहिए । इस प्रकार सात करोड़ मन्त्रों की ईश्वरी लोग हैं । वही कहा गया है—

"त्रिगुणी, ब्रह्मवैताली, स्थाणुमती, अम्बिका, रूपिणी, मर्दिनी और ज्वाला ये सात संख्या वाली विद्यारानियाँ और उनके ईश्वर कहे गए हैं ।" (स्व० १०।११४९) ॥ ३४० ॥

विद्यातत्त्व के ऊपर ईश्वर तत्त्व है । वहाँ क्रमशः ऊपर-ऊपर वर्त्तमान शिखण्डी से लेकर अनन्त तक आठ पुरों से युक्त पुर है । शिखण्डी, श्रीगल (= श्रीकण्ठ) त्रिमूर्त्ति, एकनेत्र, एकरुद्र, शिवोत्तम, सूक्ष्मरुद्र, अनन्त (ये) आठ विद्येश्वर क्रमशः ऊपर-ऊपर संस्थान वाले हैं । इन सातों

अनन्त एव ध्येयश्च पूज्यश्चाप्युत्तरोत्तरः ॥ ३४३ ॥

'ऐशं तत्त्वम्' ईश्वरतत्त्वम्, तत्र पुरमप्यैशमित्यर्थाद्योज्यम्, यत्र भगवानीश्वरः साक्षादस्ति । तदुक्तम्—

'बाह्ये तस्यैश्वरं तत्त्वं भुवनान्यत्र मे शृणु।' (स्व० १०।११४९)

इत्याद्युपक्रम्य

'तत्रस्थ ईश्वरो देवो वरदः सर्वतोमुखः ।'

(स्व० १०।११५२) इति ।

पुराष्टकस्य च वृतिच्छन्नत्वेऽपि विशेषणं 'शिखण्ड्याद्यमनन्तान्तम्' इति, तथा 'क्रमोर्ध्वगम्' इति । तत्त्वं चैषां यथायथं गुणाधिक्यात् । शिखण्डिनो हि सृष्ट्यादिकारित्वे श्रीकण्ठोऽधिकस्तस्माच्च त्रिमूर्त्यादिरपीति । यदाहुः—

'ततश्चानन्तात्सूक्ष्मस्य कलया न्यूनं कर्तृत्वं ततः शिवोत्तमस्य' इत्यादि सर्वेषामत्र सिद्धमिति दोषतः पुनरेतन्न व्याख्येयम् । एषां पूर्वादिदिगष्टकक्रमेण संस्थानस्य श्रूयमाणत्वात् । यदुक्तम्—

'विद्येश्वरानतो वक्ष्ये पूर्वादीशान्तगान्क्रमात् ।'

(स्व० १०।११५९) इनि ।

के नायक विभु अनन्त ही ध्येय और उत्तरोत्तर पूज्य हैं ॥ ३४१-३४३ ॥

ऐशतत्त्व = ईश्वर तत्त्व । वहाँ ईश्वर का पुर भी है—यह अर्थात् समझ लेना चाहिए जहाँ भगवान् ईश्वर ही साक्षात् वर्त्तमान हैं । वही कहा गया है—

"उसके बाहर ईश्वर तत्त्व है अब मुझसे भुवनों का श्रवण करो ।" (स्व० १०।११४९)

यहाँ से लेकर

"वहाँ सर्वतोमुख, वर देने वाले देव ईश्वर रहते हैं ।" (स्व०तं० १०।११५२)

आठ पुरों की वृति से ढँके होने पर भी 'शिखण्डी से लेकर अनन्त तक' यह तथा 'क्रमशः ऊर्ध्वगामी' विशेषण है । उनका ऐसा होना क्रमशः गुणों की अधिकता के कारण है । सृष्टि आदि की रचना में शिखण्डी से अधिक श्रीकण्ठ है और उससे भी (अधिक) त्रिमूर्त्ति आदि । जैसा कि कहते हैं—

"इस कारण अनन्त की अपेक्षा सूक्ष्म रुद्र का कर्तृत्व एक कला कम है । उनकी अपेक्षा शिवोत्तम का ।"

इत्यादि सबके (मत में) स्वीकृत है अतः (पुनरुक्ति) दोष के कारण पुनः इसकी व्याख्या नहीं करनी चाहिए । क्योंकि इनकी स्थिति पूर्व दिशा से लेकर क्रमशः आठ दिशाओं में सुनी जाती है । जैसा कि कहा गया है—

एवं क्रमादूर्ध्वोर्ध्वसंस्थानमित्यपि व्याख्येयम् ॥ ३४३ ॥

एषां च विद्येश्वरत्वाभिधाने किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

मुख्यमन्त्रेश्वराणां यत् सार्धं कोटित्रयं स्थितम् ।
तन्नायका इमे तेन विद्येशाश्चक्रवर्तिनः ॥ ३४४ ॥

सार्धं कोटित्रयमित्यन्यस्य सार्धस्य कोटित्रयस्य तत्कालमेव अपवृक्तत्वात् । तदुक्तम्—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यलम् ।
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः ॥
अनुगृह्याणुसङ्घातं याताः पदमनामयम् ।
(मा० वि० १।४०) इति ॥ ३४४ ॥

नन्वनन्तस्यैव प्राधान्ये किं प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

उक्तं च गुरुभिरित्थं शिवतन्वाद्येषु शासनेष्वेतत् ।

आदिशब्दाद्रुरुवार्तिकादि ॥

"अब पूर्व से लेकर ईशान्त तक वर्त्तमान विद्येश्वरों का वर्णन करुँगा ।" (स्व० १०।११७९)

इस प्रकार क्रमशः ऊपर-ऊपर संस्थान है—ऐसी भी व्याख्या करनी चाहिए ॥ ३४३ ॥

इनके विद्येश्वर कहे जाने में क्या कारण है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

जो साढ़े तीन करोड़ मुख्यमन्त्रेश्वर स्थित हैं, ये उनके नायक हैं इसलिए विद्येश चक्रवर्त्ती कहे जाते हैं ॥ ३४४ ॥

'साढ़े तीन करोड़' दूसरे साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों के अपवृक्त (= पूर्ण) होने के कारण कहा गया—साढ़े तीन करोड़ ।

कहा भी है—ब्रह्मा से लेकर स्तम्बपर्यन्त इस उत्पन्न जगत् में साढ़े तीन करोड़ मन्त्र शिव के द्वारा नियोजित होने के बाद अणुसमूह के ऊपर कृपा कर परम पद को प्राप्त होते हैं ।" (मा०वि० १।४०) ॥ ३४४ ॥

प्रश्न—अनन्त की ही प्रधानता में क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

"गुरुओं के द्वारा शिवतनु आदि शास्त्रों में यह कहा गया है" ॥ ३४५- ॥

आदिशब्द से रुरुवार्त्तिक आदि (समझना चाहिए) ॥

तदेवाह—

भगबिलशतकलितगुहामूर्धासनगोऽष्टशक्तियुग्देवः ॥ ३४५ ॥
गहनाद्यं निरयान्तं सृजति च रुद्रांश्च विनियुङ्क्ते ।
उद्धरति मनोन्मन्या पुंसस्तेष्वेव भवति मध्यस्थः ॥ ३४६ ॥
ते तेनोदस्तचितः परतत्त्वालोचनेऽभिनिविशन्ते ।
स पुनरधः पथवर्तिष्वधिकृत एवाणुषु शिवेन ॥ ३४७ ॥
अवसितपतिविनियोगः सार्धमनेकात्ममन्त्रकोटीभिः ।
निर्वात्यनन्तनाथस्तद्धामाविशति सूक्ष्मरुद्रस्तु ॥ ३४८ ॥
अनुगृह्याणुमपूर्वं स्थापयति पतिः शिखण्डिनः स्थाने ।
इत्यष्टौ परिपाट्या यावद्धामानि याति गुरुरेकः ॥ ३४९ ॥
तावदसंख्यातानां जन्तूनां निर्वृतिं कुरुते ।
तेऽष्टावपि शक्त्यष्टकयोगामलजलरुहासनासीनाः ॥ ३५० ॥
आलोकयन्ति देवं हृदयस्थं कारणं परमम् ।
तं भगवन्तमनन्तं ध्यायन्तः स्वहृदि कारणं शान्तम् ॥ ३५१ ॥
सप्तानुध्यायन्त्यपि मन्त्राणां कोटयः शुद्धाः ।

गुहामूर्धेति, मायोपरिवर्तिनी शुद्धविद्या । अष्टौ शक्तयो वामाद्याः ।

वही कहते है—

सैकड़ों भगबिलों (= ग्रन्थियों) से युक्त गुहा (= माया के) मूर्धा के आसन पर वर्त्तमान, आठ शक्तियों से युक्त देव (= अनन्त) गहन से लेकर नरक तक की सृष्टि करते हैं और (सूक्ष्म आदि) रुद्रों को लगाते हैं। मनोन्मना के द्वारा पुरुषों का उद्धार करते हैं । उनके (= रुद्रों के) विषय में वे तटस्थ रहते हैं । उनके द्वारा उत्तेजित बुद्धि वाले वे परतत्त्व के आलोचन में लग जाते हैं । और वे (= अनन्तनाथ) अधोपथवर्त्ती अणुओं के अधिकारी बना दिये जाते हैं । स्वामियों का विनियोग करने के बाद अनन्तनाथ अनेक करोड़ मन्त्रों के साथ निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं और उस स्थान में सूक्ष्म रुद्र प्रवेश कर जाते हैं । वे स्वामी अनुग्रह कर शिखण्डी के स्थान पर अपूर्व अणु को स्थापित करते हैं । इस प्रकार पारम्परिक रूप से एक ही गुरु जब तक आठो स्थानों को प्राप्त होते हैं तब तक असंख्य जन्तुओं को मोक्ष प्रदान करते हैं । वे आठों (पति) आठ शक्ति से युक्त निर्मल कमल पर आसीन होकर हृदयस्थ परम कारण शिव का दर्शन करते रहते हैं । वे आठो करोड़ शुद्ध मन्त्र अपने हृदय में कारणस्वरूप शान्त भगवान् अनन्त का ध्यान करते रहते हैं ॥ -३४५-३५२- ॥

देवाऽनन्तः, रुद्रान्सूक्ष्मादीन्, विनियुङ्क्ते इति, सृष्ट्यादौ । मनोन्मन्येति, नवम्या । आसां हि नवानामपि शक्तीनां भिन्न एव नियोगः,—इत्यभिप्रायः । तदुक्तम्—

'नयते परमं स्थानमुन्मन्या परमेश्वरः ।'

इति । 'मध्यस्थः' इति तटस्थः, अत एव सर्वेषामेषां यथोचितमेव सृष्ट्यादि विदध्यात् । उदस्तेति उत्तेजिताः । एवकारो भिन्नक्रमः, तेन अधःपथवर्तिष्वेवेति । यदुक्तम्—

'......................प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः ।' इति ।

अनेकात्मेति मन्त्रकोटीनां विशेषणम् । तदुक्तं तत्रैव—

'तस्मिन्नुदितमुदारं शाङ्करमारोहति प्रभौ धाम ।
निर्वान्ति मन्त्रकोट्योऽनेकाः परिहार्य कार्यत्वम् ॥' इति ।

निर्वातीति, कृतकृत्यत्वाद् अधिकारेच्छाया अप्युपरमात् निर्वाणमेति—इत्यर्थः । न हि भगवाननिच्छोर्बलादधिकारं विधत्ते—इत्याशयः। 'तद्धाम' इत्यनन्तस्थानम् । सूक्ष्मरुद्रो द्वितीयः । 'अणुम्' विज्ञानाकलम् । शिखण्डिन इति, अष्टमस्य । स हि तदानीं श्रैकण्ठं पदमधितिष्ठतीति भावः । तदुक्तं तत्रैव—

'तत्रोपरतेऽनन्ते परिपाट्या नायकास्तदधिकारम् ।

गुहामूर्धा = माया के ऊपर रहने वाली शुद्धविद्या । आठ शक्तियाँ—वामा आदि । देव = अनन्त । रुद्रों को—सूक्ष्म आदि को । लगाते हैं—सृष्टि आदि में । मनोन्मना (= उन्मना) के द्वारा = नवीं (शक्ति देवी) के द्वारा । इन नवों शक्तियों का भिन्न-भिन्न विनियोग है—यह अभिप्राय है । वही कहा गया है—

"परमेश्वर उन्मना (शक्ति) के द्वारा परम स्थान को ले जाते हैं ।"

मध्यस्थ = तटस्थ । इसलिए इन सबकी यथोचित सृष्टि आदि करते हैं । उदस्त = उत्तेजित । एवकार का क्रम भिन्न है अतः अधःपथवर्त्ती में ही—ऐसा (समझना चाहिए) ।

"अशुद्ध अध्वा में स्वामी अनन्त कहे गए हैं ।"

अनेकात्म—यह मन्त्र कोटि का विशेषण है । वहीं वहाँ कहा गया है—

"जब वे प्रभु उदित उदार शाङ्करधाम पर आरुढ़ हो जाते हैं तो अनेक करोड़ मन्त्र कार्यता को छोड़कर निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं ।"

निर्वात हो जाते हैं = कृतकृत्य होने तथा अधिकार की इच्छा समाप्त हो जाने के कारण निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं । भगवान् इच्छा-रहित को बलात् अधिकार नहीं देते—यह तात्पर्य है । उस धाम को = अनन्त स्थान को । सूक्ष्म रुद्र—द्वितीय । अणु को = विज्ञानाकल को । शिखण्डी के—आठवें रुद्र के । उस समय वे श्रीकण्ठ के पद पर अधिष्ठित होते हैं । वही वहाँ कहा गया है—

कुर्वन्ति सञ्चरन्तः पदात्पदं शासनात्पत्युः ॥
उपरमति पतिरनन्तस्तत्पदमधितिष्ठति प्रभुः सूक्ष्मः ।
सूक्ष्मपदमपि शिवोत्तम एष विधिः सर्वमन्त्राणाम् ॥
वामाद्यान्नव विभवान्भगवान्निजतेजसः समुद्द्योत्य ।
अनुगृह्याणुमपूर्वं स्थापयति पतिः शिखण्डिनः स्थाने ॥' इति ।

श्रीमतङ्गेऽपि—

'निर्वाति कृतकृत्यत्वादनन्तोऽनन्तवीर्यवान् ।
ततस्तस्मिन्समारूढे पञ्चमन्त्रतनुः शिवः ॥
ददात्यनुज्ञां सूक्ष्मस्य विद्येशस्य महात्मनः ।
स च प्राप्तवरः श्रीमान्भर्तुराज्ञानुवर्तकः ॥
तत्तन्त्रः पदमानन्तमधिष्ठाय महायशाः ।
निर्वर्तयत्यधश्चक्रं यत्तन्मायात्मकं महत् ॥
एवं शिवोत्तमस्यापि सूक्ष्मस्योपरमे शिवः ।
प्रददातीशसङ्घस्य कारणत्वमनिन्दितम् ॥
पदात्पदं विचरतो ह्येकैकस्य महात्मनः ।
यावत्सा परमा काष्ठा तावच्चक्रस्य कारणम् ॥
अव्युच्छेदाय रुद्राणुं कृत्वा शक्तिबलान्वितम् ।

उस (स्थिति) में अनन्त के निर्वात होने पर पति (अनन्त) के आदेश के कारण नायक लोग एक पद से दूसरे पद पर सञ्चरण करते हुये उस (अनन्त) के अधिकार का प्रयोग करते हैं । अनन्त स्वामी उपरत होते हैं तो उनके पद पर सूक्ष्म (रुद्र) अधिष्ठित होते है । सूक्ष्म के भी पद को शिवोत्तम (संभालते हैं । यह सभी मन्त्रों की विधि है) भगवान् वाम आदि नव विभवों को अपने तेज से प्रकाशित कर अनुग्रह कर शिखण्डी के स्थान में अपूर्व अणु को स्थापित करते हैं ।''

मतङ्गतन्त्र में भी—

''अनन्त वीर्यवान् अनन्त भगवान् कृतकृत्य होने के कारण निर्वाण को प्राप्त हो जाते हैं । उसके बाद उनके समारुढ़ (= निर्वात) होने के बाद पाँच मन्त्रों की शरीर वाले शिव महात्मा विद्येश्वर सूक्ष्म को आज्ञा देते हैं । वर को प्राप्त करने वाले वे श्रीमान् स्वामी की आज्ञा का अनुवर्त्तन करते हुए उनके अधीन रहकर महायशस्वी अनन्त के पद पर अधिष्ठित होकर, जो मायात्मक महत् चक्र है, उसे नियन्त्रित करते हैं । इसी प्रकार सूक्ष्म शिवोत्तम रुद्र के भी शान्त हो जाने पर शिव अनिन्दित कारणता को एक पद से दूसरे पद को विचरण करने वाले महात्मा ईश्वरसङ्घ को दे देते हैं । जब तक वह परम काष्ठा (उपलब्ध नहीं होती) तब तक अधश्चक्र की कारणता रहती है । नैरन्तर्य के लिए (शिव) रुद्र अणु को शक्ति और

नियुनक्ति पदे तस्मिन्यवीयसि शिखण्डिनम् ॥'
(मतङ्ग० ५।६२) इति ।

यत्पुनः

'अनन्तोपरमे तेषां महतां चक्रवर्तिनाम् ।
विहितं सर्वकर्तृत्वकारणं परमं पदम् ॥' (रौरवे)

इत्याद्युक्तं तन्महाप्रलयविषयत्वेन योज्यम् । तत्र हि युगपदेव सर्वेषामुपरमः—इत्युक्तं प्राक् । श्रीमतङ्गेऽपि—

'शुद्धाध्वपतयो देवा महान्तश्चक्रवर्तिनः ।
समाप्य स्वाधिकारं ते प्रयान्ति पदमुत्तमम् ॥' इति ।

'एक' इति एक एकः—इत्यर्थः । 'परमं देवम्' परमशिवम् । अपिशब्दो भिन्नक्रमः, तेन सप्तापि मन्त्राणां कोटय इति ॥ ३५१ ॥

नन्वधर एवाध्वन्यनन्तोऽधिकृतः—इत्युक्तम्, तत्कोऽसावधरोऽन्यो वाध्वा ?—इत्याशङ्क्याह—

मायादिरवीच्यन्तो भवस्त्वनन्तादिरुच्यतेऽप्यभवः ॥ ३५२ ॥
शिवशुद्धगुणाधीकारान्तः सोऽप्येष हेयश्च ।

बल से युक्त करके उस यवीयान् पद पर शिखण्डी की नियुक्ति करते है ।'' (मत० ५।६२)

और जो (रुरुतन्त्र में)—

''अनन्त के शान्त हो जाने पर उन महाचक्रवर्त्तियों (= विद्येश्वर रुद्रों) के कर्त्तृत्व का कारण परमपद को माना गया है ।''

इत्यादि कहा गया है उसे महाप्रलयविषयक समझना चाहिए । वहाँ सबका एक साथ उपरम होता है यह पहले ही कहा गया है । मतङ्ग में भी

''वे महान् चक्रवर्त्ती शुद्ध अध्वा के स्वामी देवतागण अपने अधिकार को समाप्त कर उत्तम पद को प्राप्त हो जाते हैं ।''

एक = एक-एक । परमदेव = परमशिव । अपि शब्द का क्रम भिन्न है । अतः मन्त्रों की सातों कोटियाँ—ऐसा अन्वय समझना चाहिए ॥ ३५१ ॥

प्रश्न—नीचे के अध्वा में अनन्त अधिकृत हैं—ऐसा कहा गया । तो यह दूसरा नीचे का अध्वा क्या है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

माया (तत्त्व) से लेकर अवीचि (नरक) तक भव (= संसार) है । अनन्त से लेकर शिव शुद्ध गुण (= अनाश्रित अनन्त) के अधिकार पर्यन्त अभव कहा जाता है । यह भी हेय है ॥ -३५२-३५३- ॥

अनाश्रितानन्ताद्यधिकारपर्यन्तः—इत्यर्थः ॥ ३५२ ॥

हेयत्वे चात्र किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अत्रापि यतो दृष्टानुग्राह्याणां नियोज्यता शैवी ॥ ३५३ ॥
इष्टा च तन्निवृत्तिर्ह्यभवस्त्वधरे न भूयते यस्मात् ।

ननु यद्येवं तत्कथमत्राभवशब्दस्य प्रवृत्तिः ?—इत्याशङ्क्योक्तम् 'ह्यभवस्त्वधरे न भूयते यस्मात्' इति ॥ ३५३ ॥

तन्निवृत्तिमेव व्याचष्टे—

पत्युरपसर्पति यतः कारणता कार्यता च सिद्धेभ्यः ॥ ३५४ ॥
कञ्चुकवच्छिवसिद्धौ तावति भवसंज्ञयातिमध्यस्थौ ।

'कारणता' नियोक्तृत्वम्, 'कार्यता' नियोज्यत्वम्, 'सिद्धेभ्यः' इति मुक्ताणुभ्यः, 'कञ्चुकवत्' इति मायीयावरणवत् । तदपि हि तथा निवर्तत एव—इति भावः । यतस्तौ शिवसिद्धौ अतिभवरूपत्वात् 'अतिमध्यस्थौ' अत्युदासीनौ नियोज्यनियोक्तृतादिक्षोभशून्यौ भवतः—इत्यर्थः ॥ ३५४ ॥

इदानीं प्रकृतमेवाह—

अनाश्रित अनन्त आदि के अधिकार तक—यह अर्थ है ॥ ३५२ ॥

इसके हेय होने में क्या कारण है? यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि यहाँ भी दृष्टानुग्राह्य लोग शिव के द्वारा नियुक्त हैं और उनकी निवृत्ति इष्ट है । चूँकि अधर अध्वा में ऐसा नहीं है अतः अभव (कहा गया) ॥ -३५३-३५४- ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यहाँ अभव शब्द की प्रवृत्ति क्यों है? यह शङ्का कर कहते हैं—क्योंकि अधर अध्वा में अभव नहीं है ॥ ३५३ ॥

'उसकी निवृत्ति' की व्याख्या करते हैं—

चूँकि पति (= शिव) की कारणता और सिद्धों की कार्यता समाप्त हो जाती है इसलिए वे दोनों शिव और सिद्ध कञ्चुक के समान अतिभव संज्ञा के द्वारा अति मध्यस्थ हैं ॥ -३५४-३५५- ॥

कारणता = नियोक्तृता, कार्यता = नियोज्यता । सिद्ध = मुक्त जीव । कञ्चुक के समान = मायीय आवरण के समान । वह (कञ्चुक) भी उस प्रकार निवृत्त ही हो जाता है । जिस कारण वे दोनों शिव और सिद्ध अतिभव रूप होने के कारण अतिमध्यस्थ = अत्यन्त उदासीन = नियोज्यता नियोक्तृता आदि क्षोभ से शून्य हो जाते हैं ॥ ३५४ ॥

धर्मज्ञानविरागैश्यचतुष्टयपुरं तु यत् ॥ ३५५ ॥
रूपावरणसंज्ञं तत्तत्त्वेऽस्मिन्नैश्वरे विदुः ।
वामा ज्येष्ठा च रौद्रीति भुवनत्रयशोभितम् ॥ ३५६ ॥
सूक्ष्मावरणमाख्यातमीशतत्त्वे गुरूत्तमैः ।

'तत्त्वेऽस्मिन्नैश्वर' इति, तथा 'ईशतत्त्वे' इत्यनेनेदमुक्तं यदियदेव भुवनजातमीश्वरतत्त्वे शोधनीयमिति ।

तदुक्तम्—

'दश पञ्च च शोध्यानि भुवनान्यैश्वरे क्रमात् ।' इति ।

तत्र विद्येशानामष्टौ भुवनानि, रूपावरणे चत्वारि, सूक्ष्मावरणे त्रीणीति पञ्चदश। अत एवेयतैवोपसंहारगर्भीकारेण श्रीस्वच्छन्दशास्त्रे—

'व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ।
भस्मनिष्ठाजपध्यानात्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ॥
तत्रेश्वरस्तु भगवान् देवदेवो निरञ्जनः ।
अधिकारं प्रकुरुते शिवेच्छाविधिचोदितः ॥'(स्व०१०।११६९)

इत्याद्युक्तम् । श्रीनन्दिशिखायामपि—

अब प्रस्तुत का वर्णन करते हैं—

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये जो रूपआवरण नाम वाले चार पुर हैं वे इस ईश्वरतत्त्व में (शोधनीय) हैं—ऐसा माना गया है । वामा ज्येष्ठा रौद्री इन तीनों भुवनों से शोभित सूक्ष्म आवरण उत्तम गुरुओं के द्वारा ईश्वर तत्त्व में (शोधनीय) कहा गया है ॥ -३५५-३५७- ॥

"इस ईश्वर तत्त्व में" तथा 'ईश तत्त्व में' इन दोनों पदों के द्वारा यह कहा गया कि इतना ही भुवनसमूह ईश्वरतत्त्व में शोधनीय है ।

वही कहा गया है—

"ईश्वर तत्त्व में क्रमशः दश और पाँच भुवन शोधनीय है ।"

उनमें विद्येश्वरों के आठ भुवन, रूपावरण में चार, सूक्ष्मावरण में तीन—इस प्रकार पन्द्रह भुवनशोध्य होते हैं । इसलिए इतने से ही उपसंहार को गर्भीकृत कर स्वच्छन्दशास्त्र में कहा गया—

"जो जितेन्द्रिय दिव्य पाशुपत व्रत का आचरण करते हैं, भस्म, निष्ठा, जप और ध्यान के द्वारा वे ऐश्वरपद को प्राप्त करते हैं । वहाँ भगवान् देवदेव, निरञ्जन ईश्वर शिव की इच्छाविधि से प्रेरित होकर अधिकार करते हैं ।" (स्व०तं० १०।११६९)

'अत्राधिकारवानेवमीश्वरः शिवचोदितः ।
तज्जपध्याननिष्ठा ये ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ॥' इति ॥ ३५६ ॥

ऐशात्सादाशिवं ज्ञानक्रियायुगलमण्डितम् ॥ ३५७ ॥
शुद्धावरणमित्याहुरुक्ता शुद्धावृतेः परम् ।
विद्यावृतिस्ततो भावाभावशक्तिद्वयोज्ज्वला ॥ ३५८ ॥
शक्त्यावृतिः प्रमाणाख्या ततः शास्त्रे निरूपिता।
शक्त्यावृतेस्तु तेजस्विध्रुवेशाभ्यामलङ्कृतम् ॥ ३५९ ॥
तेजस्व्यावरणं वेदपुरा मानावृतिस्ततः ।
मानावृतेः सुशुद्धावृत्पुरत्रितयशोभिता ॥ ३६० ॥
सुशुद्धावरणादूर्ध्वं शैवमेकपुरं भवेत् ।
शिवावृतेरूर्ध्वमाहुर्मोक्षावरणसंज्ञितम् ॥ ३६१ ॥
अस्यां मोक्षावृतौ रुद्रा एकादश निरूपिताः ।
मोक्षावरणतस्त्वेकपुरमावरणं ध्रुवम् ॥ ३६२ ॥
ऊर्ध्वे ध्रुवावृतेरिच्छावरणं तत्र ते शिवाः ।
ईश्वरेच्छागृहान्तस्थास्तत्पुरं चैकमुच्यते ॥ ३६३ ॥
इच्छावृतेः प्रबुद्धाख्यं दिग्रुद्राष्टकचर्चितम् ।
प्रबुद्धावरणादूर्ध्वं समयावरणं महत् ॥ ३६४ ॥
भुवनैः पञ्चभिर्गर्भीकृतानन्तसमावृति ।

इत्यादि कहा गया है । नन्दिशिखा में भी—

"यहाँ शिव के द्वारा प्रेरित (= नियोजित) ईश्वर अधिकारी हैं । जो लोग उनके जप ध्यान एवं निष्ठा वाले हैं वे ऐश्वर पद को प्राप्त करते हैं" ॥ ३५६ ॥

ईश्वरपुर के ऊपर ज्ञान एवं क्रिया दोनों से मण्डित सदाशिव का पुर है। इसे (लोग) शुद्धावरण कहते हैं । शुद्धावरण के ऊपर विद्यावरण है । उसके ऊपर भाव अभाव दोनों (प्रकार की) शक्तियों से उज्ज्वल शक्त्यावरण है । उसके बाद शास्त्रों में निरूपित प्रमाण नामक (वृति) है । शक्त्यावृति के अन्दर तेजस्वी और ध्रुवेश, दोनों से अलंकृत तेजस्वी आवरण है । इसके बाद चार भुवनों का आवरण है । प्रमाणावृति के ऊपर तीन पुरों से अलंकृत सुशुद्धावृति है । सुशुद्धा वृति के ऊपर शिव का एक पुर (= शिवावृति) है । शिवावरण के ऊपर मोक्षावरण है । इस मोक्षावरण के ग्यारह रुद्र कहे गए हैं । मोक्षावरण के ऊपर ध्रुवावरण है । ध्रुवावरण के ऊपर इच्छावरण है । वहाँ वे शिव ईश्वरेच्छारूपी गृह के अन्दर रहते हैं। वह एक पुर कहा जाता है । इच्छावरण के ऊपर आठ दिक्रुद्रों से अलंकृत प्रबुद्ध नामक पुर है । प्रबुद्धावरण के ऊपर महान् समयावरण है।

सामयात्सौशिवं तत्र सादाख्यं भुवनं महत् ॥ ३६५ ॥
तस्मिन्सदाशिवो देवस्तस्य सव्यापसव्ययोः ।
ज्ञानक्रिये परेच्छा तु शक्तिरुत्सङ्गगामिनी ॥ ३६६ ॥
सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यानि कुरुते स तयेच्छया ।
पञ्च ब्रह्माण्यङ्गषट्कं सकलाद्यष्टकं शिवाः ॥ ३६७ ॥
दशाष्टादश रुद्राश्च तैरेव सुशिवो वृतः ।

सादाशिवमिति तत्त्वम्, अर्थात्तत्र शुद्धावरणमाहुः—इति संबन्धः । 'शुद्धावृतेः परम्' इति शुद्धावरणादूर्ध्वम्—इत्यर्थः । 'विद्यावृतिः' विद्यावरणमित्यर्थः तदुक्तम्—

'भावसंज्ञा त्वभावाख्या तस्मिञ्छक्तिद्वयं स्थितम् ।' इति ।

'ततः' इति विद्यावरणात्, तेन तदूर्ध्वं शक्त्यावृतिस्तदूर्ध्वमपि प्रमाणावृतिरिति। शास्त्र इति, विशेषानुपादानात् सर्वत्र । तत्र शक्त्यावृतौ रुद्रद्वयम् । तदुक्तम्—

'तेजस्वीशो ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम् ।'

(स्व० १०।११७२) इति ।

शक्त्यावरणमूर्ध्वं चेति प्रमाणावरणं चोर्ध्वमित्युद्द्योतकारदृष्टः पाठः

जिसके भीतर पाँच भुवनों के साथ अनन्त का समावेश (= पुर या आवरण) है । समयावरण के ऊपर सुशिव अर्थात् सदाशिव का महान् भुवन है । उसमें सदाशिव देव रहते हैं । उनके बायीं और दायीं और ज्ञान एवं क्रिया रहती हैं । परा इच्छा शक्ति तो उनकी गोद में रहती है । उस इच्छा शक्ति के द्वारा वे सृष्टि आदि पाँच कृत्यों को करते रहते हैं । पाँच ब्रह्मा, छ अङ्ग, सकल आदि आठ, शिव दश और अठारह रुद्र उनसे ये सुशिव घिरे रहते हैं ॥ -३५७-३६८- ॥

सादाशिव—यह तत्त्व है । अर्थात् वहाँ शुद्ध आवरण कहते हैं—ऐसा सम्बन्ध है । शुद्धावृति के परे = शुद्धावरण के ऊपर । विद्यावृति = विद्यावरण । वही कहा गया है—

"उसमें भाव और अभाव नामक दो शक्तियाँ स्थित हैं ।"

उसके पश्चात् = विद्यावरण के पश्चात् । इसलिए उसके ऊपर शक्ति का आवरण और उसके ऊपर प्रमाण का आवरण है । शास्त्र में—विशेष का उल्लेख न होने से सब शास्त्रों में । शक्ति-आवरण में दो रुद्र है ।—वही कहा गया है—

"तेजस्वीश और ध्रुवेश प्रमाणों के परम पद हैं ।" (स्व० १०।११७२)

शक्त्यावरण ऊर्ध्व और प्रमाणावरण ऊर्ध्व—ऐसा उद्योतकार का पाठ असङ्गत

पुनरसाधुः, महाजनैरपरिगृहीतत्वात् । श्रीनन्दिशिखायामपि—

'तेजेश्वरो ध्रुवेशश्च शक्त्यावरणसंस्थितौ ।'

इत्यादिरास्माक एव पाठः । प्रमाणावरणशब्दस्य चात्र प्रवृत्तौ किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'तेजस्व्यावरणम्' इति । तेजेशध्रुवेशौ हि मायातत्त्वावस्थितस्य प्रमाणाष्टकस्य परं पदम्, तयोरपीदं द्वितीयं परमावरणमिति । 'वेदपुरा' इति चतुर्भुवना ।

तदुक्तम्—

'ब्रह्मा रुद्रः प्रतोदश्च अनन्तश्च चतुर्थकः ।'

(स्व० १०।११७३) इति ।

श्रीनन्दिशिखायामपि—

'ब्रह्मा रुद्रः प्रमाणाख्यः प्रतोदोऽनन्तसंज्ञकः ।
प्रमाणावरणे ह्येते चत्वारः परिकीर्तिताः ॥' इति ।

'सुशुद्धावृत्' इति सुशुद्धावरणम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'सुशुद्धावरणं चोर्ध्वं तत्र रुद्रत्रयं विदुः ।
एकाक्षः पिङ्गलो हंसः कथितं तु समासतः ॥'

(स्व० १०।११७४) इति ।

'शैवं पुरम्' शिवावरणम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

है क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषों ने उसका ग्रहण नहीं किया है । नन्दिशिखा में भी—

"तेजेश्वर और ध्रुवेश शाक्तावरण में स्थित है ।"

यह हमारा ही पाठ है । प्रमाणावरण शब्द का क्या तात्पर्य है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—तेजेश और ध्रुवेश ये मायातत्त्व में अवस्थित आठ प्रमाणों के परम पद हैं । उन दोनों का भी यह दूसरा परमावरण है । वेद पुर = चार भुवन ।

वही कहा गया है—

"ब्रह्मा, रुद्र, प्रतोद और चौथे अनन्त (ये चार भुवन हैं) ।" (स्व० १०।११७३)

नन्दिशिखा में भी—

"ब्रह्मा, रुद्र, प्रतोद एवं अनन्त ये चार प्रमाण के आवरण में कहे गए हैं ।"

सुशुद्धावृत् = सुशुद्धावरण । वही कहा गया है—

"ऊपर सुशुद्धावरण है वहाँ तीन रुद्र माने गए है एकाक्ष, पिङ्गल, और हंस, यह संक्षेप में कहा गया । (स्व० १०।११७४)

'शिवावरणमूर्ध्वे तु तत्रैको ध्रुवसंज्ञकः ।'

(स्व० १०।११७४) इति ।

एकादशेति, ब्रह्मादयः ।

तदुक्तम्—

'ब्रह्मदन्किदिण्डिमुण्डाः सौरभश्च तथैव च ।
जन्ममृत्युहरश्चैव प्रणीतः सुखदुःखदः ॥
विजृम्भितः समाख्याताः.....................।'

(स्व० १०।११७७) इति ।

'आवरणं ध्रुवम्' ध्रुवावरणम्—इत्यर्थः । 'ते' इति इतः प्रभृति पृथिवीपर्यन्तमुक्ताः सर्व एव—इत्यर्थः । ईश्वरेच्छागृहान्तःस्था इति, तदेकरूपा इति यावत् । यदभिप्रायेणैव—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥' (ई०प्र०१।५।१०)

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् । एकमिति, इच्छाशक्त्यैवाधिष्ठेयत्वात् । प्रबुद्धाख्यमित्यावरणम् । तदुक्तम्—

'प्रबुद्धावरणं चोर्ध्वे कथयामि समासतः ।
प्रीतः प्रमुदितश्चैव प्रमोदश्च प्रलम्बनः ॥

शैवपुर = शिवावरण । वही कहा गया है—

"शिवावरण के ऊपर एक ध्रुव संज्ञक (भुवन) है ।" (स्व० १०।११७४)

ग्यारह = ब्रह्मा आदि ।

वही कहा गया है—

"ब्रह्म, दर्क (दन्कि) दिण्डि, मुण्ड, सौरभ, जन्महर, मृत्युहर, प्रणीत, सुखद, दुःखद और विजृम्भित ये ग्यारह ब्रह्मादि कहे गए हैं..." (स्व० १०।११७७)

आवरण = ध्रुवावरण । वे = यहाँ से लेकर पृथिवी तक मुक्त सब के सब । ईश्वरेच्छागृह के भीतर अर्थात् उससे एक रूप । जिस अभिप्राय से ही—

"स्वामी को अपने स्वयं में स्थित भावसमूह का आभास उसके बिना नहीं होता इसलिए इच्छा का आमर्श होता है ।" (ई०प्र० १।५।१०)

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है । एक—इच्छा शक्ति के ही द्वारा अधिष्ठेय होने से । प्रबुद्ध नामक—आवरण । वही कहा गया है—

"ऊपर वर्त्तमान प्रबुद्धावरण को संक्षेप में कहता हूँ । प्रीत, प्रमुदित प्रमोद,

विष्णुर्मदन एवाथ गहनः प्रथितस्तथा।
रुद्राष्टकं समाख्यातं विज्ञेयं प्राग्दिशः क्रमात् ॥'

(स्व० १०।११८०)

इति । पञ्चभिर्भुवनैर्युक्तमिति शेषः । तदुक्तम्—

'प्रभवः समयः क्षुद्रो विमलश्च शिवस्तथा ।
ततो घनः समाख्यातो निरञ्जन इतः परम् ॥
रुद्रोङ्कारास्तु पञ्चैते'............................ ।

(स्व० १०।११८२) इति ।

गर्भीकृतानन्तसमावृतीति, सर्वशेषत्वेनोक्तं यन्नाम हि किंचिदुपरिवर्ति तत्सर्वमधस्तनं गर्भीकृत्य वर्तत इति । 'सौशिवम्' इति सुशिवावरणम् । 'सादाख्यं भुवनम्' इति सदाशिवभट्टारकस्य साक्षादधिष्ठानस्थानम्—इत्यर्थः । अत एव महदित्युक्तम् । उद्द्योतकृता पुनः

'ईश्वरस्य तथोर्ध्वे तु अधश्चैव सदाशिवात्।' (स्व० १०।११८६)

इत्यर्धं परिकल्प्य इतः प्रभृति सादाशिवं तत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम्, अस्यार्धस्य महाजनैरगृहीतत्वात् । अत एव च एवमपि 'ऊर्ध्वम्' इति पुनरुक्तम्, 'अधश्चैव सदाशिवात्' इत्यप्यसङ्गतम्, तत्रैव तस्योक्तत्वात्; अपरिकल्पितत्वेऽपि एतदित्थं यथाकथञ्चिदव्याख्येयं यदीश्वरस्येति रुद्रोङ्कारस्य, सदाशिवादिति

प्रलम्बन, विष्णु, मदन, गहन और प्रथित ये आठ रुद्र कहे गये हैं । इनको पूरब दिशा से क्रमशः जानना चाहिए ।'' (स्व० १०।११८०)

पाँच भुवनों से युक्त जोड़ना चाहिये यह है । वही कहा गया है—

क्षुद्र पर्याय वाले प्रभव समय, विमल नामक शिव, इसके बाद घन, तत्पश्चात् निरञ्जन तथा रुद्रोङ्कार ए पाँच... (स्व० तं० १०।११८२)

गर्भीकृत अनन्त समावरण—सर्वशेष के रूप में कथित जो कुछ ऊपर वर्त्तमान है उस सबको नीचे गर्भ में करके वर्त्तमान हैं । सौशिव = सुशिवावरण । सादाख्य भुवन = सदाशिव भट्टारक का साक्षात् अधिष्ठान । इसीलिए 'महत्' ऐसा कहा गया उद्योतकार ने तो...

''ईश्वर के ऊपर तथा सदाशिव के नीचे'' (स्व० १०।११८६)

इतना आधा मानकर यहाँ से लेकर सदाशिव तत्त्व है—ऐसा जो कहा वह अयुक्त है क्योंकि यह अर्थ महाजनों (= श्रेष्ठ आचार्यों) के द्वारा स्वीकृत नहीं है । और इसीलिए ऐसा होने पर भी 'ऊर्ध्व' ऐसा पुनः कहा गया । 'सदाशिव से नीचे' यह कथन भी असङ्गत है क्योंकि यह तो वहीं कह दिया गया है । परिकल्पित न होने पर भी इसकी इस प्रकार जैसे-तैसे भी व्याख्या नहीं की जानी चाहिए कि—

अधिष्ठातुः, अधिष्ठेयं हि अधिष्ठातुरध एव भवेदिति । यत्तु श्रीनन्दिशिखायाम्—

'कथितं त्वैश्वरं तत्त्वमत ऊर्ध्वं सदाशिवः ।'

इत्युक्तं तदप्येवमवगन्तव्यं यदैश्वरमिति सादाशिवम्, सदाशिव इति तत्र साक्षात्स्थित इति । अन्यथा हि उभयत्रापि ईश्वरतत्त्वोपसंहारग्रन्थस्य व्याघातः स्यात्; तन्महाजनक्षुण्ण एव मार्गोऽनुगन्तव्यः—इति उद्द्योतकारव्याख्यया न भ्रमितव्यमित्यलं बहुना । 'तस्मिन्' इति सदाख्ये भुवने । 'सुशिवः' सदाशिवः । वृतश्चतुर्धावरणक्रमेण ॥ ३६७ ॥

एतदेव क्रमेण पठति—

सद्यो वामाघोरौ पुरुषेशौ ब्रह्मपञ्चकं हृदयम् ॥ ३६८ ॥
मूर्धशिखावर्मदृगस्त्रमङ्गानि षट् प्राहुः ।
सकलाकलशून्यैः सह कलाढ्यखमलङ्कृते क्षपणमन्त्यम् ॥ ३६९ ॥
कण्ठ्यौष्ठ्यमष्टमं किल सकलाष्टकमेतदाम्नातम् ।
ओङ्कारशिवौ दीप्तो हेत्वीशदशेशकौ सुशिवकालौ ॥ ३७० ॥
सूक्ष्मसुतेजःशर्वाः शिवाः दशैतेऽत्र पूर्वादिः ।
विजयो निःश्वासश्च स्वायम्भुवो वह्निवीररौरवकाः ॥ ३७१ ॥
मुकुटविसरेन्दुविन्दुप्रोद्गीता ललितसिद्धरुद्रौ च ।

ईश्वर का = रुद्रोंकार का । सदाशिव से = अधिष्ठाता से, क्योंकि अधिष्ठेय अधिष्ठाता का ही होता है । और जो नन्दिशिखा में कहा गया—

'ईश्वर सम्बन्धी तत्त्व का कथन हो गया इसके ऊपर सदाशिव है ।''

उसे भी ऐसा समझना चाहिए कि ऐश्वर का अर्थ है—सदाशिव से सम्बद्ध । सदाशिव वहाँ साक्षात् स्थित हैं । अन्यथा दोनों ही जगह ईश्वर तत्त्व के उपसंहारग्रन्थ का व्याघात हो जाएगा । इसलिए बड़े लोगों के द्वारा चले हुये मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए । इस प्रकार उद्योतकार की व्याख्या (को सही मानने का) भ्रम नहीं करना चाहिए । इतना (कथन) सादाख्य भुवन के विषय में पर्याप्त है । सुशिव = सदाशिव । आवृत है—चार आवरण के क्रम से ॥ ३६७ ॥

उसी को क्रम से पढ़ते हैं—

सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष तथा ईश्वर (= ईशान) ये पाँच ब्रह्मा हैं । हृदय, मूर्धा, शिखा, वर्म, दृक् और अस्त्र ये छ अङ्ग कहे गए हैं । सकल, अकल और शून्य के साथ कलाढ्य, खमलङ्कृत (= ख), क्षपण, क्षयान्तःस्थ तथा आठवाँ कण्ठोष्ठ्य यह सकलाष्टक कहा गया है । ओङ्कार, शिव, दीप्त, कारणेश, दशेश, सुशिवेश, कालेश, सूक्ष्म, सुतेजः, शर्व ये दश शिव है । विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, वह्नि, वीर,

सन्तानशिवौ परकिरणापारमेशा इति स्मृता रुद्राः॥ ३७२ ॥
सर्वेषामेतेषां ज्ञानानि विदुः स्वतुल्यनामानि ।

'अकलः' इति निष्कलः । अन्त्यमन्ते भवं क्षयान्तम्, हेत्वीशः कारणेश्वरः सूक्ष्मः सूक्ष्मरूपः, सर्वेषामिति शिवानां रुद्राणां च, अत एव दशाष्टादशभेदभिन्नं शैवमुच्यते ॥ ३७२ ॥

मन्त्रमुनिकोटिपरिवृतमथ विभुवामादिरुद्रतच्छक्तियुतम् ॥ ३७३ ॥
तारादिशक्तिजुष्टं सुशिवासनमतिसितकजमसंख्यदलम् ।
यः शक्तिरुद्रवर्गः परिवारे विष्टरे च सुशिवस्य ॥ ३७४ ॥
प्रत्येकमस्य निजनिजपरिवारे परार्धकोटयोऽसंख्याः ।
मायामलनिर्मुक्ताः केवलमधिकारमात्रसंरूढाः ॥ ३७५ ॥
सुशिवावरणे रुद्राः सर्वज्ञाः सर्वशक्तिसम्पूर्णाः ।
अधिकारबन्धविलये शान्ताः शिवरूपिणो पुनर्भविनः ॥ ३७६ ॥

मुनीति सप्त । रुद्रा इति, आवरणादिगताः ॥ ३७६ ॥

ऊर्ध्वे बिन्द्वावृतिर्दीप्ता तत्र तत्र पद्मं शशिप्रभम् ।
शान्त्यतीतः शिवस्तत्र तच्छक्त्युत्सङ्गभूषितः ॥ ३७७ ॥

रौरव, मुकुट, विसर, इन्दु, विन्दु, प्रोद्गीत, ललित, सिद्धरुद्र, सन्तान, शिव, पर, किरण, पारमेश, ये रुद्र कहे गए हैं । इन सबके ज्ञान इनके तुल्य नाम वाले माने गए हैं ॥ -३६८-३७३- ॥

अकल = निष्कल । अन्त्य = अन्त में होनेवाला = क्षयान्त । हेत्वीश = कारणेश्वर । सूक्ष्म = सूक्ष्मरूप । सबका = शिवों और रुद्रों का । इसीलिए शैव दश एवं अठारह भेद से भिन्न कहा जाता है ॥ ३७२ ॥

सदाशिव का आसन सात करोड़ मन्त्रों से वेष्टित, विभु वाम आदि रुद्रों और उनकी शक्तियों से युक्त, तारा आदि शक्तियों से सेवित, अत्यन्त श्वेत एवं असंख्य दलों वाला है । सदाशिव के परिवार और आसन पर जो शक्तिरुद्रसमूह है उसके अपने-अपने प्रत्येक परिवार में, सदाशिव के आवरण में जो रुद्र हैं वे परार्ध कोटि वाले, असंख्य, मायीय मल से रहित, केवल अधिकार मात्र के भागी, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-समन्वित, अधिकार बन्धन के नष्ट होने पर शान्त, शिवस्वरूप और पुनर्जन्म वाले हैं ॥ -३७३-३७६ ॥

मुनि = सात । रुद्र = आवरण आदि में वर्त्तमान ॥ ३७६ ॥

उसके ऊपर बिन्दु का दीप्त आवरण है । वहाँ चन्द्रमा के समान प्रकाशयुक्त कमल है उस पर अपनी शक्ति के उत्सङ्ग के साथ अलंकृत

निवृत्त्यादिकलावर्गपरिवारसमावृतः ।
असंख्यरुद्रतच्छक्तिपुरकोटिभिरावृतः ॥ ३७८ ॥

ऊर्ध्वे इति, सुशिवावरणात् । 'तच्छक्ति' इति शान्त्यतीता । तदुक्तम्—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
परिवारः स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥
तस्य वामे तु दिग्भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता ॥'
(स्व० १०।१६२१) इति ॥ ३७८ ॥

एतच्च भङ्ग्यन्तरेणोक्तम्—इत्याह—

श्रीमन्मतङ्गशास्त्रे च लयाख्यं तत्त्वमुत्तमम् ।
पारिभाषिकमित्येतन्नाम्ना बिन्दुरिहोच्यते ॥ ३७९ ॥

यन्नाम सर्वकर्तृत्वादिगुणयोगादुत्तमं लयाख्यं तत्त्वं तदेवैतद्बहिरभिव्यक्तं सदिह स्वशास्त्रपरिभाषया बिन्दुरुच्यते, श्रीमतङ्गपारमेश्वरेऽस्य तथा समयः कृतः—इत्यर्थः ।

यदुक्तं तत्र

'तस्मादेव परं तत्त्वमचलं सर्वतोमुखम् ।

शान्त्यतीत शिव विराजमान है । वे निवृत्ति आदि कलासमूह के परिवार से आवृत तथा असंख्य रुद्र और उनकी शक्तियों वाले करोड़ों पुर से अलङ्कृत हैं ॥ ३७७-३७८ ॥

ऊपर—सदाशिव आवरण के ऊपर । अपनी शक्ति—शान्त्यतीता । वही कहा है—

"हे सुव्रते ! निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता ये उस शान्त्यतीता का परिवार कहा गया है । उसकी (= रुद्र की) बायीं दिशा में शान्त्यतीता कला स्थित है ।" (स्व०तं० १०।१६२१) ॥ ३७७-३७८ ॥

इसे दूसरे प्रकार से कहा गया है—यह कहते हैं—

मतङ्ग शास्त्र में जो लयनामक उत्तम तत्त्व (कहा गया है) यहाँ पारिभाषिक रूप में उसका नाम बिन्दु कहा जाता है ॥ ३७९ ॥

जो सर्वकर्तृत्व आदि गुणों से युक्त उत्तम लय नामक तत्त्व है वही बाहर अभिव्यक्त होता हुआ अपनी शास्त्रीय परिभाषा में बिन्दु कहा जाता है । मतङ्ग शास्त्र में इसका वैसा सङ्केत किया गया है ।

जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"उसके बाद सर्वतोमुखी परम अचल तत्त्व है जहाँ पहुँचने वाले का इस संसार

यस्मिन्प्राप्तस्य न पुनर्जन्मेहास्ति कदाचन ॥' इति ।
'इत्थं गुणवतस्तस्मात्तत्त्वात्तत्त्वमनिन्दितम् ।
स्फुरद्रश्मिसहस्राढ्यमधस्ताद्व्यापकं महत् ॥
पारिभाषिकमित्येतन्नाम्ना बिन्दुरिहोच्यते ।
चतुर्धावस्थितं चेदं प्रेरकं सर्वतोऽव्ययम् ॥' इति ॥ ३७९ ॥

ननु इह पत्युः

'लयभोगाधिकाराह्वत्रितत्त्वोक्तिनिदर्शनात् ।
पदार्थः पतिनामासौ प्रथमः परिकीर्तितः ॥' (मतङ्ग०)

इति ॥ ....(?) तदत्रास्य यद्येवं तद्भोगादिरूपत्वं पुनः कुत्र ?—इत्याशङ्क्याह—

चतुर्मूर्तिमयं शुभ्रं यत्तत्सकलनिष्कलम् ।
तस्मिन्भोगः समुद्दिष्ट इत्यत्रेदं च वर्णितम् ॥ ३८० ॥

यदेतन्निवृत्त्याद्यात्मना चतूरूपं तत्त्वेऽपि तदुत्तीर्णत्वात् निर्मलम्, अत एव सकलत्वेऽपि परस्मिन्नेव तत्त्वे लीनत्वान्निष्कलं पदम्, तस्मिन्भोगः समुद्दिष्टः सादाशिवं तत्त्वमस्य भोगस्थानमित्यत्र श्रीमतङ्गशास्त्र एवेदमुक्तम् । तदुक्तं तत्र—

'सदाशिवस्य देवस्य लयस्तत्त्वेऽतिनिष्कले ।

में कभी पुनर्जन्म नहीं होता ।''

''इस प्रकार उस गुणवान् तत्त्व से (जो) तत्त्व (निकलता) है वह अनिन्दित, हजारों स्फुरत् रश्मियों से शोभित, ऊपर से नीचे तक महाव्यापक पारिभासिक तत्त्व है उसे बिन्दु नाम से कहा जाता है । यह चार प्रकार से स्थित, प्रेरक और सब प्रकार से अव्यय है'' ॥ ३७९ ॥

प्रश्न—यहाँ पति का—

''लय भोग और अधिकार नामक तीन तत्त्वों की उक्ति के निदर्शन के कारण यह पति नामक पहला पदार्थ कहा गया ।'' (मतं० तं०)

यदि यहाँ इसके विषय में ऐसा है तो भोगआदिरूपता कहाँ है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चार मूर्त्तियों वाला शुभ्र जो वह सकल निष्कल (तत्त्व) है उसमें भोग कहा गया है और यहाँ यह वर्णित है ॥ ३८० ॥

जो यहाँ निवृत्ति आदि के रूप में चार रूप, तत्त्व होने पर भी उस (तत्त्व) से परे होने के कारण निर्मल है और इसी लिए सकल होने पर भी पर तत्त्व में लीन होने के कारण निष्कल पद है उसमें भोग कहा गया है । सदाशिवतत्त्व इसका भोगस्थान है—ऐसा मतङ्गशास्त्र में कहा गया है । वही वहाँ कहा गया है—

चतुर्मूर्तिमयं शुभ्रं यत्तत्सकलनिष्कलम् ॥
तस्मिन्भोगः समुद्दिष्टः पत्युर्विश्वस्य सर्वदा।'
(मतङ्ग० १।३।२३) इति ।

अधिकारस्थानं पुरस्य विद्यादि—इत्यर्थसिद्धम् । यदुक्तं तत्रैव—

'लये च शिवतत्त्वाख्यं व्यक्तौ बिन्द्वाह्वयं पदम्।
भोगः सदाशिवस्थाने ईश्वराख्ये च शासनम् ॥
विद्यातत्त्वेऽधिकारोऽस्य योनेर्ज्ञेयः सदैव हि।'
(मतङ्ग० १।७।३३) इति ॥ ३८० ॥

ननु सकलत्वं नाम कलादिक्षित्यन्तदेहयोग्यत्वमुच्यते, तच्चेत् सदाशिव-भट्टारकस्य संभवति तत्कथमस्यापि अस्मदादिवत् क्षित्यादिरूपत्वं न लक्ष्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

निवृत्त्यादेः सुसूक्ष्मत्वाद्धराद्यारब्धदेहता ।
मातुः स्फूर्जन्महाज्ञानलीनत्वान्न विभाव्यते ॥ ३८१ ॥

'मातुः' सदाशिवभट्टारकस्य । निवृत्त्यादेः सूक्ष्मत्वे हेतुः—स्फूर्जन्महाज्ञान-लीनत्वादिति ॥ ३८१ ॥

"सदाशिव देव का लय अत्यन्त निष्कल तत्त्व में होता है । चार मूर्त्तियों वाला जो सकल निष्कल (तत्त्व) है उसमें विश्व के पति का सर्वदा भोग कहा गया है ।" (म०तं० १।३।२३)

इसका अधिकारस्थान विद्या आदि है—यह अर्थात् सिद्ध है । जैसा कि वहीं कहा गया है—

"इस योनि को लय की स्थिति में शिवतत्त्व, अभिव्यक्ति की स्थिति में बिन्दु नामक पद (जानना चाहिए) । इसका सदाशिव स्थान में भोग, ईश्वर में शासन तथा विद्या तत्त्व में अधिकार समझना चाहिए ।" (मतं० तं० १।७।३३) ॥ ३८० ॥

प्रश्न—सकल का अर्थ है—कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त शरीरधारण की योग्यता । यदि यह शिवभट्टारक के विषय में सम्भव है तो हम लोगों की भाँति इसकी भी पृथिवी आदि की रूपता क्यों नहीं दिखाई पड़ती ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

निवृत्ति आदि के सूक्ष्म होने के कारण स्फुरित होने वाले महाज्ञान में लीन होने से प्रमाता का पृथिवी आदि तत्त्व से आरब्ध शरीर लक्षित नहीं होता ॥ ३८१ ॥

प्रमाता का = शिवभट्टारक का । निवृत्ति आदि की सूक्ष्मता में हेतु है—स्फूर्जित होने वाले महाज्ञान में लीन होना ॥ ३८१ ॥

(नन्वत्र) स्थिता च धरादिरूपता न विभाव्यते—इत्येतद्विप्रतिषिद्धम् ?—इत्याशङ्क्याह—

उद्रिक्ततैजसत्वेन हेम्नो भूपरमाणवः ।
यथा पृथङ्न भान्त्येवमूर्ध्वाधोरुद्रदेहगाः ॥ ३८२ ॥

यथा सुवर्णस्य तेजःपरमाणूनामुद्रिक्तत्वात्काठिन्याद्यन्यथानुपपत्त्या स्थिता अपि भूपरमाणवः पृथङ्न भासन्ते तथात्मज्ञानतिरस्कृतत्वात् शुद्धाशुद्धात्मनि सर्गे तत्तद्भुवनेश्वरदेहगा अपि—इति वाक्यार्थः ॥ ३८२ ॥

इदानीं प्रकृतमेवाह—

बिन्दूर्ध्वेऽर्धेन्दुरेतस्य कला ज्योत्स्ना च तद्वती ।
कान्तिः प्रभा च विमला पञ्चैता रोधिकास्ततः ॥ ३८३ ॥
रुन्धनी रोधनी रोद्ध्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।
एताः पञ्च कलाः प्राहुर्निरोधिन्यां गुरूत्तमाः ॥ ३८४ ॥

'तद्वती' ज्योत्स्नावती, 'तत' इति अर्धेन्दोरप्यूर्ध्वम् ॥ ३८४ ॥

अर्धचन्द्रादेश्च मन्त्रप्रमेयरूपत्वात् तदुचितमेव यथोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिरूपत्वं दर्शयति—

प्रश्न—(यहाँ = शिवभट्टारक में) स्थित भी पृथिवी आदि रूपता प्रतीत नहीं होती यह तो परस्पर विरुद्ध है? यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे तैजस परमाणु के उद्रिक्त होने के कारण सुवर्णस्थित पृथिवीपरमाणु अलग नहीं दिखाई देते उसी प्रकार ऊर्ध्व और अधः वर्त्ती रुद्र के शरीरस्थ (पर्थिव तत्त्व भी नहीं दिखाई पड़ते) ॥ ३८२ ॥

जिस प्रकार सुवर्ण के तेजःपरमाणु उद्रिक्त होने के कारण काठिन्य आदि की अन्यथा सिद्धि न होने से पृथिवीपरमाणु अलग भासित नहीं होते उसी प्रकार आत्मज्ञान से तिरोहित होने के कारण शुद्धाशुद्धसृष्टि में उन-उन भुवनेश्वरों के शरीर में वर्त्तमान (पार्थिव तत्त्व) भी नहीं दिखाई पड़ते—यह वाक्यार्थ है ॥ ३८२ ॥

अब प्रस्तुत को कहते हैं—

बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र है । इसकी ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति प्रभा और विमला ये पाँच कलायें हैं । उसके ऊपर रोधिका है । गुरुओं ने रोधिनी में—रुन्धनी, रोधनी, रोध्री, ज्ञानबोधा और तमोपहा—इन पाँच कलाओं को कहा है ॥ ३८३-३८४ ॥

तद्वती = ज्योत्स्नावती । उसके बाद = अर्धचन्द्र के ऊपर ॥ ३८३-३८४ ॥

मन्त्रप्रमेय रूप होने के कारण अर्धचन्द्र आदि का यथोचित क्रमशः उत्तरोत्तरवर्ती

अर्धमात्रः स्मृतो बिन्दुर्व्योमरूपी चतुष्कलः।
तदर्धमर्धचन्द्रस्तदष्टांशेन निरोधिका ॥ ३८५ ॥

'तदर्ध' मात्राचतुर्भागः 'तदष्टांशेन' मात्राष्टांशेन ॥ ३८५ ॥

निरोधिकामेव निर्वक्ति—

हेतून्ब्रह्मादिकान् रुन्द्धे-रोधिकां तां त्यजेत्ततः ।
निरोधिकामिमां भित्वा सादाख्यं भुवनं परम्॥ ३८६ ॥
पररूपेण यत्रास्ते पञ्चमन्त्रमहातनुः ।

'हेतून्' इति कारणानि । पररूपेणेति, सुशिवावरणे हि अस्याः परं रूपमित्युक्तम् ॥ ३८६ ॥

अस्यैव स्थानं रूपं च निरूपयति—

इत्यर्धेन्दुनिरोध्यन्तबिन्द्वावृत्यूर्ध्वतो महान् ॥ ३८७ ॥
नादः किञ्जल्कसदृशो महद्भिः पुरुषैर्वृतः ।
चत्वारि भुवनान्यत्र दिक्षु मध्ये च पञ्चमम् ॥ ३८८ ॥

सूक्ष्म सूक्ष्मतर रूप दिखाते हैं—

बिन्दु अर्धमात्रा वाला कहा गया है । (वह) आकाश के समान (तथा) चार कला वाला है । उसका आधा अर्धचन्द्र है और उसका आठवाँ अंश निरोधिका ॥ ३८५ ॥

उसका आधा = मात्रा का चतुर्थ भाग । उसके आठवें अंश से मात्रा के आठवें अंश से ॥ ३८५ ॥

निरोधिका का ही वर्णन करते हैं—

(यह, सृष्टि आदि के) कारणभूत ब्रह्मा आदि को (ऊपर जाने से) रोकती हैं । इसलिए उस रोधिका को पार करना चाहिए । इस रोधिका को पार करने के बाद सदाशिव का उत्कृष्ट भुवन है जहाँ पाँच मन्त्रों के महातनु पररूप से रहते हैं ॥ ३८६-३८७- ॥

हेतुओं को = कारणों को । पर रूप से—सदाशिव आवरण में इसका पर रूप कहा गया है ॥ ३८६ ॥

इसी का स्थान और रूप बतलाते हैं—

इस प्रकार अर्धचन्द्र से लेकर रोधिनी पर्यन्त बिन्दु का ही आवरण है। उसके ऊपर पराग के समान महान् नाद है । (यह) महापुरुषों से घिरा हुआ है । यहाँ चारों दिशाओं में चार भुवन और मध्य में पाँचवा (भुवन)

इन्धिका दीपिका चैव रोधिका मोचिकोर्ध्वगा ।
मध्येऽत्र पद्मं तत्रोर्ध्वगामी तच्छक्तिभिर्वृतः ॥ ३८९ ॥
नादोर्ध्वतस्तु सौषुम्नं तत्र तच्छक्तिभृत्प्रभुः ।
तदीशः पिङ्गलेलाभ्यां वृतः सव्यापसव्ययोः ॥ ३९० ॥
या प्रभोरङ्कगा देवी सुषुम्ना शशिसप्रभा ।
ग्रथितोऽध्वा तया सर्व ऊर्ध्वश्चाधस्तनस्तथा ॥ ३९१ ॥
नादः सुषुम्नाधारस्तु भित्त्वा विश्वमिदं जगत् ।
अधःशक्त्या विर्निगच्छेदूर्ध्वशक्त्या च मूर्धतः ॥ ३९२ ॥
नाड्या ब्रह्मबिले लीनः सोऽव्यक्तध्वनिरक्षरः ।
नदन्सर्वेषु भूतेषु शिवशक्त्या ह्यधिष्ठितः ॥ ३९३ ॥

एवमर्धेन्दुर्निरोधिनी च बिन्दोरेव प्रसरः—इत्युक्तं स्यात् । 'महद्भिः पुरुषैः' इति मन्त्रमहेश्वररूपैः । 'तच्छक्तिः' ऊर्ध्वगामिनी । तदुक्तम्—

'तस्मिन्पद्मं सुविस्तीर्णमूर्ध्वगेशः स्थितः प्रभुः ।'
(स्व० १०।१२२४) इति ।

'ऊर्ध्वगा तु कला तस्य नित्यमुत्सङ्गगामिनी ।'
(स्व० १०।१२२६) इति च ।

है । इन्धिका, दीपिका, रोधिका, मोचिका और ऊर्ध्वगा (ये पाँच मन्त्रमहेश्वरों की नायिकायें हैं) । इनके बीच में पद्म है । उसमें ऊर्ध्वगामी और उस (= ऊर्ध्वगामी) की ऊर्ध्वगामिनी शक्ति से युक्त (नाद) है । नाद के ऊपर सौषुम्न (भुवन) है । वहाँ सुषुम्ना शक्ति को धारण करने वाले प्रभु है । उस (= सुषुम्ना) के स्वामी दायीं और बायीं ओर पिङ्गला तथा इड़ा से युक्त हैं । और जो चन्द्रमा के समान सुषुम्ना देवी है वह परमेश्वर की गोद में विराजमान है । ऊपर और नीचे का समस्त अध्वा उसके द्वारा ग्रथित है । सुषुम्ना जिसका आधार है वह नाद इस समस्त संसार का भेदन कर अधः शक्ति तथा ऊर्ध्व शक्ति के नाड़ी के द्वारा मूर्धा से निकलता है । ब्रह्मविल में लीन वह अव्यक्त अक्षर ध्वनि सभी प्राणियों में नाद करती हुई शिवशक्ति के द्वारा अधिष्ठित है ॥ -३८७-३९३ ॥

इस प्रकार अर्धचन्द्र और रोधिनी (ये दोनों) बिन्दु का ही प्रसरण है—यह कहा गया । महापुरुषों के द्वारा—मन्त्रमहेश्वर रूप (महापुरुषों के द्वारा) । वह शक्ति = ऊर्ध्वगामिनी । वही कहा गया—

"उस (= ऊर्ध्वग शक्तिधाम) में विस्तृत पद्म है । उसमें ऊर्ध्वगेश्वर प्रभु स्थित है ।" (स्व० १०।१२२४)

"ऊर्ध्वगा उसकी कला है जो नित्य (उसकी) गोद में रहती है ।"

सौषुम्नमिति भुवनम् । 'तच्छक्तिः' सुषुम्ना । 'तदीशः' सुषुम्नेशः । 'ग्रथितः' इति ओतप्रोतत्वेन व्याप्तः । 'ऊर्ध्वः' शक्तिशिवात्मकः 'अधस्तनो' नादान्तादिः । अस्याश्चोर्ध्वाधरयोरेव व्यापकत्वं दर्शयति 'नादः सुषुम्नाधारः' इत्यादिना । इह खलु नादः सुषुम्नाख्यां मध्यनाडीमधितिष्ठन्नधःशक्त्योत्थाय मूलाधारात् प्रबोधमासाद्य प्राणात्मिकयोर्ध्वशक्त्या निखिलमिदं जगत् तत्तत्कारणोल्लङ्घनक्रमेण भित्त्वा तस्या एव सुषुम्नाख्याया नाड्या 'मूर्धतः' उपरिष्टान्निर्गच्छेत् येनासौ ब्रह्मबिले विश्रान्तः सन् सर्वेषु भूतेषु

> 'नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
> स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥' (स्व० ७।५८)

इत्याद्युक्त्या नदन्, अत एव घोषादिस्वभावान्तरानुदयात् अव्यक्तध्वनिः, अत एवाविचलद्रूपत्वाद् अक्षरो यतः शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः परसंविन्मात्रात्मकः— इत्यर्थः । तदुक्तम्—

> 'नाड्याधारस्तु नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत् ।
> अधःशक्त्या विनिर्गत्य यावद्ब्रह्माणमूर्ध्वतः ॥
> नाड्या ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिरक्षरः ।

(१०।१२२६)

सौषुम्न—भुवन । वह शक्ति = सुषुम्ना । तदीश = सुषुम्नेश । ग्रथित = ओत प्रोत करके व्याप्त । ऊर्ध्वः = शक्तिशिवात्मक । अधस्तन = नादान्त आदि । जिसकी ऊर्ध्वाधरता की व्यापकता दिखलाते हैं—नाद जिसका कि सुषुम्ना आधार है—इत्यादि के द्वारा । नाद सुषुम्ना नामक मध्यनाड़ी में अधिष्ठित होकर अधःशक्ति के द्वारा उठकर मूलाधार से प्रबोध को प्राप्त कर प्राणात्मिका ऊर्ध्वशक्ति के द्वारा इस समस्त संसार का, भिन्न-भिन्न कारण के उल्लङ्घन के क्रम से, भेदन कर उसी सुषुम्ना नामक नाड़ी से मूर्धा से ऊपर की ओर जाता है जिससे यह ब्रह्मबिल में विश्रान्त होकर सभी प्राणियों में—

"इसका न तो कोई उच्चारण करने वाला और न कोई प्रतिरोध करने वाला है । प्राणियों के हृदय में स्थित यह देव (= नाद) स्वयं उच्चरित होता है । (स्व०तं० ७।५८)

—इत्यादि उक्ति के द्वारा नाद करता हुआ, इसीलिए घोष आदि दूसरे स्वभावों का उदय न होने से अव्यक्त ध्वनि वाला, इसीलिए अविचल रूप होने से अक्षर है । क्योंकि शिवशक्ति के द्वारा अधिष्ठित (यह) परसंविद् रूप है । वही कहा गया है—

"(सुषुम्ना) नाड़ी जिसका आधार है वह नाद इस समस्त संसार का भेदन कर अधःशक्ति के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक निकल कर नाड़ी के द्वारा ब्रह्मबिल में लीन हो

नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥'

(स्व० १०।१२३३) इति ॥ ३९३ ॥

सुषुम्नोर्ध्वे ब्रह्मबिलसंज्ञयावरणं त्रिदृक् ।
तत्र ब्रह्मा सितः शूली पञ्चास्यः शशिशेखरः ॥ ३९४ ॥
तस्योत्सङ्गे परा देवी ब्रह्माणी मोक्षमार्गगा ।
रोद्ध्री दात्री च मोक्षस्य......................

'तत्र' इति ब्रह्मबिलावरणे । 'मोक्षमार्गगा' इति तन्मार्गावस्थिता—इत्यर्थः । अत एवास्यास्तद्रोधने तद्दाने च सामर्थ्यमित्युक्तं 'रोद्ध्री दात्री च मोक्षस्य' इति ॥ ३९४ ॥

....................तां भित्त्वा चोर्ध्वकुण्डली ॥ ३९५ ॥
शक्तिः सुप्ताहिसदृशी सा विश्वाधार उच्यते ।
तस्यां सूक्ष्मा सुसूक्ष्मा च तथान्ये अमृतामिते ॥ ३९६ ॥
मध्यतो व्यापिनी तस्यां व्यापीशो व्यापिनीधरः ।

तां भित्त्वेति, तत ऊर्ध्वम्—**इत्यर्थः** । ऊर्ध्वकुण्डलीति, निखिलस्यास्य विश्वस्यानुन्मिषितत्वेनान्तर्गर्भीकारात्, अत एव 'सुप्ताहिसदृशी' इत्युक्तम्, अत एव स्वभित्तावेव विश्वोल्लासनात् 'विश्वाधार उच्यते'—इत्युक्तम् । शक्तिरित्यनेन इतः

जाता है । शिवशक्ति के द्वारा अधिष्ठित वह अव्यक्त अक्षर ध्वनि समस्त प्राणियों में नदन करता है'' ॥ ३९३ ॥ (स्व०तं० १०।१२३३)

सुषुम्ना के ऊपर तीन नेत्रों वाला ब्रह्मबिल नामक आवरण है । उसमें श्वेतवर्ण वाले त्रिशूलधारी पाँच मुख वाले, मस्तक पर चन्द्र धारण कये हुए ब्रह्मा विराजमान हैं । उनकी गोद में मोक्षप्रदा परा देवी ब्रह्माणी विराजमान है ॥ ३९४-३९५- ॥

वहाँ = ब्रह्मबिल में । मोक्षमार्गगा = मोक्षमार्ग में स्थित । इसीलिए इसका उस (मोक्ष) के रोकने और देने में सामर्थ्य है—यही कहा गया है—मोक्षकी रोधिका और दायिका ॥ ३९४ ॥

(वह ब्रह्माणी) मोक्ष की रोधिका और दायिका है । उसका भेदन कर ऊर्ध्व कुण्डली शक्ति स्थित है । वह सोये हुये सर्प के समान है तथा विश्व का आधार कही जाती है । उसमें (चारो दिशाओं में) सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा तथा अन्य दो अमृता और अमिता है । मध्य में व्यापिनी है । उसमें व्यापिनीधर व्यापीश्वर हैं ॥ -३९५-३९७- ॥

उसका भेदन कर = उसके ऊपर । ऊर्ध्व कुण्डल—इस समस्त विश्व के उन्मिषित न होने से अन्तर्गर्भीकृत होने के कारण । इसीलिए—सुप्तसर्प के समान

प्रभृति शक्तितत्त्वम्—इत्यासूत्रितम् । तदुक्तं श्रीनन्दिशिखायाम्—

'तत ऊर्ध्वे शक्तितत्त्वं कथ्यमानं निबोध मे ।
प्रसुप्तभुजगाकारा ऊर्णातन्तुसमप्रभा ॥
आधारः सर्वतत्त्वानां भुवनानां च सुव्रते ।'

इति । 'तस्याम्' इति शक्तौ । तदुक्तम्—

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ।
व्यापिनी मध्यतो ज्ञेया शेषाः पूर्वादितः क्रमात् ॥'

(स्व० १०।१२९०) इति ।

'तस्याम्' इति व्यापिन्याम् । व्यापीश इति, यस्यानाश्रितभैरवापेक्षया पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थानम् ॥ ३९६ ॥

ननु व्यापिनी शक्तेः पृथगिति तावदविवादः, तत्किं तस्याः शक्तितत्त्वे एवावस्थानम् उत न ?—इत्याशङ्क्याह—

शक्तितत्त्वमिदं यस्य प्रपञ्चोऽयं धरान्तकः ॥ ३९७ ॥
शिवतत्त्वं ततस्तत्र चतुर्दिक्कं व्यवस्थिताः ।
व्यापी व्योमात्मकोऽनन्तोऽनाथस्तच्छक्तिभागिनः ॥ ३९८ ॥

'ऐसा कहा गया' । 'शक्ति'—इससे यहाँ से लेकर शक्ति तत्त्व है—ऐसा सङ्केत किया गया । वही नन्दिशिखा में कहा गया है—

"उसके ऊपर कथ्यमान शक्तितत्त्व को मुझसे जानो । हे सुव्रते ! वह सोये हुए सर्प के आकार वाली, ऊन के तन्तु के समान कान्ति वाली एवं सभी तत्त्वों और भुवनों का आधार है ।"

उसमें = शक्ति में । वही कहा गया है—

"सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता और अमिता (ये शक्तियाँ हैं, इनके) मध्य में व्यापिनी को जानना चाहिए, शेष क्रमशः पूर्व आदि के हिसाब से समझना चाहिये ।" (स्व०तं० १०।१२९०)

उसमें = व्यापिनी में । व्यापीश—जिनका अनाश्रित भैरव की अपेक्षा पूर्व दिशा में स्थान है ॥ ३९६ ॥

प्रश्न—व्यापिनी, शक्ति से पृथक् है—यह निर्विवाद है तो क्या वह शक्तितत्त्व में ही स्थित है या नहीं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

यह शक्तितत्त्व (में स्थित) है जिसका यह पृथ्वी पर्यन्त प्रपञ्च है । उसके ऊपर शिव तत्त्व है । उसमें चारो दिशाओं में उस-उस शक्ति के भागी व्योमात्मक, व्यापी, अनन्त, अनाथ व्यवस्थित हैं । मध्य में अनाश्रित

मध्ये त्वनाश्रितं तत्र देवदेवो ह्यनाश्रितः ।
तच्छक्त्युत्सङ्गभृत्सूर्यशतकोटिसमप्रभः ॥ ३९९ ॥

'शक्तितत्त्वम्' इति अनाश्रितभुवनम् । 'ततः' इति तच्छक्तितत्त्वमेवाश्रित्य—इत्यर्थः । तद्धि शक्तितत्त्वे एव व्यापिन्यामवस्थितम्—इति भावः । 'तत्र' इति अनाश्रितभुवने । 'तच्छक्तयो' व्यापिन्याद्याः । अनाश्रितमिति, भुवनम् । 'तच्छक्तिः' अनाश्रिता । तदुक्तम्—

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता ।
(स्व० १०।१२५०) इति ।

शिवतत्त्वमिति पुनः स्वार्थवृत्त्या यदि व्याख्यायेत तत्सर्वं व्याहन्येत । यतः

'एवं वै शिवतत्त्वं तु कथितं तव सुव्रते ।
शोधयित्वा ततश्चोर्ध्वं शक्तिश्चैव परा स्मृता ॥
समना नाम सा ज्ञेया........................ ॥
(स्व० १०।१२५४)

इत्याद्युक्त्या शिवतत्त्वादपि ऊर्ध्वं समना व्याप्नोतीति । तत्रापि

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (स्व० ४।४२९)

(भुवन) है वहाँ करोड़ों सूर्य के समान कान्ति वाले उस शक्ति की गोद को धारण करने वाले अनाश्रित देव विराजमान हैं ॥ -३९७-३९९ ॥

शक्ति तत्त्व = अनाश्रित भुवन । उसके बाद = उस शक्तितत्त्व का आश्रय करके । वह व्यापिनी शक्तितत्त्व में भी स्थित है । वहाँ = अनाश्रित भुवन में । वे शक्तियाँ = व्यापिनी आदि । अनाश्रित—भुवन । वह शक्ति = अनाश्रित शक्ति । वही कहा गया है—

"व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता और अनाथा (ये) अनाश्रित (शक्तियाँ) है ।" (स्व० १०।१२५०)

यदि 'शिव तत्त्व' पद की स्वार्थपरक व्याख्या की जाएगी तो सब गड़बड़ हो जाएगा । क्योंकि—

"हे सुव्रते ! इस प्रकार तुमसे शिवतत्त्व का कथन किया । (उसका) शोधन कर उसके ऊपर पराशक्ति मानी गयी है । उसे 'समना' (नाम से) समझना चाहिए ।" (स्व०तं० १०।१२५४)

इत्यादि उक्ति के द्वारा शिवतत्त्व से भी ऊपर समना (सबको) व्याप्त (कर स्थित) है । उसमें भी—

"हे वरारोहे ! समना तक अनन्त पाशजाल है ।" (स्व० ४।४२९)

इत्याद्युक्तेरनन्तं पाशजालं प्रसक्तं स्यात् । एवम्

'हेयाध्वानमधः कुर्वन् रेचयेत्तं वरानने ।
यावत्सा समना शक्तिस्तदूर्ध्वं चोन्मना स्मृता ॥'

(स्व० १०।१२७१)

इत्यादि व्याहतं स्यात् ।

'...................उन्मन्यन्ते परः शिवः ।'

इत्याद्यपि दुष्येत् समनाधस्तस्योक्तत्वात्, तस्यापि तत्त्वान्तरत्वे षट्त्रिंश-तत्त्वानि—इति प्रतिज्ञाहानिः । नास्य शिवतत्त्वस्य ऊर्ध्वमन्तर्वा समनापि त्वधस्तस्याः शक्तितत्त्व एवाम्नानात् । तदुक्तम्—

'प्रणवेन ततः शक्तिर्न्यसितव्या वरानने ।
व्यापिनीं समनां चोर्ध्वे तत्रैव तु विशोधयेत्॥' इति ।

अनाश्रितादीनां च शिवतत्त्वावस्थाने तस्यापि कालकलितत्वमापतेत् ते हि क्षयिणः । यदुक्तम् प्राक्—

'शक्तिः स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः ।
व्यापिन्यां तद्दिवारात्रं लीयते साप्यनाश्रिते ॥

इत्यादि उक्ति से अनन्त पाशजाल प्रसक्त है । तथा—

"हेय अध्वा को नीचे करते हुये, हे वरानने ! उसका त्याग (तब तक) करना चाहिए जब तक समना शक्ति (उपलब्ध न हो जाए) । उसके ऊपर उन्मना कही गई है ।" (स्व०तं० १०।१२७१)

इत्यादि का व्याधात हो जाएगा । तथा

"उन्मना के अन्त में परम शिव है ।"

इत्यादि कथन भी दूषित हो जाएगा क्योंकि उसे समना के नीचे कहा गया है। यदि उसे एक अतिरिक्त तत्त्व मान लें तो 'तत्त्व छत्तीस हैं' इस प्रतिज्ञा की हानि हो जायेगी । समना न तो इस शिव तत्त्व के ऊपर है औन न भीतर बल्कि नीचे है क्योंकि उसे शक्ति तत्त्व में कहा गया है । वही कहा है—

"हे वरानने ! उसके बाद प्रणव के द्वारा शक्ति का त्याग करना चाहिए और वहीं ऊपर व्यापिनी और समना का शोधन करना चाहिए ।"

अनाश्रित आदि की शिवतत्त्व में स्थिति मानने पर क्षयशील वे भी कालकलित हो जाऐंगे । जैसा कि पहले कहा गया है—

अपना काल समाप्त होने पर शक्ति व्यापिनी में लीन हो जाती है । फिर वह दिन-रात भी व्यापिनी में लीन हो जाता है ।

परार्धकोट्या हत्वा तु शक्तिकालमनाश्रिते ।
दिनं रात्रिश्च तत्काले परार्धगुणितेऽपि च ॥
सोऽपि याति लयं साम्यसंज्ञे सामनसे पदे ।'
(तं० ६।१६६) इति ।

ततश्च

'ऊर्ध्वमुन्मनसो यश्च तत्र कालो न विद्यते ।
न कल्पः कल्पते कश्चिन्निष्कलः कालवर्जितः ॥
यः शाङ्कर्युन्मनातीतः स नित्यो व्यापकोऽव्ययः ।'

इत्याद्याः श्रुतयो विरुद्धाः स्युः । न च अनाश्रितादीनां शिवतत्त्वेऽवस्थानमस्ति, अपि तु शक्तितत्त्वे एव व्यापिन्याम् । तदुक्तम्—

'अधो ब्रह्मबिलं देवि शक्तितत्त्वं ततः परम् ।
पञ्चकारणसंयुक्ता व्यापिनी तु तथा परा ॥
समना उन्मना चैव प्रक्रियाण्डैर्युता प्रिये ।' इति ।

तस्मादस्मदुक्तमेव व्याख्यानं युक्तमित्यन्यदुपेक्ष्यम् ॥ ३९९ ॥

शिवतत्त्वोर्ध्वतः शक्तिः परा सा समनाह्वया ।
सर्वेषां कारणानां सा कर्तृभूता व्यवस्थिता ॥ ४०० ॥

वह भी अनाश्रित में लीन हो जाती है परार्ध कोटि से गुणा करने पर शक्ति का काल अर्थात् उसका एक दिन और रात्रि होता है । उसे भी परार्ध से गुणा करने पर व्यापिनी का काल होता है । वह काल भी साम्य नामक समना तत्त्व में लीन होता है । (तं०आ० ६।१६६)

और उसके बाद—

"जो उन्मना के ऊपर है वहाँ काल नहीं है न किसी कल्प की कल्पना है । निष्कल कालरहित जो शाङ्करी उन्मनातीत (तत्त्व है) वह नित्य व्यापक और अव्यय है ।"

—इत्यादि श्रुतियाँ विरुद्ध हो जायेंगी । अनाश्रित आदि की शिव तत्त्व में नहीं बल्कि व्यापिनी शक्ति तत्त्व में स्थिति है । वही कहा गया है—

"हे देवि ! ब्रह्मबिल के नीचे परशक्ति तत्त्व है । व्यापिनी पाँच कारणों से युक्त है । हे प्रिये ! उसके बाद समना और उन्मना है । यही अण्डों से युक्त (साधन-) प्रक्रिया है ।

इस कारण हमारे द्वारा किया गया व्याख्यान ही युक्त है दूसरा (व्याख्यान) उपेक्षणीय है ॥ ३९९ ॥

शिवतत्त्व के ऊपर समना नामक पराशक्ति है । वह सभी कारणों की

बिभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समधिष्ठिता ।

'शिवतत्त्वोर्ध्वतः' इति व्यापिनीपदावस्थितानाश्रितभुवनादप्यूर्ध्वम्—इत्यर्थः । न चात्रैव अपूर्वतया तत्त्वशब्दस्य भुवनवाचित्वम्

'बिन्दुतत्त्वं समाख्यातं ....।' (स्व० १०।१२१७)

इत्यादावपि तथा प्रयोगदर्शनात् । कर्तृभूतेति, क्रियाशक्तिरूपत्वात् ॥ ४००॥

तदधिष्ठानमेव स्फुटयति—

तदारूढः शिवः कृत्यपञ्चकं कुरुते प्रभुः ॥ ४०१ ॥

शिव इति, यः सर्वत्र षट्त्रिंशत्तत्त्वतयोद्घोष्यते ॥ ४०१ ॥

नन्वयमेतदारूढः सन् कस्मात् सृष्ट्यादि विदध्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

समना करणं तस्य हेतुकर्तुर्महेशितुः ।

करणमिति, सृष्ट्यादिक्रियायाम् ॥

ननु सर्वत्र क्रियायां कर्त्रन्तरापेक्षित्वे कर्तुर्हेतुत्वं भवेत्—इति महेशितुरपि

कर्तृभूता मानी गयी है । शिव के साथ मिलकर वह अनेक अण्डों का भरण करती है ॥ ४००-४०१- ॥

शिवतत्त्व के ऊपर अर्थात् व्यापिनी पद में स्थित अनाश्रित भुवन के भी ऊपर। तत्त्व शब्द यहीं पर पहलेपहल भुवन का वाची है—ऐसा नहीं है । क्योंकि—

"बिन्दुतत्त्व कहा गया है ।" (स्व० तं० १०।१२१७)

इत्यादि स्थलों में भी वैसा (प्रयोग अर्थात् भुवनवाची) देखा जाता है । कर्तृभूता—क्योंकि क्रिया शक्ति रूप है ॥ ४००- ॥

उस अधिष्ठान को ही स्पष्ट करते हैं—

भगवान् शिव उस पर आरुढ़ होकर पञ्चकृत्य करते हैं ॥ -४०१ ॥

शिव—जो कि सर्वत्र ३६ तत्त्व के रूप में घोषित होते हैं ॥ ४०१ ॥

प्रश्न—इस पर आरूढ़ होकर क्यों सृष्टि आदि करते हैं? यह शङ्का कर कहते हैं—

समना, उस कारणों के कर्त्ता महेश्वर का करण है ॥ ४०२- ॥

करण है—सृष्टि आदि के करने में ॥

प्रश्न—सर्वत्र क्रिया में अतिरिक्त कर्त्ता की अपेक्षा होने पर कर्त्ता हेतु होता है।

तथात्वे परत्वोन्मुखतया स्वातन्त्र्यं खण्ड्येत,—इति किमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अनाश्रितं तु व्यापारे निमित्तं हेतुरुच्यते ॥ ४०२ ॥

'व्यापारे' इति सृष्ट्यादिक्रियायाम् । इह हि स एव परः परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् प्रथमं शून्यात्मतामवभासयन् अनाश्रितादिरूपतया प्रथितः—इत्यपेक्षणीयस्यैवाभावात् अस्यैव तावत् पारमार्थिकं शुद्धं कर्तृत्वम्, अनाश्रितादीनां तु तदधिष्ठानवशाद्भिन्नकार्यविषयमशुद्धमुपचरितप्रायं कर्तृत्वम्, अतश्चानाश्रितादिस्तदिच्छयैव सृष्ट्यादि करोति, इति तस्य साक्षात् तदावेशायोगात् तत्र निमित्तमात्रत्वं यथा विद्यया यशः,—इत्यादावित्युक्तं 'निमित्तं हेतुः' इति । यदाहुः—

'अनाश्रितं तु व्यापारे निमित्तं हेतुरिष्यते ।' इति ॥ ४०२ ॥

तदधिष्ठानेऽपि अस्य समनैव करणम्—इत्याह—

तयाधितिष्ठति विभुः कारणानां तु पञ्चकम् ।

अधितिष्ठतीति, स्वस्वातन्त्र्यच्छायानुवेधेन सृष्ट्यादिकारित्वे योग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥

इस प्रकार परमेश्वर के भी वैसा (= शिवतत्त्वारुढ़) होने पर परोन्मुख होने के कारण उनका स्वातन्त्र्य खण्डित हो जाएगा—तो यह कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

व्यापार में अनाश्रित निमित्त कारण कहा जाता है ॥ -४०२ ॥

व्यापार में = सृष्टि आदि कार्यों में । परम परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य वश पहले शून्यता को अवभासित करते हुए अनाश्रित आदि रूपों में व्याप्त होते हैं । इस प्रकार अपेक्षणीय के अभाव में इन्हीं की पारमार्थिक शुद्धकर्त्तृता है । अनाश्रित आदि की कर्त्तृता तो उन (= परमशिव) के अधिष्ठान के कारण भिन्नकार्यविषयक अशुद्ध और उपचरितप्राय (= लाक्षणिक) है । इसलिए अनाश्रित आदि भी उन्हीं की इच्छा से सृष्टि आदि करते हैं । इस प्रकार उनका साक्षात् शिवावेश होने के कारण उसमें निमित्तता है जैसे कि विद्या के द्वारा यश इत्यादि के विषय में । इसलिए कहा गया—निमित्त हेतु । जैसा कि कहते हैं—

"व्यापार में अनाश्रित (शिव) निमित्त कारण कहा जाता है" ॥ ४०२ ॥

इनके उस अधिष्ठान में भी समना ही कारण है—यह कहते हैं—

"उसके द्वारा परमेश्वर पाँच कारणों को अधिष्ठित करते हैं" ॥ ४०३- ॥

अधिष्ठित करते हैं—अपने स्वातन्त्र्य की छाया के अनुवेध से सृष्टि आदि के

एतच्च कथम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अनाश्रितोऽनाथमयमनन्तं खवपुः सदा ॥ ४०३ ॥
स व्यापिनं प्रेरयति स्वशक्त्या करणेन तु ।
कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली ॥ ४०४ ॥
नादबिन्द्वादिकं कार्यमित्यादिजगदुद्भवः ।

'खवपुः' व्योमात्मा, स्वशक्त्येति । तथा हि शिवस्य सृष्ट्यादौ समना करणं तथैषामपि अनाश्रिताद्याः स्वाः शक्तय इति । कर्मरूपेति, सृष्ट्यादिक्रिया-विशेषकत्वात्, मायाशक्तिरेव हि पारमेश्वरी तत्तन्नादबिन्द्वात्मविश्वरूपतया प्रस्फुरति—इत्यभिप्रायः । शक्तिकुण्डलीति, अशेषस्य विश्वस्य स्वतादात्म्येन गर्भीकारात् ॥ ४०४ ॥

इयच्च विश्वं हेयमेव—इत्याह—

यत्सदाशिवपर्यन्तं पार्थिवाद्यं च शासने ॥ ४०५ ॥
तत्सर्वं प्राकृतं प्रोक्तं विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ।

सदाशिवोऽत्रानाश्रितः, प्रकृतिश्च समना, तस्या एव मूलप्रकृतित्वात् ॥४०५॥

कर्त्ता होने में योग्य बनाते हैं ॥

यह कैसे होता है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

वह आकाशरूप अनाश्रित (देव) अपनी (अनाश्रित) शक्ति रूपी करण के द्वारा अनाथमय अनन्त व्यापिनी शक्ति को प्रेरित करते हैं । कर्मरूपा माया स्थित है । जिसके नीचे शक्ति कुण्डली नाद बिन्दु आदि कार्य हैं और (इस प्रकार) प्रथम-प्रथम संसार की उत्पत्ति होती है ॥ -४०३-४०५- ॥

खवपुः = आकाशात्मा । अपनी शक्ति के द्वारा—जैसे सृष्टि आदि के विषय में समना शिव की शक्ति है उसी प्रकार इनकी भी अनाश्रित आदि अपनी शक्तियाँ हैं । कर्मरूप—सृष्टि आदि क्रियाविशेष वाली होने से, पारमेश्वरी माया शक्ति ही भिन्न-भिन्न नाद बिन्दु रूप विश्व के रूप में स्फुरित होती है । शक्तिकुण्डली—क्योंकि समस्त विश्व को अपने रूप में गर्भीकृत किये रहती है ॥ ४०४ ॥

इतना बड़ा विश्व त्याज्य है—यह कहते हैं—

पृथिवी से लेकर सदाशिव पर्यन्त जो (परमेश्वर के) शासन में है (या) शास्त्र में (वर्णित है) विनाश और उत्पत्ति से युक्त वह सब प्राकृत कहा गया है ॥ -४०५-४०६- ॥

यहाँ अनाश्रित (का तात्पर्य) है—सदाशिव । प्रकृति (का तात्पर्य) है—समना

एवं पुरमानतत्त्वयोजनात्म प्रमेयद्वयमभिधाय पुरसंग्रहाख्यं प्रमेयमासूत्रयितुमुपक्रमते—

अथ सकलभुवनमानं यन्मह्यं निगदितं निजैर्गुरुभिः ॥ ४०६ ॥
तद्वक्ष्यते समासाद् बुद्धौ येनाशु सङ्क्रामेत् ।

येनेति, समासाभिधानेन, अत एवैतन्निष्प्रयोजनं न—इत्याशयः ॥ ४०६ ॥

तदेवाह—

अण्डस्यान्तरनन्तः कालः कूष्माण्डहाटकौ ब्रह्महरी ॥ ४०७ ॥
रुद्राः शतं सवीरं बहिर्निवृत्तिस्तु साष्टशतभुवना स्यात् ।
जलतेजःसमीरनभोऽहंकृद्धीमूलसप्तके प्रत्येकम् ॥ ४०८ ॥
अष्टौ षट्पञ्चाशद्भुवना तेन प्रतिष्ठेति कला कथिता।
अत्र प्राहुः शोध्यानष्टौ केचिन्निजाष्टकाधिपतीन् ॥ ४०९ ॥
अन्ये तु समस्तानां शोध्यत्वं वर्णयन्ति भुवनानाम् ।
श्रीभूतिराजमिश्रा गुरवः प्राहुः पुनर्बही रुद्रशतम् ॥ ४१० ॥
अष्टावन्तः साकं सर्वेणेतीदृशी निवृत्तिरियं स्यात् ।

क्योंकि वही मूलप्रकृति है ॥ ४०५ ॥

इस प्रकार पुर का परिमाण एवं तत्त्वयोजना रूप दो प्रमेयों का कथन कर पुरसंग्रह नामक प्रमेय का वर्णन करने के लिए प्रारम्भ करते हैं—

अब जो अपने गुरुओं के द्वारा मुझे बतलाया गया वह समस्त भुवनों का परिमाण संक्षेप में कहूँगा जिससे कि वह बुद्धि में शीघ्र प्रवेश कर जाए ॥ -४०६-४०७- ॥

जिससे = संक्षिप्त कथन से । इसलिए यह (कथन) निष्प्रयोजन नहीं है—यह अभिप्राय है ॥ ४०६ ॥

वही कहते हैं—

(पार्थिव) अण्ड के भीतर अनन्तकाल, कूष्माण्ड, हाटक, ब्रह्मा और हरि तथा वीरों के साथ शतरुद्र हैं । बाहर की ओर एक सौ आठ भुवन वाली निवृत्ति कला है । जल तेज वायु आकाश अहङ्कार बुद्धि और मूल (प्रकृति इन) सात में प्रत्येक के अन्दर आठ इस प्रकार छप्पन (८ × ७ = ५६) भुवन हैं । इससे यह प्रतिष्ठा कला कही गई है । यहाँ पर आठ को शोधनीय बतलाते हैं । कुछ लोग अपने आठ अधिपतियों को (शोध्य बतलाते हैं) । दूसरे लोग समस्त भुवनों को शोध्य मानते हैं । श्री भूतिराज मिश्र गुरु का कथन है कि बाहर एक सौरुद्र और भीतर शर्व के

रुद्राः काली वीरो धराब्धिलक्ष्म्यः सरस्वती गुह्यम् ॥ ४११ ॥
इत्यष्टकं जलेऽग्नौ वह्न्यतिगुह्यद्वयं मरुति वायोः ।
स्वपुरं गयादि खे च व्योम पवित्राष्टकं च भुवनयुगम् ॥ ४१२ ॥
अभिमानेऽहङ्कारच्छगलाद्यष्टकमथान्तरा नभोऽहंकृत् ।
तन्मात्रार्केन्दुश्रुतिपुराष्टकं बुद्धिकर्मदेवानाम् ॥ ४१३ ॥
दश तन्मात्रसमूहे भुवनं पुनरक्षवर्गविनिपतिते ।
मनसश्चेत्यभिमाने द्वाविंशतिरेव भुवनानाम् ॥ ४१४ ॥
धियि दैवीनामष्टौ क्रुत्तेजो योगसंज्ञकं त्रयं तदुमा ।
तत्पतिरथ मूर्त्यष्टकसुशिवद्वादशकवीरभद्राः स्युः ॥ ४१५ ॥
तदथ महादेवाष्टकमिति बुद्धौ सप्तदश संख्या ।
गुणतत्त्वे पङ्क्तित्रयमिति षट्पञ्चाशतं पुराणि विदुः ॥ ४१६ ॥

अण्डस्यान्तर्बहिः साष्टशतभुवना निवृत्तिः स्यादिति संबन्धः । यद्वा- अन्तः-शब्दः प्रागेव व्याख्यातः । तदुक्तम्—

'निवृत्त्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा ।
तस्यां च भुवनानां तु शतमष्टोत्तरावधि ॥'

(स्व० ४।१०३) इति ।

साथ आठ-ऐसी यह निवृत्ति कला है । (ग्यारह) रुद्र, काली, वीर, धरा, अब्धि, लक्ष्मी, सरस्वती, गुह्य (अष्ठका) ये आठ जल तत्त्व में है । अग्नितत्त्व में वह्नि और अतिगुह्य दो, मरुत् में वायु का अपना पुर गया आदि, आकाश में व्योम तथा पवित्राष्टक ये दो भुवन, अभिमान में अहङ्कार और छगल आदि आठ, नभ एवं अहङ्कार के बीच (पाँच) तन्मात्रायें, सूर्य, चन्द्र, श्रुति, आठ पुर तथा इन्द्रियसमूह के हट जाने पर बुद्धि एवं कर्म इन्द्रियों के देवों का दश भुवन, तन्मात्रसमूह में रहते हैं । अभिमान में मन के २२ भुवन हैं । बुद्धि तत्त्व में देवी के आठ भुवन हैं । क्रोधाष्टक तेजोऽष्टक योगाष्टक उमा और उनके पति, मूर्त्यष्टक, सुशिव, द्वादश वीरभद्र और महादेवाष्टक ये १७ बुद्धितत्त्व के भुवनेश हैं । गुण तत्त्व में (गुरु शिष्य की) तीन पंक्तियाँ है । इस प्रकार ५६ पुर माने गए हैं ॥ -४०७-४१६ ॥

अण्ड के भीतर और बाहर १०८ भुवनों वाली निवृत्ति कला है ।—ऐसा सम्बन्ध है । अथवा अन्तः शब्द की पहले ही व्याख्या की गई । वही कहा गया है—

"निवृत्ति कला के भीतर पृथिवी सौ करोड़ योजन विस्तृत है । उसमें एक सौ आठ भुवन है ।" (स्व० तं० ४।१०३)

अष्टाविति, गुह्याष्टकादीनि योगाष्टकान्तानि सप्ताष्टकानि—इत्यर्थः । तेनेति सप्तकस्याष्टभिर्गुणनात् । तदुक्तम्—

'प्रतिष्ठाया भवेद्व्याप्तिश्चतुर्विंशतितत्त्विका ।
षट्पञ्चाशद्भुवनिका .... ॥'

(स्व० ४।१४९) इति ।

अत्रेति प्रतिष्ठायाम् । अष्टाविति, क्रोधाष्टकेन सह । समस्तानामिति षट्पञ्चाशतोऽपि, मिश्राः प्रधानाः । शर्वेणेति, भूर्लोकाधिपतिना, तेन वीरभद्र-स्थानेऽयमिति गणनासाम्यम् । 'रुद्राः' एकादश । गुह्यमिति, गुह्याष्टकभुवनम् । अन्तरा नभोऽहङ्कृदिति, अहङ्कारनभसोरन्तः—इत्यर्थः । तन्मात्रेति पञ्च, बुद्धिकर्मदेवानामिति बुद्धिकर्मेन्द्रियदशकस्य—इत्यर्थः । तन्मात्रसमूहे भुवनमिति पञ्चार्थमण्डलाख्यम्—इत्यर्थः । नन्वेषामुक्तेऽपि भुवनपञ्चके कस्मात्पुनरेतदुच्यते ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'अक्षवर्गनिपतितः' इति । एतद्धि एषां मनोऽधिष्ठानेनैव भवेदिति अत्र पुनः परेणापि रूपेणावस्थानमिति भावः । क्रुत्तेजोयोगसंज्ञकानिति अर्थात्क्रोधाद्यष्टकत्रयाधिष्ठेयं भुवनत्रयम्, पङ्क्तित्रयमिति गुरुशिष्यविषयम् । षट्-पञ्चाशतं पुराणीति, जलतत्त्वेऽष्टौ भुवनानि, तेजःप्रभृतौ तत्त्वत्रये प्रत्येकं द्वयमिति षट्, अहङ्कारे द्वाविंशतिः, बुद्धौ सप्तदश, गुणेषु च त्रीणीति ॥ ४१६ ॥

आठ—गुह्याष्टक से लेकर योगाष्टक तक सात अष्टक । इस प्रकार—सात का आठ से गुणन करने पर । वही कहा गया है—

"प्रतिष्ठा की व्याप्ति चौबीस तत्त्वों और छप्पन भुवनों वाली है ।" (स्व० तं० ४।१४९)

यहाँ = प्रतिष्ठा में । आठ—क्रोधाष्टक के साथ । सबका = छप्पनों का । मिश्र = प्रधान । शर्व के द्वारा = भूर्लोक के अधिपति के द्वारा । इससे वीरभद्र के स्थान में यह है—इस प्रकार गणना समान हो जाती है । रुद्र = ग्यारह । गुह्य = गुह्याष्टक भुवन । अन्तरा नभोऽहङ्कृत् = अहङ्कार और आकाश के भीतर । तन्मात्र—पाँच तन्मात्रायें । बुद्धि कर्मदेवों का = दश ज्ञान एवं कर्म इन्द्रियों का । तन्मात्र समूह में भुवन = पञ्चार्थ मण्डल नामक । प्रश्न—इनके पाँच भुवनों के कहे जाने पर भी फिर यह क्यों कहते हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—अक्षवर्ग निपतित । यह इनके मनोऽधिष्ठान से ही होता है इसलिए यहाँ पर रूप से भी स्थिति रहती है । क्रुत्तेजोयोगसंज्ञा वाले = क्रोध आदि अष्टकत्रय के द्वारा अधिष्ठेय तीन भुवन । तीन पंक्ति = यह गुरु और शिष्य का विषय है । ५६ पुर = जल तत्त्व में ८ भुवन, तेजः आदि तीन तत्त्वों में प्रत्येक में दो इस प्रकार ६, अहङ्कार में २२, बुद्धि में १७ और गुणों में ३, इस प्रकार ८ + ६ + २२ + १७ + ३ = ५६ भुवन हैं ॥ ४१६ ॥

नन्वत्र जलादौ सर्वेषु तत्त्वेषु भुवनानि शोध्यतयोक्तानि प्रकृतौ पुनः कस्मान्न ?—इत्याशङ्क्याह—

यद्यपि गुणसाम्यात्मनि मूले क्रोधेश्वराष्टकं तथापि धियि।
तच्छोधितमिति गणनां न पुनः प्राप्तं प्रतिष्ठायाम् ॥ ४१७ ॥
इति जलतत्त्वान्मूलं तत्त्वचतुर्विंशतिः प्रतिष्ठायाम् ।
अम्बादितुष्टिवर्गस्ताराद्याः सिद्धयोऽणिमादिगणः ॥ ४१८ ॥
गुरवो गुरुशिष्या ऋषिवर्ग इडादिश्च विग्रहाष्टकयुक् ।
गन्धादिविकारपुरं बुद्धिगुणाष्टकमहंक्रिया विषयगुणाः ॥ ४१९ ॥
कामादिसप्तविंशकमागन्तु तथा गणेशविद्येशमयौ ।
इति पाशेषु पुरत्रयमित्थं पुरुषेऽत्र भुवनषोडशकम् ॥ ४२० ॥
नियतौ शङ्करदशकं काले शिवदशकमिति पुरद्वितयम् ।
रागे सुहृष्टभुवनं गुरुशिष्यपुरं च वित्कलायुगले ॥ ४२१ ॥
भुवनं भुवनं निशि पुटपुरत्रयं वाक्पुरं प्रमाणपुरम् ।
इति सप्तविंशतिपुरा विद्या पुरुषादितत्त्वसप्तकयुक् ॥ ४२२ ॥
वामेशरूपसूक्ष्मं शुद्धं विद्यार्थ शक्तितेजस्विमितिः ।
सुविशुद्धिशिवौ मोक्ष ध्रुवेषिसंबुद्धसमयसौशिवसंज्ञाः॥ ४२३ ॥

प्रश्न—जल आदि सभी तत्त्वों में भुवनों को शोध्य रूप में कहा गया है प्रकृति में क्यों नही कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते है—

यद्यपि गुणों की साम्यावस्थारूप मूल प्रकृति में आठ क्रोधेश्वर हैं तो भी बुद्धि तत्त्व में उनका शोधन कर दिया गया है । इसलिए प्रतिष्ठा में (वे) गणना को प्राप्त नहीं हुये । इस प्रकार जल तत्त्व से लेकर मूल प्रकृति तक चौबीस तत्त्व प्रतिष्ठा कला में है । अम्बा आदि तुष्टिसमूह, तार आदि सिद्धियाँ, अणिमादिसमूह, गुरु, गुरुशिष्य, ऋषिवर्ग, आठ विग्रह से युक्त इडा आदि नाड़ियाँ, गन्ध आदि विकारभुवन, आठ बुद्धिगुण, अहङ्कार, विषय में रहने वाले गुण, काम आदि सत्ताईस आगन्तुक विषय, तथा गणेश एवं विद्येश वाले ये पाशों में तीन पुर है । इस प्रकार इस पुरुष तत्त्व में सोलह भुवन हैं । नियति तत्त्व में दश शङ्कर, काल में दश शिव इस प्रकार दो पुर हैं । राग तत्त्व में सुहृष्ट भुवन और गुरुशिष्यपुर है । विद्या एवं कला इन दो तत्त्वों में एक-एक भुवन हैं । निशा (= माया) में तीन भुवनों का पुर है । वाक् पुर एवं प्रमाण पुर इस प्रकार विद्या सत्ताईस पुरों वाली है । यह पुरुष आदि सात तत्त्वों से युक्त है। वामा आदि शक्तियाँ उनके तत्त्व ईश रूप सूक्ष्म, शुद्धविद्यावरण, शक्त्यावरण, तेजस्वी आवरण भग्नावरण, सुशिव और शुद्ध शिव का

सप्तदशपुरा शान्ता विद्येशसदाशिवपुरत्रितययुक्ता ।
बिन्द्वर्धेन्दुनिरोध्य: परसौशिवमिन्धिकादिपुरसौषुम्ने ॥ ४२४ ॥
परनादो ब्रह्मबिलं सूक्ष्मादियुतोर्ध्वकुण्डली शक्तिः ।
व्यापिव्योमानन्तानाथानाश्रितपुराणि पञ्च ततः ॥ ४२५ ॥
षष्ठं च परममनाश्रितमथ समनाभुवनषोडशी यदि वा ।
बिन्द्वावरणं परसौशिवं च पञ्चेन्धिकादिभुवनानि ॥ ४२६ ॥
सौषुम्नं ब्रह्मबिलं कुण्डलिनी व्यापिपञ्चकं समना ।
इति षोडशभुवनेयं तत्त्वयुगं शान्त्यतीता स्यात् ॥ ४२७ ॥

तत्त्वचतुर्विंशतिरिति प्रकृतितत्त्वस्य क्षुब्धाक्षुब्धतया द्वैविध्यात् । गुरव इति, तत्रापि गुरुशिष्यविषयं पङ्क्तित्रयमुक्तम् । विषयेति, विकारषोडशकानन्तर्येण व्याख्याताः शब्दादयः पञ्च, गुणा देहधर्मत्वेन प्रागुक्ता अहिंसादयः । चः समुच्चये, तेन रागतत्त्वे वीरेशभुवनं गुरुशिष्यभुवनं च, इति भुवनद्वयम् । भुवनं भुवनमिति वामादिशक्तिनवकस्य महादेवत्रयस्य च । पुटपुरत्रयमिति त्रिपुटत्वमस्याः । वाक्पुरं योन्याख्याया वागीश्या भुवनम् । सप्तविंशतिपुरेति, तदुक्तम्—

'पुंस्तत्त्वाद्यावन्मायान्तं विद्याया व्याप्तिरिष्यते ।

आवरण, मोक्ष, ध्रुव, इच्छा रूपी आवरण, प्रबुद्ध, समय और सौशिव नाम के सत्रह पुरों वाली शान्ता कला है । (यह) विद्येश्वर सदाशिव और तीन पुरों से युक्त है। विन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिनी, पर सदाशिव, इन्धिका आदि पुर सुषुम्ना में हैं । पर नाद ब्रह्मबिल सूक्ष्म आदि से युक्त ऊर्ध्व कुण्डली, शक्ति, व्यापि व्योम, अनन्त, अनाथ, अनाश्रित ये पाँच पुर हैं । इसके बाद छठाँ पुर अनाश्रित पुर है । इस के बाद समना सोलह भुवनों वाली है । अथवा बिन्दु आवरण और पर सदाशिव पाँच इन्धिका आदि भुवन, सुषुम्ना वाला ब्रह्मबिल, कुण्डलिनी, पाँच व्यापी, समना इस प्रकार शान्त्यतीता सोलह भुवनों वाली है ॥ ४१७-४२७ ॥

इसके बाद चौबीस (तत्त्व)—क्योंकि प्रकृति तत्त्व क्षुब्ध अक्षुब्ध रूप से दो प्रकार का है । गुरुजन—वहाँ भी तीन पंक्तियाँ गुरुशिष्यविषयक हैं । विषय—सोलह विकार के बाद बतलाये गए शब्द आदि पाँच विषय, गुण = देह धर्म के रूप में पूर्व कथित अहिंसा आदि । 'च' का प्रयोग समुच्चय अर्थ में है । इसलिए एक तत्त्व में वीरेश भुवन और गुरु शिष्य भुवन इस प्रकार दो भुवन हैं । भुवन-भुवन = वामा आदि नव शक्तियों तथा तीन महादेव का भुवन । पुटपुरत्रय = इसका तीन पुर है । वाक्पुर योनि नामक वागीश्वरी का भुवन है । सत्ताईस पुरों वाली—वही कहा गया है—

"पुंस्तत्त्व से मायातत्त्व तक विद्या की व्याप्ति मानी जाती है इसमें सात तत्त्व

सप्त तत्त्वानि भुवनसप्तविंशतिरेव च ॥'

(स्व० ४।१७३) इति ।

वामेति, वामाद्या नव शक्तयः । 'ईशः' ईश्वरः । रूपेत्यादि सर्वमावरणान्तं प्रागुक्तम् । तेजस्विप्रधाना चासौ मितिर्मानावरणम्—इत्यर्थः । 'इषिः' इच्छा । सप्तदशपुरेति, तदुक्तम्—

'...................... विद्यातत्त्वात्सदाशिवम् ।
तत्त्वानां त्रितये व्याप्तिर्वर्णानां त्रय एव च ॥
पदैकादशिका ज्ञेया पुराणि दश सप्त च । (स्व० ४।१८५)

इति । परसौशिवमिति, यत्र परेण रूपेण सदाशिवः । अनाश्रितमिति सर्वाश्रयत्वात् । 'यदि वां' इति पक्षान्तरे, षोडशभुवनेति, तदुक्तम्—

पदमेकं मन्त्र एको वर्णाः षोडश कीर्तिताः ।
भुवनानि सुसूक्ष्माणि शान्त्यतीते विभावयेत् ॥
(स्व० ४।१९७) इति ॥ ४२७ ॥

एवं श्रीस्वच्छन्दप्रक्रियया विभागमभिधाय शास्त्रान्तरप्रक्रमेणाप्याह—

श्रीमन्मतङ्गशास्त्रे च क्रमोऽयं पुरपूगगः ।

और सत्ताईस भुवन है ।'' (स्व०तं० ४।१७३)

वामा—वामा आदि नव शक्तियाँ । ईश = ईश्वर । रूप इत्यादि सब आवरणपर्यन्त पहले कहा गया है । (तेजस्विमितिः की व्याख्या करते हैं—) तेजस्विप्रधानामितिः = मानावरण । इषि = इच्छा । सत्रह पुरों वाली—वही कहा गया है—

''विद्या तत्त्व से लेकर सदाशिव तक तीनों तत्त्वों तथा (क, ख, ग) तीन वर्णों में (शान्ता की) व्याप्ति है । ग्यारह पदों को जानना चाहिए (सदाशिव तत्त्व में) सत्रह पुरों का शोधन करना चाहिये ।'' (स्व० तं० ४।१८५)

परसौशिव—जहाँ पर रूप से सदाशिव हैं । अनाश्रित—क्योंकि वे सबके आश्रय हैं (और उनका कोई आश्रय नहीं है)। 'यदि वा' यह पक्षान्तर अर्थ में कहा गया है । सोलह भुवनों वाली—वही कहा गया है—

''एक पद, एक मन्त्र और सोलह वर्ण कहे गए हैं । सूक्ष्म भुवनों को शान्त्यतीता में समझना चाहिए'' ॥ ४१७-४२७ ॥ (स्व०तं० ४।१९७)

इस प्रकार स्वच्छन्द तंत्र की रीति से विभाग का कथन कर दूसरे शास्त्र के क्रम से भी कहते हैं—

मतङ्गशास्त्र में पुरसमूहगामी क्रम यह है ॥ ४२८- ॥

अयमिति वक्ष्यमाणः ॥

तदाह—

कालाग्निर्नरकाः खाब्धियुतं मुख्यतया शतम् ॥ ४२८ ॥
कूष्माण्डः सप्तपाताली सप्तलोकी महेश्वरः ।
इत्यण्डमध्यं तद्बाह्ये शतं रुद्रा इति स्थिताः ॥ ४२९ ॥
स्थानानां द्विशती भूमिः सप्तपञ्चाशता युता ।
पञ्चाष्टकस्य मध्याद् द्वात्रिंशद्भूतचतुष्टये ॥ ४३० ॥
तन्मात्रेषु च पञ्च स्युर्विश्वेदेवास्ततोऽष्टकम् ।
पञ्चमं सेन्द्रिये गर्वे बुद्धौ देवाष्टकं गुणे ॥ ४३१ ॥
योगाष्टकं क्रोधसंज्ञं मूले काले सनैयते ।
पतद्रुगाद्याश्चाङ्गुष्ठमात्राद्या रागतत्त्वगाः ॥ ४३२ ॥
द्वादशैकशिवाद्याः स्युर्विद्यायां कलने दश ।
वामाद्यास्त्रिशती सेयं त्रिपर्वण्यब्धिरस्ययुक् ॥ ४३३ ॥

खाब्धीति चत्वारिंशत् । महेश्वरो रुद्रः । पञ्चममष्टकमिति स्थाण्वाख्यम् । पतद्रुगाद्या अष्टौ । अङ्गुष्ठमात्राद्या अपि अष्टौ । कलने कलायाम् । त्रिपर्वणीति, त्रिभिर्भूतभावतत्त्वाख्यैः पर्वभिर्युक्ते कलादिक्षितिपर्यन्ते पत्यादिपदार्थापेक्षया तृतीयस्मिन्पदार्थे । यदुक्तं तत्रैव—

यह = वक्ष्यमाण ।

वही कहते हैं—

कालाग्नि नरक मुख्यतया १४० हैं । कूष्माण्ड, सप्तपाताली, सप्तलोकी, महेश्वर ये अण्ड के मध्य में हैं । उसके बाहर १ सौ रुद्र स्थित हैं । भूमि २५७ भुवनों की है । ४० में से ३२ चार भूतों में से हैं । तन्मात्राओं में पाँच (भुवन) इसके बाद आठ विश्वेदेव के भुवन हैं । इसके बाद इन्द्रियों से युक्त अभिमान में पाँचवा अष्टक है । बुद्धि में देवाष्टक और गुण में योगाष्टक, मूल प्रकृति में क्रोधसंज्ञक, नियति युक्त काल में पतद्रुक् आदि, राग तत्त्व में अंगुष्ठमात्र आदि, विद्या में बारह एकशिव आदि कला में दश, वामा आदि (शक्तियाँ) तीन सौ है । तीन पर्वों वाली वह यह (कला) है इसमें अब्धि = ४ रस ही रस्य है = ६ इस प्रकार ६४ भुवनेश हैं ॥ -४२८-४३३ ॥

खाब्धि = ४० । महेश्वर = रुद्र । पाँचवा अष्टक = स्थाणु नामक पतद्रुक् आदि आठ । अंगुष्ठमात्र आदि भी आठ । कलन में = कला में । त्रिपर्वणी = भूत भाव और तत्त्व नामक तीन पर्वों से युक्त कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त पति

'ये भूतभावतत्त्वाख्या मायातः क्षरिताः सदा ।
स पदार्थस्त्रिपर्वायं तृतीयः शिवशासने ॥'

(मतङ्ग० १ प०) इति ।

अब्धिरस्ययुगिति, रसनीया 'रस्या' रसाः षट् तेन चतुःषष्टिरित्यर्थः ॥४३३॥

भुवनेश्वराश्चात्र विचित्राः—इत्याह—

शैवाः केचिदिहानन्ताः श्रैकण्ठा इति संग्रहः ।

एषां च शिवादिदीक्षितत्वादेवमभिधानम् । यदाहुः—

'कलाग्निर्नरकाणां तु चत्वारिंशच्छतं ततः ।
कूष्माण्डः सह पातालैः सप्तभिर्लोकसप्तकम् ॥
रुद्रश्चेत्यण्डमध्येऽयं ततो रुद्रशतं बहिः ।
स्थानानां द्वे शते क्ष्मैवं सप्तपञ्चाशता युता ॥
पञ्चाष्टकानां द्वात्रिंशत्ततो भूतचतुष्टये ।
तन्मात्रेषु ततः पञ्च विश्वेदेवास्ततोऽष्टकम् ॥
पञ्चाष्टकानां षष्ठं यत् सेन्द्रिये गर्व एव तत् ।
स्थितं बुद्धौ ततो देवा अष्टावष्टौ च योगिनः ॥

आदि पदार्थों की अपेक्षा तीसरे पदार्थ में । जैसा कि वहीं कहा गया—

"जो भूत भाव और तत्त्व नामक (पदार्थ) माया से सदा क्षरित होते रहते हैं शिव शास्त्र में यह तीसरा त्रिपर्वा पदार्थ है । (मह० १ प०)

अब्धिरस्ययुक्—जो रसनीय है वही रस्य है = रस = छ । इस प्रकार चौसठ (६४) ॥ ४३३ ॥

यहाँ भुवनेश्वर विचित्र है—यह कहते हैं—

कुछ लोग मानते हैं कि यहाँ आनन्त श्रैकण्ठ से उद्भूत शैव हैं—यह संक्षेप (में कथन) है ॥ ४३४- ॥

शिव आदि से दीक्षित होने के कारण इनके विषय में ऐसा कथन है । जैसा कि कहते है—

"कालाग्नि १४० नरकों के स्वामी हैं । कुष्माण्ड पातालों के साथ ७ लोक (के भुवनेश्वर) हैं और रुद्र अण्ड के बीच में है । इसके बाद बाहर १०० रुद्र हैं । इस प्रकार पृथिवी के २५७ भुवन हैं (= १४० + ७ + १००) इसके बाद पञ्चाष्टक = ४० में से ३२ चारों भूतों के लिए हैं । इसके बाद तन्मात्राओं के पाँच (भुवन) हैं इसके बाद अष्ट विश्वेदेव हैं । जो पञ्चाष्टकों में छठाँ अष्टक है वह इन्द्रियों से युक्त अहङ्कार में स्थित है । इसके बाद बुद्धि में आठ देव हैं । गुणों में

गुणेष्वष्टौ तथाऽव्यक्ते क्रोधाद्याः परतस्ततः ।
काले नियतिसंयुक्ते पतद्रुक्प्रमुखास्ततः ॥
अङ्गुष्ठाद्यास्तु रागेऽष्टौ द्वादशैकशिवादयः ।
विद्यायां तु कलातत्त्वे वामाद्याः परतो दश ॥
एवं त्रिपर्वणि प्रोक्तं भुवनानां शतत्रयम् ।
चतुःषष्ट्यधिकं तेषु विचित्रा भुवनेश्वराः ॥
शैवाः केचित्तथानन्ताः श्रैकण्ठाः केचिदेव तु ।

(म०त०वृ०) इति ।

अत्र च साक्षादागमे संवादिते ग्रन्थविस्तरः स्यात्—इति तद्वृत्तिकृदुक्तं संवादितम् ॥ ४३३ ॥

नन्वेवं भुवनविभागप्रदर्शनेन कोऽर्थः ?—इत्याशङ्क्याह—

यत्र यदा परभोगान् बुभुक्षते तत्र योजनं कार्यम् ॥ ४३४ ॥
शोधनमथ तद्धानौ शेषं त्वन्तर्गतं कार्यम् ।
इत्यागमं प्रथयितुं दर्शितमेतद्विकल्पितं तेन ॥ ४३५ ॥

यदुक्तम्—

'यो यत्राभिलषेद्भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात्.......................॥' इति ।

आठ योगी है । अव्यक्त में क्रोध आदि आठ है । उसके परे नियतियुक्त काल में पतद्रुक् आदि हैं । उसके बाद राग तत्त्व में अंगुष्ठ आदि आठ है । विद्या में बारह एक शिव आदि हैं । कला तत्त्व में वामा आदि दश हैं । इस प्रकार त्रिपर्व में तीन सौ चौंसठ भुवन कहे गए हैं उनमें विचित्र भुवनेश्वर हैं जिनमें कुछ शैव कुछ आनन्त और कुछ श्रीकण्ठ से प्रसूत हैं।'' (म०त०वृ०)

यहाँ साक्षात् आगम के कथन पर ग्रन्थ विस्तृत हो जाता इसलिए वृत्तिकार का वचन कहा गया ॥ ४३३ ॥

प्रश्न—इस प्रकार भुवनों के विभाग के प्रदर्शन से क्या तात्पर्य है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो जब जहाँ पर भोगों को भोगना चाहते हैं उनका वहाँ योजन करना चाहिए । अथवा उसकी हानि होने पर शोधन करना चाहिए । शेष को बीच में कर लेना चाहिए । इसलिए उसके द्वारा इस आगम को व्यापक बनाने के लिए यह विकल्प दिखाया गया ॥ -४३४-४३५ ॥

जैसा कि कहा गया है—

''जो जहाँ (= जिस भुवन में) भोगों की अभिलाषा करता है वह वहीं

अथेति पक्षान्तरे । 'तद्धानौ' इति भोगेच्छात्यागे—इत्यर्थः । अन्तर्गतमिति, प्रधानशुद्धयैव तच्छुद्धम् । दर्शितमिति, अन्यथा हि कथमेवं परिज्ञानं भवेत्—इति भावः । तेनेति—तेन तेन गुरुणा—इत्यर्थः ॥ ४३५ ॥

नन्वत्र किमियन्त एव विकल्पाः संभवन्ति न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

अन्येऽपि बहुविकल्पाः स्वधियाचार्यैः समभ्यूह्याः ।

ननु यद्येवमनेके विकल्पाः संभवन्ति तदिह पुनः किं ग्राह्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

श्रीपूर्वशासने पुनरष्टादशाधिकं शतं कथितम् ॥ ४३६ ॥
तदिह प्रधानमधिकं संक्षेपेणोच्यते शोध्यम् ।

शतमिति भुवनानाम् । तदुक्तं तत्र—

'एवं तु सर्वतत्त्वेषु शतमष्टादशोत्तरम् ।
भुवनानां परिज्ञेयं संक्षेपात्र तु विस्तरात् ॥' (मा०वि० ५।३३)

प्रधानमिति, तदधिकारेणैवास्य ग्रन्थस्य प्रवृत्तेः ॥ ४३६ ॥

नियोजित होता है (और) मन्त्र के सामर्थ्य से सिद्धि को प्राप्त करता है ।''

'अथ' शब्द का प्रयोग पक्षान्तर अर्थ में है । उसकी हानि होने पर = भोगेच्छा का त्याग होने पर । अन्तर्गत = प्रधान की शुद्धि से ही वह शुद्ध हो जाता है । दिखलाया गया—अन्यथा ऐसा ज्ञान कैसे होता । उसके द्वारा = उस-उस गुरु के द्वारा ॥ ४३५ ॥

प्रश्न—क्या यहाँ इतने ही विकल्प संभव है या नहीं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्य भी अनेक विकल्प आचार्यों के द्वारा अपनी बुद्धि से समझ लेने चाहिए ॥ ४३६- ॥

प्रश्न—यदि इस प्रकार अनेक विकल्प सम्भव हैं तो यहाँ किसका ग्रहण किया जाए ? यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र में ११८ (विकल्प) कहे गए हैं । तो यहाँ प्रधान रूप से अधिक शोधनीय को संक्षेप में कहते हैं ॥ -४३६-४३७- ॥

एक सौ—भुवन । वही वहाँ कहा गया—

''इस प्रकार सभी तत्त्वों में संक्षेप में न कि विस्तार से ११८ भुवनों को जानना चाहिए ।'' (मा०वि० ५।३३)

प्रधान—क्योंकि उसके अधिकार से ही इस ग्रन्थ की प्रवृत्ति है ॥ ४३६ ॥

तदेवाह—

कालाग्निः कूष्माण्डो नरकेशो हाटकोऽथ भूतलपः ॥ ४३७ ॥
ब्रह्मा मुनिलोकेशो रुद्राः पञ्चान्तरालस्थाः ।
अधरेऽनन्तः प्राच्याः कपालिवह्न्यन्तनिर्ऋतिबलाख्याः ॥ ४३८ ॥
लघुनिधिपतिविद्याधिपशम्भूर्ध्वान्तं सवीरभद्रपति ।
एकादशभिर्बाह्ये ब्रह्माण्डं पञ्चभिस्तथान्तरिकैः ॥ ४३९ ॥
इति षोडशपुरमेतन्निवृत्तिकलयेह कलनीयम् ।
लकुलीशभारभूती दिण्ड्याषाढी च पुष्करनिमेषौ ॥ ४४० ॥
प्रभाससुरेशाविति सलिले प्रत्यात्मकं सपरिवारे ।
भैरवकेदारमहाकाला मध्याम्रजल्पाख्याः ॥ ४४१ ॥
श्रीशैलहरिश्चन्द्राविति गुह्याष्टकमिदं महसि ।
भीमेन्द्राट्टहासविमलकनखलनाखलकुरुस्थितिगयाख्याः ॥ ४४२ ॥
अतिगुह्याष्टकमेतन्मरुति च सतन्मात्रके च साक्षे च ।
स्थाणुसुवर्णाख्यौ किल भद्रो गोकर्णको महालयकः ॥ ४४३ ॥
अविमुक्तरुद्रकोटी वस्त्रापद इत्यदः पवित्रं खे ।
स्थूलस्थूलेशशङ्कुश्रुतिकालञ्जराश्च मण्डलभृत् ॥ ४४४ ॥
माकोटाण्डद्वितयच्छगलाण्डा अष्टकं ह्यहङ्कारे ।

वही कहते हैं—

कालाग्नि, नरकेश कूष्माण्ड, पातालेश, हाटक, भूतलप (= भूतलेश) ब्रह्मा, अन्तराल में स्थित सप्तलोकेश विष्णु, ये पाँच रुद्रभुवन हैं । नीचे अनन्त, प्राच्य, कपालीश, अग्नि, यम, निर्ऋति, बल नाम वाले, शीघ्र, निधिपति, विद्याधिप, शम्भु ये दश भुवन हैं वीरभद्रपति । ये भुवन से युक्त हैं । ऊपर तक इन ग्यारह से बाहर की ओर तथा आन्तरिक पाँच से भीतर की ओर युक्त हैं इस प्रकार निवृत्ति कला के द्वारा षोडश भुवन समझना चाहिए । लकुलीश, भारभूति, दिण्डि, आषाढी, पुष्कर, निमेष, प्रभास, सुरेश, ये पत्यष्टक सपरिवार जल तत्त्व में हैं । भैरव, केदार, महाकाल, मध्य, आम्रेश, जलेश, जल्पेश, श्रीशैल, हरिश्चन्द्र ये गुह्याष्टक तेजस् तत्त्व में हैं । भीम, इन्द्र, अट्टहास, विमल, कनखल, नाखल, कुरुक्षेत्र, गया, ये आठ भुवन अति गुह्याष्टक मरुत् तत्त्व में हैं । तन्मात्राओं और इन्द्रियों से युक्त आकाश में स्थाणु, सुवर्ण, भद्र, गोकर्ण, महालयक, अविमुक्त, रुद्रकोटि, वस्त्रापद ये है । स्थूल, स्थूलेश, शङ्कुश्रुति, कालञ्जर, मण्डलभृत्, दो माकोट अण्ड, छागलाण्ड ये आठ अहङ्कार में है ॥ ४३७-४४५- ॥

मुनीति सप्त । एवमीशत्वविशेषणैषां तदन्तःकारः प्रकाशितः । प्राच्या इत्यारभ्य । 'अन्तः' इति अन्तकारित्वात् यमः । 'लघु' इति शीघ्रकारित्वाच्छीघ्रः । यदुक्तम्—

'आदौ कालाग्निभुवनं शोधितव्यं प्रयत्नतः ।' (मा० वि० ५।१)

इत्युपक्रम्य

'कालाग्निपूर्वकैरेभिर्भुवनैः पञ्चभिः प्रिये ।
शुद्धैः शुद्धमिदं सर्वं ब्रह्माण्डान्तर्व्यवस्थितम् ॥
तद्बहिः शतरुद्राणां भुवनानि पृथक् पृथक् ।
दशमं शोधयेत्पश्चादेकं तन्नायकावृतम् ॥
अनन्तः प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथापरः ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥
शीघ्रो निधीश्वरश्चेति सर्वविद्याधिपोऽपरः ।
शम्भुश्च वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभाः ॥
एभिर्दशैकसंख्यातैः शुद्धैः शुद्धं शतं मतम् ।'

(मा० वि० ५।१५) इति ।

प्रत्यात्मकमिति नामान्तरेण गुह्याष्टकमेव अत्रोक्तम् । 'सतन्मात्रके च साक्षे च' इति खस्य विशेषणम् । एतदन्तं हि अनेनैवाष्टकेन व्याप्तमिति केषाञ्चिन्मतम् । अन्येषां पुनः कार्यस्य कारणान्तरवस्थानौचित्यात् इयदहङ्कारेण व्याप्त-

---

मुनि = सात । इस प्रकार ईशत्व के विशेषण से इनका तदन्तःकार (= अन्दर क्रिया करना) प्रकाशित होता है । प्राची से—आरम्भ कर के । 'अन्त' अन्तकारी होने से यम । लघु = शीघ्रकारी होने से शीघ्र । जैसा कि कहा गया—

"पहले प्रयत्नपूर्वक कालाग्निभुवन का शोधन करना चाहिए ।" (मा०वि० ५।१)

ऐसा प्रारम्भ कर—

"हे प्रिये ! कालाग्निपूर्वक इन पाँच शुद्ध भुवनों के द्वारा शुद्ध यह सब ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित है । उसके बाहर शतरुद्रों के अलग-अलग भुवन हैं । उसके नायक से आवृत दशवें को बाद से शोधना चाहिए । उनमें प्रथम है—अनन्त, दूसरा कपालीश, अग्निरुद्र, यम, नैर्ऋत, बल, शीघ्र, निधीश्वर, सर्वविद्याधिप, शम्भु, वीरभ्रद, विधूम, ज्वलनप्रभा इन शुद्ध ग्यारह संख्या वालों से सौ भुवनों की शुद्धि मानी गयी हैं ॥ (मा० वि० ५।१५)

प्रत्यात्मक = दूसरे नाम से गुह्याष्टक ही यहाँ कहा गया । तन्मात्राओं के सहित और इन्द्रियों के सहित—यह आकाश का विशेषण है । यहाँ तक इसी अष्टक से व्याप्त है—ऐसा कुछ लोगों का मत है । दूसरों के मत में

मिति ॥ ४४४ ॥

अत एवाह—

अन्येऽहङ्कारान्तस्तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाप्याहुः ॥ ४४५ ॥
धियि योन्यष्टकमुक्तं प्रकृतौ योगाष्टकं किलाकृतप्रभृति।
इति सप्ताष्टकभुवना प्रतिष्ठितिः सलिलतो हि मूलान्ता ॥ ४४६ ॥
नरि वामो भीमोग्रौ भवेशवीराः प्रचण्डगौरीशौ ।
अजसानन्तैकशिवौ विद्यायां क्रोधचण्डयुग्मं स्यात् ॥ ४४७ ॥
संवर्तो ज्योतिरथो कलानियत्यां च सूरपञ्चान्तौ ।
वीरशिखीशश्रीकण्ठसंज्ञमेतत्त्रयं च काले स्यात् ॥ ४४८ ॥
समहातेजा वामो भवोद्भवश्चैकपिङ्गलेशानौ ।
भुवनेशपुरःसरकावङ्गुष्ठ इमे निशि स्थिता ह्यष्टौ ॥ ४४९ ॥
अष्टाविंशतिभुवना विद्या पुरुषान्निशान्तमियम् ।
हालाहलरुद्रक्रुदम्बिकाघोरिकाः सवामाः स्युः ॥ ४५० ॥
विद्यायां विद्येशास्त्वष्टावीशे सदाशिवे पञ्च ।
वामा ज्येष्ठा रौद्री शक्तिः सकला च शान्तेयम् ॥ ४५१ ॥
अष्टादश भुवना स्यात्.........................

कार्य की कारण के भीतर स्थिति के औचित्य के कारण यहाँ तक अहङ्कार से व्याप्त है ॥ ४३७-४४४ ॥

इसीलिए कहते हैं—

दूसरे लोग अहङ्कार के भीतर तन्मात्राओं और इन्द्रियों को कहते हैं । बुद्धि तत्त्व में आठ योनियों को कहा गया है, प्रकृति में किलाकृत आदि योगाष्टक (को कहा गया है) । इस प्रकार जल तत्त्व से लेकर मूल प्रकृति तक सप्ताष्टक (७ × ८ = ५६) भुवनों की प्रतिष्ठा है । नृ (= पुरुष) तत्त्व में वाम, भीम, उग्र, भव, ईश तथा वीर हैं । विद्या में प्रचण्ड, गौरीश, अज, अनन्त के सहित एकशिव, तथा क्रोधचण्डयुगल है । संवर्त्त और ज्योतिरथ कला में तथा सूर और पञ्चान्त नियति तत्त्व में हैं । काल तत्त्व में वीर शिखीश और श्रीकण्ठ ये तीन हैं । माया तत्त्व में महातेजा, वाम, भवोद्भवन एकपिङ्गल, ईशान; इन दोनों के भुवनेश तथा अंगुष्ठ ये आठ हैं । पुरुष से लेकर निशा (= माया) तक यह विद्या अट्ठाईस भुवनों वाली है । विद्या में हालाहल, रुद्र, क्रुध, अम्बिका, घोरिका और वामा है। ईश्वर तत्त्व में आठ विद्येश, सदाशिव में पाँच वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, शक्ति और सकला है । शान्ता अठारह भुवनों वाली है ॥ -४४५-४५२- ॥

अत्र च केषाञ्चित् स्वकण्ठेन अन्येषां पर्यायेण अन्येषां च पदैकदेशेनाभिधानम्,—इति स्वयमेवाभ्यूह्यम् । एतच्च प्रागेव संवादितम् । नरीत्यर्थादन्तर्भावितरागतत्त्वे, तेन पुंस्तत्त्वे वामादयः षट्, रागे च प्रचण्डादयः पञ्च । तदुक्तम्—

'ततोऽप्यर्धाङ्गुलव्याप्त्या पुरषट्कमनुक्रमात् ।
चतुष्कं तु द्वयेऽन्यस्मिन्नेकमेकत्र चिन्तयेत् ॥'

(मा० वि० ६।१४) इति ।

सानन्तेति, अनन्तसहित एकशिवः—इत्यर्थः । निशीति मायायाम् । 'ईशे' इति ईश्वरतत्त्वे । एवं निवृत्तौ षोडश, प्रतिष्ठायां षट्पञ्चाशत्, विद्यायामष्टाविंशतिः, शान्तायामष्टादश—इति भुवनानामष्टादशोत्तरं शतम् ॥ ४५१ ॥

ननु शान्त्यतीतायामप्यन्यत्र भुवनविभाग उक्तस्तत्पुनरिह कस्मात् न ? इत्याशङ्क्याह—

..................शान्त्यतीता त्वभुवनैव ।

न हि अत्र देशादिकलना काचिद्भवेदिति भावः ॥

एतच्चार्यायाः प्रथमार्धेनोपसंहरति—

यहाँ (= मूल ग्रन्थ में) कुछ का अपने कण्ठ से, कुछ का पर्यायवाची के द्वारा और दूसरों का पदांश के द्वारा कथन है—ऐसा स्वयं समझ लेना चाहिए । यह पहले ही कह दिया गया है । नरि = अन्तर्भावित राग तत्त्व में—इससे पुरुष तत्त्व में वामा आदि छ, और राग में प्रचण्ड आदि पाँच भुवन हैं । वही कहा गया है—

"इसके बाद भी आधे अङ्गुल की व्याप्ति से छ पुरों का क्रम से, चार का दो में और एक का अन्य एक में चिन्तन करना चाहिए ।" (मा०वि० ६।१४)

सानन्त—अनन्त के सहित एक शिव । निशा में = माया में । ईश में = ईश्वर तत्त्व में । इस प्रकार निवृत्ति में सोलह, प्रतिष्ठा में छप्पन, विद्या में अट्ठाईस और शान्ता में अठारह इस प्रकार ११८ भुवन हैं (जिनका शोधन करने के बाद शाम्भव समावेश की पात्रता प्राप्त होती है) ॥ ४५१ ॥

प्रश्न—अन्य ग्रन्थों में शान्त्यतीता में भी भुवनों का विभाग कहा गया है यहाँ क्यों नहीं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

शान्त्यतीता बिना भुवन के हैं ॥ -४५२- ॥

यहाँ देश आदि की कोई गणना (= कल्पना) नहीं है ॥

इस (आह्निक) को आर्या के पूर्वार्द्ध से समाप्त करते हैं—

इति देशाध्वविभागः कथितः श्रीशम्भुना समादिष्टः ॥ ४५२ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके देशाध्वप्रकाशनं नामाष्टममाह्निकम् ॥ ८ ॥

श्रीशम्भुनेति परमेश्वरेण गुरुणेति शिवम् ॥

'जम्बुद्वीपे भारतवर्षं तत्राहितस्थितिर्विदधे ।

जयरथनामा कश्चिद्विवृतिमिमामष्टमाह्निके स्पष्टाम् ॥'

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते, श्रीजयरथाचार्यकृत-विवेकाख्यव्याख्योपेते श्रीतन्त्रालोके देशाध्वप्रकाशनं नाम अष्टममाह्निकम् ॥ ८ ॥
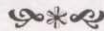
इस प्रकार श्री शम्भु के द्वारा उपदिष्ट देशाध्वा का विभाग कहा गया ॥ -४५२ ॥

श्री शम्भु के द्वारा = परमेश्वर गुरु के द्वारा ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के अष्टम आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

जम्बूद्वीप में भारतवर्ष है । उसमें स्थित किसी जयरथ नामक आचार्य ने अष्टमआह्निक की स्पष्ट व्याख्या की ।

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के अष्टम आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ८ ॥

नवममाह्निकम्
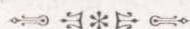
* विवेकः *

तत्त्वक्रमावभासनविभागविभवो भुजङ्गमाभरणः ।
भक्तजनजयावहतां वहति जयावहो जयति ॥

इदानीं द्वितीयार्धेन तत्त्वप्रविभागं कथयितुं प्रतिजानीते—

अथ तत्त्वप्रविभागो विस्तरतः कथ्यते क्रमप्राप्तः ॥ १ ॥

विस्तरत इति—परपरिकल्पितसमारोपापसारणपुरःसरं यथातत्त्वं व्यवस्थापनात्, क्रमप्राप्त इति—भुवननिरूपणानन्तरं तदनुयायिनां तत्त्वानां निरूपणस्य प्राप्तावसरत्वात् ॥ १ ॥

ननु तत्त्वमेव नाम किमुच्यते, यस्य प्रविभागः अभिधातव्यो भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

---

* ज्ञानवती *

तत्त्वक्रम के अवभासन एवं उनके विभाग के वैभव वाले, भुजङ्ग का आभूषण धारण करने वाले, भक्तजनों को विजय देने वाले जयशील परमेश्वर सबसे उत्कृष्ट हैं।

अब उत्तरार्द्ध के द्वारा तत्त्वों का विभाग कहने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—

अब क्रमप्राप्त तत्त्वों का विभाग विस्तारपूर्वक कहा जाता है ॥ १ ॥

विस्तारपूर्वक—क्योंकि दूसरे के द्वारा परिकल्पित आरोप को हटाते हुए यथातत्त्व व्यवस्था की गयी है । क्रमप्राप्त—क्योंकि भुवनों के निरूपण के बाद उसके अनुयायी तत्त्वों के निरूपण का अवसर प्राप्त है ॥ १ ॥

प्रश्न—तत्त्व किसे कहते हैं जिसका विभाग कहा जाएगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परं प्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः

इदं हि नाम पारमेश्वरे दर्शने 'तत्त्वम्' इत्युच्यते—यदेकमेव रूपमव्यभिचारेण अनेकत्र भुवनादावनुगामि स्यात्, तच्च पृथिव्याद्यात्मकमनेकप्रकारम्, अत एव तस्य—पृथिव्यादेर्भावः 'तत्त्वम्' तथा व्यपदेशनिमित्तमित्युक्तम्, तच्च समनन्त-राह्निकोक्तेषु नानाप्रकारेषु भुवनेषु यदेतत्प्रकाशैकघनं परं तत्त्वं प्रकाशमान-तान्यथानुपपत्त्यानुयायि भासते स निखिलविश्वक्रोडीकारेण द्योतमानः, तस्यैव ह्ययं स्फारो यदिदं विश्वं नामावभासते । यदाहुः—

'पञ्चत्रिंशत्तत्त्वी शिवनाथस्यैव शक्तिरुक्तेयम्।'

इति । अत एव च तनोति सर्वमिति 'तत्' परं रूपम्, तस्य भावस्तत्त्वम्—इत्यर्थः ॥

ननु यद्येवं प्रकाशैकपरमार्थमेवेदं विश्वम्, तत् तत्त्वस्य पृथक्सत्तैव नास्ति, इति का नाम पृथिव्यादिपरिभाषापि स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद्भेदे विभाते परं

जो ये पहले अनेक भेदों के द्वारा कहे गए और जो परमघन प्रकाशरूप इनमें अन्वित होकर भासित होता है वह एक ही देव शिव (मूल तत्त्व) है ।

पारमेश्वर दर्शन में तत्त्व उसे कहते हैं—जो एक ही रूप वाला, समान तथा अनेक भुवन आदि में अनुगामी हो । वह पृथिवी आदि अनेक प्रकार का है इसीलिए उस = पृथिवी आदि, का भाव = तत्त्व इस प्रकार का व्यवहार का निमित्त कहा गया । और वह पिछले आह्निक में कहे गए अनेक प्रकार के भुवनों में जो यह प्रकाशघन परतत्त्व प्रकाशमानता की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा अनुयायी भासित होता है वह समस्त विश्व को अपने अन्दर कर प्रकाशित होता हुआ, इसलिए एक शिव—उस नामवाला ३६ तत्त्व है उसी का यह स्फार है कि यह विश्व आभासित होता है । जैसा कि कहते हैं—

"पैंतीस तत्त्वों वाली यह शक्ति शिवनाथ की ही कही गयी है ।"

इसीलिए जो सबको विस्तृत करे वह-तत् = पर रूप, और उसका भाव तत्त्व है ।

प्रश्न—इस प्रकार यदि यह विश्व परमार्थतः केवल प्रकाशमात्र है तब तो तत्त्व की पृथक् सत्ता ही नहीं है तो पृथिवी आदि की परिभाषा भी क्या होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उनके स्वातन्त्र्यरस के द्वारा पुनः शिवपद से भेद के प्रतीत होने पर

यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ॥ २ ॥

पुनरपि तस्य शिवस्यैव स्वातन्त्र्यवशेन शिवपदादेवंविधात् षट्त्रिंशादेव तत्त्वात् परमत्यर्थं पृथिव्यादिपर्यन्तं भेदे समुल्लसिते यद्रूपं पृथिवीतत्त्वादि अनेकैः प्रकारैरनुगामि भाति तदिदं 'पृथिव्यादि तत्त्वम्'—इत्युच्यते—इति वाक्यार्थः ॥२॥

एतदेवोपपादयति—

तथाहि कालसदनाद्वीरभद्रपुरान्तगम् ।
धृतिकाठिन्यगरिमाद्यवभासाद्धरात्मता ॥ ३ ॥

एवं व्याप्तिघटनाय तथाहि इति निदर्शनम्, धृत्यादयो हि पृथिवीगुणाः, तदभिन्नरूपत्वाच्च पृथ्व्यास्तद्ग्रहणेनैव ग्रहणं सिद्ध्येदित्युक्तम्—'धृत्याद्यवभासाद्धरात्मतेति' तेन सास्नादियोगात् यथा खण्डमुण्डादौ गोत्वमनुगामि तथा धृत्यादियोगात् कालाग्निभुवनादावपि पृथ्वीत्वमिति ॥ ३ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति—

एवं जलादितत्त्वेषु वाच्यं यावत्सदाशिवे ।

जो पर रूप अनेक प्रकार से अनुगामी है वही यह शैवशास्त्र में तत्त्व कहा जाता है ॥ २ ॥

फिर भी उस शिव के ही स्वातन्त्र्यवश इस प्रकार के शिव नाम वाले ३६ तत्त्व से पर = अत्यधिक, पृथिवी आदि तक भेद के उल्लसित होने पर जो पृथिवी तत्त्व आदि रूप अनेक प्रकारों से अनुगामी भासित होता है वही यह पृथिव्यादि तत्त्व कहा जाता है—यह वाक्यार्थ है ॥ २ ॥

इसी को बतलाते हैं—

इस प्रकार कालसदन (= कालाग्नि रुद्रभुवन) से लेकर वीरभद्रपुर तक धृतिकाठिन्य की गरिमा आदि के अवभास से पृथिवीत्व होता है ॥३॥

इस प्रकार व्याप्ति को बतलाने के लिए तथाहि-यह निदर्शन है । धृति आदि पृथिवी के गुण हैं । पृथिवी के उससे अभिन्न होने के कारण उसी के ग्रहण से इनका ग्रहण सिद्ध हो जाएगा, इसलिए कहा गया—धृति आदि के अवभास से पृथिवीत्व है । इसलिए जैसे सास्ना आदि के योग से खण्ड (= मांस) मुण्ड आदि में गोत्व अनुगामी होता है उसी प्रकार धृति आदि के योग से कालाग्निभुवन आदि में भी पृथिवीत्व (अनुगामी होता है) ॥ ३ ॥

इसी को अन्यत्र भी बतलाते हैं—

ऐसा ही सदाशिव पर्यन्त जलादितत्त्व में भी कहना चाहिए ॥ ४- ॥

तेन यथा धृत्यादियोगात् सर्वत्रान्वितं पृथ्वीत्वं तथा सांसिद्धिकद्रवत्वभास्वर-(शुक्ल)त्वादियोगात् जलादित्वमिति ॥

नन्वेवमनेकत्र पिण्डादौ तथात्वानुगमात् देहभुवनादावपि तत्त्वान्तररूपत्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे ॥ ४ ॥
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद्व्याप्तृभावतः ।
तत्तत्त्वं क्रमशः पृथ्वीप्रधानं पुंशिवादयः ॥ ५ ॥
देहानां भुवनानां च न प्रसङ्गस्ततो भवेत् ।

वापि इति विकल्पद्योतकं भिन्नक्रमं द्रष्टव्यम्, तेन स्वसदृग्गुणेऽपि वा इति योज्यम्, एवं स्वस्मिन् घटशरावादौ कार्ये, धर्माणां सत्त्वादीनां गुणानामन्योन्याभि-भववृत्त्यादिनाऽनैक्यात्, ओघे स्वसदृग्गुणे संकुचिते प्रमातृवर्गे प्रकाशैकपरमार्थे वा विश्वत्र, यत् पृथ्वीत्वादिकं रूपमनुगामितयास्ते, तत् तनोतिस्वकार्यादि व्याप्नोति इति कृत्वा, क्रमशो यथासंख्येन पृथ्वीप्रधानं पुंशिवादयश्च तत् 'तत्त्वम्'—इत्युच्यते । ततश्च देहभुवनादौ नैव प्रसङ्गः, नहि स्वकार्ये चेष्टादौ तत्तद्भोगादौ च देहादित्वमनुगामितामियात् । आदिशब्दः प्रकारे, तेनाहङ्कारादीनां तत्त्वान्तराणामपि

इसलिए जैसे धृति आदि के योग से पृथिवीतत्त्व सर्वत्र अन्वित (= व्याप्त) है उसी प्रकार सांसिद्धिक द्रवत्व भास्वर(शुक्ल)त्व आदि के योग से जलादित्व (भी व्याप्त है) ।

प्रश्न—इस प्रकार पिण्ड आदि में वैसी व्याप्ति होने से देह भुवन आदि में भी तत्त्वान्तरत्व होगा ? यह शङ्का कर कहते है—

अपने कार्य में अथवा अपने समान गुण वाले धर्म के समूह में जो सामान्यरूप से विस्तृत एवं व्यापक रूप में है वह क्रमशः पृथिवीप्रधान, पुरुष शिव आदि तत्त्व है । इस कारण शरीर का और भुवन का (तत्त्व होने का) प्रसङ्ग ही नहीं है ॥ -४-६- ॥

विकल्पद्योतक 'वा' का क्रम भिन्न समझना चाहिए । इसलिए-अथवा अपने समान गुणवाले—ऐसा जोड़ना चाहिए । इस प्रकार अपने = घट शराव आदि रूपकार्य में, धर्म = सत्त्व आदि गुणों के अन्योऽन्याभिभववृत्ति आदि के कारण अनेक होने से ओघ अर्थात् स्वसदृक् गुणवाले—प्रकाशैकपरमार्थरूप संकुचित प्रमातृवर्ग में जो पृथिवीत्व आदि रूप अनुगामी के रूप में भासित होता है वह तनोति = अपने कार्य आदि को व्याप्त करता है, इसलिए—क्रमशः उसे पृथिवीप्रधान पुरुष शिव आदि तत्त्व कहा जाता है । इसलिए शरीर और भुवन आदि के विषय में ऐसा प्रसङ्ग नहीं है (अर्थात् उन्हें तत्त्व नहीं कहा जा सकता)। अपने कार्य चेष्टा आदि अथवा भिन्न-भिन्न भोग आदि में देह आदि अनुगामी नहीं

इन्द्रियाद्यात्मनि स्वकार्यादावनुगामित्वमस्तीत्याद्यवसेयम् । एतदर्थगर्भीकारेणैव चान्यैः

'आ महाप्रलयस्थायि सर्वप्राण्युपभोगकृत्।
तत्त्वमित्युच्यते तज्ज्ञैर्न शरीरघटाद्यतः ॥'

इत्याद्युक्तम् ॥ ४-५ ॥

नन्वेवमभिधाने किं प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

श्रीमन्मतङ्गशास्त्रादौ तदुक्तं परमेशिना ॥ ६ ॥

एतच्च तत्र विद्यापादादावनेकप्रकारमुक्तमिति कियल्लिख्यते, इति ग्रन्थविस्तर-भयात् प्रतिज्ञामात्रमेव कृतम् । तथा च तत्र—

'तत्त्वं यद्वस्तुरूपं स्यात्स्वधर्मप्रकटात्मकम् ।
तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात् ॥
यदच्युतं स्वकाद् वृत्तात्ततं चात्मवशं जगत् ।
ततमन्येन वा न स्यात्तत्तत्त्वं तत्त्वसंततौ ॥' इति ।

तथा

'पार्थिवाणुसमूहस्य विप्रकीर्णस्य सर्वतः ।
किं स्वरूपं स्वकं तत्र पृथिव्यास्तत्त्वसंज्ञकम्॥'

होते । 'पुंशिवादयः' में आदिशब्द (का प्रयोग) प्रकार अर्थ में है । इसलिए अहङ्कार आदि दूसरे तत्त्वों की भी इन्द्रिय आदि रूप अपने कार्य आदि में अनुगामिता है—यह सब जानना चाहिए । इसी अर्थ को मन में रखकर दूसरे लोगों ने—

"(जो) महाप्रलय तक स्थायी और सभी प्राणियों को भोग देने वाला है वह उसके विद्वानों के द्वारा तत्त्व कहा जाता है, न कि शरीर घट आदि ॥"

इत्यादि कहा गया है ॥ ४-५ ॥

प्रश्न—इस प्रकार के कथन में क्या प्रमाण है? यह शङ्का कर कहते है—

परमेश्वर ने मतङ्गशास्त्र आदि में उसे कहा है ॥ -६ ॥

वहाँ यह विद्यापाद आदि में अनेक प्रकार से कहा गया है इसलिए कितना लिखा जाय । अतः ग्रन्थविस्तार के भय से केवल प्रतिज्ञा की गयी । वहाँ पर—

"अपने धर्म को प्रकट करने वाला जो वस्तुस्वरूप है, वह तत्त्व है । स्पष्टतया आम्नाय को देखने से व्यक्त वस्तुपद तत्त्व कहा जाता है । जो अपने व्यवहार से च्युत नहीं होता और संसार को अपने वश में रखकर व्याप्त रहता है और जो दूसरे के द्वारा विस्तृत नहीं किया गया है तत्त्व की परम्परा में वह तत्त्व है ।"

तथा—

इत्याक्षेपपूर्वकम्

'मृत्त्वमस्ति मृदस्तत्र येनासावुपदिश्यते ।
तत्त्वेभ्योऽप्यणुसङ्घेभ्यो विशिष्टमविनाश्यथ ॥'

इत्यादि बहूक्तम् ॥ ६ ॥

तदेवमवस्थिते कार्यकारणभावात्मा तत्त्वानां प्रविभागो वक्तव्यः—इत्याह—

तत्रैषां दर्श्यते दृष्टः सिद्धयोगीश्वरीमते ।
कार्यकारणभावो यः शिवेच्छापरिकल्पितः ॥ ७ ॥

'सिद्धयोगीश्वरीतन्त्रं शतकोटिप्रविस्तरम् ।
यत्त्वया कथितं पूर्वं भेदत्रयविसर्पितम् ॥
मालिनीविजये तन्त्रे कोटित्रितयलक्षिते ।
योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर ॥
भूयस्तस्योपसंहारः प्रोक्तो द्वादशभिस्त्वतः ।
सहस्रैः सोऽपि विस्तीर्णो गृह्यते नाल्पबुद्धिभिः ॥
अतस्तदुपसंहृत्य समासादल्पधीहितम् ।
सर्वसिद्धिकरं ब्रूहि प्रसादात्परमेश्वर ॥

सर्वत्र फैले हुए पार्थिव अणुसमूह का क्या स्वरूप है? उसमें अपना पृथिवी का तत्त्व क्या है?''

यह आक्षेप कर—

''मिट्टी में मृत्त्व है जिससे यह अणुसमूहतत्त्वों की अपेक्षा विशिष्ट और अविनाशी कहा जाता है ।''

इत्यादि बहुत कहा गया है ॥ ६ ॥

तो ऐसा होने पर तत्त्वों का कार्यकारणभावरूप विभाग कहना चाहिए—यह कहते हैं—

सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र में शिव की इच्छा से परिकल्पित जो कार्यकारणभाव देखा गया वह दिखलाया जा रहा है ॥ ७ ॥

''सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र सौ करोड़ संख्या वाले पद्यों में विस्तृत है । जो पहले तुम्हारे द्वारा तीन भेदों में विस्तृत कहा गया । हे महेश्वर! तीन करोड़ (मन्त्रवाले) मालिनीविजयतन्त्र में जो योगमार्ग तुम्हारे द्वारा कहा गया फिर उसका उपसंहार बारह हजार (मन्त्रों) के द्वारा किया गया वह भी बहुत बड़ा है, मन्दबुद्धि लोगों के द्वारा समझा नहीं जाता । इसलिए हे परमेश्वर! उसको संक्षेप में रचकर मन्दबुद्धि वालों के लिए सर्वसिद्धिदायी (बनाइये और) कहिए । देवी के द्वारा ऐसा कहे जाने पर

एवमुक्तस्तदा देव्या प्रहस्योवाच विश्वराट् ।
शृणु देवि प्रवक्ष्यामि सिद्धयोगीश्वरीमते ।
यत्र कस्यचिदाख्यातं मालिनीविजयोत्तरम् ॥'

(मा०वि० ८-१३) इति ।

वक्ष्यति च

'कार्यकारणभावीये तत्त्वे इत्थं व्यवस्थिते ।
श्रीपूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम् ॥'

इति । कार्यकारणभाव इत्यनेनानुजोद्देशोद्दिष्टस्य तदाख्यस्यापि प्रमेयस्यासूत्रणं कृतम् ॥ ७ ॥

नन्विह मृद्घटादावस्तीच्छाया अनुप्रवेशः, किन्तु सा कौम्भकारी, बीजाङ्कुरादौ तु चेतनस्यैवानुप्रवेशो नास्ति, इति का वार्ता तद्धर्मभूताया इच्छायाः, इति किमेतदुक्तं 'कार्यकारणभावः शिवेच्छापरिकल्पितः' इति?—इत्याशङ्क्याह—

वस्तुतः सर्वभावनां कर्तेशानः परः शिवः ।

इह खलु जडस्य कारणाभिमतस्य बीजादेरियान् महिमा यत्सदसद्वा कार्याभिमतमङ्कुरं परिदृश्यमानसत्ताकं कुर्यात्, न हि 'अङ्कुरो जायते' इत्येतत् बीजस्य किञ्चित्, तस्य ततोऽन्यत्वात्, तथात्वे वा घटादेरप्येवंभावापत्तेः, नाप्यङ्कुरादि,

---

विश्वराट् ने हँस कर कहा—हे देवी ! सुनो—सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र में मैं मालिनीविजयोत्तरतन्त्र का वर्णन कर रहा हूँ जिसको (आज तक) किसी से नहीं कहा ।" (मा०वि० ८.१३)

आगे कहेंगे भी—

"कार्यकारणभाववाले तत्त्व के इस प्रकार व्यवस्थित हो जाने पर श्रीपूर्वशास्त्र में कथित कारण की कल्पना का कथन करता हूँ ।"

इस प्रकार 'कार्यकारणभाव' इस (कथन) के द्वारा अनुजोद्देश में उक्त उस नामवाले प्रमेय का भी प्रारम्भ किया गया ॥ ७ ॥

प्रश्न—मिट्टी घट आदि में इच्छा का अनुप्रवेश है किन्तु वह (इच्छा) तो कुम्भकार की है । बीज अंकुर आदि में तो चेतन का प्रवेश ही नहीं है तो उस (चेतन) की धर्मभूत इच्छा की क्या बात? इस प्रकार यह कैसे कहा गया कि "कार्यकारणभाव शिव की इच्छा से परिकल्पित है;' ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वस्तुतः सब पदार्थों का कर्त्ता ईशान परमशिव ही है ॥ ८- ॥

कारण के रूप में स्वीकृत जड़ बीज आदि की इतनी महिमा तो है ही कि सत् अथवा असत् कार्य के रूप में अभिमत अंकुर को दृश्यमान सत्तावाला बना

तर्हि तस्यासद्रूपतैव परमार्थः, इति कथं स्वरूपविरुद्धं सत्त्वमभ्युपेयात् । अथोच्यते नासन्नाम किञ्चिद्वस्तु यस्य सत्त्वेन विरोधः स्यात्, तस्योभयवस्त्वधिष्ठानत्वात्, एतद्धि व्यवहारमात्रम्—यदसतः सत्ताकार्यत्वमिति, वस्तुतो हि 'बीजे सति अङ्कुरोऽस्ति' इत्येतावन्मात्रमेतत्, इति किं केन विरुद्ध्येतेति, नन्वेवं बीजे सति अङ्कुरश्चेदस्ति तर्ह्यसौ सर्वदैव सत् स्यात्, नो चेन्न कदाचित् इत्युक्तं स्यात्, अतश्चास्य सर्वदा सत्त्वे न कदाचिदन्यथात्वेन योगः, अन्यथात्वं हि अकिञ्चिद्रूपत्वमुच्यते कस्तेन योगार्थः, तथात्वे वा किं नामास्य स्वरूपेऽधिकम् स्यात्, यद्वशात्—असद्व्यवहारपात्रत्वमपि उदियात्, न च 'बीजापेक्षसत्तास्वभावो-ऽङ्कुरः' इति वाच्यम्, सर्वभावानां स्वस्वरूपमात्रपरिनिष्ठानात् अन्यस्यान्यापेक्ष-स्वभावत्वानुपपत्तेः, यद्यपि चासन्नाम न किञ्चिद्वस्तु तथापि एतच्छशविषाणवत् असत्कलनाविषयस्य अन्तःकरणभुवि पतितस्य परिस्फुरतः स्वभावस्य संभवात् बाह्येन्द्रियविषयतापन्नेन सत्स्वभावेन सह विरुध्यत एव, इति युक्तमुक्तम्—'असतः सत्त्वं विरुद्धम्'—इति । अथ सदेव तर्ह्यस्य किमुपयाचनीयं यत् बीजादेः

देता है । "अंकुर उत्पन्न होता है" इसमें बीज की कोई भूमिका नहीं है क्योंकि वह (= बीज) उस (अंकुर) से भिन्न है । और वही होने पर वही घट आदि भी (= बीज) हो जायेंगे न कि केवल अंकुर क्योंकि उस समय (= अङ्कुरोत्पत्ति से पहले) वह (घटादि) भी नहीं है । और यदि अंकुर आदि असत् ही है तो उनकी असद्रूपता ही परमार्थ है । तो स्वरूपविरुद्ध सत्ता को वे कैसे प्राप्त कर सकते हैं? यदि यह कहा जाय कि असत् नाम की कोई वस्तु नहीं है जिसका तत्त्व से विरोध हो क्योंकि वह (तत्त्व) दोनों वस्तुओं में रहता है । यह तो केवल व्यवहार की बात है कि असत् सत्ता का कार्य है । वस्तुतः तो 'बीज के रहने पर अंकुर है। इतना ही यह (= व्यवहार) है । इसलिए कौन किसके विरुद्ध होगा? यदि प्रश्न किया जाय कि ऐसा होने पर यदि बीज के रहने पर अंकुर है तो यह (अंकुर) सदैव सत् रहेगा यदि नहीं तो कभी भी नहीं? इसलिए इसके सर्वदा सत् होने पर कदाचित् अन्यथात्व (= असत्त्व) से योग नहीं होगा । अन्यथात्व तो अकिञ्चिद्रूपता को कहा जाता है उससे योग होने का क्या मतलब है । अथवा वैसा होने पर (उसके) स्वरूप में क्या अधिक हो जाएगा? जिसके चलते (इसमें) असद्व्यवहार की योग्यता उत्पन्न हो जाएगी? ऐसा भी नहीं कह सकते कि अंकुर बीजापेक्ष सत्ता के स्वभाव वाला है क्योंकि सभी पदार्थ केवल अपने रूप में परिनिष्ठित होने के कारण (उनका) एक को दूसरे की अपेक्षा का स्वभाव ही नहीं है । यद्यपि कोई वस्तु असत् नहीं है तो भी शशविषाण के समान अन्तःकरण की भूमि में पतित असत् अवधारणा के विषय का परिस्फुरण का स्वभाव समान है इस कारण बाह्य इन्द्रिय का विषय होने वाले सत् स्वभाव के साथ उसका विरोध होता ही है । इसलिए ठीक ही कहा है कि सत् असत् के विरुद्ध है यदि (अंकुर) सत् ही है तो इसको किस वस्तु की आवश्यकता है जिसके लिए यह बीज से प्रार्थना

प्रार्थयेत्। अथाभिव्यक्तिनियतत्वादि, इति चेन्न तत्रापि सदसद्रूपताया योजयितुं शक्यत्वात्, न च तदुभयात्मकमनुभयात्मकमनिर्वाच्यं वा युज्यते विरुद्ध-त्वादेवंस्वभावत्वस्य, तत्सर्वथा लोकप्रसिद्धः कार्यकारणभावो नोपपद्यते, इति सर्व एव व्यवहारः समुत्सीदेत्, तेन कार्यकारणभावसमाख्याबलात्कर्तृकर्मभाव एवाश्रयणीयो, यत् कार्यमाभासनक्रियाविषयत्वात् कर्मैव कार्यते तत्तदङ्कुरादि अवभासयते तेन कर्ता तत्समर्थाचरणेनेति कारणमपि कर्तर्येव विश्रान्तम्, तस्मात् चिद्रूप एव परमेश्वरः स्वेच्छावशात्, इयद्विश्वमवभासयति, किं तु नियतिदशायां प्रथान्तरव्यवधानेन, येन 'बीजादङ्कुरो, मृदो घटः' इत्येवमाद्यात्मिका लोकस्य प्रतीतिः । नन्वेवं सोऽपि किं सदसद्वा विश्वमवभासयेदित्युक्त एव दोषः ? न, इह खलु आन्तरत्वग्राह्यत्वबाह्यत्वभेदात् त्रिधार्थः परिस्फुरेत्, तथाहि—सर्वस्य प्रमातुर्मनोगोचरत्वापत्तेरपि पूर्वं स्वसंविदैकात्म्येन परिस्फुरतोऽर्थस्यान्तरत्वम्, अनन्तरमन्तःकरणैकवेद्यतया सुखादेरिव ग्राह्यत्वमपि, अन्तर्बहिष्करणद्वयवेद्यतया घटादेरिव बाह्यत्वमपि, इति संविदात्मन्यवस्थितस्य चार्थस्य बहिरवभासनम्, इत्युपपादितमन्यत्र बहुशः, तदुक्तम्—

करेगा? यदि यह कहिए कि अभिव्यक्ति नियतत्व आदि उपयाचनीय है? तो ऐसा नहीं है । क्योंकि वहाँ भी सद्असत्रूपता को जोड़ा जा सकता है । जिसका योग होगा वह उभयात्मक या अनुभयात्मक या अनिर्वाच्य नहीं होगा क्योंकि इस प्रकार का स्वभाव विरुद्ध होता है। ऐसा होने पर सर्वथा लोकप्रसिद्ध कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होगा और इस प्रकार सारा व्यवहार उच्छिन्न हो जाएगा । इसलिए कार्यकारणभाव की समाख्या के बल से कर्तृकर्मसम्बन्ध का ही आश्रयण करना चाहिए । जो कार्य आभासनक्रिया का विषय होने के कारण कर्म के रूप में कराया जाता है वह उस अंकुर आदि के रूप में भासित किया जाता है । इससे उसके अनुकूल आचरण करने से (कोई व्यक्ति) कर्त्ता कहा जाता है । इसलिए कारण भी कर्त्ता में ही विश्रान्त है । इसलिए चिद्रूप परमेश्वर स्वेच्छावश इतने बड़े विश्व को अवभासित करता है किन्तु नियति की दशा में दूसरी प्रथा के न होने से लोक को यह प्रतीति होती है कि बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और मिट्टी से घट । प्रश्न—ऐसा होने पर भी वह सद् विश्व को अवभासित करता है या असत् को? इस प्रकार उक्त दोष तो रह ही जाता है ? ऐसा नहीं है । विषय आन्तर, ग्राह्य और बाह्य भेद से तीन प्रकार से स्फुरित होता है । वह इस प्रकार—अर्थ जब सभी प्रमाताओं के मन का विषय होने से पूर्व ही अपनी संविद् की अभिन्नता के रूप में स्फुरित होता है तो यह (उसका) आन्तरत्व है । बाद में अन्तःकरणमात्र से वेद्य होने के कारण सुख आदि के समान (यह) ग्राह्य भी है । अन्तः एवं बाह्य दोनों इन्द्रियों से वेद्य होने के कारण घट आदि के समान यह बाह्य भी है । इस प्रकार संविदात्मा में ही स्थित विषय का बाहर अवभासन होता है—यह अन्यत्र अनेक बार कहा जा चुका है । वही कहा गया है—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव, न बिना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते॥'

इति । तदयमेव कार्यकारणभावो यदन्तः परिस्फुरत एवार्थस्यान्तर्बहिष्करणोभयवेद्यत्वमाभास्यते इति । यदुक्तम्—

'यदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वभावता ।
सतोऽपि न पुनः सत्तालाभेनार्थोऽथ चोच्यते ॥
कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः ।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः ॥' इति ।

न चान्तरवस्थितस्यार्थस्य बहिरवभासनं नामापूर्वं किञ्चित्, अपि तु अभेदाख्यातिमात्रम्, इति न कश्चिद्दोषः, ततश्च युक्तमुक्तम्—'स्वातन्त्र्यभाक् परः शिवः सर्वभावानां वस्तुतः कर्ता' इति ॥

ननु अस्त्येवं बीजाङ्कुरादौ, मृद्धटादौ तु नायं वृत्तान्तः, तत्र हि दृश्यते एव कुम्भकारः कर्ता, इति किमदृष्टेन कर्त्रन्तरेण परिकल्पितेन ?—इत्याशङ्क्याह—

अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं नहि जातूपपद्यते ॥ ८ ॥

"स्वामी (= चिदात्मदेव) के अपने अन्दर रहने वाला ही पदार्थसमूह भासित होता है । (उस चिदात्मा परमेश्वर में अर्थसारी तो) रहती ही है किन्तु बिना उनकी इच्छा के उसका परामर्श नहीं होता ।" (ई.प्र.का. १।५।१०)

तो यही कार्यकारण भाव है कि अन्दर परिस्फुरित होने वाले अर्थ का भीतर एवं बाहर दोनों प्रकार की इन्द्रियों से वेद्यत्व आभासित होता है । जैसा कि कहा गया—

"जो असत् है वह असत् ही रहेगा । असत् की सत्स्वभावता समीचीन नहीं है । सत् की पुनः सत्ता नहीं होती । लोभ के कारण अर्थ को (अर्थ) कहा जाता है । लोक में कार्यकारणभाव अन्तःपरिवर्त्तनशील का होता है । उसकी उभयेन्द्रियवेद्यता किसी (अद्भुत) शक्ति के कारण होती है ।"

अन्तःस्थित पदार्थ का बाहर अवभासन कोई अपूर्व बात नहीं है बल्कि अभेद की अख्यातिमात्र है । इसलिए कोई दोष नहीं है । इसलिए ठीक ही कहा कि— "स्वातन्त्र्ययुक्त परमशिव समस्त पदार्थों के वास्तविक कर्त्ता हैं" ॥

प्रश्न—बीज-अंकुर आदि के विषय में ऐसा हो सकता है किन्तु मिट्टी-घट आदि के विषय में यह वृत्तान्त नहीं हो सकता । वहाँ कुम्भकार ही कर्त्ता देखा जाता है । फिर अदृष्ट दूसरे कर्त्ता की कल्पना से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते है—

अस्वतन्त्र का कर्त्तृत्व कभी भी सिद्ध नहीं होता ॥ -८ ॥

कुम्भकारो हि न स्वेच्छामात्रेण घटं जनयेत्, अपि तु मृदादि अपेक्ष्य, न चाचेतना मृदादयस्तदिच्छामनुरोध्येरन्, एवं हि पटसंपादनेच्छामपि किं नाद्रियेरन्, ततश्चास्य मृदादिसंस्काराधानमात्र एवोपयोगः, तथात्वेऽपि तस्येयत् मृदादिभ्योऽधिकं यच्चिकीर्षितं घटादि तदानीं चेतसि परिस्फुरेत्, न च तावतैव घटादेः कार्यस्य बहिरवभासः, ततश्च पर एव शिवः स्वेच्छया नियतिदशायां कुम्भकारस्य मृदादेश्च परस्परापेक्षया कार्यमुपजनयेत्, यस्तु तस्य सत्यपि मृत्पिण्डादौ 'मयेदं कृतम्' इत्यभिमानः सोऽपि तन्महिम्नैव, एतच्च सर्वं पुरस्तादेव सविस्तरं भविष्यति, इति नेहायस्तम्, तस्माद्युक्तमुक्तम्—'अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं न कदाचिदपि उपपन्नम्'—इति, स हि कुम्भकारादिर्जडे शरीरादौ गृहीताभिमानः, इति कथं स्वरूपविरुद्धं स्वातन्त्र्यमभ्युपगच्छेत्, तद्धि चिदेकगामि इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अत आह—

स्वतन्त्रता च चिन्मात्रवपुषः परमेशितुः ।

चो ह्यर्थे ॥

कुम्भकार स्वेच्छामात्र से घट को उत्पन्न नहीं करता बल्कि मिट्टी आदि की अपेक्षा रखकर । ऐसा भी नहीं है कि अचेतन मृत् आदि उसकी इच्छा को अनुकूल करेंगी क्योंकि यदि ऐसा है तो पटसम्पादन की इच्छा को भी क्यों न आद्रित करें । इसलिए इस (= कुम्भकार) का उपयोग केवल मिट्टी आदि के संस्कार के आधान में है । वैसा होने पर भी मृत् आदि से इतनी बात अधिक है कि चिकीर्षित घट आदि उस समय चित्त में स्फुरित होता है । और उतने से ही घट आदि कार्य का बाहर आभास नहीं होता । इसलिए परम शिव ही अपनी इच्छा से नियति की दशा में कुम्भकार और मृत् आदि की परस्पर अपेक्षा के द्वारा कार्य को उत्पन्न करते हैं । और मृतपिण्ड आदि के होने पर भी जो उसके (मन में) मेरे द्वारा यह किया गया—ऐसा अभिमान होता है वह भी उस (शिव) की महिमा से ही, यह सब आगे चलकर विस्तारपूर्वक कहा जाएगा इसलिए यहाँ विस्तार नहीं किया गया । इसलिए ठीक ही कहा गया—"अस्वतन्त्र का कर्तृत्व कभी भी सिद्ध नहीं होता ।" वह कुम्भकार आदि जड़ शरीर आदि में आत्मअभिमान का ग्रहण करने वाला है । इसलिए स्वरूपविरुद्ध स्वातन्त्र्य को कैसे प्राप्त हो सकता है क्योंकि वह (स्वातन्त्र्य) तो कैवल चैतन्यगामी है इस प्रकार व्यापक विरुद्ध विचारों की अमान्यपरम्परा की उपलब्धि है ॥ ८ ॥

वही कहते हैं—

क्योंकि स्वतन्त्रता चिन्मात्रशरीरवाले परमेश्वर की है ॥ ९- ॥

च का अर्थ है क्योंकि ॥

ननु लोके शास्त्रे च जडस्यापि स्वातन्त्र्यात्मकं कर्तृत्वमभ्युपेयते, तथा च काष्ठानि ज्वलन्ति, प्रधानं च जगन्मतमिति, तत् किमेतदुक्तं 'जडे स्वातन्त्र्यं नोपपन्नम्' इति ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वतन्त्रं च जडं चेति तदन्योन्यं विरुध्यते ॥ ९ ॥

स्वातन्त्र्यं हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते, जाड्यं च परप्रकाश्यत्वमुच्यते । न चानयोस्तादात्म्यं संसर्गो वा भवेत्—इत्युक्तं 'तदन्योन्यं विरुध्यते' इति, अत एव च तज्जडं वस्तु संविन्निष्ठत्वात् तद्व्यवस्थायाः स्वात्मसिद्धावपि परं स्वप्रकाशात्मकं प्रमातारमपेक्षते, इति स्वातन्त्र्यं कथं जडस्य स्वरूपसंनिविष्टं स्यात् ॥ ९ ॥

तदाह—

जाड्यं प्रमातृतन्त्रत्वं स्वात्मसिद्धिमपि प्रति ।

यत्तु लोके शास्त्रे वा जडस्यापि कर्तृत्वम्, तत्स्वतन्त्राधिष्ठानादिना चोपचरितप्रायम् ॥

ननु मा भूत् कर्तृत्वम्, कारणत्वमेव भविष्यति, यत् सुस्पष्टं जडाजडयोरपि सङ्गतिमियात् ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रश्न—लोक और शास्त्र में जड़ का भी स्वातन्त्र्यात्मक कर्तृत्व मिलता है जैसे—(लोक में) लकड़ियाँ जलती हैं, (शास्त्र में) प्रकृति ही संसार मानी जाती है। तो यह कैसे कहा कि जड़ में स्वातन्त्र्य उपपन्न नहीं है ?—यह शङ्का कर कहते है—

स्वतन्त्र हो और जड़ हो यह एक दूसरे के विरुद्ध है ॥ -९ ॥

स्वातन्त्र्य स्वप्रकाशत्व को कहते हैं और जाड्य परप्रकाश्यत्व को कहा जाता है। इन दोनों का न तो कोई तादात्म्य है और न ही सम्बन्ध । इसलिए कहा गया—वे एक दूसरे के विरुद्ध हैं । इसलिए वह जड़वस्तु संवित्निष्ठ होने के कारण उस व्यवस्था के स्वयंसिद्ध होने पर भी पर—स्व—प्रकाशात्मक प्रमाता की अपेक्षा रखती है इसलिए स्वातन्त्र्य जड़ के स्वरूप में सन्निविष्ट कैसे होगा अर्थात् जो जड़ होगा वह स्वतन्त्र नहीं और जो स्वतन्त्र होगा वह जड़ नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

वह कहते हैं—

जड़ता स्वात्मसिद्धि के प्रति भी प्रमाता के अधीन है ॥ १०- ॥

जो कि लोक या शास्त्र में जड़ को भी कर्त्ता माना जाता है वह स्वतन्त्र के अधिष्ठान आदि के कारण उपचारितप्राय (= लाक्षणिक) है ॥

प्रश्न—कर्तृत्व न हो कारणत्व ही हो जाय जो कि सुस्पष्ट जड़ और अजड़

न कर्तृत्वादृते चान्यत् कारणत्वं हि लभ्यते ॥ १० ॥

स्यादेवं यद्यर्थस्य बाह्यताभासनात् अन्यत् कार्यत्वं भवेत्, यावता हि अन्तराभासमानस्यार्थस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं नाम कार्यत्वम्, ततश्च यदपेक्षयैव अन्तरवस्थितोऽर्थः तदपक्षयैवान्तरवस्थितो बहिर्भवेत्, प्रमातुरेव चान्तः-स्थितोऽयमिति, तत एव बहिर्भायान्नान्यतः, इति स एव घटादौ कार्ये कारणं, न तु जडं मृदादि, तदपेक्षयास्य अन्तर्बहिराभासाभावात्, प्रमातुश्च न कर्तृत्वात् अन्यत् कारणत्वम्, इति युक्तमुक्तम्—'कर्तृत्वमात्रसतत्त्वं जडस्य कारणत्वं न युज्यते'—इति ॥ १० ॥

ननु अयमेवंविधो भावस्वभाव एव यत् अस्मिन् सतीदं भवतीति, अन्यथा हि भावान्तर्भावेऽपि अभवत् तस्मिन् सति भवति, इति कथं स्यात्, न च अभूताकारभावनमन्तरेण अन्यत् किञ्चित् कार्यकारित्वम्, इति स्थित एव 'बीजाङ्कुरादौ भावे भावात्मा कार्यकारणभावः' इति, यद्धर्मालङ्कारः—

'भाव एव परस्येह कार्यताभाव............ ।' इति ।

'स्वभावो जनकोऽर्थानामभूताकारभावकः ॥' इति च ।

न च स्वभावमुत्सृज्य भावानामन्यत् किंचिदपेक्षणीयम्, इति किमत्र चेतनानु-

---

दोनों की सङ्गति को प्राप्त होगा? यह शङ्का कर कहते है—

कर्तृत्व के बिना दूसरा कोई कारण नहीं लक्षित होता ॥ -१० ॥

ऐसा हो सकता था यदि कार्यता अर्थ के बाह्यभासन से भिन्न होती । फिर जिसकी अपेक्षा से पदार्थ भीतर स्थित है उसी की अपेक्षा से अन्दर स्थित होता हुआ बाहर हो जाता है । यह प्रमाता के ही अन्दर स्थित है इसलिए वहीं से बाहर भासित होगा दूसरी जगह से नहीं, इसलिए घट आदि कार्य के प्रति वही (= प्रमाता ही) कारण है न कि जड़ मिट्टी आदि । क्योंकि उसकी अपेक्षा इसका भीतर और बाहर आभास नहीं होता । और प्रमाता कर्त्ता से भिन्नरूप में कारण नहीं हो सकता इसलिए ठीक कहा कर्तृत्वमात्रसतत्त्व कारणता जड़ की नहीं हो सकती ॥ १० ॥

प्रश्न—पदार्थ का इसीप्रकार का यह स्वभाव होता है कि ऐसा होने पर ऐसा होता है । अन्यथा भावान्तर्भाव होने पर भी 'नहीं होने वाला' उसके होने पर होता है—ऐसा (व्यवहार या प्रतीति) कैसे होगा? पहले न हुए आकार के होने को छोड़कर दूसरा 'कुछ' कार्यकारित्व नहीं है, इसलिए बीज़ अंकुर आदि पदार्थ में भावस्वरूप कार्यकारणभाव होता है । जैसा कि धर्मालङ्कार (में कहा गया) है—

"दूसरे भाव पदार्थ का दूसरा भाव होना ही कार्यता है ।"

"अभूत आकार को उत्पन्न करने वाला स्वभाव ही पदार्थों का जनक है ।"

प्रवेशनेन ?—इत्याशङ्क्याह—

तस्मिन्सति हि तद्भाव इत्यपेक्षैकजीवितम् ।
निरपेक्षेषु भावेषु स्वात्मनिष्ठतया कथम् ॥ ११ ॥

बौद्धानां हि नैकस्यैव भावस्य कार्यकारणभावो नापि द्वयोः यौगपद्येन घटपटवत्, न च क्रमिकत्वेऽपि अनैयत्येन नीलपीतादिज्ञानवत्, न च नियत-क्रमिकत्वेऽपि पूर्वभावि कार्यं पश्चाद्भावि च कारणम्, अपि तु नियतपूर्वभावं कारणं नियतपरभावं च कार्यम् इति उक्तम्, तस्मिन् कारणाभिमते बीजादावेव सति तस्य कार्याभिमतस्याङ्कुरादेरेव अभूतपूर्वतया अवश्यंभाव इति । नियमश्चात्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्, (पा० सू० २-३-३७) इति सप्तम्याक्षिप्तो, यदन्यस्मिन्सति अभवत् तस्मिन्नेव सति भवतीति, स्यादेतत् एवं जडानां यदि नियमो न भवेत्, यत्—सति घटे धूमोऽपि स्यात् किन्तु न नैयत्येन इति, नियमे हि अन्योन्यापेक्षा जीवितम्, सा च जडानां न संभवति, ते हि स्वात्ममात्रपरिनिष्ठितत्वादन्योन्यवार्तानभिज्ञाः, इति कस्मिन् सति किं स्यात् ।

नन्वग्निधूमावेव तथा परिदृश्यमानौ अन्योन्यात्मतामनासादयन्तावपि अन्यथा

स्वभाव को छोड़कर भावों के लिए दूसरा कुछ अपेक्षणीय नहीं है । इसलिए यहाँ चेतन के अनुप्रवेश से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसके होने पर उसका होना—केवल अपेक्षा के कारण होता है । निरपेक्ष पदार्थों में स्वतन्त्र होने के कारण कैसे (कार्य कारण भाव होगा अर्थात् नहीं होगा) ॥ ११ ॥

बौद्धों के मत में एकपदार्थ में कार्यकारणभाव नहीं होता । दो में घटपट के समान एक साथ (कार्यकारणभाव) नहीं होता । और न क्रमिक होने पर भी (क्रम के) नियत न होने से नील पीत आदि ज्ञान के समान (कार्यकारणभाव) होता है । क्रम के नियत होने पर भी कार्य पहले और कारण बाद में हो ऐसा भी नहीं है बल्कि जो नियतपूर्वभावी है वह कारण और जो नियतपश्चाद्भावी है वह कार्य होता है—ऐसा कहा गया है । कारण के रूप में स्वीकृत बीज आदि के होने पर उसके कार्य के रूप में अभिमत अंकुर आदि के अभूतपूर्व होने के कारण अवश्य उत्पत्ति होती है । इस विषय में नियम भी है—'जिसके भाव के द्वारा भाव होता है' । (इस पाणिनिसूत्र में) सप्तमी के द्वारा (यह नियम) आक्षिप्त है कि जो दूसरे के रहने पर हुआ और उसी के होने पर होता है । जड़ों के बारे में ऐसा हो सकता था यदि ऐसा नियम नहीं होता कि घट के होने पर धूम भी होगा किन्तु नियमित रूप से नहीं । नियम के विषय में अन्योऽन्यापेक्षा कारण है और वह जड़ (पदार्थो) के बारे में सम्भव नहीं । क्योंकि वे अपने में परिपूर्ण होने के कारण एक दूसरे की बात से अनभिज्ञ होते हैं । फिर किसके होने पर क्या होगा ।

भवन्तौ नियतावित्युच्येते, न तु नियमो नामापरः कश्चित्पदार्थो योऽनयोरन्योन्यापेक्षां प्रसञ्जयेत्, तदग्नेरयमेव नियमो यत्तस्य पश्चान्नाधूमः, तस्याप्ययमेव यत् ततः पूर्वं नानग्निः, इत्यनयोः स्वात्ममात्रपर्यवसितम् अनन्यस्पर्शितया विशिष्टं रूपमेव कारणता कार्यता च, इति न कश्चिदपेक्षार्थः, ? अत्रोच्यते—एवं हि दर्शनमात्रमेव प्रमाणीकृतं स्यात्, यत्—पुरुषेण अग्नेः पश्चात् धूम एव प्रतीयते, नाधूमः, तस्यापि पूर्वमग्निरेव नानग्निरिति, न च दृश्यानपेक्षात् दर्शनमात्रादेव अर्थतथात्वव्यवस्था न्याय्या इत्यनयोः स्वरूपसंनिविष्टः कश्चिद्विशेषोऽभ्युपगमनीयो योऽग्निधूमौ तथा नियमयेत्, अन्यथा हि अग्नेः पश्चात् यो धूम एव नापरः स नाग्नेः स्वरूपातिशयो, नापि यो धूमात् पूर्वमग्निरेव नापरः स धूमस्य, इति कथमेवंभावो भवेत् नहि परः परस्य स्वरूपमतिशाययति न च बहुशोऽपि दैवयोगात् पुरुषेण घटादनन्तरं पटो दृष्ट इति तयोः परस्परयोर्निरपेक्षयोरपि तावता किञ्चित् नियामकं ज्ञातेयमुदियात् येनावश्यं पौर्वापर्यं स्यात्, एवं च कृत्तिकारोहिण्युदययोरपि कार्यकारणभावो भवेत्—यदुदितासु कृत्तिकासु नियमेन रोहिण्युदयः इति, अथ कृत्तिकाभ्यो रोहिणीनामभूतपूर्वतया

प्रश्न—इस प्रकार दिखलाई पड़ने वाले अग्निधूम अन्योऽन्यात्मता को न प्राप्त करते हुए भी अन्यथा होते हुए नियत कहे जाते हैं । नियम कोई पदार्थान्तर नहीं है जो इन दोनों की अन्योऽन्यापेक्षा को प्रासङ्गिक बनाए । तो अग्नि का यही नियम है कि उसके पश्चात् धूमाभाव नहीं है अर्थात् धूम है । धूम का भी यही नियम है कि उसके पूर्व अग्न्यभाव नहीं हैं अर्थात् अग्नि है । इस प्रकार इन दोनों का अपने में पर्यवसित अन्यस्पर्शी न होने के कारण विशिष्टरूप ही कारणता और कार्यता है इसलिए अपेक्षा का कोई प्रयोजन नहीं है ? इस विषय में कहते हैं—इस प्रकार केवल दर्शन ही प्रमाणित हो रहा है, कि पुरुष के द्वारा अग्नि के बाद धूम ही जाना जाता है न कि अधूम । उस (= धूम) के भी पहले अग्नि ही (जानी जाती है) अग्न्यभाव नहीं । दृश्य की अपेक्षा न कर केवल दर्शन से अर्थ के तथात्व की व्यवस्था उचित नहीं है इसलिए इन दोनों के स्वरूप में संनिविष्ट कोई विशेष (= वैशिष्ट्य) मान लेना चाहिए जो अग्नि और धूम को उस प्रकार नियमित कर दे अन्यथा अग्नि के पश्चात् जो धूम ही है दूसरा कुछ नहीं वह अग्नि का स्वरूपातिशय नहीं है और न तो जो धूम के पूर्व अग्नि ही है दूसरा कुछ नहीं है वह धूम का (स्वरूपातिशय) । इसलिए कैसे ऐसा होगा । एक दूसरे के रूप को अतिशायित नहीं करता । ऐसा नहीं है कि किसी पुरुष के द्वारा संयोगवश कई बार घट के बाद पट देखा गया तो परस्पर निरपेक्ष भी दोनों का इस कारण कुछ नियामक ज्ञातेय (= सम्बन्ध) उदित हो जिससे अवश्य पौवापर्य हो जाय । इस प्रकार तो कृत्तिका और रोहिणी के उदयों में भी कार्यकारण सम्बन्ध होने लगेगा क्योंकि कृत्तिकाओं का उदय होने पर नियमपूर्वक रोहिणी का उदय होता है । यदि प्रश्न हो कि कृत्तिकाओं से रोहिणियों का अभूतपूर्व रूप में उदय नहीं है क्योंकि

नोदयः, पूर्वदिनेषु तथा दृष्टत्वात्, इति चेत्?—न एतद्धि धूमेऽपि समानम्, यत् तस्यापि पूर्वदिनेषु वह्निनैरन्तर्येणोदयो दृष्ट इति । ननु पूर्वस्य सामर्थ्यात् परस्य भावः कार्यकारणभावः, स च न कृत्तिकारोहिण्युदययोः संभवति ध्रुवावबद्धं हि नक्षत्रचक्रं युगपदेव नित्यं प्रवहदवस्थितम्, किन्तु घटीयन्त्रवत् क्रमेण परिवर्तमानं दृश्यते, येनायमनयोः पूर्वापरत्वेनावसायो न तु स्वरूपसंनिविष्टः कश्चिद्विशेषः । नन्विदं हि नाम भवद्गृहे पूर्वस्य सामर्थ्यं गीयते यत् तदभावादभूतोऽपि परः तस्मिन् सति भवन् दृश्यते इति, यद्धर्मालङ्कारः

'तत्र सामर्थ्यं हि तस्य जनकत्वं, तच्च यदि
तस्मिन्सति न भवति कथं नाम तत्सामर्थ्यम्,
अथ भवति कथमसामर्थ्यं स्यात् ।' इति ।

त्रैकाल्यपरीक्षापि

'अथ च प्रागसन्भावः कारणे सति दृश्यते ।' इति ।

तच्चात्रापि समानम्, यत् कृत्तिकोदयात् पूर्वमभवन्नपि रोहिण्युदयः तस्मिन् सति भवन् दृश्यते इति, तत् सर्वथा समानेऽपि विधौ कृत्तिकारोहिण्युदययोः कार्यकारणभावो नास्ति, धूमाग्न्योश्चास्ति इति निर्निबन्धनः कथमसौ विभागः

पूर्व के दिनों में वैसा देखा गया है—तो ऐसा नहीं है । यह तो धूम के विषय में भी समान है कि उसका भी पूर्व दिनों में वह्नि की निरन्तरता के साथ उदय देखा गया है ।

प्रश्न—पूर्व के सामर्थ्य से पर की सत्ता, कार्यकारणभाव है और यह कृत्तिका और रोहिणी के उदयों में सम्भव नहीं है । ध्रुवा से अवबद्ध नक्षत्रचक्र एक ही साथ नित्य प्रवाहित होता रहता है किन्तु घटीयन्त्र के समान क्रमशः परिवर्त्तमान दिखलाई देता है जिससे इन दोनों का यह पूर्वापर के रूप में निश्चय होता है न कि (यह पौर्वापर्य) कोई स्वरूप में सन्निविष्ट वैशिष्ट्य है । प्रश्न—आपके घर में यह पूर्व का सामर्थ्य कहा जाता है कि उसके अभाव से अभूत भी पर उसके होने पर होता हुआ दिखाई देता है । जैसा कि धर्मालङ्कार (में कहा गया है)—

"सामर्थ्य का अर्थ है—उसका जनक होना । यदि उसके होने पर वह न हो तो वह सामर्थ्य कैसे? और यदि होता है तो असामर्थ्य कैसे होगा?"

त्रैकाल्यपरीक्षा में भी—

"पहले (कार्यका) असत्भाव था कारण के रहने पर (कार्य) दिखाई देता है ।"

और वह यहाँ भी समान है कि कृत्तिका के उदय से पूर्व न होने वाला रोहिणी का उदय उसके होने पर होता हुआ दिखाई देता है । इस प्रकार विधि के सर्वथा समान होने पर भी कृत्तिका और रोहिणी के उदयों में कार्यकारणभाव नहीं है ।

श्रद्धातव्यः स्यात् । तस्मात् कार्यकारणयोः स्वरूपसंनिविष्टं किञ्चिज्ज्ञातेयमभ्युपगमनीयं यस्यान्वयव्यतिरेकौ स्याताम्, ज्ञापकेन हि सर्वत्र वस्तुनि संभवदेव रूपं ज्ञाप्यते, नान्यथा, तथात्वे वा भ्रान्तिः स्यात्—इति न वस्तु ज्ञापितं भवेत्, न च तदपेक्षामपहाय अन्यत् किञ्चित् भवितुमर्हति, सा च द्विविधा—अन्योन्यानुषङ्गितात्मिका अभिप्रायात्मिका वा न च उभय्यपि सा कार्यकारणतया संमतानां जडानां संभवति, अन्योन्यानुषङ्गिता हि द्वयोरर्थयोः परस्पररूपत्वात् वह्न्यौष्ण्ययोरिव सत्तायामैकात्म्यम्, एकतरापाये पुनः परस्य सत्तैव न स्यात्—उष्णत्वाभाव इव वह्नेः, न च कार्यकारणयोरेवंभावोऽस्ति,—परस्परविविक्ततया अग्निधूमयोः प्रतिभासात्, तथात्वे धूमाभावेऽग्निरेव न भायात्, तदभावेऽपि वा धूम इति प्रत्यक्षविरोधः स्यात् । द्वितीया चानुसंधानरूपा । यथा—भोक्तुरन्नं प्रति, भोक्ता हि अन्नं प्रति सापेक्षोऽपि अन्नानुषङ्गितया न प्रतीयते, किं तु तदस्य संविदि अभिमुखीभावमेति, येनायं तदभिलाषाद्यात्मना अनुसन्धानेन तत्र प्रवर्तते, न चैवं कार्यकारणयोः संभवति, तयोर्जडत्वात्, परस्परस्य स्वरूपमनुसंधातुमसामर्थ्यात् । तत्सर्वथा जडानां किञ्चित् ज्ञातेयं बिना कार्यकारणभावो नोपपन्नः, इत्येव स्थितम् ॥ ११ ॥

जबकि धूम और अग्नि का (कार्यकारणभाव) निर्बाध है । तो यह विभाग कैसे श्रद्धेय हो? इसलिए कार्यकारण का स्वरूपसंनिविष्ट कोई ज्ञातेय मानना चाहिए । जिसका अन्वय और व्यतिरेक दोनों हो । ज्ञापक के द्वारा वस्तु में संभावित ही रूप का ज्ञापन किया जाता है अन्यथा (= असंभावित का) नहीं । वैसा होने पर भ्रान्ति हो जाती है फलतः वस्तु ज्ञापित नहीं होती । और उसकी अपेक्षा को छोड़कर दूसरा कुछ संभव नहीं हो सकता । वह (अपेक्षा) दो प्रकार की हो सकती है—अन्योऽन्यानुसङ्गात्मक अथवा अभिप्रायात्मक । ये दोनों ही (अपेक्षायें) कार्यकारण के रूप में संमत जड़ (पदार्थों) में सम्भव नहीं है । दो अर्थों के परस्पररूप होने से वह्नि और उष्णता के समान सत्ता में एकात्मता ही अन्योऽन्यानुसङ्गिता है । यहाँ एक का नाश होने पर दूसरे की सत्ता ही नहीं रहेगी जैसे कि उष्णत्व का अभाव होने पर अग्नि की (सत्ता) । कार्यकारण में ऐसा सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि अग्नि और धूम परस्पर अलग दिखाई देते हैं जैसे धूम आसमान में रहता है और अग्नि भूमि पर । वैसा होने पर धूम के अभाव में अग्नि का भान नहीं होता । इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोध है । दूसरे प्रकार की (अपेक्षा) अनुसन्धानरूपा है । जैसे—भोक्ता की अन्न के प्रति । भोक्ता अन्न के प्रति सापेक्ष होते हुए भी अन्न के अनुषङ्गी के रूप में प्रतीत नहीं होता किन्तु वह (अन्न) इस (भोक्ता) की संविद् में अभिमुख होता है जिससे यह अभिलाषा आदि अनुसन्धान के द्वारा उसमें प्रवृत्त होता है । कार्यकारण के बारे में ऐसा सम्भव नहीं है । क्योंकि उन दोनों के जड़ होने से परस्पर स्वरूप के अनुसन्धान का सामर्थ्य नहीं होता । तो सर्वथा जड़ों के कुछ ज्ञातेय (= सम्बन्ध) के बिना कार्यकारण भाव सिद्ध नहीं होता—यही सिद्ध

ननूक्तमेवात्र ज्ञातेयं यत् कारणस्य पूर्वत्वं कार्यस्य च परत्वम् इति, पूर्वसत्ताप्रयोजकीकारेण हि परस्यापूर्वतया सत्ताविर्भावः, अत एव न भविष्यद्वर्तमानयोः तदाविर्भावने सामर्थ्यम्, तावन्तरेणापि तस्य भावात्, पूर्वस्य हि प्रागेव सत्त्वात् तदाविर्भावने सामर्थ्यं, न भविष्यतः, तदानीं तस्याकिंचिद्रूपत्वात्, वर्तमानश्च समानकाल उच्यते, समानकालत्वं च लब्धसत्ताकयोर्भवति, न च तदाऽनयोः किञ्चित् कर्तव्यमवशिष्यते—यदेकस्यान्येन क्रियेत, इति पौर्वापर्यमात्र-मेव कार्यकारणयोर्ज्ञातियम्—इत्याह—

स पूर्वमथ पश्चात्स इति चेत्पूर्वपश्चिमौ ।
स्वभावेऽनतिरिक्तौ चेत्सम इत्यवशिष्यते॥ १२ ॥

नन्वनयोः पूर्वत्वं परत्वं च किं स्वभावादतिरिक्तमनतिरिक्तं वा ? तत्र नाद्यः पक्षः—नहि भवद्गृहे पूर्वत्वाद्यपि किञ्चिद्वस्तु सदस्ति यत्तदतिरेकेण सत्तामियात्, व्यवहारमात्रसिद्धत्वे वा तस्य कार्यकारणभावोऽपि एवं स्यादिति स्वसिद्धान्तभङ्गः—कार्यकारणभावस्य वस्तुस्वभावत्वेनाभ्युपगमात्, यद्धर्मालङ्कारः—

'तदेवमयं वस्तुस्वभाव एव कार्यकारण-

होता है ॥ ११ ॥

प्रश्न—कारण पहले होता है और कार्य बाद में—इस प्रकार ज्ञातेय (= सम्बन्ध) कह दिया गया । पूर्व सत्ता को प्रयोजक बनाकर अपूर्वरूप में पर की सत्ता का अविर्भाव होता है । इसलिए भविष्यद् और वर्तमान का उस (= सत्ता) को आविर्भूत करने में सामर्थ्य नहीं है क्योंकि उन दोनों के बिना भी उस (= सत्) की सत्ता है । पूर्व पहले रहता है इस कारण उस (= पश्चाद्भावी) के आविर्भाव में (पूर्व) का ही (सामर्थ्य) है भविष्य का नहीं क्योंकि उस समय वह शून्यरूप रहता है और वर्त्तमान समकाल कहा जाता है । समानकालता दो सत्तावान् (पदार्थों) की होती है । उस समय इन दोनों (लब्धसत्ताकों) का कोई कर्त्तव्य शेष रहता नहीं जो एक का दूसरे के द्वारा किया जाय । इसलिए कार्य और कारण का पौर्वापर्यमात्र ही ज्ञातेय है—यह कहते हैं—

वह पहले है और वह बाद में यदि ऐसा है तो (वे दोनों) पूर्वापर हैं । यदि वे दोनों स्वभाव में भिन्न नहीं है तो सम बच रहता है ॥ १२ ॥

प्रश्न—इन दोनों का पूर्वत्व और परत्व स्वभाव से अतिरिक्त है या अनतिरिक्त? पहला पक्ष (ठीक) नहीं—आपके घर (= मत) में पूर्वत्व आदि कोई सद् वस्तु नहीं है जो उससे भिन्न सत्तावाली हो । यदि उसको व्यवहार से सिद्ध मानते हैं तो उसका कार्यकारणभाव भी ऐसा ही होगा इसलिए (= आपका) अपना सिद्धान्त खण्डित हो रहा है । क्योंकि कार्यकारणभाव को वस्तु का स्वभाव माना गया है । जैसा कि धर्मालङ्कार (का कथन) है—

भावो न तु व्यवहारमात्रसिद्धः ।' इति,

अनतिरेकपक्षे च कार्यकारणत्वेन संमतं भावद्वयमेवावशिष्यते इति न तयोः ज्ञातेयं किंचिदुक्तं स्यात्, न च भवद्दर्शने धूमाग्न्योर्धूमाग्निरूपतां विहाय अन्यः कश्चित् कार्यकारणभावात्मा विशेषः, अत एव चात्राभ्युच्चयबुद्धिनिर्ग्राह्यत्वमुक्तं यत् न केवलमयमग्निर्धूमो वा यावत् कारणमपि कार्यमपीति । नन्वेवं वदद्भिर्भवद्भिर-नक्षरमेव धूमाग्निरूपताया अन्यत् कारणत्वं कार्यत्वं चोक्तम्, तथाहि— यद्यग्नित्वमेव कारणत्वं तत्प्रतीतेऽग्नित्वे

'एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम् ।
कोऽन्यो न भागो दृष्टः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या किमिति न तत् प्रतीयात्, येनाभ्युच्चयबुद्धिनिर्ग्राह्यत्वमपि अस्य स्यात् ? सत्यमेवं किं तु विकल्पस्य एतद्दौरात्म्यं यदग्नित्वमवस्यन्नेतावदेव अवस्यति न कारणत्वमपि येनैवंप्रतीत्यन्तराभ्युच्चयः, ननु विकल्पेन चेत् तथावसितं तावता कः प्रतीत्यन्तराभ्युच्चयार्थः, नहि 'गौः' 'शुक्ल' इत्येवमादि-ष्वभ्युच्चयबुद्ध्या किञ्चित् कार्यम् एतद्विकल्पस्य स्वशिल्पनैपुणं यदभिन्नमपि

"तो इस प्रकार यह कार्यकारणभाव वस्तु का स्वभाव ही है न कि व्यवहारमात्र से सिद्ध ।"

और अभेदपक्ष में कार्यकारण के रूप में संमत दो पदार्थ ही बच रहते हैं फलतः उन दोनों में ज्ञातेय नाम की कोई चीज नहीं कही जा सकती । आप (= बौद्ध) के दर्शन में भी धूम और अग्नि की धूमाग्निरूपता को छोड़कर दूसरा कोई कार्यकारणभावरूप विशेष नहीं है । इसीलिए यहाँ समुच्चयबुद्धि की निर्ग्राह्यता कही गयी है कि यह केवल अग्नि या धूम नहीं है बल्कि कारण और कार्य भी है । प्रश्न—ऐसा कहते हुए आपके द्वारा बिना शब्द के धूम और अग्नि से भिन्न कार्य और कारण कह दिया गया । वह इस प्रकार—यदि अग्नित्व ही कारणता है तो अग्नित्व के प्रतीत होने पर

"एक अर्थस्वभाव यदि स्वयं प्रत्यक्ष हो रहा है तो दूसरा कौन सा भाग नहीं देखा गया जिसकी प्रमाणों से परीक्षा की जाती है अर्थात् वह भी प्रत्यक्ष हो जायगा।"

इत्यादि उक्तयुक्ति के द्वारा वह (कारणत्व) क्यों नहीं प्रतीत होता जिससे कि यह अभ्युच्चय (= वृद्धि या आगम) की बुद्धि से ग्राह्य भी हो जाय । यह (प्रश्न) सत्य है किन्तु यह तो विकल्प की दुष्टता है कि (वह) अग्नित्व का निश्चय करता हुआ इतना ही निश्चित करता है कारणत्व का निश्चय नहीं करता जिससे इस प्रकार की भिन्न प्रतीति होती है । प्रश्न—यदि विकल्प ने ऐसा निश्चय किया तो इससे दूसरी प्रतीति के अभ्युच्चय का क्या लेना देना है ? 'गौ' 'शुक्ल' इत्यादि में

भेदयति भिन्नमपि संसृजतीति ।

अथ प्रतिभासमूलमेव विकल्पस्य माहात्म्यम्, इह तु न तथा, नहि कारणत्वं कार्यत्वं वा संनिवेशादिवत् अर्थातिशयरूपं येन अनयोः प्रातिभासिकत्वं स्यात्, अथ च प्रतीयमानरूपस्वभावत्वेन क्षणिकत्ववद- वस्थाप्येते इत्यस्त्यत्र अभ्युच्चयबुद्ध्या कार्यं, नहि आकारशून्योऽर्थः स्यात् अवेद्यं वा वेदनं तदग्न्याकार एव धूमकारणताया आकारो यत्र प्रतीत्यन्तराभ्युच्चयो भवेत् ? सत्यमस्त्येवं किं तु अग्न्याकारादन्य एव धूमकारणताया आकारः, अन्यथा हि अन्त्यावस्थामप्राप्तोऽपि अग्निः कथं न धूमं जनयेत्, नहि तादवस्थ्यमप्राप्तोऽग्निरग्निर्न स्यात्, क्षणिकत्वं च योगिनां प्रतीयमानात् नीलरूपात् अन्यदेव पर्यवस्येत्, नीलादिकं हि निवृत्त्यनिवृत्त्युभयधर्मसाधारणरूपम्, क्षणिकत्वं पुनर्निवृत्त्येकधर्मस्वभावम्, यत् प्रामाण्यं 'निवृत्तिधर्मता हि सा' इति, तस्मात् भास्वराद्याकारत्वं नामाग्नित्वं धूमानुविहितान्वयव्यतिरेकत्वं च कारणत्वं, पाण्डुराद्याकारत्वं च धूमत्वम्, अग्न्यन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं च कार्यत्वम् इति धूमाग्निरूपतातिरिक्तं कार्यत्वं कारणत्वं चानुक्तसिद्धमेव, अन्यथा हि कार्यकारण-त्वेन संमतं भावद्वयं विशरारुप्रायं पर्यवस्येत् ॥ १२ ॥

अभ्युच्चयबुद्धि कुछ नहीं करती । यह तो विकल्प की निपुणता है कि अभिन्न को भिन्न बना देता है तथा भिन्न को जोड़ देता है ।

प्रश्न—इस प्रकार के विकल्प के माहात्म्य का मूल प्रतिभास है । यहाँ तो वैसा नहीं है । कारणता या कार्यता संनिवेश (= अवयव सङ्घटना) आदि के समान अर्थातिशय रूप नहीं है जिससे ये दोनों प्रतिभासिक हो जायेंगे । साथ ही प्रतीयमानरूप स्वभाव के कारण क्षणिकत्व के समान (ये दोनों) माने जायें इसलिए यहाँ अभ्युच्चयबुद्धि कार्य करेगी । अर्थ आकारशून्य नहीं होता, वेदन अवेद्य नहीं होता तो अग्नि का आकार ही धूमकारणता का आकार है जहाँ दूसरी प्रतीति का अभ्युच्चय होता है । सचमुच ऐसा है किन्तु धूम कारणता का आकार अग्नि के आकार से भिन्न है । अन्यथा अन्तिम अवस्था को प्राप्त भी अग्नि धूम को क्यों नहीं उत्पन्न करती । ऐसा तो नहीं है कि उस अवस्था को अप्राप्त अग्नि-अग्नि नहीं होती और क्षणिकत्व योगियों के प्रतीयमान नीलरूप से अन्य ही हो जाएगा । नील आदि तो निवृत्ति अनिवृत्ति दोनो धर्मो वाले हैं और क्षणिकत्व केवल निवृत्ति रूप एक धर्मवाला है 'जो प्रामाण्य है वह निवृत्तिधर्मता ही है ।' इसलिए भास्वर आदि आकार वाला होना अग्नित्व है और धूम का अनुनिकायी अन्वय व्यतिरेक कारणता है । (उसी प्रकार) पाण्डुर आदि आकार वाला होना धूमत्व है और अग्नि का अन्वयव्यतिकानुविधायी होना कार्यता है । इस प्रकार धूमरूपता और अग्निरूपता से भिन्न कार्यता और कारणता अनुक्तसिद्ध है अन्यथा कार्य और कारण के रूप में सम्मत दोनों पदार्थ विशरारूप्राय (प्रायः टुकड़े-टुकड़े) हो जायेंगे ॥ १२ ॥

ननु भवत्वेवं, नहि कार्यकारणभावात्मा कश्चित् संबन्धोऽस्माकं विवक्षितः, सर्व एव हि भावाः स्वात्ममात्रपर्यवसिता एव ?—इत्याशङ्क्याह—

बीजमङ्कुर इत्यस्मिन् सतत्त्वे हेतुतद्वतोः ।
घटः पटश्चेति भवेत् कार्यकारणता न किम् ॥ १३ ॥

अस्मिन्सतत्त्व इति—परस्परमपेक्षाशून्ये—इत्यर्थः किं न भवेदिति—परस्परनैरपेक्ष्यस्य अविशेषात् अत्रापि कार्यकारणभावो भवतु, इति यावत् । इह खलु अपेक्षाशून्यत्वात् जडानां कार्यकारणभावो न भवेत्—इत्युपपादितम् । अथ च लोके बीजादङ्कुरो जायते इत्येवमाद्यात्मिका प्रतीतिः, इत्यवश्यं केनचित् चिद्रूपेण प्रमात्रा भाव्यं यत्र विश्रान्तं सत् भावद्वयं कार्यकारणव्यपदेशपात्रता-मासादयेत, नहि चिदात्मकैकप्रमातृविश्रान्तिमन्तरेण अत्यन्तविशरारूणां सिकताना-मिव जडानां भेदाभेदात्मा संश्लेषः स्यात्, अत एव कर्तृकर्मभावसतत्त्व एव कार्यकारणभावः, इति नः सिद्धान्तः, यदुक्तम्—

'जडस्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः ।
कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः ॥' इति ।

ततश्चैतत् युज्यते यत् कृषीवलो बीजादङ्कुरं जनयति, ईश्वरश्च शृङ्गात्

प्रश्न—हो जाय ऐसा । हम लोगों के द्वारा कोई कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध विवक्षित नहीं है । सभी पदार्थ केवल अपने तक सीमित हैं? यह शङ्का कर कहते हैं—

बीज है अंकुर है—इस प्रकार परस्पर अपेक्षाशून्य दो पदार्थों में (यदि) कार्यकारण भाव मानते हैं तो घट और पट यहाँ पर भी कार्यकारण भाव क्यों नहीं होगा ? ॥ १३ ॥

इस सतत्त्व में = परस्पर अपेक्षाशून्य (दो पदार्थों) में । क्यों नहीं होगा—निरपेक्षता के परस्पर समान होने के कारण यहाँ भी कार्यकारण भाव हो जाय । अपेक्षाशून्य होने के कारण जड़ (पदार्थों) में कार्यकारण सम्बन्ध नहीं हो सकता—ऐसा सिद्ध किया जा चुका है साथ ही बीज से अंकुर उत्पन्न होता है—ऐसी प्रतीति भी होती है—इसलिए किसी प्रकार का प्रमाता अवश्य होना चाहिए जिसमें विश्रान्त होकर दोनो पदार्थ कार्यकारणव्यवहार की पात्रता प्राप्त कर सकें । चिदात्मामात्र प्रमाता में विश्रान्ति को छोड़कर बालू के समान अत्यन्त पृथक् जड़ पदार्थों का भेदाभेदरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता । इसलिए कर्तृकर्मभाव वाले (दो पदार्थों) में ही कार्यकारणभाव होता है—यह हमारा सिद्धान्त है । जैसा कि कहा गया—

"वह शक्ति जड़ की नहीं है कि असत् को सत् की सत्ता प्रदान करे । इसलिए कार्यकारणता कर्तृकर्मतत्त्व वाली ही है ।"

इसलिए यह ठीक है कि कृषक बीज से अंकुर को उत्पन्न करता है और ईश्वर

शरमग्नेर्वा धूममिति ॥ १३ ॥

नन्वेवं बीजाङ्कुरयोर्भेदे सति एकप्रमातृविश्रान्तिमात्रात् कारणत्वं कार्यत्वं च न सिद्ध्येत्, एवं घटपटाभासयोरपि तादूरूप्यं स्यात्—सर्वविभासानां प्रमातर्येव विश्रान्तेः, तत् तयोरैकात्म्यमेव अङ्गीकार्यं येन कारणमेव तत्तद्रूपतया परिणमत् कार्यमित्युच्यते ?—इत्याह—

बीजमङ्कुरपत्रादितया परिणमेत चेत् ।

इह तावत् सर्व एव भाववर्गः परिनिष्ठितनिजरूप इति बीजं चेद् बीजं कथमिवाङ्कुरादिरूपतामियात् अतथास्वभावस्य तथास्वभावायोगात्, नहि कदाचित् घटोऽपि पटः स्यात् ॥

अतत्स्वभाववपुषः स स्वभावो न युज्यते ॥ १४ ॥

अथोच्यते—बीजस्येयानेव स्वभावो यत् क्रमेणाङ्कुराद्यात्मनावतिष्ठते इति 'एकमेव हि वस्तु क्रमविचित्रस्वभावम्' इति सत्कार्यवादिनः ॥ १४ ॥

अत आह—

(पर्वत के) शिखर से पानी (या सींग से बाण) या अग्नि से धूम ॥ १३ ॥

प्रश्न—इस प्रकार बीज और अंकुर के भिन्न होने पर एक प्रमाता में विश्रान्ति होने से कारणता और कार्यता सिद्ध नहीं होती । क्योंकि इस प्रकार घटाभास एवं पटाभास का भी अभेद हो जाएगा । चूँकि सभी आभास प्रमाता में ही विश्रान्त होते हैं इसलिए उनका अभेद ही मानना चाहिए । इस प्रकार कारण ही भिन्न-भिन्न रूप में परिणत होता हुआ कार्य कहा जाता है । यह़ कहते हैं—

यदि बीज (अङ्कुर आदि से अभिन्न है तभी वह) अंकुर और पत्र आदि के रूप में परिणत होता है ? ॥ १४- ॥

समस्तपदार्थसमूह अपने-अपने रूप में पूर्ण है इस प्रकार बीज यदि बीज है तो वह अंकुर आदि का रूप कैसे प्राप्त करेगा क्योंकि जो वैसे स्वभाववाला नहीं होता वह उस स्वभाव को प्राप्त नहीं करता । घट कभी भी पट नहीं होता ॥

वही कहते हैं—

(जो) तत्स्वभाव वाला नहीं होता है वह उस स्वभाव वाला नहीं हो सकता ॥ -१४ ॥

यदि यह कहा जाय कि बीज का यही स्वभाव है कि (वह) क्रम से अंकुर आदि के रूप में स्थित रहता है । "एक ही वस्तु क्रमरूप विचित्र स्वभाववाली होती है ।—ऐसा सत्कार्यवादी कहते हैं ॥ १४ ॥

इसलिए कहते हैं—

स तत्स्वभाव इति चेत् .... ।

ननु यद्येवं तर्हि बीजमङ्कुरो वा बीजत्वमात्र एवाङ्कुरत्वमात्र एव वा रूपे विश्रान्तेः बीजस्याबीजात्मकमङ्कुराद्यपि अन्त्यं रूपं संभवेत्, अङ्कुरस्य चानङ्कुराद्यात्मकम् आद्यं बीजाद्यपीति ?—तदाह—

..................तर्हि बीजाङ्कुरा निजे ।
तावत्येव न विश्रान्तौ तदन्यात्यन्तसंभवात् ॥ १५ ॥

न चैकमेव वस्तु द्व्यात्मकं संभवेत्, इत्यवश्यं केनचिदेकेन भाव्यं यस्य बीजाङ्कुराद्यात्मना विचित्रोऽयमाकारः प्रस्फुरेत् ॥ १५ ॥

तदाह—

ततश्च चित्राकारोऽसौ तावान्कश्चित्प्रसज्यते ।

नन्वभीष्टमेवैतदस्माकम् ?—इत्याह—

अस्तु चेत्.............................. ।

ननु एवमपि कथमेकस्यैव परस्परविरुद्धं बीजत्वाबीजत्वाद्यात्मकमाकारद्वयं संभवेत् ?—इत्याह—

.........न जडेऽन्योन्यविरुद्धाकारसंभवः ॥ १६ ॥

यदि वह उस स्वभाव वाला है ॥ १५- ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो बीज या अंकुर की बीजत्व मात्र अथवा अंकुरत्व मात्र रूप में ही विश्रान्ति के कारण बीज का अबीजात्मक अंकुर आदि भी अन्तिम रूप हो सकता था । और (इसीप्रकार) अंकुर का अनंकुराद्यात्मक आद्य बीज आदि भी? वही कहते हैं—

तो बीज और अंकुर उतने अपने में ही विश्रान्त नहीं है क्योंकि उससे भिन्न अन्तिम परिणति संभव है ॥ -१५ ॥

एक वस्तु दो रूपवाली नहीं हो सकती इसलिये कोई एक अवश्य होना चाहिये जिसका बीज अकुर आदि के रूप में यह आकार स्फुरित हो रहा है ॥१५॥

वही कहते है—

इसलिए कोई उतना विचित्र आकारवाला प्रसक्त (प्राप्त) होता है ॥ १६- ॥

प्रश्न—यह हमें अभीष्ट है?—यह कहते हैं—

"यदि है.........." ॥ -१६- ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर भी एक ही का परस्पर विरुद्ध बीजत्व अबीजत्व आदि रूप दो आकार कैसे सम्भव होगा ?—यह कहते हैं—

नहि एक एव घटो लोहितश्चालोहितश्च भवेदिति भावः, स्यादेतत्—एवं यदि युगपच्चित्रत्वमभ्युपगच्छेम किं तु क्रमेण, इति को विरोधार्थः ॥ १६ ॥

अत आह—

क्रमेण चित्राकारोऽस्तु जडः किं नु विरुद्ध्यते ।

यत् सत्कार्यसिद्धिः परिदृश्यमानमेव भावशरीरं स्वभावभूतेन क्रमेण तथा तथा भवतीति

'एक एव स आकारः क्रमचित्रो हि तत्त्वतः ।
स्वस्वरूपनिमग्नं तद्वैचित्र्यं सर्वमश्नुते ॥' इति च ।

'जडः' इति, अजडं हि चित्रविज्ञानादि युगपत् चित्रमपि भवेत् इति भावः । 'किं नु विरुध्यते' इति—लोहितोऽपि हि घटः क्रमात् निमित्तान्तरेणापि अलोहितोऽपि स्यात् ॥

ननु क्रमो यौगपद्यं वा न वस्तुनः स्वरूपे कश्चिदतिशयः, अपि तु संविदः, संवित् हि घटादनन्तरं पटं प्रतियती समं वा क्रमाक्रमावुत्थापयेत्, न तु वस्तुनः स्वरूपादधिकः कश्चिदक्रमः क्रमो वा भवेत्, इत्येकस्मिन् वस्तुनि क्रमाभ्युपगमेऽपि

जड़ (पदार्थ) में परस्पर विरुद्ध आकार संभव नहीं है ॥ -१६ ॥

एक ही घड़ा लाल और अलाल दोनों नहीं हो सकता । ऐसा हो सकता है यदि हम एक साथ किन्तु क्रम से चित्रता को मानें, फिर कहाँ विरोध है? ॥१६ ॥

इसलिए कहते हैं—

जड़ (पदार्थ) क्रम से विचित्र आकार वाला हो जाय इसमें क्या विरोध है? ॥ १७- ॥

जो सत्कार्य की सिद्धि है (वह यह कि) दृश्यमान भावशरीर स्वभावभूतक्रम से उस-उस प्रकार का हो जाता है—

"तत्त्वतः एक ही वह आकार क्रम से विचित्र होता है । अपने स्वरूप में छिपे उस वैचित्र्य का सब (तत्त्व) अनुभव करते हैं (अथवा वह वैचित्र्य सबको व्याप्त करता है) ।"

जड़ पद को स्पष्ट करते हैं—अजड़ चित्रविज्ञान आदि एक साथ विचित्र भी हो जाते हैं—यह तात्पर्य है। कहाँ विरोध है ?—रक्त भी घट क्रमशः कारणान्तर के द्वारा अरक्त हो सकता है ॥

प्रश्न—क्रम अथवा यौगपद्य वस्तु के स्वरूप में कोई अतिशय नहीं है बल्कि संविद् का (अतिशय) है । संविद् घट के बाद, अथवा एक साथ पट को प्राप्त करती हुई क्रम और अक्रम को उठाती है । यह क्रम या अक्रम वस्तु के स्वरूप

न विरुद्धधर्माध्यासो व्युपरमेत् ?—इत्याह—

क्रमोऽक्रमो वा भावस्य न स्वरूपाधिको भवेत् ॥ १७ ॥
तथोपलम्भमात्रं तौ............................ ।

'न स्वरूपाधिको भवेत्' इति—न कश्चिदित्यर्थः । अत्र हेतुः 'तथोपलम्भमात्रं तौ' इति उपलम्भो हि क्रमेण अन्यथा वा भवन् क्रमाक्रमाभ्यां भावस्वरूपं व्यवहारयतीति ॥ १७ ॥

ननु उपलम्भस्यापि एवंभावे किं निमित्तम् ?—इत्याह—

........................उपलम्भश्च किं तथा ।

इह खलु उपलब्धा क्रमाक्रमाभ्यामेव तत्तदर्थजातमुपलभते इत्युपलम्भस्यापि क्रमाक्रमायोगः, उपलब्धुश्च संविन्मात्ररूपत्वेऽपि क्रमाक्रमोपलम्भस्वभावत्वादेवंभावः॥

तदेतदाशङ्कते—

उपलब्धापि विज्ञानस्वभावो योऽस्य सोऽपि हि ॥ १८ ॥
क्रमोपलम्भरूपत्वात् क्रमेणोपलभेत चेत् ।

से अधिक कुछ नहीं हैं तो इस प्रकार क्या एकवस्तु में क्रम मानने पर भी विरुद्ध धर्माध्यास की शान्ति नहीं होगी? यह कहते हैं—

पदार्थ का क्रम अथवा अक्रम (उसके) स्वरूप से अतिरिक्त (कुछ) नहीं है ॥ -१७ ॥

वे दोनों उस प्रकार के उपलम्भमात्र हैं ॥ १८- ॥

स्वरूप से अधिक नहीं हैं—अर्थात् कुछ नहीं है । इसमें कारण है—'वे दानों उसप्रकार के उपलम्भ मात्र हैं ।' उपलम्भ क्रमश अथवा अक्रम से होता हुआ क्रम और अक्रम के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को व्यवहार में लाता है ॥ १७ ॥

प्रश्न—उपलम्भ के भी ऐसा होने में क्या कारण है?—यह कहते हैं—

उपलम्भ वैसा क्यों होता है ? ॥ -१८ ॥

प्राप्त करने वाला क्रम-अक्रम के द्वारा ही भिन्न-भिन्न अर्थसमूह को प्राप्त करता है इसलिए प्राप्ति का भी क्रम और अक्रम से सम्बन्ध है । और उपलब्धा के संविद्रूप होने पर भी क्रम एवं अक्रम से उपलब्धि का स्वभाव होने से ऐसा हो जाता है ॥

उसी की शङ्का करते हैं—

उपलब्धा भी विज्ञानस्वभाव वाला होता है । यदि वह (उपलब्धा) क्रम से प्राप्ति करता है तो उसका जो (उपलम्भ) है वह भी क्रमोपलम्भरूप

अत्रापि स एव पर्यनुयोगः—इत्याह—

तस्य तर्हि क्रमः कोऽसौ तदन्यानुपलम्भतः ॥ १९ ॥

उपलभ्यस्य हि उपलम्भमुखेन क्रमाक्रमयोग उक्तः, तस्यापि उपलब्धृमुखेन, उपलब्धुः पुनरुपलब्ध्रन्तरं नास्ति—अनवस्थापत्तेः, तदस्य कुतस्त्यः क्रमः? इत्युक्तम् 'तदन्यानुपलम्भतः' इति ॥ १९ ॥

स्वभावपक्षाश्रयेऽपि अस्य नोपलब्धृस्वरूपादाधिक्यं पर्यवस्येत्—इत्याह—

स्वभाव इति चेन्नासौ स्वरूपादधिको भवेत् ।

अथ स्वभावभूतत्वात् स्वरूपानतिरिक्तत्वेऽपि क्रमस्य स्वस्वातन्त्र्यादतिरिक्तायमानतया अवभासनमित्युच्यते, तर्हि अस्मद्दर्शनमेवागतोऽसि—इत्याह—

स्वरूपानधिकस्यापि क्रमस्य स्वस्वभावतः ॥ २० ॥
स्वातन्त्र्याद्भासनं स्याच्चेत् किमन्यद् ब्रूमहे वयम् ।
इत्थं श्रीशिव एवैकः कर्तेति परिभाष्यते ॥ २१ ॥

होता है ॥ -१८-१९- ॥

तो वहाँ भी वही दोष है—यह कहते हैं—

तो (उपलब्धा से) अन्य की प्राप्ति न होने से यह क्रम कौन सा है ? ॥ -१९ ॥

उपलभ्य का उपलम्भ के द्वारा क्रमाक्रम का योग कहा गया है वह भी उपलब्धा के द्वारा । उपलब्धा का दूसरा उपलब्धा नहीं होता—क्योंकि अनवस्था हो जाएगी । तो इसका क्रम कहाँ का ?—इसका उत्तर देते हैं—उससे भिन्न की उपलब्धि न होने से ॥ १९ ॥

स्वभावपक्ष का आश्रय लेने पर भी इसका उपलब्धा के स्वरूप से आधिक्य नहीं होता । यह कहते हैं—

यदि (यह क्रम) स्वभावरूप है (तो यह) स्वरूप से अधिक कुछ नहीं हो सकता ॥ २०- ॥

यदि स्वभावभूत होने के कारण स्वरूप से अभिन्न होते हुए भी क्रम अपने स्वातन्त्र्य के कारण भिन्न जैसा आभासित होता है तो (आप) हमारे ही दर्शन को मान रहे हैं—यह कहते हैं—

अपना स्वभाव होने के कारण स्वरूप से अभिन्न भी क्रम का अपने स्वातन्त्र्य के कारण (पृथक्) अवभासन होता है यदि (आप) ऐसा कहते हैं तो हम लोग और क्या कहें अर्थात् आप हमारे मत को मान रहे हैं । इस

किं नाम चास्य कर्तृत्वम् ?—इत्याशङ्क्याह—

कर्तृत्वं चैतदेतस्य तथामात्रावभासनम् ।

'तथामात्रावभासनम्' इति, तथा विचित्रेण रूपेण प्रमातृप्रमेयात्मनां मात्राणामंशानामवभासनम् अतिरिक्ततयैव प्रथनम्—इत्यर्थः ॥ २०-२१ ॥

एवं विश्वे पदार्था यथा भगवता स्वेच्छयैवावभासिताः, तथा कार्यकारणभावोऽपि—इत्याह--

तथावभासनं चास्ति कार्यकारणभावगम् ॥ २२ ॥

नन्वेवं बीजाङ्कुरादौ घटपटादौ च सर्वत्र भगवत्कर्तृकर्मविशेषेणावभासनम्, इति कथं क्वचिदेव कार्यकारणताव्यवहारः ?—इत्याशङ्क्याह—

यथा हि घटसाहित्यं पटस्याप्यवभासते।
तथा घटानन्तरता किं तु सा नियमोज्झिता॥ २३ ॥
अतो यन्नियमेनैव यस्मादाभात्यनन्तरम् ।
तत्तस्य कारणं ब्रूमः सति रूपान्वयेऽधिके॥ २४ ॥

प्रकार श्री शिवभट्टारक ही एक कर्त्ता हैं—ऐसा (आपके द्वारा) परिभाषित हो रहा है ॥ -२०-२१ ॥

इसका कर्त्तृत्व क्या है?—यह शङ्का कर कहते है—

इसका कर्त्तृत्व यही है कि उसप्रकार से आभासित होना ॥ २२- ॥

तथामात्र अवभासन—तथा = विचित्ररूप से, प्रमाता प्रमेयरूप वाली, मात्राओं = अंशों का, अवभासन = भिन्नरूप से प्रथन (= विस्तार ही उनका कर्त्तृत्व है) ॥ २१ ॥

इस प्रकार समस्त पदार्थ जिसप्रकार भगवान के द्वारा स्वेच्छा से ही अवभासित किये गए उसी प्रकार कार्यकारणभाव भी (स्वेच्छा से आभासित किया गया) यह कहते हैं—

कार्यकारणभाव में वर्त्तमान आभास भी इसी प्रकार का है अर्थात् भगवान् की स्वेच्छा से है ॥ -२२ ॥

प्रश्न—यदि इस प्रकार बीज अंकुर आदि और घट पट आदि में सर्वत्र भगवान ही कर्त्ता कर्म आदि विशिष्टरूपों में भासित होते हैं तो कार्यकारणभाव कहीं-कहीं ही क्यों होता है? यह शङ्का कर कहते है—

जिस प्रकार पट का भी घटसाहित्य अवभासित होता है उसी प्रकार (पट में) घट की अनन्तरता भी (भासित होती है) किन्तु वह (अनन्तरता)

नियमोज्झितेति—तयोर्विपर्ययेण अविशेषेण च दर्शनात् । नन्वेवं बौद्धस्येव तवापि कृत्तिकारोहिण्युदयादौ कार्यकारणभावः प्रसज्येत ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'सति रूपान्वयेऽधिके' इति । इह तावन्मायापदे घटादेः कार्यस्य मृद्दण्डचक्रादीनि बहूनि कारणानीत्यविवादः, तत्रास्य मृत् उपादानकारणं यत् सैव शिवकस्तूपकादि-क्रमेण अन्यानपेक्षितयानुवर्तते इति, दण्डादि तु सहकारिकारणप्रगुणनपरिवर्तना-द्युपकारमात्रचरितार्थत्वात्, तेन यदीयमेव यस्य रूपं केनचिद्धर्मेणानुयायि भासते तदेव तस्योपादानकारणम् इति । यद् बौद्धा अपि—

'अनपेक्षानुवृत्तेश्च भेदेऽप्यर्थान्तराश्रये ।
तस्योपादानहेतुत्वं मृदः कुण्डादिके यथा ॥'

इति, यत् पुनरेवमाचक्षाणैरपि धूमादावनुपादानमेव कार्यत्वमभ्यधायि तत्कारणविभागानभिज्ञत्वमेव तेषाम्, यतो धूमस्य नाग्निरुपादानकारणम्, अपि तु आर्द्रेन्धनादि तथाहि—तुषतुरुष्कादेरुपादानात् अस्य गन्धाद्यप्यन्वयवदवभासते तदेव तस्योपादानकारणम् लौकिकानामपि अत्र वैदुष्यम्—चन्द्रकान्तोदकद्रवादौ च

नियम से हीन है । इसलिए जो नियमपूर्वक जिसके बाद आभासित होता है, रूपान्वय अधिक हो जाने पर (हम) उसको उसका कारण कहते हैं ॥ २३-२४ ॥

नियम से रहित—उनदोनों (घट-पट) को विपरीत क्रम से अथवा सामान्य ढङ्ग से देखा जाता है । प्रश्न—इस प्रकार बौद्ध की भाँति आपके (= ग्रन्थकार के) मत में भी कृत्तिका रोहिणी के उदय आदि में कार्यकारणभाव होने लगेगा? यह शङ्का कर कहा गया—'रूपान्वय अधिक होने पर ।' माया के स्तरपर घट आदि कार्य के मृत्, दण्ड, चक्र आदि अनेक कारण हैं—यह सर्वसम्मत है । उसमें मिट्टी इसका उपादान कारण है क्योंकि वहीं शिबक (= खूँटा) स्तूपक (= टीला) आदि के क्रम से दूसरे की अपेक्षा न कर अनुवर्त्तन करती है । दण्ड आदि तो सहकारी कारण प्रगुणन परिवर्त्तन आदि उपकार मात्र के द्वारा चरितार्थ हैं । इसलिए जिसका जो रूप किसी धर्म से अनुगत भासित होता है वही उसका उपादान कारण होता है। जैसा कि बौद्ध भी (कहते हैं)—

"निरपेक्ष अनुवृत्ति के कारण, भेद होने पर भी (यदि आप) पदार्थान्तर को मानते हैं तो वह उपादान कारण होता है जैसे कि कुण्ड आदि के विषय में मिट्टी ।"

जो कि ऐसा कहने वालों ने भी धूम आदि को उपादानरहित कार्य माना वह कारणविभाग के बारे में उनकी अनभिज्ञता ही है क्योंकि धूम का उपादान कारण अग्नि नहीं है बल्कि आर्द्र इन्धन आदि है । वह इस प्रकार—तुष (= छिलका या भूसी) और तुरुष्क (तुर्क = लोहबान) आदि उपादान से इसकी गन्ध आदि भी अन्वययुक्त भासित होती है वही (तुष आदि) उस (गन्ध आदि) का उपादान कारण

चन्द्रकान्ताश्रयोपकृताश्चन्द्रकिरणा एवोपादानम्, अन्यथा हि चन्द्रकान्तस्य द्रवीभावे क्षणात्क्षणं प्रक्षयः स्यात्, इत्यलमवान्तरेण ॥ २४ ॥

नन्वेवं रूपान्वयोपकृतः पौर्वापर्यनियमात्मा कार्यकारणभावो यदि वास्तवः, तत्कथं व्यभिचरेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

नियमश्च तथारूपभासनामात्रसारकः ।
बीजादङ्कुर इत्येवं भासनं नहि सर्वदा ॥ २५ ॥

भासनामात्रसारत्वे हेतुः—एवं भासनम् 'नहि सर्वदा' इति, कदाचित् हि बीजाभावेऽपि अङ्कुरो भवेदिति भावः ॥ २५ ॥

तदाह—

योगीच्छानन्तरोद्भूततथाभूताङ्कुरो यतः ।
इष्टे तथाविधाकारे नियमो भासते यतः ॥ २६ ॥
स्वप्ने घटपटादीनां हेतुतद्वत्स्वभावता ।
भासते नियमेनैव बाधाशून्येन तावति ॥ २७ ॥

इह खलु योगिनो निरुपादानमेवेच्छामात्रेण अङ्कुरादिकार्यं कुर्वन्तीत्यविवादः,

---

है । लौकिक लोगों की भी इसमें पटुता है—चन्द्रकान्त (से उत्पन्न) उदकद्रव आदि के विषय में चन्द्रकान्त आधार से उपकृत चन्द्रकिरणें ही उपादान हैं अन्यथा चन्द्रकान्त के द्रवित होने पर क्षण-क्षण में (उस चन्द्रकान्त का) क्षय होने लगता । बस इतना विषयान्तर पर्याप्त है ॥ २४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार रूपान्वय के द्वारा उपकृत पौर्वापर्य नियमवाला कार्यकारणभाव यदि वास्तविक है तो वह व्यभिचरित कैसे होता है? यह शङ्का कर कहते हैं—

नियम उसप्रकार के आभास रूप तत्त्व वाला है । बीज से अंकुर (उत्पन्न होता है) इस प्रकार का आभासन सदा नहीं होता ॥ २५ ॥

आभासनमात्र के सार में हेतु है—इस प्रकार से आभासित होना । सर्वदा **नहीं—अर्थात् कभी बीज के अभाव में** भी अंकुर (उत्पन्न) हो सकता है ॥ २५ ॥

वह कहते हैं—

चूँकि योगी की इच्छा के बाद उसप्रकार का अंकुर उत्पन्न होता है और **चूँकि उस प्रकार के इष्ट आकार में** नियम भासित होता है, (चूँकि) स्वप्न में **घट पट आदि कारण और तद्वान्** (= कार्य) के स्वभाव वाले होते हैं अतः उतने **काल में बाधाशून्य** नियम से आभासन होता है ॥ २६-२७ ॥

योगी लोग **बिना उपादान के इच्छामात्र** से अंकुर आदि कार्यों को उत्पन्न करते

तेन योगीच्छातोऽनन्तरमुद्भूतः अत एव तथाभूतो बीजाभावेऽपि प्रादुर्भूतो योऽसावङ्कुरः तस्मिन्नपि यतः पौर्यापर्यात्मा नियमोऽवभासते 'बीजादेव अङ्कुरो जायते' इति नायमेकान्तः—इत्यर्थः, योगीच्छाभिनिर्वर्तितश्च अङ्कुरो बीजकार्याङ्कुरसमानजातीय एव, न तु शालूकाद्विजातीयः,—इत्याह—'तथाविधाकारे' इति, अन्यथा हि योगिनामिच्छाविसंवादात् योगित्वमेव न सिद्ध्येत्, न चैतद्भ्रान्तिमात्रम्—इत्युक्तम् । 'इष्टे' इति—तत्तत्समीहितार्थक्रियाकारिणि—इत्यर्थः, तदुक्तम्—

'योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत् ।
(घटा-)दिर्जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम् ॥'

इति, तथा यतः स्वप्नेऽपि नियमेनैव घटकार्यः पटोऽपि भासते, घटाभासानन्तरं पटाभासस्योदयात्, स्यादेवमेतत् यदि बाधा न स्यात्—इत्याह—'बाधाशून्येन' इति, बाधश्चात्र किं तादात्विकः कालान्तरभावी वा, तत्र तावदुत्तरः पक्षो, जाग्रद्भाविनोऽपि स्वप्नापेक्षया बाधसंभवात्, तादात्विकस्तु नास्त्येव बाधः, प्रबोधपर्यन्तं दार्ढ्येन तथावभासात्, अत एव तावति स्वप्नावस्थायामेव—इत्युक्तम् ॥ २७ ॥

एवं निर्बाधो नियम एव कार्यकारणताया निबन्धनम्—इत्याह—

हैं यह निर्विवाद है । इसलिए योगी की इच्छा के बाद उत्पन्न हुआ, इसलिए उसप्रकार का = बीज के अभाव में भी उत्पन्न, जो अंकुर उसमें भी चूँकि पौर्वापर्य रूप नियम अवभासित होता है इसलिए 'बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है'—यह नियम सार्वकालिक नहीं है । योगी की इच्छा से बनाया गया अंकुर बीज के कार्यभूत अंकुर का समानजातीय है न कि शालूक (= मेढक) होने के कारण विजातीय है—यह कहते हैं—उसप्रकार के आकार वाला । अन्यथा योगियों की इच्छा का विरोधी होने के कारण (उनका) योगित्व ही सिद्ध नहीं होगा । यह केवल भ्रान्ति नहीं है—इसलिए कहा गया—इष्ट में = भिन्न-भिन्न वाञ्छित अर्थक्रियाकारी में । वही कहा गया है—

"योगियों की इच्छा के बिना ही मृद्बीज में जो घट आदि उत्पन्न होते हैं वह उनकी स्थिर स्वार्थक्रियाकारिता है ।"

तथा, चूँकि स्वप्न में भी नियमपूर्वक घट का कार्य पट भी भासित होता है—क्योंकि घटाभास के अनन्तर पटाभास का उदय होता है । ऐसा होता यदि बाधा न होती-यह कहते हैं—बाधाशून्य के द्वारा । यहाँ बाध क्या तात्कालिक है या कालान्तरभावी? इसमे उत्तरपक्ष (को लेकर विचार करते हैं)—जागृतभावी का भी स्वप्न की अपेक्षा बांध सम्भव है । तात्कालिक बाध तो है ही नहीं क्योंकि प्रबोधपर्यन्त दृढ़ता के साथ वैसा आभास होता है । इसीलिए उतने काल तक—स्वप्नावस्था में ही—यह कहा गया ॥ २७ ॥

ततो यावति याद्रूप्यान्नियमो बाधवर्जितः ।
भाति तावति ताद्रूप्याद् दृढहेतुफलात्मता॥ २८ ॥

ननु एवमपि सौगतमतमेवापतेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

तथाभूते च नियमे हेतुतद्वत्त्वकारिणि ।
वस्तुतश्चिन्मयस्यैव हेतुता तद्धि सर्वगम् ॥ २९ ॥

तदिति—यन्नाम चिन्मयस्यैव 'हेतुतेति' । सर्वगमिति—सर्वेषामेव मृद्दण्डाद्याभासानां विश्रान्तिधामत्वेनानुवर्तनात् ॥ २९ ॥

एवं च नैकं किञ्चन जनकं, सामग्री वै जनिकेत्याद्यपि सङ्गच्छते—इत्याह—

अत एव घटोद्भूतौ सामग्री हेतुरुच्यते ।

सामग्रीति न पुनर्व्यस्ताः समग्राः । ननु समग्रान् दण्डादीन् विहाय का नामान्या सामग्री इत्युच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

सामग्री च समग्राणां यद्येकं नेष्यते वपुः॥ ३० ॥
हेतुभेदान्न भेदः स्यात् फले तच्चासमञ्जसम् ।

इस प्रकार निर्बाधनियम ही कार्यकारणता का निर्वाहक है—यह कहते है—

इसलिए जितने में जिस रूप से बाधरहित नियम है उतने में उस रूप से दृढ़ कार्यकारण भाव आभासित होता है ॥ २८ ॥

प्रश्न—इस प्रकार भी बौद्धमत ही आ रहा है?—यह शङ्का कर कहते है—

कारणकार्य वाले उस प्रकार के नियम में वस्तुतः चिन्मय ही हेतु है क्योंकि वह सर्वगामी है ॥ २९ ॥

वह = चिन्मय की हेतुता । सर्वगामी—क्योंकि वही सभी मिट्टी दण्ड आदि आभासों का विश्रान्तिस्थल के रूप में अनुवर्त्तन करता है ॥ २९ ॥

इस प्रकार कोई एक जनक नहीं है बल्कि समूह जनक है इत्यादि (कथन) भी सङ्गत होता है—यह कहते हैं—

इसलिए घट की उत्पत्ति में सामग्री (= अनेक वस्तुओं का सम्मिलित रूप) कारण कही जाती है ॥ ३०- ॥

सामग्री—न कि विखरा हुआ समूह ।

प्रश्न—समग्रदण्ड आदि को छोड़कर यह अतिरिक्त सामग्री किसे कहते हैं?—यह शङ्का कर कहते है—

यदि समग्रों (= सब पदार्थो) को एक शरीर माना जाय तो (वही) सामग्री है । क्या कारण के भेद से कार्य में भेद नहीं होता ? और वह

चो हेतौ, एकं वपुरिति—समग्रप्रत्ययनिमित्तमेकप्रमातृविश्रान्तिलक्षणम्, इह तावन्मृद्दण्डादयो व्यस्ता एव यदि घटहेतवः स्युः तत् कारणभेदात् कार्यभेदस्याविवादात् अनेके घटाः प्रादुर्भवेयुः, न चैवम्, इत्येकप्रमातृविश्रान्त्या सामग्रीशब्दवाच्यमेवैषां वपुरवश्यैषणीयं यदेकमेव घटं जनयेत्, यदपेक्ष्यैव च कारणानां पारस्परिको भेदः, यतः फलभेदोऽपि स्यात् । नेति काक्वा योज्यम्, प्रत्यक्षविरुद्धं चैतत्—इत्याह—'तच्चासमञ्जसमिति' ॥ ३० ॥

ननु यत् यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत् तस्य कारणमित्युक्तम् । व्यस्तानां च मृद्दण्डादीनामेवंभावो नास्ति समग्राणां चास्ति, इति कोऽर्थः सामग्रीशब्दवाच्येनैकेन वपुषाभ्युपगतेनैषाम् ?—इत्याशङ्क्याह—

यद्यस्यानुविधत्ते तामन्वयव्यतिरेकिताम् ॥ ३१ ॥
तत्तस्य हेतु चेत्सोऽयं कुण्ठतर्को न नः प्रियः ।

कुण्ठ इति समनन्तरमेव तत्तद्दूषणोदीरणेन भग्नशक्तीकृतत्वात् ॥ ३१ ॥

ननु समस्तानामप्येषां केनचिद्रूपेण यद्यैकात्म्यं न स्यात्, तद्देशकाल-

---

अंसगत अर्थात् प्रत्यक्षव्यवहार के विपरीत है ॥ -३०-३१- ॥

'च' (शब्द का प्रयोग) हेतु (अर्थ) मे है । एक शरीर = सम्पूर्णता के ज्ञान का कारण, एक प्रमाता में विश्रान्ति वाला । यहाँ यदि मिट्टी दण्ड आदि अलग-अलग घट के कारण होंगे तो 'कारण के भेद से कार्य का भेद' सर्वसम्मत होने से अनेक घट उत्पन्न होंगे । किन्तु ऐसा नहीं है । इसलिए एक प्रमाता में विश्रान्ति के द्वारा सामग्रीशब्द वाच्य ही इनका शरीर अवश्य मानना चाहिए जो कि एक ही घट को उत्पन्न करता है । जिसकी अपेक्षा रखकर ही कारणों का पारस्परिक भेद होता है जिससे कि फलभेद भी हो जाय । 'न' इस पद को 'काकु' से जोड़ना चाहिए । (= क्या हेतु के भेद से फलभेद नहीं होता? अर्थात् अवश्य होता है) यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है—यह कहते हैं—और वह असङ्गत है ॥ ३० ॥

प्रश्न—जो जिसके अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान करता है वह उसका कारण कहा जाता है । पृथक्-पृथक् वर्त्तमान मिट्टी दण्ड आदि की ऐसी स्थिति नहीं है और समग्रों (= सामूहिक रूप से उन) की है इसलिए इनके सामग्रीशब्दवाच्य एक शरीर मानने से क्या लाभ? यह शङ्का कर कहते है—

जो जिसकी उस अन्वयव्यतिरेकिता का अनुविधान करता है यदि वह उसका कारण (माना जाता है) तो यह कुण्ठतर्क हम लोगों को प्रिय नहीं है ॥ -३१-३२- ॥

कुण्ठ—क्योंकि तुरन्त बाद में भिन्न-भिन्न दोष का कथन करने से उनकी शक्ति खण्डित हो जाने के कारण ॥ ३१ ॥

विप्रकृष्टानामपि हेतुत्वं प्रसज्येत्—इत्याह—

समग्राश्च यथा दण्डसूत्रचक्रकरादयः॥ ३२ ॥
दूराश्च भाविनश्चेत्थं हेतुत्वेनेति मन्महे ।

दूरा—मेर्वादयः, भाविनः—कर्क्यादयः, इत्थमिति—तथा, एवं यथा दण्डादयो घटे हेतुत्वेन भवन्ति तथा दूरादयोऽपीति । मन्महे—प्रसङ्गेन मन्यामहे—इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

नन्वत्र दूरभाविनोरन्वयव्यतिरेकानुविधानमसिद्धम् ?—इत्याशङ्क्याह—

यदि तत्र भवेन्मेरुर्भविष्यन्वापि कश्चन ॥ ३३ ॥
न जायेत घटो नूनं तत्प्रत्यूहव्यपोहितः ।
यथा च चक्रं नियते देशे काले च हेतुताम् ॥ ३४ ॥
याति कर्किसुमेर्वाद्यास्तद्वत्स्वस्थावधि स्थिताः ।

ननु चक्रादीनां किं देशकालसंनिकर्षो विवक्षित उत रूपसंनिकर्षः, तत्र देशादिसंनिकृष्टत्वं पटादीनामपि संभवेत्, इति तेषामपि एककार्यकारित्वं प्रसज्येत् रूपसंनिकर्षश्च नेष्यते भवद्भिः, तन्नियतदेशाद्यवस्थायित्वं नाम संनिकर्षः

प्रश्न—यदि समस्त इन सबकी किसी रूप से एकात्मता नहीं होती है तो देश और काल (की दृष्टि से) दूरवर्त्ती (पदार्थ) भी हेतु होने लगेंगे ? यह कहते हैं—

जिस प्रकार समग्र दण्ड सूत्र चक्र (कुम्भकार के) हाथ आदि (घट के हेतु हैं) उसी प्रकार दूरवर्त्ती और भविष्यत्कालीन भी हेतु हो सकते हैं—ऐसा हम लोग मानते हैं ॥ -३२-३३- ॥

दूरवर्त्ती = मेरु आदि । भावी = कर्क (राशि) आदि । इस प्रकार = उसी प्रकार । जैसे दण्ड आदि घट के विषय में हेतु होते हैं उसीप्रकार दूर आदि भी हेतु हो सकते हैं । मानते हैं = प्रसङ्गतः स्वीकार करते हैं ॥ ३२ ॥

प्रश्न—इसविषय में दूरवर्त्ती दो पदार्थों का अन्वयव्यतिरेकानुविधान असिद्ध है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यदि वहाँ कोई मेरु वर्त्तमान हो या होने वाला हो तो उसके विघ्न से आहत घट निश्चित रूप से उत्पन्न नहीं होगा ॥ जिस प्रकार चक्र निश्चित देश और काल में कारण बनता है उसी प्रकार कर्कि सुमेरु आदि अपनी अवधि में स्थित रहकर कारण बन सकते हैं ॥ -३३-३५- ॥

प्रश्न—चक्र आदि का क्या देशकालसन्निकर्ष विवक्षित है या रूपसन्निकर्ष? उसमें देश आदि का सन्निकर्ष तो पट आदि का भी संभव है इसलिए वे भी एककार्यकारी होने लगेंगे (अर्थात् जिस सामग्री से घट उत्पन्न हो रहा है उसी

पर्यवस्येत्, तच्च मेर्वादीनामपि अविशिष्टम्, इति तेऽपि हेतवो भवेयुः, तस्मादेषामेकप्रमातृविश्रान्तिसतत्त्वमेकरूपमवश्याभ्युपगमनीयं येन तत्तत्संयोजनवियोजनादावेकस्यैव परमेश्वरस्य कर्तृत्वे विश्वमिदमुन्मिषेत् ॥ ३४ ॥

तदाह—

तथा च तेषां हेतूनां संयोजनवियोजने ॥ ३५ ॥
नियते शिव एवैकः स्वतन्त्रः कर्तृतामियात् ।

ननु कथं सर्वत्र शिवस्यैव कर्तृत्वमिष्यते, घटादौ हि कुम्भकारो व्याप्रियमाणो दृश्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

कुम्भकारस्य या संवित् चक्रदण्डादियोजने ॥ ३६ ॥
शिव एव हि सा यस्मात् संविदः का विशिष्टता ।

'का विशिष्टतेति'—को भेद इत्यर्थः, नहि संविदः संविद्रूपादणुमात्रेणापि अधिकं रूपान्तरं किंचिद्भवेत्—इति भावः ॥ ३६ ॥

ननु कौम्भकारी संवित् देशकालाद्यवच्छेदात् संकुचितस्वभावा 'परा' पुनरनवच्छिन्नत्वात् 'पराद्वयरूपा' इति कथं तयोरविशेष उक्तः?—इत्याशङ्क्याह—

सामग्री से पद भी उत्पन्न होने लगेगा)। रूपसन्निकर्ष आपलोगों के द्वारा माना नहीं जाता । तो नियतदेश आदि में अवस्थायित्व ही संन्निकर्ष होना चाहिए और वह मेरु आदि का भी समान है इसलिए इनका एकप्रमातृविश्रान्तिवाला एकरूप अवश्य मानना चाहिये जिसके कि भिन्न-भिन्न संयोजन वियोजन आदि में एक ही परमेश्वर के कर्त्तृत्व में यह विश्व उदित हो ॥ ३४ ॥

वही कहते हैं—

इस प्रकार उन हेतुओं के संयोजन और वियोजन के निश्चित होने पर शिव ही एक स्वतन्त्र कर्त्ता होगा ॥ -३५-३६- ॥

प्रश्न—सर्वत्र शिव को ही कर्त्ता कैसे मानते हैं; घट आदि के विषय में तो कुम्भकार व्यापार करता हुआ देखा जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चक्रदण्ड आदि के योजन में कुम्भकार की जो संवित् होती है वह शिव ही हैं । क्योंकि संविद् में क्या भेद हो सकता है? अर्थात कोई भेद नहीं होता ॥ -३६-३७- ॥

क्या विशिष्टता = क्या भेद । संविद् का संविद्रूप से अणुमात्र भी कुछ अधिक रूपान्तर नहीं होता ॥ ३६ ॥

प्रश्न—कुम्भकार की संवित् देशकाल आदि के अवच्छेद के कारण संकुचित स्वभाववाली है और परा (संविद्) अनवच्छिन्न होने के कारण अद्वयरूप है फिर

कौम्भकारी तु संवित्तिरवच्छेदावभासनात् ॥ ३७ ॥
भिन्नकल्पा यदि क्षेप्या दण्डचक्रादिमध्यतः ।

दण्डचक्रादिमध्यतः क्षेप्येति—दण्डादिवत् सहकारिकारणमात्रमेतदिति तात्पर्यम्, अतश्च नात्र कुम्भकारस्य साक्षात्कर्तृत्वम्, इति 'शिव एव सर्वत्र कर्ता' इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

तदाह—

तस्मादेकैकनिर्माणे शिवो विश्वैकविग्रहः ॥ ३८ ॥
कर्तेति पुंसः कर्तृत्वाभिमानोऽपि विभोः कृतिः ।

ननु यद्येवं तत् दण्डादिसमानकक्ष्यत्वेऽपि कुम्भकारस्य कथमेवमभिमानो भवेत् 'यन्मयेदं कृतम्' ?—इत्याशङ्क्याह—'पुंसः' इत्यादि, यश्चायमस्य कर्तृत्वाभिमानः—प्रतिभुवः इव अधमर्णभावः, स पारमेश्वर्यैव नियतिशक्त्या तथा व्यवस्थापितो यतो धर्माधर्मादिव्यवस्थापि सिद्ध्येदिति न कश्चिद्दोषः, एवमाभासमात्रसतत्त्व एव कार्यकारणभाव इति सिद्धम् ॥

उनदोनों में समानता कैसे कही गई? यह शङ्का कर कहते है—

कुम्भकार की (जो) संविद् है (वह) अवच्छेद का अवभासन होने से यदि भिन्न जैसी है तो दण्ड चक्र आदि मध्य—(वर्त्ती = सहकारी कारण) से आक्षेप्य है (स्वतन्त्ररूप में नहीं) ॥ -३७-३८- ॥

दण्डचक्र आदि मध्य के कारण क्षेप्य—दण्ड आदि के समान यह केवल सहकारी कारण है यह तात्पर्य है । इसलिए कुम्भकार साक्षात् कर्त्ता नहीं है । फलतः शिव ही सर्वत्र कर्त्ता है यह सिद्ध हो गया ॥ ३७ ॥

वह कहते है—

इसलिए प्रत्येकनिर्माण में विश्वशरीरधारी शिव (ही) कर्त्ता हैं । जीव का कर्त्तृत्वाभिमान भी परमेश्वर की ही कृति है ॥ -३८-३९- ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो दण्ड आदि के समान कक्ष्या (= स्तर) के होने पर भी कुम्भकार को यह अभिमान क्यों होता है कि—यह मेरे द्वारा किया गया ?—यह शङ्का कर कहते है कि 'पुरुष की..............' जो यह इसका कर्तृत्वाभिमान है अर्थात् साक्षी के समान (= जैसे किसी घटना का साक्षी उस घटना को अपने साथ घटित होती हुयी मान लेता है उस प्रकार) अधमर्ण भाव है वह परमेश्वर की नियति शक्ति के द्वारा उस प्रकार से व्यवस्थापित है जिससे कि धर्म अधर्म आदि की व्यवस्था भी सिद्ध होती है । इसलिए कोई दोष नहीं है । इस प्रकार यह कार्यकारणभाव आभासमात्रतत्त्ववाला ही है—यह सिद्ध हो गया ॥

ततश्चास्य लोकशास्त्रादावनेकप्रकारं वैचित्र्यम्,—इत्याह—

अत एव तथाभानपरमार्थतया स्थितेः ॥ ३९ ॥
कार्यकारणभावस्य लोके शास्त्रे च चित्रता ।

तत्र प्राधान्यात् शास्त्रीयं तावद्वैचित्र्यं दर्शयति—

मायातोऽव्यक्तकलयोरिति रौरवसंग्रहे ॥ ४० ॥
श्रीपूर्वे तु कलातत्त्वादव्यक्तमिति कथ्यते ।

रौरवसंग्रह इति बृहत्तन्त्रापेक्षया, तदुक्तं तत्र—

'ततोऽधिष्ठाय विद्येशो मायां स परमेश्वरः ।
क्षोभयित्वा स्वकिरणैरसृजत्तैजसीं कलाम् ॥
कलातत्त्वाद्रागविद्ये द्वे तत्त्वे संबभूवतुः ।
अव्यक्तं च ततस्तस्माद् गुणांश्चाप्यसृजत्प्रभुः॥' इति,

अत्र च 'अव्यक्तं च तत' इति तच्छब्देन मायापरामर्शः इति बृहस्पतिपादाः, यदुक्तम्—

'मायातोऽव्यक्तकलयोः कलातो रागविद्ययोः ।' इति,

इस कारण इसका लोक और शास्त्र में अनेक प्रकार का वैचित्र्य है—यह कहते हैं—

इसीलिए उसप्रकार के भान की परमार्थरूप में स्थिति होने के कारण लोक और शास्त्र में कार्यकारणभाव का वैचित्र्य है ॥ -३९-४०- ॥

उनमें भी प्रधान होने के कारण पहले शास्त्रीय वैचित्र्य को दिखलाते हैं—

माया से अव्यक्त और कला का (स्फुरण हुआ) ऐसा रौरव संग्रह में (कहा गया है) । मालिनीविजयतन्त्र में तो कला तत्त्व से अव्यक्त का (विकास होता है) ऐसा कहा जाता है ॥ -४०-४१- ॥

रौरव संग्रह में—बृहत् तन्त्र की अपेक्षा से । वही वहाँ कहा गया है—

"इसके बाद वह परमेश्वर ने विद्येश माया का आश्रय लेकर (उसे) अपनी किरणों से क्षुब्ध कर तैजसी कला की सृष्टि की । कला तत्त्व से राग और विद्या दो तत्त्व उत्पन्न हुए । उसके बाद प्रभु ने अव्यक्त को और फिर उससे गुणों की सृष्टि की ।"

यहाँ 'अव्यक्तं च तत्' उसमें 'तत्' शब्द से माया को समझना चाहिए—ऐसा वृहस्पतिगुरु कहते हैं । जैसा कि कहा गया है—

"माया से अव्यक्त और कला का, कला से राग और विद्या का प्रादुर्भाव होता है ।"

श्रीपूर्व इति श्रीमालिनीविजये, यदुक्तं तत्र—

................'मायामाविश्य शक्तिभिः ।'

इत्याद्युपक्रम्य

'असूत सा कलातत्त्वम्................ ।' इति,
'तत एव कलातत्त्वादव्यक्तमसृजत्ततः ।' इति च,

एवमव्यक्तं मायायाः कलायाश्च कार्यमिति शास्त्रीयं वैचित्र्यम् ॥ ४० ॥

अत एव च एवं विसंवादाशङ्कया अत्र यदन्यैरन्यथा व्याख्यातं तदप्रयोजकमेव—इत्याह—

तत एव निशाख्यानात्कलीभूतादलिङ्गकम् ॥ ४१ ॥
इति व्याख्यास्मदुक्तेऽस्मिन् सति न्यायेऽतिनिष्फला ।

निशाख्यानादिति—मायाख्यात् तत्त्वात्, अलिङ्गकमिति—अव्यक्तम् ॥ ४१ ॥

इदानीं लौकिकमपि वैचित्र्यं दर्शयति—

लोके च गोमयात्कीटात् सङ्कल्पात्स्वप्नतः स्मृतेः ॥ ४२ ॥
योगीच्छातो द्रव्यमन्त्रप्रभावादेश्च वृश्चिकः ।

श्रीपूर्व = मालिनीविजयतन्त्र । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

".... शक्तियों के द्वारा माया में आविष्ट होकर" ऐसा प्रारम्भ कर

"उसने कला तत्त्व को उत्पन्न किया ...." उसके बाद कला तत्त्व से अव्यक्त की सृष्टि की ।"

इस प्रकार अव्यक्त माया एवं कला का कार्य होता है—यह शास्त्रीय वैचित्र्य है ॥ ४० ॥

इसलिए यहाँ विसंवाद की आशङ्का से दूसरे लोगों ने जो दूसरी प्रकार की व्याख्या की वह व्यर्थ है—यह कहते हैं—

इसलिए कलारूप को धारण करने वाले माया नामक तत्त्व से अव्यक्त (उत्पन्न हुआ) यह व्याख्या हमारे द्वारा कहे गए इस समीचीन न्याय के होने पर अत्यन्त निष्फल है ॥ -४१-४२- ॥

निशा आख्यान वाले से = मायानामक तत्त्व से ।

अलिङ्गकम् = अव्यक्त ॥ ४१ ॥

अब लौकिक वैचित्र्य को भी दिखाते हैं—

लोक में भी गोबर, बिच्छू, सङ्कल्प, स्वप्न, स्मृति, योगी की इच्छा,

कीटादिति—वृश्चिकात् । इह बहिरपि परिस्फुरतोऽर्थस्य आभासमात्रसारत्वमेव मौलं रूपमित्युक्तम्—'सङ्कल्पात्स्वप्नतः स्मृतेः' इति । द्रव्येति—रत्नौषध्यादि, अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः—इति भावः । ननु वृश्चिकात् गोमयादेश्च जातोऽन्य एव वृश्चिकः, नहि यादृगेव वृश्चिकाज्जातो वृश्चिकः तादृगेव गोमयादेरिति भवितुमर्हति, कारणभेदात् कार्यभेदस्याविवादात्, न चान्त्यभेदे वस्तुनः शब्द-साधारण्यमात्रेणैवैकत्वं न्याय्यम्, यदाहुः—

'वस्तुभेदे प्रसिद्धस्य शब्दसाम्यादभेदिनः ।
न युक्तं साधनम् गोत्वाद्वागादीनां विषाणिवत् ॥' इति ॥ ४२ ॥

तदाह—

अन्य एव स चेत् .... ।

सत्यमेवम्—इत्याह—

...........कामं कुतश्चित्स्वविशेषतः ॥ ४३ ॥

वृश्चिकाद् गोमयादेर्वा जातानां वृश्चिकानां नूनमस्ति कश्चिदात्मीयो देशकालाकाराद्यात्मा विशेषो येनैषामन्योन्यभेदः, किं तु वृश्चिकाज्जातानामपि स

द्रव्य और मन्त्र के प्रभाव आदि से बिच्छू (उत्पन्न होता है) ॥ -४२-४३-॥

कीट से = बिच्छू से । यहाँ बाह्यरूप में स्फुरित होने वाले भी पदार्थ का आभासमात्र होना ही मौलिकरूप है । इसलिए कहा गया कि—सङ्कल्प से स्वप्न से और स्मृति से । द्रव्य = रत्न औषधी आदि । तात्पर्य यह है कि मणि मन्त्र औषधि का प्रभाव अचिन्त्य है । प्रश्न—बिच्छू और गोबर आदि से उत्पन्न बिच्छू भिन्न ही होगा । बिच्छू से उत्पन्न बिच्छू जैसा होता है गोबर आदि से उत्पन्न वैसा नहीं हो सकता इसलिए यहाँ एकत्व केवल शब्द की समानता से है । जैसा कि कहते है—

वस्तुभेद की दृष्टि से प्रसिद्ध (पदार्थ) की शब्दसाम्य के कारण अभिन्नता सिद्ध करना समीचीन नहीं है जैसे कि गोत्व के कारण सभी सींग वालों को अभिन्न समझना ठीक नहीं है ॥ ४२ ॥

वह कहते हैं—

यदि वह दूसरा ही हो तो..........॥ -४३- ॥

यह कहना सत्य है—यह कहते हैं—

...............तो निश्चित ही कहीं से अपने वैशिष्ट्य के कारण (भेद होता है) ॥ -४३ ॥

बिच्छू से अथवा गोबर आदि से उत्पन्न बिच्छुओं में निश्चित ही कोई अपना

तुल्यः, तेषामपि हि देशकालाकारादिना व्यक्तिभेदमुपलभन्ते लौकिकाः ॥ ४३ ॥

अत आह—

स तु सर्वत्र तुल्यस्तत्परामर्शैक्यमस्ति तु ।

अथ वृश्चिकोऽयमिति प्रत्ययानुगमस्तत्र संभवेत्, तदिहापि समानमित्युक्तम्—'तत्परामर्शैक्यमस्ति त्विति' । न चायमवृश्चिके वृश्चिकप्रत्ययो विसंवादाभावात्, इह च परामर्श एव दूरान्तिकत्वादिना भिन्नावभासत्वेऽपि अर्थानामैक्यप्रतिष्ठापने परं जीवितम् । यदुक्तम्—

'दूरान्तिकतयार्थानां परोक्षाध्यक्षतात्मना ।
बाह्यान्तरतया दोषैर्व्यंजकस्यान्यथापि वा ॥
भिन्नावभासच्छायानामपि मुख्यावभासनात् ।
एकप्रत्यवमर्शाख्यादेकत्वमनिवारितम् ॥' इति,

अतश्चैकस्यापि कार्यस्यानेककारणत्वे न कश्चिद्दोषः, आभासमात्रपरमार्थो हि कार्यकारणभाव—इति परिस्थापितम् ॥

अत एव च कार्यस्य रूवरूपे क्रमे वापि अन्यथाभावोपदेशो नायुक्तः,

---

देश—काल—आकार—रूप वैशिष्ट्य होता है जिसके कारण इनमें परस्पर भेद होता है किन्तु बिच्छू से उत्पन्न (बिच्छूओं) में भी वह (भेद) समान होता है । क्योंकि उनमें भी देश काल आकार आदि के द्वारा लोग व्यक्तिभेद प्राप्त करते हैं ॥ ४३ ॥

इसलिए कहते है—

वह (भेद) तो सर्वत्र समान है किन्तु उसके परामर्श की एकता तो है ॥ ४४- ॥

यदि यह कहिए कि 'यह बिच्छू है' ऐसी धारणा वहाँ होती है तो वह तो यहाँ भी समान है इसलिए कहा गया—'उसके परामर्श की एकता तो है ।' यह बिच्छू की धारणा जो बिच्छू नहीं है उसमें नहीं होती क्योंकि विसंवाद (= विरोध) नहीं है । दूरता निकटता आदि के द्वारा भिन्न अवभासन होने पर भी परामर्श ही एकता की स्थापना का परमकारण है । जैसा कि कहा गया है—

"दूरता निकटता, परोक्षता प्रत्यक्षता, बाह्य आभ्यन्तरता इत्यादि दोषों के द्वारा अथवा दूसरी तरह भी भिन्न रूप में अवभासित होने वाले पदार्थो का एक प्रत्ययरूप अवमर्श नामक मुख्यावभास के कारण एकत्व अनिवार्य है ।"

इसलिए एक कार्य का अनेक कारण होने पर भी कोई दोष नहीं है । कार्यकारणभाव आभासमात्र तत्त्ववाला है—यह सिद्धान्त स्थापित हो गया ॥

और इसीलिए कार्य के स्वरूप अथवा क्रम से भी अन्यथाभाव का उपदेश

इत्याह—

तत एव स्वरूपेऽपि क्रमेऽप्यन्यादृशी स्थितिः ॥ ४४ ॥
शास्त्रेषु युज्यते चित्रात् तथाभावस्वभावतः ।

स्वरूप इति—यथा मनसः क्वचिद्बुद्धीन्द्रियत्वमुक्तं क्वचिच्च अन्तःकरण-त्वम् । तदुक्तम्—

'श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासा चित्तं च धीव्रजः ।' इति,

अन्तःकरणं त्रिविधमिति च ॥ ४४ ॥

क्रमस्य पुनः कार्यकारणभावप्रस्तावात् प्राधान्येन शास्त्रेष्वन्यादृशीं स्थितिं दर्शयति—

पुंरागवित्कलाकालमाया ज्ञानोत्तरे क्रमात् ॥ ४५ ॥
नियतिर्नास्ति वैरिञ्चे कलोर्ध्वे नियतिः श्रुता ।
पुंरागवित्त्रयादूर्ध्वं कलानियतिसंपुटम् ॥ ४६ ॥
कालो मायेति कथितः क्रमः किरणशास्त्रगः ।
पुमान्नियत्या कालश्च रागविद्याकलान्वितः ॥ ४७ ॥
इत्येष क्रम उद्दिष्टो मातङ्गे पारमेश्वरे ।

अयुक्त नहीं है—यह कहते हैं—

इसीलिए स्वरूप अथवा क्रम के विषय में भी शास्त्रों में दूसरे प्रकार की स्थिति विचित्र उस प्रकार के भाव का स्वभाव हो जाने के कारण उचित है ॥ -४४-४५- ॥

स्वरूप के विषय में—जैसे मन को कहीं बुद्धीन्द्रिय कहा गया है कहीं अन्तःकरण । वही कहा गया है—

''कान, त्वचा, आखें, जिह्वा, नाक एवं चित्त बुद्धीन्द्रियाँ हैं ।'

अन्तःकरण तीन प्रकार का है ॥ ४४ ॥

तत्त्वक्रम के कार्यकारणभाव के प्रस्ताव से प्रधानतया शास्त्रों में दूसरे प्रकार की स्थिति दिखलाते हैं—

पुरुष, राग, विद्या, कला, काल, और माया (यह) क्रमशः ज्ञानोत्तर (तन्त्र) में (कहा गया है) । (यहाँ) नियति (उक्त) नहीं है । स्वायम्भुव (शास्त्र) में कला के बाद नियति कही गयी है । पुरुष राग और विद्या (इन) तीन के ऊपर (का तत्त्व) कला और नियति से संपुटित है । काल माया इस प्रकार का क्रम किरणसंहिता में कहा गया है । पुरुष नियति के

ज्ञानोत्तरे इति—सर्वज्ञानोत्तरे, यदुक्तं तत्र

'वस्तुतः पुरुषः सूक्ष्मो व्यक्ताव्यक्तः सनातनः ।' इति,
'तत ऊर्ध्वं भवेदन्यत्कलावरणसंज्ञकम् ।' इति,
'अत ऊर्ध्वं भवेदन्यत्कालस्यावरणं गुह।' इति,
'अत ऊर्ध्वं भवेदन्यन्मायातत्त्वं सुदुस्तरम् ।' इति च,

नियतिर्नास्तीति, सर्वज्ञानोत्तरे तस्या अनभिधानात्, वैरिञ्च इति स्वायम्भुवे । यदुक्तं तत्र—

'मायातत्त्वात्कालतत्त्वं संस्थितं तत्पदद्वये ।
संस्थान्यस्मिन्कला तद्वद्विद्याप्येवं ततः पुनः ॥' इति,

अत्र हि संस्थापयति—नियच्छति भोगेषु अणूनिति 'संस्था' नियतिरिति व्याख्यातारः । अत्र च कालो नियतिसंपुटः, कलेत्येवमात्मैव जरत्पुस्तकदृष्टः पाठो ग्राह्यः । अन्यथा हि कैरणेऽर्थो विसंवदेत्, यदुक्तं तत्र—

'तत्रैव पुरुषो ज्ञेयः प्रधानगृहपालकः ।

द्वारा और काल राग विद्या और कला से युक्त है यह क्रम मातङ्गशास्त्र में कहा गया है ॥ -४५-४८- ॥

ज्ञानोत्तर में = सर्वज्ञानोत्तर (शास्त्र) में । जैसा कि वहाँ कहा गया है— "वास्तविकरूप में सूक्ष्म व्यक्ताव्यक्त सनातन पुरुष है ।"

"उसके ऊपर कलावरण नामक दूसरा (तत्त्व) है ।"

"हे गुह ! इसके ऊपर काल का आवरण है ।"

"इसके ऊपर सुदुस्तर माया तत्त्व है ।"

नियति तत्त्व नहीं है क्योंकि सर्वज्ञानोत्तर (ग्रन्थ) में उसका कथन नहीं है । ब्रह्मा वाले = स्वायम्भुव (तन्त्र) में । जैसा कि वहाँ कहा है—

"माया तत्त्व के ऊपर काल तत्त्व स्थित है । उन दोनों तत्त्वों (के बीच) में संस्था (= नियति) है । उसी प्रकार दूसरे में (= काल में) कला उसके बाद पुनः विद्या भी है ।"

यहाँ—प्राणियों को भोग में संस्थापित करती है = नियमित करती है इसलिए संस्था = नियति कही जाती है—ऐसा व्याख्याता लोग कहते हैं । यहाँ काल और नियति का संपुट है । यहाँ 'कला' इसी प्रकार का प्राचीन पुस्तकों में देखा गया पाठ मानना चाहिए । अन्यथा किरणसंहिता में (उक्त) अर्थ से विरोध हो जाएगा । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"वहीं पर पुरुष को प्रधानतया गृह (= विश्व) का पालक समझना चाहिए ।

रागतत्त्वाच्च विद्याख्यमशुद्धं पशुमोहकम् ॥' इति,
'ततः कालनियत्याख्यं संपुटं व्याप्य लक्षधा।' इति,
'कालतत्त्वात्कला ज्ञेया लक्षायुतपरिच्छदा ।' इति,
'तदूर्ध्वं तु भवेन्माया कोटिधा व्याप्य साप्यधः।' इति च ।

नियत्येति यतः क्रम उद्दिष्ट इति—अर्थात् सृष्टिक्रमेण । यदुक्तं तत्र—

'क्षोभितोऽनन्तनाथेन ग्रन्थिर्मायात्मको यदा।'

इत्याद्युपक्रम्य

'तद्वन्मायाणुसंयोगाद्व्यज्यते चेतना कला ।' इति,
'इत्यणोः कलितस्यास्य कलया प्राग्जगन्निधेः ।
कलाधारेऽणुविज्ञानं बुभुत्सोर्विद्यया भवेत् ॥' इति,
'तस्मादेवाशयाद्रागः सूक्ष्मरूपोऽभिजायते।
येनासौ रञ्जितः क्षिप्रं भोगभुग्भोगतत्परः ॥' इति,
'अथ कालक्रमप्राप्तः कञ्चुकत्रयदर्शनात् ।
येनासौ कल्यते सूक्ष्मः शिवसामर्थ्ययोगतः ॥ इति,

और रागतत्त्व से विद्या नामक अशुद्ध पशुमोहक तत्त्व (उत्पन्न है) ॥''

'इसके बाद काल और नियति नामक संपुट लाख गुना परिधि में व्याप्त है।''

''काल तत्त्व से १ लाख १० हजार आवरण वाली कला को उत्पन्न जानना चाहिए ॥''

''उसके ऊपर माया एक करोड़ प्राकार से व्याप्त है । वह नीचे भी (= अपना प्रभाव फैलाती है)''

नियति के द्वारा जहाँ से क्रम उद्दिष्ट है—अर्थात् सृष्टि के क्रम से । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

''जब अनन्तनाथ के द्वारा मायात्मक ग्रन्थि क्षुब्ध की जाती है''—इत्यादि प्रारम्भ कर

''उसी प्रकार माया एवं जीव के संयोग से चेतना कला व्यक्त होती है ।''

''इस प्रकार (सृष्टि के) प्रारम्भ में अणुसमूह कला के द्वारा कलित हो जाते हैं कलाधार में बुभुत्सु अणु को अणुविज्ञान विद्या के द्वारा होता है ।''

''उसी आशय (= वासना) से सूक्ष्मरूप राग उत्पन्न होता है । जिसके द्वारा रञ्जित होकर यह भोगभोक्ता भोग में तत्पर होता है ।''

''इसके बाद तीन कञ्चुक के दर्शन से कालक्रम से (काल) प्राप्त होता है जिसके कारण शिवसामर्थ्य के योग से यह सूक्ष्म आकलित होता है ।''

'अथेदानीं मुनिव्याघ्र कारणस्यामितद्युतेः।
शक्तिर्नियामिका पुंसः सतत्त्वेन समर्पिता ॥'
अथ पुंस्तत्त्वनिर्देशः स्वाधिष्ठानोपसर्पितः ।

इति च क्रमस्यान्यादृशी स्थितिर्निगदसिद्धा, इति न विभज्य व्याख्यातम् ॥ ४७ ॥

इदानीं प्रकृतमेवानुसरति—

कार्यकारणभावीये तत्त्वे इत्थं व्यवस्थिते ॥ ४८ ॥
श्रीपूर्वशास्त्रे कथितां वच्मः कारणकल्पनाम् ।

श्रीपूर्वशास्त्र इति—तदधिकारेणैव एतस्य ग्रन्थस्य प्रवृत्तेः, कारणकल्पना च अत्र तत्त्वं प्रति प्रविभागस्य प्रक्रान्तत्वात् तद्विषयैव पर्यवस्येत्, इत्यनुजोद्देशोद्दिष्टस्य तत्त्वक्रमनिरूपणाख्यस्यापि प्रमेयस्य सावकाशता, इत्यर्थसामर्थ्यलभ्यम् ॥ ४८ ॥

तदेवाह—

शिवः स्वतन्त्रदृग्रूपः पञ्चशक्तिसुनिर्भरः ॥ ४९ ॥
स्वातन्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते ।

"इसके बाद हे मुनिव्याघ्र ! अमितद्युति कारणस्वरूप पुरुष की नियामिका शक्ति तत्त्व के रूप में उत्पन्न होती है ।"

"इसके बाद स्वाधिष्ठान को प्राप्त पुरुषतत्त्व का निर्देश है ।"

इस प्रकार क्रम की दूसरे प्रकार की स्थिति वचन से ही सिद्ध है । इस कारण अलग-अलग करके इसकी व्याख्या नहीं की गयी ॥ ४७ ॥

अब प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

कार्यकारणभाव वाले तत्त्व के इस प्रकार व्यवस्थित होने पर (हम) मालिनीविजयतन्त्र में कथित कारणकल्पना को कहते हैं ॥ -४८-४९- ॥

श्रीपूर्वशास्त्र में—क्योंकि उसी के अधिकार से (= आधार मानकर) यह ग्रन्थ प्रवृत्त हुआ है । और यहाँ कारणकल्पना तत्त्व के प्रति विभाग के प्रस्तुत होने के कारण उसी विषय की होगी इसलिए अनुजोद्देश में उद्दिष्ट तत्त्वक्रम निरूपणनामक प्रमेय को भी अवसर मिलेगा यह बात अर्थात् समझनी चाहिए ॥ ४८ ॥

वही कहते हैं—

स्वतन्त्रज्ञानस्वरूप एवं पाँच शक्तियों से युक्त शिव (अपने) स्वातन्त्र्य के द्वारा भासित भेद के कारण पाँच प्रकार से विभक्त होता

'स्वतन्त्रदृग्रूपः' इति—अनन्याकाङ्क्षत्वात् स्वतन्त्रा येयं दृक् तद्रूपो—निराशंसः—इत्यर्थः । अत एव 'पञ्चशक्तिसुनिर्भरः' पूर्णः—इत्युक्तम् ॥

पञ्चधा प्रविभागमेव दर्शयति—

चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः ॥ ५० ॥
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम् ।

सदेति—सदाशिवः । तदुक्तम्—

'चिदानन्देषणाज्ञानक्रियापञ्चमहातनुः ।
विवर्तते महेशानस्तत्त्ववर्गेषु पञ्चधा ॥' इति ॥

तथा,

'शिवशक्तिसदाशिवतामीश्वरविद्यामयीं च तत्त्वदशाम् ।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भासयति ॥' इति ॥ ५० ॥

नन्विह सर्वस्य सर्वात्मकत्वादेकैकापि शक्तिः सर्वशक्तिस्वभावा, इति कथमेकैकशक्तिमुखेन तत्त्वपञ्चकनिरूपणम् ?—इत्याह—

एकैकत्रापि तत्त्वेऽस्मिन् सर्वशक्तिसुनिर्भरे ॥ ५१ ॥

है ॥ -४९-५०- ॥

स्वतन्त्रदृक् रूप—अन्य की आकांक्षा न होने से स्वतन्त्र जो यह दृक् उसरूप वाला अर्थात् निराशंस । इसीलिए कहा गया—पाँच शक्ति से युक्त अर्थात् पूर्ण ॥

पाँच प्रकार के विभाग को ही दिखलाते हैं—

चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया के स्फुट होने से शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या नामक पाँच तत्त्व (आविर्भूत होते हैं) ॥ -५०-५१- ॥

सदा = सदाशिव । वही कहा गया है—

चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपी पाँच महाशरीरों वाला वह परमेश्वर पाँच प्रकार के तत्त्वसमूह के रूप में विवर्त्तित होता है ।'' तथा

(वह परमेश्वर) पाँच शक्तियों की शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और (शुद्ध) विद्यावाली तत्त्वदशा को अलग आभासित करता है ॥ ५० ॥

प्रश्न—सब के सर्वात्मक होने से एक-एक भी शक्ति सब शक्तियों वाली है इसलिए एक-एक शक्ति की मुख्यता से पाँच तत्त्वों का निरूपण कैसे होता है? यह कहते हैं—

इस एक-एक तत्त्व के पाँच शक्तियों से पूरित होने पर भी उस-उस

तत्तत्प्राधान्ययोगेन स स भेदो निरूप्यते ।

तत्तदिति—चिदानन्दादि । इह खलु चिन्मात्रस्वभावः पर एव शिवः पूर्णत्वात् निराशंसोऽपि स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् बहिरुल्लिलसिषया परानन्दचमत्कारतारतम्येन प्रथमम् 'अहम्' इति परामर्शतया शक्तिदशामधिशयानः प्रस्फुरेत्, अनन्तरं च अहमिदमिति परामर्शशाखाद्वयमवभासयेत्, तत्र च शुद्धचिन्मात्राधिकरण एव अहमित्यंशे यदा परमेश्वर इदमंशमुल्लासयति तदा तस्य प्रोन्मीलितमात्र-चित्रकल्पभावराशिविषयत्वेनास्फुटत्वात् इच्छाप्रधानं सदाशिवतत्त्वम्—अहमिदमिति, भावराशौ पुनः स्फुटीभूते तदधिकरणे एवेदमंशे यदाहमंशं निषिञ्चति तदा ज्ञानशक्तिप्रधानमीश्वरतत्त्वम्—इदमहमिति । अत एव चाहंविमर्शस्याविशेषेऽपि अत्रेदमंशस्य ध्यामलत्वाध्यामलत्वाभ्यामयं विशेषः, यदा पुनः प्ररूढभेदभावराशि-गतेदमंशस्फुरणे चिन्मात्रगतत्वेन अहमंशः समुल्लसति 'भेदाद्वैतवादिनामिव ईश्वरस्य यः समधृततुलापुटन्यायेन अहमिदमिति परामर्शः' तत्क्रियांशक्तिप्रधानं विद्या-तत्त्वम्—इति विभागः । यद्यपि परमशिवस्यैवेदमेकघनमैश्वर्यं तथापि तस्य यथा बहिरौन्मुख्येन व्यापारः 'शक्तितत्त्वम्' तथा सदाशिवेश्वरयोरपि 'विद्यातत्त्वमिति' । अमुनैव चाशयेनान्यत्र—

(शक्ति) की प्रधानता से युक्त होने के कारण वह-वह भेद कहा जाता है ॥ -५१-५२- ॥

वह-वह = चित् आनन्द आदि । केवल चित्स्वभाव वाला परम शिव पूर्ण होने के कारण आकांक्षारहित होता हुआ भी अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से बाहर उल्लसित होने की इच्छा से परानन्द के चमत्कार के तारतम्य से सबसे पहले 'मैं' इस प्रकार के परामर्श के कारण शक्तिदशा में स्थित होता हुआ स्फुरित होता है । बाद में 'मै यह' इस प्रकार दो परामर्श की शाखा को अवभासित करता है । उसमें शुद्ध चिन्मात्र अधिकरण वाले 'अहम्' इस अंश में जब परमेश्वर इदमंश को उल्लासित करता है तब उसके उन्मीलितमात्र चित्र के समान भावराशिविषय वाला होने के कारण अस्फुट होने से इच्छाप्रधान सदाशिव तत्त्व (प्रकट) होता है । जिसका स्वरूप होता है—'मै यह हूँ' । भावराशि के और (अधिक) स्फुट होने पर उसी अधिकरण में जब इदमंश में अहमंश निषिक्त (= प्रविष्ट) होता है तब ज्ञानशक्तिप्रधान ईश्वर तत्त्व (का आविर्भाव) होता है—'यह मैं हूँ' । इसीलिए अहंविमर्श समान होने पर भी यहाँ इदमंश के प्राधान्य और अप्राधान्य से यह अन्तर होता है और जब इदमंश का स्फुरण प्रौढ़भेदभावराशि को प्राप्त करता है तथा अहमंश चिन्मात्रगत होकर स्फुरित होता है तब भेदाद्वैतवादियों की भाँति समधृततुलापुटन्याय से ईश्वर को 'अहम् इदम्' ऐसा परामर्श होता है तब क्रियाशक्तिप्रधान विद्यातत्त्व का स्फुरण होता है ऐसा विभाग है । यद्यपि यह परमशिव का ही एकघन ऐश्वर्य है तथापि उसका जैसे बाह्य औन्मुख्य वाला

'निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यत्
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम् ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुष-
स्तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ॥'

इत्याद्यनेनोक्तम् ॥ ५१ ॥

ननु यदि नामात्र परे रूपेऽपि एवं भेदः संभवेत् तर्हि अस्य कथमनवच्छिन्नपरप्रकाशात्मकं स्वरूपं तिष्ठेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

तथाहि स्वस्वतन्त्रत्वपरिपूर्णतया विभुः ॥ ५२ ॥
निःसंख्यैर्बहुभी रूपैर्भात्यवच्छेदवर्जनात् ।

पर एव हि शिवः स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् भूतभावभुवनाद्यात्मकैर्विच्छिन्नैरनन्तै रूपैः स्वात्मन्यवच्छेदं वर्जयित्वा भाति, एवमपि अप्रच्युतप्राच्यस्वरूपत्वात् अनवच्छिन्नपरप्रकाशात्मक एव—इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

ननु 'अनेकत्र एकरूपानुगमस्तत्त्वम्' इत्युक्तं तच्चात्र कथम् ?—इत्याशङ्क्याह—

शक्तितत्त्व है उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर का भी (बाह्य औन्मुख्यवाला व्यापार) विद्यातत्त्व है । और इसी आशय से अन्यत्र—

जो इच्छारहित पूर्ण होने से 'अहम्' इस रूप में भासित होते हैं । उसके पश्चात् अपनी कला को विभक्त करने के लिए (द्विशाखा = चित् और आनन्द अथवा अहम् और इदम्) में विराजते हैं । स्वरूप से उन्मेष का प्रसरण निमेष और स्थिति वाले उस परमशिवशक्त्यात्मरूप सम्पूर्ण अद्वैत की (मैं) वन्दना करता हूँ ।''

इत्यादि इनके द्वारा कहा गया है ॥ ५१ ॥

प्रश्न—यदि इसका पररूप में भी इस प्रकार का भेद सम्भव है तो इसका अनवच्छिन्न परप्रकाशात्मक रूप कैसे रह सकता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह व्यापी (परमेश्वर) अपने स्वातन्त्र्य की परिपूर्णता के द्वारा अवच्छेदरहित होकर असंख्य अनेक रूपों में भासित हो जाता है ॥ -५२-५३- ॥

परशिव अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से भूत भाव भुवन आदि रूप पृथग्भूत अनन्त रूपों से अपने में अवच्छेदरहित होकर, आभासित होता है ऐसा होने पर भी पूर्वरूप के च्युत न होने से (वह) अनवच्छिन्न परप्रकाशात्मक ही है ॥ ५२ ॥

प्रश्न—'अनेक में एकरूप का अनुगम ही तत्त्व है' ऐसा कहा गया । वह यहाँ कैसे? यह शङ्का कर कहते हैं—

शांभवाः शक्तिजा मन्त्रमहेशा मन्त्रनायकाः ॥ ५३ ॥
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पञ्च गणाः क्रमात् ।
स्वस्मिन्स्वस्मिन् गणे भाति यद्यद्रूपं समन्वयि ॥ ५४ ॥
तदेषु तत्त्वमित्युक्तं कालाग्न्यादेर्धरादिवत् ।

एष्विति शिवादिपञ्चसु तत्त्वेषु, कश्चैषां स्वो गणः ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'शाम्भवाद्या अमी पञ्चगणाः' इति । क्रमादिति—यथासंख्येन । तेन शिवतत्त्वे शांभवा यावद्विद्यातत्त्वे मन्त्रा इति । शांभवा इति शंभोः परप्रकाशात्मन इमे, परप्रकाशनान्यथानुपपत्त्यावाप्ततत्तादात्म्यवृत्तयो भुवनादयो विश्वे भावाः—इत्यर्थः, यदुक्तं प्राक्—

'यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं ।
रूपं भाति परं प्रकाशनिविडं देवः स एकः शिवः ॥' इति ।

शक्तिजा इति—अनाश्रिताद्याः, मन्त्रमहेशाद्यास्तु पूर्वमेवोक्ताः, एवं च मन्त्रमहेशाद्यात्मनि स्वस्मिन् वर्गद्वये

'किं त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादितः ।
बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम् ॥'

शाम्भव, शाक्त, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर एवं मन्त्र ये पाँच क्रमशः विशुद्ध गण है । अपने-अपने गण में जो-जो समन्वयी रूप भासित होता है, कालाग्नि से लेकर पृथिवी आदि के समान, वह इनमें तत्त्व कहा गया है ॥ -५३-५५- ॥

इनमें = शिव आदि पाँच तत्त्वों में । इनका अपना कौन सा गण है ?—यह शङ्का कर कहा गया—'शाम्भव आदि ये पाँच गण है ।' क्रमशः = संख्या के अनुसार-इसलिए शिव तत्त्व में शाम्भव और इसीप्रकार विद्यातत्त्व में मन्त्रगण हैं । शाम्भव = शंम्भु अर्थात् परप्रकाशस्वरूप (परमात्मा) के ये शाम्भव कहलाते हैं । परप्रकाशन की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा उसके साथ तादाम्य को प्राप्त करने वाले भुवन आदि सभी पदार्थ शाम्भव हैं । जैसा कि पहले कहा गया है—

"जो ये पुर कहे गए है और जो अनेक भेदों से इनमें (= पुरों में) अन्वित व (व्याप्त) हैं, तथा परप्रकाशघन पर रूप पुरभासित होता है वह एक शिव देव है ।"

शक्ति से उत्पन्न-अनाश्रित शिव आदि । मन्त्रमहेश आदि तो पहले ही कहे जा चुके हैं । इस प्रकार मन्त्रमहेश आदि रूप अपने दो वर्गों में—

"किन्तु आन्तर दशा के उद्रेक के कारण पहले सदाशिव तत्त्व आविर्भूत होता है और बहिर्भावपरक होने पर तो पारमेश्वर तत्त्व (= ईश्वर) प्रकट होता है ।"

इत्याद्युक्तयुक्त्या यदा आन्तरदशोद्रिक्तत्वादिकमनुयायि रूपमाभासते तदभिप्रायेणात्र 'सदाशिवतत्त्वमीश्वरतत्त्वं च' इत्युक्तं न पुनरधिष्ठातृदेवताभिप्रायेण, सदैवान्तारूपतया शिवत्वस्य भासनात् बहीरूपतया चैश्वर्यस्यैव परिस्फुरणात्, एवं हि ब्रह्मादीनामपि पृथक्तत्त्वपरिगणनं प्राप्नुयात्, अन्यथा हि एषां कारणत्वस्याविशेषात् अर्धजरतीयं स्यात्, तथात्वे च पृथिव्यधिष्ठातृत्वात् सार्वभौमस्यापि राज्ञः तत्त्वान्तरत्वं प्रसज्येत्, न चैवम्, इति यथोक्तमेव युक्तम् ॥ ५४ ॥

तदाह—

तेन यत्प्राहुराख्यानसादृश्येन विडम्बिताः ॥ ५५ ॥
गुरूपासां विनैवात्तपुस्तकाभीष्टदृष्टयः ।
ब्रह्मा निवृत्त्यधिपतिः पृथक्तत्त्वं न गण्यते ॥ ५६ ॥
सदाशिवाद्यास्तु पृथग् गण्यन्त इति को नयः ।
ब्रह्मविष्णुहरेशानसुशिवानाश्रितात्मनि ॥ ५७ ॥
षट्के कारणसंज्ञेऽर्धजरतीयमियं कुतः ।
इति तन्मूलतो ध्वस्तं गणितं नहि कारणम् ॥ ५८ ॥
यथा पृथिव्यधिपतिर्नृपस्तत्त्वान्तरं नहि ।

इत्यादि कथित युक्ति के द्वारा जब आन्तर दशा के उद्रेक का अनुयायी रूप आभासित होता है तो उस अभिप्राय से 'सदाशिव और ईश्वर तत्त्व' कहा गया है न कि अधिष्ठात्री देवता के अभिप्राय से । क्योंकि सदैव अन्तः रूप में शिवत्व भासित होता है और बाह्यरूप में उसके ऐश्वर्य का परिस्फुरण होता है । ऐसा होने पर ब्रह्मा आदि की भी पृथक् तत्त्व के रूप में परिगणना प्राप्त होने लगेगी । अन्यथा इनकी कारणता के समान होने के कारण अर्धजरतीय न्याय प्राप्त हो जाएगा । और वैसा होने पर पृथिवी का अधिष्ठाता होने के कारण सार्वभौम राजा भी तत्त्वान्तर होने लगेगा किन्तु ऐसा नहीं है इसलिए जो कहा गया वही ठीक है ॥ ५४ ॥

वह कहते है—

इसलिए नाम की समानता से भ्रान्त, गुरु की उपासना के बिना ही पुस्तक से अभीष्ट दृष्टि को प्राप्त करने वाले, जो यह कहते हैं (= प्रश्न करते हैं) कि ब्रह्मा निवृत्ति (कला) के अधिपति हैं वे पृथक् तत्त्व नहीं माने जाते और सदाशिव आदि पृथक् (तत्त्व) गिने जाते हैं—इसमें क्या युक्ति है? ब्रह्मा विष्णु रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, अनाश्रितशिव इन कारण नामवाले छ के विषय में यह अर्धजरतीय न्याय (= आधी गाय पूजा के लिये और आधी काटने के लिये कैसे ? इस प्रकार वह (= ब्रह्मा आदि को तत्त्वान्तर मानना) मूलतः ध्वस्त हो गया (= उन्हें) कारण नहीं बताया

तथा तत्तत्कलेशानः पृथक् तत्त्वान्तरं कथम् ॥ ५९ ॥

आख्यानसादृश्येनेति—सदाशिवादीति नामसादृश्येन ॥ ५६-५९ ॥

एतदेवाधिकावापेनोपसंहरति—

तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षाच्छिवेच्छैव कर्त्र्याभासितभेदिका ॥ ६० ॥

ननु यद्येवं तदशुद्धेऽध्वनि कः कर्ता ?—इत्याशङ्क्याह—

ईश्वरेच्छावशक्षुब्धभोगलोलिकचिद्गणान् ।
संविभक्तुमघोरेशः सृजतीह सितेतरम् ॥ ६१ ॥

ईश्वरस्य समनन्तरोक्तस्य शुद्धस्वातन्त्र्यमयस्य इच्छावशेन क्षुब्धा

'क्षोभोऽस्य लोलिकाख्यस्य सहकारितया स्फुटम् ।
तिष्ठासा योग्यतौन्मुख्यमीश्वरेच्छावशाच्च तत् ॥'

इत्यादिवक्ष्यमाणनीत्या कार्मस्य मलस्य सहकारितायामुन्मुखी भोगलोलिका अभिलाषात्मकमाणवं मलं यस्यैवंविधो यश्चिद्गणः—संकुचित आत्मवर्गस्तं

गया । जिस प्रकार पृथिवी का स्वामी राजा दूसरा तत्त्व नहीं है उसी प्रकार उन-उन कलाओं के स्वामी कैसे पृथक् तत्त्व होंगे? ॥ -५५-५९ ॥

आख्यानसादृश्य से = सदाशिव आदि नामसादृश्य से ॥ ५६-५९ ॥

इसी को अधिक व्याख्यान से समाप्त करते हैं—

तो इस प्रकार यह पाँच शुद्ध अध्वा कहा जाता है । इसमें साक्षात् शिव की इच्छा ही कर्त्री एवं भेद का आभास कराने वाली है ॥ ६० ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो अशुद्ध अध्वा में कौन कर्त्ता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ईश्वर की इच्छा के वश क्षुब्ध अभिलाषरूप आणव मल वाले चित्समूहों को विभक्त करने के लिए अघोरेश (इस) अशुद्ध सृष्टि की रचना करते हैं ॥ ६१ ॥

ईश्वर की = पहले कहे गए शुद्ध स्वातन्त्र्य वाले की, इच्छावश क्षुब्ध—

'इस लोलिका नाम वाले का, सहकारी के रूप में क्षोभ स्पष्ट है । स्थित होने की इच्छा ही योग्यता की उन्मुखता है और वह (= औन्मुख्य) ईश्वरेच्छा के कारण होता है' ।

इत्यादि आगे कही जाने वाली नीति के द्वारा कार्ममल की सहकारिता में उन्मुख भोगलोलिका = अभिलाषात्मक आणवमल है, जिसका उस प्रकार का

संविभक्तुं—तत्तद्भोगसाधनसंसिद्ध्या संविभागं कर्तुमघोरेशो—मन्त्रमहेश्वराणां प्रथमः अन्यत्रानन्तशब्दवाच्यः सितेतरम्—अशुद्धमध्वानम्, इह—अस्मद्दर्शने, सृजति—मायासंक्षोभपुरःसरं कलादिक्षित्यन्तेन वैचित्र्येणावभासयति बहिः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ।
भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ॥
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ।' इति ।

तथा

शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः । इति ॥ ६१ ॥

ननु

'देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम् ।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या सर्वत्र मलस्य त्रैविध्येऽपि मुख्यतया कार्मस्यैव संसारकारणत्वम्, इह पुनः सृष्टिहेतुत्वाभिधानेन लोलिकाया इति, किमेतत् ?—इत्याशङ्क्याह—

चित्समूह = संकुचित आत्मवर्ग, उसको अलग करने के लिए = उन-उन भोगसाधनों की सिद्धि के द्वारा विभाग करने के लिए, अघोरेश = मन्त्रमहेश्वरों में प्रथम अन्यत्र अनन्त शब्द से कथित, सितेतर = अशुद्ध अध्वा की, यहाँ = हमारे दर्शन में, सृष्टि करते हैं = मायासंक्षोभ के द्वारा कला से लेकर पृथिवीपर्यन्त बाहर वैचित्र्य के रूप में अवभासित करते हैं । वही कहा गया है—

"ईश्वरेच्छा के कारण इन (अनन्तनाथ) के अन्दर भोगेच्छा उत्पन्न होती है । इस भोगेच्छु के भोगसाधन की सिद्धि के लिए मन्त्रेश्वर ने शक्तियों के द्वारा माया में प्रवेश कर जगत् को उत्पन्न किया ।"

तथा

'शुद्ध अध्वा में शिव एवं अशुद्ध अध्वा में अनन्त नाथ कर्त्ता कहे गए हैं' ॥ ६१ ॥

प्रश्न—

"संसार में वर्त्तमान सब देवता आदि में तीन प्रकार के मल होते हैं । उनमें भी एक कार्म मल ही मुख्यतया संसार का कारण होता है ।"

इत्यादि उक्त युक्ति से सर्वत्र मल के त्रिविध होने पर भी मुख्यतया कार्ममल ही संसार का कारण है और यहाँ लोलिका को सृष्टि का कारण कहा जा रहा है यह क्या है?—ऐसी शङ्का कर कहते है—

अणूनां लोलिका नाम निष्कर्मा याभिलाषिता ।
अपूर्णंमन्यताज्ञानं मलं सावच्छिदोज्झिता ॥ ६२ ॥

या नामाणूनां निष्कर्मा—क्रियारूपत्वाभावात् इच्छामात्रस्वभावाभिलाषिता, सा प्रतिनियतविषयाभावादवच्छिदोज्झिता लोलिका स्वात्मनि साकांक्षतेव, अत एवापूर्णमन्यता । अत एव पूर्णज्ञानात्मकस्वरूपाख्यातेरज्ञानं—संकुचितज्ञानम्, अत एव स्वस्वरूपापहान्या मलम्

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'

इत्याद्युक्त्या **द्विप्रकारमाणवाख्यं** सर्वत्रैवोच्यते—इत्यर्थः । एवं कार्मस्यैव मलस्य मुख्यतया **संसारकारणमिति** । यदुक्तम्—

'निमित्तमभिलाषाख्यम्..................... । इति ।

इयमेवाणूनामणुताया योग्यता यत् तस्यां सत्यां तत्तदवच्छेदपात्रत्वमेषामुदियात् ॥ ६२ ॥

तदाह—

जो अणुओं की क्रियारहित अभिलाषा है वह अवच्छेद से रहित संकुचित ज्ञान ही मल है ॥ ६२ ॥

जो अणुओं की कर्मरहित = क्रिया रूप न होने के कारण इच्छामात्र स्वाभाविक अभिलाष है वह निश्चित विषय न होने के कारण अवच्छेद से रहित लोलिका = अपने में आकांक्षिता, ही है । इसीलिए अपूर्णमन्यता है । इस कारण पूर्णज्ञानात्मक स्वरूप की अख्याति होने से अज्ञान = संकुचित ज्ञान, इसीलिए अपने स्वरूप की हानि होने से मल है ।

"बोध के स्वातन्त्र्य की हानि या स्वातन्त्र्य के बोध का न होना—यह दो प्रकार का आणव मल अपने स्वरूप की हानि के कारण होता है ।"

इत्यादि उक्ति के द्वारा दो प्रकार का आणव नामक मल सर्वत्र कहा जाता है । इसी प्रकार कार्म ही मल मुख्य रूप से संसार का कारण होने पर भी यही वहाँ प्रधान रूप में कहा गया कि उसका (=कार्ममल का) भी यही (=अभिलाष ही) कारण है । जैसा कि कहा गया है—

"अभिलाषा (ही कार्ममलका) निमित्त है ।"

यही अणुओं की अणुता की योग्यता है कि उसके होने पर इनकी तत्तद् अवच्छेद की पात्रता उत्पन्न होती है ॥ ६२ ॥

वही कहते हैं—

योग्यतामात्रमेवैतद्भाव्यवच्छेदसंग्रहे ।
मलस्तेनास्य न पृथक् तत्त्वभावोऽस्ति रागवत् ॥ ६३ ॥

योग्यतामात्रमिति—साक्षादवच्छेदाधायित्वाभावेन, अस्येति—मलस्य । इह खलु वस्तुना वस्त्ववच्छिद्यते वस्तुन एव च पृथक्तत्त्वभावो भवेत्, न चैतद्वस्तु किञ्चित्, अपि तु पूर्णस्वरूपस्याख्यातिमात्रम् इति युक्तमुक्तम्—तत्तदवच्छेदसंग्रहे योग्यतामात्रमेव एतन्मलमिति ॥ ६३ ॥

ननु सांख्येन वैराग्यलक्षणो बुद्धिधर्मो रागः तत्तद्विषयाभिलाषस्वभावोऽभ्युपगतः, इति किमनेनान्येनैवंविधेन रागतत्त्वेन मलेन च प्रयोजनम् ?—इत्याशङ्क्याह—

निरवच्छेदकर्मांशमात्रावच्छेदतस्तु सा ।
रागः पुंसि धियो धर्मः कर्मभेदविचित्रता ॥ ६४ ॥

निरवच्छेदेति निर्विशेषः, तेन सा लोलिकैव 'किंचिन्मे भूयात्' इति सामान्याकारविषयमात्रावच्छिन्ना पुंधर्मत्वेनाभिमतो रागो यः कञ्चुकपञ्चकान्तस्तत्त्वान्तरेण सर्वत्र परिगणितः बुद्धिधर्मस्तु तस्यैव बहिष्पर्यन्ततया प्रसरणं, येन तत्तद्विषयभेदवैचित्र्येण बुभुक्षापिपासास्त्रीसंबुभुक्षादिलक्षणोऽयमध्यवसायः

भावी अवच्छेद के संग्रह में यह योग्यता मात्र ही मल है । इसलिए राग के समान यह पृथक् तत्त्व नहीं है ॥ ६३ ॥

योग्यता मात्र—साक्षात् अवच्छेदाधायक न होने से, इसका = मल का । वस्तु से वस्तु का अवच्छेद होता है और वस्तु का ही पृथक् तत्त्वभाव होता है । यह कोई वस्तु नहीं है बल्कि पूर्णस्वरूप का अज्ञान मात्र है । इसलिए ठीक कहा है—भिन्न-भिन्न अवच्छेद के संग्रह में योग्यतामात्र ही यह मल है ॥ ६३ ॥

प्रश्न—सांख्य ने वैराग्य (= विशिष्ट राग) लक्षण वाले बुद्धि के धर्म को राग अर्थात् भिन्न-भिन्न विषय के अभिलाषस्वभाव को माना है तो इस प्रकार के दूसरे राग तत्त्व और मल से क्या प्रयोजन?—यह शङ्का कर कहते है—

निर्विशेष कर्म के अंशमात्र अवच्छेद के कारण (उत्पन्न होने वाली) वह (लोलिका) पुरुष में वर्त्तमान राग है । और बुद्धि का धर्म कर्मभेद का वैचित्र्य होना है ॥ ६४ ॥

निरवच्छेद = निर्विशेष । इससे 'मेरे पास कुछ हो जाय'—इस प्रकार की सामान्याकारविषयमात्र से अवच्छिन्न वह लोलिका (= अस्फुट अभिलाषा) ही पुरुष के धर्म के रूप में अभिमत राग है । जो कि पाँच कञ्चुकों में से एक तत्त्व सर्वत्र माना गया है । और बुद्धि का धर्म तो उसी (= पौरुष राग) का बाह्य प्रसरण है जिस कारण भिन्न-भिन्न विषयभेद की विचित्रता से भूख प्यास स्त्रीसम्भोग आदि

समुदियात् ॥ ६४ ॥

आणवे पुनः सामान्येनैषणीयविषयोल्लेखतोन्मुखतामात्रं, यतोऽयमेवंविधः समुल्लासः । तदाह—

अपूर्णमन्यता चेयं तथारूपावभासनम् ।

चो हेतौ, यस्मादियमपूर्णमन्यताणवमललक्षणा, तथा पुंबुद्धिधर्मतयाभिमतस्य रागावैराग्यात्मनो रूपस्य अवभासनम् तथा तथा सैवावभासते—इत्यर्थः, अत एवैतदाणवेऽङ्कुरितप्रायं रागे मुकुलितं बुद्धौ पुनः फुल्लं फलितं च इत्यलमवान्तरेण बहुना ॥

ननु स्वतन्त्रो बोध एव परमार्थः, इत्यस्मत्सिद्धान्तः, तत्तदतिरिक्तः कुतोऽयं मलो नाम ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वतन्त्रस्य शिवस्येच्छा घटरूपो यथा घटः ॥ ६५ ॥
स्वात्मप्रच्छादनेच्छैव वस्तुभूतस्तथा मलः ।

वस्तुभूत इति प्रच्छन्नात्मरूपत्वात् । इह खलु परमेश्वरः पूर्णज्ञानक्रियात्मकं स्वं स्वरूपं स्वेच्छया प्रच्छाद्य संकुचितात्मतामवभासयेत्, अतश्च संकुचितमेव

लक्षण वाला अध्यवसाय उत्पन्न होता है ॥ ६४ ॥

आणवमल में सामान्यरूप से एषणीय विषय की उल्लेखता की उन्मुखतामात्र रहती है जिससे इस प्रकार का उल्लास होता है, वह कहते हैं—

चूँकि यह अपूर्णमन्यता होती है इसलिए उस रूप में अवभासन होता है ॥ ६५- ॥

'च' (शब्द का प्रयोग) हेतु अर्थ में है । चूँकि यह अपूर्णमन्यता आणव मल लक्षण वाली है उसके द्वारा पुरुष और बुद्धि के धर्म के रूप में अभिमत अवैराग्य रूप राग का अवभासन होता है अर्थात् उन-उन रूपों में वही (= अपूर्णमन्यता ही) अवभासित होती है इसलिए आणव मल की स्थिति में (यह) अङ्कुरितप्राय है, राग में कली के रूप में और बुद्धि में पुष्पित और फलित होती है—इतना ही कहना पर्याप्त है ॥

प्रश्न—स्वतन्त्र बोध ही परमार्थ है—यह हमारा सिद्धान्त है । तो उससे भिन्न यह मल कहाँ से आया? यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे स्वतन्त्र शिव की इच्छा (से) घट घटरूप (में स्थित) है उसी प्रकार अपने को छिपाने की इच्छा ही वस्तुभूत मल है ॥ -६५-६६- ॥

वस्तुभूत—प्रच्छन्न आत्मस्वरूप होने के कारण । परमेश्वर पूर्णज्ञानक्रियात्मक अपने रूप को अपनी इच्छा से आच्छादित कर संकुचितात्मता को अवभासित

ज्ञानमस्य रूपमिति सर्वत्रोद्घोष्यते । तदुक्तम्—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति...................... ।' इति ॥ ६५ ॥

नन्वखण्डः पर एव प्रकाशः समस्ति, इति तदतिरेकेण कथङ्कारमयं मलो नाम वस्तुरूपतामियात् ?—इत्याशङ्क्याह—

यथैवाव्यतिरिक्तस्य धरादेर्भावितात्मता ॥ ६६ ॥
तथैवास्येति शास्त्रेषु व्यतिरिक्तः स्थितो मलः ।

अस्येति मलस्य । इतीति वस्तुतः परप्रकाशाव्यतिरिक्तत्वेऽपि धरादिवत् व्यतिरिक्ततयास्य भानात्, शास्त्रेष्विति स्वायम्भुवादिषु, यदुक्तं तत्र—

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।' इति ।

तथा

'प्रोक्तो येन मलं ज्ञानं मलस्तद्भिन्नलक्षणः ।' इति ।

तथा

......................ततः पुंसां मलः स्मृतः ।' इति ।

अत एवास्य व्यतिरिक्ततयावभासनं नाम नापूर्वं किञ्चित्, येनात्र न परेषां संरम्भः श्लाघ्यतामियात्, स्वातन्त्र्येण हि अस्य व्यतिरिक्तत्वे स श्लाघ्यः

करता है इसलिए संकुचित ही ज्ञान इसका (= मल का) रूप है—ऐसा सर्वत्र घोषित किया जाता है । वही कहा गया है—

"मल अज्ञान को कहते हैं ..." ॥ ६५ ॥

प्रश्न—अखण्ड परप्रकाश ही सम्भव है तो उसके अतिरिक्त यह मल कैसे वस्तुरूपता को प्राप्त करता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे (परमेश्वर से) अभिन्न पृथिवी आदि की पृथक् सत्ता है उसी प्रकार उसकी भी । इसलिए शास्त्रों में मल अलग स्थित है ॥-६६-६७-॥

इसकी = मल की । 'इति' शब्द का तात्पर्य है—वस्तुतः पर प्रकाश से भिन्न होने पर भी पृथिवी आदि के समान पृथक् रूप में इसका भान होता है । शास्त्रों में = स्वायम्भुव आदि शास्त्रों में ।

"मल अनादि है वह पुरुषों का पशुत्व कहा गया है ।" तथा

"मल (नपुंसकलिङ्ग) ज्ञान है । जिस कारण मल (पुलिङ्ग) उससे भिन्न लक्षण वाला कहा गया है ।" तथा

"..............इस कारण वह पुरुषों का मल कहा गया है ।"

इसलिए इसका भिन्न रूप में अवभासित होना कुछ अपूर्व नहीं है जिससे इस

स्यात् ॥ ६६ ॥

न चैवमित्याह—

व्यतिरिक्तः स्वतन्त्रस्तु न कोऽपि शकटादिवत् ॥ ६७ ॥

इह शकटादयः पदार्था बहिर्यथा परस्परं स्वातन्त्र्येण व्यतिरिक्ताः स्थिता न तथायं—परप्रकाशापेक्षयास्य भेदेन भानायोगात् । एवं हि स द्वितीयः संनिहितः । इत्येतावतैव आत्मनां रूपामिश्रणेऽपि आणवरूपामशुद्धिं विदध्यात् इति व्यापकतया तत्संनिधानस्याविशेषात् शिवमुक्ताणूनपि किं न आवृणुयात्— इत्युक्तम् ॥ ६७ ॥

तत्सद्वितीया साशुद्धिः शिवमुक्ताणुगा न किम् ।

ननु व्यापकोऽपि मलः प्रतिपुरुषमेकैकया शक्त्या ज्ञानक्रियात्मकं स्वरूपमावृणुयात्, यदाहुः—

'मलशक्तयो विभिन्नाः प्रत्यात्मानं च तद्गुणावरिकाः।' इति ।

ततश्चायं परिणामवैचित्र्यात् यं प्रत्यावारिकायाः शक्तेः तन्निवृत्तिपरिणामं भजते

विषय में दूसरों का प्रयास श्लाघा को प्राप्त न हो । स्वतन्त्ररूप में इसके भिन्न होने पर वह श्लाघ्य होता ॥ ६६ ॥

ऐसा नहीं है—यह कहते हैं—

उससे भिन्न कोई भी शकट आदि के समान स्वतन्त्र नहीं है ॥ -६७॥

जिस प्रकार इस संसार में शकट आदि बाह्यपदार्थ परस्पर स्वतन्त्ररूप में स्थित हैं यह उस प्रकार नहीं है । क्योंकि परप्रकाश की अपेक्षा रख कर यह भिन्नरूप में भासित नहीं होता । ऐसा होने पर (= संकुचित होने पर) वह दूसरा सन्निहित (= उपस्थित) हो गया । इतने से ही आत्माओं के रूप का मिश्रण न होने पर भी (वह सङ्कोच) आणवरूप अशुद्धि उत्पन्न करेगा । इसलिए व्यापक होने के कारण उसके संनिधान के समान होने से शिवमुक्त अणुओं को भी (वह) क्यों नहीं आवृत करेगा ?—यह कहा गया ॥ ६७ ॥

तो द्वितीय के साथ वह अशुद्धि क्या शिवमुक्त अणुओं में नहीं होगी? ॥ ६८- ॥

प्रश्न—व्यापक (और अनन्तशक्तियुक्त) भी मल एक-एक पुरुष को एक-एक शक्ति के द्वारा उसके ज्ञानक्रियात्मक स्वरूप को आवृत करेगा जैसा कि कहते हैं—

"मलशक्तियाँ भिन्न-भिन्न है और प्रतिपुरुष उसके गुण का आवरण करने वाली हैं ।"

इसलिए यह (= मल) परिणामवैचित्र्य के कारण जिसके प्रति आवारिका शक्ति

तं प्रति न संनिदध्यात्, इति न मुक्ताणूनपि आवृणुयात्, शिवं प्रत्यस्य पुनरावारकत्वमेव नास्ति तस्यानादिशुद्धबोधरूपत्वात् ॥

तदाह—

मलस्य रोद्ध्री काप्यस्ति शक्तिः सा चाप्यमुक्तगा ॥ ६८ ॥
इति न्यायोज्झितो वादः श्रद्धामात्रैककल्पितः ।

अमुक्तगेति—न पुनर्मुक्ताणुगा शिवगा वा, इति मलस्य च शक्तिरपि अभ्युपगम्यमाना तद्वदेव संनिधिमात्रेणावारिका, इत्युक्त एव दोषः आवारकत्वे हि अस्याः सर्वमेवावार्यं स्यात्, न वा किञ्चित्, इति कुतोऽयं नैयत्येनावसायः । नहि वस्तु भवत्पक्षपाति स्यात् 'यत्किंचिदावृणुयात् किंचिन्न' इति, नहि नीलं कस्यचिदप्यनीलं भवेदिति भावः । अथानेकास्ता इति परिणामवैचित्र्यात् काचित् कंचित् रुणद्धि, न वा, येन मुक्तामुक्तविभागः ?—इति चेत् नैतत्, इह खलु सर्वपदार्थानां तत्तत्कार्यान्यथानुपपत्त्या शक्तिः परिकल्प्यते, यथा वह्नेर्दाहान्यथानुपपत्त्या दाहिका शक्तिः, सा च पदार्थस्यात्मैव, किं तु व्यापारभेदादारोपभेदः यदाहुः—

की निवृत्ति के परिणाम को प्राप्त होगी उसके सन्निहित नहीं होगी । इस प्रकार मुक्त अणुओं का आवरण नहीं करेगी । और शिव के प्रति तो वह आवरक हो ही नहीं सकती क्योंकि वह अनादि शुद्धबोधरूप है ।

वही कहते है—

मल को रोकने वाली कोई शक्ति है और वह भी मुक्त पुरुषों के प्रति प्रभावकारिणी नहीं है—यह सिद्धान्त तर्कशून्य है । केवल श्रद्धा से कल्पित है ॥ -६८-६९- ॥

अमुक्तगा—न कि मुक्त अणु अथवा शिव में रहने वाली । इस प्रकार मल की शक्ति स्वीकृत होने पर भी उसी प्रकार केवल पास में रहने से आवरण करती है इस प्रकार उक्त दोष है ही । यदि यह आवरिका है तो सब कुछ इसके आवरण का विषय होगा अर्थात् सबका आवरण करेगी न कि कुछ का—ऐसा निश्चयात्मक ज्ञान कैसे होगा । वस्तु तो आपकी पक्षपाती होगी नहीं कि कुछ का आवरण करे और कुछ का नहीं । नील किसी के लिए अनील होगा ऐसा तो होता नहीं । यदि यह कहिए कि वे (शक्तियाँ) अनेक हैं इसलिए परिणाम की विचित्रता के कारण कोई (शक्ति) किसी का रोध करती है, (किसी का) नहीं । जिससे मुक्त और अमुक्त का विभाग होता है? तो ऐसा नहीं (कह सकते) । भिन्न-भिन्न कार्यों की अन्यथा अनुपपत्ति (= अन्य प्रकार से सिद्धि न होवे) के द्वारा सभी पदार्थों की शक्ति कल्पित होती है । जैसे दाह की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा अग्नि की दाहिका शक्ति । और वह (शक्ति) पदार्थ की आत्मा ही है किन्तु व्यापार के भेद से

'फलभेदादारोपितभेदः पदार्थात्मा शक्तिः।' इति,

अत एव चास्या व्यापारभेदात् भेदो येनानेकशक्तियोगी 'पदार्थः' इत्युच्यते । यथा वह्नेर्दहनपचनाद्यनेकव्यापारयोगात् 'दाहिका पाचिका' इत्येवमाद्या अनेकाः शक्तयः, स्वतः पुनरेकैकस्याः शक्तेर्भेदो न युक्तः स्वरूपाविशेषात्, व्यापारस्य चैकत्वात्, प्रमाणान्तरस्याप्यभावात्, दृष्टसिद्धये हि अदृष्टं कल्प्यं तच्चैकया शक्त्या सिद्धम् इति किमदृष्टभेदकल्पनायासेन । एवं मलस्यापि यद्यावरणव्यापारे शक्तिरस्ति तत्सर्वमेवावृणुयात् किमस्याभेदेन येनैक्यं स्यात्, अत एव मलस्यापि कापि रोद्ध्री शक्तिरस्ति इत्येकवचनेनैव निर्देशः, अत उक्तम्—'एष न्यायोज्झितः' इत्यादि । मलस्य च परिणामयोगात् जडस्य रोधिका शक्तिरभ्युपगम्यमाना स्वयं तावज्जाड्यादेव न प्रवर्तते तथात्वेन 'अमुमावृणुयादमुं न' इत्यभिसंधानाभावाद्विश्वमपि प्रति प्रवृत्ता स्यात् येन सर्व एवावृता भवेयुः, एवं चेश्वरेऽपि किं प्रमाणं यः शुद्धबोधस्वभाव एवासाविति न चायमनादिशुद्धबोधस्वभावः, इति वक्तुं युक्तम् अनादेरेव तन्निरोधकत्वस्य विचारयितुमुपक्रान्तत्वात् ॥

तदेवाह—

आरोप का भेद होता है । जैसा कि कहते हैं—

"फल के भेद से आरोपित भेद वाला जो पदार्थ का आत्मा वही शक्ति है ।"

इसीलिए व्यापारभेद के कारण इसका भेद होता है । जिस कारण अनेक शक्ति से युक्त (वस्तु) पदार्थ कही जाती है । जैसे दाह पाक आदि अनेक व्यापार के योग के कारण अग्नि की दाहिका पाचिका आदि अनेक शक्तियाँ हैं । किन्तु स्वतः एक-एक शक्ति का भेद युक्त नहीं है क्योंकि उनका स्वरूप समान है, और व्यापार एक है। इसके अतिरिक्त इस विषय में दूसरे प्रमाण का अभाव है दृष्ट की सिद्धि के लिए अदृष्ट की कल्पना की जाती है और वह एक शक्ति से सिद्ध है तो फिर अदृष्ट भेद की कल्पना के परिश्रम से क्या लाभ? इस प्रकार यदि मल की भी आवरण के व्यापार में शक्ति है तो (वह) सबका आवरण करेगी इसके अभेद से क्या ? जिससे ऐक्य होगा । इसलिए मल की भी कोई रोध्री शक्ति है—ऐसा एक वचन के प्रयोग से ही निर्देश है । इसलिए कहा गया है—'यह न्याय से रहित (= तर्क से परे)' इत्यादि । और मल परिणामी होने के कारण जड़ है अतः उसकी रोधिका शक्ति मानने पर उस शक्ति के भी जड़ होने के कारण वह स्वयं तो प्रवृत्त होगी नहीं । उससे 'इसका आवरण करें इसका नहीं' ऐसा अभिसन्धान न होने से सब के प्रति प्रवृत्त होगी जिससे सबके सब आवृत हो जायेंगे । इस प्रकार ईश्वर के विषय में भी क्या प्रमाण है कि वह शुद्धबोधस्वभाव ही है । यह अनादि शुद्धबोध स्वभाव वाला है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि अनादि विशेषण ही उसकी निरोधकता का विचार करने के लिए उपक्रान्त होने लगेगा ।

वही कहते हैं—

रोद्ध्री शक्तिर्जडस्यासौ स्वयं नैव प्रवर्तते ॥ ६९ ॥
स्वयं प्रवृत्तौ विश्वं स्यात्तथा चेशनिका प्रमा ।

इहाचेतनश्चेतनाधिष्ठित एव प्रवर्तते, इति तावदविवादः, ततश्च परमेश्वर एव तच्छक्तिं तथा प्रेरयेत्, इति चेत्तदपि न, इत्याह—

मलस्य रोद्ध्रीं तां शक्तिमीशश्चेत्संयुनक्ति तत् ॥ ७० ॥
कीदृशं प्रत्यणुमिति प्रश्ने नास्त्युत्तरं वचः ।

कीदृशमिति—किं निर्मलं समलं वा, तत्राद्ये पक्षे मुक्ताणून्प्रति तां सन्नियुञ्ज्यात्, येन सर्वदैव संसारः । द्वितीयस्मिन्पुनर्व्यर्थस्तन्नियोगः तत्पूर्वमपि तस्य मलयोगात्, तदुभयथापि तन्नियोगो न युज्यते, इत्यत्र प्रतिसमाधानं न विद्यते इत्युक्तम्—'नास्त्युत्तरं वचः' इति । मलेन घटस्येव पटादिनावार्यस्याणु-वर्गस्यावृतत्वेऽपि न स्वरूपं विशिष्यते, अपि तु तद्विषयं ज्ञातुर्ज्ञानं विहन्यते, तथात्वे च शिवस्यैवासौ मलो भवेत्, यदस्य तद्विषयमनेन ज्ञानमावृतमिति ॥

तदाह—

यह जड़ की रोध्री शक्ति स्वयं प्रवृत्त नहीं होती क्योंकि स्वयं प्रवृत्त होने पर सम्पूर्ण विश्व (आवृत) होने लगेगा और वैसा होने पर ऐश्वर्ययुक्त प्रमा माननी पड़ेगी (जो समीचीन नहीं है) ॥ -६९-७०- ॥

इस संसार में अचेतन पदार्थ चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त होता है यह निर्विवाद है । इसलिए परमेश्वर ही उस शक्ति को उस प्रकार प्रेरित करता है यदि ऐसा कहें तो वह भी नहीं (कह सकते)—यह कहते हैं—

मल की उस रोध्री शक्ति को यदि ईश्वर संयुक्त करता है तो (वह) किस प्रकार के अणु के प्रति (संयुक्त करता है?) ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देने वाला वचन नहीं है ॥ -७०-७१- ॥

किस प्रकार के = निर्मल या समल ? प्रथम पक्ष में यदि मुक्त अणुओं के प्रति उसको नियुक्त करेगा तो इससे संसार सदा रहेगा । दूसरे पक्ष में उसका नियोग ही व्यर्थ है क्योंकि उसके पहले भी उस (अणु) का मल से संयोग हैं । इसलिये दोनों प्रकार से उसका नियोग सङ्गत नहीं है । इस प्रकार यहाँ कोई समाधान नहीं है इसलिए कहा गया 'उत्तर वचन नहीं है' । पट आदि के द्वारा घट के समान मल के द्वारा आवार्य अणुवर्ग के आवृत होने पर भी (अणु के) स्वरूप में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता बल्कि ज्ञाता का उस विषय वाला ज्ञान नष्ट हो जाता है। वैसा होने पर यह मल शिव का ही होता जो कि इसका तद्विषयक (= अणुविषयक) ज्ञान इसके (= शिव के) द्वारा आवृत किया गया ॥

वह कहते हैं—

मलश्चावरणं तच्च नावार्यस्य विशेषकम् ॥ ७१ ॥
उपलम्भं विहन्त्येतद् घटस्येव पटावृतिः ।
मलेनावृतरूपाणामणूनां यत्सतत्त्वकम् ॥ ७२ ॥
शिव एव च तत्पश्येत्तस्यैवासौ मलो भवेत् ।

ननु यद्येवं तर्हि मलेन ज्ञत्वकर्तृत्वात्मकस्वरूपावरणाच्छिवस्याणूनां च स्वरूपनाश एव कृतो भवेत् ?—इत्याह—

विभोर्ज्ञानक्रियामात्रसारस्याणुगणस्य च ॥ ७३ ॥
तदभावो मलो रूपध्वंसायैव प्रकल्पते ।

सारस्येति—तदेकरूपस्येत्यर्थः । तदभाव इति—ज्ञानक्रिययोरभावकारित्वात् ॥ ७३ ॥

ननु असौ समवेतः, तस्य चेन्मलेनापहस्तनं कृतं तावता धर्मिणः किं वृत्तं यत्तस्य स्वरूपध्वंसो भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

धर्माद्धर्मिणि यो भेदः समवायेन चैकता ॥ ७४ ॥
न तद्भवद्भिरुदितं कणभोजनशिष्यवत् ।

मल आवरण है और वह आवार्य के अन्दर वैशिष्ट्य लाने वाला नहीं है । जैसे पटावरण घट का उसी प्रकार यह (आवरण) उपलब्धि (= ज्ञान) को रोक देता है । मल के द्वारा आवृत रूपवाले अणुओं का जो तत्त्व है शिव ही उसको देखता है और मल उसी (= शिव ही) का होता है ॥ -७१-७३- ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो मल के द्वारा ज्ञत्वकर्तृत्वात्मक स्वरूप के आवरण से शिव और अणुओं के स्वरूप का नाश ही किया जाएगा? यह कहते हैं—

उस (ज्ञान और क्रिया)का अभावरूप मल ज्ञान एवं क्रिया मात्र स्वरूप वाले परमात्मा एवं अणुसमूहों के रूपनाश के लिए होने लगेगा ॥ -७३-७४- ॥

सार वाले का = उस एक रूपवाले का, उसका अभाव = ज्ञान और क्रिया का अभावकारी होने से ॥ ७३ ॥

प्रश्न—ज्ञान और क्रिया शिव और अणुओं का धर्म है । किन्तु यह (धर्म उनमें) समाया हुआ है । यदि मल के द्वारा उस (धर्म) को हटाया गया तो धर्मी का क्या होगा अर्थात् उसका (= धर्मी का) स्वरूपध्वस होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

धर्म का धर्मी से जो भेद है और समवाय के द्वारा (दोनों की) एकता

यदुक्तं प्राक्—

'पारमेश्वरशास्त्रे हि न काणादादिदृष्टिवत् ।
शक्तीनां धर्मरूपाणामाश्रय: कोऽपि कथ्यते ॥' इति

एतच्च तत्रैव निरूपितमिति—तत एवावधार्यम्, इह तु ग्रन्थविस्तरभयात् न पुनरायस्तम् ततश्च संविन्मात्ररूपात् शिवादणुवर्गाद्वा ज्ञानक्रिययो: नाधिकं किंचिद्रूपमिति भवतां मतम् । यदुक्तम्—

'क्रियाधिका: शक्तयस्ता: संविद्रूपाधिका नहि ।' इति,

एवं च तेषां मलेन तदपहस्तनात् स्वरूपनाश एव कृतो भवेत्, इति युक्तमुक्तम् 'विभोरणूनां च मलो रूपध्वंसायैव प्रकल्पते' इति ॥ ७४ ॥

ननु रूपानपहस्तनेऽपि यथा चक्षुरादे: पटलादिरावरणं । तथैवेहापि भविष्यति ?—इत्याशङ्क्याह—

नामूर्तेन न मूर्तेन प्रावरीतुं च शक्यते ॥ ७५ ॥
ज्ञानं चाक्षुषरश्मीनां तथाभावे सरत्यपि ।

ज्ञानमिति—अमूर्तशुद्धचित्स्वभावात्मरूपं न चैवंविधस्य आत्मज्ञानस्यामूर्तेन

है उसे कणाद के शिष्य की भाँति आपने नही कहा ॥ -७४-७५- ॥

जैसा कि पहले कहा जा चुका है—

"कणाद आदि के दर्शन के समान पारमेश्वर शास्त्र में धर्म रूप शक्तियों का कोई आश्रय नहीं कहा जाता ।"

इसका निरूपण वहीं (= तं.आ. १.१५८) हुआ है इसलिए वहीं से समझ लेना चाहिए । यहाँ तो ग्रन्थविस्तार के भय से विस्तार नहीं किया गया । इस प्रकार केवल संविद्रूप शिव अथवा अणुवर्ग से अधिक ज्ञान और क्रिया का कुछ रूप आपको अभीष्ट नही है । जैसा कि कहा गया है—

"वे शक्तियाँ क्रिया के रूप में अधिक हैं किन्तु संविद्रूप से अधिक नहीं है ।"

इस प्रकार उनके मल से उसका नाश होने से स्वरूपनाश ही कर दिया जाएगा । इसलिए ठीक ही कहा गया परमेश्वर और अणुओं का मल स्वरूपनाश के लिए हो जाएगा ॥ ७४ ॥

प्रश्न—रूप का विनाश न होने पर भी जैसे पलकें आदि चक्षु का आवरण है उसी प्रकार यहाँ भी हो जायेगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चाक्षुष रश्मियों के उस रूप में प्रसृत होने पर भी ज्ञान न तो मूर्त्त और न अमूर्त्त से ढका जा सकता है ॥ -७५-७६- ॥

मूर्तेन वा केनचिदावरणं युक्तम् अमूर्तस्यावरीतुमशक्यत्वात् । तथाभाव इति—प्रावरीतुं शक्यते, चक्षुःसूर्यादिरश्मीनां हि भौतिकत्वान्मूर्तत्वम्, इति मूर्तैः पटलाभ्रादिभिस्तद्युज्यते एव—इत्याशयः ॥ ७५ ॥

नन्वसौ अमूर्तोऽस्तु मूर्तो वा, कोऽभिनिवेशः, स पुनरावरणायायातोऽस्य ज्ञातृस्वभावत्वात् ज्ञेयो भवेत्, तथाभूतश्चासौ ताटस्थ्यमवलम्बते भवन्मते ज्ञातृज्ञेय-भावस्यैवंरूपत्वात् । एवं च अस्य स्वरूपमावरीतुं न शक्नुयात्, भिन्नवृत्तित्वात् । ततश्चासौ निर्मलत्वात् पूर्णज्ञानक्रिय एव इति सर्वः सर्वज्ञो भवेत् ?—तदाह—

स एव च मलो मूर्तः किं ज्ञानेन न वेद्यते ॥ ७६ ॥
सर्वगेण ततः सर्वः सर्वज्ञत्वं न किं भजेत् ।

मलो मूर्त इत्यकारप्रश्लेषाप्रश्लेषाभ्यां योज्यम् । सर्वगेणेति मलानावृतत्वात् व्यापकेन सर्वज्ञेन च—इत्यर्थः । तत इति—मलानावृतत्वात् व्यापकेन सर्वज्ञेन चेत्यर्थः, तत इति ज्ञत्वस्वभावस्यानिरोधात्, सर्व इति अणुवर्गः ॥ ७६ ॥

ननु तमसः प्रकाशाभावमात्रमयत्वात् अमूर्तस्यापि प्रकाशं प्रत्यावारकत्वं

ज्ञान—अमूर्त्त शुद्धचित्स्वभाव है । इस प्रकार के आत्मज्ञान का मूर्त्त अथवा अमूर्त्त किसी भी (पदार्थ) से आवरण सम्भव नहीं है । क्योंकि अमूर्त्त का आवरण हो नहीं सकता । उसरूप—में आवृत किया जा सकता है । चक्षु या सूर्य आदि की किरणें भौतिक होने से मूर्त्त हैं इसलिए मूर्त्त पलक, बादल आदि के द्वारा वह (= आवृत होना) युक्त है—यह आशय है ॥ ७५ ॥

प्रश्न—यह (मल) मूर्त्त हो या अमूर्त्त इसमें क्या दुराग्रह है । आवरण के लिए आया हुआ वह (= मल) इसके (= ज्ञान के) ज्ञातृस्वभाववाला होने के कारण ज्ञेय हो जाएगा और वैसा होकर वह (= ज्ञाता) तटस्थ होने लगेगा क्योंकि आपके मत में ज्ञातृज्ञेयभाव ऐसा ही होता है । और इस प्रकार (= मल) इसके (= ज्ञाता) स्वरूप का आवरण नहीं कर सकोगे क्योंकि (यह ज्ञेय मूल) भिन्नवृत्ति वाला है । इस कारण निर्मल होने से यह (= ज्ञान) पूर्णज्ञानक्रिया वाला ही है—अतः सब सर्वज्ञ हो जायेंगे ?—यह कहते हैं—

वही अमूर्त्त मल क्या सर्वगामी ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जाता ? और उससे क्या सब लोग सर्वज्ञ नहीं हो जायेंगे ॥ -७६-७७- ॥

'मलो मूर्तः' यहाँ अकार के प्रश्लेष और अप्रश्लेष (मलोऽमूर्त्तः, मलो मूर्त्तः) से सन्धि चाहिए । सर्वग के द्वारा—मल से आवृत न होने के कारण व्यापक अर्थात् सर्वज्ञ के द्वारा । इस कारण—ज्ञत्वस्वभाव का निरोध न होने से । सब = जीववर्ग ॥ ७६ ॥

प्रश्न—अन्धकार प्रकाशाभाव मात्र है इस कारण अमूर्त्त भी प्रकाश का आवरक

दृष्टम्, एवं मलस्यापि भविष्यति इति चेत् ? तदपि न—इत्याह—

यश्च ध्वान्तात्प्रकाशस्यावृतिस्तत्प्रतिघातिभिः ॥ ७७ ॥
मूर्तानां प्रतिघस्तेजोऽणूनां नामूर्त ईदृशम् ।

केचिद्धि प्रकाशाभावमात्रं तमः प्रतिपन्नाः, अन्ये 'प्रकाशाभावव्यञ्जनीयमारोपितं नीलिममात्रं हि मूर्तिः' इति एवमप्यनेनावस्थितस्य प्रकाशस्यावृतिः कार्या, अपि तु स्थितेरेव प्रतिबन्धः, तन्मूर्त्तत्वात् प्रतिघातिभिस्तमःपरमाणुभिर्मूर्तानां तेजःपरमाणूनां प्रतिहननमेव क्रियते इत्यनयोः प्रतिघात्यप्रतिघातकभावो नावार्यावारकभाव इति नायमत्र दृष्टान्तः ॥ ७७ ॥

नन्वचेतनश्चेतनाधिष्ठितः सन् यदि किञ्चित् कुर्यात् तदस्तु, को दोषः, चेतनमेव पुनरावरीतुं कुतोऽस्य सामर्थ्यमस्ति ?—इत्याह—

न च चेतनमात्मानमस्वतन्त्रो मलः क्षमः ॥ ७८ ॥
आवरीतुं............................ ॥

मद्यवत्, इति चेत्, तदपि नेह समानम्—इत्याह—

देखा गया है । इसी प्रकार मल भी (ज्ञान का आवरक) होगा ? ऐसा भी नहीं है—यह कहते हैं—

और जो अन्धकार से प्रकाश का आवरण (कहा जाता है) वह (अन्धकार के मूर्त्त) प्रतिघाती (अणुओं) के द्वारा । मूर्त्त तेजोऽणुओं का अमूर्त्त प्रतिघाती होता है ऐसा नहीं है ॥ -७७-७८- ॥

कुछ लोग (नैयायिक) प्रकाशाभाव को अन्धकार मानते हैं । दूसरे लोग प्रकाशाभाव से व्यञ्जनीय आरोपित नीलिमामात्र अन्धकार है (ऐसा मानते हैं) । तो भी (= तमस्) के द्वारा अब स्थित प्रकाश का आवरण (नहीं) किया जाता है बल्कि उसकी स्थिति का ही प्रतिबन्ध (किया जाता है) । इस प्रकार मूर्त्त होने के कारण प्रतिघाती तमःपरमाणुओं के द्वारा मूर्त्तों का प्रतिघात ही किया जाता है । इसलिए इन दोनों के (बीच) प्रतिघात्यप्रतिघातक सम्बन्ध है न कि आवार्यआवारक, इसलिए यहाँ यह दृष्टान्त युक्त नही है ॥ ७७ ॥

प्रश्न—अचेतन यदि चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर कुछ करे तो ठीक है कोई दोष नहीं (किन्तु) चेतन का ही आवरण करने के लिए इसका (= अचेतन का) सामर्थ्य कहाँ से हो सकता है ?—यह कहते हैं—

'अस्वतन्त्र मल चेतन आत्मा का आवरण करने के लिए सक्षम नहीं हैं ॥ -७८-७९- ॥

यदि यह कहिए कि मद्य के समान (सक्षम) है तो यह भी यहाँ समान नहीं है—यह कहते हैं—

........न वाच्यं च मद्यावृतिनिदर्शनम् ।

न खलु जडं मद्याद्यपि स्वयं चेतनमात्मानमावृणुयात् किन्तु चेतनाधिष्ठितम् । नहि अचेतनं चेतनप्रेरणामन्तरेण किंचिदपि कर्तुं शक्नुयात् ॥ ७८ ॥

तथा च भवन्त एव—इत्याह—

उक्तं भवद्भिरेवेत्थं जडः कर्ता नहि स्वयम् ॥ ७९ ॥
स्वतन्त्रस्येश्वरस्यैताः शक्तयः प्रेरिकाः किल ।

तदुक्तम् 'जडस्य स्वतः प्रवृतौ निवृत्तौ च सामर्थ्यं नास्ति' इत्युक्तम् । अतः पाशानामपि ईश्वर एव तदा निवर्तकत्वात् पुंभ्यो मोक्षदो रज्ज्वादिबद्धमेषादिवदिति' इत्यादि ॥ ७९ ॥

ततः किम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अतः कर्मविपाकज्ञप्रभुशक्तिबलेरितम् ॥ ८० ॥
मद्यं सूते मदं दुःखसुखमोहफलात्मकम् ।

तेन जडमपि मद्यादि परमेश्वरशक्तिप्रेरणया चेतनमात्मानमावृत्य मदयेत्, किन्तु गृहीतसङ्कोचं प्राणादिमयं न तु शुद्धचित्स्वभावं तस्योक्तयुक्त्यावरीतुमशक्यत्वात् ॥ ८० ॥

मद्य के आवरण का निदर्शन नहीं कहना चाहिए ॥ -७९- ॥

जड मद्य आदि भी स्वयं चेतन आत्मा का आवरण नहीं करता किन्तु चेतन के द्वारा अधिष्ठित होकर (आवरण करता है) । अचेतन चेतन की प्रेरणा के बिना कुछ भी नहीं कर सकता ॥ ७८ ॥

ऐसा ही आपने कहा भी है—यह कहते हैं—

आप लोगों ने ही ऐसा कहा है कि जड़ स्वयं कर्त्ता नहीं है । बल्कि स्वतन्त्र ईश्वर की ये शक्तियाँ ही प्रेरिका हैं ॥ -७९-८०- ॥

वही कहा गया है—प्रवृत्ति और निवृत्ति में जड़ का स्वयं सामर्थ्य नहीं है । ऐसा कहा गया । इसलिए पाशों का भी निवर्त्तक ईश्वर है इस कारण पुरुषों के लिए मोक्षप्रद होता है जैसे कि रस्सी आदि से बंधे मेष आदि (के पाशनिवर्त्तक पुरुष होते हैं) ॥ ७९ ॥

इससे क्या हुआ ?—यह शङ्का कर कहते है—

इसलिए कर्मफल को जानने वाले प्रभु की शक्ति के बल से प्रेरित मद्य सुखदुःखमोहफल वाले मद को उत्पन्न करता है ॥ -८०-८१- ॥

इसलिए जड़ भी मद्य आदि पारमेश्वरी शक्ति की प्रेरणा से चेतन आत्मा का

नन्वेवं मलोऽपि स्वतन्त्रेश्वरशक्तिप्रेरितमेव चेतनमणुवर्गमावृणुयात् ?— इत्याशङ्क्याह—

न चेशप्रेरितः पुंसो मल आवृणुयाद्यतः ॥ ८१ ॥
निर्मले पुंसि नेशस्य प्रेरकत्वं तथोचितम् ।

इह अनादित्वेऽपि मलस्य बन्धकतायामवश्यमीश्वरप्रेरणमादितरमुपयुक्तम्— अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानं विना कार्यकारित्वाभावात् । अतश्चासौ परमेश्वरः कान् प्रति बन्धनाय मलं प्रेरयेत् । किं समलान् उत निर्मलान्, तत्राद्ये पक्षे व्यर्थं तत्प्रेरणं तत्पूर्वमपि तेषां मलयोगात्, द्वितीयस्मिन् अशक्यं मुक्ताणून् प्रत्यपि प्रसङ्गात्, अत एवोक्तम्—

'ईशस्य निर्मले पुंसि प्रेरकत्वं हि नोचितम् ।' इति,

प्रत्युत पूर्णज्ञानक्रियात्मनो नैर्मल्यस्याविशेषात् परमेश्वरोऽणवश्च परस्परस्य निरोधाय मलं नियुञ्जीरन्, अणव एव वा परमेश्वरं प्रति यदेकापेक्षया भूयसां सामर्थ्यातिशयः, यदाहुः—

आवरण कर मतवाला बनाता है । किन्तु (वह मद) प्राण आदि वाले संकुचित (आत्मा) को ही होता है न कि शुद्ध चित्स्वभाव वाले को । क्योंकि उक्त युक्ति के द्वारा उसका (= शुद्ध चित् का) आवरण असम्भव है ॥ ८० ॥

प्रश्न—इस प्रकार तो मल भी स्वतन्त्र ईश्वर की शक्ति से प्रेरित होकर ही चेतन अणुवर्ग का आवरण करेगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

ईश्वर के द्वारा प्रेरित मल पुरुष का आवरण नहीं करेगा और उसी प्रकार निर्मल पुरुष के विषय में ईश्वर की प्रेरकता भी उचित नहीं है ॥ -८१-८२- ॥

यहाँ मल के अनादि होने पर भी बन्धकता के विषय में अवश्य ईश्वर की प्रेरणा सर्वप्रथम उपयुक्त है । क्योंकि अचेतन बिना चेतनाधिष्ठान के कार्यकारी नहीं होता। इसलिए यह परमेश्वर किसके बन्धन के लिए मल को प्रेरित करेगा ? समल के या निर्मल के ? प्रथम प्रक्ष में उसकी प्रेरणा व्यर्थ है क्योंकि उसके पहले भी उन (= समलों) का मल से सम्बन्ध है । दूसरे (पक्ष) में असम्भव है क्योंकि मुक्त अणुओं के प्रति भी (मल का) प्रसङ्ग होने लगेगा । इसीलिए कहा गया है—

"निर्मल पुरुष के विषय में ईश्वर की (मल)—प्रेरकता युक्त नहीं है ।"

बल्कि पूर्णज्ञानक्रियारूप निर्मलता के तुल्य होने से परमेश्वर और जीव परस्पर के निरोध के लिए मल को नियुक्त करेंगे अथवा अणु ही परमेश्वर के प्रति (मल को नियुक्त करेंगे)। क्योंकि एक की अपेक्षा अनेकों का सामर्थ्य अधिक होता है । जैसा कि कहते हैं—

'विप्रतिषिद्धधर्मसमवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ।' इति ॥ ८१ ॥

तदाह

तुल्ये निर्मलभावे च प्रेरयेयुर्न ते कथम् ॥ ८२ ॥
तमीशं प्रति युक्तं यद् भूयसां स्यात्सधर्मता ।

इदानीमेतदुपसंहरन् प्रकृतमेवानुसरति—

तेन स्वरूपस्वातन्त्र्यमात्रं मलविजृम्भितम् ॥ ८३ ॥
निर्णीतं विततं चैतन्मयान्यत्रेत्यलं पुनः ।

अन्यत्रेति प्रथमाह्निकादौ अत एव पुनरित्युक्तम् ॥

न चास्य क्वचिदपि विगीततास्ति—इत्याह ।

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिकाप्रथा ॥ ८४ ॥
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढ़ता।
अहंममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः ॥ ८५ ॥
दोषबीजं पशुत्वं च संसाराङ्कुरकारणम् ।
इत्याद्यन्वर्थसंज्ञाभिस्तत्र तत्रैष भण्यते ॥ ८६ ॥

नन्वसावनुगतोऽर्थः कः ?—इत्याशङ्क्याह—

"विरुद्ध धर्म के समवाय में अधिक लोगों की सधर्मता (= समान धर्मता या समान विचार) होती है" ॥ ८१ ॥

निर्मलता समान होने पर वे उस (मल) को ईश्वर के प्रति क्यों नहीं प्रेरित करेंगे क्योंकि अधिक लोगों की समानधर्मता होती है ॥ -८२-८३-॥

अब इसका उपसंहार करते हुए प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

इसलिए स्वरूप का स्वातन्त्र्य ही मल का प्राकट्य है । यह मैंने विस्तृतरूप से अन्यत्र निर्णीत (= वर्णित) किया है । इसलिए दुबारा कहना उचित नहीं है ॥ -८३-८४- ॥

अन्यत्र = प्रथम आह्निक आदि में । इसीलिए 'पुनः' कहा गया ॥

इसका कहीं भी विरोध नहीं है—यह कहते हैं—

मल, अभिलाषा, अज्ञान, अविद्या, लोलिका प्रथा, भवदोष, अनुप्लव (= अनुयायी), ग्लानि, शोष, मूढता, अहंममात्मता, आतङ्क, मायाशक्ति, आवरण, दोषबीज, पशुत्व, संसाराङ्कुरकारण, इत्यादि पर्यायवाचीशब्दों के द्वारा जगह-जगह इसका (= मल का) कथन है ॥ -८४-८६ ॥

अस्मिन् सति भवति भवो दुष्टो भेदात्मनेति भवदोषः।
मञ्चवदस्मिन् दुःखस्रोतोऽणून् वहति यत्प्लवस्तेन ॥ ८७ ॥

भवदोष इति तत्कारित्वात् मञ्चवदिति 'तत्र तस्येव' इति सप्तम्यन्तोपमानम् । प्लव इति तात्कर्म्यात् ॥ ८७ ॥

नन्वेवं सर्वस्यानुगतोऽर्थः किं न दर्शितः ?—इत्याशङ्क्याह—

शेषास्तु सुगमरूपाः शब्दास्तत्रार्थमूहयेदुचितम् ।

अत एवास्माभिरपि ग्रन्थविस्तरभयादेतन्न व्याकृतम् इति स्वयमेवाभ्यूह्यम् ॥

नन्वत्र संसाराङ्कुरकारणमित्यत्र कः सुगमोऽनुगमः ?—किं संसार एवाङ्कुर उत संसारस्याङ्कुरस्तस्य कारणम् ?—इत्याशङ्कामपनुदन् प्रकृतप्रमेयसङ्गति-संदर्शनपुरःसरं क्रमप्राप्तं कार्ममलं प्रस्तौति—

संसारकारणं कर्म संसाराङ्कुर उच्यते ॥ ८८ ॥

प्रश्न—यह अनुगत अर्थ कौन सा है ?—यह शङ्का कर कहते है—

इस (= मल) के होने पर संसार भेद रूप में दृष्ट होता है । इसलिए (यह मल) भवदोष है । रङ्गमञ्च के समान यह संसारदुःख का स्रोत है । जो अणुओं का वहन करता है इसलिए यह संसार प्लव = नौका है ॥ ८७ ॥

भवदोष—उसका कर्त्ता होने से । मञ्चवत्—'तत्र तस्येव' इस (पाणिनि सूत्र के अनुसार) सप्तम्यन्त उपमान है (= यहाँ 'मञ्चवत्' का अर्थ है—मञ्चे इव)। प्लव—उसका कर्म करने से ॥ ८७ ॥

प्रश्न—इस प्रकार सबका अनुगत अर्थ क्यों नहीं दिखाया गया ? यह शङ्का कर कहते हैं—

शेष शब्द तो सुगमरूप अर्थात् सुगमता से अर्थबोध कराने वाले हैं उनका उचित अर्थ (स्वयं) समझ लेना चाहिए ॥ ८८- ॥

इसीलिए हम लोगों ने भी ग्रन्थविस्तार के भय से व्याख्यान नहीं किया । इसलिए स्वयं समझ लेना चाहिए ॥

प्रश्न—'संसाराङ्कुरकारण' इससे क्या सुगम अर्थ है ? क्या संसार ही अंकुर (= उसका कारण) या संसार का अंकुर उसका कारण ? इस शङ्का को दूर करते हुये प्रस्तुत प्रमेय की सङ्गति को दिखलाते हुए क्रमप्राप्त कार्ममल को प्रस्तुत करते हैं—

संसार का कारण कर्म संसार का अंकुर कहा जाता है । क्योंकि चौदह

चतुर्दशविधं भूतवैचित्र्यं कर्मजं यतः ।

कर्मणः संसारकारणत्वे द्वितीयमर्धं हेतुः, तेन संसारस्य

'शरीरभुवनाकारं मायीयं परिकीर्तितम् ।'

इत्यादिना निरूपितस्य मायीयमलस्याङ्कुर इवाङ्कुरः कारणं कार्ममलम् । तस्यापि कारणमाणवमिति । यदुक्तम्—

'मलः कर्मनिमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।' इति ।
'निमित्तमभिलाषाख्यम् .... ।' इति च ॥ ८८ ॥

एवं यतः कर्मवशादेव विचित्रः संसारः समुद्भवेत् अतः सर्वेषां तदुच्छेदायैव यत्नः—इत्याह—

अत एव सांख्ययोगपाञ्चरात्रादिशासने ॥ ८९ ॥
अहंममेति सन्त्यागो नैष्कर्म्यायोपदिश्यते ।

शासन इति शास्त्रे इदं हि तत्रोपदिष्टं यत् यः कश्चित्परब्रह्मणि आहितचित्तः सर्वमपि कुर्वन् 'नाहं किञ्चित् करोमि' इत्यभिमानादहन्तां सन्त्यजेत्, तत्र च सङ्गाभावात् 'न ममानेन कृतेन कश्चिदर्थः' इति ममताग्रहमपि, स नैष्कर्म्यं

प्रकार का भूतवैचित्र्य कर्म से उत्पन्न है ॥ -८८-८९- ॥

कर्म संसार का कारण है इसमें (श्लोक का) द्वितीय अर्ध कारण है । इसलिए संसार का—

"शरीर भुवन का आकार माया से उत्पन्न कहा गया है ।"

इत्यादि के द्वारा निरूपित मायीय मल के अंकुर के समान अंकुर कारण—कार्ममल, उसका (= कार्म मल का) भी कारण आणव मल है । जैसा कि कहा गया है—

"मल कर्म का निमित्त है । इसके अतिरिक्त सब नैमित्तिक है ।"

"निमित्त अभिलाषा को कहते हैं" ॥ ८८ ॥

इस प्रकार चूँकि कर्म के कारण ही संसार उत्पन्न होता है इसलिए सबका प्रयास उसके उच्छेद के लिए ही है—यह कहते हैं—

इसीलिए सांख्ययोग पाँचरात्र आदि शास्त्र में 'मैं और मेरा' इसका सम्यक् त्याग नैष्कर्म्य के लिए कहा गया है ॥ -८९-९०- ॥

शासन में = शास्त्र में । वहाँ यह उपदेश दिया गया है—पर ब्रह्म में चित्त को लगाने वाला जो कोई सब कुछ करता हुआ भी 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ' इस अभिमान से अहंता का त्याग करता है और उसमें आसक्ति न होने से 'इसके

प्राप्नुयात्—येनास्य तदेकनिमित्तः संसार एव न भवेदिति । यद्गीतम्—

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कामः फलेष्वपि ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥' इति ।
'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥' इति ।
'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विदितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।' इति ।
'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥'

इति च ॥ ८९ ॥

ननु यद्येवं तर्हि मुक्त एवासौ ?—इत्याशङ्क्याह—

निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि ॥ ९० ॥
वैचित्र्यकारणाभावान्नोर्ध्वं सरति नाप्यधः ।
केवलं पारिमित्येन शिवाभेदमसंस्पृशन् ॥ ९१ ॥
विज्ञानकेवली प्रोक्तः शुद्धचिन्मात्रसंस्थितः ।

करने से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है'—इस प्रकार ममता का ग्रह भी नहीं होता वह नैष्कर्म्य को प्राप्त होता है जिसके कारण तन्निमित्तक संसार ही नहीं होता । जैसा कि गीता में कहा गया है—

'न मुझे कर्म प्रभावित करते हैं और न फलों के प्रति मेरी इच्छा है । ऐसा जो मुझे समझता है वह कर्म से नहीं बँधता ।' (४.१४)

''कर्मफल की आसक्ति को त्याग कर, नित्यतृप्त और निराश्रय वह कर्म में प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करता ।'' (४.२०)

योग से युक्त, विशुद्ध आत्मा वाला, आत्मज्ञानी, जितेन्द्रिय, सर्वभूतों का आत्मास्वरूप वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता । वह युक्त तत्त्वज्ञानी 'मैं कुछ नहीं करता'—ऐसा समझता है । (५.७)

''जो कर्मों को ब्रह्म को समर्पित कर आसक्ति छोड़कर कार्य करता है वह जल से कमलपत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता'' ॥ ८९ ॥ (५.१०)

प्रश्न—यदि ऐसा है तब तो वह मुक्त ही है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अज्ञान नामक मूलमल के स्थित रहते हुए कर्मरहित भी मनुष्य वैचित्र्यकारण के अभाव से न तो ऊपर जाता है और न नीचे । केवल परिमित रूप से शिवाभेद का स्पर्श न करते हुए शुद्धचिन्मात्ररूप में स्थित

अपिश्चार्थे भिन्नक्रम:, तेन 'निष्कर्मापि' इति । ऊर्ध्वमिति शुद्धमध्वानम् । न संसरति अज्ञाननाम्नो मूलमलस्याणवस्य अवस्थानात्, नाप्यध: शुद्धेतरं, वैचित्र्य-कारणस्य कार्ममलस्याभावात्, केवलमसौ

'मायोर्ध्वे शुद्धविद्याध: सन्ति विज्ञानकेवला: ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या शुद्धाशुद्धाध्वमध्यवर्ती शुद्धबोधैकस्वभावोऽपि, स्वातन्त्र्यहाने: आणवमलांशकृतस्य स्वरूपसङ्कोचस्य संभवात् पारिमित्येन स्वातन्त्र्यावियुक्तबोधस्व-भावपरमेश्वराविभेदमप्राप्नुवन्, विज्ञानकेवली विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्यरहितमस्य इति, प्रकर्षेणोक्त:, सर्वत्रोद्घोषित:—इत्यर्थ: । यदुक्तम्—

'शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि　　येषां　　नोत्तमकर्तृता ।
निर्मिता: स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात् ॥
बोधादिलक्षणैक्येऽपि　　　येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन　　ते　　च　　विज्ञानकेवला: ॥' इति ॥ ९१ ॥

ननु अस्य किं सर्वदैव शिवाभेदासंस्पर्श:, उत न ?—इत्याशङ्क्याह—

स पुन: शांभवेच्छात: शिवाभेदं परामृशन्॥ ९२ ॥

विज्ञानकेवली कहा जाता है'' ॥ -९०-९२- ॥

'अपि' का प्रयोग 'च' अर्थ में है और उसका क्रम भिन्न है । इसलिए 'निष्कर्मा भी' (यह अन्वय है) । ऊपर = शुद्ध अध्वा को । संसरण नहीं करता—अज्ञाननामक मूल आणव मल के वर्त्तमान रहने से । न नीचे—अशुद्ध स्तर में—क्योंकि (उसमें) वैचित्र्य के कारणभूत कार्ममल का अभाव रहता है । केवल यह—

''माया के ऊपर और शुद्धविद्या के नीचे विज्ञानकेवली रहते हैं ।''

इत्यादि उक्त युक्ति के द्वारा शुद्ध अशुद्ध अध्वा के बीच शुद्धबोधस्वभाव वाला होते हुए भी स्वातन्त्र्य की हानि के कारण आणवमलांशकृत स्वरूपसङ्कोच के होने से, परिमित रूप से—स्वातन्त्र्य से अवियुक्त (= युक्त) बोधस्वभाव परमेश्वर से अभेद को न प्राप्त करता हुआ, विज्ञान केवली—विज्ञान = बोधात्मकस्वातन्त्र्यरहित केवल है जिसका वह । प्रकर्षपूर्वक कहा गया = सर्वत्र घोषित है । जैसा कि कहा गया है—

''शुद्धबोधात्मक होने पर भी जो उत्तम कर्त्ता नहीं है । परमेश्वर के द्वारा कर्तृत्व के त्यागपूर्वक अपने से भिन्न बनाए गए हैं । बोध आदि लक्षण के समान होने पर भी ईश्वर की इच्छा के भेद के कारण जो परस्पर भिन्न हैं वे विज्ञान केवली हैं'' ॥ ९१ ॥

प्रश्न—क्या इसका सदैव शिवाभेद नहीं रहता या रहता भी है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

क्रमान्मन्त्रेशतन्त्रेतृरूपो याति शिवात्मताम् ।

क्रमादिति—शिवाभेदपरामर्शस्य तारतम्यातिशयात् अत एव तद्दार्ढ्यातिशयात् अक्रमेणापि मन्त्रमहेश्वरत्वमस्य भवेत्—इति भावः । तदुक्तम्—

'स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्‌गलान् ॥ इति ।

ईशा मन्त्रेश्वराः । तन्त्रेतारो मन्त्रमहेश्वराः इति ॥ ९२ ॥

नन्वस्ति तावद्विज्ञानाकलस्याणवो मलः, स च कर्मणः कारणं तत्कथमसौ स्वकार्यं न जनयेत्—येनास्य पुनः पुनः संसारित्वमेव स्यात् प्रत्युत मन्त्रादिक्रमेण शिवात्मतां याति, इति कस्मादुक्तम् ?—इति गर्भीकृताशङ्काशङ्कान्तरमाशङ्कते—

ननु कारणमेतस्य कर्मणश्चेन्मलः कथम् ॥ ९३ ॥
स विज्ञानाकलस्यापि न सूते कर्मसंततिम् ।

एतदेव प्रतिविधत्ते—

मैवं, स हि मलो ज्ञानाकले दिध्वंसिषुः कथम् ॥ ९४ ॥

वह पुनः परमेश्वर की इच्छा से शिवाभेद का परामर्श करता हुआ क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर रूप (होकर) शिवात्मता को प्राप्त करता है ॥ -९२-९३- ॥

क्रम से—शिवाभेदपरामर्श के तारतम्यातिशय के कारण । इसीलिए उसकी अधिक दृढ़ता के कारण बिना क्रम के भी वह मन्त्रमहेश्वर हो जाता है ऐसा तात्पर्य है । वही कहा गया है—

"सृष्टि करने की इच्छा वाला वह (परमेश्वर) सृष्टि के पहले ही अपनी इच्छा से आठ विज्ञानकेवली पुद्‌गलों को उद्‌बोधित किया ।"

ईश = मन्त्रेश्वर, उसके नेता = मन्त्रमहेश्वर ॥ ९२ ॥

प्रश्न—विज्ञानाकल के पास आणव मल है और वह कर्म का कारण है तो यह (= आणव मल) अपने कार्य को क्यों नहीं उत्पन्न करेगा जिससे यह बार-बार संसारी हो जाय । बल्कि मन्त्र आदि के क्रम से शिवात्मता को प्राप्त होता है यह कैसे कहा गया है ?—इस गर्भीकृत आशङ्का वाली दूसरी शङ्का करते हैं—

प्रश्न है कि यदि इस कर्म का कारण मल है तो वह (मल) विज्ञानकेवली में कर्मसन्तति को क्यों नहीं उत्पन्न करता ॥ -९३-९४- ॥

इसी का समाधान करते हैं—

ऐसा नहीं है । वह (आणव) मल विज्ञानाकल में ध्वस्त होने वाला है

हेतुः स्याद् ध्वंसमानत्वं स्वातन्त्र्यादेव चोद्भवेत् ।

दिध्वंसिषुरिति ।

'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता................... ।'

इत्याद्युक्त्या देहाद्यहंभावाभिमानस्वभावभेदान्तरखण्डनात् । अत एव स्वकार्यजननासामर्थ्यात् कथं हेतुः स्यादित्युक्तम्, प्रत्युतास्य ध्वंसोन्मुखतात्मना स्वमहिम्ना ध्वंसमानत्वमेव तन्नान्तरीयकं ध्वस्तत्वमेव वोदियात् । नहि निनंक्षु बीजं पुनः प्ररोहमियात्, नापि अस्य नश्यत्तायां नष्टतायां वा निनंक्षुत्वादेव अन्यत् किञ्चिदपेक्षणीयं संभवेत् ॥

अनेनैव चाभिप्रायेण विज्ञानाकलादिक्रमकल्पना सर्वत्र कृता—इत्याह—

दिध्वंसिषुध्वंसमानध्वस्ताख्यासु तिसृष्वथ ॥ ९५ ॥
दशास्वन्तः कृतावस्थान्तरासु स्वक्रमस्थितेः ।
विज्ञानाकलमन्त्रेशतदीशादित्वकल्पना ॥ ९६ ॥

अवस्थान्तराणीति—किंचिद्ध्वंसमानत्वकिंचिद्ध्वस्तत्वादिरूपाणि, एतदन्तःकारे

फिर कैसे कारण हो सकता है । और ध्वंसमानता स्वातन्त्र्य के कारण ही उत्पन्न होती है ॥ -९४-९५- ॥

ध्वंस होने वाला—

"स्वातन्त्र्य का भी ज्ञान न होना"

इत्यादि उक्ति के द्वारा देह आदि में अहंभाव के अभिमानस्वभाव के कारण भेदान्तर के खण्डन से दिध्वांसिषु होता है । इसीलिए अपना कार्य उत्पन्न करने का सामर्थ्य न होने से वह कारण कैसे होगा—यह कहा गया । बल्कि इसकी ध्वंसोन्मुखता वाली अपनी महिमा से ध्वंसमानता अथवा उसके बाद होने वाला ध्वंस ही उदित होगा । नष्ट होने वाला बीज पुनः अंकुरित नही होता । और न ही नश्यत्ताकाल या नाशकाल में इसे नष्ट होने के कारण किसी की अपेक्षा होती है ॥ ९४ ॥

इसी अभिप्राय से सर्वत्र विज्ञानाकल आदि क्रम की कल्पना की गई है—यह कहते हैं—

इसलिए ध्वस्त होने वाली, ध्वस्त हो रही एवं ध्वस्त हो गयी तीन अवस्थाओं में अपने क्रम की स्थिति के कारण अन्तःकृत दूसरी अवस्थाओं में विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश आदि की कल्पना है ॥ -९५-९६ ॥

दूसरी अवस्थायें—किञ्चिद् ध्वंसमानत्व किञ्चिद् ध्वस्तत्व आदि । इनके

च हेतुः—स्वक्रमस्थितेरिति । नहि दिध्वंसिषुतादिदशानन्तरं झटित्येवाखण्डतया ध्वंसमानत्वं ध्वस्तत्वं वा प्रादुर्भवेत्—इति भावः । तेनात्र पञ्चस्वप्यासु दशासु यथासंख्येन विज्ञानाकलादिरूपत्वं कल्पितमिति । ईशाः—मन्त्रेश्वराः, तदीशाः—मन्त्रमहेश्वराः, आदिः—आदिसिद्धः शिवः, अन्यथा हि तदीशादिकल्पनेत्येव स्यात्, एवं च आसामवस्थानां भेदात् सुषुप्ततुर्ययोरपि अनेकरूपत्वमित्यर्थ-सिद्धम् ॥ ९६ ॥

अत आह—

ततश्च सुप्ते तुर्ये च वक्ष्यते बहुभेदता ।

तस्माद्युक्तमुक्तम्—दिध्वंसिषुर्मूलमलः कर्मणो न निमित्तमिति ॥

तदेवाह—

अतः प्रध्वंसनौन्मुख्यखिलीभूतस्वशक्तिकः ॥ ९७ ॥
कर्मणो हेतुतामेतु मलः कथमिवोच्यताम् ।

खिलीभूत इति—अखण्डशक्तिः पुनः कर्मणो हेतुतां यायात्—इत्याशयः । एतच्च अभ्युपगम्योक्तम् ॥

वस्तुतस्तु मलस्यैतन्न घटते—इत्याह—

अन्तःकार में हेतु है—स्वक्रमस्थिति । तात्पर्य यह है कि ध्वंस होने वाली इत्यादि दशाओं के बाद तत्काल अखण्ड रूप में ध्वंसमानता या ध्वस्तता उत्पन्न नहीं होती इसलिए यहाँ इन पाँचों दशाओं में क्रमशः विज्ञानाकल आदि रूप कल्पित है । ईश = मन्त्रेश्वर, तदीश = मन्त्रमहेश्वर, आदि = आदि सिद्धशिव । अन्यथा तदीश आदि की कल्पना इतनी ही होती । इस प्रकार इन अवस्थाओं के भेद से सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओं के भी अनेक रूप हैं—यह अर्थात् सिद्ध है ॥ ९६ ॥

इसलिए कहते हैं—

इस कारण सुप्ति और तुरीय के अनेक भेद कहे जायेंगे ॥ ९७- ॥

इसलिए ठीक कहा—ध्वस्त होने वाला मूल (= आणव) मल कर्म का निमित्त नहीं हो सकता ॥

वही कहते हैं—

इसलिए ध्वंस की उन्मुखता के कारण अवरुद्ध शक्ति वाला मल कर्म का कारण बने—यह कैसे कहा जाय ॥ -९७-९८- ॥

अवरुद्ध—फिर तो अखण्ड शक्ति कर्म की हेतु बनेगी—यह तात्पर्य है । यही मानकर कहा गया है ।

किं च कर्मापि न मलाद्यतः कर्म क्रियात्मकम् ॥ ९८ ॥
क्रिया च कर्तृतारूपात् स्वातन्त्र्यान्न पुनर्मलात् ।

मलादिति—अकर्तृतात्मकास्वातन्त्र्यरूपात्—इत्यर्थः । कर्तृकर्मत्वतत्त्व एव च कार्यकारणभावः, इति समनन्तरमेवोपपादितम् ॥ ९८ ॥

ननु यद्येव तत्कथं

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम्।'

इत्याद्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

या त्वस्य कर्मणश्चित्रफलदत्वेन कर्मता ॥ ९९ ॥
प्रसिद्धा सा न सङ्कोचं विनात्मनि मलश्च सः ।

सेति—चित्रफलप्रदत्वेन कर्मता, स इति—सङ्कोचः । तेन सङ्कोचं विनास्य न तत्तत्फलदाने सामर्थ्यम् । सङ्कोच एव मल इत्यस्य तत्कारणत्वमुपचरितम्, संकुचितो हि भोक्ता शुभाशुभाद्यात्मकं भिन्नं सत् फलमात्मनि भोग्यत्वेनाभिमनुते, येन देवमनुष्यादिविचित्ररूपतयास्य अवस्थानम् ॥ ९९ ॥

वस्तुतः तो मल के बारे में यह चरितार्थ नहीं होता—यह कहते हैं—

इसके अतिरिक्त कर्म भी मल से नहीं होता क्योंकि कर्म क्रियात्मक है। क्रिया कर्तृतारूप स्वातन्त्र्य से उत्पन्न होती है न कि मल से ॥ -९८-९९- ॥

मल से = अकर्तृतात्मक अस्वातन्त्र्य रूप से । कर्तृता एवं कर्मता रूपी तत्त्वों में ही कार्यकारण सम्बन्ध होता है । यह पीछे कहा जा चुका है ॥ ९८ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो

"मल अर्थात् अज्ञान को संसार के अंकुर का कारण मानते हैं ।"

इत्यादि कैसे कहा गया ? यह शङ्का कर कहते है—

विचित्र फल देने के कारण जो इस कर्म की कर्मता प्रसिद्ध है वह आत्मा में सङ्कोच के बिना नहीं होती और वही (= सङ्कोच) मल है ॥ -९९-१००- ॥

सा = विचित्र फल प्रदान करने के कारण कर्मता । वह = सङ्कोच । इसलिए सङ्कोच के बिना भिन्न-भिन्न फल देने में इसका (= कर्म का) सामर्थ्य नहीं है । सङ्कोच ही मल है इसलिए लक्षणा के द्वारा इसे उसका कारण कहा गया है । संकुचित भोक्ता शुभ अशुभ रूप से भिन्न फल को अपना भोग्य मानता है जिस कारण देव मनुष्य आदि विचित्र रूप में इसकी स्थिति होती है ॥ ९९ ॥

तदाह—

विचित्रं हि फलं भिन्नं भोग्यत्वेनाभिमन्यते ॥ १०० ॥
भोक्तुर्यात्मनि तेनेयं भेदरूपा व्यवस्थितिः ।

अतश्च नास्य स्वसंपत्तावुपादानं सहकारि वा कारणं मलः, किन्तु कार्यकरणे हस्तावलम्बनप्रायः—इत्याह—

इति स्वकार्यप्रसवे सहकारित्वमाश्रयन् ॥ १०१
सामर्थ्यव्यञ्जकत्वेन कर्मणः कारणं मलः ।

नहि सङ्कोचं विनास्य विचित्रफलदाने किंचित्सामर्थ्यमभिव्यज्यते—इति भावः ॥ १०१ ॥

नन्वेवं विज्ञानाकलानामपि स्वातन्त्र्यसङ्कोचप्रयुक्तमलद्वययोगात् तत्र 'विज्ञान-केवलो मलैकयुक्तः' इत्यादि दुष्येत् प्रत्युत 'तत्कर्मयुक्तः प्रलयकेवलः' इत्याद्युक्त्या प्रलयकेवलित्वं प्रसज्येत् ?—इत्याशङ्कते—

नन्वेवं कर्मसद्भावान्मलस्यापि स्थितेः कथम् ॥ १०२ ॥
विज्ञानाकलता तस्य सङ्कोचो ह्यस्ति तादृशः ।

वह कहते हैं—

(मनुष्य) भोक्ता आत्मा के विषय में विचित्र एवं भिन्न फलों को भोग्य के रूप मानता है इस कारण यह भेदात्मक व्यवस्था है ॥ -१००-१०१-॥

इसलिए इसकी अपनी सम्पत्ति में मल न तो उपादान और न निमित्त कारण है किन्तु कार्य के सम्पादन में हाथ का सहारा जैसा है—यह कहते हैं—

इस प्रकार अपने कार्य को उत्पन्न करने में सहकारिता का आश्रय लेता हुआ मल सामर्थ्य के व्यञ्जक के रूप में कर्म का कारण बनता है ॥ -१०१-१०२- ॥

तात्पर्य यह है कि सङ्कोच के बिना विचित्र फल को देने मे इसका (= कर्म का) कुछ भी सामर्थ्य व्यक्त नहीं होता ॥ १०१ ॥

प्रश्न—विज्ञानाकल (= अणुओं) का भी स्वातन्त्र्य सङ्कोचजन्य दो मलों के योग से "विज्ञानकेवली एक मल से युक्त होता है" इत्यादि (कथन) खण्डित हो जाएगा और "कर्म से युक्त प्रलयकेवली होता है" इत्यादि उक्ति के द्वारा (वह) प्रलयकेवली होने लगेगा ? यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रश्न है कि ऐसा होने पर कर्म के होने से मल की भी स्थिति होने के कारण (वह) विज्ञानाकल केसे होगा ? क्योंकि उसका सङ्कोच वैसा है ॥ -१०२-१०३- ॥

केनेदमुक्तं मलद्वययोगोऽस्येति—तदाह—'तस्येत्यादि' । तादृश इति—प्राग्वदेव प्रलयाकलादिदशोचितः कर्मसामर्थ्यव्यञ्जनयोग्य इति यावत् ॥ १०२ ॥

तदेव प्रतिविधत्ते—

मैवमध्वस्तसङ्कोचोऽप्यसौ भावनया दृढम् ॥ १०३ ॥
नाहं कर्तेति मन्वानः कर्मसंस्कारमुज्झति ।

भावनयेति 'अहं-ममेति' संन्यासादिरूपया । अतश्च अस्य नैष्कर्म्यान्न कार्ममलयोगः, इति स्थितं विज्ञानाकलत्वम् ॥ १०३ ॥

ननु संस्कारोच्छेदे पूर्वापरानुसंधानाभावो भवेदित्यस्य प्रमातृत्वमेव न स्यात् ? —इत्याशङ्क्याह—

फलिष्यतीदं कर्मेति या दृढा वृत्तिरात्मनि ॥ १०४ ॥
स संस्कारः फलायेह न तु स्मरणकारणम् ।

दृढ इति—अनादित्वात्, द्विधा हि आत्मनि भावनात्मा वृत्त्यादिशब्दव्यपदेश्यः संस्कारः—सादिरनादिर्वा, नाद्यः—अनुभवाहितो यः प्रबोधबलात् प्रबुध्यमानः

किसने ऐसा कहा कि—यह दो मलों से युक्त है—वह कहते हैं—'उसका' इत्यादि । उस प्रकार का = पहले के समान प्रलयाकल आदि दशा के योग्य अर्थात् कर्मसामर्थ्य की अभिव्यक्ति के योग्य ॥ १०२ ॥

उसी का उत्तर देते हैं—

'ऐसा नहीं हैं । सङ्कोच का नाश न होने पर भी यह भावना के द्वारा दृढ़तापूर्वक 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' ऐसा मानता हुआ कर्मसंस्कार को छोड़ देता है ॥ -१०३-१०४- ॥

भावना के द्वारा = 'मैं और मेरा' इस संन्यास आदि रूप वाली (भावना के द्वारा)। इसलिए इसके नैष्कर्म्य के कारण कार्म मल का सम्बन्ध नहीं होता । इस प्रकार विज्ञानाकल होना सिद्ध है ॥ १०३ ॥

प्रश्न—(संन्यास के द्वारा) संस्कार के नष्ट हो जाने पर पूर्वापर अनुसन्धान का अभाव हो जाएगा फलतः यह प्रमाता ही नहीं रहेगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

'यह कर्म फल देगा'—इस प्रकार की, आत्मा में, जो दृढ़ वृत्ति रहती है वह संस्कार ही फल देने के लिए समर्थ होता है न कि संस्कार स्मरण का कारण (मात्र होता है) ॥ -१०४-१०५- ॥

दृढ़ = अनादि होने के कारण । आत्मा में भावना एवं वृत्ति आदि शब्द से व्यवहार्य संस्कार दो प्रकार का होता है—सादि अथवा अनादि । अनुभव से प्राप्त

स्मरणकारणतया प्रमातुरनुसंधातृत्वं पुष्येत्, अन्यः पुनः कर्मवासनात्मा यद्वशाद्वि-चित्रफलदायि कर्म स्यात् ॥ १०४ ॥

ननु कर्मसंस्कारश्चेदुच्छिन्नस्तावता कर्मणः किं वृत्तं यदस्य तत्फलभागित्वं न स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अप्रध्वस्तेऽपि सङ्कोचे नाहं कर्तेति भावनात् ॥ १०५ ॥
न फलं क्षीवमूढादेः प्रायश्चित्तेऽथ वा कृते ।

अप्रध्वस्त इति—संनिहितेऽपि सहकारिणि इति यावत्, न फलमिति—सुकृतदुष्कृतात्मनः कर्मण इत्यर्थावसेयम् । नहि क्षीवमूढादेः 'इदमहं करामि' इत्यनुसंधानमस्ति अननुसंधाय च कृतं कृतमेव न भवेदिति किं फलेत् यदभिप्रायेणैव च

'........................समुत्थानात् क्रियादयः ।'

इत्यादि अन्यैरुक्तम् । प्रायश्चित्तेऽपि कृते 'नाहमत्र कर्ता' इति निवृत्तिभावनात् तत्तद्विषयानुसंधानशैथिल्यादेव न तत्तत् फलदायि स्यात्, यदाहुः—

पहला अर्थात् सादि (संस्कार) नहीं जो कि प्रबोध के बल से प्रबुध्यमान होता हुआ स्मरण के कारण के रूप में प्रमाता की अनुसन्धातृता को पुष्ट करेगा फलतः संस्कार का उच्छेद नहीं होगा और विज्ञानाकलत्व संस्कार के उच्छिन्न होने पर प्राप्त होता है । दूसरा (संस्कार) कर्मवासनारूप है जिसके कारण विचित्रफल देने वाले कर्म होते हैं ॥ १०४ ॥

प्रश्न—कर्म संस्कार यदि उच्छिन्न हो गया तो उससे कर्म के ऊपर क्या प्रभाव पड़ेगा कि यह उसके फल को प्राप्त नहीं करेगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

सङ्कोच के नष्ट न होने पर भी 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ' ऐसी भावना कर लेने से फल नहीं मिल जाता जैसे कि पागल या मूढ के अथवा प्रायश्चित्त कर लेने पर ॥ -१०५-१०६- ॥

प्रध्वस्त न होने पर—सहकारी कारण के सन्निहित रहने पर भी । फल नहीं मिलता—सत् एवं असत् कर्मो का—इतना अर्थात् (= अपनी ओर से) समझ लेना चाहिए । पागल एवं मूढ़ आदि "मैं यह कर रहा हूँ' ऐसा अनुसन्धान नहीं करते । एवं बिना अनुसन्धान के किया गया कर्म किया गया ही नहीं होता तो (वह) क्या फल देगा ? जिस अभिप्राय से ही

".........समुत्थान (= विशेष अभिप्राय) से क्रिया आदि होती है (और वही फल देती है)।"

इत्यादि दूसरे लोगों के द्वारा कहा गया है । प्रायश्चित्त करने पर भी "मैं इसका कर्त्ता नहीं हूँ' इस प्रकार की निवृत्तिभावना होने से तत्तद्विषयक अनुसन्धान की

'पापं कृत्वा तु संतप्य तस्मात्पापाद्विमुच्यते ।
नैवं कुर्यामहमिति निवृत्त्या तु स पूयते ॥' इति ॥ १०५ ॥

नन्वेवं सत्तया फलदाने कर्म न प्रयोजकं किन्तु अभिसंधानादित्यायातम् ? सत्यमेतत्,—इत्याह—

यन्मयाद्य तपस्तप्तं तदस्मै स्यादिति स्फुटम् ॥ १०६ ॥
अभिसंधिमतः कर्म न फलेदभिसन्धितः ।

स्फुटमिति—दार्ढ्येन, कर्मेति—तपोरूपम्, न फलेदिति—कर्तुः, तद्धि परस्मै स्तादित्यभिसंहितमिति कथं स्वत्र फलदायि स्यात्, यदाहुः—

'नासमीहितं फलं भवति................।' इति ॥ १०६ ॥

नन्वेवं कर्मफलयोर्वैयधिकरण्यात् कृतनाशाकृताभ्यागमचोद्यं कथङ्कारं परानुद्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

तथाभिसंधानाख्यां तु मानसे कर्म संस्क्रियाम् ॥ १०७ ॥
फलोपरक्तां विदधत्कल्पते फलसम्पदे ।

शिथिलता के कारण (कर्म) तत्तत् फल को देने वाले नहीं होते ।

जैसा कि कहते हैं—

"पाप करके सन्ताप करने के बाद उस पाप से (पापी) मुक्त हो जाता है । 'मैं ऐसा नहीं करुँगा'—इस प्रकार की निवृत्ति (भावना) से वह पवित्र हो जाता है" ॥ १०५ ॥

प्रश्न—इससे यह (निष्कर्ष) निकला कि कर्म सत्तामात्र से नहीं अपितु अभिसन्धान के कारण फलदान मे प्रयोजक होता है ? यह सत्य है—यह कहते हैं—

'जो मैंने आज तपस्या की वह इसके लिए हो'—इस प्रकार से स्पष्ट अभिसन्धि वाले को अभिसन्धि के कारण कर्म फल नहीं देता ॥ -१०६-१०७- ॥

स्पष्ट = दृढ़ता के साथ । कर्म = तपस्यारूप । फल नहीं देता—कर्त्ता की 'दूसरे के लिए हो'—यह अभिसन्धि है तो कैसे अपने लिए फलदायी होगा । जैसा कि कहते हैं—

"अनिच्छित फल नहीं (प्राप्त) होता" ॥ १०६ ॥

प्रश्न—इस प्रकार कर्म और फल के भिन्न-भिन्न आधार होने से कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम का अपनोद (= परिहार) कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तप:प्रभृति हि कर्म 'तथा परत्रैव फलतु'—इत्यभिसंधानात्मकं मनसि संस्कारं समर्पयत् फलसम्पदे कल्पते—तथैव फलदानकुशलतामियात्—इत्यर्थ: । यथाभिसंधानमेव हि कर्मफलव्यवस्थेत्यभिप्राय: । यदाहु:—

'यद्यथा चाभिसंधत्ते तत्तत्तस्य तथा फलेत्।'

इति । ततश्च नैतच्चोद्यं तद्धि एवं भवेत् यदि स्वत्रैव फलाभिसंधाने परत्र फलेदिति ॥ १०७ ॥

नन्वेवमभिसंधानमात्रायत्तत्वे कर्मफलयो: तद्व्यवस्थैव तुट्येत् यत् सर्व एवाफलाभिसन्धानेन यत्तत्कर्म कुर्वाणोऽपि न तत्फलभागी भवेदिति कृतं स्वर्निरयाभ्यामिति ? सत्यमेतत्—यद्यत्र कश्चित् तीव्रमभिनिविष्टो भवेत् । तदाह—

यस्तु तत्रापि दार्ढ्येन फलसंस्कारमुज्झति ॥ १०८ ॥
स तत्फलत्यागकृतं विशिष्टं फलमश्नुते ।

य: पुनस्तत्रानुसंधाने कर्मफलसंस्कारमपि दार्ढ्येनोज्झति

'अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य:।'

उस प्रकार की अभिसन्धान नाम फलयुक्त प्रक्रिया को मन में करने वाला कर्मफल प्राप्ति के लिए समर्थ होता है ॥ -१०७-१०८- ॥

'उस प्रकार दूसरी जगह ही फल दे' इस प्रकार का अभिसन्धानात्मक संस्कार मन में समर्पित करता हुआ तप: आदि कर्म फल की प्राप्ति के लिए समर्थ होता है अर्थात् उसी प्रकार फलदान की कुशलता को प्राप्त करता है । अर्थात् अभिसन्धान के अनुकूल कर्मफल की व्यवस्था होती है । जैसा कि कहते हैं—

'जो जैसा अभिसन्धान करता है उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है ।''

इसलिए ऐसा नहीं कहना चाहिए । वैसा तब होता जब अपने में फलाभिसन्धान करने पर दूसरी जगह फल होता ॥ १०७ ॥

प्रश्न—कर्म और फल के केवल अभिसंधान के अधीन होने पर उनकी व्यवस्था ही टूट जाएगी । सभी लोग फल का अभिसन्धान न करने से भिन्न-भिन्न कर्म करते हुए भी उस (कर्म) फल के भागी नहीं होंगे । इस प्रकार स्वर्ग और नरक व्यर्थ हो जायेंगे ? यह सत्य है यदि इस विषय में कोई तीव्र अभिनिविष्ट हों। वह कहते हैं—

जो उसमें अत्यन्त दृढ़तापूर्वक फल के संस्कार को छोड़ देता है वह उस फलत्याग से उत्पन्न विशिष्ट फल को प्राप्त करता है ॥ -१०८-१०९- ॥

जो उस अनुसन्धान में कर्मफल के संस्कार को भी दृढ़तापूर्वक छोड़ देता है ।

इत्याद्युक्त्या तदासङ्गं जह्यात्, स तस्य फलस्य अनासङ्गेन जनितं विशिष्टं लोकोत्तरं फलमश्नुते—मायोत्तीर्णं पदमासादयेत्—इत्यर्थः, यद्गीतम्—

'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥' इति ॥ १०८॥

ननु यद्येवं तद्धीवरादेः प्रजागरणामात्रेणैव शिवरात्रिफलभागित्वश्रुतिः, अकामत एवापेयपानादि कुर्वतां प्रायश्चित्तस्मृतिश्च कथं सङ्गच्छताम्, नहि तेषामेतदनुसन्धानमस्ति 'यदेतदर्थं वयमेवं कुर्मः' इति ? अत्रोच्यते—कुत्र नामात्रानुसंधानमुपयुक्तम् किं कर्मणः स्वरूपे किं वा फले । न तावत्फले, नहि ब्रह्महत्यया निरयो मे भूयादित्यभिसंधाय कश्चित् ब्राह्मणं हन्यात् । एवं हि ततोऽस्य निवृत्तिरेव स्यात् । वस्तुतः सर्वस्यैव लोकस्य निरयभीरुत्वात्, प्रत्युत निष्कण्टकीकरणाद्यभिसमीहितं दृष्टमपि फलं ततोऽस्य न स्यात्, तदैव कण्टकान्तरोत्पादस्य शतशो दर्शनात् । नापि कृपादानात् किंचित्फलं भवेत्, तत्र कृपामात्रेणैव प्रवृत्तेः फलानभिसंधानात् । अथ स्वरूपे तदत्रास्त्येव, नहि धीवरादेः जागर्मीत्यभिसंधानं नास्तिक्षीवमूढादिवदस्य अस्वस्थवृत्तित्वाभावात्, किन्तु अज्ञत्वात्

"जो (व्यक्ति) कर्मफल पर आश्रित न होकर कर्त्तव्य कर्म को करता है ।" (भ०गी० ६.१)

इत्यादि उक्ति के द्वारा उसके प्रति आसक्ति को छोड़ देता है वह उस फल के त्याग से जनित विशिष्ट = लोकोत्तर फल को प्राप्त करता है अर्थात् मायोत्तीर्ण पद को प्राप्त करता है । जैसा कि गीता में कहा गया है—

"योगयुक्त बुद्धि वाले मनीषी कर्म से उत्पन्न फल का त्याग कर जन्म के बन्धन से मुक्त होकर परमपद को प्राप्त होते हैं ।" (२.५१)

प्रश्न—यदि ऐसा है तो केवट आदि को (सम्पूर्ण रात्रि) जागरण करने मात्र से शिवरात्रि के फल की प्राप्ति वाली श्रुति तथा बिना इच्छा के अपेय पान आदि करने वालों के लिए प्रायश्चित्त की स्मृति कैसे सङ्गत होगी ? क्योंकि उनको यह अनुसन्धान नहीं है कि 'हम लोग' इसके लिए ऐसा कर रहे हैं? इस विषय में कहते हैं—इस विषय में अनुसन्धान कहाँ उपयुक्त है—क्या कर्म के स्वरूप में या फल में ? फल में हो नहीं सकता—'ब्रह्महत्या से मुझे नरक मिले'—ऐसा अभिसन्धान कर कोई ब्राह्मण का घात नहीं करता । ऐसा होने पर उसकी उस (= ब्रह्महत्या) से निवृत्ति ही होगी । वस्तुतः सब लोगों के नरक से भीत होने के कारण उल्टे निष्कण्टकीकरण आदि ईप्सित दृष्टफल भी इसको नहीं होगा क्योंकि (एक काँटा को हटाने के बाद) उसी समय दूसरे कण्टक की उत्पत्ति सैकड़ों बार देखी गई है । कृपादान से भी कुछ फल नहीं होगा क्योंकि उसमें कृपामात्र से प्रवृत्ति होने पर फल का अभिसन्धान नहीं है । यदि स्वरूप में (माने) तो वह यहाँ है ही । धीवर आदि को "मैं जागता हूँ" ऐसा अभिसन्धान नहीं है—ऐसी बात

न तथा दार्ढ्येन, येनास्य परिमितफलभाक्त्वप्रतिपादनम् । एवं सौगतमतेऽपि कस्यचन क्रिमिविशेषस्य प्रसङ्गात् चैतन्यभट्टारकं प्रदक्षिणयतोऽस्त्येव तथा प्रक्रमणे समुत्थानम्, नहि तूलस्येवास्य वातादिप्रेरणादेवंविधत्वम् । अतश्च न्याय्योऽस्य भगवदाधिपत्येन वस्तुबलोपनीतो जन्मान्तरे सद्गतिप्रतिलम्भः । अपेयपानादावपि अपेयत्वानभिसन्धेरकामस्य सामान्येन 'इदं पिबामि' इत्यभिसंधानमस्ति येनापरीक्ष्यकारित्वादिनास्य प्रायश्चित्तं स्मृतं किंतु सकामापेक्षया न्यूनम् । यन्मनुः—

'प्रायश्चित्तमकामानां सकामानां तथैव च ।
विहितं यदकामानां द्विगुणं तत्सकामतः ॥'

इति । तस्मादनुसंधानानुप्राणितैव कर्मफलव्यवस्था इत्यलं बहुना ॥ १०८ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति—

अनया परिपाट्या यः समस्तां कर्मसंततिम् ॥ १०९ ॥
अनहंयुतया प्रोज्झेत् ससङ्कोचोऽपि सोऽकलः ।

नहीं है । क्योंकि पागल या मूढ़ के समान इसमें अस्वस्थवृतिता नहीं है । किन्तु अज्ञता के कारण उतनी दृढ़ता के साथ नहीं है जिससे कि यह परिमित फल का भागी हो । इसी प्रकार बौद्धमत में भी कोई विशिष्ट क्रिमि प्रसङ्गात् चैतन्यभट्टारक (= महात्मा बुद्ध) की प्रदक्षिणा करता है तो उस प्रकार के प्रक्रमण में उसका उत्थान होता ही है । ऐसा नहीं है कि हवा आदि के द्वारा प्रेरित रूई के समान प्रेरणा से ऐसा है अर्थात् जैसे हवा से प्रेरित रूई किसी के चारों ओर लग जाती है किन्तु वह निरुद्देश्य होती है उस प्रकार कोई सोद्देश्य प्रेरणा यहाँ नहीं है ।

इसलिए भगवान् के आधिपत्य से वस्तु के बल से उपनीत, इसका जन्मान्तर में सद्गतिलाभ उचित है । अपेयपान आदि के विषय में भी अपेयत्व की अभिसन्धि न होने से कामनाहीन (पुरुष) कें अन्दर सामान्यतः 'इसको पी रहा हूँ'—ऐसा अभिसन्धान रहता है । जिससे अपरीक्ष्यकारिता आदि के कारण इसके लिए प्रायश्चित्त का विधान है । किन्तु सकाम की अपेक्षा इसको प्रायश्चित कम होता है । जैसा कि मनु ने कहा है—

"अकाम के लिए प्रायश्चित है उसी प्रकार सकाम के लिए भी । जो अकाम के लिए विहित है उस का दुगुना (प्रायश्चित्त) सकाम होने के कारण है ।"

इसलिए कर्मफल की व्यवस्था अभिसन्धान से अनुप्राणित ही है—इतना कहना पर्याप्त है ॥ १०८ ॥

इसी को प्रस्तुत में जोड़ते हैं—

इस परिपाटी से जो (व्यक्ति) समस्त कर्मसमूह को उसमें अनासक्त होकर छोड़ देता है, सङ्कोचयुक्त होने पर भी वह अकल

अनयेति—फलत्यागपर्यन्तरूपया, समस्तामिति—शुभामशुभां च, अनहंयुतयेति—तदनासक्ततया—इत्यर्थः अकल इति—विज्ञानाकलः ॥ १०९ ॥

ननु एवं कश्चित् द्वेषवशादपि आत्मीयं दुष्कृतमस्मै स्तात् इति शत्रुविषयमभिसन्दध्यात् येन कृत्वापि दुष्कृतं न तत्फलभाग्भवेदिति कर्मफलव्यवस्थाया विसंस्थुलत्वमेवापतेत् ?—तदाह—

नन्वित्थं दुष्कृतं किंचिदात्मीयमभिसन्धितः ॥ ११० ॥
परस्मै स्यान्न विज्ञातं भवता तात्त्विकं वचः ।

इत्थमिति—अभिसन्धानमात्रायत्तत्वेन कर्मफलव्यवस्थायाः, अविज्ञातकर्मफलव्यवस्थाकस्यैतत् चोद्यमित्युक्तम्—'न विज्ञातम्' इत्यादि ॥ ११० ॥

एतदेव उपपादयति—

तस्य भोक्तुस्तथा चेत्स्यादभिसन्धिर्यथात्मनि ॥ १११ ॥
तदवश्यं परस्यापि सतस्तद्दुष्कृतं भवेत् ।
पराभिसन्धिसंवित्तौ स्वाभिसन्धिर्दृढीभवेत् ॥ ११२ ॥
अभिसन्धानविरहे त्वस्य नो फलयोगिता ।

है ॥ -१०९-११०- ॥

इस = फलत्यागपर्यन्त स्वरूपवाली । समस्त = शुभ और अशुभ । अनहंयुत होने से = उसमें अनासक्त होने से । अकल = विज्ञानाकल ॥ १०९ ॥

प्रश्न—ऐसा होने पर तो यदि कोई द्वेषवश भी "मेरा पाप इसके लिए हो'— इस प्रकार शत्रु के विषय में अभिसन्धान करे जिससे दुष्कृत करके भी वह उसके फल का भागी नहीं हो तो इस प्रकार कर्मफल की व्यवस्था विश्रृङ्खलित हो जाएगी ?—यह कहते हैं—

'तब तो अभिसन्धि के कारण अपना दुष्कृत दूसरे के लिए होगा यह कहने वाले आपने तात्त्विक वचन को जरा सा भी नहीं जाना (अर्थात् अभिसन्धान होने पर आपको फल मिलेगा ही) ॥ -११०-१११- ॥

इस प्रकार = कर्मफलव्यवस्था के अभिसन्धानमात्र के अधीन होने से कर्मफल की व्यवस्था को न जानने वाले का ऐसा वचन होता है—इसलिए कहा गया—'न विज्ञातम्' ॥ ११० ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

जिस प्रकार अपने विषय में उसी प्रकार उस भोक्ता की यदि (दूसरे के विषय में) अभिसन्धि हो तो अवश्य वह (= अभिसन्धि) दूसरे का भी दुष्कृत हो जाएगी । दूसरे की अभिसन्धि का ज्ञान होने पर अपनी

न मे दुष्कृतमित्येषा रूढिस्तस्याफलाय सा ॥ ११३ ॥

यथा तस्य दुष्कृतकर्तुरात्मनि 'एतदस्मै स्तात्' इत्यभिसन्धानमस्ति, तथैव चेत् तद्भोक्तृत्वेन अभिमतस्य 'परस्य स्तान्मम' एतदित्यनुसन्धानं स्यात् तद्भवेदेवम्, यतः सुकृतदुष्कृतात्मकस्य परस्य संबन्धिन्यामेवमभिसंधानसंवित्तौ तदर्पणविषयस्यात्मीयमभिसन्धानं दृढीभवेत्—तत्फलभागित्वेन अवष्टम्भभाग्भवेत—इत्यर्थः । यस्य पुनरेवमात्मीयमभिसंधानमेव नास्ति तस्य कुतस्तफलभागित्वं भवेत्, प्रत्युत 'मा मे दुष्कृतं भूयात, इति विरुद्धमनुसंधानमस्य स्वरसत एव प्ररोहमुपागतं संभाव्यते । वस्तुतो हि सर्व एवायं लोकः पापभीरुः तच्चास्य फलभाव एव निमित्तमिति कुतः परानुसन्धानमात्रादेव परस्य दुष्कृतफलभाक्त्वं भवेदेवम्, इत्युक्तं स्यात् । यत् कर्तुः अभिसन्धानात् कर्म फलेत् तदर्पणविषयस्य च पराभिसन्धौ स्वाभिसन्धानविरहात्र फलोदयः इति ॥ ११३ ॥

कर्तुरपि अनुसन्धानाभावे पुनः किं तत्कृतं कर्म स्वस्मै परस्मै वा फलेत् उताफलमेव इत्यन्तःकृत्य संक्षेपेणाभिप्रेतमेव पक्षमुपक्षिपति—

पराभिसन्धिविच्छेदे स्वात्मनानभिसंहितौ ।

अभिसन्धि दृढ़ हो जाती है । अभिसन्धि न रहने पर इसका फल से सम्बन्ध नहीं रहता । 'मेरा पाप नहीं है' ऐसी उसकी वह रूढि फल के लिए नहीं है ॥ -१११-११३ ॥

जिस प्रकार दुष्कर्म करने वाले का अपने विषय में 'यह इसके लिए हो' ऐसी अभिसन्धि रहती है यदि उसी प्रकार की अभिसन्धि 'भोक्ता के रूप में अभिमत उसके बारे में हो कि' दूसरे का (पाप) मेरे लिए हो' तो ऐसा हो सकता है । क्योंकि सुकृतात्मक अथवा दुष्कृतात्मक दूसरे से सम्बद्ध इस प्रकार की अभिसन्धि का ज्ञान होने पर उसके अर्पणविषय का अपना अभिसन्धान दृढ़ हो जाता है अर्थात् उसका फलभागी होने से अवष्टम्भ वाला हो जाता है । और जिसको ऐसा अभिसन्धान ही नहीं है वह कैसे उस फल का भागी होगा ? बल्कि 'मुझे पाप न लगे' यह विपरीत अनुसन्धान उसके अन्दर स्वभावतः उत्पन्न होगा । वस्तुतः यह समस्त संसार पापभीरु है । वही इसके फलभाव में निमित्त है । इसलिए कैसे केवल दूसरे के अनुसन्धान से ही दूसरा दुष्कृतफल का भागी होगा । ऐसा कहना चाहिए कि कर्त्ता के अभिसन्धान से जो कर्म फल देता है उसके अर्पण के विषय की पराभिसन्धि होने पर अपना अभिसन्धान न होने से फल का उदय नहीं होगा ॥ ११३ ॥

कर्त्ता के द्वारा किये गये भी अनुसन्धान के अभाव में क्या वह कर्म अपने (= उस कर्त्ता के) लिए या दूसरे के लिए फल देगा या निष्फल हो जाएगा—यह मन में रखकर संक्षेप में इच्छित पक्ष को रखते हैं—

द्वयोरपि फलं न स्यान्नाशहेतुव्यवस्थितेः ॥ ११४ ॥

द्वयोरिति—अर्पणक्रियाकर्तृविषययोः, नाशहेतुः—स्वपरानुसन्ध्यभावलक्षणः ॥ ११४ ॥

ननु 'एतदीयं दुष्कृतं मे भूयात्'—इत्यनुसन्धानं यथा परस्य नास्ति तथा 'सुकृतं मे भूयात्'—इत्यपि मा भूदिति कथमुक्तम् 'यन्मयाद्य तपस्तप्तम्' इत्यादि ?—इत्याशङ्क्याह—

सुखहेतौ सुखे चास्य सामान्यादभिसन्धितः ।
निर्विशेषादपि न्याय्या धर्मादिफलभोक्तृता ॥ ११५ ॥
दुःखं मे दुःखहेतुर्वा स्तादित्येष पुनर्न तु ।
सामान्योऽप्यभिसन्धिः स्यात्तदधर्मस्य नागमः ॥ ११६ ॥

सर्वो हि लोकः सुखस्पृहयालुर्दुःखजिहासुश्च इति सर्वेषां सुखं तद्धेतुं वा प्रति सामान्यात्मनापि अभिसंधानं न्याय्यं न दुःखं तद्धेतुं वा प्रतीति युक्तमुक्तम्—'परस्य सुकृतफलभागित्वमेव भवेत् न दुष्कृतफलभागित्वमपि' इति, निर्विशेषादिति—अनेनाद्य तपस्तप्तं तपो मे भूयादित्येवंरूपत्वविरहादपि—इत्यर्थः ॥ ११६ ॥

दूसरे की अभिसन्धि छिन्न हो जाने पर तथा अपनी अभिसन्धि न होने पर नाशहेतु की व्यवस्था होने से दोनों का फल नहीं मिलेगा ॥ ११४ ॥

दोनों का = अर्पण क्रिया और कर्त्ता का । नाशहेतु = स्वयं एवं पर की अनुसन्धि के अभाव वाला ॥ ११४ ॥

प्रश्न—जैसे 'इसका पाप मुझे लग जाय' ऐसा दूसरे से अनुसन्धान नहीं होता उसी प्रकार 'इसका पुण्य मुझे लग जाय' यह भी नहीं होगा तो कैसे कहा कि—'जो मैने आज तपस्या की है............ इत्यादि' ? यह शङ्का कर कहते है—

सुख के हेतु अथवा सुख में मनुष्य की सामान्य अभिसन्धि के कारण निर्विशेष भी धर्म आदि की फलभोक्तृता उचित है । 'मुझे दुःख अथवा दुःखहेतु हो' ऐसी न तो सामान्य अभिसन्धि होती है और न उस अधर्म की प्राप्ति होती है ॥ ११५-११६ ॥

सबलोग सुख चाहने वाले और दुःख छोड़ने वाले होते हैं इसलिए सुख अथवा उसके कारण के प्रति सामान्यरूप से सबकी अभिसन्धि उचित है न कि दुःख अथवा उसके कारण के प्रति । इसलिए ठीक कहा गया—'दूसरा पुण्य के फल का ही भागी होगा न कि पाप के फल का भागी । निर्विशेष रूप से—'इसने आज तपस्या की । मुझे तप का फल मिले' इस प्रकार का विशेष रूप न होने पर भी—यह तात्पर्य है ॥ ११६ ॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय, प्रकृतमेवानुसरति—

प्रकृतं ब्रूमहे ज्ञानाकलस्योक्तचरस्य यत् ।
अनहंयुतया सर्वा विलीनाः कर्मसंस्क्रियाः ॥ ११७ ॥

उक्तचरस्येत्यनेन प्रागुक्तं कार्ममलाभावोपपादकं निखिलमेव प्रमेयमनुस्मारितम्, अतश्चास्य विज्ञानाकलस्य कार्म एव मलो नास्ति इति तत्सामर्थ्यव्यञ्जकत्वात्मकनिजकरणीयायोगात् दिध्वंसिषुः मलः तत्त्वादेव किंचिद्ध्वंसमानत्वादिक्रमेण ध्वंसमानत्वं तन्नान्तरीयकं ध्वस्तत्वं च यायात् ॥ ११७ ॥

तदाह—

तस्मादस्य न कर्मास्ति कस्यापि सहकारिताम् ।
मलः करोतु तेनायं ध्वंसमानत्वमश्नुते ॥ ११८ ॥

तेनेति—सहकारित्वाकरणेन ॥ ११८ ॥

ननु मलस्य ध्वस्तत्वे 'सर्वमहम्' इति सर्वत्राहंभावोदयात् कर्मणि तत्फले च तथाभावात् अस्य पुनरपि कार्ममलयोगः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अपध्वस्तमलस्त्वन्तःशिवावेशवशीकृतः ।

इस प्रकार प्रसङ्गवश इसे कहकर, प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

(हम) प्रस्तुत का कथन करते हैं कि पूर्वोक्त विज्ञानाकल के समस्त कर्मसंस्कार अहङ्कारहीन होने के कारण विलीन हो जाते हैं ॥ ११७ ॥

'उक्तचर का' इस (कथन) से पूर्वोक्त कार्ममल के अभाव के उपपादक समस्त प्रमेय का स्मरण कराया गया । इसलिए इस विज्ञानकल का कार्म मल ही नहीं है। इसलिए उसके सामर्थ्य का व्यञ्जकरूप अपना कर्त्तव्य न होने से ध्वस्त होने की इच्छा वाला मल उसके ही कारण कुछ ध्वंसमान के क्रम से ध्वंसमान और उसके तत्काल पश्चात् ध्वस्तता को प्राप्त हो जाएगा ॥ ११७ ॥

वह कहते हैं—

इस कारण इस (अहङ्कारहीन) के पास कर्म नहीं रहता (जिससे कि) मल सहकारी कारण बन सके । इसलिए यह (मल) ध्वस्त होने लगता है ॥ ११८ ॥

इस कारण = सहकारिता न करने से ॥ ११८ ॥

प्रश्न—मल के ध्वस्त होने पर 'सब कुछ मैं हूँ' ऐसा सर्वत्र अहंभाव का उदय होने से कर्म और उसके फल के विषय में वैसा (अहंभावोदय) होने से इस (व्यक्ति) का पुनः कार्म मल से योग होने लगेगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

अहंभावपरोऽप्येति न कर्माधीनवृत्तिताम्॥ ११९ ॥

कर्माधीनवृत्तित्वाभावे शिवावेशवशीकृतत्वं हेतुः ॥ ११९ ॥

एवमेतन्मलस्य संसाराङ्कुरकारणत्वं तत्प्रसङ्गेन च संसाराङ्कुरस्य स्वरूपं गर्भीकृतप्रागुक्तसकलप्रमेयया श्रीमालिनीविजयोक्त्या संवादयति—

उक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे च तदेतत्परमेशिना।
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥ १२० ॥
धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुःखादिलक्षणम् ।

तत्र कर्मसूत्रं व्याचष्टे—

लक्षयेत्सुखदुःखादि स्वं कार्यं हेतुभावतः ॥ १२१ ॥

लक्षयेदिति—स्वसत्ताप्रयोजकीकारेण तथा व्यवस्थापयेत्—इत्यर्थः । कथं चास्य तल्लक्षकत्वम् ?—इत्याशङ्क्योक्तं—'हेतुभावतः' इति ॥ १२१ ॥

ननु 'नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्ति'

जिसका मल ध्वस्त हो गया है (और फलतः) जो शिवावेश वाला हो गया है (वह) अहंभाव से युक्त होने पर भी कर्माधीनवृत्ति वाला नहीं होता ॥ ११९ ॥

कर्माधीनवृत्तिता के अभाव का कारण है—शिवावेशवशीकार ॥ ११९ ॥

इस प्रकार मल की इस संसाराङ्कुरकारणता और उसी प्रसङ्ग में संसाराङ्कुर के स्वरूप को मालिनीविजयतन्त्र उसमें उक्त उक्ति के द्वारा, जिसने पूर्वोक्त सकल प्रमेयों को अपने अन्दर धारण कर लिया है, संवादित करते हैं—

तो यह मालिनीविजय तन्त्र में परमेश्वर के द्वारा कहा गया है । अज्ञान को मल मानते हैं (और यह) संसाररूपी अंकुर का कारण होता है । कर्म धर्माधर्मात्मक और सुख दुःख आदि लक्षणों वाला होता है ॥ १२०-१२१-॥

उसमें से कर्मसूत्र की व्याख्या करते हैं—

(जो) कारण के रूप में सुख दुःख आदि अपने कार्य को लक्षित करे (वहीं कर्म है) ॥ -१२१ ॥

लक्षित करे—अपनी सत्ता के द्वारा उस प्रकार व्यवस्थापित करे । यह उसका लक्षक कैसे है ? यह शङ्का कर कहा गया—हेतु के रूप में ॥ १२१ ॥

प्रश्न—'कारण आवश्यक रूप से कार्यवान् नहीं होते'

इति न्यायात् नियमेन कथङ्कारं कार्यं हेतुर्व्यवस्थापयेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

नहि हेतुः कदाऽप्यास्ते विना कार्यं निजं क्वचित् ।
हेतुता योग्यतैवासौ फलानन्तर्यभाविता ॥ १२२ ॥

का नाम योग्यता ?—इत्युक्तं 'फलानन्तर्यभाविता' इति । अत एव नैयायिकादयः सामग्र्या एव कारणत्वमभ्युपागमन् । समग्राणि कारणमिति नावश्यमित्यादि पुनरसमग्रापेक्षयोक्तम् ॥ १२२ ॥

ननु यद्येवं तत् कार्यात् पूर्वं सामग्र्यन्तरनुप्रविष्टस्यापि वह्न्यादेः किं कारणत्वं स्यान्न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

पूर्वकस्य तु हेतुत्वं पारम्पर्येण..........

तेन सुखदुःखादेर्लक्षणम् इति षष्ठीतत्पुरुषगर्भमेतत् व्याख्यानम् ।

तत्रैव बहुव्रीहिगर्भं व्याख्यानान्तरं दर्शयति—

.... किं च तत् ।
लक्ष्यते सुखदुःखाद्यैः समाने दृष्टकारणे ॥ १२३ ॥

इस सिद्धान्त के अनुसार कारण किस प्रकार नियमपूर्वक कार्य को व्यवस्थित करेगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

कारण कभी भी बिना अपने कार्य के नहीं रहता । और कारणता (कार्य को उत्पन्न करने की) योग्यता ही है यह (योग्यता) बाद में फल को उत्पन्न करना है ॥ १२२ ॥

योग्यता क्या है ? इस (प्रश्न के उत्तर) में कहा गया—फलानन्तर्यभाविता । इसीलिए नैयायिक आदि सामग्री को ही कारण माने हैं जो 'समग्र कारण हो ऐसा आवश्यक नहीं है'—इत्यादि कहा गया वह असमग्र की अपेक्षा से ॥ १२२ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो कार्य से पूर्व सामग्री के भीतर अनुप्रविष्ट वह्नि आदि कारण होंगे या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पहले से वर्त्तमान (वह्नि आदि) कारण तो होगें किन्तु पारम्पारिक रूप से......... ॥ १२३- ॥

इस कारण सुख दुःख आदि का **लक्षण है—यह** व्याख्या षष्ठीतत्पुरुष-गर्भित है।

यहीं पर वहुव्रीहिगार्भित दूसरी व्याख्या दिखलाते हैं—

वह क्या है ?—**प्रत्यक्ष कारणों के समान** होने पर भी विचित्र सुख दुःख आदि के द्वारा कुछ दूसरा कारण लक्षित होता है और वह है कर्म ।

चित्रैर्हेत्वन्तरं किञ्चित्तच्च कर्मेह दर्शनात्।

'किं च, 'तत्' । इत्यनेन पूर्वत्रानवक्लृप्त्या नायं व्याख्याविकल्पः किं तु आवृत्त्या समुच्चय इति द्योतितम्, प्रतिपुरुषं समानेऽपि सेवाध्ययनादौ दृष्टे कारणे यत् सुखदुःखादीनां वैचित्र्यं तेन तदन्यथानुपपत्त्या तत्र तत्किंचिददृष्टसंज्ञं हेत्वन्तरं लक्ष्यते—अनुमीयते इत्यर्थः । कार्यविशेषजनकत्वाच्च तेन विशिष्टेन केनचित् भाव्यम्—इत्याह—'तच्च कर्म' इति, विशिष्टत्वेऽपि कर्मेति कुतो निर्ज्ञातं पिशाचाद्यप्यस्तु ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—इह दर्शनादिति, इह सर्वत्रैव हि कर्म-वैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्यं दृश्यते—इत्याशयः ॥ १२३ ॥

एतदेव उपपादयति—

स्वाङ्गे प्रसादरौक्ष्यादि जायमानं स्वकर्मणा ॥ १२४ ॥
दृष्टमित्यन्यदेहस्थं कारणं कर्म कल्प्यते।

यतः स्वाङ्गे विचित्रं प्रसादरौक्ष्यादि स्वेन पांसुलेपाद्यात्मना कर्मणा जायमानं दृष्टम् अतो 'दृष्टवददृष्टकल्पना' इति न्यायात् अत्रापि कर्मैव न तु पिशाचादि कारणं कल्प्यते, किं तु तदन्यदेहस्थं—देहान्तरोपचितम्—इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

क्योंकि यहाँ (कर्मवैचित्र्य से फलवैचित्र्य) देखा जाता है ॥-१२३-१२४-॥

'और वह क्या है' इस (कथन) के द्वारा पहले निर्धारण न होने से यह विकल्पात्मक व्याख्या नहीं है बल्कि आवृत्ति के द्वारा समुच्चय है—यह बतलाया गया । प्रत्येक पुरुष में सेवा अध्ययन आदि समान कारण के दिखलायी पड़ने पर भी जो सुख दुःख आदि की विचित्रता (देखी जाती है) उससे उन (सुख आदि) की अन्यथा असिद्धि के द्वारा उसमें कुछ अदृष्ट नामक कारण लक्षित होता है = अनुमित होता है । और विशिष्ट कार्य का जनक होने के कारण वह (अदृष्ट) कुछ विशिष्ट होगा और वह कर्म है । विशिष्ट होने पर भी वह कर्म है—ऐसा कहाँ से ज्ञात हुआ ? पिशाच आदि भी तो हो सकते हैं ? यह शङ्का कर कहा गया—यहाँ देखा जाता है । यहाँ = सब जगह कर्म की विचित्रता के कारण कार्य की विचित्रता देखी जाती है—यह तात्पर्य है ॥ १२३ ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

अपने अङ्ग में अपने कर्म के द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रसन्नता और रुक्षता देखी जाती है । इससे दूसरे शरीर में वर्त्तमान कर्म को (सुख दुःख का) कारण माना जाता है ॥ -१२४-१२५- ॥

चूँकि अपने अङ्ग में विचित्र स्निग्धता और रुक्षता अपने धूलीलेप आदि कर्म के द्वारा उत्पन्न होती हुई देखी जाती है इसलिए 'दृष्ट के समान अदृष्ट की कल्पना होती है'—इस न्याय से यहाँ भी कर्म ही कारण माना जाता है न कि

न चैतावतैव अत्र वैषम्यमुद्भाव्यमित्याह—

इहाप्यन्यान्यदेहस्थे स्फुटं कर्मफले यतः ॥ १२५ ॥
कृषिकर्म मधौ भोगः शरद्यन्या[१] च सा तनुः ।

इहापि शरीरक्षणिकत्वे सर्वेषामविवादात् 'अन्यदेहस्थं कर्म अन्यदेहस्थं फलम्' इति नास्ति विमतिः, यतः कृषिकर्म वसन्ते तत्फलं शरदीति एतच्च अवस्था-वैचित्र्यात् शरीरभेद एव घटते, इति युक्तमुक्तम्—अन्यदेहस्थं कर्म कारणं कल्प्यते इति ॥ १२५ ॥

नन्वेवं कृतनाशाकृताभ्यागमचोद्यमापतेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

अनुसन्धातुरेकस्य संभवस्तु यतस्ततः ॥ १२६ ॥
तस्यैव तत्फलं चित्रं कर्म यस्य पुरातनम् ।

येनैव मया प्रागुप्तं स एवाहमद्य भोक्ष्ये, इत्यनुसंधानैक्यात् कर्मफलयो-वैयधिकरण्याभावात् न कृतस्य नाशो नापि अकृतस्याभ्यागमः, इति युक्तमुक्तम्—

पिशाच आदि । वह कौन सा है ? दूसरे शरीर में वर्त्तमान = शरीरान्तरद्वारा सम्पन्न ॥ १२४ ॥

इतने से ही यहाँ वैषम्य नहीं समझना चाहिए—यह कहते हैं—

यहाँ भी चूँकि दूसरे-दूसरे शरीर में कर्म और फल स्पष्टतया दिखाई देते हैं । खेती का कार्य वसन्त ऋृतु में होता है और भोग शरद् ऋृतु में । वह (= उत्पादक और भोग करने वाली) शरीर तो दूसरी (दूसरी) होती है ॥ -१२५-१२६- ॥

यहाँ भी = शरीर के क्षणिकत्व में सबका एकमत होने से 'दूसरे शरीर में कर्म और दूसरे शरीर में फल' इस विषय में कोई मतभेद नहीं है । क्योंकि कृषिकर्म वसन्त में होता है और उसका फल शरद में । और यह अवस्था की विचित्रता के कारण शरीर के भिन्न होने पर ही घटित होता है । इसलिए ठीक कहा है—दूसरे शरीर में वर्त्तमान कर्म कारण माना जाता है ॥ १२५ ॥

प्रश्न—इस प्रकार तो कृतप्रणाश और अकृताभ्युपगम दोष आ जाएगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

चूँकि अनुसन्धाता एक ही है इसलिए विचित्र फल भी उसी का है जिसका कि पुरातन कर्म है ॥ -१२६-१२७- ॥

'जो मैने पहले (बीज का) वपन किया वही मैं आज भोग कर रहा हूँ ।'

---

१. इससे यह अनुमान होता है कि अभिनवगुप्त कश्मीरी थे क्योंकि वहाँ फसलों की बुवाई गर्मी में और कटाई शरद् में होती है ।

अन्यान्यदेहस्थे कर्मफले इति ॥ १२६ ॥

ननु भवेदेवं यद्यनुसंधानमेव स्यात्, नहि जन्मान्तरीये कर्मणि ऐहिके च फले कस्यचित् तदस्ति ?—इत्याशङ्क्याह—

क्षीवोऽपि राजा सूदं चेदादिशेत्प्रातरीदृशम् ॥ १२७ ॥
भोजयेत्यनुसन्धानाद्विना प्राप्नोति तत्फलम् ।
इत्थं जन्मान्तरोपात्तकर्माप्यद्यानुसन्धिना ॥ १२८ ॥
विना भुङ्क्ते फलं हेतुस्तत्र प्राच्या ह्यकम्पता।

नहि क्षीवस्य राजादेरेवमनुसंधिः संभवति यन्मया ह्य एवमादिष्टः सूदो येनाद्य तथा तदादेशफलमेवं भोगः प्राप्त इति । भोजयेति—भोगं कुरु इत्यर्थः । एवमिहापि अनुसन्धानमन्तरेण जन्मान्तरीयात् कर्मणः फललाभो भवेदिति न कश्चिद्दोषः । ननु अनुसन्धानमात्रायत्तैव कर्मफलव्यवस्था इति समनन्तरमेवोक्तं, तदधुनैव कथं विपर्यास्यते ? इत्याशङ्क्योक्तम्—'हेतुस्तत्र प्राच्या ह्यकम्पता' इति। पूर्वं हि तत्र 'एवमहं करोमि' इति दृढनिरूढोऽनुसन्धिरभूत् यत्संस्कार-दार्ढ्यादिह तत्फलमिति, इह च स एव प्रयोजको नहि फलतत्संबन्धादौ

इस अनुसन्धान की एकता और कर्मफल की व्यधिकरणता के न होने से न तो कृतप्रणाश है और न अकृत का लाभ । इसलिए ठीक कहा—कर्म और फल दूसरे-दूसरे शरीर में वर्त्तमान रहते हैं ॥ १२६ ॥

प्रश्न—ऐसा होता यदि ऐसा अनुसन्धान होता । किन्तु जन्मान्तरीय कर्म और इस जन्म के फल के विषय में किस को (ऐसा अनुसन्धान) नहीं होता (कि मैनें पूर्व जन्म में यह कर्म किया था और उसका फल इस जन्म में यह है)?—यह शङ्का कर कहते है—

पागल भी राजा यदि रसोइये को आदेश देता है कि 'सबेरे इस प्रकार का भोजन कराओ' तो बिना अनुसन्धान के भी उस (आदेश) का फल प्राप्त करता है । इसी प्रकार व्यक्ति जन्मान्तर में अर्जित कर्म का फल भी आज अनुसन्धान के बिना भोगता है । इसमें प्राचीन अकम्पता (= अनुसन्धान की दृढ़ता) कारण है ॥ -१२७-१२९- ॥

पागल राजा आदि को यह स्मरण नहीं रहता कि 'जो मैने पाचक को ऐसा आदेश दिया था उसी के फलस्वरूप मुझे यह भोग प्राप्त हो रहा है ।' भोजय = भोजन (कराओ और करो) । इसी प्रकार यहाँ भी बिना अनुसन्धान के जन्मान्तरीण कर्म के कारण फल का लाभ हो जाता है—इसलिए कोई दोष नहीं है । प्रश्न—अभी पहले कहा गया कि फल की व्यवस्था अनुसन्धान के अधीन है तो अब क्यों उल्टा कह रहे हैं ?—यह शङ्का कर कहा गया है—इसमें प्राचीन अकम्पता कारण है । 'पहले इस विषय में' 'ऐसा मैं करता हूँ' ऐसी दृढ अनुसन्धि हुई । जिस

क्वचिदसावुपादेयः—इति समनन्तरमेवोपपादितम् । एवं फलदानोन्मुखस्य कर्मणः प्राच्यानुसन्धानसंस्कारस्य दार्ढ्यमवश्यंभावि अन्यथा तथात्वायोगात्, ततश्च तदनुन्मुखस्य तथा तद्दार्ढ्यं न संभवेत् इति तत् केनचिदुपायेन फलदानाय निरोद्धुमपि शक्यं, तत्र हि अन्तः प्रतिबन्धोपनिपाताद्यपि संभाव्यते इति भावः ॥१२८॥

तदाह—

अत एव कृतं कर्म कर्मणा तपसापि वा ॥ १२९ ॥
ज्ञानेन वा निरुध्येत फलपाकेष्वनुन्मुखम् ।

अत इति—फलौन्मुख्ये कर्मणः प्राच्यानुसन्धिनिष्कम्पस्यावश्योपयोगात् । कर्मणेति—क्रियादीक्षादिना । निरुध्येत इति—फलदानायोग्यं कुर्यात्—इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अत एव फलदानोन्मुखं कर्मानिरोध्यमेव—इत्याह—

आरब्धकार्यं देहेऽस्मिन् यत्पुनः कर्म तत्कथम् ॥ १३० ॥
उच्छिद्यतामन्त्यदशं निरोद्धुं नहि शक्यते ।

संस्कार की दृढ़ता के कारण इस (जन्म) में उसका फल मिलता है यहाँ वही (संस्कार) प्रयोजक है । फल और उसके सम्बन्ध आदि में कहीं भी यह उपादेय नहीं है—ऐसा अभी-अभी कहा गया है । इस प्रकार फलदान के लिए उन्मुख कर्म के लिए प्राचीन अनुसन्धान-संस्कार की दृढ़ता अवश्य रहती है । अन्यथा वैसा न होने से उसके उन्मुख कर्म की उस (फल के विषय) में दृढ़ता सम्भव नहीं होगी । इसलिए किसी उपाय से वह फलदान के लिए रोका भी जा सकता है । उसमें भीतरी प्रतिबन्ध आदि भी सम्भव है ॥ १२८ ॥

वह कहते हैं—

इसलिए (पहले) किया गया तथा फलपाक के प्रति अनुन्मुख कर्म, क्रिया, तपस्या अथवा ज्ञान से निरुद्ध कर दिया जाता है ॥ -१२९-१३०- ॥

इसलिए—कर्म की फलोन्मुखता में प्राचीन अनुसन्धान और संस्कार का अवश्य उपयोग होने के कारण । कर्म के द्वारा = क्रिया दीक्षा आदि के द्वारा । निरुद्ध किया जाता है—फलदान के अयोग्य कर दिया जाता है ॥ १२९ ॥

इसीलिए फल देने के लिए उन्मुख कर्म निरोध्य नहीं है—यह कहते हैं—

जो कर्म इस शरीर में कार्य का प्रारम्भ कर चुके हैं उसे कैसे उच्छिन्न किया जाय ? क्योंकि अन्तिम दशा को प्राप्त (कर्म) का निरोध सम्भव नहीं है ॥ -१३०-१३१- ॥

कथमुच्छिद्यतामिति—न कथंचिदपि उच्छेत्तुं शक्यम्—इत्यर्थः । अत्र हेतुः—आरब्धकार्यमिति । यद्धि यावत् कार्यमेवारब्धुं न प्रवृत्तं तावत्तदारम्भकत्वमेव अस्य अन्तरा केनचिदुपायेन प्रतिबध्यते, इति युक्तः तन्निरोधः, यत्पुनस्तदारब्धुमेव प्रवृत्तं तस्य प्रवृत्तत्वादेव किं निरुध्यते—इत्युक्तम्—अन्त्यदशं निरोद्धुं नहि शक्यते इति, यदभिप्रायेणैव

'..................प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।' इति,
'....................येनेदं तद्धि भोगतः ॥'

इत्यादि सर्वत्रोद्घोष्यते । सद्योनिर्वाणदीक्षादि पुनरासन्नमरणादेरेव भवेदिति तत्रापि दत्तप्रायफलत्वात् ततः पराङ्मुखमेव कर्म शोध्यमिति न कश्चिद्दोषः । तदुक्तम्—

'दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ॥' इति ॥ १३०॥

ननु देहारम्भकजात्यायुष्प्रदकर्म आरब्धकार्यत्वात् मा नाम निरोधि, यत् पुनरद्यतनं प्राक्तनं वा अस्मिन्नेव देहे दिनैर्मासैः संवत्सरैर्वा भोगमात्रलक्षणं कार्यमारप्स्यते तत् किं निरोद्धुं शक्यते न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

कैसे उच्छिन्न किया जाय अर्थात् किसी भी प्रकार से उसका उच्छेद सम्भव नहीं है इसमें कारण है—कार्य का प्रारम्भ । जो (कर्म) जब तक कार्य आरम्भ करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ तब तक उसकी आरम्भकता ही बीच में किसी उपाय से रोकी जा सकती है । इसलिए उसका निरोध तो ठीक है । किन्तु जो कर्म (फल रूपी कार्य का) आरम्भ करने के लिए प्रवृत्त हो गया उसके प्रवृत्त होने से फिर क्या रोका जाएगा—इसलिए कहा गया—अन्त्यदशा वाले का निरोध सम्भव नहीं है। इसी अभिप्राय से—

"प्रारब्ध कर्म का शोधन नहीं करना चाहिए ।"

"जिसके कारण यह (= शरीर आदि) है वह कर्म भोग से क्षीण होगा ।"

इत्यादि सर्वत्र घोषित किया जाता है । सद्योनिर्वाणदीक्षा आदि, जिनका मरण निकट है, उन्हीं की होती है इसलिए वहाँ भी प्रायः फलदान हो जाने से उससे पराङ्मुख कर्म का ही शोधन होना चाहिए इसलिए कोई दोष नहीं है वहीं कहा गया है—

"शिष्य को जराग्रस्त और व्याधि से पीड़ित देख कर (आचार्य उसका) उत्क्रमण कराकर पुनः इसको परतत्त्व में नियुक्त करे ॥ १३० ॥

प्रश्न—देह के आरम्भक तथा जन्म और आयु को देने वाले कर्म कार्यारम्भक होने के कारण निरुद्ध न हों किन्तु जो आज का या पहले का इसी शरीर में दिन

तत्रैव देहे यत्त्वन्यदद्यगं वा पुरातनम् ॥ १३१ ॥
कर्म तज्ज्ञानदीक्षाद्यैः शण्ढीकर्तुं प्रसह्यते ।

अन्यदिति—सद्य एव अनारब्धकार्यम् । शण्ढीकर्तुमिति—फलदानयोग्यताप-हस्तनेन ध्वंसयितुम्—इत्यर्थः । प्रसह्यते इति—न तु तथा क्रियते

'.....................प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।'

इति सामान्येनोक्तेः । एवं विशेषस्य चावचनात् । आदिशब्दात् मन्त्रौषधादि । तदुक्तम्—

'ये त्विहागन्तवः प्रोक्तास्ते प्रशाम्यन्ति भेषजैः ।
जपहोमप्रधानैश्च.................................... ॥' इति

रसायनादि पुनराब्धकार्यस्य आयुष्प्रदस्यैव कर्मणः सहायकं कुर्यात् येनैतच्चिरस्यानुपरतकार्यौन्मुख्यमास्ते यद्वशादवश्यंभाविनोऽपि कालमृत्योरभियुक्तानां किंचित्कालं प्रतिबन्धात्मा जयः स्यात् । तदुक्तम्—

'रसायनतपोजापयोगसिद्धैर्महात्मभिः ।

मास अथवा वर्ष के द्वारा भोगमात्र लक्षण वाला कर्म है उसका निरोध हो सकता है या नहीं ? यह शङ्का कर कहते हैं—

उसी शरीर में जो आज का या पहले का किया गया कर्म है वह ज्ञान दीक्षा आदि के द्वारा शक्तिहीन किया जा सकता है ॥ -१३१-१३२- ॥

दूसरा = तत्काल कार्य का आरम्भ न करने वाला । शक्तिहीन किया जा सकता है = फलदानयोग्यतानिवारण के द्वारा ध्वस्त किया जा सकता है । प्रसह्य (हठात् अपने आप) होता है—न कि वैसा किया जाता है । क्योंकि—

"प्रारब्ध कर्म का शोधन नहीं करना चाहिए ।"

ऐसी सामान्य उक्ति तो है किन्तु प्रारब्ध का शोधन करना चाहिये—ऐसा विशेष वचन नहीं है । आदि शब्द से मन्त्र औषधि आदि (का ग्रहण समझें) । वही कहा गया है—

"जो यहाँ आगन्तुक कहे गए हैं वे औषधि, जप, होम के द्वारा शान्त हो जाते हैं ।"

रसायन आदि कार्य के आरम्भक एवं आयु देने वाले ही कर्म की सहायता करते हैं जिससे व्यक्ति बहुत दिनों तक कार्य की ओर निरन्तर उन्मुख रहता है । जिस कारण अवश्यंभावी भी कालमृत्यु के अभियुक्त मनुष्य कुछ काल तक (मृत्यु के) प्रतिबन्ध रूप विजय को प्राप्त करते हैं । वही कहा गया है—

"रसायन तपस्या जप योग से सिद्ध महात्माओं प्राज्ञों आलस्यरहित लोगों के

कालमृत्युरपि प्राज्ञैर्जीयतेऽनलसैंजनैः ॥' इति

विषादि पुनः प्रयुज्यमानं क्षीणायुष्येव प्रतपति नान्यस्मिन् । परं तत्र दुष्कृतभाजः प्रयोक्तुरभिमानमात्रं 'मयेदं कृतम्' इति मन्यते इति । एवं चेदं देहकृतारम्भककर्मविषयतया भेषजादिसाध्येऽपि अर्थे यस्याः सामर्थ्यं न दृष्टं कस्तां प्रति अदृष्टेऽपि अर्थे समाश्वास इति किं दीक्षया इति न वाच्यम्, नहि भेषजादिभिर्नवं किञ्चित् क्रियते यदेतदनाश्वासाय पर्यवस्येत्, इत्यलमवान्तरेण ॥ १३१ ॥

ननु को नामास्य ध्वंसः ?—इत्याशङ्कयाह—

तथा संस्कारदार्ढ्यं हि फलाय दृढ़ता पुनः॥ १३२ ॥
यदा यदा विनश्येत कर्म ध्वस्तं तदा तदा ।

तथेति—प्राक्प्ररूढानुसन्धानानुसारेण—इत्यर्थः । एवं प्ररोहमुपागतो हि तत्संस्कारः फलनिमित्तमिह स्यात्—इत्युपपादितम् । यत्तु संस्कारस्यैव फलोपजननप्रयोजकं दार्ढ्यमपाक्रियते तदकार्यकारित्वात् उच्यते—कर्म ध्वस्तमिति निरुद्धमिति उच्छिन्नमिति शण्ढीकृतमिति च । यत्तद्भ्यां च नात्र कालनियमः कश्चिदित्युक्तम् । एवं मोहवशात् कृतमपि कर्म ज्ञानदीक्षादिना सर्वेषां विनापि

द्वारा कालमृत्यु भी जीत ली जाती है (फिर उनकी अकाल मृत्यु होने का तो सवाल ही नहीं उठता)।''

और विष आदि प्रयुक्त होकर क्षीण आयु वाले के विषय में ही सफल होते हैं दूसरे में नहीं । किन्तु उस विषय में पापी प्रयोक्ता का अभिमान मात्र ही 'मैंने यह किया हैं' माना जाता है । इस प्रकार इस शरीर के द्वारा आरम्भक कर्म के विषय के रूप में औषधि आदि से साध्य अर्थ के विषय में जिसका सामर्थ्य नहीं देखा गया उसके प्रति अदृष्ट अर्थ के विषय में क्या विश्वास; इसलिए दीक्षा से क्या लाभ ?—ऐसा नहीं कहना चाहिए । औषधि आदि नया कुछ नहीं करती जो कि अविश्वास के लिए हो । बस इतना ही विषयान्तर पर्याप्त है ॥ १३१ ॥

प्रश्न—इसका ध्वंस क्या है ?—यह शङ्का कर कहते है—

उस प्रकार संस्कार की दृढ़ता फल के लिये है जैसे-जैसे दृढ़ता नष्ट होती है वैसे-वैसे कर्म भी ध्वस्त होता है ॥ -१३२-१३३- ॥

उस प्रकार = पूर्वप्ररुढ़ अनुसन्धान के अनुसार । इस प्रकार प्ररोह को प्राप्त वह (या उसका) संस्कार इस जन्म में फल का कारण बनता है—यह कहा गया । और जो संस्कार की ही फलोपजननप्रयोजकदृढ़ता नष्ट कर दी जाती है तो वह कार्यकारी न होने से कहा जाता है कि—कर्म ध्वस्त हो गया, निरुद्ध हो गया, उच्छिन्न हो गया, निष्फल कर दिया गया । 'यत्' और 'तत्' शब्दों के द्वारा यह

भोगमक्रमेणैव विनाशमियादिति पिण्डार्थः ॥ १३२ ॥

तदाह—

अतो मोहपराधीनो यद्यप्यकृत किञ्चन ॥ १३३ ॥
तथापि ज्ञानकाले तत्सर्वमेव प्रदह्यते ।

किञ्चनेति—शुभमशुभं वा । ज्ञानकाल इति—संवित्साक्षात्कारक्षणे—इत्यर्थः ॥ १३३ ॥

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

उक्तं च श्रीपरेऽहानादानः सर्वदृगुल्वणः ॥ १३४ ॥
मुहूर्तान्निर्दहेत्सर्वं देहस्थमकृतं कृतम् ।

इह कश्चित् सर्वदृक्—सर्वमेव संविद्रूपतया जानानः, अत एव विगलितभेदत्वात् अहानादानः, अत एवोल्वणः—त्यक्तहेयोपादेयविभागः, क्षणादेव सर्वं दुष्कृतं सुकृतं च देहस्थं निर्दहेत्—ज्ञानाग्निसात् कुर्यात्—इत्यर्थः ॥ १३४ ॥

ननु यस्य सर्वमेव संविन्निष्ठं तस्य कथं कर्मापि देहस्थं संभवेत् ?—

कहा गया कि इस विषय में कोई काल का नियम नहीं है । इस प्रकार मोहवश किया गया भी कर्म ज्ञान दीक्षा आदि के द्वारा बिना सबके भोगक्रम के ही विनाश को प्राप्त हो जाता है—यह सङ्कलित अर्थ है ॥ १३२ ॥

वह कहते हैं—

इसलिए यद्यपि (कर्त्ता) मोह के अधीन होकर कुछ किया है तो भी ज्ञानकाल में वह सब जला दिया जाता है ॥ -१३३-१३४- ॥

किञ्चन = शुभ अथवा अशुभ । ज्ञानकाल में = संवित् के साक्षात्कार के क्षण में ॥ १३३ ॥

इसमें क्या प्रमाण है ? यह शङ्का कर कहते है—

परात्रींशिका में कहा गया है कि सर्वद्रष्टा, हानादानरहित (अत एव) उल्वण व्यक्ति शरीरस्थ समस्त कृताकृत को क्षणमात्र में भस्म कर देता है ॥ -१३४-१३५- ॥

इस (संसार) में कोई सर्वदृक् = सभी को संविद्रूप में जानता हुआ, इसलिए भेदशून्य होने के कारण त्याग और उपादान से रहित, इसलिए उल्वण = हेय और उपादेय विभाग का त्याग करने वाला, एक क्षण में देहस्थ समस्त सुकृत और दुष्कृत को जला देता है अर्थात् ज्ञानाग्निरूपी बना देता है ॥ १३४ ॥

प्रश्न—जिसके लिए सब कुछ संविद् में वर्त्तमान है उसके लिए कर्म भी कैसे

इत्याशङ्कां गर्भीकृत्य स्वयमेव देहस्थपदं व्याचष्टे—

देहस्थमिति देहेन सह तादात्म्यमाश्रिता ॥ १३५ ॥
स्वाच्छन्द्यात्संविदेवोक्ता तत्रस्थं कर्म दह्यते ।
देहैक्यवासनात्यागात् स च विश्वात्मतास्थितेः ॥ १३६ ॥
अकालकलिते व्यापिन्यभिन्ने या हि संस्क्रिया ।
सङ्कोच एव सानेन सोऽपि देहैकतामयः ॥ १३७ ॥

संविदेवेति—सर्वो हि भाववर्गः संवित्स्फार एवेति भावः । तत्रस्थमिति—देहावच्छिन्नसंविन्निष्ठम्—इत्यर्थः । कर्मणश्च इयान् दाहो यद्देहाहंभावसंस्कारगुणीभावो नाम इति, स च वैश्वात्म्यमाश्रितायां संविदि आत्माभिमानस्य मुख्यत्वात् भवेदित्युक्तम्—स च विश्वात्मतास्थितेरिति । नहि अद्वयैकपरमार्थे नित्ये व्यापके च संविद्रूपे कश्चिदतिरेकेण देहादिसंस्कारो न्याय्यः । स हि सङ्कोच एव सति स्यात्, सङ्कोचश्च देहाद्येकरूप एवेति युक्तमुक्तम्—सर्वमेव संविदैकात्म्येन जानतः कर्मदाहो भवेदिति, यदभिप्रायेणैव

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥'

देहस्थ हो सकता है ?—इस शङ्का को गर्भ में रखकर स्वयं देहस्थ पद की व्याख्या करते हैं—

देहस्थ इस पद से स्वातन्त्र्यवश देह के साथ तादात्म्य को प्राप्त संविद् ही कही गयी है । उसमें स्थित कर्म का दाह देह की (आत्मा के साथ) एकता की वासना के त्याग से किया जाता है । और वह विश्वात्मता की स्थिति के कारण होता है । अकालकलित व्यापी अभिन्न (संविद्) में जो (देहातिरिक्तता का) संस्कार है वह सङ्कोच के ही होने पर होता है । इससे वह (संस्कार) भी देहैकतामय होता है ॥ -१३५-१३७ ॥

संविद् ही—समस्त भावसमूह संविद् का स्फार ही है—यह तात्पर्य है । तत्रस्थ = देहावच्छिन्न संविद् में वर्त्तमान । कर्म का यही दाह है कि देह के प्रति अहंभाव संस्कार का गौण हो जाना और यह विश्वात्मता को प्राप्त होने वाली संविद् में आत्माभिमान के मुख्य होने के कारण होता है—अतः कहा गया—विश्वात्मता की स्थिति के कारण । अद्वय, एक, परमार्थ, नित्य और व्यापक संविद् रूप में कोई अतिरिक्त देह आदि का संस्कार उचित नहीं है । वह (= संस्कार) सङ्कोच होने पर ही होता है । और सङ्कोच देह आदि के एक रूप होने पर भी होता है । इसलिए ठीक कहा गया—सबको संविद् से अभिन्न जानने वाले का कर्म दग्ध हो जाता है। जिस उद्देश्य से गीता में कहा गया—

''जो करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो देते हो, और जो

इत्यादि गीतम् ॥ १३७ ॥

एतदुपसंहरन् अन्यदवतारयति—

एतत्कार्ममलं प्रोक्तं येन साकं लयाकला: ।
स्युर्गुहागहनान्त:स्था: सुप्ता एव सरीसृपा: ॥ १३८ ॥
तत: प्रबुद्धसंस्कारास्ते यथोचितभागिन: ।
ब्रह्मादिस्थावरान्तेऽस्मिन् संसरन्ति पुन:पुन: ॥ १३९ ॥

येनेति—कार्मेण मलेन । द्विमलबद्धा हि प्रलयाकला: । गुहागहनम्—मायागर्भ: । एतेनेयदन्तमेषां व्याप्तिरित्यपि सूचितम् । तत इति मायान्तरवस्थानानन्तरं सृष्टिप्रारम्भे—इत्यर्थ: । संस्कार:—कर्मवासनात्मा, तद्वैचित्र्यादेव चैषां यथोचितभागित्वमुक्तम्, संसरन्तीति—अर्थादघोरेशसंसृष्टा: । उक्तं च प्राक्—

'तद्दिनप्रक्षये विश्वं मायायां प्रविलीयते ।
क्षीणायां निशि तावत्यां गहनेश: सृजेत्पुन: ॥' इति ॥ १३९ ॥

नन्वेषामविशेषेण अध: संसरणमेव किं स्यात् उत ऊर्ध्वमपि ?—इत्याशङ्क्याह—

तपस्या करते हो, हे कौन्तेय! उसे मुझे अर्पित कर दो'' ॥ १३७ ॥ (भ०गी० ९.२७)

इसका उपसंहार करते हुए दूसरे (विषय का) प्रारम्भ करते हैं—

यह कार्ममल कहा गया है जिसके कारण प्रलयाकल (जीव) सोये हुए सरीसृप के समान गुहागहन में स्थित होकर पड़े रहते हैं । बाद में संस्कार के प्रबुद्ध होने पर वे अपने उचित (भोगों के) भागी बन कर ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त इस संसार में बार-बार आवागमन करते हैं ॥ १३८-१३९ ॥

जिसके कारण = कार्म मल के कारण । दो मलों (आणव और कार्म मलों) से युक्त प्रलयाकल । गुहागहन = मायागर्भ । इसके द्वारा यह भी बताया गया कि इनकी व्याप्ति यहीं तक है । उसके बाद = माया के अन्दर स्थिति के बाद सृष्टि के प्रारम्भ में संस्कारकर्म वासना, उसी की विचित्रता से ये यथोचित के भागी कहे गए हैं । संसरण करते हैं—अघोरेश से सृजित होकर । पहले कहा भी गया ह—

''उनके (= ब्रह्मा के) दिन का क्षय हो जाने के बाद विश्व माया में विलीन हो जाता है । उतनी निशा के समाप्त हो जाने पर गहनेश पुन: सृष्टि करते हैं'' ॥ १३९ ॥

प्रश्न—क्या इनका सामान्य रूप से नीचे ही संसरण होता है या ऊपर भी ? यह शङ्का कर कहते है—

ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।
भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥ १४० ॥
महान्तं ते तथान्तःस्थभावनापाकसौष्ठवात् ।
मन्त्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्राच्चित्रं च कर्मतः ॥ १४१ ॥

अप्राप्येति—तत्प्राप्तौ हि विज्ञानाकलत्वमेषां भवेत्—इति भावः । तथान्तः-स्थेति—कर्मसंस्कारहान्यनुसारेण दत्तवासनाः—इत्यर्थः, चित्रादिति—काकाक्षिन्यायेन भावनापरिपाकसौष्ठवस्य कर्मणश्च विशेषणत्वेन योज्यम् । अत एव मन्त्रत्वमपि साञ्जननिरञ्जनादिभेदात् चित्रमित्युक्तम् । कारणस्य वैचित्र्यात् कार्यमपि तथैव भवेदिति भावः । मन्त्राणां च प्रलयाकलोपादानत्वे न अन्यथा संभाव्यम् । यदाहुः—

'मन्त्राणां च प्रलयाकलानां सतामनुगृहीतानाम् ।' इति

श्रीपूर्वशास्त्रे च मन्त्रमहेश्वराणां विज्ञानाकला, मन्त्रेश्वराणां सकला उपादान-त्वेनोक्ता इति पारिशेष्यात् मन्त्राणां प्रलयाकलोपादानत्वं सिद्धम् ॥ १४१ ॥

इदानीं प्रकृतमेवोपसंहरति—

अस्य कार्ममलस्येयन्मायान्ताध्वविसारिणः ।

जो (जीव) कर्मसंस्कार के नाश के लिए भावनाओं का प्रारम्भ कर चुके हैं । किन्तु भावना की परिपक्वता को न प्राप्त होकर प्रलय को प्राप्त हो गये वे उस प्रकार की अन्तःस्थ भावना के परिपाक की सुष्ठुता के कारण विचित्र कर्म से विचित्र मन्त्रदशा को प्राप्त करते हैं ॥१४०-१४१॥

न प्राप्त होकर उसकी प्राप्ति होने पर ये विज्ञानाकल हो जायेंगे—यह तात्पर्य है । उस प्रकार के अन्तःरूप—कर्मसंस्कारों की हानि के अनुसार प्रदत्त वासना । चित्र से—काकाक्षि न्याय से (इस पद को) भावनापरिपाकसौष्ठव और कर्म (दोनों) का विशेषण समझना चाहिए । इसीलिए मन्त्रत्व भी साञ्जन और निरञ्जन आदि भेद से विचित्र कहा गया है । कारण की विचित्रता से कार्य भी वैसा ही होता है—यह तात्पर्य है । प्रलयाकल मन्त्रों के उपादान हैं इसविषय में अन्यथा नहीं समझना चाहिए । जैसा कि कहते हैं—

"मन्त्र और प्रलयाकल सज्जनों के अनुगृहीत"

मालिनीविजयतन्त्र में विज्ञानाकल, मन्त्रमहेश्वरों के तथा सकल मन्त्रेश्वरों के उपादान कहे गए हैं इस प्रकार परिशेष होने से प्रलयाकल मन्त्रों के उपादान सिद्ध होते हैं ॥ १४१ ॥

अब प्रस्तुत का ही उपसंहार करते हैं—

अज्ञानात्मक आणवमल को मायापर्यन्त इतने अध्वा तक फैलने वाले

प्रधानं कारणं प्रोक्तमज्ञानात्माणवो मलः ॥ १४२ ॥

प्रधानमिति—तत्तत्सामर्थ्यव्यञ्जकत्वात् । नहि एतत्सहकारित्वमन्तरेणास्य स्वकार्यप्रसवे किंचित्सामर्थ्यं भवेत्—इति भावः । यदुक्तम्—

'जन्माभिजनिका शक्तिः कर्मणो न मलं विना ।
अणुरज्ञानरहितः क्वचिज्जातो न दृश्यते ॥' इति ॥ १४२ ॥

ननु भवतु नामैतत्, यत्पुनरस्य

'ईश्वरेच्छावशक्षुब्धभोगलोलिका.............. ।'

इत्यादौ क्षुब्धत्वं प्राक्प्रस्तावितं तत् किमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

क्षोभोऽस्य लोलिकाख्यस्य सहकारितया स्फुटम् ।
तिष्ठासायोग्यतौन्मुख्यमीश्वरेच्छावशाच्च तत् ॥ १४३ ॥

सहकारितयेति—अर्थात्कार्मस्य मलस्य ॥ १४३ ॥

नन्वेतद्वस्तुसामर्थ्यादेव सिद्ध्येदित्यत्रेश्वरेच्छायाः किं प्रयोजनम् ?—इत्याशङ्क्याह—

इस कार्ममल का प्रधान कारण (मानना चाहिये) ॥ १४२ ॥

प्रधान—उस-उस सामर्थ्य का व्यज्जक होने के कारण । इसकी सहकारिता के बिना अपने कार्य को उत्पन्न करने में इस (कार्ममल) का रञ्चमात्र भी सामर्थ्य नहीं होगा । जैसा कि कहा गया है—

"कर्म की शक्ति मल के बिना जन्म की जनिका नहीं हो सकती । अज्ञानरहित अणु कहीं उत्पन्न दिखाई नहीं देता" ॥ १४२ ॥

प्रश्न—ऐसा हो किन्तु जो इसकी—

"ईश्वरेच्छावशात् अणु के क्षुब्ध होने पर भोग की लोलिका (= लोभ) उत्पन्न होती है............ ।"

इत्यादि में इसकी क्षुब्धता पहले कही गयी वह क्यों कही जाती है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

लोलिका नामक इस का क्षोभ स्पष्टतया कार्म मल के सहकारी के रूप में है । और वह तिष्ठासा योग्यता और औन्मुख्य ईश्वरेच्छा के कारण होते हैं ॥ १४३ ॥

सहकारी रूप में—अर्थात् कार्म मल के ॥ १४३ ॥

प्रश्न—यह तो वस्तु के सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाएगा इसमें ईश्वरेच्छा का क्या प्रयोजन ? यह शङ्का कर कहते है—

न जडश्चिदधिष्ठानं विना क्वापि क्षमो यत: ।

नन्वेवमीश्वर: स्वेच्छया व्यतिरिक्तानणून् प्रत्येव मलं नियञ्ज्यादिति इह भेदवाद एव परापतेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

अणवो नाम नैवान्यत्प्रकाशात्मा महेश्वर: ॥ १४४ ॥
चिदचिद्रूपताभासी पुद्गल: क्षेत्रवित्पशु: ।

नहि अणवो नाम प्रकाशात्मनो महेश्वरादन्यत् किञ्चित् यत् स एव स्वस्वातन्त्र्यात् स्वात्मनि चिदचिद्रूपतामवभासयन् 'पुथ हिंसासंक्लेशनयो:' इत्यस्य क्विपि कृते, पुथा—हिंसया परताबुद्ध्या क्लेशेन च, गलतीति पुद्गल:, कर्मबीजप्ररोहावहं क्षेत्रं शरीरमेवात्मत्वेन जानान: पाश्यत्वात् पशुरित्युच्यते—इत्यर्थ: । तदुक्तम्—

'......................शिव एव गृहीतपशुभाव: ।' इति ॥ १४४ ॥

नन्वेवं पशुभावग्रहणेऽस्य चिदचिद्रूपतावभासनेन किं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

चिद्रूपत्वाच्च स व्यापी निर्गुणो निष्क्रियस्तत: ॥ १४५ ॥

क्योंकि कहीं भी जड़ (पदार्थ या तत्त्व) चिदधिष्ठान के बिना (अपना कार्य करने में) समर्थ नहीं होता ॥ १४४- ॥

प्रश्न—इस प्रकार तो ईश्वर स्वेच्छा से अतिरिक्त अणुओं के ही प्रति मल को नियुक्त करेगा इस प्रकार भेदभाव आ जायेगा ? यह शङ्का कर कहते है—

अणुसमूह कोई दूसरी वस्तु नहीं है । प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ही चिदचिद्रूपता को आभासित करने वाला पुद्गल क्षेत्रज्ञ पशु होता है ॥ -१४४-१४५- ॥

अणुवर्ग प्रकाशरूप परमेश्वर से अतिरिक्त कुछ नहीं है वही (परमेश्वर) अपने स्वातन्त्र्यवश अपने में चिदचिद्रूपता को अवभासित करता, 'पुथ' धातु हिंसा और सङ्क्लेशन अर्थ में है' इससे क्विप् प्रत्यय करने पर पुथ (बनता है) । उस पुथ = हिंसापरता बुद्धि और क्लेश, के द्वारा जो गलता है वह पुद्गल है, ऐसा वह परमेश्वर कर्मबीज के प्ररोह का वहन करने वाले क्षेत्र = शरीर, को आत्मा समझता हुआ पाश्य होने के कारण पशु कहा जाता है । वही कहा गया है—

"शिव ही पशुभाव को स्वीकार करके" ॥ १४४ ॥

प्रश्न—इस प्रकार पशुभाव ग्रहण करने पर इसके चित्अचिद्रूपता के अवभासन से क्या होगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

चिद्रूप होने के कारण वह व्यापी, निर्गुण, निष्क्रिय, भोग के

भोगोपायेप्सुको नित्यो मूर्तिवन्ध्यः प्रभाष्यते ।
अचित्त्वादज्ञता भेदो भोग्याद्भोक्त्रन्तरादथ ॥ १४६ ॥

निर्गुण इति—सत्त्वादयो हि जडस्य प्रकृत्यादेरेव भवन्तीति भावः । अत एव तद्वृत्तयोऽप्यस्य न संभवन्तीत्युक्तं 'निष्क्रिय' इति । एवं च ततो निर्गुणत्वादेवेति व्याख्येयम् । भोगोपायेप्सुक इति—भोगस्योपायान् कारणादीन् आप्तुमिच्छति तदेकासक्त इति यावत् । मूर्तिवन्ध्य इत्यमूर्त इत्यर्थः, अज्ञतेति—जडे हि देहादावस्य आत्माभिमानः इति भावः । अतश्च जाड्यादेव निखिलविश्वक्रोडीकारप्रभवनशीलत्वाभावात् भेदप्रथात्मकमायीयमलगर्भीकृतत्वाच्च सर्वतो व्यावृत्त इत्युक्तं 'भोग्यात् भोक्त्रन्तराच्चास्य भेदः' इति । तदुक्तम्—

'अणवश्चिदचिद्रूपाः .... ।' इति

तथा

'पशुर्नित्यो ह्यमूर्तोऽज्ञो निर्गुणो निष्क्रियोऽप्रभुः ।
व्यापी मायोदरान्तःस्थो भोगोपायविचिन्तकः ॥' इति ॥ १४६ ॥

एवं तदनतिरेकेऽपि अतिरेकायमाणानामणूनाम् ईश्वरेच्छावशादेव मलः प्रबोधमियात्, येनैषां कर्मवैचित्र्यात् तत्तत्संसाराविर्भावो भवेत् । तदाह—

कारणों को चाहने वाला, नित्य और अमूर्त्त कहा जाता है । अचिद् होने के कारण अज्ञता (= जड़ता) तथा भोग्य और भोक्ता से इसका भेद होता है ॥ -१४५-१४६ ॥

निर्गुण = सत्त्व आदि जड़ प्रकृति आदि के ही (गुण) होते हैं—यह भाव है । इसलिए उसकी (= जड़ प्रकृति की) वृत्तियाँ भी इसकी (= पशु की) नहीं हो सकती । इसलिए कहा गया 'निष्क्रिय' । इसलिए 'निर्गुण होने के कारण ही' ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । भोगोपाय के लिए ईप्सुक = भोग के उपायों = कारण आदि, को पाना चाहता है = उसी में आसक्त है । मूर्तिबन्ध्य = अमूर्त्त । अज्ञता—जड़ देह आदि में इसका आत्माभिमान । इसलिए जड़ता के कारण ही समस्त विश्व को अपने अन्दर उत्पन्न करने के स्वभाववाला न होने से तथा भेदप्रथात्मक मायीयमल को अन्दर रखने के कारण सर्वतः व्यावृत्त । इसलिए कहा गया—भोग्य और भोक्त्रन्तर से इसका भेद है । वही कहा गया है—

"अणु चित् अचित् रूप है ।"

तथा

पशु नित्य, अमूर्त, अज्ञ, निर्गुण, निष्क्रिय, अप्रभु, व्यापक, माया के उदर में स्थित, भोगोपाय की चिन्ता करने वाला होता है" ॥ १४६ ॥

उससे अभिन्न होने पर भी भिन्न प्रतीत होने वाले अणुओं का मल ईश्वरेच्छा के

तेषामणूनां स मल ईश्वरेच्छावशाद्भृशम् ।
प्रबुध्यते.................................. ॥

न चैतत् युक्तिमात्रसिद्धमेव—इत्याह—

............तथा चोक्तं शास्त्रे श्रीपूर्वनामनि ॥ १४७ ॥

तदेव पठति—

ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा संप्रजायते ।
भोगेच्छोरुपकारार्थमाद्यो मन्त्रमहेश्वरः ॥ १४८ ॥
मायां विक्षोभ्य संसारं निर्मिमीते विचित्रकम् ।

तदुक्तं तत्र—

'ईश्वरेच्छा वशादस्य भोगेच्छा संप्रज्ञायते ।
'भोगसाधनसंसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
जगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभिः ॥' इति ॥ १४८ ॥

न च मायापि तदतिरिक्ता काचित्संभवति—इत्याह—

माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ॥ १४९ ॥

कारण ही प्रबुद्ध होता है जिससे कर्मवैचित्र्य के कारण इनके भिन्न-भिन्न संसार का आविर्भाव होता है वह कहते हैं—

"उन अणुओं का वह मल ईश्वरेच्छा के कारण बहुत अधिक प्रबुद्ध होता है" ॥ १४७ ॥

यह (बात) केवल युक्ति से ही सिद्ध नहीं है—यह कहते हैं—

श्रीपूर्व नामक शास्त्र (= मालिनीविजयतन्त्र) में कहा गया है ॥-१४७॥

उसी को पढ़ते हैं—

ईश्वर की इच्छा से इस (अणु) को भोग की इच्छा होती है । भोगेच्छु के उपकार के लिए सर्वप्रथम मन्त्रमहेश्वर माया को विक्षुब्ध कर विचित्र संसार का निर्माण करते हैं ॥ -१४८-१४९- ॥

वहीं वहाँ कहा गया है—

"ईश्वरेच्छा वश इसको भोग की इच्छा उत्पन्न होती है । इस भोगेच्छु के भोगसाधन की सिद्धि के लिए मन्त्रमहेश्वर ने शक्तियों के द्वारा माया में प्रवेश कर संसार को उत्पन्न किया" ॥ १४८ ॥ (मा.वि.तं. १.२४-२५)

माया भी उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है—यह कहते हैं—

उस देव का भेदावभास स्वातन्त्र्य ही माया नामक (उसकी) अभिन्न

भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः ।

यन्नाम हि निखिलजगदुल्लासनक्रीडाशालिनः परमेश्वरस्य भेदावभासने स्वातन्त्र्यं तदेवाव्यतिरेकिणी अपूर्णताप्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते । तथाहि तयैवायं भेदावभासः समुल्लासितः । अत एव कारणे कार्योपचारात्सैव भेदावभास इत्युच्यते ॥ १४९ ॥

तदाह—

आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ॥ १५० ॥
गर्भीकृतानन्तभाविविभासा(गा) सा परा निशा ।

इह हि बहिरुल्लिलसिषामात्रत्वेन आसूत्रितप्रायत्वात् विभागमप्राप्तोऽत एव आद्यो यो भेदावभासः सा परा निशा महती मायेत्यर्थः अत एव बहिर्मुखतायां भाविनो विभागस्य शिम्बिकाफलवत् अस्यां गर्भीकारोऽस्ति इत्युक्तम्—गर्भीकृतानन्तभाविविभागेति ॥

एवमस्याः शक्तिरूपतामभिधाय

'सा चैका व्यापिनी सूक्ष्मा निष्कला जगतो निधिः ।
अनाद्यन्ताशिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥'

शक्ति है । उसके द्वारा वह (भेदावभास) किया गया है ॥ -१४९-१५०-॥

समस्त संसार के उल्लास रूपी क्रीड़ा वाले परमेश्वर का भेदावभास करने में जो स्वातन्त्र्य वही अभिन्न, अपूर्णता के विस्तार से मीनाति = हिंसा करती है ('मीञ्' हिंसायाम्)—इसलिए माया शक्ति कही जाती है । इसलिए उसी के द्वारा यह भेदावभास विकसित किया गया है । इसलिए कारण में कार्य का उपचार होने से वही भेदावभास कहा जाता है ॥ १४९ ॥

वह कहते हैं—

जो प्रथम भेदावभास विभाग को प्राप्त नहीं हुआ वही अनन्त भावीविभाग को गर्भ में रखने वाली परनिशा है ॥ -१५०-१५१- ॥

बाहर उल्लिखित करने की इच्छा मात्र होने से प्रारम्भ होने के कारण विभाग को अप्राप्त, इसलिए प्रथम जो भेदावभास, वह परा निशा = महती माया है । बहिर्मुखता के विषय में भावी विभाग इसमें (= माया में) मटर की फली (में रहने वाले अत्यन्त छोटे दाने) की भाँति गर्भीकृत है । इसलिए कहा गया—गर्भीकृत—अनन्तभावी विभागवाली ॥ १५० ॥

इसकी शक्तिरूपता का कथन कर—

"वह एक, व्यापिनी, सूक्ष्मा, निष्कला, संसार की निधि, अनादि, अनन्ता,

इत्यागमार्थगर्भीकारेण तत्त्वरूपतामपि अभिधातुमाह—

सा जडा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडं यतः ॥ १५१ ॥
व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ॥ १५२ ॥

भेदरूपत्वादिति—अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत् 'इदमत्र इदानीं भाति' इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते इति, यदुक्तं प्राक्—

'परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम् ।'

ततश्च मीयते हेयतया परिच्छिद्यते योगिभिः इत्येवमस्या अभिधानम् । अत एवाशिवेत्युक्तम् । यदाहुः—

'..........................अशिवा भेदप्रथाप्रदा ।' इति

अजाड्ये च अस्याः कार्यमपि तथा स्यादित्युक्तम्—'कार्यं चास्या जडं यतः' इति कलादेर्मायाकार्यस्य अजाड्ये हि एकस्मिन्नेव देहे चेतनानेकत्वं पुरुषोपादानानर्थक्यं च प्रसज्येत् । विश्वहेतुत्वादिति—पुंभोगाय कार्यकरणात्मनो विश्वस्यानेक-

---

शिवा, ईशानी और अव्यया कही जाती है ।"

इस आगमार्थ को अन्दर रखकर तत्त्वरूपता का कथन करने के लिए कहते हैं—

भेदरूप होने के कारण वह जड़ है क्योंकि उसका कार्य जड़ है । विश्व का कारण होने से (वह) व्यापिनी है । कार्यमात्र की कल्पना के कारण वह सूक्ष्म है । शिव शक्ति के अविनाभाव नित्य सहभाव, के कारण (वह) नित्य एक तथा मूल कारण हैं ॥ -१५१-१५२ ॥

भेदरूप होने के कारण—यही जड़ का स्वभाव है कि 'यह यहाँ अब प्रकाशित हो रहा है'—इस रूप में परिच्छिन्न होकर प्रकाशित होता है । जैसा कि पहले कहा गया—

"परिच्छिन्न प्रकाशता ही जड़ का लक्षण है ।"

इससे मापित होती है = हेय के रूप में योगियों के द्वारा परिच्छिन्न की जाती है इसलिये 'माया' कही जाती है—ऐसा इसका निर्वचन है । इसलिए 'अशिवा' कहा गया है । जैसा कि कहते हैं—

"...............अशिवा भेद का विस्तार देने वाली है ।"

अजड़ होने पर इसका कार्य भी वैसा (= अजड़) होता है इसलिए कहा गया है—क्योंकि इसका कार्य भी जड़ है । माया के कार्य कला आदि के अजड़ होने पर एक ही शरीर में अनेक चेतन हो जायेंगे तथा पुरुष के उपादान की निरर्थकता

स्रोतोमुखेन कारणात्—इत्यर्थः, यदुक्तम्—

'व्यापिनी पुरुषानन्त्यभोगाय कुरुते यतः ।
सर्वकार्याणि सर्वत्र स्रोतोभिर्विश्वधामभिः ॥' इति

ततश्च सर्वत्र मातीति । सूक्ष्मा—सर्वजनावेद्येति यावत् । इयं हि अर्वाग्दर्शिभिः कार्यान्यथानुपपत्त्या परिकल्प्यते इति भावः । शिवशक्त्यविनाभावादिति—शिवस्तावन्नित्यः शक्तिश्च तदविनाभूतत्वात् तद्धर्मधर्मिणीत्युक्तम् 'नित्येति' । अत एवानाद्यन्तेति व्ययहीनेति चोक्तम् । ततश्च माशब्दवाच्याद्विनाशरूपान्निषेधात् यातेति । शिवश्च एक एव स्वतन्त्रः पदार्थः शक्तिश्चास्य आत्मभूता इति 'अभिन्नादभिन्नमभिन्नम्' इति न्यायात् सापि एकैवेत्युक्तम्—एकेति । अत एव निरंशत्वात् निष्कला इत्युक्तम् । शिवश्च शक्तिवशादेव अन्तरेवावस्थितमपि विश्वं बहिरवभासयेदित्युक्तम्—मूलकारणमिति, अत एव जगतो निधिरिति ईशानीति चोक्तम् । ततश्च मात्यस्यां विश्वमिति स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति इति च ॥ १५२ ॥

नन्वन्यैः प्रकृतेर्मूलकारणत्वमुक्तं तत्कथमिह मायाया एवमभिधानम् ?—

होने लगेगी । विश्व का कारण होने से = पुरुष के भोग के लिए कार्यकारणरूप विश्व की अनेक स्रोतों के द्वारा कारण होने से । जैसा कि कहा गया है—

"चूँकि व्यापिनी अनन्त पुरुषों के भोगों के लिए अनेक स्रोतों से सर्वत्र सब कार्यों को करती है ।"

इसलिए सर्वत्र मापन करती है । सूक्ष्मा = सब लोगों से अवेद्य । स्थूलदर्शी लोगों के द्वारा कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति से (इस माया की) कल्पना होती है । शिवशक्ति के अविनाभाव के कारण—शिव नित्य हैं और शक्ति उनकी नित्य सहभाविनी होने के कारण उनके धर्म वाली (= नित्य) है । इसलिए कहा गया—नित्या । इसीलिए अनादि अनन्त और व्ययहीन कही गयी है । इससे 'मा' शब्द के वाच्य विनाशरूप निषेध से (और 'या' प्रापणे धातु को मिलाकर) 'माया' होती है । शिव एक स्वतन्त्र पदार्थ है और शक्ति इनकी आत्मा है । इसलिए 'अभिन्न से अभिन्न अभिन्न होता है—इस न्याय से वह भी एक ही है—इसलिए कहा गया—'एक' । इसीलिए निरंश होने के कारण (इसे) निष्कला कहा गया । शिव शक्ति के द्वारा ही अन्तःस्थित विश्व को बाहर अवभासित करते हैं इसलिए कहा गया—मूलकारण । इसलिए 'संसार की निधि' 'ईशानी'—ऐसा कहा गया । इसीलिए शिव जिसमें विश्व = अपने से अभिन्न भावमण्डल, का मापन ('माङ्' माने) करते हैं या जिसके द्वारा हिंसा ('मीञ् हिंसायाम्') करते हैं = भेदपूर्वक व्यवस्था करते हैं, वह माया है ॥ १५२ ॥

प्रश्न—दूसरे लोग प्रकृति को मूल कारण कहते हैं तो यहाँ माया को ही ऐसा

इत्याशङ्क्याह—

अचेतनमनेकात्म सर्वं कार्यं यथा घटः ।
प्रधानं च तथा तस्मात् कार्यं नात्मा तु चेतनः ॥ १५३ ॥

अत्र पञ्चावयवं परार्थमनुमानं निर्दिष्टम् । तद्यथा—प्रधानं कार्यम्, अचैतन्ये सति अनेकत्वात् । यत् अचैतन्ये सत्यनेकं तत्सर्वं कार्यं, यथा घटः, यन्न कार्यं तदचैतन्ये सति अनेकं न भवति, यथात्मा, अचैतन्ये सत्यनेकं च प्रधानं, तस्मात् कार्यमिति । बहुशश्च एतद्वेदवादिभिरुपपादितम् इति इह ग्रन्थविस्तरभयात् न वितानितम् । यत् पतिताघातदानेन को नाम पौरुषोत्कर्ष इति । माया पुनर-चैतन्येऽपि एका इत्यस्याः कारणत्वमेव न कार्यत्वमपीति सिद्धम् । ततश्च कारणस्य पूर्वभावित्वात् सर्वत्र तत्त्वाद्यध्वोपदेशे प्रथममस्या एव निर्देशः ॥ १५३॥

तदाह—

अत एवाध्वनि प्रोक्ता पूर्वं माया द्विधा स्थिता ।

तस्याश्च तत्त्वग्रन्थिरूपतया द्विधावस्थानमित्युक्तम्—द्विधा स्थितेति । कारणस्य हि उच्छूनेन अनुच्छूनेन च रूपेण भाव्यम्—इति भावः ॥

कैसे कहा जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सब कार्य, अचेतन अनेकरूप हैं, जैसे घट । प्रधान भी वैसा है इसलिए (वह) भी कार्य है । चेतन आत्मा (वैसा कार्य) नहीं है ॥ १५३ ॥

इस श्लोक में पाँच अवयवों वाला परार्थानुमान निर्दिष्ट है; जैसे—प्रधान कार्य है, चेतन न होते हुए अनेक होने से, जो चेतन न होते हुए अनेक होता है वह सब कार्य होता है जैसे—घट जो कार्य नहीं है वह अचेतन होते हुए अनेक नहीं होता, जैसे आत्मा । प्रधान अचेतन होते हुए अनेक है, 'इसलिए कार्य है ।' वेदवादियों ने इसका अनेक बार उपपादन किया है इसलिए ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ विस्तार नहीं किया गया । गिरे हुए को चोट पहुँचाने में क्या उत्कर्ष है । माया जड़ होते हुए भी एक है इसलिए यह कारण ही है कार्य नहीं—यह सिद्ध है । इसलिए कारण के पूर्वभावी होने से सर्वत्र तत्त्वादि अध्वा के उपदेश में पहले इसी का निर्देश है ॥ १५३ ॥

वह कहते हैं—

इसीलिए पहले अध्वा में कही गई माया दो प्रकार से स्थित है ॥ १५४- ॥

तत्वग्रन्थिरूप होने के कारण उसकी दो प्रकार की स्थिति है इसलिए कहा गया—दो प्रकार से स्थित है । कारण उच्छून और अनुच्छून रूप से (दो प्रकार का) होता है—यह भाव है ॥

ननु समनन्तरमेवोक्तं यन्नाम माया देवस्याव्यभिचारिणी शक्तिरिति तत् कथमसौ भेदनिरूपिणं तत्त्वभावमियात् ? नन्वत्यल्पमिदमुच्यते यन्मायावत् पारमेश्वर्य एव शक्तय: कलादिरपि तत्त्वग्राम इति, यदभिप्रायेणैव

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं.........................।'

इत्याद्युद्घोष्यते, अत आह—

यथा च माया देवस्य शक्तिरभ्येति भेदिनम् ॥ १५४ ॥
तत्त्वभावं तथान्योऽपि कलादिस्तत्त्वविस्तर: ।

एतदेवोपपादयति—

निरुद्धशक्तेर्या किंचित्कर्तृतोद्वलनात्मिका॥ १५५ ॥
नाथस्य शक्ति: साधस्तात्पुंस: क्षेप्त्री कलोच्यते।

निरुद्धशक्तेरिति—स्वरूपस्य गोपितत्वात् । अधस्तादिति—प्राणादिप्रमातृतायाम् । कलाशब्दस्य च अत्र प्रवृत्तावध:प्रक्षेप एव निमित्तम् ॥ १५५ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति—

प्रश्न—अभी-अभी कहा गया कि माया परमेश्वर की अव्यभिचारिणी शक्ति है तो फिर यह भेदवाले तत्त्वभाव को कैसे प्राप्त होती है ।

यह तो बहुत कम कहा जा रहा है—माया की भाँति पारमेश्वरी शक्तियाँ कला आदि भी तत्त्वसमूह हैं । जिस अभिप्राय से

"इसकी शक्तियाँ पूरा संसार है.............. ।"

इत्यादि कहा जाता है । इसलिए कहते हैं—

जिस प्रकार परमेश्वर की शक्ति माया भेदवाले तत्त्वभाव को प्राप्त होती है उसी प्रकार अन्य कला आदि तत्त्वसमूह भी (तत्त्वभाव को प्राप्त होते हैं) ॥ -१५४-१५५- ॥

उसी को बतलाते हैं—

निरुद्धशक्ति वाले परमेश्वर की जो किञ्चित्कर्त्तृता की उपोद्वलनात्मिका शक्ति है वही नीचे स्तर पर पुरुष का विक्षेप करने वाली कला कही जाती है ॥ -१५५-१५६- ॥

निरुद्ध शक्तिवाले—स्वरूप का गोपन होने के कारण । नीचे = प्राण आदि प्रमाता की स्थिति में । यहाँ कलाशब्द की प्रवृत्ति में अध:प्रक्षेप ही कारण है ॥ १५५ ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

एवं विद्यादयोऽप्येते धरान्ताः परमार्थतः॥ १५६ ॥
शिवशक्तिमया एव प्रोक्तन्यायानुसारतः ।

प्रोक्तन्यायानुसारत इति—प्रोक्तं न्यायमनुसृत्य—इत्यर्थः । तेन यथा नाथस्य किञ्चित्कर्तृतोद्वलनात्मिका शक्तिः कलोच्यते, तथा किञ्चिद्वेदनात्मिका शक्तिर्विद्येत्यादि ॥ १५६ ॥

नन्वेवं कलादेस्तत्त्वग्रामस्य शिवशक्तिमयत्वमेव यद्यस्ति तत्तर्हि कस्य माया कारणं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

तथापि यत्पृथग्भानं कलादेरीश्वरेच्छया ॥ १५७ ॥
ततो जडत्वे कार्यत्वे पृथक्तत्त्वस्थितौ ध्रुवम् ।
उपादानं स्मृता माया क्वचित्तत्कार्यमेव च ॥ १५८ ॥

तथापीति—शिवशक्तिमयतायामपि—इत्यर्थः । ततः ईश्वरेच्छाकृतात् पृथग्भानात्, तेन कलादेर्भेदरूपत्वात् जडत्वं ततः कार्यत्वं ततोऽपि पृथक्त्वेनावस्थानमिति, ततश्चात्र मायायाः कारणत्वं युक्तमित्युक्तम्—'उपादानं स्मृता माया' इति । क्वचिदित्यव्यक्तादौ, तत्कार्यमिति—कलादि ॥ १५८ ॥

ननु पृथग्भानं नाम भागासिद्धो हेतुः, नहि पक्षीकृतस्य पृथिव्यादेरिव

इस प्रकार उक्त न्याय के अनुसार विद्या से लेकर पृथिवीपर्यन्त ये (सब पदार्थ) परमार्थतः शिवशक्तिमय ही हैं ॥ -१५६-१५७- ॥

उक्त न्याय के अनुसार = उक्त न्याय का अनुसरण करके । इसलिए जिस प्रकार परमेश्वर की किञ्चित्कर्त्तृता का उद्वलन करने वाली शक्ति कला कहीं जाती है उसी प्रकार किञ्चिद्वेदनात्मिका शक्ति विद्या (कही जाती है) ॥ १५६ ॥

प्रश्न—यदि कला आदि तत्त्वसमूह शिवशक्तिमय ही हैं तो माया किसका कारण बनती है ?—यह शङ्का कर कहते है—

वैसा होने पर भी ईश्वर की इच्छा से कला आदि का जो अलग आभास होता है इस कारण (उनके) जड़, कार्य एवं पृथक् तत्त्व की स्थिति में निश्चित रूप से माया उपादान (कारण) कही गयी है और कहीं उसका कार्य ही (उपादान कहा गया है) ॥ -१५७-१५८ ॥

तो भी = शिवशक्तिमय होने पर भी । इससे = ईश्वरेच्छाकृत पृथक् भान के कारण । इससे कला आदि के भेदरूप होने के कारण जड़ता और इस कारण कार्यता और इससे पृथक् रूप से स्थिति है । इसलिए यहाँ माया का कारण होना उचित है—यह कहा गया—'माया उपादान कही गयी है । कहीं = अव्यक्त आदि के विषय में । उसका कार्य = कला आदि ॥ १५८ ॥

कलादेरपि अर्वाग्दर्शिनः प्रति तदस्ति—इत्याशङ्क्याह—

तथावभासचित्रं च रूपमन्योन्यवर्जितम् ।
यद्भाति किल सङ्कल्पे तदस्ति घटवद्बहिः ॥ १५९ ॥

यत् किल तथा पृथगवभासेन चित्रं—जडत्वकार्यत्वादिना नानात्मकम् अत एव परस्परापोढं रूपं स्वतन्त्रविकल्पादाववभासते तद्घटवद् बहिरस्ति । 'नहि भातमभातं भवति' इति न्यायात् वस्तुसदेवेत्यर्थः । तेनायमत्र प्रयोगः—तन्मात्रादि तत्त्वजातं बहिरस्ति, सङ्कल्पादौ पृथग्भानात्, यत्सङ्कल्पादौ पृथग्भवति (भाति) तत् बहिरस्ति, यथा घटादि, यन्न बहिरस्ति तन्न पृथग्भाति, यथा परमात्मा, पृथग्भाति च तन्मात्रादि तत्त्वजातम्, तस्माद् बहिरस्ति इति । परमात्मनश्च 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इत्यादौ पृथगवभासः स्थितोऽपि विद्युदुद्द्योतवत् न प्ररोहमुपगच्छेत्,

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं...................... ।'

इत्यादिन्यायेन मूलभूतानवच्छिन्नाहंविमर्शमयत्वस्य तिरोभावाभावात् । यद्वा 'विशेषा अभिधेयाः, प्रमेयत्वात्, सामान्यवत्' इति न्यायेन केवलान्वय्येवायम्, न चात्र अस्तितायां साध्यायां

प्रश्न—पृथक् भान भागासिद्ध हेतु है (एक पक्ष में हेतु का समीचीन होना और दूसरे पक्ष में असमीचीन होना भागासिद्ध हेतु कहलाता है)। पक्षरूप में स्वीकृत पृथिवी आदि की भाँति कला आदि भी स्थूल बुद्धि वालों के लिए वह (= जड़ आदि) नहीं है?—यह शङ्का कर कहते है—

जो उस प्रकार के अवभास से विचित्र और अन्योऽन्यरहित रूप सङ्कल्प में आभासित होता है वह घट के समान बाहर है ॥ १५९ ॥

जो तथा = पृथक् अवभास से, विचित्र = जड़त्व कार्यत्व आदि के कारण नानारूप, इसलिए स्वतन्त्र विकल्प आदि में परस्पर भिन्नरूप से अवभासित होता है वह घट के समान बाहर है । 'भात अभात नहीं होता' इस न्याय से वस्तु सत् ही है । इसलिए यहाँ यह प्रयोग है—तन्मात्र आदि तत्त्वसमूह बाह्य हैं, सङ्कल्प आदि में पृथक् भान होने से । जो सङ्कल्प आदि में पृथक् (प्रतीत) होता है वह बाह्य होता है जैसे घट आदि । जो बाहर नहीं होता वह पृथक् आभासित नहीं होता, जैसे परमात्मा । तन्मात्र आदि तत्त्वसमूह पृथक् आभासित होता है, इसलिए बाह्य है। 'यह आत्मा एक बार प्रकाशित है' इत्यादि में परमात्मा का पृथक् अवभास सिद्ध होने पर भी (वह) विद्युत प्रकाश की तरह उत्पन्न नहीं होता । क्योंकि—

"स्वातन्त्र्य के कारण मुक्त अपने को................।"

इत्यादि न्याय से मूलभूत अनवच्छिन्न अहंविमर्शमयता का तिरोभाव नहीं होता ।

अथवा—विशेष, अभिधेय हैं, प्रमेय होने से, सामान्य के समान—इस न्याय से

'नासिद्धे भावधर्मोऽस्ति व्यभिचार्युभयाश्रयः ।
धर्मो विरुद्धो भावस्य सा सत्ता साध्यते कथम् ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या भावाभावोभयधर्मस्य हेतोः असिद्धविरुद्धानैकान्तिकताया-महेतुत्वमिति वाच्यम्—बहिष्ट्वनिष्ठायाः सत्तायाः साधनात् ॥ १५९ ॥

ननु खपुष्पादेः सङ्कल्पादौ पृथग्भानेऽपि नहि बहिरस्तिता, इत्यनैकान्तिकोऽयं हेतुः ?—इत्याशङ्क्याह—

खपुष्पाद्यस्तितां ब्रूमस्ततो न व्यभिचारिता ।

तत इति—खपुष्पादेरपि बहिरस्तित्वात् ॥

ननु विरुद्धमिदमभिधानं खपुष्पादिनास्तितायाः सर्वप्रमातृसाक्षिकत्वात्, नैतत्—इत्याह—

खपुष्पं कालदिङ्मातृसापेक्षं नास्तिशब्दतः ॥ १६० ॥
धरादिवत्................................।

नास्तीति काकाक्षिवद्योज्यम् । तेनायमत्र प्रयोगः—खुपष्पादि कालदिङ्-मातृसापेक्षनास्तित्वं नास्तिशब्दप्रयोगविषयत्वात् । यन्नास्तिशब्दप्रयोगविषयः तत्

यह केवलान्वयी ही है । अस्तिता के साध्य होने पर

"असिद्ध के विषय में व्यभिचारी उभयाश्रय भावधर्म नहीं होता । जहाँ भाव का धर्म विरुद्ध है वह सत्ता कैसे सिद्ध की जा सकती है ।"

इत्यादि उक्त युक्ति से भावाभावउभय धर्म वाला हेतु असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिकता में कारण नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बहिष्ट्व में रहने वाली सत्ता साधन है ॥ १५९ ॥

प्रश्न—आकाशकुसुम आदि का सङ्कल्प आदि में पृथक् भान होने पर भी बाह्य अस्तित्व नहीं है इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक है ? यह शङ्का कर कहते है—

(हम) आकाशकुसुम आदि के अस्तित्व का स्वीकार करते हैं इसलिए व्यभिचार नहीं है ॥ १६०- ॥

इस कारण—खपुष्प आदि के भी बाह्य अस्तित्व के कारण ॥

प्रश्न—यह कथन तो विरुद्ध है क्योंकि खपुष्प आदि की नास्तिता का साक्षात्कार सब प्रमाताओं को होता है ? ऐसा नहीं है—यह कहते हैं—

खपुष्प काल दिशा एवं प्रमाता का सापेक्ष (नहीं है) क्योंकि 'नास्ति' शब्द (का प्रयोग) है, पृथिवी आदि के समान ॥ -१६०-१६१- ॥

'नास्ति' पद को काकाक्षि के समान दोनों तरफ जोड़ना चाहिए । इसलिए

कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वम्, यथा धरादि, यन्न कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वं तन्न नास्तिशब्दप्रयोगविषयः, यथा संवित्, नास्तिशब्दप्रयोगविषयश्च खपुष्पादि, तस्मात् कालदिङ्मातृसापेक्षनास्तित्वमिति । यत् पुनरिदमिदानीम् इह न वेद्मि इत्यादि संविदि कालाद्यपेक्षया नास्तित्वं व्यवह्रियते तद्वेद्योपाधिनिबन्धनमित्युक्तं बहुशः ॥ १६० ॥

ननु यद्येवं तत् कृतमत्यन्ताभावव्यवहारेण ?—इत्याशङ्क्याह—

...........तथात्यन्ताभावोऽप्येवं विविच्यताम् ।

एवमिति खपुष्पादिनास्तित्ववत्, तेनायमत्र प्रयोगः—अत्यन्ताभावः कालदिङ्मातृसापेक्षो, नास्तिशब्दविषयत्वात्, यन्नास्तिशब्दविषयः तत् कालदिङ्मातृसापेक्षम्, यथा प्रागभावादि, यन्न कालदिङ्मातृसापेक्षं तत् न नास्तिशब्दविषयः, यथा संवित्, नास्तिशब्दविषयश्च अत्यन्ताभावः, तस्मात् कालदिङ्मातृसापेक्ष इति ॥

एवं तन्मात्रादावुपपादिते तत्त्वजाते प्रसङ्गात् देहभुवनाद्यपि उपपादयति—

यहाँ यह प्रयोग (= अनुमान) है—खपुष्प आदि कालदिङ्मातृसापेक्ष की नास्तिता वाला है, 'नास्ति' शब्द के प्रयोग का विषय होने से । जो 'नास्ति' शब्द के प्रयोग का विषय है वह कालदिङ्मातृसापेक्ष नास्तिता वाला है, जैसे पृथिवी आदि । जो कालदिङ्मातृसापेक्ष नास्तिता वाला नहीं है वह 'नास्ति' शब्द के प्रयोग का विषय नहीं है, जैसे संवित् । खपुष्प आदि 'नास्ति' शब्द के प्रयोग का विषय हैं इसलिए (यह) कालदिङ्मातृसापेक्ष नास्तिता वाला है । (मैं) जो इस समय यहाँ इसको नहीं जानता इत्यादि संविद् में काल आदि की अपेक्षा से नास्तिता का व्यवहार किया जाता है वह वेद्य की उपाधि के कारण है—यह बहुत बार कहा जा चुका है ॥ १६० ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो अत्यन्ताभाव का व्यवहार ही नहीं रहेगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

तो अत्यन्ताभाव को भी इस प्रकार का समझिये ॥ -१६१- ॥

इस प्रकार = खपुष्प आदि की नास्तिता के समान । इसलिए यहाँ यह प्रयोग है—अत्यन्ताभाव, कालदिङ्मातृ की अपेक्षा वाला है, नास्ति शब्द का विषय होने से । जो नास्ति शब्द का विषय है वह कालदिङ्मातृ की अपेक्षा वाला होता है, जैसे प्रागभाव आदि । जो कालदिङ्मातृसापेक्ष नहीं है वह 'नास्ति' शब्द का विषय नहीं है, जैसे संविद् । अत्यन्ताभाव 'नास्ति' शब्द का विषय है इसलिए कालदिङ्मातृसापेक्ष है ॥

तन्मात्र आदि तत्त्वसमूह के उपपादित होने पर प्रसङ्गवश देह भुवन आदि को

यत्सङ्कल्प्यं तथा तस्य बहिर्देहोऽस्ति चेतनः ॥ १६१ ॥
चैत्रवत्सौशिवान्तं तत् सर्वं तादृशदेहवत् ।
यस्य देहो यथा तस्य तज्जातीयं पुरं बहिः ॥ १६२ ॥
अतः सुशिवपर्यन्ता सिद्धा भुवनपद्धतिः ।

सङ्कल्प्यमित्यागमतः, तथेति—देहित्वेन, चेतन इति—चेतनाधिष्ठितः, तादृशदेहवदिति—चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तमित्यर्थः । यथेति—शुद्धाशुद्धादिरूपः, तज्जातीयमिति—तदनुरूपमित्यर्थः । इदं चात्र प्रयोगद्वयम्—सौशिवान्तं तत्त्वजातं चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तम्, तथा चैत्रादि, यन्न चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तं तन्न प्रमाणमूलतया सङ्कल्पविषयः यथा घटादि, प्रमाणमूलतया सङ्कल्पविषयश्च सौशिवान्तं तत्त्वजातम्, तस्मात् चेतनाधिष्ठितबाह्यदेहयुक्तमिति । सुशिवान्ता देहिनोऽनुरूपविशिष्टभुवनयोगिनो, देहित्वात्, यो देही सोऽनुरूपविशिष्टभुवनयोगी, यथा पृथिवीगतः पार्थिवदेहः चैत्रादिः, यो नानुरूपविशिष्टभुवनयोगी स न देही, यथा परः शिवः, देहिनश्च सुशिवान्ताः तस्मादनुरूपविशिष्टभुवनयोगिन इति ॥ १६२ ॥

नन्वेवमणूनां प्रतिनियतभुवनभोगित्वमेव सिद्धं तत्सर्वेषामेवाणूनां सर्व एवा-

---

भी बतलाते हैं—

जो सङ्कल्प का विषय है उसका उस प्रकार चेतन शरीर भी है जैसे कि चैत्र का । सदाशिव पर्यन्त सब उस प्रकार के शरीर वाला है । जिसका जैसा देह है उसका उसी प्रकार का बाहरी पुर भी है । इसलिए सदाशिव पर्यन्त भुवन की पद्धति सिद्ध है ॥ -१६१-१६३- ॥

सङ्कल्प का विषय = आगम से । तथा = देही होने के कारण ।

चेतन = चेतन के द्वारा अधिष्ठित । उस प्रकार के शरीर वाला = चेतनाधिष्ठित बाह्यदेह से युक्त । जैसा = शुद्ध-अशुद्ध आदि रूप ।

तज्जातीय = उसके अनुरूप । यहाँ ये दो अनुमान बनते हैं— (१) सदाशिवपर्यन्त तत्त्वसमूह चेतनाधिष्ठित बाह्यशरीर से युक्त है, प्रमाणमूलक होने के कारण सङ्कल्प का विषय होने से, जैसे चैत्र आदि । जो चेतनाधिष्ठित बाह्य शरीर से युक्त नहीं है वह प्रमाणमूल के रूप में सङ्कल्प का विषय नहीं है, जैसे घट आदि । सदाशिवपर्यन्त तत्त्वसमूह प्रमाणमूलरूप में सङ्कल्प का विषय है, इसलिए चेतनाधिष्ठित बाह्यदेह से युक्त है । (२) सदाशिवपर्यन्त देही स्वानुरूप विशिष्टभुवन वाले हैं; शरीरी होने से, जो देही होता है वह स्वानुरूपविशिष भुवन वाला होता जैसे पृथिवीगत पार्थिव देह वाला चैत्र आदि । जो अनुरूपविशिष्ट भुवन वाला नहीं होता वह शरीरी नहीं होता, जैसे परमशिव । इसलिए सुशिवपर्यन्त देही अनुरूप विशिष्ट भुवन वाले हैं ॥ १६२ ॥

विशेषेण भोग्यत्वादध्वा बन्धक इति विरुद्ध्येत ?—इत्याशङ्क्याह—

आत्मनां तत्पुरं प्राप्यं देशत्वादन्यदेशवत् ॥ १६३ ॥
आत्मनामध्वभोक्तृत्वं ततोऽयत्नेन सिद्ध्यति ।

तत्पुरमिति—तत्तत्तत्त्वगतं निखिलम्—इत्यर्थः, प्राप्यमिति—भोग्यत्वयोग्यत्वात्, अयत्नेनेति—प्रमाणान्तरानपेक्षित्वेनेत्यर्थः । अयं चात्र प्रयोगः—तत्तद्भुवनजातमणूनां भोग्यं देशत्वात्, यो देशः सोऽणूनां भोग्यः, यथा ग्रामादि, योऽणूनां न भोग्यः स न देशः, यथा द्वितीयोऽणुः, तत्तद्भुवनजातं च देशः तस्मादणूनां भोग्यम् इति ॥ १६३ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवानुसरति—

सा माया क्षोभमापन्ना विश्वं सूते समन्ततः ॥ १६४ ॥
दण्डाहतेवामलकी फलानि किल यद्यपि ।
तथापि तु तथा चित्रपौर्वापर्यविभासनात् ॥ १६५ ॥
मायाकार्येऽपि तत्त्वौघे कार्यकारणता मिथः ।

यद्यपि सा माया क्षुब्धा सती अक्रमेण विश्वं सूते तथा प्रतिशास्त्रं

प्रश्न—अणुओं की प्रतिनियत भुवनभोगिता ही सिद्ध है तो सभी अणुओं का सामान्य रूप से भोग्य होने के कारण सभी अध्वा बन्धनकारक होता है—यह विरुद्ध हो जाएगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

वह पुर आत्माओं का प्राप्य है, देश होने के कारण, अन्य देश के समान । इस (अनुमान) से आत्माओं की अध्वभोक्तृता बिना प्रयास के सिद्ध हो जाती है ॥ -१६३-१६४- ॥

वह पुर = तत्तत् तत्त्व में वर्तमान । प्राप्य—भोग्यता के योग्य होने के कारण । बिना प्रयत्न के = दूसरे प्रमाणों की अपेक्षा न करके । यहाँ यह अनुमान (किया जा सकता) है—भिन्न-भिन्न भुवनसमूह अणुओं का भोग्य है, देश होने के कारण । जो देश होता है वह अणुओं का भोग्य होता है, जैसे ग्राम आदि । जो अणुओं का भोग्य नहीं होता वह देश नहीं होता जैसे दूसरा अणु । भिन्न-भिन्न भुवनसमूह देश है इसलिए अणुओं का भोग्य है ॥ १६३ ॥

प्रसङ्गवश इसका कथन कर प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

यद्यपि वह माया डण्डे से पीटे गये आमलकी के वृक्ष की भाँति फलों को सब ओर से (नीचे गिरा) देती है तो भी उस प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भेद का कथन होने से विचित्र पौर्वापर्य के अवभासन से माया के कार्यभूत तत्त्वसमूह में आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध हो जाता है ॥ -१६४-१६६- ॥

भेदाभिधानात् तेन तेन प्रकारेण चित्रस्य पौर्वापर्यस्यावभासनात् कलादावपि तत्त्वौघे कार्यकारणता भवेत्—इति वाक्यार्थः । किलेत्यागमे । यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे—

'मायातत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभु तथाऽव्ययम् ।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः ॥
हेलादण्डाहतायास्तु बदर्या वा फलानि तु ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्तात्तु निर्गच्छन्ति समन्ततः ॥'
(स्वच्छ० ११।६०) इति ।

न केवलं माया कारणं कलादिक्षित्यन्तं विश्वं च कार्यं यावत् तत्कार्ये कलादावपि एवंरूपत्वम्—इत्यपिशब्दार्थः । तच्चैषां पारस्परिकमित्युक्तं 'मिथः' इति । तेन यदेव कार्यं तदेव कारणं यदेव कारणं तदेव कार्यमिति । यथा मायापेक्षया कला कार्यं विद्यापेक्षया च कारणमिति ॥ १६५ ॥

ननु प्रतिशास्त्रं यदि तात्त्वीयस्य कार्यकारणभावस्य भेदेनाभिधानं तत् तर्हि कतरस्येहोपदेशः—इत्याशङ्क्याह—

सा यद्यप्यन्यशास्त्रेषु बहुधा दृश्यते स्फुटम् ॥ १६६ ॥
तथापि मालिनीशास्त्रदृशा तां संप्रचक्ष्महे ।

यद्यपि वह माया क्षुब्ध होकर बिना क्रम के विश्व को उत्पन्न करती है (तो भी) प्रति शास्त्र में भेद के कथन से उस-उस प्रकार से विचित्र पौर्वापर्य के अवभासन से कला आदि तत्त्वसमूह में कार्यकारणसम्बन्ध होता है—यह वाक्यार्थ है । जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

"माया तत्त्व संसार का बीज नित्य विभु तथा अव्यय है । भगवान् अनन्तनाथ आत्मवर्ग को उसमें स्थित कर एक साथ (उसको) क्षुब्ध करते हैं । लक्ष्यहीन दण्ड से पीटी गई बेर के फल सर्वत्र ऊपर नीचे बगल में एक साथ गिरते हैं ।" (स्व०त० ११।६०)

न केवल माया कारण है और कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त विश्व कार्य, बल्कि उसके कार्य कला आदि के विषय में भी यही बात है—यह 'अपि' शब्द का अर्थ है । इनका यह (कार्यकारण सम्बन्ध) पारस्परिक है—इसलिए कहा गया 'मिथः' । इसलिए जो कार्य है वही कारण है, जो कारण है वही कार्य है । जैसे कला माया की अपेक्षा कार्य और विद्या की अपेक्षा कारण है ॥ १६५ ॥

प्रश्न—यदि प्रतिशास्त्र तात्त्विक कार्यकारण भाव का भेदपूर्वक कथन है तो यहाँ किस शास्त्र के अनुसार उपदेश है ? यह शङ्का कर कहते है—

यद्यपि वह (= कार्यकारण भाव) अन्य शास्त्रों में अनेक प्रकार से स्फुट देखा जाता है तो भी (यहाँ) मालिनीशास्त्र की दृष्टि से उसे हम कह

सेति—कार्यकारणता ॥ १६६ ॥

नन्वाचैतन्येऽपि मायाया एकत्वात् कार्यत्वं पराकृत्य कारणत्वमेवोक्तम् । एवं कलादीनामपि वाच्यम्, आचैतन्ये सति एकत्वाविशेषात् । तत्र आचैतन्यं 'परमतमप्रतिषिद्धम् अनुमतमेव'—इति भङ्ग्याभिधायैकत्वं प्रतिक्षेप्तुमनेकत्वमुपपादयति—

कलादिवसुधान्तं यन्मायान्तः संप्रचक्षते ॥ १६७ ॥
प्रत्यात्मभिन्नमेवैतत् सुखदुःखादिभेदतः ।

संप्रचक्षते इत्यग्रे ॥ १६७ ॥

ननु कलादीनां स्वरूपाभेदेऽपि सुखदुःखादिभेदे किं हीयेत ?—इत्याशङ्क्याह—

एकस्यामेव जगति भोगसाधनसंहतौ ॥ १६८ ॥
सुखादीनां समं व्यक्तेर्भोगभेदः कुतो भवेत् ।

जगतीति—जनिमरणधर्मिणि अनपवर्गे—इत्यर्थः । भोगसाधनसंहताविति-कलादिक्षित्यन्तायाम् । सममिति—युगपत्साधारणतयेति यावत् । इह कारणभेदात्

रहे हैं ॥ -१६६-१६७- ॥

वह = कार्यकारणता ॥ १६६ ॥

प्रश्न—आचैतन्य (= अचेतन का भाव) होने पर भी माया के एक होने से कार्यत्व को छोड़कर (उसकी) कारणता ही कही गयी है । उसी प्रकार कला आदि की भी कही जानी चाहिए क्योंकि उनमें भी अचैतन्य और एकत्व समान है । उसमें दूसरे के मत में अप्रतिषिद्ध अनुमत ही होता है' इस प्रकार प्रकारान्तर से अचैतन्य का कथन कर एकत्व को आक्षिप्त करने के लिए अनेकत्व की सिद्धि करते हैं—

कला से लेकर पृथिवी तक जिसे (लोग) माया के भीतर (स्थित) कहते हैं वह सुख दुःख आदि के भेद से प्रत्येक आत्मा में भिन्न है ॥ -१६७-१६८- ॥

कहेंगे—आगे ॥ १६७ ॥

प्रश्न—कला आदि का स्वरूपतः अभेद होने पर भी सुख दुःख आदि के कारण भेद होने पर क्या हानि हो जायगी ?—यह शङ्का कर कहते है—

एक ही संसार में भोगसाधनसमूह में सुख आदि की तुल्य अभिव्यक्ति होने से भोगभेद कैसे होगा ? ॥ -१६८-१६९- ॥

संसार में = जनन मरण धर्म वाले मोक्षरहित संसार में—यह अर्थ है ।

कार्यभेदः इति तावदविवादः । तच्च प्रत्यात्मं कलादिवसुधान्तं भोगसाधनम् चेदभिन्नं तत् कुतस्त्योऽयं सुखादिभोगस्य भेदः इति ॥ १६८ ॥

नन्वसौ कर्मभेदाद्भविष्यति, सुखादीनां कर्म निमित्तम्, तच्च प्रत्यात्मभिन्नम् ?—इत्याशङ्क्याह—

न चासौ कर्मभेदेन तस्यैवानुपपत्तितः ॥ १६९ ॥

तस्यैवेति—कर्मभेदस्य । एवं हि आत्मनां भेदेऽपि कलादिक्षित्यन्ता भोगसंहतिरेकैव—इत्युक्तम् । तच्चानादित्वात् संसारस्य युगपदेव सा सर्वैरात्मभिः संबद्धा—इत्यर्थसिद्धम् । सा च तथा संबद्धा सती सममेव सर्वैरात्मभिः कर्मणि प्रयुज्यते—इत्यविशेषेण सर्वान् प्रति कर्माददाना कथं कर्मभेदं विदध्यात्; ततश्चात्मनां भेदेऽपि न कर्मणो भेदः—इति तत् कार्यतोऽपि सुखादीनां भेदो नास्ति ॥ १६९ ॥

एवं कलादिक्षित्यन्ता भोगसाधनसंहतिः प्रत्यात्मभिन्नैव येन सुखदुःखादिभेदो भवेत्, तदाह—

तस्मात् कलादिको वर्गो भिन्न एव कदाचन ।

भोगसाधन समूह—कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त । तुल्य = एक साथ सामान्य रूप में । कारण के भेद से कार्य का भेद होता है—इसमें सबका एक मत है । यदि कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त वह भोगसाधन अभिन्न है तो यह सुख आदि भोग का भेद कहाँ से होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥ १६८ ॥

प्रश्न—यह कर्म के भेद से होगा । कर्म सुख आदि का कारण है और वह प्रत्येक आत्मा में भिन्न है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह (= भोगभेद) कर्मभेद से नहीं है क्योंकि उसी (= कर्मभेद) की सिद्धि नहीं है ॥ -१६९ ॥

उसी की = कर्म भेद ही की । इस प्रकार आत्माओं के भिन्न होने पर भी कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त भोगसमूह एक ही है—यह कहा गया । संसार के अनादि होने से वह (= भोगसंहति) सब आत्माओं के साथ एक साथ सम्बद्ध है—यह अर्थात् सिद्ध हो गया । और वह उस प्रकार सम्बद्ध होकर सब आत्माओं के द्वारा कर्म के विषय में एक साथ प्रयोग में लायी जाती है—इसलिए सबके प्रति समान रूप से कर्म का ग्रहण करती हुई कर्मभेद कैसे करेगी । इसलिए आत्माओं के भिन्न होने पर भी कर्म का भेद नहीं हैं । इसलिए कार्य से भी सुख आदि का भेद नहीं है ॥ १६९ ॥

इस प्रकार कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त भोगसाधन समूह प्रत्येक आत्मा में भिन्न ही है जिससे सुख दुःख आदि का भेद होता है । वह कहते हैं—

ऐक्यमेतीश्वरेच्छातो नृत्तगीतादिवादने ॥ १७० ॥

यत् भोगकारिका:

'वसुधादिकलाप्रान्ता भोगसाधनसंहति: ।
नियता प्रति भोक्तारं परिज्ञेया मनीषिभि: ॥
अन्यथा हि सुखादीनां दृष्टो भेदो न युज्यते ।
योक्ष्यते कर्मणो भेदान्न भेदे यदि योक्ष्यते ॥
संबद्धा युगपत् सा तु कुर्वती कर्म कर्तृभि: ।
कथं भिन्नानि कर्माणि कर्तृभेदात् करिष्यति ॥' इति

अयं चात्र प्रयोग:—कलादितत्त्वजातं प्रत्यात्मभिन्नं सुखदु:खादिभेदित्वात्, यत् सुखद:खादिभेदि तत् प्रत्यात्मभिन्नं यथा देहादि, यन्न प्रत्यात्मभिन्नं तन्न सुखदु:खादिभेदि यथा माया, सुखदु:खादिभेदि च कलादितत्त्वजातं तस्मात्प्रत्यात्म-भिन्नमिति ॥

नन्वेवमात्मभेदात् कलादीनामपि भेद:—इत्युक्तम्, इह च आत्मभेद एव न तात्त्विक:—इति कथमेषामपि असौ स्यात्—इति चेत् ?—बाढमित्याह—'कदाचन ऐक्यमेतीश्वरेच्छातो नृत्तगीतादिवादने' । ऐक्यमेतीति तावत्यंशे भेद-

---

इसलिए कला आदि वर्ग भिन्न ही है । नृत्त गीत वादन आदि में कभी वह ईश्वरेच्छावश एक हो जाता है ॥ १७० ॥

जैसी कि भोगकारिकायें हैं—

"पृथिवी से लेकर कलापर्यन्त भोगसाधनसंहति मनीषियों के द्वारा प्रति भोक्ता निश्चित समझी जानी चाहिए । अन्यथा सुख आदि का दिखलायी देने वाला भेद सङ्गत नहीं होगा । कर्म का भेद होने पर (वह भेद) युक्त हो जायगा । भेद होने पर यदि युक्त नहीं होगा तो कर्म करती हुई वह कर्त्ताओं से एक साथ सम्बद्ध होकर कर्त्ता के भेद के कारण भिन्न कर्मों को कैसे करेगी ।"

यहाँ यह प्रयोग (= अनुमान) है—कला आदि तत्त्वसमूह प्रत्येक आत्मा में भिन्न है, सुख दु:ख आदि भेद से युक्त होने के कारण । जो सुख दु:ख आदि भेद वाला है वह प्रत्येक आत्मा में भिन्न है, जैसे देह आदि । जो प्रत्यात्म भिन्न नहीं है वह सुख दु:ख आदि भेद वाला नहीं है जैसे माया । कला आदि तत्त्वसमूह सुख दु:ख आदि भेद वाला है, इसलिए वह प्रत्येक आत्मा में भिन्न है ।

प्रश्न—इस प्रकार आत्मा के भेद से कला आदि का भी भेद होगा—यह कहा गया । और यहाँ आत्मभेद ही यथार्थ नहीं है फिर इनका भी यह (= भेद) कैसे होगा ? यदि (आप) ऐसा (कहते) हैं तो ठीक है—यह कहते हैं—'कभी नृत्त गीत वादन आदि में वह ईश्वर की इच्छा से एक हो जाता है ।' 'एक हो जाता है'—

विगलनात्; यद्यपि सर्वेषां प्रमातॄणां प्रमेयानां च एकचित्तत्त्वमयत्वमेव सतत्त्वं तथापि मायाशक्तिसमुल्लासितोऽयं दृढनिरूढो भेदावभासो वर्तते तत्रापि तु प्रतिप्रसवभङ्ग्या क्वचिदंशे सृष्टमेषामैक्यं चकास्ति, सर्वत्रैवं किं न स्यात्— इत्युक्तम्—'ईश्वरेच्छातः' इति ॥ १७० ॥

अत एव शिवाद्वयमयत्वादेषां शुद्धत्वमपि संभवेत्—इत्याह—

एषां कलादितत्त्वानां सर्वेषामपि भाविनाम्।
शुद्धत्वमस्ति तेषां ये शक्तिपातपवित्रिताः ॥ १७१ ॥

भाविनामिति—वक्ष्यमाणत्वात् कलादीनाम् । शुद्धत्वं कस्यास्ति ? इत्युक्तं तेषामिति । ते च के ?—इत्युक्तम्—'ये शक्तिपातपवित्रिताः' इति ॥ १७१ ॥

ननु कलादीनां भोगसाधनत्वाविशेषात् शुद्ध्यशुद्ध्योः को भेदः ?— इत्याशङ्क्याह—

कला हि शुद्धा तत्तादृक् कर्मत्वं संप्रसूयते।
मितमप्याशु येनास्मात् संसारादेष मुच्यते ॥ १७२ ॥

तादृगिति—परमेश्वरार्चनध्यानादिविषयम् ॥ १७२ ॥

इतने अंश में भेद के नष्ट हो जाने से । यद्यपि सब प्रमाताओं और प्रमेयों का एक चित्तत्त्वमय होना ही यथार्थता है तो भी यह दृढनिरुढ़ भेदावभास माया की शक्ति से समुल्लासित है । उसमें भी प्रतिप्रसव भङ्गी (= एक उत्पन्न होता है तो उसका उल्टा दूसरा भी उत्पन्न होगा—इस नियम) से सृष्ट इनका ऐक्य किसी अंश में प्रकाशित होता है सर्वत्र ऐसा (= प्रकाशित) क्यों नहीं होता—इसके उत्तर में कहा गया—ईश्वरेच्छा से ॥ १७० ॥

इसलिए शिवाद्वयमय होने से इनकी शुद्धता भी सम्भव है—यह कहते हैं—

इन सभी भावी कला आदि तत्त्वों में से जो शक्तिपात के कारण पवित्र कर दिए गए हैं, उनकी शुद्धता है ॥ १७१ ॥

भावी—कला आदि के आगे कहे जाने के कारण । शुद्धता किसकी है? इसके उत्तर में कहा गया—उनकी । वे कौन है—इसलिए कहा गया—जो शक्तिपात के द्वारा पवित्र किए जा चुके हैं ॥ १७१ ॥

प्रश्न—कला आदि तत्त्वों की भोगसाधनता समान होने से शुद्धि अशुद्धि में क्या अन्तर है ?—यह शङ्का कर कहते है—

शुद्ध कला ऐसा कर्म उत्पन्न करती है कि सीमित भी उस (कर्म) के द्वारा यह (जीव) संसार से मुक्त हो जाता है ॥ १७२ ॥

उस प्रकार का = परमेश्वर का अर्चन ध्यान आदि विषय वाला (कर्म)॥१७२॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति—

रागविद्याकालयतिप्रकृत्यक्षार्थसञ्चयः ।
इत्थं शुद्ध इति प्रोच्य गुरुर्मानस्तुतौ विभुः ॥ १७३ ॥

इत्थमिति—कलावत् । तेन रागो भगवत्येवाभिष्वङ्गं संप्रसूयते, विद्यापि तद्विषयमेव विवेकम्, कालश्च तदुपदेशादिविषयमेव कलनम्, नियतिश्च तदाराधनादावेव नियमनम्, एवमन्यत् स्वयमभ्यूह्यम् । न चैतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—इतीत्यादि । 'गुरुः' श्रीविद्याधिपतिः 'मानस्तुतौ' प्रमाणस्तोत्रे ॥ १७३ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

एवमेषा कलादीनामुत्पत्तिः प्रविविच्यते ।

तदाह—

मायातत्त्वात् कला जाता किञ्चित्कर्तृत्वलक्षणा ॥ १७४ ॥

तदुक्तम्—

'असूत सा कलातत्त्वं यद्योगादभवत् पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो............................... ॥' (मा० १।२७)

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

राग विद्या काल नियति प्रकृति इन्द्रिय और विषय का समूह इसी प्रकार शुद्ध कहा जाना चाहिए—ऐसा व्यापक गुरु ने मानस्तुति (ग्रन्थ) में कहता है ॥ १७३ ॥

इस प्रकार = कला की भाँति । इससे राग भगवान् में भक्ति उत्पन्न करता है। विद्या उन्हीं के विषय में विवेक कराती है । काल उनके उपदेश आदि विषय की कलना (= रचना) करता है । नियति उनकी आराधना आदि में ही नियमन करती है । इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए । यह हमारा उपज्ञ (= अपने मन से कथन) नहीं है—यह कहते हैं—इति.......... । गुरु = विद्याधिपति नामक गुरु । मानस्तुति में = प्रमाणस्तोत्र नामक ग्रन्थ में ॥ १७३ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

इस प्रकार यह कला आदि की उत्पत्ति कही जाती है ॥ १७४- ॥

वह कहते हैं—

माया तत्त्व से किञ्चित्कर्तृत्वलक्षण वाली कला उत्पन्न हुई ॥-१७४॥

उस माया ने कला तत्व को उत्पन्न किया जिसके सम्बन्ध से कर्तृत्व सामर्थ्ययुक्त पुरुष उत्पन्न हुआ ॥ (मा. १।२७)

नन्वात्मा स्वत एव ज्ञाता कर्ता चेत्युक्तं तदस्य कलया किंचित्कर्तृत्वं जन्यते इति किमेतत् ?—इत्याशङ्क्याह—

माया हि चिन्मयाद् भेदं शिवाद्विदधती पशोः ।
सुषुप्ततामिवाधत्ते तत एव ह्यदृक्क्रियः ॥ १७५ ॥

चिन्मयात् शिवाद्भेदं विदधतीति स्वरूपं गोपयन्तीत्यर्थः । अत एवास्या चिन्मयत्वात् मूर्छितप्रायतामाविष्कुर्यादित्युक्तम्—'सुषुप्ततामिवाधत्ते' इति । तत एवेति सुषुप्तताधानात् । 'अदृक्क्रियः' इति तिरोहितपूर्णज्ञानक्रियः—इत्यर्थः ॥ १७५ ॥

नन्वेवं जडमेव जगत् स्यात् तदपि वा न स्यात्, दृक्शक्तितिरोभावेन तथात्वाप्रथनात् ?—तदेतदाशङ्क्याह—

कला हि किंचित्कर्तृत्वं सूते स्वालिङ्गनादणोः ।
तस्याश्चाप्यणुनान्योन्यं ह्यञ्जने सा प्रसूयते ॥ १७६ ॥

नन्वणोः कलालिङ्गनमस्तु, अन्यथा ह्यस्य किंचित्कर्तृत्वं नोदियात्,

---

प्रश्न—आत्मा स्वतः ही ज्ञाता कर्त्ता है—ऐसा कहा गया है । तो कला के द्वारा इस (आत्मा) का किञ्चित्कर्त्तृत्व उत्पन्न किया जाता है—यह क्या है ? यह शङ्का कर कहते है—

चिन्मय शिव से पशु का भेद करती हुई माया मानो सुषुप्ति का आधान करती है । इसीलिये पुरुष संकुचित् ज्ञान क्रिया वाला हो जाता है ॥ १७५ ॥

चिन्मय शिव से भेद करती हुई = स्वरूप को छिपाती हुई । इसीलिए इस (= पशु) के अचिन्मय होने से मूर्च्छितप्रायता को प्रकट करती है—यह कहा गया—सुषुप्तता जैसी आधान करती है । इसी कारण = सुषुप्तता के आधान के कारण । अदृक्क्रिया वाला = तिरोहितपूर्णज्ञानक्रिया वाला ॥ १७५ ॥

प्रश्न—तो इस प्रकार संसार या तो जड़ ही हो जायगा या वह भी नहीं होगा । क्योंकि ज्ञान शक्ति के छिप जाने के कारण उस प्रकार का प्रसार नहीं होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कला अपने से आलिङ्गन के द्वारा अणु में किञ्चित्कर्त्तृत्व को उत्पन्न करती है । और अणु के द्वारा उसके भी (आलिङ्गन से जगत् की उत्पत्ति होती है) । इस प्रकार एक दूसरे के संश्लेष से वह (माया) प्रसव करती है ॥ १७६ ॥

प्रश्न—अणु का कला से आलिङ्गन होना तो ठीक है, नहीं तो इसमें

अण्वालिङ्गनेन पुनरस्याः कोऽर्थः—इत्याशङ्क्योक्तम्—अन्योन्यमित्यादि । 'अञ्जनं संश्लेषः ॥ १७६ ॥

एतदेव निदर्शनद्वारेणोपपादयति—

सद्योनिर्वाणदीक्षोत्थपुंविश्लेषे हि सा सती ।
शिलष्यन्त्यपि च नो सूते तथापि स्वफलं क्वचित् ॥ १७७ ॥

यतः सा कला संश्लिष्यन्त्यपि सती सद्योनिर्वाणदीक्षायां कलात ऊर्ध्वं नियोजनात् पुंसि विश्लेषिते तथापि दीक्षान्तरवत् संस्कारमात्रेणापि क्वचिदपि अणौ किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मकं स्वफलं 'नो सूते' न जनयति—इत्यर्थः ॥ १७७ ॥

ननु कला स्वशक्त्यैव कार्यं जनयेदिति किमस्याः पुंश्लेषेण?—इत्याशङ्कां निदर्शनदृशा उपशमयति—

उच्छूनतेव प्रथमा सूक्ष्माङ्कुरकलेव च ।
बीजस्याम्ब्वग्निमृत्कम्बुतुषयोगात् प्रसूतिकृत् ॥ १७८ ॥

यथा बीजस्य प्रथमावस्थात्मिकोच्छूनता, तदनु सूक्ष्मो वाङ्कुरांशो जलादि-

---

किञ्चित्कर्त्तृत्व का उदय नहीं होगा । किन्तु अणु से कला के आलिङ्गन से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहा गया—अन्योऽन्यम् । अञ्जन = संश्लेष ॥ १७६ ॥

इसी को उदाहरण के द्वारा सिद्ध करते हैं—

सद्योनिर्वाण दीक्षा से उत्पन्न पुरुष का विश्लेष होने पर वह (= कला) आलिङ्गनबद्ध रहते हुए भी अपना फल कहीं भी उत्पन्न नहीं करती ॥ १७७ ॥

चूँकि वह कला संश्लेषयुक्त रहते हुए भी सद्योनिर्वाण दीक्षा होने पर कला से ऊपर नियोजन होने के कारण पुरुष के अलग होने पर उसके लिये निष्क्रिय हो जाती है । तथापि = दीक्षान्तर के समान संस्कारमात्र से भी किसी भी अणु में किञ्चित्कर्त्तृत्व आदि रूप फल को नहीं उत्पन्न करती ॥ १७७ ॥

प्रश्न—कला अपनी शक्ति से ही कार्य को उत्पन्न कर देगी इसका पुरुष के साथ संश्लेष से क्या लाभ ?—इस शङ्का को उदाहरण के द्वारा शान्त करते हैं—

(जैसे) जल तेज पृथिवी कम्बु (= सीपी) या तुष (= भूसी) के योग से बीज का योग होने से पहली उच्छूनता फिर सूक्ष्म अङ्कुरकला (उत्पन्न होती है उसी प्रकार पुरुष के योग से माया भी) प्रसव करने वाली होती है ॥ १७८ ॥

जैसे बीज की पहली अवस्था वाली उच्छूनता उसके बाद सूक्ष्म अँकुरांश जल

योगादेव स्वकार्यं कुर्यात्, तथा मायाकार्यं कलादि पुंयोग एवेति युक्तमुक्तम्-'पुंविश्लेषे कला स्वं फलं च संप्रसूयते' इति । अग्नीति—तेजोमात्रमत्र विवक्षितम् ॥ १७८ ॥

ननु तन्तुसंयोगजनिते पटे यथैकोऽपि तन्तुरनुपादानम् न स्यात्, तथा

'तद्वन्मायाणुसंयोगाद्व्यज्यते चेतना कला ।' (मतङ्ग ९।१५)

इत्याद्युक्त्या मायाणुसंयोगजायाः कलाया मायोपादानकारणं न त्वणुरिति कथं निश्चिनुमः ?—इत्याशङ्क्याह—

कला मायाणुसंयोगजाप्येषा निर्विकारकम् ।
नाणुं कुर्यादुपादानं किन्तु मायां विकारिणीम् ॥ १७९ ॥

नाणुमुपादानं कुर्यादिति—अणुरस्या उपादानकारणं न भवेत्—इत्यर्थः । अत्र हेतुः—निर्विकारकमिति । उपादानकारणं हि स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन वर्तते, यथा घटादौ मृत् नैवमस्याः, तस्य चिदेकरूपतया नित्यत्वात् । अतश्चो-भयसंयोगजत्वेऽपि अस्या मायैवोपादानकारणमित्युक्तम्—'किन्तुमायां विकारिणीम्' इति, तत्तद्वृत्तिपरिणामभेदभिन्नाम्—इत्यर्थः ॥ १७९ ॥

आदि के योग से ही अपना कार्य करता है उसी प्रकार माया का कार्य कला आदि पुरुष का योग होने पर ही (होता है) इसलिए ठीक कहा गया—पुरुष का विशिष्ट योग होने पर कला अपना फल उत्पन्न करती है । अग्नि = यहाँ तेजमात्र विवक्षित है ॥ १७८ ॥

प्रश्न—जैसे तन्तुसंयोग से उत्पन्न पट के विषय में एक भी तन्तु अनुपादान नही होता । उसी प्रकार—

"उसी प्रकार माया एवं अणु के संयोग से चेतन कला व्यक्त होती है ।"

इत्यादि उक्ति से माया एवं अणु के संयोग से उत्पन्न होने वाली कला का उपादान कारण माया है न कि अणु इसका निश्चय (हम) कैसे करें ? यह शङ्का कर कहते हैं—

माया एवं अणु के संयोग से उत्पन्न भी यह कला निर्विकार अणु की नहीं किन्तु विकार वाली माया को उपादान बनाती है ॥ १७९ ॥

अणु को उपादान नहीं बनाती = अणु इसका उपादान कारण नहीं बनता । इसमें कारण है—निर्विकार होना । उपादान कारण अपने रूप में विकार को प्राप्त कर कार्य का अनुगामी बनता है, जैसे घट आदि के विषय में मिट्टी । इसकी स्थिति वैसा नहीं है क्योंकि चिदेकरूप होने के कारण यह नित्य है । इसलिए दोनों के संयोग से उत्पन्न होने पर भी इस (कला) का माया ही उपादान कारण है—इसलिए कहा गया—किन्तु विकार वाली उन-उन वृत्तियों के परिणाम के भेद से

ननु मा भूत् कलाया निर्विकारत्वादणुरुपादानकारणम्, मायैवेति तु कुतोऽयं नियमः; संयुक्तानां हि मलमायाकर्मणां संसारकारणत्वमित्युक्तम्?—तदेतदाशङ्क्याह—

मलश्चावारको माया भावोपादानकारणम् ।
कर्म स्यात् सहकार्येव सुखदुःखोद्भवं प्रति ॥ १८० ॥

एषां हि समानेऽपि संसारकारणत्वे प्रतिनियतकार्यकारित्वं, यन्मलस्य ज्ञानक्रियावरणमेव कार्यम्; अतश्चैतावतैव उपक्षीणसामर्थ्योऽयं कथमिव किंचित्कर्तृत्वोत्तेजनामयीं तद्विरुद्धां कलामपि जनयेत् । सुखादीनां च वैषयिकत्वेन सत्त्वादिगुणमयस्त्रक्चन्दनाद्युपादानकानां सहकारितयैव कर्म निमित्तम्; अतश्च पारिशेष्यात् कलादिक्षित्यन्तानां भावानामुपादानकारणं माया—इति विभागः ॥ १८० ॥

एवमावारकतया मलेन संच्छन्नचैतन्यस्य अणोः किञ्चिज्ज्ञत्वकर्तृत्वसमुद्बलननिमित्तेन केनचिद्भाव्यं तच्च न तावत् कर्म, तस्य भोगोत्पत्तावेव परिदृष्टशक्तित्वात्—अतश्च पारिशेष्यात् कलैवेत्याह—

भिन्न माया को ॥ १७९ ॥

निर्विकार होने के कारण अणु कला का उपादान कारण मत हो किन्तु माया ही (उपादान है) यह नियम कहाँ से (आया) क्योंकि मल माया एवं कर्म (तीनों) संयुक्त रूप से संसार का कारण है—यह कहा गया है । तो यह शङ्का कर कहते हैं—

मल सुखदुःख की उत्पत्ति के प्रति आवरण करने वाला है । माया पदार्थों का उपादान कारण है और कर्म सहकारी कारण है ॥ १८० ॥

इनके समानरूप से संसार का कारण होने पर भी (ये) निश्चित कार्य को करने वाले हैं । जैसे—मल का कार्य ज्ञान और क्रिया का आवरण ही है । अतः इतने से ही उपक्षीणसामर्थ्य वाला वह (= मल) किञ्चित्कर्तृत्व की उत्तेजनामयी उससे विरुद्ध कला को भी कैसे उत्पन्न करेगा ? कर्म सुख आदि के विषय होने के कारण सत्त्व आदि गुण वाले माला चन्दन आदि उपादानों का सहकारी के रूप में कारण है । इसलिए परिशेष होने के कारण माया (ही) कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का उपादान कारण है—ऐसा विभाग है ॥ १८० ॥

इस प्रकार आवारक होने के कारण मल से आवृत चैतन्य वाले अणु के किञ्चिज्ज्ञत्व किञ्चित्कर्तृत्व के समुद्बलन का कोई न कोई निमित्त होना चाहिए । कर्म वह (निमित्त) होगा नहीं क्योंकि उसकी शक्ति भोग की उत्पत्ति में ही देखी जाती है । इसलिए परिशेषात् कला ही (निमित्त) होगी—यह कहते हैं—

अतः संच्छन्नचैतन्यसमुद्बलनकार्यकृत् ।
कलैवानन्तनाथस्य शक्त्या संप्रेरिता जडा ॥ १८१ ॥

'चैतन्यम्' इति चितिक्रियाकर्तृत्वम्—इत्यर्थः । ननु जडा च कला चैतन्यं चोपोद्बलयतीति विप्रतिषिद्धमेतत् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'अनन्तनाथस्य शक्त्या संप्रेरिता' इति ॥ १८१ ॥

ननु यद्येवं तदीशशक्तिरेव एतत् समुद्बलयतु, किं कलया ?—इत्याशङ्क्याह—

न चेशशक्तिरेवास्य चैतन्यं बलयिष्यति ।
तदुपोद्बलितं तद्धि न किंचित्कर्तृतां व्रजेत् ॥ १८२ ॥

एकेन तच्छब्देन ईशशक्तिः परामृष्टा, अन्येन चैतन्यम् । इह यदि नाम मुक्ताणूनामिव बद्धाणूनामपि परमेश्वरः कलादिनिरपेक्षतया स्वशक्त्यैव कर्तृत्वादि उपोद्बलयेत् तत् सर्वदा सर्वत्र च स्यादित्युक्तम्—'न किञ्चित्कर्तृतां व्रजेत्' इति । यदाहुः—

'पाशं विना न शंभुर्व्यञ्जयति यतो न सर्वविषयं तत् ।
न च विगताञ्जनसङ्गं मुक्ताणुगकर्तृशक्तिमिव ॥'

इति ॥ १८२ ॥

इसलिए अनन्तनाथ की शक्ति से संप्रेरित जड़ कला ही (मल से) आवृत चैतन्य के समुद्बलन रूप कार्य को करने वाली है ॥ १८१ ॥

चैतन्य = चिति क्रिया का कर्तृत्व । प्रश्न—जड़ कला चैतन्य को प्रेरित करती है यह तो विरुद्ध (कथन) है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—अनन्तनाथ की शक्ति से प्रेरित ॥ १८१ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो परमेश्वर की शक्ति ही प्रेरणा करे कला से क्या काम ?—यह शङ्का कर कहते है—

परमेश्वर की शक्ति इस (अणु) के चैतन्य को प्रेरित नहीं कर सकती क्योंकि उससे प्रेरित होने पर वह किञ्चित्कर्तृत्व वाला नहीं होगा ॥१८२॥

एक 'तत्' शब्द से ईश्वर की शक्ति को समझा गया है दूसरे से चैतन्य को । यदि परमेश्वर मुक्त अणुओं की भाँति बद्ध अणुओं के भी कर्तृत्व आदि को कला आदि की अपेक्षा न रखकर अपनी शक्ति से ही प्रेरित करता तो (यह कर्तृत्व आदि) सर्वदा और सर्वत्र होता । इसलिए कहा गया—'न किञ्चित्कर्तृतां व्रजेत्' । जैसा कि कहते हैं—

"पाश के बिना शिव (किञ्चित्कर्तृत्व आदि को) व्यक्त नहीं करते ।

ननु भोगे कर्तव्ये पुंसः कर्तृत्वम्,—इति नास्ति विप्रतिपत्तिः; कला पुनः कतरत् कारकम्—इति नैव जानीमः । न तावत् कर्म, चैतन्योपोद्बलकारितया भुजिक्रियां प्रत्यविषयत्वात्; नापि करणम्, तद्धि कर्तृप्रयोज्यं भवति; इदं पुनः कर्तुरपि प्रयोजकम्, इति कथं विद्यादिवत् करणतामियात् । तत्राम्याः कारकान्तरवत् कर्तृत्वं दूरापेतम्—इत्यभिप्रेत्य करणत्वमेवाशङ्क्य दूषयति—

सेयं कला न करणं मुख्यं विद्यादिकं यथा ।
पुंसि कर्तरि सा कर्त्री प्रयोजकतया यतः ॥ १८३ ॥

मुख्यमिति बुद्धध्याद्यन्तःकरणापेक्षया परम्—इत्यर्थः ।

'करणेन येन भोग्यं करोति पुरुषः प्रचोद्य महदादीन् ।
भोग्ये भोगं च पुनः सा विद्या तत् परं करणम् ॥' इति ।

'पुंसि कर्तरि' इति विषये, प्रयोज्यनिष्ठो हि प्रयोजकव्यापारः । एवं च उभयोरपि कर्तृत्वे प्रयोजकव्यापारविशिष्टः प्रयोज्य एव पुमान् साक्षात् क्रियां प्रति स्वातन्त्र्ययोगात् प्रधानभूतः कर्तेति । तदुक्तम्—

क्योंकि वह (किञ्चित्कर्तृत्व आदि) सर्वविषयक नहीं होता । और न तो मुक्त अणुओं में वर्तमान कर्तृशक्ति की भाँति वह व्यञ्जन की आसक्ति से रहित होता है'' ॥ १८२ ॥

प्रश्न—भोग करने में पुरुष कर्त्ता है—इसमें कोई विरोध नहीं है । लेकिन कला कौन सा कारक है—यह हम (नहीं) जान पाते । वह कर्म नहीं (हो सकती) क्योंकि चैतन्य का उपोद्बलक होने से (वह) भुजि क्रिया का विषय नहीं है । करण भी नहीं (हो सकती) क्योंकि वह (= करण) कर्त्ता से प्रयोज्य होता है और यह (= कला) कर्त्ता का भी प्रयोजक है फिर विद्या आदि के समान कैसे करण होगी । इस प्रकार दूसरे कारकों के समान इसका कर्तृत्व दूर चला गया—यह समझ कर करणत्व की ही शङ्का कर दोष दिखलाते हैं—

जिस प्रकार विद्या आदि उस प्रकार यह कला मुख्य करण नहीं है क्योंकि पुरुष के कर्त्ता होने पर यह प्रयोजक के रूप में कर्त्री (है और पुरुष प्रयोज्य) है ॥ १८३ ॥

मुख्य = बुद्धि आदि अन्तःकरण की अपेक्षा से (यह कला) पर है ।

''पुरुष जिस करण से महत् आदि को प्रेरित कर भोग्य बनाता है और फिर भोग्य में भोग (करता है) वह विद्या है और वह परम करण है ।''

'पुरुष के कर्त्ता होने पर' इस विषय में प्रयोजक का व्यापार प्रयोज्य में होता है । इस प्रकार दोनों के कर्त्ता होने पर प्रयोजक के व्यापार से विशिष्ट प्रयोज्य ही पुरुष क्रिया के प्रति साक्षात् स्वातन्त्र्य के योग से प्रधान कर्त्ता होता है । वही कहा गया है—

'कर्तृशक्तिं व्यनक्त्यस्य कला साऽतः प्रयोजिका ।
ततः कलासमायुक्ता भोगेऽणुः कर्तृकारकम् ॥' इति ॥१८३॥

एवं पुंस्कलयोः प्रयोज्यप्रयोजकतया

'इत्येतदुभयं विप्र संभूयानन्यवत् स्थितम् ।
भोगक्रियाविधौ जन्तोर्निजगुः कर्तृकारकम् ॥'

इत्याद्युक्त्या एककर्तृकारकीभूतत्वेनालक्ष्यान्तरत्वेऽपि भगवदनुग्रहात् कस्यचित् यदानयोर्विवेकज्ञानं जायते तदासौ मायापुंविवेकः सर्वकर्मक्षयात् विज्ञानाकलता च भवेद्येनायं पुमान् मायाधो न संसरेत्—इति तदाह—

अलक्ष्यान्तरयोरित्थं यदा पुंस्कलयोर्भवेत् ।
मायागर्भेशशक्त्यादेरन्तरज्ञानमान्तरम् ॥ १८४ ॥
तदा मायापुंविवेकः सर्वकर्मक्षयाद् भवेत् ।
विज्ञानकलता मायाधस्तान्नो यात्यधः पुमान् ॥ १८५ ॥

मायागर्भेशोऽनन्तः । शक्त्यादीति आदिशब्दात् तदुपदिष्टं ज्ञानादि । तदुक्तम्—

"कला इसकी (= पुरुष की) कर्तृत्वशक्ति की अभिव्यक्त करती है इसलिए वह प्रयोजिका है । इसके कारण कला से युक्त अणु भोग के विषय में कर्त्ता कारक बनता है" ॥ १८३ ॥

इस प्रकार पुरुष और कला के प्रयोज्य एवं प्रयोजक होने से

"हे विप्र ! इस प्रकार ये दोनों (= पुरुष और कला) मिलकर अभिन्न के समान स्थित हैं । जीव की भोगक्रिया के विषय में लोगों ने इसे कर्त्ता कारक कहा है ।"

इत्यादि उक्ति के अनुसार एक कर्त्ता कारक होने से लक्ष्यान्तर न होने पर भी परमेश्वर की कृपा से किसी को इन दोनों के भेद का ज्ञान हो जाता है तो माया पुरुष के भेद को जानने वाला यह (अणु) सब कर्मों का क्षय होने के कारण विज्ञानाकल हो जाता है जिसे यह पुरुष माया के नीचे नहीं आता । यह कहते हैं—

"इस प्रकार जब मायागर्भेश (= अनन्तनाथ) की शक्ति आदि के द्वारा अलक्ष्य अन्तर वाले पुरुष और कला के भेद का आन्तरिक ज्ञान हो जाता है तब समस्त कर्मों का क्षय होने से माया और पुरुष के भेद वाला (वह अणु) विज्ञानाकल हो जाता है फिर वह पुरुष माया के नीचे नहीं जाता ॥ १८४-१८५ ॥

मायागर्भेश = अनन्तनाथ । शक्ति आदि—यहाँ 'आदि' शब्द से उसके द्वारा

'किंतु कारणवक्त्राब्जसमुद्‌भूतेन सुव्रत ।
ज्ञानचक्षु:प्रदीपेन सम्यगालोक्य सादरम् ॥
अयं पुमानियं चैषां कला दोषालया शुभा ।
अनयोरन्तरं ज्ञात्वा स्वस्थो निर्वात्यसंशय: ॥' इति ।

आन्तरमिति प्रकृतिपुरुषविवेकापेक्षया अन्तरङ्गम्—इत्यर्थ: ॥ १८५ ॥

ननु प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेव सर्वकर्मक्षय: सिद्ध:—इति किं मायापुंविवेकेन?—इत्याशङ्क्याह—

धीपुंविवेके विज्ञाते प्रधानपुरुषान्तरे ।
अपि न क्षीणकर्मा स्यात् कलायां तद्धि संभवेत् ॥ १८६ ॥

'धीपुंविवेके' इति तद्रूपे प्रधानपुरुषविवेके—इत्यर्थ: । बुद्धिद्वारेण हि प्रकृते: पुरुषस्य चाविवेको विवेको वा भवेत् । तत्र प्रतिसंक्रान्तायाश्चिच्छायाया: कर्तृत्वाभिमानो हि अविवेक:; तस्यामेव विगलितविषयवृत्तिपरिणामरूपत्वात् निष्कम्पदीपशिखाप्रख्यायाश्चित एवाकर्तृत्वाभिमानो विवेक:—इति । एवं मायाया अपि कलाद्वारक एव पुंसो विवेक:—इत्युक्तम् । अपिर्भिन्नक्रम:, तेन विज्ञातेऽपि—इत्यर्थ: । कलायामिति—सत्याम् । कलैव हि किंचित्कर्तृत्वाभिव्यञ्जनाम् कर्मण:

उपदिष्ट ज्ञान आदि समझना चाहिए । वही कहा गया है—

"हे सुव्रत ! किन्तु कारण स्तरीय शैवी मुखकमल से उत्पन्न ज्ञानचक्षुरूप दीपक के द्वारा भली भाँति आदरपूर्वक आलोकन कर 'यह पुरुष है और यह इनकी दोषालया शुभ कला है'—(इस प्रकार) इन दोनों का अन्तर जानकर आत्मस्थ होता हुआ (योगी) नि:सन्देह मोक्ष को प्राप्त होता है ।"

आन्तर = प्रकृतिपुरुष भेद ज्ञान की अपेक्षा अन्तरङ्ग ॥ १८५ ॥

प्रश्न—प्रकृतिपुरुष के विवेकज्ञान से ही सब कर्मों का क्षय हो जाता है फिर मायापुरुष विवेकज्ञान से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते है—

प्रकृति पुरुष के अन्तर वाले बुद्धिपुरुषभेद के ज्ञात होने पर भी पुरुष क्षीण कर्मो वाला नहीं हो सकता । वह (कर्म) कला के रहने पर हो सकता है ॥ १८६ ॥

बुद्धिपुरुषभेद = उस रूप वाला प्रकृतिपुरुषभेद । बुद्धि के द्वारा ही प्रकृति से पुरुष का अभेदज्ञान अथवा भेदज्ञान होता है उस (बुद्धि) में प्रतिबिम्बित चैतन्य की छाया का कर्त्तृत्वाभिमान ही अविवेक है । उसी में विषयवृत्तिपरिणाम के विगलित (= नष्ट) हो जाने से निश्चल दीपशिखा के समान चैतन्य का अकर्त्तृत्वाभिमान विवेक है । इस प्रकार माया का भी पुरुष से भेदज्ञान कला के द्वारा ही होता है—यह कहा गया । 'अपि' का क्रम भिन्न है—इसलिए 'विज्ञातेऽपि' ऐसा समझना

साक्षात् निमित्तमिति । उक्तं च—

'गुणतत्त्वोर्ध्वभोग्यस्य कर्मणोऽनुपलम्भतः ।
कैवल्यमपि सांख्यानां नैव युक्तमसंक्षयात्॥' इति ॥ १८६ ॥

एवं प्रकृतिपुरुषविवेके प्रकृत्यन्तं पुंसः कर्मक्षयो भवेत्, कलापुंविवेके तु मायान्तं, येनास्य तदधःसंसरणं न स्यात्, तदाह—

अतः सांख्यदृशा सिद्धः प्रधानाधो न संसरेत् ।
कलापुंसोर्विवेके तु मायाधो नैव गच्छति ॥ १८७ ॥

सांख्यदृशेति—सांख्यदर्शनवत् प्रकृतिपुरुषविवेकेन—इत्यर्थः । स चास्मद्दर्शनोक्तप्रकृत्यादिधारणाक्रमेण सिद्धः—इत्यवगन्तव्यम् । अन्यथा हि अस्य पुनरपि तदधः संसरणं स्यात् । यदुक्तं प्राक्—

'सांख्यवेदादिसंसिद्धाञ् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यक् मुक्तिरीदृशी ॥'
(त० ६।१४८) इति ॥ १८७ ॥

ननु यद्येव तन्मायोर्ध्वं पुनः कदा गच्छेत्—इत्याशङ्क्याह—

चाहिए । कलायां = 'कला के' होने पर । कला ही किञ्चित्कर्तृत्व का अभिव्यञ्जन करने से कर्म का साक्षात् निमित्त है । कहा भी है—

"गुणतत्त्व के ऊपर भोग के योग्य कर्म का उपलम्भ न होने के कारण (उसका) क्षय न होने से सांख्यों का कैवल्य भी समीचीन नहीं है" ॥ १८६ ॥

प्रकृति और पुरुष का विवेक होने पर प्रकृतिपर्यन्त पुरुष के कर्म का क्षय होता है । कला एवं पुरुष का विवेक होने पर मायापर्यन्त (कर्म का), जिससे इस (पुरुष) का माया के नीचे संसरण नहीं होता । यह कहते हैं—

इसलिए सांख्य दर्शन के अनुसार सिद्ध योगी पुरुष प्रकृति के नीचे संसरण नहीं करता । कला और पुरुष का विवेक होने पर तो माया के नीचे नहीं जाता ॥ १८७ ॥

सांख्यदृशा = सांख्य दर्शन के समान प्रकृतिपुरुषविवेक के द्वारा । वह हमारे दर्शन में कथित प्रकृति आदि की धारणा के क्रम से सिद्ध होता है—यह जानना चाहिए । अन्यथा इसका फिर इसका नीचे संसरण होगा । जैसा कि पहले कहा गया है—

'भगवान् श्रीकण्ठनाथ सांख्य वेद आदि के सिद्ध पुरुषों की उस दिन के प्रारम्भ में सृष्टि करते हैं इसलिए यह मुक्ति सम्यक् (= सम्पूर्णतया) नहीं है' ॥ १८७ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो (पुरुष) माया के ऊपर कब जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मलाद्विविक्तमात्मानं पश्यंस्तु शिवतां व्रजेत् ।

ननु त्रिविधेऽपि विवेकदर्शने द्रष्ट्रा तावद्भाव्यम्, स च शुद्धबोधस्वभाव एवेति कथं कस्यचित् कदाचिदेव एतद्भवेत्—इत्याशङ्क्याह—

सर्वत्र चैश्वरः शक्तिपातोऽत्र सहकारणम् ॥ १८८ ॥

ननु अत्र शक्तिपातश्चेदविशिष्टः तत् विवेकत्रयात्मनि तत्कार्येऽयं कुतस्त्यो विशेषः—इत्याशङ्क्याह—

मायागर्भाधिकारीयो द्वयोरन्त्ये तु निर्मलः ।

मायागर्भाधिकारिणोऽनन्तादेः । द्वयोरिति—प्रकृतिमायाविवेकयोः । अत एव नात्र मोक्षपर्यन्तत्वम् । 'अन्त्य' इति मलविवेके, 'निर्मल' इति मोक्षपर्यन्तत्वम् । 'अन्त्य' इति मलविवेके, 'निर्मल' इति मोक्षपर्यन्तवृत्तित्वात् ॥

नन्वियं मायैवास्तु किमस्यास्ततोऽन्यत्वेन?—इत्याशङ्क्याह—

सेयं कला कार्यभेदादन्यैव ह्यनुमीयते ॥ १८९ ॥

अपने को मल से अलग देखता हुआ शिवता को प्राप्त होता है ॥ १८८- ॥

प्रश्न—द्रष्टा को तीनो प्रकार के (= प्रकृतिपुरुष विवेक, माया पुरुष विवेक और मलरहित आत्मविवेक) विवेकदर्शनों में साक्षीभाव से होना चाहिए । और वह शुद्ध—बोधस्वभाव वाला ही है तो फिर यह किसी को कभी ही कैसे होता है ? यह शङ्का कर कहते है—

यहाँ सर्वत्र ईश्वर का शक्तिपात सहकारी कारण है ॥ -१८८ ॥

प्रश्न—यदि यहाँ शक्तिपात समान है तो तीन प्रकार के भेद वाले उस कार्य में यह विशेष कैसे हो जाता है ?—यह शङ्का कर कहते है—

(यह विशेष) मायागर्भ वाले अधिकारी का है । दोनों के प्रकृतिपुरुष विवेक, मायापुरुष विवेक के अन्त्य के (अर्थात् मलरहित आत्मविवेक के) होने पर वह (जीव) निर्मल होता है ॥ १८९ ॥

मायागर्भाधिकारी के = अनन्तनाथ आदि के । दोनों = प्रकृतिपुरुषविवेक और मायापुरुषविवेक । इसलिए यहाँ (= दोनों विवेक में) मोक्षपर्यवसायिता नहीं है । अन्त्य = आत्मा का मल से विवेक होने पर । निर्मल—मोक्षपर्यन्त वाला होने से ॥

प्रश्न—यह माया ही रहे इसका उस (= कला) से भिन्न होने से क्या लाभ ? यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्यथैकं भवेद्विश्वं कार्यायेत्यन्यनिह्नवः ।

कार्यभेदादिति—माया हि अणोर्मूर्छितप्रायतां विदध्यात्, इयं पुनः किंचित्कर्तृतामिति । अन्यैवेति—अर्थान्मायातः । अन्यथेत्यादिनात्र व्यतिरेकः । एकमिति—मायातत्त्वम् ततश्च तस्मादेव किंचित्कर्तृत्वादीनि विश्वानि कार्याणि जायेरन्—इत्यन्यस्य स्थितस्यापि निखिलस्य विद्यादेस्तत्त्वजातस्यापह्नवः प्रसज्येतत्युक्तम्—'इत्यन्यनिह्नवः' इति ॥ १८९ ॥

ननु कलायाः श्रीमतङ्गादौ किंचित्कर्तृताधायकत्वमुक्तं । तथा च तत्र—

'ईषदुन्मीलितात्मानः कलया विद्धमूर्तयः ।
प्रस्पन्दमानास्तरलाः प्रयान्त्युच्छूनतां मुने ॥' (म० ९।९)

इत्याद्यस्ति । श्रीपूर्वशास्त्रे पुनः सामान्येन कर्तृताधायकत्वमेव । यदुक्तं तत्र—

'......................तद्योगादभवत् पुमान् ।
जातकर्तृत्वसामर्थ्यो.........................॥'
(म०वि०तं० १।२७) इति

यह कला कार्यभेद के कारण अन्य ही समझी जाती है । अन्यथा कार्य के लिए एकमात्र (मायात्मक) विश्व ही होगा और अन्य का लोप हो जायगा ॥ -१८९-१९०- ॥

कार्यभेद के कारण = माया जीव को मूर्च्छितप्राय बनाती है और यह (= कला) किञ्चित्कर्त्ता । अन्य-अर्थात् माया से । 'अन्यथा' इत्यादि के द्वारा यहाँ व्यतिरेक है (= उल्टा प्रभाव दिखाया गया है)। एक = मायातत्त्व और फिर उसी से किञ्चित्कर्तृत्व आदि सभी कार्य उत्पन्न होंगे । फलतः अन्य स्थित भी समस्त विद्या आदि तत्त्वसमूह का लोप होने लगेगा—इसलिए कहा गया—अन्य का निह्नव ॥ १८९ ॥

प्रश्न—मतङ्ग आदि शास्त्रों में कला को किञ्चित्कर्तृता का आधायक कहा गया है । वहाँ—

"हे मुने ! कला के द्वारा किञ्चित् उन्मीलित आत्मा वाले विद्धमूर्त्ति प्रस्पन्दमान तरल (जीव) उच्छूनता को प्राप्त होते हैं ।"

इत्यादि (कथन) है । किन्तु मालिनीविजयतन्त्र में (कला को) सामान्यकर्तृत्व का आधायक कहा गया है । जैसा कि वहाँ कहा है—

"....उसके सम्बन्ध के कारण पुरुष में कर्तृत्व का सामर्थ्य उत्पन्न होता है...।" (मा०वि०तं० १.२७)

इह च तदधिकारेणैव तत्त्वक्रमनिरूपणं प्रक्रान्तम् इति कथमिव अस्यास्त-द्विरुद्धं किंचित्कर्तृताधायकत्वमुक्तम्—इत्याशङ्क्याह—

इति मतङ्गशास्त्रादौ या प्रोक्ता सा कला स्वयम् ॥ १९० ॥
किंचिद्रूपतयाक्षिप्य कर्तृत्वमिति भङ्गितः ।

'इति' उक्तेन किंचित्कर्तृत्वाधायकत्वात्मना प्रकारेण श्रीमतङ्गशास्त्रादौ या कला प्रोक्ता सा पुंसि पूर्णकर्तृतानुपपत्तेः स्वसामर्थ्यादिव किंचिद्रूपत्वमाक्षिप्य कर्तृत्वमिति सामान्यरूपया भङ्ग्या अर्थादिह श्रीपूर्वशास्त्रे प्रोक्ता—इति वाक्यार्थः । आदिशब्दात् मृगेन्द्रादौ । तदुक्तं तत्र—

'कर्तृशक्तिरणोर्नित्या विभ्वी चेश्वरशक्तिवत् ।
तमश्छन्नतयार्थेषु नाभाति निरवग्रहा ॥
तदनुग्राहकं तत्त्वं कलाख्यं तैजसं हरः ।
मायां विक्षोभ्य कुरुते प्रवृत्त्यङ्गं परं हि तत् ॥
तेन प्रदीपकल्पेन तदा स्वच्छचितेरणोः ।
प्रकाशयत्येकदेशं विदार्य तिमिरं घनम् ॥
कलयत्येष यो धातुः संख्याने प्रेरणे च सः ।

और यहाँ उसके अधिकार से ही तत्त्वक्रम का निरूपण प्रारब्ध हुआ तो फिर इसका उसके विरुद्ध किञ्चित्कर्त्तृत्वाधायकत्व कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार मतङ्गशास्त्र आदि में जो कला कही गयी वह स्वयं (पुरुष में) किञ्चिद्रूपतया कर्त्तृता का आक्षेप करके (किञ्चित्कर्त्तृत्व का आधान करती है—यह) प्रकारान्तर से कहा गया है ॥ -१९०-१९१- ॥

इति = उक्त किञ्चित्कर्त्तृत्वाधायकत्व वाले प्रकार से मतङ्ग शास्त्र आदि में जो कला कही गयी है वह पुरुष में पूर्णकर्त्तृता न होने से अपने सामर्थ्य से ही किञ्चिद्रूपता का आक्षेप कर कर्त्तृत्व इस सामान्यरूप भङ्गी के द्वारा अर्थात् यहाँ श्रीपूर्वशास्त्र में कही गई है—यह वाक्यार्थ है । 'आदि' शब्द से मृगेन्द्र तन्त्र आदि में भी कही गयी है । वही वहाँ कहा गया है—

"अणु की कर्त्तृशक्ति ईश्वरशक्ति की भाँति विभ्वी और नित्य है किन्तु तमः (अज्ञान, माया) से आवृत होने के कारण पदार्थों में निर्बाध रूप से नहीं दिखाई पड़ती । कला नामक उसका अनुग्राहक तत्त्व शिव की तेजस्विता है । माया उसको विक्षुब्ध कर प्रवृत्ति की प्रक्रिया उत्पन्न करती है । प्रदीप के समान उस (क्षोभ) के द्वारा घने अन्धकार को दूर कर स्वच्छ चैतन्य रूप अणु के एक-एक देश को माया प्रकाशित करती हैं । विधाता का ज्ञान एवं प्रेरणा होने पर वह (= अणु) कुछ समझने लगता है । वही चित्कला अन्धकार अर्थात् तमोगुण के द्वारा

प्रोत्सारणं प्रेरणे सा कुर्वती तमसा कला ॥
इत्येतदुभयं विप्र संभूयानन्यवत् स्थितम् ।
भोगक्रियाविधौ जन्तोर्निजगुः कर्तृकारकम् ॥' इति ॥ १९० ॥

ननु किंचिद्रूपविशिष्टमपि कर्तृत्वं कथमज्ञस्य भवेत् ?—इत्याशङ्क्य किञ्चिज्ज्ञेयत्वाधायिनस्तत्त्वान्तरस्यापि उत्पत्तिं प्रतिजानीते—

किंचिद्रूपविशिष्टं यत् कर्तृत्वं तत्कथं भवेत् ॥ १९१ ॥
अज्ञस्येति ततः सूते किंचिज्ज्ञत्वात्मिकां विदम् ।

'ततः' इति प्रकृतत्वात् कला । तदुक्तम्—

'ज्ञानं विना न कर्तृत्वं कस्यचिद् दृश्यते यतः ।
अतः कलातः सञ्जातमविद्यारूपमप्रथम् ॥' इति ।

किञ्चिज्ज्ञत्वेऽपि पूर्णेन हि ज्ञत्वेन पूर्णमेव कर्तृत्वं व्याप्तमिति भावः ॥ १९१ ॥

ननु आत्मनः सांख्यैः कर्तृत्वं नाभ्युपेयते—इति तदुपपादकं कलातत्त्वं यदुक्तं तदास्ताम्; ज्ञत्वं पुनरस्य बुद्ध्यादिद्वारेण तैरुपपादितम्—इति किमनेन?—इत्याशङ्क्याह—

प्रोत्सारण करती है । हे विप्र! इस प्रकार वे दोनों (= प्रकाश एवं अन्धकार या सत्त्व एवं तमस्) मिलकर रहते हैं और जीव की भोगक्रिया के विधान में अपने को कर्त्ता मानते हैं (फलतः) उस कर्त्तृत्वभावना का फलभोग भविष्य में उसे भोगना पड़ता है ॥ १९० ॥

प्रश्न—किञ्चिद्‌रूपविशिष्ट भी कर्त्तृत्व अज्ञ का कैसे होगा ?—यह शङ्का कर किञ्चिज्ज्ञेयत्व के आधायक दूसरे तत्त्व की भी उत्पत्ति को बतलाते हैं—

जो किञ्चिद्‌रूपविशिष्ट कर्त्तृत्व है वह अज्ञ का कैसे होगा इसलिए (कला) किञ्चिज्ज्ञत्वरूप विद्या को उत्पन्न करती है ॥ -१९१-१९२- ॥

ततः—प्रस्तुत होने से कला (उत्पन्न करती है)। वही कहा गया है—

"चूँकि ज्ञान के बिना किसी का कर्त्तृत्व नहीं देखा जाता इसलिए कला से अविद्या रूप अप्रथ (= सङ्कोच) उत्पन्न हुआ ॥"

किञ्चिज्ज्ञत्व होने पर भी पूर्णज्ञत्व से पूर्णकर्त्तृत्व व्याप्त है—यह भाव है ॥ १९१ ॥

प्रश्न—सांख्यदार्शनिक आत्मा को कर्त्ता नहीं मानते इसलिए उसका (= आत्मकर्त्तृत्व का) साधक जो कला तत्त्व कहा गया वह रहे (= मान लिया जाता है) किन्तु उन लोगों ने बुद्धि आदि के द्वारा उसके ज्ञत्व की सिद्धि की है—तो

बुद्धिं पश्यति सा विद्या बुद्धिदर्पणचारिणः ॥ १९२ ॥
सुखादीन् प्रत्ययान् मोहप्रभृतीन् कार्यकारणे ।
कर्मजालं च तत्रस्थं विविनक्ति निजात्मना ॥ १९३ ॥

मोहशब्देनात्र तमोऽपि उपलक्ष्यते । तेन तमोमोहप्रभृतीन् विपर्ययाशक्तितुष्टि-सिद्ध्याख्यान् पञ्चाशत्प्रत्ययान्—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

'तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥'

(विष्णु पु० १।५।५) इति ।

करणमेव कारणम् तेन कार्यकारणे भूतेन्द्रियाणि, 'विविनक्ति' इति इदं सुखं न दुःखमोहावित्याद्यात्मना विवेकेन जानाति—इत्यर्थः । अत एव निजात्मना अन्यव्यावृत्तेन प्रातिस्विकेन रूपेण—इत्युक्तम् । तदुक्तम्—

'विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कार्यकारणे ।'

(मा० १।२८) इति ॥ १९३ ॥

ननु पुंसस्तत्तत्प्रत्ययविशिष्टायां बुद्धौ वेद्यायामस्तु नाम विद्याकरणं विषयोपलब्धौ पुनरस्यानया कोऽर्थः, तत्र हि बुद्धिरेव तथास्ति ?—इत्याशङ्क्याह—

इससे क्या ? अर्थात् यह कैसे ?—यह शङ्का कर कहते है—

वह विद्या बुद्धि को देखती है । बुद्धि रूपी दर्पण में 'प्रतिबिम्बित होने वाले सुख आदि प्रत्ययों, मोह आदि, कार्य कारण और उसमें वर्त्तमान कर्मजाल को अपने रूप से पृथक् करती है ॥ -१९२-१९३ ॥

मोह शब्द से यहाँ तम भी लिया जाता है । इससे (यह अर्थ निकला कि विद्या) तमो मोह आदि एवं विपर्यय अशक्ति तुष्टि और सिद्धि वाले पचास प्रत्ययों को (विविक्त करती है) । जैसा कि कहा गया है—

"तम मोह महामोह तामिस्र अन्धतामिस्र इन पाँच पर्वों वाली अविद्या महात्मा (विष्णु) से उत्पन्न हुई ॥" (वि०पु० १.५.५)

करण ही कारण है । इसलिए कार्यकारण = महाभूत और इन्द्रियों को, 'विविक्त करती है' = अविद्यात्मक विवेक के द्वारा यह सुख है दुःख मोह नहीं है—ऐसा जानती है । इसीलिए अपने से = अन्य से व्यावृत्त अपने ही रूप से—यह कहा गया । वही कहा गया है—

"विद्या इसके कर्म उसके कार्य और कारण का विवेचन करती है" ॥ १९३॥

प्रश्न—तत्तत्प्रत्ययविशिष्ट बुद्धि जब पुरुष की वेद्य होती है तब विद्या करण है तो रहे । किन्तु विषय की प्राप्ति (= भोग) में इसका उस (विद्या) से क्या मतलब ? वहाँ तो बुद्धि ही उस प्रकार की (= विषय भोग में सक्षम) है ?—यह

बुद्धिस्तु गुणसङ्कीर्णा विवेकेन कथं सुखम् ।
दुःखं मोहात्मकं वापि विषयं दर्शयेदपि ॥ १९४ ॥

गुणसङ्कीर्णेत्यनेन तन्त्रान्तरीयकं जाड्यमपि अस्या उक्तम् । उक्तं च

'त्रैगुण्यात्मा विवेकेन शक्ता दर्शयितुं नहि ।
विषयाकारमात्मानमविविक्ता यतः स्वयम् ॥' इति ॥ १९४ ॥

ननु सांख्यमतमजानानैरिव भवद्भिरेतदुक्तं यद्गुणसङ्कीर्णत्वात् बुद्धिः सुखाद्यात्मकं विषयं विवेकेन कथं दर्शयेदिति । ते हि वरणात्मना तमसा सर्वतः समावृतमपि रजसा शनैस्तदपसारणात् क्वचिदेव प्रवर्तितं सदाविशेषेण प्रकाशकमपि सत्त्वं क्रमेण नियतं सुखादि प्रकाशयेत्—इति त्रिगुणैव बुद्धिः क्रमेण सुखाद्यात्मनो विषयस्य विवेकेन प्रदर्शिका,—इत्यभ्युपाजग्मुः । सत्यं, सुखाद्यात्मकं विषयं बुद्धिर्दर्पणवदेव दर्शयेत्; किंतु गुणसङ्कीर्णत्वात् न विवेकेनेत्यभिदध्मः । बुद्धिर्हि त्रिगुणत्वेऽपि नीलादिवैलक्षण्येन सत्त्वभागस्योद्रेकात् प्रतिसंक्रान्तमपि कथं दुःखादि विविक्ततयाध्यवस्येत् । नहि तदानीं दुःखादेरपि दर्शनं येन ततो विवेकेन सुखादेरध्यवसायः स्यात् । न च दर्शनमात्रमेव विषयसंवेदनं

शङ्का कर कहते है—

बुद्धि तो गुणों से सङ्कीर्ण (= व्याप्त) है इसलिए विवेक के द्वारा कैसे सुख दुःख मोह वाले विषयों को दिखलाएगी ॥ १९४ ॥

'गुणसङ्कीर्णा' इस (पद) से उसका नान्तरीयक इस (बुद्धि) का जाड्य भी कहा गया । कहा भी है—

"त्रिगुणात्मक (बुद्धि) अपने विषयाकार स्वरूप को भेद के साथ दिखलाने में समर्थ नहीं है क्योंकि वह स्वयं अविविक्त (= अभिन्न) है" ॥ १९४ ॥

प्रश्न—सांख्यमत को न जानने वाले ही आप ऐसा कह रहे हैं कि गुणों से सङ्कीर्ण होने के कारण बुद्धि सुखादि रूप विषय को भेद के साथ कैसे दिखाएगी ? वे (= सांख्य वाले) ऐसा मानते हैं कि आवरणात्मक अन्धकार से सर्वतः समावृत भी (सुख आदि) रजस् के द्वारा धीरे से उस (तम) का अपसारण होने से कहीं प्रवर्त्तित होता हुआ सामान्यरूप से प्रकाशक भी सत्त्व को क्रमशः नियत सुख आदि को प्रकाशित करता है । इस प्रकार त्रिगुणात्मिका ही बुद्धि सुख आदि रूप विषय की अलग-अलग प्रदर्शिका है । (उनका कथन) सत्य है । बुद्धि दर्पण के समान सुख आदि रूप विषय को दिखलाती है । किन्तु गुणों से सङ्कीर्ण होने के कारण अलग-अलग नहीं (दिखाती) हम यह कहते हैं । बुद्धि, त्रिगुण होने पर भी नील आदि से भिन्न रूप में सत्त्व भाग का उद्रेक होने कारण प्रतिबिम्बित भी दुःख आदि को अलग कैसे समझेगी । उस समय दुःख आदि का दर्शन तो होता नहीं जिससे उनसे भिन्न करके सुख आदि का निश्चय हो । और दर्शन मात्र ही विषय का ज्ञान

येन भवेदपि विवेकः; तस्य हि अध्यवसायो जीवितम् । यदुक्तम्—

'प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।' (सां० का० ५) इति ।

न चेयं पूर्वदृष्टात् दुःखादेरस्य विवेकं कर्तुं शक्नुयात् जाड्यादेव अनुसन्धातुमशक्यत्वात् । तस्मात् स्वच्छायां बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तस्यापि सुखादेः केनचिद्विवेकेन भाव्यं तच्च परं कारणं विद्याख्यम्—इत्युक्तमेव । तदाह—

स्वच्छायां धियि संक्रामन्भावः संवेद्यतां कथम् ।
तया विनैति साप्यन्यत्करणं पुंसि कर्तरि ॥ १९५ ॥

संवेद्यतामिति—विवेकेनाध्यवसेयताम्—इत्यर्थः । तयेति—विद्यया । सापीति—बुद्ध्यपेक्षया । कर्तरीति—विषयाध्यवसाये ॥ १९५ ॥

ननु बुद्धिरुभयतो निर्मलदर्पणप्रख्येति तस्या एकतः पुंश्छाया प्रतिसंक्रामेत्, यद्वशादियं चेतनायमाना सत्यन्यतः प्रतिसंक्रान्तं भावजातमध्यवस्येत् इति किं विद्याख्येन करणान्तरेण भाव्यम् ? तदाह—

ननु चोभयतः शुभ्रादर्शदशीयधीगतात् ।

नहीं है जिससे कि विवेक भी हो जाता है क्योंकि उसका कारण है—निश्चयात्मक ज्ञान । जैसा कि कहा गया है—

"इन्द्रिय के द्वारा विषय का निश्चयात्मक प्रत्यक्ष प्रमाण है ।"

यह (बुद्धि) पूर्वदृष्ट दुःख आदि से इसका पार्थक्य नहीं कर सकती क्योंकि जड़ होने के कारण अनुसन्धान असम्भव है । इसलिए स्वच्छ बुद्धि में प्रतिबिम्बित भी सुख आदि का कोई न कोई भेदक होना चाहिए और वह है विद्या नामक पर कारण—यह कहा ही गया है । वह कहते हैं—

स्वच्छ बुद्धि में संक्रान्त होने वाला विषय भी उस (= विद्या) के बिना कैसे वेद्य होगा । वह (= विद्या) भी (बुद्धि की अपेक्षा) एक अतिरिक्त कारण है (जबकि) पुरुष कर्त्ता है ॥ १९५ ॥

संवेद्यता को = विवेक के द्वारा निश्चय की स्थिति को । उसके द्वारा = विद्या के द्वारा । वह भी—बुद्धि की अपेक्षा । कर्ता होने पर—विषय के निश्चय के सन्दर्भ में ॥ १९५ ॥

प्रश्न—बुद्धि दोनों ओर से निर्मल दर्पण के समान है एक तरफ से उसमें पुरुष की छाया प्रतिबिम्बित होती है जिसके कारण यह चेतन जैसी होती हुई दूसरी ओर से प्रतिबिम्बित भावसमूह का निश्चय करती है फिर विद्या नामक करणान्तर की क्या आवश्यकता—यह कहते हैं—

प्रश्न है कि दोनों ओर से स्वच्छ दर्पण की दशावाली बुद्धि में स्थित

पुंस्प्रकाशाद्भाति भावः मैवं तत्प्रतिबिम्बनम् ॥ १९६ ॥

एतदेव परिहरति—

जडमेव हि मुख्योऽथ पुंस्प्रकाशोऽस्य भासनम्।
बहिःस्थस्यैव तस्यास्तु बुद्धेः किङ्कल्पना कृता ॥ १९७ ॥

इह जडत्वात् बुद्धेः स्वयं विषयप्रकाशनं तावन्नोचितम्—इत्युक्तम्—प्रतिसंक्रान्तेऽपि पुंस्प्रकाशे जाड्यमस्यां न निवर्तते प्रतिबिम्बस्य निजाधिकरणैकयोगक्षेमत्वमेव भवेदित्युपपादितमेव प्राक् । बहिर्हि दर्पणादौ प्रतिबिम्बितश्चेतनोऽपि चैत्रादिर्दर्पणस्य मा नाम चैतन्यमाधात् प्रत्युत तत्र स्वयमचेतनवन्न किंचिदपि कर्तुं प्रभवेत् । एवं जडायां, बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तोऽपि पुंस्प्रकाशस्तदेकयोगक्षेमत्वात् जाड्यमेवासादयेत् इति कथं सोऽपि विषयप्रकाशनकुशलः स्यात् । अथ स्वयमेवासौ विषयस्य प्रकाशकोऽस्तु इत्युक्तम्—'मुख्योऽथ पुंस्प्रकाशोऽस्य भासनम्' इति; एवं तर्हि विषयस्यापि साक्षात् बाह्यस्यैव प्रकाशनमस्तु किमन्तरालपरिकल्पितेन बुद्धितत्त्वेन—इत्युक्तम् 'बुद्धेः किं कल्पना कृता' इति ॥ १९७ ॥

एवं हि मुख्यमात्मप्रकाशमपेक्ष्य तदतिरिक्तं न किंचिदपि प्रकाशेत—इति सर्वं

पुरुष के प्रकाश से ही पदार्थ का ज्ञान होता है (विद्या की क्या आवश्यकता) ॥ १९६ ॥

उसका समाधान करते हैं ?—

ऐसा नहीं है । उसका प्रतिबिम्ब जड़ ही है । पुरुषप्रकाशन इसका मुख्य आभासन है । (यह प्रकाशन) बहिस्थ उसका ही हो बुद्धि की कल्पना किसलिए ? ॥ १९७ ॥

बुद्धि के जड़ होने के कारण (उसके द्वारा) स्वयं विषय का ज्ञान उचित नहीं है—यह कहा गया । बुद्धि में पुरुष के प्रकाश के प्रतिबिम्बित होने पर उसका जाड्य समाप्त नहीं होता । प्रतिबिम्ब का अपने अधिकरण के साथ एक योगक्षेम होता है—यह पहले कहा जा चुका है । बाहर दर्पण आदि में प्रतिबिम्बित चेतन भी चैत्र आदि दर्पण में चैतन्य का आधान नहीं करते बल्कि उस स्थिति में स्वयं अचेतन के समान कुछ करने में सक्षम नहीं होते । इस प्रकार जड बुद्धि में प्रतिबिम्बित भी पुरुष का प्रकाश उसके साथ समान योगक्षेम होने के साथ जाड्य ही लायेगा इसलिए वह भी कैसे विषयप्रकाशन में कुशल होगा । यदि यह कहा जाय कि यह (= पुरुषप्रकाश) स्वयं विषय का प्रकाशक होगा तो कहा गया कि 'पुरुष प्रकाश इसका मुख्य भासन है' इस प्रकार विषय का भी साक्षात् बाह्य का ही प्रकाशन हो बीच में परिकल्पित बुद्धितत्त्व से क्या लाभ ?—यह कहा गया—बुद्धि की कल्पना क्यों की गयी ॥ १९७ ॥

प्रकाश एवेत्यभेद एव सर्वतः परिस्फुरेत्—इति ग्राह्यग्राहकभावाद्यात्मा सकलोऽयं भेदव्यवहारः समाप्तः । स एव चेह विचारयितुं प्रक्रान्तः—इति प्रतिज्ञातार्थविरुद्ध-मिदमभिधानं भवेत्—इत्याह—

अभेदभूमिरेषा च भेदश्चेह विचार्यते ।

एवं पर एव प्रकाशः स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपयित्वा यदा संकुचितात्म-तामवभासयति, तदा सकल एवायं भेदव्यवहारः समुल्लसेत् येनायं पुमान् इन्द्रियप्रणालिकया बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तं सुखदुःखाद्यात्मकं विषयं विद्यया परस्पर-वैविक्त्येन जानाति—इति बुद्ध्यादिकल्पने न कश्चिद्दोषः । तदाह—

तस्माद् बुद्धिगतो भावो विद्याकरणगोचरः ॥ १९८ ॥

ननु विद्याख्यस्य करणस्य वेद्य एव भावो गोचरः, स च बाह्य एव इति कथमेवमुक्तम्—इत्याशङ्क्याह—

भावानां प्रतिबिम्बं च वेद्यं धीकल्पना ततः ।

साक्षात्तद्वेदने उक्त एव दोषः ॥

ऐसा होने पर मुख्य आत्मप्रकाश को छोड़कर और कुछ प्रकाशित नहीं होगा । इस प्रकार सब प्रकाश ही है अतः सर्वत्र अभेद ही स्फुरित होगा । फलतः ग्राह्य ग्राहक भाव आदि रूप यह समस्त भेदव्यवहार समाप्त हो जायगा । और उसी का विचार करने के लिए यहाँ उपक्रम किया गया । इस प्रकार यह कथन प्रतिज्ञात अर्थ के विरुद्ध है—यह कहते हैं—

यह अभेद भूमि है । और यहाँ भेद का विचार किया जा रहा है ॥ १९८- ॥

इस प्रकार पर ही प्रकाश अपने स्वातन्त्र्य से अपने रूप को छिपा कर जब संकुचितात्मता को अवभासित करता है तब यह समस्त भेदव्यवहार उल्लिखित होता है जिससे यह पुरुष इन्द्रियप्रणाली के द्वारा बुद्धि में प्रतिबिम्बित सुखदुःखाद्यात्मक विषय को विद्या के द्वारा परस्पर भिन्न-भिन्न करके जानता है । इसलिए बुद्धि आदि की कल्पना में कोई दोष नहीं है—यह कहते हैं—

इसलिए बुद्धिस्थ भाव विद्यारूपी साधन का विषय है ॥ -१९८ ॥

प्रश्न—वेद्य ही भाव विद्या नामक करण का विषय है और वह बाह्य ही है फिर ऐसा कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते है—

(पहले) भावों का प्रतिबिम्ब वेद्य होता है उसके बाद बुद्धि में कल्पना होती है ॥ १९९- ॥

साक्षात् उनके ज्ञान में उक्त दोष (= मूलमान्यताभङ्ग) रहेगा ॥

ननु एवमणोः किञ्चिज्ज्ञत्वोत्पत्त्या किंचित्कर्तृत्वं तावदुपपादितम्; तदत्र समानेऽपि किंचित्त्वे कस्मादिदमेव किञ्चिज्जानाति करोति च?—इत्याशङ्क्य तदुपपादकं रागतत्त्वं तावदाह—

किञ्चित्तु कुरुते तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत्॥ १९९ ॥
रागतत्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवोपरञ्जकम्।

कलाविद्ययोर्हि किंचित्त्वमपूर्णत्वमात्राभिधायि—इत्युक्तम्, इदं पुनस्तथात्वेऽपि प्रतिनियतवस्तुपर्यवसायि—इत्यवश्यमत्रास्य केनचिदपरेण निमित्तेन भाव्यम्, यद्वशात् तत्रैव अणोरासङ्गो भवेत् । किञ्च तदित्युक्तं 'तत्तु रागतत्त्वमिति प्रोक्तम्' इति । उक्तं च—

'रागोऽनुरञ्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि ।'

(मा० १।२८) इति ॥ १९९ ॥

नन्ववैराग्यलक्षणो बुद्धिधर्मोऽत्र सांख्यैर्निमित्तमुक्तम्—इति किमनेनान्येन रागतत्त्वेन?—इत्याशङ्क्याह—

न चावैराग्यमात्रं तत्तत्राप्यासक्तिवृत्तितः॥ २०० ॥
विरक्तावपि तृप्तस्य सूक्ष्मरागव्यवस्थितेः।

प्रश्न—इस प्रकार अणु के किञ्चिज्ज्ञत्व की उत्पत्ति के द्वारा किञ्चित्कर्तृत्व का उपपादन किया गया । तो यहाँ किञ्चिज्ज्ञत्व के समान होने पर भी किस कारण यही (= अणु ही) कुछ जानता और करता है ?—यह शङ्का कर उसके उपपादक रागतत्त्व को कहते हैं—

कुछ करता है इसलिए निश्चित रूप से वह कोई दूसरा (तत्त्व) है । (वह) रागतत्त्व कहा गया है जो कि उसी (अणु) का उपरञ्जक है ॥ -१९९-२००- ॥

कला और विद्या का किञ्चित्त्व अपूर्णतामात्र को बतलाने वाला है—यह कहा गया । यह वैसा होने पर भी निश्चित वस्तु में पर्यवसित होता है (सम्पूर्ण में नहीं) इसलिए यहाँ अवश्य किसी दूसरे कारण को होना चाहिए जिसके चलते उसी में अणु की आसक्ति· होती है । वह क्या है? इसलिए कहा गया—'वह राग तत्त्व कहा गया है ।' कहा भी गया है—

"राग अपने अपवित्र भी भोगों में इसे आसक्त करता है" ॥ १९९ ॥

प्रश्न—अवैराग्यलक्षण वाला बुद्धि का धर्म सांख्यों के द्वारा यहाँ निमित्त कहा गया है फिर इस अतिरिक्त राग तत्त्व की क्या आवश्यकता ?—यह शङ्का कर कहते है—

'वह (= राग तत्त्व) अवैराग्य मात्र नहीं है क्योंकि उस (= अवैराग्य)

तदिति—रागतत्त्वम् । तत्रापीति—अवैराग्ये । एवमवैराग्यासङ्गेऽपि एतदेव निमित्तमिति भावः । कस्यचिच्च निवृत्तविषयाकाङ्क्षस्य अवैराग्याभावेऽपि सूक्ष्मेक्षिकयाभिष्वङ्गो भवत्येव 'किंचिन्मे भूयात्' इति प्रतिपत्तेरविरहात्; तद्रागतत्त्वस्यैव अयं महिमा यद् बुद्धाववैराग्यादीनां सर्वेषामेव धर्माणां बहिष्पर्यन्ततया विशेषेणोल्लास इति । तदुक्तम्—

'धर्मादयोऽप्यभिष्वङ्गवासनाया एव पल्लवाः इति
समस्तोऽयं रागवर्गः; ते तु विशेषोल्लासात्मनो
बुद्धिधर्मत्वेन गणिताः ।' इति

एवं द्वेषोऽप्यस्यैव प्रसरः । तत्रापि अनिष्टप्रहानादावभिष्वङ्गस्यैव संभवात्; तस्माद्यत्र क्वचनोपादेये हेये वा 'किंचिन्मे भूयात्' इति सामान्येनाभिष्वङ्गमात्रं रागतत्त्वमन्यस्तु पुनः तस्यैव प्रपञ्चः—इति प्राङ्निरूपितप्रायमित्यलं बहुना ॥ २०० ॥

नन्वणोः कलया किंचिद्रूपतां, विद्यया विविक्तविषयतां, रागेण नियतवस्तुपर्यवसायितां च नीतं कर्तृत्वं 'अकरवं करोमि करिष्यामि' इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या कालेनापि कलितम्—इति तदुपपादकं कालतत्त्वमप्याह—

में भी आसक्ति रहती ही है । क्योंकि विरक्ति होने पर भी तृप्त के अन्दर सूक्ष्मराग रहता ही है ॥ -२००-२०१- ॥

वह = रागतत्त्व । वहाँ भी = अवैराग्य में । इस प्रकार अवैराग्य के प्रति आसक्ति में भी यही निमित्त है—यह तात्पर्य है । किसी निवृत्तविषयाकाङ्क्षा वाले के (अन्दर) वैराग्य का अभाव होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से आसक्ति रहती ही है क्योंकि 'मुझे कुछ हो जाय' ऐसे ज्ञान का अभाव कभी नहीं होता । तो राग तत्त्व की ही यह महिमा है कि बुद्धि में अवैराग्य आदि सभी धर्मों का बाहर तक विशेष रूप से उल्लास होता है । वही कहा गया है—

"धर्म आदि भी आसक्ति की वासना के ही विस्तार हैं इसलिए यह सब रागवर्ग हैं । वे विशेष उल्लास रूप होने पर बुद्धि के धर्म माने गए हैं"

इस प्रकार द्वेष भी इसी का ही विस्तार है । क्योंकि वहाँ भी अनिष्टपरिहार आदि में आसक्ति की ही संभावना रहती है । इसलिए जहाँ कहीं उपादेय या हेय के विषय में 'मुझे कुछ हो जाय' ऐसा सामान्य रूप से अभिष्वङ्ग है (वह) रागतत्त्व ही है । शेष तो उसी का प्रपञ्च है—यह पहले कहा जा चुका है—अतः अधिक कहने से क्या ? ॥ २०० ॥

कला के द्वारा किञ्चिद्रूपता को, विद्या के द्वारा भिन्नविषयता को, राग के द्वारा नियतवस्तुपर्यवसायिता को प्रापित अणु का कर्त्तृत्व, किया, करता हूँ, करुँगा, इस प्रतीति की अन्यथा अनुपत्ति के द्वारा, काल से भी कलित है । इसलिए उसके

कालस्तुट्यादिभिश्चैतत् कर्तृत्वं कलयत्यतः ॥ २०१ ॥
कार्यावच्छेदि कर्तृत्वं कालोऽवश्यं कलिष्यति ।

ननु कर्तृत्वं नाम चेतनस्य स्वातन्त्र्यं तच्च तदनतिरिक्तमिति कथमस्य नित्यस्य सतः कालेन योगः?—इत्यशङ्क्योक्तम्—'कार्यावच्छेदि' इति । द्विधा हि कर्तृत्वं शुद्धं मायीयं च । तत्राद्यमनवच्छिन्नाहंपरामर्शमयं कार्यानारूषितमेव; अन्यच्च घटक्रिया पटक्रिया—इत्यादिकार्यारूषितम् । एतेनास्य कलनयापि भाव्यमित्येवमुक्तम्—'अवश्यम्' इति । भावाभावाभासक्रमजीवितत्वात् कार्यक्रियाया—इत्यर्थः । एवमेतन्मुखेन परिमितोऽपि प्रमातानेन कलित एव—इत्यर्थसिद्धम् । तदुक्तम्—

'कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थितः ।'

(मा० १।२९) इति ॥ २०१ ॥

ननु तामर्थक्रियामर्थयमानो जनः किंचिदुपादत्ते, किंचिच्च जहाति,—इति नास्ति विमतिः; कुतः पुनरयं नियमो यत् पाकार्थी वह्निमेवादित्सति न लोष्ठम्, स्वर्गार्थी च ज्योतिष्टोममेव न श्येनम्—इति तदवश्यमत्र केनचिन्निमित्तेन भाव्यं तच्च किम्—इत्याशङ्क्याह—

उपपादक काल तत्त्व को भी कहते हैं—

काल तुटि आदि के द्वारा इस कर्त्तृता को बनाता है इसलिए काल कार्यावच्छेदि कर्त्तृत्व को अवश्य बनाएगा ॥ -२०१-२०२- ॥

कर्त्तृत्व का अर्थ है—चेतन का स्वातन्त्र्य और वह (स्वातन्त्र्य) उस (कर्त्तृत्व) से अभिन्न होता है फिर इस नित्य (कर्त्तृत्व) का काल से संयोग कैसे होता है ?—यह शङ्का कर कहा गया—'कार्यावच्छेदि' । कर्त्तृत्व दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मायीय । उनमें से पहला अनवच्छिन्न अहंपरामर्शमय, कार्य से अस्पृष्ट । दूसरा घटकार्य पटकार्य—इत्यादि कार्य से संस्पृष्ट । इसलिए इसकी रचना भी होनी चाहिए । इसलिए कहा गया 'अवश्य' । क्योंकि कार्य क्रिया भाव और अभाव के आभास क्रम के कारण होती है । इसके माध्यम से परिमित भी प्रमाता इस (काल) से ही रचित है—यह अर्थ—सिद्ध है । वही कहा गया है—

"तुटि आदि के द्वारा अवस्थित काल भी इसकी कलना (= रचना) करता है" ॥ २०१ ॥

प्रश्न—इस अर्थक्रिया को चाहने वाला पुरुष कुछ लेता है और कुछ छोड़ता है इसमें (सबका) एक मत है । फिर यह नियम क्यों है कि पाकार्थी अग्नि को ही लेना चाहता है मिट्टी के ढेले को नहीं । स्वर्गार्थी ज्योतिष्टोम यज्ञ ही करना चाहता है । श्येन याग नहीं । तो यहाँ कोई न कोई कारण अवश्य है । फिर वह क्या है ?—यह शङ्का कर कहते है—

नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले॥ २०२ ॥

नियतिर्हि 'अस्मादेव कारणात् इदमेव कार्यं भवेत्' इति नियममादध्यात्—इत्युक्तम्—'विशिष्टे कार्यमण्डले योजनां धत्ते' इति । तदुक्तम्—

'नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुद्गलम् ।'

(मा० १।२९) इति ।

अतश्च नियतामर्थक्रियामर्थयता नियतमेव वस्तु उपादातव्यम्—इति न कश्चिद्दोषः ॥ २०२ ॥

नन्विह तत्त्वानां कार्यकारणभावनिरूपणस्य प्रक्रान्तत्वात् कलायास्तावन्माया-कार्यत्वमुक्तम्; विद्यादितत्त्वचतुष्टयं पुनः

'तस्मात् कला समुत्पन्ना विद्या रागस्तथैव च ।
कालो नियतितत्त्वं च पुंस्तत्त्वं प्रकृतिस्तथा ॥' (स्व० ११।६३)

इत्यादिश्रीस्वच्छन्दशास्त्रस्थित्या कलावत् किं मायाया एव कार्यमुत न ?—इत्याशङ्क्याह—

विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयम् ।
कलाकार्यं................................

विशिष्ट कार्यमण्डल के विषय में नियति योजना का विधान करती है ॥ -२०२ ॥

नियति—'इसी कारण से यही कार्य होना चाहिये' ऐसा नियम बनाती है । इसलिए कहा गया—विशिष्टकार्यसमूह के विषय में योजना बनाती है । वही कहा गया है—

"नियति इस पुद्गल को अपने कर्म में लगाती है ।"

इसलिए निश्चित अर्थक्रिया को चाहने वाला पुरुष निश्चित ही वस्तु को लेता है। इसलिए कोई दोष नहीं है ॥ २०२ ॥

प्रश्न—तत्त्वों के कार्यकारणभाव के निरूपण का प्रसङ्ग होने से कला को माया का कार्य कहा गया । विद्या आदि चार तत्त्व—

"उससे कला उत्पन्न हुई । उसी प्रकार विद्या राग काल, नियति, पुरुष और प्रकृति (भी उससे उत्पन्न हुई) ।"

इत्यादि स्वच्छन्द शास्त्र के रहने से कला की भाँति क्या ये माया के कार्य हैं या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विद्या राग नियति और काल ये चार कला के कार्य हैं ॥ २०३ ॥

अत्र च नियतिः कालः—इत्ययं क्रमः श्रीपूर्वशास्त्रानुगुण्येनोक्तः; तत्र हि नियतेरनन्तरं कालस्य निर्देशः । पूर्वं पुनः कालस्य प्रथमं निर्देशोऽयमाशयः यत् नियतेः कार्यकारणविषयनियमनव्यापारः, तच्च प्राग्भावि कारणं पश्चाद्भावि कार्यम्—इति कालावच्छेदमन्तरेण कथं भवेदिति । यद्वा युगपदुत्पादात् एषां न क्रमविवक्षा—इत्येवमुक्तम् । यद्यपि श्रीपूर्वशास्त्रे

'......................विद्यारागौ ततोऽसृजत् ।' (मा० वि० १।२७)

इत्येतावदेवोक्तं तथापि नियतिकालयोः कार्यत्वेन संमतत्वात् कारणान्तरस्य साक्षादनभिहितत्वात् 'तत एव' इति एवकारेण अव्यक्तान्तमस्याः कलाया एवाविशेषेण कारणत्वस्याभिधानात् अविशिष्टाप्रतिषिद्धं कलाया एव कारणत्वं पर्यवस्येदित्युक्तम्—'एतच्चतुष्टयं कलाकार्यम्' इति ॥

ननु भोक्तृभोग्यरूपतया विश्वं तावत् द्विविधं तत्रैतत् कलादि किं भोक्तृपक्षपतितमुत अन्यथा ?—इत्याशङ्क्याह—

.........भोक्तृभावे तिष्ठद्भोक्तृत्वपूरितम् ॥ २०३ ॥

भोक्तृभावावस्थाने हेतुः 'भोक्तृत्वपूरितम्' इति । भोक्तृत्वं हि आणवादिनो-

---

यहाँ नियति काल-यह क्रम मालिनीविजयतन्त्र के अनुसार कहा गया है । वहाँ नियति के बाद काल का निर्देश है । पहले काल का प्रथम निर्देश करने में यह आशय है—कि नियति का व्यापार कार्यकारणविषय का निश्चय है । वह पहले होने वाला कारण और बाद में होने वाला कार्य—इस प्रकार कालावच्छेद के बिना कैसे होगा । अथवा एक साथ उत्पन्न होने से इनमें क्रम की विवक्षा नहीं होगी—इसलिए ऐसा कहा गया । यद्यपि पूर्वशास्त्र में—

"............(महाशक्ति कला ने) उसके बाद विद्या और राग की सृष्टि की ।" (मा०वि०तं० १।२७)

इतना ही कहा गया है तथापि नियति और काल के कार्यरूपी माने जाने के कारण, कारणान्तर का साक्षात् कथन न होने से "उसी से" इस प्रकार 'एव' के द्वारा अव्यक्त पर्यन्त इस कला को ही सामान्य रूप से कारण कहा गया है । इसलिए सामान्यतया प्रतिषिद्ध न होने के कारण कला ही कारण है । इसलिए कहा गया—यह चार कला का कार्य हैं ॥

प्रश्न—भोक्ता और भोग्य रूप से विश्व दो प्रकार का है । ऐसी परिस्थिति में कला आदि भोक्ता के पक्ष वाली है अथवा दूसरे प्रकार की ?—यह शङ्का कर कहते है—

भोक्तृत्व से पूरित (यह कला आदि) भोक्तृभाव में रहती है" ॥-२०३॥

भोक्तृभाव से रहने में कारण है—भोक्तृत्वपूरित । आणव आदि के द्वारा

पक्रान्तमपि कलादिना किंचित्कर्तृत्वाधानेन पूरितमुपबृंहितं कार्यपर्यन्तीकृतमिति यावत् । अत एवैषां तद्धर्मत्वात् भोक्तर्येवावस्थानम् । तथा च पर एव प्रमाता मायया प्रथममपहृतैश्वर्यसर्वस्वः सन् पुनरपि तदैश्वर्यसर्वस्वमध्यात् कलादिमुखेन प्रतिवितीर्णकिंचिदंशः परिमितताम‌श्नुवानः पशुः इत्युच्यते । तत्र कलाविद्ययो-स्तावत् तद्धर्मत्वं निर्विवादसिद्धम् । नहि ज्ञत्वकर्तृत्वयोः प्रमातृधर्मत्वे कश्चिद्विवादः; रागोऽपि तद्धर्म एव भोग्यं प्रति प्रवृत्तिहेतुत्वात्, भोग्यधर्मत्वे हि अस्य न कश्चिदपि वीतरागः स्यात्, भोग्यस्य सर्वान् प्रति अविशेषेण रञ्जकत्वात् । उक्तं च—

'यज्जनिताभिष्वङ्गे भोग्याय नरि क्रिया स रागोऽत्र ।
भोग्यविशेषे रागे नहि कश्चिद्वीतरागः स्यात् ॥' इति ।

कालोऽप्येवम्—प्रथमं हि असौ 'कृशोऽहमभवं स्थूलो वर्ते स्थूलतरश्चाश्वगन्धा-घृतोपयोगेन भविष्यामि' इत्येवं क्रममासूत्रयन् प्रमातृसंलग्नत्वेनैव परिस्फुरेत् । स एव पुनरेवं कालेन कलितः सन्, स्वापेक्षया भूताद्यात्मक्रमावभासनपुरःसर स्वसहचारि मेयमपि कलयेत् 'यत् 'इतिदमासीत्, वर्तते, भविष्यति' इति । नियतेश्च कार्यकारणयोर्नियमनं रूपम्, कार्यकारणभावश्च कर्तृत्वमात्रपर्यवसाय

उपक्रान्त भी भोक्तृत्व कला आदि के द्वारा किञ्चित्कर्त्तृत्व के आधान से पूरित = बढ़ाया गया = कार्यपर्यन्त किया गया । इसलिए उसका धर्म होने से इनकी भोक्ता में ही स्थिति होती है । इस प्रकार पर ही प्रमाता माया के द्वारा पहले अपहृतसर्वस्व वाला होकर पुनः उस ऐश्वर्यसर्वस्व के मध्य से कला आदि के द्वारा वितीर्ण कुछ अंश वाला होता हुआ परिमितता का भागी होकर पशु कहा जाता है। उसमें कला और विद्या उसके धर्म हैं यह निर्विवाद सिद्ध है । ज्ञत्व और कर्त्तृत्व प्रमाता के धर्म हैं इसमें किसी को विवाद नहीं है । राग भी उसी (प्रमाता ही) का धर्म है क्योंकि (यह) भोग्य के प्रति प्रवृति का कारण है । इसके भोग्य का धर्म होने पर कोई भी वीतराग नहीं होगा क्योंकि भोग्य सबके प्रति समान रूप से रञ्जक होता है । कहा भी गया है—

"जिसके द्वारा आसक्ति उत्पन्न होने पर मनुष्य में भोग्य के लिए क्रिया उत्पन्न हो वह राग है । राग यदि भोग्य का धर्म हो तो कोई व्यक्ति वीतराग नहीं होगा ।"

काल भी ऐसा ही है—यह पहले 'मैं दुर्बल था, अब मोटा हूँ । अश्वगन्धा और घी का सेवन कर और मोटा होऊँगा' इस प्रकार क्रम का प्रारम्भ करता हुआ प्रमाता से संलग्न होकर ही स्फुरित होता है । फिर वह इस प्रकार काल से युक्त होता हुआ अपनी अपेक्षा भूत वर्त्तमान आदि क्रम के अवभासन के पश्चात् अपने सहचारी मेय को भी कलित करता है कि—यह था, है, रहेगा ।' नियति का रूप है—कार्यकारण का नियमन । और कार्यकारणभाव कर्त्तृत्वमात्र में पर्यवसित होता

एवेत्युक्तं प्राक्। कर्तृत्वं च प्रमातुर्धर्मः—इति तन्नियमनादियमपि तथा मातुरेव, 'इदमेवास्मि करोमि' इत्यभिमानात् । एवं कालरागनियतिविद्याः कलानिमित्तकाः । 'अहमिदानीमिदमेव जानामि करोमि' इति विमर्शः प्रमातुरेव उचितो न प्रमेयस्येति युक्तमुक्तं—'कलादि भोक्तृभावे तिष्ठत्' इति । एतद्योगादेव हि परस्याः संविदः परं भोक्तृत्वलक्षणं पारिमित्यं समुदियात् ॥ २०३ ॥

तदाह—

माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च ।
कञ्चुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः ॥ २०४ ॥

कञ्चुकानीति—आवारकत्वात् । तत्स्थिताविति—तच्छब्देन कञ्चुकपरामर्शः । तदुक्तम्—

'माया कलाऽशुद्धविद्या रागः कालो नियन्त्रणा।
षडेतान्यावृतिवशात् कञ्चुकानि मितात्मनः ॥' इति ॥ २०४ ॥

ननु सर्वत्र देहपुर्यष्टकादिरेव वेद्यरूपः पशुरिति, भोक्तेति, अणुरिति चोच्यते यस्येदमन्तरङ्गमावरणं कञ्चुकषट्कम् । यदुक्तम्—

'मायासहितं कञ्चुकषट्कमणोरन्तरङ्गमिदमुक्तम् ।'
(परमा० २७ श्लो०) इति ।

है—यह पहले कहा गया है । कर्तृत्व प्रमाता का धर्म है । इसलिए उसका नियमन होने से यह (= नियति) भी उस प्रकार प्रमाता का ही (धर्म है) क्योंकि 'यही हूँ, कर रहा हूँ'—ऐसा अभिमान होता है । इस प्रकार काल राग नियति और विद्या ये चारों कला से उत्पन्न हैं । 'मैं इस समय इसी को जानता हूँ, करता हूँ' यह विमर्श प्रमाता का ही उचित है न कि प्रमेय का । इसलिए ठीक कहा गया'—'कला आदि भोक्तृभाव में रहती हुई' । इसके सम्बन्ध से ही परा संविद् की परभोक्तृत्वलक्षण वाली परिमितता का उदय होता है ॥ २०३ ॥

वह कहते हैं—

माया कला राग विद्या काल और नियति ये संविद् के छ कञ्चुक कहे गये हैं । उसमें स्थित होने पर (संविद्) पशु हो जाती है ॥ २०४ ॥

कञ्चुक—आवारक होने के कारण । 'तत्स्थितौ' यहाँ तत् शब्द से कञ्चुक को समझना चाहिए । वही कहा गया है—

"माया कला अशुद्धविद्या, राग काल नियति ये छ, आवरण के कारण, प्रमाता के कञ्चुक हैं" ॥ २०४ ॥

प्रश्न—सर्वत्र वेद्यरूप देह पुर्यष्टक आदि ही पशु, भोक्ता, अणु कहा जाता है

तत् कथमिहोक्तं संविदः षट् कञ्चुकानि ?—इत्याशङ्क्याह—

देहपुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम् ।
एतत्षट्कससङ्कोचं यदवेद्यमसावणुः ॥ २०५ ॥

यद्वेद्येषु देहादिषु मध्ये प्रमात्रेकरूपत्वात् अवेद्यमेतेन मायादिना षट्केन ससङ्कोचं परिमिततामापादितं विदिक्रियाकर्तृरूपं वेदनं सोऽयमणुः किलागमेषु उच्यते—इत्यर्थः । इदमेव च पञ्चविंशं पुंस्तत्त्वमित्युच्यते, यत् श्रीपूर्वशास्त्रेषु पुमानिति, अणुरिति, पुद्गलमिति चोक्तम् । परस्या एव संविदश्चोक्तयुक्त्या मायावशात् पुंस्त्वं जातम् इति; तत एवास्य पुंस्तत्त्वस्य श्रीस्वच्छन्दशास्त्रादौ तत्र तत्रागमे जन्मोक्तम्—इति अत्राप्येतदवसेयम् । तदुक्तं श्रीमृगेन्द्रेऽपि—

'ग्रन्थिजन्यकलाकालविद्यारागान्यमातरः ।'

इत्यादि सामान्येनोपक्रम्य

'पुंस्तत्त्वं तत एवाभूत् पुंस्प्रत्ययनिबन्धनम् ।' इति

एतच्च श्रीपूर्वशास्त्रे तथानभिधानात् नात्र स्वकण्ठेनोक्तम् ॥ २०५ ॥

नन्वनयैव परिपाट्या कञ्चुकषट्कस्य किं सर्वत्र वृत्तान्तः संभवेन्न वा ?—

जिसका कि यह छ कञ्चुक आवरण है । जैसा कि कहा गया है—

"माया के सहित छ कञ्चुक अणु का अन्तरङ्ग कहा गया है ।" तो फिर यहाँ कैसे कहा गया कि संविद् के छ कञ्चुक हैं ?—यह शङ्का कर कहते है—

जो देहपुर्यष्टक आदि वेद्यों में वेदन करने वाला तथा इन छ सङ्कोचों वाला अवेद्य है वह अणु है ॥ २०५ ॥

वेद्य देह आदि के मध्य जो प्रमाता रूप होने से अवेद्य हैं, इस माया आदि छ के द्वारा सङ्कोचयुक्त = परिमितता को प्राप्त, विदिक्रियाकर्त्तृरूप वेदन है, वह यह आगमों में अणु कहा जाता है । यही पचीसवाँ पुरुषतत्त्व कहा जाता है । मालिनीविजयतन्त्र में यही पुमान् अणु और पुद्गल कहा गया है । परा संविद् ही उक्त युक्ति से माया के वश में होने से पुरुष हो जाती है । इसीलिए स्वच्छन्दशास्त्र आदि भिन्न-भिन्न आगमों में इस पुरुष तत्त्व का जन्म कहा गया है । इसलिए यहाँ भी यह समझना चाहिए । वही मृगेन्द्रतन्त्र में भी कहा गया है—

"माया से उत्पन्न कला काल विद्या राग नियति"

इत्यादि सामान्यरूप से प्रारम्भ कर

"पुरुष प्रत्यय का कारण पुंस्तत्त्व उसी से उत्पन्न हुआ ।"

श्रीपूर्वशास्त्र में उस प्रकार का कथन न होने से यहाँ अपने मुख से वैसा नहीं कहा गया ॥ २०५ ॥

इत्याशङ्क्याह—

उक्तं शिवतनुशास्त्रे तदिदं भङ्ग्यन्तरेण पुनः ।

तदेवाह—

आवरणं सर्वात्मगमशुद्धिरन्याप्यनन्यरूपेव ॥ २०६ ॥

आवरणं संसारकारणत्वेनोक्तमाणवं मलम्—

तदुक्तं तत्र—

'तस्मात्सर्वात्मगता तेभ्यस्त्वन्या विभात्यनन्येव ।
संसाराङ्कुरकारणमाणवं चेतसोऽशुद्धिरिति ॥' इति ॥ २०६ ॥

ननु कथमेकस्या एव अस्या अन्यत्वमनन्यत्वं च स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

शिवदहनकिरणजालैर्दाह्यत्वात् सा यतोऽन्यरूपैव ।
अनिदंपूर्वतया यद्रञ्जयति निजात्मना ततोऽनन्या ॥ २०७ ॥
सहजाशुद्धिमतोऽणोरीशगुहाभ्यां हि कञ्चुकस्त्रिविधः ।

प्रश्न—इसी रीति से छ कञ्चुकों का वृत्तान्त सर्वत्र संभव है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते है—

शिवतनुशास्त्र में यह प्रकारान्तर से कहा गया है ॥ २०६- ॥

वह कहते हैं—

सर्वत्र वर्त्तमान आवरण ही अशुद्धि है । वह अन्य होते हुए भी अनन्यरूपा जैसी है ॥ -२०६ ॥

आवरण = संसार के कारण के रूप में कहा गया आणव मल ।

वही वहाँ कहा गया—

"इस कारण सर्वगामिनी, उनसे अभिन्न होते हुए भी भिन्न जैसी प्रतीत होने वाली चित्त की अशुद्धि जो कि संसार के अङ्कुर का कारण है, आणव मल है" ॥ २०६ ॥

प्रश्न—एक ही यह अन्य और अनन्य (दोनों) कैसे होगी ?—यह शङ्का कर कहते है—

क्योंकि शिवरूपी अग्नि के किरणसमूहों के द्वारा दाह्य होने से वह अन्यरूपा ही है । और चूँकि अपने से अनिदंपूर्वरूप में रञ्जित करती है अर्थात् 'इदम्' नहीं है इसलिए अनन्य है । स्वभावत: अशुद्धि वाले अणु का ईश्वर (निरोध शक्ति) और गुहा (= माया) के द्वारा कञ्चुक तीन प्रकार का है ॥ २०७-२०८- ॥

दाह्यत्वादित्यनेनास्या अपायित्वमुक्तम् । भिन्नस्यैव हि आगमापायौ भवत.— इति भाव: । 'यत:' इति सर्वात्मभ्य: । यद्वा विज्ञानामृतसरिता प्लाव्यत्वादिति पाठो ग्राह्य: । तदुक्तं तत्र—

'विज्ञानामृतसरिता शिवशशिन: स्यन्दमानयामलया ।
प्रप्लाव्य यतस्तेभ्यो निरस्यतेऽधस्तत: सान्या ॥' इति

पूर्वत्र पुन: कञ्चुकानां दाह्यत्वमुचितमित्येवमुक्तम्—'अनिदंपूर्वतया' इत्यनादिकालानुबन्धित्वात्; अत एवास्या: सहजत्वात् ताम्रकालिका(मा)वत् असंलक्ष्यभेदत्वेनानन्यत्वम् । तदुक्तं तत्र—

'श्लिष्टा यस्मादात्मस्वनादिकालानुबन्धिनी चितिवत् ।
वृत्त्यानुरञ्जयन्ती तस्मात् प्रतिभात्यनन्येव ॥' इति

एवमाणवमलावरण(व)तोऽपि अणो:, ईश: तदीया मलाधिष्ठायिका निरोधशक्ति:, गुहा कर्मणोऽवस्थितिस्थानं माया, ताभ्यां सह त्रिविधो मल: ईशशक्तिमायाख्य: प्रावरणप्रायत्वात् कञ्चुकरूपो बन्ध: । तदुक्तं तत्र—

दाह्य होने के कारण—इस कथन से इस (= अशुद्धि) का नाशस्वभाव भी कहा गया है । भिन्न का ही उत्पत्ति और विनाश होता है । जिससे = सब आत्माओं से । अथवा विज्ञाना मृतसरिताप्लाव्यत्वात् (विज्ञानामृतसरिता के द्वारा आप्लाव्य होने से)—यह पाठ मानना चाहिए । वही वहाँ कहा गया है—

"चूँकि शिवरूपी चन्द्रमा से बहने वाली निर्मल विज्ञानामृत सरित् के द्वारा आप्लावित करके उनसे (= आत्माओं से) नीचे ढकेल दी जाती है इसलिए वह (अशुद्धि) अन्य है ।"

पहले कञ्चुकों का दाह्यत्व उचित है—इसलिये ऐसा कहा गया ।

'अनिदंपूर्वतया'—यह (कथन) अनादिकालानुबन्धी होने के कारण है; इसलिए इसके सहज होने के कारण ताम्रकालिमा के समान (जैसे ताँबे की लाली के साथ उसकी मैल भी ताँबे के रंग की मालुम पड़ती है भिन्न नहीं उस प्रकार) असंलक्ष्य भेद होने के कारण अनन्यता है । वही वहाँ कहा गया—

"जिस कारण अनादिकालानुबन्धिनी चिति के समान आत्माओं में श्लिष्ट होकर यह (अशुद्धि) वृत्ति के द्वारा अनुरञ्जन करती है इसलिए अनन्य जैसी प्रतीत होती है ।"

इस प्रकार आणवमल के आवरण वाले भी अणु का ईश्वर उसकी मलाधिष्ठायिका निरोध शक्ति, गुहा = कर्म की अवस्थिति का स्थान माया, इन दोनों के साथ ईश शक्ति और माया नामक तीन मल आवरण जैसा होने के कारण कञ्चुकरूप बन्धन है । वही वहाँ कहा गया है—

'एवं महता तमसा सहजेनाविद्धचेतसः पुंसः ।
परमेश्वराद् गुहातः प्रवर्त्तते कञ्चुकस्त्रिविधः ॥' इति ।

एवं बन्धत्रयभाज एव हि कलायोगयोग्यता भवेदिति भावः ।

अत एव

'त्रिबद्धचित्कलायोगा.......................... ।'

इत्यादि अन्यत्रोक्तम् ॥ २०७ ॥

अत एवाह—

तस्य द्वितीयचितिरिव स्वच्छस्य नियुज्यते कला श्लक्ष्णा ॥ २०८ ॥
अनया विद्वस्य पशोरुपभोगसमर्थता भवति ।
विद्या चास्य कलातः शरणान्तर्दीपकप्रभेवाभूत्॥ २०९ ॥
सुखदुःखसंविदं या विविनक्ति पशोर्विभागेन ।
रागश्च कलातत्त्वाच्छुचिवस्त्रकषायवत् समुत्पन्नः ॥ २१० ॥
त्यक्तुं वाञ्छति न यतः संसृतिसुखसंविदानन्दम्।
एवमविद्यामलिनःसमर्थितस्त्रिगुणकञ्चुकबलेन ॥ २११ ॥
गहनोपभोगगर्भे पशुरवशमधोमुखः पतति ।

"इस प्रकार स्वाभाविक महान् अज्ञान से आविद्ध चित्त वाले पुरुष का त्रिविध कञ्चुक परमेश्वर, उसकी रोधिनी शक्ति तथा गुहा (= माया) से प्रवृत्त होता है ।"

इस प्रकार तीन बन्धन वाले की ही कला से युक्त होने की योग्यता होती है । इसलिए—

"तीन (मलों) से बद्ध चित्कलायोग वाली.............।"

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है ॥ २०७ ॥

इसलिए कहते हैं—

उस स्वच्छ (चैतन्य) के साथ दूसरे (विविध कञ्चुक से युक्त) चैतन्य के समान सूक्ष्म कला नियुक्त की जाती है । इससे (= मृदु कला से) विद्ध पशु के अन्दर उपभोगसामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है । कला से (उत्पन्न) विद्या इसके लिए गृह के भीतर दीपक प्रभा के समान हो जाती है जो पशु के सुख-दुःख के ज्ञान को अलग-अलग करती है । उज्ज्वल वस्त्र पर कषाय के समान कलातत्त्व से राग उत्पन्न हुआ है । जिसके कारण वह (= जीव) सृष्टिसुख वाले संविद् के आनन्द को नहीं छोड़ना चाहता है । इस प्रकार अविद्या से मलिन त्रिगुण कञ्चुकबल से

द्वितीयेति—स्वाभाविक्या एकस्याः चितेः उक्त युक्त्या कञ्चुकत्रयेणावृतत्वात् । स्वच्छस्येति—स्वभावतः । श्लक्ष्णेति—प्रथममुद्भिन्नत्वात् सूक्ष्मेत्यर्थः । अस्याश्च किंचित्प्रकाशत्वेन शरणान्तर्दीपकप्रभेवेत्युक्तम् । शुचिवस्त्रस्थानीय आत्मा । अविद्यामलिन इति अविद्यया आणवेन मलेन तदुपलक्षिताभ्यामीशशक्तिमायाभ्यां च 'मलिनः' संच्छादितपूर्णज्ञानक्रियः—इत्यर्थः । त्रिविधकञ्चुकबलेनेति त्रिविधस्य कलाविद्यारागात्मनः कञ्चुकस्य बलेन किंचिज्ज्ञत्वकर्तृत्वाद्युपोद्बलकेन सामर्थ्य-विशेषेण—इत्यर्थः । एवमाणवादिकञ्चुकत्रयेण सह षट् कञ्चुकानीत्यत्र भङ्ग्यन्तर-त्वम् । कालनियत्योस्तु अनभिधानेऽयमाशयो यत् कलादिशुद्ध्यैतत्तत्त्वशुद्धिरिति । यद् रुरुवृत्तिः—

'कलादिभिरेव शुद्धैस्तत् शुद्धं द्रष्टव्यम् ।
इत्यभिप्रायतोऽनभिधानं नाभावात् ॥' इति ।

'अधोमुखः' इति मायीयभोगौन्मुख्यात् ॥ २११ ॥

ननु प्रकृतेऽपि एवं मलस्यावारकत्वात् कञ्चुकत्वमेव वक्तुं युक्तम्,—इति कथं 'षट् कञ्चुकानि' इत्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

समर्थित पशु अधोमुख होकर अनन्तनाथ के (द्वारा प्रवर्त्तित) उपभोग के गर्भ में गिर पड़ता है ॥ -२०८-२१२- ॥

द्वितीय—स्वभाविक एक चिति के उक्त युक्ति से तीन कञ्चुक से आवृत होने के कारण । स्वच्छ का—स्वभावतः स्वच्छ का । श्लक्ष्ण—प्रथम उद्भिन्न होने के कारण अर्थात् सूक्ष्म । इसके किञ्चित्प्रकाशक होने के कारण गृहान्तर्वर्त्ती दीपक प्रभा के समान—ऐसा कहा गया । शुचिवस्त्रस्थानीय—आत्मा । अविद्यामलिन = अविद्या के द्वारा = आणव मल के द्वारा, उससे उपलक्षित निरोध शक्ति और माया के द्वारा, मलिन = संछादितपूर्णज्ञानकिया वाला । त्रिविध कञ्चुक के बल से = त्रिविध—कला विद्या और रागस्वरूप कञ्चुक के बल से = किञ्चिज्ज्ञत्व कर्तृत्व आदि के उपोद्बलक सामर्थ्यविशेष के द्वारा । इस प्रकार आणव आदि तीन कञ्चुकों के साथ छ कञ्चुक हैं—ऐसी यहाँ भङ्गिमा (= ज्ञातव्य) है । काल और नियति के कथन न करने में यह आशय है कि कला आदि की शुद्धि से इन (काल और नियति) तत्त्वों की शुद्धि हो जाती है । जैसी कि रुरुवृत्ति है—

"शुद्ध कला आदि के द्वारा उसे शुद्ध समझना चाहिए—इस अभिप्राय से कथन नहीं किया गया न कि (= उन काल और नियति का) अभाव है इस कारण ।"

अधोमुख—मायीय भोग की ओर उन्मुख होने से ॥ २११ ॥

प्रश्न—प्रकृत में भी इस प्रकार मल के आवारक होने के कारण उसे भी कञ्चुक ही कहना ठीक है फिर 'छ कञ्चुकं ऐसा क्यों कहा ?—यह शङ्का कर

एतेन मलः कथितः कम्बुकवदणोः कलादिकं तुषवत् ॥ २१२ ॥

एतेनेति—मायादीनां षण्णामेव कञ्चुकत्वाभिधानेन । कम्बुकवदित्यन्तश्चान्तस्त्वात् । एवं मलावृतस्य सतो हि पुंसः प्रतिप्रावरणप्रायं कञ्चुकषट्कमिति; अत एवोक्तम्—तुषवदिति । तदुक्तम्—

'एवं च पुद्गलस्यान्तर्मलः कम्बुकवत् स्थितः ।
तुषवत् कञ्चुकानि स्युः .... ॥' इति ॥ २१२ ॥

एतदेवोपसंहरति—

एवं कलाख्यतत्त्वस्य किंचित्कर्तृत्वलक्षणे ।
विशेषभागे कर्तृत्वं चर्चितं भोक्तृपूर्वकम् ॥ २१३ ॥

कलायास्तावत् किंचिद्रूपताविशिष्टं कर्तृत्वं लक्षणं तत्र विशेषभागेऽर्थादवस्थितं विशेष्यांशरूपं यत् कर्तृत्वं तद्भोक्तृरूपं चर्चितं, विद्याद्युत्पादक्रमेण उक्तयुक्त्या भोक्तृत्वाधायकत्वेन विचार्य उक्तमित्यर्थः ॥ २१३ ॥

नन्वत्र विशेषभागावस्थितं किंचित्त्वम् ?—इत्याशङ्क्याह—

कहते हैं—

इससे अणु का भीतरी मल कम्बुक (= छीमी का दाना) के समान और कला आदि तुष (= छिलका) के समान कहा गया है ॥ -२१२ ॥

इससे = माया आदि छ को ही कञ्चुक कहने से । कम्बुकवत्—भीतर होने से ऐसा कहा गया । इस प्रकार यह छ कञ्चुक मल से आवृत पुरुष के प्रति प्रावरणप्राय है । इसलिए कहा गया—तुषवत् ।

वही कहा गया—

"इस प्रकार पुद्गल (= जीव) के अन्दर मल कम्बुक की भाँति स्थित है और कञ्चुक तुष के समान हैं" ॥ २१२ ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार कला नामक तत्त्व के किञ्चित्कर्तृत्व लक्षण वाले विशेष भाग में चर्चित कर्तृत्व भोक्तृपूर्वक है ॥ २१३ ॥

किञ्चिद्रूपताविशिष्ट कर्तृत्व कला का लक्षण है । उसमें विशेष भाग में अर्थात् अवस्थित विशेष्यांश रूप जो कर्तृत्व है वह भोक्तृरूप कहा गया है, अर्थात् विद्या आदि की उत्पत्ति के क्रम से उक्त युक्ति के द्वारा भोक्तृत्व के आधायक के रूप में विचार कर कहा गया है ॥ २१३ ॥

प्रश्न—यहाँ किञ्चित्त्व विशेषभाग में (कैसे) अवस्थित है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

विशेषणतया योऽत्र किञ्चिद्भागस्तदोत्थितम्।
वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला ॥ २१४ ॥

इह कर्तृत्वस्य स्वयमनवच्छिन्नत्वेऽपि किंचिद्विषयत्वात् किंचिद्रूपत्वं जातम्, इति किंचित्त्वं वेद्यपक्ष एव तिष्ठेत्; ततश्च तदंशप्रयोजकीकारेणोल्लसितं सत् भाविवेद्यविशेषापेक्षया वेद्यसामान्यात्मकं भोग्यरूपं प्रधानं कला सूयते बहीरूपतया व्यक्ततां नयेत्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'तत एव कलातत्त्वादव्यक्तमसृजत्.......।' इति (मा० १।३०)

इति । तच्च भिन्नं प्रतिपुंनियतत्वादनेकमिति यावत् । कलादीनां च तथात्वेऽपि स्फुटं तदपेक्षया स्थूलम्—इत्यर्थः ॥ २१४ ॥

ननु भोक्तृभोग्ययोः परस्परसापेक्षत्वात् कथं नाम क्रमेणोत्पत्तिः सङ्गच्छताम्; नहि भोग्यं विना भोक्तृत्वमेव किञ्चिद् भवेत्, भोक्तृत्वं विनापि भोग्यमिति तत् कथं भोक्तृत्वं प्रसूय भोग्यं कला सूते इत्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

सममेव हि भोग्यं च भोक्तारं च प्रसूयते ।
कला भेदाभिसंधानादवियुक्तं परस्परम् ॥ २१५ ॥

जो यहाँ विशेषण के रूप में कुछ भाग है उससे कुछ उल्लसित सामान्यतया वेद्य स्फुट एवं भिन्न प्रकृति तत्त्व को कला उत्पन्न करती है ॥ २१४ ॥

(परमेश्वरगत) कर्त्तृत्व के स्वयं अनवच्छिन्न होने पर भी किञ्चिद्विषयक होने से किञ्चिद्रूपता उत्पन्न हुई—इस प्रकार किञ्चित्त्व वेद्य पक्ष (= विशेष) में ही रहता है। इसके बाद उस अंश के प्रयोजक होने के कारण उल्लसित होने वाले भावी वेद्यविशेष की अपेक्षा वेद्यसामान्यरूप भोग्य प्रकृतितत्त्व को कला उत्पन्न करती है = बाह्य रूप में व्यक्त करती है । वही कहा गया है—

"उसी कला तत्त्व से अव्यक्त की सृष्टि की......... ।"

वह (= प्रकृति तत्त्व) भिन्न है = प्रति पुरुष नियत होने के कारण अनेक है । कला अदि के भी वैसा (= प्रतिपुरुष नियत एवं भिन्न) होने पर भी उनकी अपेक्षा (प्रकृति की) स्थूलता स्फुट है ॥ २१४ ॥

प्रश्न—भोक्ता और भोग्य के परस्पर सापेक्ष होने से (उनकी) क्रमिक उत्पत्ति कैसे सङ्गत होगी ? भोग्य के बिना कोई भोक्तृत्व नहीं होता और न ही भोक्तृत्व के बिना भोग्य, तो फिर कैसे भोक्तृत्व को उत्पन्न करने के बाद कला भोग्य को उत्पन्न करती है—यह कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते है—

कला भेद के अभिसन्धान से परस्पर अवियुक्त भोग्य एवं भोक्ता को साथ ही उत्पन्न करती है ॥ २१५ ॥

भोक्तारमिति भोक्तृगतं भोक्तृत्वम्—इत्यर्थः । यतः तत् भोक्तृभोग्यात्मकमुभयं परस्पराविवियुक्तं सापेक्षम्—इत्यर्थः । वस्तुतो हि अनयोः

'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।' (स्प० १।४)

इत्याद्युक्तेः अद्वयमयत्वेन अभेदेऽपि मायीयं भेदमभिसंधाय परस्परमपेक्षा-लक्षणमवियुक्तत्वं दर्शितम्—इत्युक्तं—'भेदाभिसंधानात्' इति ॥ २१५ ॥

ननु अनयोरेवमवियोगेन कोऽर्थः ?—इत्याशङ्क्याह—

भोक्तृभोग्यात्मता न स्याद्वियोगाच्च परस्परम् ।

वियोगादिति—परस्परसापेक्षत्वाभावात् ॥

नन्वेवंविधा भोक्तृभोग्यात्मताऽपि मा भूत् ?—इत्याशङ्क्याह—

विलीनायां च तस्यां स्यान्मायाऽस्यापि न किञ्चन ॥ २१६ ॥

भोक्तृभोग्यात्मतालक्षणे हि क्षोभे प्रलीने संसार एव न भवेत्—इति भावः । यदुक्तम्—

'निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।

भोक्ता = भोक्ता में वर्तमान भोक्तृत्व । क्योंकि वे भोक्तृभोग्य रूप दोनों परस्पर अवियुक्त हैं अर्थात् सापेक्ष हैं । वस्तुतः

"भोक्ता ही भोग्यरूप में सदा सर्वत्र स्थित है ।"

इत्यादि उक्ति से इन दोनों के अद्वयमय होने से अभेद होने पर भी मायीय भेद को दृष्टि में रखकर परस्पर अपेक्षा लक्षण वाला अवियोग दिखाया गया—इसलिए कहा गया—'भेद के अभिसन्धान से' ॥ २१५ ॥

प्रश्न—इन दोनों के इस प्रकार के अवियोग से क्या लाभ है ?—यह शङ्का कर कहते है—

परस्पर वियोग होने से भोक्तृभोग्यात्मता नहीं होगी ॥ २१६- ॥

वियोग के कारण = परस्पर सापेक्ष न होने से ॥

प्रश्न—इस प्रकार की भोक्तृभोग्यात्मता भी न हो ?—यह शङ्का कर कहते है—

उसके विलीन होने पर इसको कुछ माया (= संसार) भी नहीं होगी ॥ -२१६ ॥

भोक्तृभोग्यरूप लक्षण वाले क्षोभ के प्रलीन होने पर संसार ही नहीं होगा—यह तात्पर्य है । जैसा कि कहा गया—

यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम् ॥'
(स्प० १।९) इति ॥ २१६ ॥

ननु कथमेतदुक्तम्, अन्यत्र हि पूर्वम् कलातो भोक्तृरूपं रागविद्यायुग्म-प्रकृति—तत्त्वमिति क्रमेण भोक्तृभोग्योत्पाद उक्तः ?—इत्याह—

ननु श्रीमद्रौरवादौ रागविद्यात्मकं द्वयम् ।
सूते कला हि युगपत्ततोऽव्यक्तमिति स्थितिः ॥ २१७॥

तत इति रागविद्यायुग्मप्रसरादनन्तरम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'स्कन्धोऽपरः कलायास्तु यस्मादेताः प्रजज्ञिरे ।
विद्यारागप्रकृतयो युग्मायुग्मक्रमेण तु ॥'

तथा च श्रीरुरौ—

'कलातत्त्वाद्रागविद्ये द्वे तत्त्वे संबभूवतुः ।
अव्यक्तं च ततः........................ ॥'

इति वाक्यभेदेन पाठः । एषां हि सममेवोत्पादे रागविद्याव्यक्तानि संबभूवुरित्येकवाक्यतैव स्यात् । पूर्वं पुनर्व्याख्यातृभेदमवलम्ब्य 'मायातोऽव्यक्त-कलयोः' इत्याद्युक्तम् । तत्र हि वार्तिककारः तच्छब्देन मायां व्याख्यातवान् ।

"अपनी शुद्धि में समर्थ और कर्त्तव्यों के विषय में साभिलाष (योगी) का क्षोभ जब प्रलीन हो जाता है तब उसको परम पद (की प्राप्ति) होती है" ॥ २१६ ॥ (स्प०का० १.९)

प्रश्न—ऐसा कैसे कहा गया ? क्योंकि अन्यत्र पहले कला से भोक्तृरूप राग विद्या दोनों फिर प्रकृति तत्त्व इस क्रम से भोक्ता और भोग्य की उत्पत्ति कही गयी है ?—यह कहते हैं—

प्रश्न है कि श्रीरौरव आदि में कहा गया है कि कला पहले राग विद्या रूप दो को एक साथ उत्पन्न करती है इसके बाद अव्यक्त की स्थिति होती है ॥ २१७ ॥

उसके बाद = राग विद्या युगल के प्रसरण के बाद । वही कहा गया है—

"कला का (यह एक) दूसरा स्कन्ध है जिससे ये विद्या राग और प्रकृति युग्म और अयुग्म क्रम से उत्पन्न हुईं ।"

श्रीरुरु मे भी—

"कला तत्त्व से राग और विद्या दो तत्त्व उत्पन्न हुए । उसके बाद अव्यक्त..।"

इस प्रकार वाक्यभेद के साथ पाठ है । इनकी एक साथ उत्पत्ति होने पर राग विद्या और अव्यक्त उत्पन्न हुए—ऐसी एकवाक्यता ही होती । पहले व्याख्याता के

वृत्तिकारस्तु आनन्तर्यमिति ॥ २१७ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते—

उक्तमत्र विभात्येष क्रमः सत्यं तथा ह्यलम् ।
रज्यमानो वेद सर्वं विदंश्चाप्यत्र रज्यते ॥ २१८ ॥

उच्यते इति वक्तव्ये बुद्धिस्थतया सिद्धतामभिप्रेत्य निर्विलम्बमेव एतद्दत्तोत्तर-मित्युक्तम्; सत्यम्, एष त्वदभिमतः क्रमोऽत्र विभाति । तथाहि—अलमत्यर्थं रागविद्ययोरपि परस्परं क्रमोऽस्ति—इत्यर्थः । सर्व एव हि पुमान् रज्यन् वा सर्वं वेत्ति, विदन् वा सर्वत्र रज्यतीत्यसावपि क्रमः कथं न भवेत् ॥ २१८ ॥

ननु यद्येवं तत् कथं भोक्तृभोग्ययोर्युगपदुत्पादो भवतैवोक्तः?—इत्याशङ्क्याह—

तथापि वस्तुसत्तेयमिहास्माभिर्निरूपिता ।
तस्यां च न क्रमः कोऽपि स्याद्वा सोऽपि विपर्ययात्॥ २१९ ॥

तथापीति—एवमेषां क्रमसंभावनेऽपि—इत्यर्थः । वस्तुसत्तेति, वस्तुनोर्भोक्तृ-

---

भेद को आधार मान कर 'माया से अव्यक्त और कला का' ऐसा कहा गया । वहाँ वार्त्तिककार 'तत्' शब्द से माया का व्याख्यान करते हैं किन्तु वृत्तिकार आनन्तर्य अर्थ लेते हैं ॥ २१७ ॥

इसी का प्रतिविधान करते हैं—

यहाँ यह क्रम सत्य उक्त लगता है तो ठीक है । अनुरक्त होने वाला सबको जानता है और जानने वाला इसमें अनुरक्त होता है ॥ २१८ ॥

उच्यते—ऐसा कहने के बजाय बुद्धिस्थ होने के कारण सिद्धता को मानकर बिना विलम्ब के इसका उत्तर दे दिया गया इसलिए 'उक्तम्' कहा गया । यह सत्य है । यह आपका अभिमत क्रम यहाँ प्रतीत होता है । इस प्रकार—अलम् = अत्यधिक राग और विद्या का भी परस्पर क्रम है । सभी पुरुष अनुरक्त होते हुए सबको जानते हैं या जानते हुए सर्वत्र अनुरक्त होते हैं—यह भी क्रम कैसे नहीं होगा (अर्थात् अवश्य हो सकता है) ॥ २१८ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो भोक्ता और भोग्य की एक साथ उत्पत्ति आप ही के द्वारा कैसे कही गयी ?—यह शङ्का कर कहते है—

तो भी हमलोगों के द्वारा यहाँ वस्तुसत्ता का निरूपण किया गया । उसमें कोई भी क्रम नहीं है । और यदि है तो वह भी विपर्यय के कारण ॥ २१९ ॥

तथापि = इस प्रकार इनकी क्रमसंभावना होने पर भी । वस्तुसत्ता = वस्तु की

भोग्ययोः सत्ता पारमार्थिकः संभवः—इत्यर्थः । 'न क्रमः' इति परस्परसापेक्षत्वात् । यदुक्तमनेनैव अन्यत्र—

'अत्र चैषां वास्तवेन पथा क्रमवन्ध्यैव सृष्टिरित्युक्तम् ।'
(तं० सा० ८ आ) इति ॥ २१९ ॥

यदि चात्र वस्तुसत्तामपहाय संभावनामात्रेण क्रम उच्यते प्रत्युत विपर्ययेणापि असौ स्यात् भोगोत्पादानन्तरं भोक्तृत्वोत्पादः, इति तस्मात् नात्र विप्रतिपत्तव्यम्—इत्याह—

तस्माद्विप्रतिपत्तिं नो कुर्याच्छास्त्रोदिते विधौ ।

शास्त्रोदिते विधाविति—रुरुशास्त्रोदितविधिमाश्रित्य—इत्यर्थः । इयदेव हि तत्र विवक्षितं यत् कलातत्त्वात् रागादितत्त्वत्रयं समुत्पन्नम्—इति, अस्य पुनर्युगपदयुगपद्वा समुत्पादः, तत्स्वरूपनिरूपणात्मकात् विचाराल्लभ्यते न तु यथाश्रुतादुत्तानादर्थमात्रादेव—इत्यस्मदुक्तमेव ज्यायः ॥ २१९ ॥

ननु वेद्यमात्रं प्रधानमित्युक्तम्, न च विशेषरूपस्य सुखादेरेव पृथगस्य वेद्यत्वमस्ति?—इत्याशङ्क्याह—

एवं संवेद्यमात्रं यत् सुखदुःखविमोहतः ॥ २२० ॥

= भोक्ता और भोग्य की, सत्ता = पारमार्थिक उत्पत्ति । क्रम नहीं है—परस्पर सापेक्ष होने के कारण । जैसा कि इन्होंने ही अन्यत्र कहा है—

'यहाँ इनकी वस्तुतः क्रमरहित ही सृष्टि होती है—यह कहा गया ॥ २१९ ॥

यदि यहाँ वस्तुसत्ता को छोड़कर सम्भावनामात्र के कारण क्रम कहा जाता है तो विपर्यय से भी यह हो सकता है—भोग की उत्पत्ति के बाद भोक्तृत्व की उत्पत्ति होती है । इस कारण यहाँ सन्देह नहीं करना चाहिए—यह कहते है—

इसलिए शास्त्रोक्त विधि के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ २२०- ॥

शास्त्रोक्त विधि के विषय में = रुरुशास्त्र में उक्त विधि को आधार मानकर । यही वहाँ विवक्षित है कि कलातत्त्वं से राग आदि तीन (= राग, विद्या और प्रकृति) तत्त्व उत्पन्न हुए हैं । इसलिए इनकी एक साथ या क्रम से उत्पत्ति है यह उसके स्वरूपनिरूपण वाले विचार से प्राप्त होता है न कि यथाश्रुत अभिधेयार्थमात्र से ही—इसलिए हमारा कथन ही उचित है ॥ २१९ ॥

प्रश्न—वेद्यमात्र प्रधान है—ऐसा कहा गया । विशेष रूप से सुख आदि के ही वेदन से इसका पृथक् वेद्यत्व है—ऐसा नहीं है?—यह शङ्का कर कहते है—

इस प्रकार जो सामान्य संवेद्य सुख दुःख और मोह के कारण जाना

भोत्स्यते यत्ततः प्रोक्तं तत्साम्यात्मकमादितः ।

एवमुक्तेन प्रकारेण संवेद्यमात्रं भवत् यत् सुखादिभ्यो भोत्स्यते 'कार्यतस्तदुपलब्धेः' इति नीत्यानुमास्यते ततो विशेषस्य सामान्यपूर्वकत्वात् हेतोः साम्यात्मकमविभागरूपं तदादितः प्रोक्तं कारणतया निरूपितम्—इत्यर्थः ॥ २२० ॥

ननु सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः—इति सांख्याः, तत्कथमिह सुखादिभ्यस्तद्भोत्स्यते इत्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

सुखं सत्त्वं प्रकाशत्वात् प्रकाशो ह्लाद उच्यते ॥ २२१ ॥
दुःखं रजः क्रियात्मत्वाद् क्रिया हि तदतत्क्रमः ।
मोहस्तमो वरणकः प्रकाशाभावयोगतः ॥ २२२ ॥

ननु सुखस्य प्रकाशरूपत्वमसिद्धं सुखं हि सुखमेव न प्रकाशः—इत्युक्तम् 'प्रकाशो ह्लाद उच्यते' इति । 'ह्लादः' इत्यहंचमत्कारमयत्वात् । दुःखमिति-प्रकाशाप्रकाशरूपम्, प्रकाशरूपत्वे हि सुखमेव स्यात् अन्यथा तु मोहः । क्रियात्मत्वादिति—भावाभावरूपतया अस्य क्रमिकत्वात् ।

जाता है और जो इस कारण साम्यात्मक कहा गया वह प्रथम (कारण) रूप में कहा गया ॥ -२२०-२२१- ॥

इस प्रकार = उक्त प्रकार से संवेद्यमात्र होता हुआ जो सुख आदि के कारण जाना जाता है = कार्य से उसकी उपलब्धि होने के कारण—इस नीति से अनुमान किया जाता है, इसलिए विशेष के सामान्यपूर्वक होने के कारण साम्यात्मक = अविभाग रूप वह, पहले कहा गया = कारण के रूप में निरूपित किया गया ॥ २२० ॥

प्रश्न—'सत्त्व रजस् और तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है'—ऐसा सांख्य दर्शन वाले कहते हैं तो फिर यहाँ वह (= प्रकति) सुख आदि से जानी जायेगी । यह कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रकाश रूप होने के कारण सुख सत्त्व है । प्रकाश आह्लाद को कहते हैं । क्रियात्मक होने के कारण दुःख रजस् है । तद् अतद् क्रम ही क्रिया है । प्रकाशाभाव के कारण आवरण करने वाला मोह तमस् है ॥ -२२१-२२२ ॥

प्रश्न—सुख की प्रकाशरूपता असिद्ध है क्योंकि सुख सुख ही है प्रकाश नहीं है ?—इसलिए कहा गया—प्रकाश प्रसन्नता को कहा जाता है । 'ह्लाद' अहंचमत्कारमय होने के कारण । दुःख = प्रकाशाप्रकाश रूप । केवल प्रकाश रूप होने पर यह सुख ही होता और अन्यथा (= अप्रकाश रूप होने पर) मोह । क्रियात्मक होने के कारण = भावाभावरूप होने से इसके क्रमिक होने के कारण ।

नन्वेवं दुःखस्य क्रमिकत्वमस्तु क्रियात्वं तु कुतः ?—इत्युक्तम्—'क्रिया हि तदतत्क्रमः' इति तदतदोरिति प्रकाशाप्रकाशयोः । तदुक्तम्—

'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।'

(सां०का० १२) इति ।

'सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः.................................... ॥'

(सां ०का० १३) इति च ।

श्रीप्रत्यभिज्ञायामपि—

'सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः ।
द्वयात्म तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम् ॥'

(४अ०१आ०७का०) इति

तदेवं सत्त्वरजस्तमसां साम्यात्मकमक्षुब्धं रूपं प्रधानम्?—इत्युक्तम् ॥ २२२॥

ननु प्रधानस्य यद्यक्षुब्धमेव रूपं तत्कथं कार्यजन्मनि प्रभवेत्?—इत्याशङ्क्याह—

त एते क्षोभमापन्ना गुणाः कार्यं प्रतन्वते ।

प्रश्न—इस प्रकार दुःख क्रमिक हो जाय किन्तु क्रिया कैसे होगा ?—इसलिए कहा गया—क्रिया तद् और अतद् का क्रम है । तद् अतद् = प्रकाश और अप्रकाश । वही कहा गया है—

(तीनो गुण) प्रीति अप्रीति और विषाद रूप तथा प्रकाश प्रवृत्ति और नियम प्रयोजन वाले हैं ।

"सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक, रजोगुण उपष्टम्भक (= उत्प्रेरक) और चल तथा तमोगुण गुरु और आवरण करने वाला माना गया है ।"

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी (कहा गया है—)

"सत्ता आनन्द और क्रिया परमेश्वर का (स्वभाव) है । उनका अभाव पशु के लिये वह (= सत्ता, सत्त्वगुण) दो (= सत्ता और क्रिया) मिलकर रजोगुण अर्थात् दुःख तथा सत्त्व और तम मिलकर (मोह) होते हैं ।"

तो इस प्रकार सत्त्व रजस् और तमस् का साम्यात्मक अक्षुब्ध रूप प्रकृति है—ऐसा कहा गया ॥ २२२ ॥

प्रश्न—यदि प्रकृति का अक्षुब्ध ही रूप है तो वह कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ कैसे होती है ?—यह शङ्का कर कहते है—

क्षोभ को प्राप्त वे गुण कार्य का विस्तार करते हैं । अक्षुब्ध का

अक्षुब्धस्य विजातीयं न स्यात् कार्यमदः पुरा ॥ २२३ ॥
उक्तमेवेति शास्त्रेऽस्मिन् गुणांस्तत्त्वान्तरं विदुः ।

कार्यमिति—महदादि । विजातीयमिति—गुणानां वैषम्यात् । इत्येतच्च पुरा भुवनाध्वनिरूपणावसरे एवोक्तम् इति न पुनरिहायस्तम् । तत् तत एवावधार्यमिति भावः । तदुक्तं तत्र—

'उपरिष्टाद्धि योऽधश्च प्रकृतेर्गुणसंज्ञितम् ।
तत्त्वं तत्र तु संक्षुब्धा गुणाः प्रसुवते धियम् ॥ (त० ८।२५३)
न वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यसूतये ।'

इत्यादि

'नैतत्कारणतारूपपरामर्शावरोधि यत् ।
क्षोभान्तरं ततः कार्यं बीजोच्छूनाङ्कुरादिवत्॥' (त० ८।२५४)

इत्यन्तम् । ततश्च युक्तिसिद्धम् अस्मिन्नुपक्रान्ते श्रीपूर्वशास्त्रे गुणांस्तत्त्वान्तरं प्रकृतेरेव कार्यजननोन्मुखं क्षुब्धं द्वितीयं रूपं मायाया इव ग्रन्थिं विदुः श्रीश्रीकण्ठनाथाद्या उपदेश्यतया जानीयुः—इत्यर्थः । तदुक्तं तत्र—

'ततो गुणान्................................ ।'
(मा० १।३०) इति ॥ २२३ ॥

विजातीय कार्य नहीं होता यह इसी ग्रन्थ में पहले ही कह दिया गया है । गुणों को तत्त्वान्तर माना गया है ॥ २२३-२२४- ॥

कार्य = महत् आदि । विजातीय—गुणों के वैषम्य के कारण । यह पहले भुवनाध्वा के निरूपण के अवसर पर ही कहा गया है । इसलिए यहाँ विस्तार नहीं किया गया इसलिए वहीं से समझ लेना चाहिए । वहीं वहाँ कहा गया है—

"प्रकृति के ऊपर और नीचे की ओर जो गुण नामक तत्त्व है उसमें संक्षुब्ध गुण बुद्धितत्त्व को उत्पन्न करते हैं । वैषम्य को अप्राप्त कारण कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होता ।" यहाँ से लेकर—

"ऐसा नहीं है । जो कारणता रूप परामर्श का अवरोधक होता है (वही कारण होता है) । उसके बाद दूसरा क्षोभ कार्य होता है जैसे कि बीज, उच्छूनता और अङ्कुरादि ।"

यहाँ तक कहा गया । इस कारण (हमारा कथन) युक्तिसिद्ध हो गया । इस श्रीपूर्वशास्त्र के उपक्रान्त होने पर गुणों को तत्त्वान्तर = प्रकृति का ही कार्य जननोन्मुख क्षुब्ध द्वितीयरूप जानना चाहिये । माया की ग्रन्थि के समान जानते हैं = श्रीकण्ठनाथ आदि उपदेश्य के रूप में जानते हैं । वही वहाँ कहा गया है—

"उसके बाद गुणों को .... " ॥ २२३ ॥

अत्र च ग्रन्थिवत् भुवनविभागोऽपि पूर्वमेव दर्शितः—इत्याह—

भुवनं पृथगेवात्र दर्शितं गुणभेदतः ॥ २२४ ॥

तदुक्तं प्राक्—

'क्रमात् तमोरजःसत्त्वे गुरूणां पङ्क्तयः स्थिताः ।
तिस्रो द्वात्रिंशदेकातस्त्रिंशदप्येकविंशतिः ॥'
(तं० ८।२६०) इति ॥ २२४ ॥

ननु अस्या जाड्यात् कथङ्कारं कार्यजननायौन्मुख्यमेव जायते, येन क्षुब्धत्वमपि स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

**ईश्वरेच्छावशक्षुब्धलोलिकं पुरुषं प्रति ।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेद् भृशम् ॥ २२५ ॥**

स्वतन्त्रेश इति श्रीकण्ठनाथः । तदुक्तम्—

'एवंविधं प्रधानं तद् ब्रह्मणा सहितं पुरा ।
श्रीकण्ठकिरणाघ्रातं व्यक्तिमायाति तत्क्षणात् ॥' इति ।

एवं च सांख्यानामिव अस्माकमपि नैतच्चोद्यं यत् पुंसो निर्विकारत्वात् बन्धमोक्षदशयोरविशेष एवेति बद्धवन्मुक्तमपि प्रति प्रकृतिः किमिव न महदादि

यहाँ ग्रन्थि (= माया) के समान भुवन विभाग भी पहले ही दिखला दिया गया—यह कहते हैं—

यहाँ गुणभेद के अनुसार भुवन को पृथक् ही दिखलाया गया ॥ -२२४ ॥

वही पहले कहा गया है—

"तमोरजः और सत्त्व में गुरुओं की तीन पंक्तियाँ क्रमशः बत्तीस, इकतीस और इक्कीस (की संख्या में) स्थित हैं" ॥ २२४ ॥

प्रश्न—इस प्रकृति के जड़ होने से कार्यजनन के लिए इसमें उन्मुखता कैसे उत्पन्न होती है जिससे क्षोभ भी होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ईश्वर की इच्छावश क्षुब्ध लोलिक पुरुष के प्रति स्वतन्त्रेश प्रकृति को भोग के लिए अत्यधिक क्षुब्ध करते हैं ॥ २२५ ॥

स्वतन्त्रेश = श्रीकण्ठनाथ । वही कहा गया है—

"पहले ब्रह्मा के सहित इस प्रकार का प्रकृतितत्त्व श्रीकण्ठ की किरणों से स्पृष्ट होकर तत्काल अभिव्यक्त हो जाता है ।"

इस प्रकार सांख्यों की भाँति हमारे बारे में भी ऐसा नहीं कहना चाहिए कि

विकारजातं जनयितुं प्रवर्तते, प्रवृत्त्यात्मनः स्वभावस्यानपेतत्वात् । न च अस्या 'दृष्टाहमनेन' इति न पुनरेतदर्थं प्रवर्ते इत्यनुसंधानमस्ति आचैतन्यात् तस्माद-निर्मोक्ष एवेति ॥ २२५ ॥

तदाह—

तेन यच्चोद्यते सांख्यं मुक्ताणुं प्रति किं न सा ।
सूते पुंसो विकारित्वादिति तन्नात्र बाधकम् ॥ २२६ ॥

तेनेति—एवंविधं नियतमेव पुरुषं प्रति अस्याः स्वतन्त्रेशकर्तृकेण क्षोभणेन हेतुना—इत्यर्थः । अत्रेति—अस्मद्दर्शने ॥ २२६ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

गुणेभ्यो बुद्धितत्त्वं तत् सर्वतो निर्मलं ततः ।
पुंस्प्रकाशः स वेद्योऽत्र प्रतिबिम्बत्वमार्छति ॥ २२७ ॥

तत्—तस्मात् स्वतन्त्रेशकर्तृकात् हेतोः—इत्यर्थः । बुद्धितत्त्वमिति—अर्थात् जातम् । तदुक्तम्—

पुरुष के निर्विकार होने से बन्ध और मोक्ष की दशाओं में कोई अन्तर नहीं है इसलिए बद्ध के समान मुक्त के भी प्रति प्रकृति महत् आदि विकारसमूह को उत्पन्न करने के लिए क्यों प्रवृत्त नहीं होती, क्योंकि (वह) प्रवृत्तिरूप स्वभाव से रहित युक्त नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि 'मैं इसके द्वारा देख ली गयी इस कारण इसके लिए प्रवृत्त नहीं होऊँगी'—ऐसा अनुसन्धान (कारण) है । क्योंकि (उस प्रकृति में) चैतन्य ही नहीं है । इसलिए मोक्ष होगा ही नहीं ॥ २२५ ॥

वह कहते हैं—

इस कारण जो सांख्य के प्रति कहा जाता है कि मुक्त पुरुष के प्रति पुरुष के लिये वह (प्रकृति) क्यों (महदादि को) प्रकृति उत्पन्न नहीं करती क्योंकि विकारी है—यह यहाँ बाधक नहीं है ॥ २२६ ॥

इस कारण = इस प्रकार (किसी) निश्चित पुरुष के प्रति इसके स्वतन्त्रेश-कर्त्तृक क्षोभ के कारण । यहाँ = हमारे दर्शन में ॥ २२६ ॥

प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

इस कारण गुणों से सर्वतः (= पूर्णतया) निर्मल बुद्धि तत्त्व (उत्पन्न) होता है । उससे वह वेद्य पुरुष का प्रकाश इस (बुद्धि) में प्रतिबिम्बित होता है ॥ २२७ ॥

इस कारण = उस स्वतन्त्रेशकर्त्तृक कारण से । बुद्धितत्त्व—अर्थात् उत्पन्न हुआ । वही कहा गया—

'अष्टगुणां तेभ्यो धियं...................।' (मा० १।३०) इति

तत इति—सर्वतो नैर्मल्यात् ॥ २२७ ॥

ननु अव्यवहितत्वात् पुंस्प्रकाशोऽत्र प्रतिबिम्बमाधत्ताम्, तथात्वाभावात् बाह्यं वेद्यं पुन कथम् ?—इत्याशङ्क्याह—

विषयप्रतिबिम्बं च तस्यामक्षकृतं बहिः।
अतद्द्वारं समुत्प्रेक्षाप्रतिभादिषु तादृशी ॥ २२८ ॥
वृत्तिर्बोधो भवेद् बुद्धेः सा चाप्यालम्बनं ध्रुवम् ।
आत्मसंवित्प्रकाशस्य बोधोऽसौ तज्जडोऽप्यलम् ॥ २२९ ॥

द्विधा हि बुद्धेर्बहिर्विषयप्रतिबिम्बमक्षद्वारकमतद्द्वारकं च । तत्राद्यः प्रत्यक्षादौ, अन्यच्च उत्प्रेक्षादौ, आदिशब्दात् स्वप्नादि । अत्र हि स्वयमुपस्थापित एवार्थोऽस्याः परिस्फुरेत्—इति भावः । तत् तादृश्यक्षानक्षाहिता वेद्यप्रतिबिम्बसहिष्णुतालक्षणा वृत्तिः बुद्धेर्विषयावभासको बोधो भवेत्—इति संबन्धः । ननु जडत्वात् बुद्धिबोधः कथं विषयं प्रकाशयेत्?—इत्याशङ्क्याह—सा चेत्यादि । चो ह्यर्थे । सा बुद्धिरपि हि आत्मसंविदः पुंबोधस्य प्रकाशो व्यक्तिराविर्भावः, तस्य ध्रुव-

---

"उनसे आठ गुणों वाली बुद्धि को ....।"

इससे = सर्वतः निर्मलता के कारण ॥ २२७ ॥

प्रश्न—अव्यवहित होने के कारण पुरुष का प्रकाश यहाँ प्रतिबिम्बित हो सकता है किन्तु वैसा (= अव्यवहित) न होने के कारण बाह्य वेद्य (पदार्थ) फिर कैसे (प्रतिबिम्बित होगा) ?—यह शङ्का कर कहते है—

उसमें बाह्य विषयों का प्रतिबिम्ब इन्द्रिय के द्वारा होता है और उत्प्रेक्षा प्रतिभा आदि में बिना उसके (= इन्द्रिय के) होता है । बुद्धि की वैसी वृत्ति ही बोध होता है । वह भी आत्मसंवित् प्रकाश का स्थायी आलम्बन है । इस कारण यह बोध जड़ होते हुए भी (विषयप्रकाशन में) समर्थ है ॥ २२८-२२९ ॥

बुद्धि का बाह्यविषयप्रतिबिम्बन दो प्रकार का है—इन्द्रिय के द्वारा और बिना उसके (= इन्द्रिय के)। उनमें से पहला प्रत्यक्ष आदि के विषय में होता है और दूसरा उत्प्रेक्षा आदि के विषय में । आदि शब्द से स्वप्न आदि (का ग्रहण करना चाहिए) । यहाँ स्वयं उपस्थापित ही विषय इसको (= बुद्धि को) परिस्फुरित होता है तो इन्द्रियों के द्वारा और उन इन्द्रियों से भिन्न के द्वारा रचीगयी उस प्रकार की वृत्ति जो कि वेद्य के प्रतिबिम्ब की सहिष्णु होती है, वही बुद्धि का विषयावभासक बोध होता है—यह सम्बन्ध है । प्रश्न—जड़ होने के कारण बुद्धि का बोध विषय का ज्ञान कैसे करायेगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—और वह.......इत्यादि । 'च'

मालम्बनं स्थिरः प्रतिबिम्बाधारः—इत्यर्थः ।

तत् तस्मात् आत्मसंविदभिव्यक्तिस्थानत्वात् हेतोरस्या वृत्त्यात्मा बोधो जडोऽपि असावलम्, विषयप्रकाशनाय समर्थः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'प्रकाशो विषयाकारो देवद्वारो न वा क्वचित् ।
पुंबोधव्यक्तिभूमित्वात् बोधो वृत्तिर्मतेर्मता ॥' इति ॥ २२९ ॥

एवं बुद्धेः करणरूपतां निरूप्य कारणरूपतामप्याह—

**बुद्धेरहंकृत् तादृक्षे प्रतिबिम्बितपुंस्कृतेः ।
प्रकाशे वेद्यकलुषे यदहंमननात्मता ॥ २३० ॥**

अहंकृदिति अर्थाज्जाता । तदुक्तम्—

'........................धीतोऽप्यहंकृतम् ।' (मा० १।३०) इति ।

सा च तादृक्षे पुंस्प्रकाशस्याभिव्यक्तिस्थानभूते वेद्यकलुषे च बुद्धिवृत्त्यात्मनि प्रकाशे यत् 'इदं करोमि' 'जानामि' इत्यहमात्माभिमानः ।

का प्रयोग 'हि' अर्थ मे है । वह बुद्धि आत्मसंविद = पुरुषबोध, का प्रकाश = अभिव्यञ्जन = आविर्भाव होता है । उसका ध्रुव आलम्बन अर्थात् प्रतिबिम्ब का स्थिर आधार होता है ।

तो उस आत्मसंविद् की अभिव्यक्ति का स्थान होने के कारण इसका वृत्तिरूप बोध जड़ होते हुए भी समर्थ = विषयप्रकाशन में सक्षम है । वही कहा गया—

"विषयाकार प्रकाश कहीं इन्द्रिय के द्वारा होता है कहीं नहीं । पुरुषबोध की अभिव्यक्ति का आधार होने के कारण बुद्धि की वृत्ति को बोध माना गया" ॥ २२९ ॥

इस प्रकार बुद्धि की करणरूपता का निरूपण कर (उसकी) कारणरूपता को बतलाते हैं—

बुद्धि से अहङ्कार (उत्पन्न होता है) । उस प्रकार के प्रतिबिम्बित पुरुषकार को लक्ष्य कर वेद्यकलुष प्रकाश में जो अहंमननात्मता है (वही अहङ्कार है) ॥ २३० ॥

अहङ्कार—अर्थात् उत्पन्न होता है । वही कहा गया—

"बुद्धि से अहङ्कार (उत्पन्न होता है)॥"

और वह (अहंकृत्) उस प्रकार के पुरुषप्रकाश की अभिव्यक्ति के स्थानभूत वेद्यकलुष बुद्धिवृत्तिरूप प्रकाश में 'यह करता हूँ', जानता हूँ,—इस प्रकार का आत्माभिमान है ।

ननु बुद्धिबोधोऽपि

'लेशोक्तो बुद्धिबोधोऽयं चेतनेनोपभुज्यते ।
भोग्यत्वं चास्य संसिद्धं येनोत्पन्नोऽनुभूयते ॥'

इत्याद्युक्त्या भोग्यत्वात् वेद्य एवेति कथमिदन्ताभाजनेऽस्मिन् अहमित्यभिमानो निरूढिमुपगच्छेत्?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'प्रतिबिम्बितपुंस्कृतेः' इति—अभिव्यक्तं पुमांसमुद्दिश्य—इत्यर्थः ॥ २३० ॥

एवमपि नायमात्मनि अहमभिमानः, किन्तु अनात्मरूपायां बुद्धावेव, आत्म-प्रतिबिम्बस्य बुद्ध्याधारतया तदेकपरिणामत्वात्, अस्याश्चासाधारणं कार्यमाह—

तया पञ्चविधश्चैष वायुः संरम्भरूपया ।
प्रेरितो जीवनाय स्यादन्यथा मरणं पुनः ॥ २३१ ॥

संरम्भरूपयेति—अहंकृतश्च संरम्भो वृत्तिरपि वृत्तिवृत्तिमतोस्ताद्रूप्याद्रूपम्—इत्युक्तम् । तदुक्तम्—

'पञ्चकर्मकृतो वायोर्जीवनाय प्रवर्तकः ।
संरम्भोऽहंकृतो वृत्तिः.................... ॥' इति ।

प्रश्न—बुद्धि बोध भी

"अल्प उक्त यह बुद्धिबोध चेतन के द्वारा उपभुक्त होता है । इसका (= बुद्धिबोध का) भोग्यत्व स्वाभाविक है जिस कारण उत्पन्न हुआ यह अनुभूत होता है ।"

इत्यादि उक्ति के द्वारा भोग्य होने के कारण वेद्य ही है फिर इदन्ता के पात्र इसमें 'अहम्' ऐसा अभिमान कैसे प्रौढ़ि को प्राप्त होता है ? यह शङ्का कर कहा गया—"प्रतिबिम्बितपुंस्कृतेः" अर्थात् अभिव्यक्त पुरुष को उद्दिष्ट करके प्रौढ़ि को प्राप्त होता है ॥ २३० ॥

ऐसा होने पर भी यह अहम् अभिमान आत्मा में नहीं है । किन्तु अनात्मरूपा बुद्धि में है । क्योंकि आत्मा का प्रतिबिम्ब बुद्धिआधार वाला होने के कारण उसके परिणाम वाला है । इस (अहङ्कार) का असाधारण कार्य बतलाते हैं—

संरम्भ रूप इस (अहंकृत्) के द्वारा पाँच प्रकार का (= प्राण अपान समान उदान व्यान) वायु प्रेरित होकर जीवन के लिए होता है अन्यथा फिर मरण होता है ॥ २३१ ॥

संरम्भ रूप—अहङ्कार का संरम्भ = वृत्ति भी, वृत्ति वृत्तिमान् के अभिन्न होने से 'रूपन्' ऐसा कहा गया । वही कहा गया है—

"पञ्चकर्मकारी वायु का संरम्भ, जो कि जीवन के लिए प्रवर्त्तक होता है,

अन्यथेति—अप्रेरितः । एवमहंकृतः संरम्भात्मिकया वृत्त्या प्राणादीनां **प्रेरणमप्रेरणं च कार्यं**, येन सर्वेषां जीवनं मरणं वा स्यात् ॥ २३१ ॥

एवं चास्या अहंकृतः शुद्धचित्स्वातन्त्र्यमयात् स्वात्ममात्रविश्रान्तिसतत्त्वात् स्वरसोदितात् अहंभावादियान् विशेषो यदियं जडायामनात्मरूपायां बुद्धावभिनिविष्टेति । तदाह—

अत एव विशुद्धात्मस्वातन्त्र्याहंस्वभावतः ।
अकृत्रिमादिदं त्वन्यदित्युक्तं कृतिशब्दतः ॥ २३२ ॥

इदमिति—अहंकृतम् । अन्यदिति—कृत्रिमम् । ननु अस्य कृत्रिमत्वे किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्योक्तम्—इत्युक्तम्, कृतिशब्दत इति । श्रीपूर्वशास्त्रे हि अहंकृतमित्युक्तं, कृतं कृत्रिममेवोच्यते करोतेरेवमर्थत्वात् ॥ २३२ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

इत्ययं करणस्कन्धोऽहङ्कारस्य निरूपितः ।
त्रिधास्य प्रकृतिस्कन्धः सात्त्वराजसतामसः ॥ २३३ ॥

त्रिधेति—सत्त्वादेरेकैकस्याङ्गित्वात् ॥ २३३ ॥

अहङ्कार की वृत्ति है ।''

अन्यथा = प्रेरित न होता हुआ । इस प्रकार अहङ्कार की संरम्भात्मिका वृत्ति के द्वारा प्राण आदि की प्रेरणा और अप्रेरणा (उसका) कार्य है जिससे सबका (क्रमशः) जीवन और मरण होता है ॥ २३१ ॥

इस प्रकार इस अहङ्कार शुद्ध चित्स्वातन्त्र्यमय स्वात्ममात्र विश्रान्ति वाले स्वभावतः उदित अहंभाव से इतना अन्तर है कि यह (अहङ्कार) जड़ अनात्मरूपा बुद्धि में समाहित है । वही कहते हैं—

इसीलिए विशुद्ध अकृत्रिम आत्मस्वातन्त्र्यरूप अहंस्वभाव से यह (अहङ्कार) भिन्न है—यह बात 'कृति' शब्द से कही गयी ॥ २३२ ॥

इदम् = अहङ्कार । अन्यत् = कृत्रिम । इसकी कृत्रिमता में क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहा गया—कृतिशब्द से ऐसा कहा गया । मालिनीविजय में 'अहंकृतम्' ऐसा कहा गया है । कृत का अर्थ ही है कृत्रिम क्योंकि 'कृ' धातु का यह अर्थ है ॥ २३२ ॥

इसका उपसंहार करते हुए अन्य को प्रस्तुत करते हैं—

इस प्रकार अहङ्कार का यह कारण स्कन्ध निरूपित हुआ । इसका प्रकृतिस्कन्ध तीन प्रकार का है—सात्त्विक राजस और तामस ॥ २३३ ॥

तत्र सात्त्विकस्य यावत् प्रकृतिस्कन्धतां निरूपयति—

सत्त्वप्रधानाहङ्काराद्भोक्त्रंशस्पर्शिनः स्फुटम् ।
मनोबुद्ध्यक्षषट्कं तु जातं भेदस्तु कथ्यते ॥ २३४ ॥

प्रधानेत्यनेन एषामन्योन्यमिथुनवृत्तित्वात् गुणभूतयोः रजस्तमसोरपि सद्भावो दर्शितः । स्फुटं भोक्त्रंशस्पर्शिन इति—साक्षात् तत्स्वरूपप्रत्यवमर्शात्मकत्वादहं-प्रत्ययस्य । मनोबुद्ध्यक्षषट्कमिति—'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' इति श्रुतेर्मनोयुक्तानि बुद्धीन्द्रियाणि—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासा च मनसा सह ।
प्रकाशान्वयतः सत्त्वात्तैजसश्च स सात्त्विकः ॥' इति

ननु एषामेकस्मादेव अहङ्कारादुत्पादेऽपि कथं मनसः सर्वमेव विषयोऽन्येषां च नियतम् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'भेदस्तु कथ्यते' इति । भेद इति विषयस्य नैयत्यानैयत्याभ्यामुत्थापित—इत्यर्थः ॥ २३४ ॥

तदाह—

मनो यत्सर्वविषयं तेनात्र प्रविवक्षितम् ।

तीन प्रकार का—क्योंकि सत्त्व आदि एक-एक अङ्गी हैं ॥ २३३ ॥

उनमें से सात्त्विक अहङ्कार की प्रकृतिस्कन्धता का निरूपण करते हैं—

स्फुटतया भोक्ता के अंश के स्पर्शी सत्त्वप्रधान अहङ्कार से मन और ज्ञानेन्द्रियाँ ये छ उत्पन्न हुए । (इनका) भेद कहा जाता है ॥ २३४ ॥

(श्लोक में) प्रधान शब्द के कथन से इनके परस्पर मिथुन वृत्तिवाला होने के कारण गौण रजस् और तमस् की भी सत्ता दिखायी गयी । स्फुटतया भोक्ता के अंश के स्पर्शी = अहंप्रत्यय के साक्षात् उसके स्वरूप के प्रत्यवमर्श रूप होने के कारण । मन और पाँच ज्ञानेन्द्रिय को लेकर छ = 'मन को लेकर छ इन्द्रियाँ' इस श्रुति के अनुसार मन से युक्त ज्ञानेन्द्रियाँ । वही कहा गया—

"श्रोत्र, त्वचा, आँखें, जिह्वा, नासिका, मन के साथ (में) प्रकाश युक्त होने से सत्त्वमय हैं । और वह सात्त्विक तैजस् है ।"

प्रश्न—एक ही अहङ्कार से इनकी उत्पत्ति होने पर भी मन के सभी विषय कैसे होते हैं और अन्य (= इन्द्रियों) के निश्चित होते हैं ? यह शङ्का कर कहा गया—'भेद का कथन किया जा रहा है ।' भेद—विषय की निश्चितता और अनिश्चितता के द्वारा उत्थापित ॥ २३४ ॥

वह कहते हैं—

जिस कारण यहाँ मन सर्वविषयक विवक्षित है इसलिए सर्वतन्मात्र

सर्वतन्मात्रकर्तृत्वं विशेषणमहंकृतेः ॥ २३५ ॥

तेनेति—मनसः सर्वविषयत्वेन हेतुना—इत्यर्थः । अत्रेति—सर्वत्र शास्त्रे । प्रविवक्षितमिति—'भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः' इत्याद्युक्तेः । तेन तमःप्रधानादहङ्कारात् तन्मात्राणामुत्पादः—इति नास्ति विवादः । तमश्च सत्त्वप्रधानेऽपि अहङ्कारे संभवेदेषामन्योन्यमिथुनवृत्तित्वात् ।

यदुक्तम्—

'अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे सर्वे सर्वत्रगामिनः ।' इति

ततश्च तद्विशिष्टात् सात्त्विकादहङ्कारान्मनो जायते इत्यस्य सर्वविषयत्वम् । एवं यस्मात् मनसः सर्वविषयत्वम् अत इदं ज्ञायते यदहंकृतः सर्वतन्मात्रकारणत्वं येन मनसः शब्दादीनां च ग्राह्यग्राहकभावो भवेत् ॥ २३५ ॥

एवं चास्य बुद्ध्यादेस्त्रयस्यासाधारणक्रियामुखेनान्तःकरणत्वमेवाह—

बुद्ध्यहंकृन्मनः प्राहुर्बोधसंरभणैषणे ।
करणं बाह्यदेवैर्यन्नैवाप्यन्तर्मुखैः कृतम् ॥ २३६ ॥

बोधः शब्दादेर्विषयस्याध्यवसायः । संरम्भोऽहमात्माभिमानः । एषणमिच्छा

कर्तृत्व अहङ्कार का विशेषण है अर्थात् अहङ्कार से समस्त तन्मात्रायें उत्पन्न हुयी हैं ॥ २३५ ॥

इसलिए = मन के सर्वविषयक होने के कारण । यहाँ = सब शास्त्र में । प्रविवक्षित है—'भूतादि (= अहङ्कार के तामस अंश) से तन्मात्र (उत्पन्न होता है) वह (तन्मात्र) तामस है' इत्यादि उक्ति के कारण । इससे तमःप्रधान अहङ्कार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है—इसमें विवाद नहीं है । तम सत्त्वप्रधान अहङ्कार में भी रहता है क्योंकि ये परस्पर मिथुन वृति वाले हैं । जैसा कि कहा गया है—

"सब परस्पर मिथुन हैं और सब सर्वत्र वर्त्तमान है ।"

इसलिए उस (तमः) से विशिष्ट सात्त्विक अहङ्कार से मन उत्पन्न होता है इसलिए यह सर्वविषयक है । इस प्रकार चूँकि मन की सर्वविषयता है अतः यह ज्ञात होता है कि अहङ्कार सब तन्मात्राओं का कारण है । जिससे मन और शब्द आदि का ग्राह्यग्राहक भाव है ॥ २३५ ॥

इस प्रकार इन बुद्धि आदि तीन का असाधारण क्रिया के द्वारा अन्तःकरणत्व बतलाते हैं—

निश्चयात्मक ज्ञान, आत्माभिमान एवं इच्छा के विषय में बुद्धि अहङ्कार और मन को करण कहा गया है । जो कि (बोध आदि) अन्तर्मुखीन भी बाह्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं किया गया ॥ २३६ ॥

सङ्कल्पः । अत्र च क्रियात्वात् करणेन तावद्भाव्यम् । तच्च न वक्ष्यमाणं श्रोत्रादि, तस्य बाह्यक्रियाविषयत्वात् आसां चान्तारूपत्वात् । तस्मादन्तःकृति-साधकत्वात् तदन्यदेव अन्तःकरणाख्यमित्युक्तं 'बुद्ध्यहंकृन्मनः' इति । तदुक्तम्—

'इच्छासंरम्भबोधाख्या नोक्तैः सिद्ध्यन्ति साधनैः ।
तत्सिद्धं करणं त्वन्तर्मनोऽहङ्कारबुद्धयः ॥' इति

बुद्ध्यहंकृन्मन इति द्वन्द्वः समाहारे । ननु बहिष्करणत्वेऽपि श्रोत्रादीन्येव प्रत्यावृत्त्यान्तर्मुखानि सन्ति संभूय बोधादीनां साधनत्वं प्रतिपद्यन्ते इति किमन्तः-करणान्तरोपदेशेन?—इत्याशङ्क्याह—बाह्येत्यादि । अन्तर्मुखानामपि बाह्येन्द्रियाणां नैव बोधादि कर्तुं शक्यम्—इत्यर्थः । यदि नाम हि बाह्येन्द्रियाणि बाह्यात् प्रत्यावृत्त्यान्तर्मुखतया संभूय बोधादि कुर्युः तच्छब्दाद्यालोचनावसरे बोधादेरपि उपलम्भो न स्यात् । एषां हि बहिरसंहतानां शब्दाद्यालोचनमिष्टम्, अन्तर्मुखतायां च संहतानां बोधादिकमिति कथमेतत् एकस्मिन्नेव काले भवेत्; दृश्यते च युगपदेतत्, इति न युक्तमुक्तं 'बाह्येन्द्रियाण्येव अन्तर्मुखानि सन्ति संभूय बोधादेः साधनम्' इति । तदुक्तम्—

'अन्तर्मुखगतानां च चित्ताद्यर्थं प्रकुर्वताम् ।

बोध = शब्द आदि विषय का निश्चयात्मक ज्ञान । संरम्भ =अहंस्वरूप अभिमान । एषण = इच्छा, सङ्कल्प । इनके क्रिया होने के कारण (इनका कोई न कोई) करण होना चाहिए । और वक्ष्यमाण श्रोत्र आदि वह (= करण) हो नहीं सकते क्योंकि वे बाह्यक्रियाविषयक हैं और वे (= इच्छा आदि) अन्तःक्रियारूप है । इस कारण अन्तःकार्य का साधक होने के कारण वह अन्तःकरण नामक (साधन) दूसरा ही है । इसलिए कहा गया—'बुद्धि अहङ्कार मन' । वही कहा गया—

"इच्छा अभिमान और बोध नामक (कार्य) उक्त साधनों से सिद्ध नहीं होते । इसलिए मन अहङ्कार और बुद्धि तीन अन्तःकरण सिद्ध (= निश्चित) हैं ॥"

'बुद्ध्यहंकृन्मनः' यह समाहार अर्थ में द्वन्द्वसमास है । प्रश्न—बाह्य इन्द्रिय होने पर भी श्रोत्र आदि ही प्रवृत्ति से अन्तर्मुख होते हुए मिलकर बोध आदि के साधन बनते हैं फिर दूसरे अन्तःकरणों के उपदेश से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—'बाह्य' इत्यादि । अन्तर्मुखी भी बाह्य इन्द्रियाँ बोध आदि नहीं कर सकतीं । यदि बाह्य इन्द्रियाँ प्रत्यावृत्ति से अन्तर्मुख रूप में मिलकर बोध आदि करें तो शब्द आदि के आलोचन के अवसर पर बोध आदि का भी उपलम्भ नहीं होगा । बाहर असंहत (= अलग अलग स्थित) इनका शब्द आदि का आलोचन इष्ट है और अन्तर्मुख रूप में संहत इनका बोध आदि । फिर यह एक ही समय में कैसे होगा किन्तु एक साथ (आलोचन और बोध आदि) देखा जाता है इसलिए यह ठीक नहीं कहा गया कि—'बाह्य इन्द्रियाँ ही अन्तर्मुख होते हुए मिलकर बोध आदि का साधन होती हैं ।' वही कहा गया—

बाह्यार्थबुद्धिभिः साकं न स्युरिच्छादिकाः क्रियाः ॥' इति ॥ २३६॥

ननु चैतन्याविभागवर्त्ती प्राण एव बोधादि विदध्यादिति किमेभिरन्तः—करणैः?—इत्याशङ्क्याह—

प्राणश्च नान्तःकरणं जडत्वात् प्रेरणात्मनः ।
प्रयत्नेच्छाविबोधांशहेतुत्वादिति निश्चितम् ॥ २३७ ॥

प्राणश्च जडत्वान्नान्तःकरणं भवेदिति निश्चितम्—इति संबन्धः । ननु जडमपि वास्यादि कर्त्रा प्रेर्यमाणं करणं दृष्टम् ?—इत्याशङ्क्योक्तम्—'प्रेरणात्मनः प्रयत्नेच्छाविबोधांशहेतुत्वात्' इति । प्रेर्यमाणं हि करणं प्रयत्नं विना न भवेत्, प्रयत्नश्चेच्छापूर्वकः, इच्छा च बोधपूर्विकेति प्राणस्यान्तःकरणत्वाभ्युपगमेऽपि बोधादिकार्योपपादकेन करणान्तरेण अवश्यभाव्यमिति किं बुद्ध्यादिभिरपराद्धम् । तदुक्तम्—

'अन्येऽन्तःकरणं प्राणमिच्छन्ति व्यक्तचेतनम् ।
प्रयत्नेन विना सोऽस्ति तत्सिद्धौ करणं तु किम्॥' इति ॥ २३७ ॥

नन्वन्तारूपत्वाविशेषात् एकमेवान्तःकरणमस्तु, किमस्य त्रैविध्येन?—इत्याशङ्क्याह—

"अन्तर्मुख हुए तथा ज्ञान आदि कार्य को करने वाले (लोगों की) इच्छा आदि क्रियायें बाह्य अर्थ के ज्ञान के साथ नहीं होती ॥ २३६ ॥

प्रश्न—चैतन्य से अपृथक् रहने वाला प्राण ही बोध आदि कर लेगा इन अन्तःकरणों की क्या आवश्यकता ?—यह शङ्का कर कहते है—

प्राण अन्तःकरण नहीं है यह निश्चित है क्योंकि (वह) जड़ है । और प्रेरणा वाले (तत्त्व) प्रयत्न इच्छा और ज्ञानरूप कारण वाले होते हैं ॥ २३७ ॥

प्राण जड़ होने के कारण अन्तःकरण नहीं होता—यह निश्चित है—ऐसा सम्बन्ध है । प्रश्न—जड़ भी वसुला आदि कर्त्ता के द्वारा प्रेरित होता हुआ करण के रूप में देखा गया है ?—यह शङ्का कर कहा गया—'प्रेरणा वाला प्रयत्न इच्छा विबोध अंश का कारण होती है ।' प्रेर्यमाण करण प्रयत्न के बिना नहीं होता । प्रयत्न इच्छापूर्वक होता है और इच्छा बोधपूर्विका होती है । इस प्रकार प्राण को अन्तःकरण मानने पर भी बोध आदि का साधक करणान्तर अवश्य होना चाहिए तो फिर बुद्धि आदि ने क्या अपराध किया है कि उसे करण न माना जाय अर्थात् उन्हें अवश्य करण मानना चाहिये । वही कहा गया है—

"अन्य लोग स्फुट चेतना वाले प्राण को अन्तःकरण मानते हैं । वह (प्राण) बिना प्रयत्न के होता है फिर उसकी सिद्धि के लिए करण की कल्पना क्या" ॥ २३७ ॥

अवसायोऽभिमानश्च कल्पना चेति न क्रिया।
एकरूपा ततस्त्रित्वं युक्तमन्तःकृतौ स्फुटम् ॥ २३८ ॥

नैकरूपा क्रियेति स्यति-मन्यिति-क्लृपीनां भिन्नत्वात् । अन्यव्यवच्छेदेनाभिमतस्य अवसायो हि एषामेकविषयत्वेऽपि विभिन्नं कार्यं भवेत्—इति भावः । तदुक्तम्—

'कलपिर्मतिः स्यतिश्चैव जाता भिन्नार्थवाचकाः ।
इच्छासंरम्भबोधार्थास्तेनान्तःकरणं त्रिधा ॥' इति ॥ २३८ ॥

नन्वसंविदितं तावत्करणं न स्यात्, बुद्धिश्च मनोऽहङ्कारवन्न संवेद्या इति कथमस्याः करणत्वं युज्यते?—इत्याशङ्क्याह—

न च बुद्धिरसंवेद्या करणत्वान्मनो यथा।
प्रधानवदसंवेद्यबुद्धिवादस्तदुज्झितः ॥ २३९ ॥

'असंवेद्यबुद्धिवादः' इति सांख्याभ्युपगतः । अयं चात्र प्रयोगः—बुद्धिः संवेद्या करणत्वात्, यत् करणं तत् संवेद्यं यथा मनः, यन्न संवेद्यं तन्न करणं यथा प्रधानम्, बुद्धिश्च करणम्; तस्मात् संवेद्या—इति । संवेद्यत्वे च अस्या गुणान्वितत्वं हेतुः प्रधानेनानैकान्तिक इति

प्रश्न—अन्तःरूपता के समान होने से एक ही अन्तःकरण हो इसके तीन प्रकार होने से क्या (लाभ) ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

निश्चय अभिमान और कल्पना ये क्रियायें एक रूप नहीं हैं इसलिए अन्तःकरण का तीन होना स्पष्टतया युक्त है ॥ २३८ ॥

एक रूपा क्रिया नहीं है क्योंकि 'षो' 'मन' और 'क्लृप्' धातुयें भिन्न हैं । अन्य का व्यवच्छेद कर अभिमत (वस्तु) का निश्चय इनका एक विषय होने पर भी विभिन्न कार्य होता है । वही कहा गया—

'क्लृप्' 'मनु' और 'षो' धातुयें भिन्न अर्थ की वाचक हैं । इसलिए इच्छा अभिमान और बोध प्रयोजन वाले ये तीन प्रकार के अन्तःकरण हैं ॥ २३८ ॥

प्रश्न—जिसका ज्ञान नहीं होता वह करण नहीं होता, बुद्धि मन और अहङ्कार की भाँति वेद्य नहीं है फिर यह करण कैसे होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बुद्धि असंवेद्य नहीं है, करण होने से जैसे मन, तो प्रधान के समान असंवेद्य बुद्धिवाद परित्यक्त हो गया ॥ २३९ ॥

'असंवेद्य बुद्धिवाद' सांख्य का अभिमत । यहाँ यह अनुमान है—बुद्धि संवेद्य है, करण होने से, जो करण है वह संवेद्य है जैसे कि मन । जो संवेद्य नहीं है वह करण नहीं है जैसे कि प्रधान, बुद्धि (अकरण नहीं है अर्थात्) करण है अतः (असंवेद्य नहीं है अर्थात्) संवेद्य है । इसकी संवेद्यता में गुणान्वित हेतु प्रधान के

'तुल्ये गुणान्वितत्वे तु संवेद्यं चित्तमिष्यते ।
बुद्धिश्चापि ह्यसंवेद्या धन्या तार्किकता तव ॥'

इत्याद्युपेक्ष्यम् ॥ २३९ ॥

ननु भवतु एवमन्तःकरणानाम्, बुद्धीन्द्रियाणां पुनर्मनोवदाहङ्कारिकत्वेऽपि नियतविषयत्वे किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

शब्दतन्मात्रहेतुत्वविशिष्टा या त्वहंकृतिः ।
सा श्रोत्रे करणं यावद् घ्राणे गन्धत्वभेदिता ॥ २४० ॥

अहङ्कारस्य मनसि जन्ये हि अविशेषेण तन्मात्रकर्तृत्ववैशिष्ट्यं प्रयोजकम्, बुद्धीन्द्रियवर्गे तु नैयत्येन; येनैषां नियतविषयत्वं भवेत् । यदुक्तम्—

'मनसि जन्ये सर्वतन्मात्रजननसामर्थ्ययुक्तः
स जनकः, श्रोत्रे तु शब्दजननसामर्थ्यवि-
शिष्ट इति, यावत् घ्राणे गन्धजननयोग्यतायुक्तः ।'

(तं०सा० ८ आ०) इति ।

एवं चाहङ्कारिकत्वादेव एषां विषयेषु नियमो यच्छ्रोत्रं शब्दमेवैकं गृह्णाति न स्पर्शादि, त्वक् च स्पर्शमेवैकं नेतरत्, यावत् घ्राणं गन्धमेवैकमिति । यैः पुनः

साथ अनैकान्तिक है—इसलिए—

"गुणान्वितत्व के तुल्य होने पर भी चित्त (मन) संवेद्य माना जाता है और बुद्धि असंवेद्य । अतः तुम्हारी तार्किकता धन्य है ।"

इत्यादि की उपेक्षा करनी चाहिए ॥ २३९ ॥

प्रश्न—अन्तःकरणों के बारे में ऐसा हो जाय । किन्तु मन की भाँति ज्ञानेन्द्रियों के अहङ्कारिक होने पर भी (इनकी) नियतविषयता का क्या कारण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो अहङ्कार शब्दतन्मात्र हेतु से विशिष्ट है वह श्रोत्र में करण है जबकि घ्राण (इन्द्रिय) के बारे में गन्धत्व का भेद है ॥ २४० ॥

मन के उत्पन्न होने से अहङ्कार का सामान्य रूप से तन्मात्रकर्तृत्ववैशिष्ट्य प्रयोजक है ज्ञानेन्द्रिय वर्ग में निश्चित रूप से, जिससे इनकी नियतविषयता होती है । जैसा कि कहा गया है—

'मन की उत्पत्ति में सब तन्मात्राओं के जनन में समर्थ वह (अहङ्कार) जनक है किन्तु श्रोत्र के विषय में शब्दजननसामर्थ्यविशिष्ट (वह) जनक है ॥ जबकि घ्राण के विषय में गन्धजननयोग्यता युक्त है ।"

इस प्रकार आहङ्कारिक होने के कारण ही इनका विषयों में नियम है कि

'न चाप्यहंकृतो जन्म नियमे कारणं मम।'

इत्याद्युक्तम्, तदहङ्कारस्वरूपनिरूपणानभिज्ञत्वमेवैतेषाम् ॥ २४० ॥

नन्वेषामन्यैर्ग्राह्यग्राहकभावे नियमान्यथानुपपत्त्या भौतिकत्वमुक्तम् । यदाहुः—

'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ।'

(न्या० सू० १।१।१२) इति ।

तेन पार्थिवत्वात् घ्राणं गन्धस्यैव ग्राहकं न रसादेर्यावदाकाशरूपत्वात् श्रोत्रं शब्दस्यैव ग्राहकं न स्पर्शादेरिति, अयुक्तं चैतत्?—इत्याह—

भौतिकत्वमतोऽप्यस्तु नियमाद्विषयेष्वलम् ।

अतः—तत्तद्वृत्तिविशिष्टाहङ्कारजन्यतयैव विषयनियमस्य सिद्धत्वात् हेतोः, एषां विषयेषु नियमात् यद्भौतिकत्वमपि अन्यैरुक्तं तदलमस्तु न किंचिदेतद्वाच्यम्—इत्यर्थः । एवं हि उच्यमाने वायुरपि त्वगिन्द्रियग्राह्यः स्यात् तत्प्रकृतिकत्वात्

श्रोत्र केवल शब्द का ही ग्रहण करता है स्पर्श आदि का नहीं । त्वक् स्पर्श का ही दूसरे का नहीं । इसी प्रकार घ्राण केवल गन्ध का ही ग्रहण करता है । जिन लोगों ने—

"अहङ्कार से (इन इन्द्रियों का) जन्म नहीं होता, उनके नियम में अर्थात् श्रोत्र केवल शब्द का ग्रहण करता है स्पर्श आदि का नहीं इत्यादि में मेरा सिद्धान्त कारण है ।'

इत्यादि कहा है वह इनकी अहङ्कार के स्वरूप की अनभिज्ञता ही है ॥ २४० ॥

प्रश्न—ग्राह्यग्राहक भाव में नियम की अन्यथा अनुपपत्ति के कारण अन्य लोगों ने इनको भूतों से उत्पन्न माना है । जैसा कि कहते हैं—

"घ्राण, रसन, चक्षुष, त्वक् श्रोत्र इन्द्रियाँ भूतों से (उत्पन्न हैं) ।" (न्या०सू० १.१.१२)

इसलिए पार्थिव होने के कारण घ्राण गन्ध का ही ग्राहक है रस आदि का नहीं । इसी प्रकार आकाशरूप होने के कारण श्रोत्र शब्द का ही ग्राहक है स्पर्श आदि का नहीं । यह (कथन) असमीचीन है—यह कहते हैं—

इस कारण भी भौतिकत्व होता है । विषयों में नियम के कारण (जो भौतिकत्व कहा गया) वह नहीं कहना चाहिये ॥ २४१- ॥

इस कारण = तत्तद्वृत्तिविशिष्ट अहङ्कार से जन्य होने के कारण ही विषय-नियम के सिद्ध होने के कारण । इनका विषयों में नियम होने से जो अन्य लोगों के द्वारा भौतिकत्व कहा गया वह पर्याप्त है = ऐसा कुछ नहीं कहना चाहिए ।

तस्य; न चेष्यते भवद्भि:, वायोरग्राह्यत्वेनाभ्युपगमात्; द्वीन्द्रियग्राह्यं हि द्रव्यं दार्शनं स्पार्शनं च, वायुश्च द्रव्यमिति कथमेकेन्द्रियग्राह्यतामियात् । किं च त्वगिन्द्रियं पृथिव्यादिद्रव्यत्रितयं तद्गतांश्च यथोक्तलक्षणान् स्पर्शान्न गृह्णीयात् वायुप्रकृतिकत्वात् तस्य, प्रकृतिप्रक्रमेणैव च ग्राह्यग्राहकभावनियमस्योक्तत्वात् । एवं चक्षुरपि तेजोद्रव्यं तद्गतमेव च रूपं गृह्णीयात् न पृथिव्याद्यपि, तेज:प्रकृतित्वादस्य । एवं कर्मणि सामान्ये समवाये चेन्द्रियप्रत्यक्षत्वं न स्यात्, इन्द्रियाणां भौतिकत्वात्, एषां चातदात्मकत्वात् दृश्यते चैतत्सर्वम्; तस्मान्न भौतिकानीन्द्रियाणि—इति वाच्यम् । यद्भोगकारिका:—

'चतुर्द्रव्यगतान् स्पर्शांश्चतुरो मरुत: क्रमात् ।
द्रव्याणां त्रितयं चैव गृह्णाति न च मारुतम् ॥
त्रीणि द्रव्याणि चक्षुश्च तेषु रूपाणि चैव हि ।
अतो न नियमोऽक्षाणां विषयाणां च कल्पने ॥
भौतिकत्वाच्च नियमे कर्मसामान्ययो: स्फुटम् ।
देवेभ्यो बुद्धयो न स्यु: समवाये च देहिन: ॥' इति ॥

ननु इन्द्रियाणां प्रकृतिनियमे विषयनियमाख्यां युक्तिमन्यथोपपादयता भवता

ऐसा कहने पर वायु भी त्वगिन्द्रियग्राह्य हो जायगा क्योंकि वह त्वगिन्द्रिय, वायु-प्रकृतिक है । किन्तु आप (वैसा) नहीं चाहते क्योंकि (आप) वायु को अग्राह्य मानते हैं । दो इन्द्रियों से (जो) ग्राह्य होता है (वह) द्रव्य होता है (वह) दर्शन और स्पर्श का विषय होता है वायु भी द्रव्य है फिर वह एकेन्द्रिय ग्राह्य कैसे होगा। इसके अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय पृथिवी आदि तीन द्रव्यों और उनमें वर्त्तमान यथोक्त लक्षण वाले स्पर्शों का ग्रहण नहीं करेगी क्योंकि वह वायुप्रकृतिक है और ग्राह्यग्राहक भाव का नियम प्रकृति के प्रक्रम से ही कहा जाता है । इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय भी तेजोद्रव्य और उसमें वर्त्तमान रूप का ही ग्रहण करेगी पृथिवी आदि का नहीं क्योंकि वह तेज:प्रकृतिक है । इसी प्रकार कर्मसामान्य के समवाय में इन्द्रियप्रत्यक्ष नही होगा क्योंकि इन्द्रियाँ (आप नैयायिक के मत में) भौतिक हैं और ये (कर्म) तदात्मक हैं नहीं । किन्तु यह सब दिखलायी पड़ता है । इसलिए इन्द्रियाँ भौतिक नहीं है—ऐसा कहना चाहिए । भोगकारिकायें भी हैं—

"(मनुष्य) चार द्रव्यों में वर्त्तमान स्पर्शों का क्रमश: चार मरुतों का, तीन द्रव्यों (पृथ्वी जल तेज) का ग्रहण करता है किन्तु वायु का (ग्रहण) नहीं करता । चक्षु तीन द्रव्यों का और उनमें वर्त्तमान रूपों का (ग्रहण करता है) । इसलिए इन्द्रियों और विषयों की कल्पना में (कोई) नियम नहीं है ।

भौतिक होने के कारण (इन्द्रिय और विषयों के) कर्म एवं सामान्य में कोई नियम नहीं है । देववर्ग के अग्रदूत स्वरूप वायु आकाश आदि के विषय में ज्ञानेन्द्रियाँ निष्क्रिय होती हैं । आत्मा के समवाय में भी (यही स्थिति है) ।"

भौतिकत्वं तावन्निरस्तम्; आहङ्कारिकत्वे पुनः का युक्तिः?—इत्याशङ्क्याह—

अहं शृणोमि पश्यामि जिघ्रामीत्यादिसंविदि ॥ २४१ ॥
अहंतानुगमादाहङ्कारिकत्वं स्फुटं स्थितम् ।

आदिशब्दात् स्पृशामि रसयामीति । स्फुटमिति—स्वानुभवसिद्धमेव—इत्यर्थः ॥ २४१ ॥

एषां चाहङ्कारिकत्वादेव करणत्वं घटते नान्यथा—इत्याह—

करणत्वमतो युक्तं कर्त्रंशस्पृक्त्वयोगतः ॥ २४२ ॥
कर्तुर्विभिन्नं करणं प्रेर्यत्वात् करणं कुतः ।

अतः आहङ्कारिकत्वात् अहंपरामर्शानुवेधात् कर्त्रंशस्पर्शित्वात् एषां करणत्वं युक्तम्; अन्यथा हि कर्तुश्चेत् विभिन्नं करणमिष्यते, तत् प्रेर्यत्वात् करणमेव कुतो भवेत्, अपि तु प्रेरणविषयत्वात् कर्म—इत्यर्थः ॥ २४२ ॥

न च अकरणिका क्रिया भवेदिति तत्र करणान्तरमन्वेष्यम्; तच्च कर्तुर्विभिन्नत्वात् प्रेर्यमेवेति, तत्रान्यत् करणमित्यनवस्था स्यात्—इत्याह—

प्रश्न—प्रकृति के नियम में विषयनियम नामक युक्ति का प्रकारान्तर से उपपादन करते हुए आपने इन्द्रियों की भौतिकता का निरास (= खण्डन) कर दिया। (उनके) आहङ्कारिक होने में क्या युक्ति है ?—यह शङ्का कर कहते है—

मैं सुनता हूँ, देखता हूँ, सूँघता हूँ इत्यादि ज्ञान में अहन्ता का अनुगम होने से (इन्द्रियों का) आहङ्कारिकत्व स्पष्टतया स्थित (= सिद्ध) है ॥ -२४१-२४२- ॥

आदि शब्द से स्पर्श करता हूँ आस्वादन करता हूँ समझना चाहिये । स्फुट है = अपने अनुभव से सिद्ध है ॥ २४१ ॥

आहङ्कारिक होने से ही इनका करणत्व घटित होता है अन्यथा नहीं—यह कहते हैं—

इस कारण कर्त्रंश का स्पर्शी होने से (इनका) करणत्व समीचीन है । (यदि) करण कर्त्ता से भिन्न है तो प्रेर्य होने के कारण वह करण कैसे होगा ? ॥ -२४२-२४३- ॥

इस कारण = आहङ्कारिक होने से, अहंपरामर्शानुवेध के कारण कर्त्रंश का स्पर्शी होने से इनका करणत्व ठीक है । अन्यथा यदि करण कर्त्ता से भिन्न माना जायगा तो प्रेर्य होने से करण कैसे होगा प्रत्युत प्रेरणा का विषय होने से कर्म ही होगा ॥ २४२ ॥

बिना करण के क्रिया होती नहीं इसलिए दूसरा करण खोजना पड़ेगा और वह

करणान्तरवांछायां भवेत्तत्रानवस्थितिः॥ २४३ ॥

एवं हि देहादौ गृहीताभिमानः संकुचितः प्रमाता स्वयमेव स्वं वपुः पृथक्कृत्यैवाहन्तासंस्पर्शात् स्वाङ्गरूपमपि श्रोत्रादि शब्दादिविषयतया तदालोचन-क्रियादौ साधनतां नयेत्, तदाह—

तस्मात् स्वातन्त्र्ययोगेन कर्ता स्वं भेदयन् वपुः ।
कर्मांशस्पर्शिनं स्वांशं करणीकुरुते स्वयम् ॥ २४४ ॥

तस्मादिति—कर्तुर्विभेदकरणत्वस्यानुपपन्नत्वात् । स्वातन्त्र्ययोगेनेति—कर्तृता-वशेन—इत्यर्थः । कर्मांशस्पर्शिनमिति—शब्दादिविषयसंबद्धम्—इत्यर्थः । स्वांश-मिति—श्रोत्रादिरूपम् ॥ २४४ ॥

ननु यद्येवं तत् कथं 'कुठारेण छिनत्ति' इत्यादौ कर्तुर्विभिन्नस्यापि कुठारादेः करणत्वं स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—

करणीकृततत्स्वांशतन्मयीभावनावशात् ।
करणीकुरुतेऽत्यन्तव्यतिरिक्तं कुठारवत्॥ २४५ ॥

संकुचित एव हि प्रमाता करणीकृतेन तेन बुद्धिकर्मेन्द्रियाद्यात्मना स्वांशेन

कर्त्ता से भिन्न होने के कारण प्रेर्य ही होगा, फिर उसमें दूसरा करण (खोजना पड़ेगा) इस प्रकार अनवस्था हो जायगी—यह कहते हैं—

करणान्तर की इच्छा होने अनवस्था हो जायगी ॥ -२४३ ॥

इस प्रकार देह आदि में अभिमान का ग्रहण करने वाला संकुचित प्रमाता स्वयं ही अपने शरीर को अलग कर के ही अहन्ता के संस्पर्श के कारण अपने अङ्गरूप भी श्रोत्र आदि को शब्द आदि विषय के रूप में उसके आलोचन क्रिया आदि के समय साधन बनाएगा । वह कहते हैं—

इसलिए स्वातन्त्र्य के कारण कर्त्ता अपने शरीर को (अपने से) पृथक् समझता हुआ कर्मांश के स्पर्शी अपने अङ्ग को स्वयं साधन बनाता है ॥ २४४ ॥

इसलिए = कर्त्ता से भिन्न करण के अनुपपन्न होने से । स्वातन्त्र्य के कारण = कर्तृत्ववश । कर्मांश के स्पर्शी = शब्दादि विषय से सम्बद्ध । स्वांश = श्रोत्र आदि को ॥ २४४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'कुठार से काटता है' इत्यादि स्थल में कर्त्ता से भिन्न भी कुठार आदि कैसे करण हो जाते हैं ?—यह शङ्का कर कहते है—

करण बनाये गए उस अपने अङ्ग की तन्मयीभावना के कारण (कर्त्ता) अत्यन्त भिन्न कुठार आदि को साधन मानता है ॥ २४५ ॥

यत् तन्मयीभावनमविभागाभिमानः तन्महिम्ना व्यतिरिक्तहस्तादिकमपेक्ष्य अत्यन्त-व्यतिरिक्तमपि कुठारादिकं करणीकुरुते, छिदिक्रियायां साधकतमतां नयेत्—इत्यर्थः। एवं कर्तुः स्व एवांशः पृथक् कृतः इति मुख्यतया करणतामियादिति सिद्धम् ॥ २४५ ॥

तदाह—

तेनाशुद्धैव विद्यास्य सामान्यं करणं पुरा ।
ज्ञप्तौ कृतौ तु सामान्यं कला करणमुच्यते ॥ २४६ ॥

पुरेति पूर्वम् । विद्याकलयोरेव हि अनन्तरं बुद्धिकर्मेन्द्रियाद्यात्मा विशेषवपुः-प्रसरः ॥ २४६ ॥

ननु कला सर्वत्र प्रयोजककर्तृत्वेनोक्ता इति कथमिहास्याः करणत्वेना-भिधानम्—इत्याह—

ननु श्रीमन्मतङ्गादौ कलायाः कर्तृतोदिता ।
तस्यां सत्यां हि विद्याद्याः करणत्वार्हताजुषः ॥ २४७ ॥

कर्तृप्रयुक्तानामेव हि करणादिभावो भवेत्—इति भावः ॥ २४७ ॥

संकुचित ही प्रमाता करण बनाए गए उस ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय आदि रूप अपने अङ्ग के साथ जो तन्मयीभाव = अभिन्नता का अभिमान, उसकी महिमा से अतिरिक्त हाथ आदि की अपेक्षा अत्यन्त भिन्न भी कुठार आदि को करण बनाता है = छिदि क्रिया में साधकतम करता है । इस प्रकार कर्त्ता का अपना ही अंश पृथक् किया गया—इसलिए मुख्य रूप से कारण बनता है ॥ २४५ ॥

वह कहते हैं—

इसलिए ज्ञान में पहले अशुद्ध विद्या ही इसका (= पुरुष) सामान्यकरण होती है। और क्रिया में कला सामान्यकरण कही जाती है ॥ २४६ ॥

पुरा = पहले । विद्या और कला के बाद ही बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रिय आदि रूप विशेष शरीर का विस्तार होता है ॥ २४६ ॥

प्रश्न—कला सर्वत्र प्रयोजक कर्त्री कही गई है फिर यहाँ इसको करण कैसे कहा गया ?—यह कहते हैं—

श्रीमतङ्गशास्त्र आदि में कला को कर्त्री कहा गया है । उसके होने पर विद्या आदि करण के योग्य हैं ॥ २४७ ॥

कर्त्ता से प्रयुक्त का ही करण आदि भाव होता है ॥ २४७ ॥

तदेव प्रतिविधत्ते—

उच्यते कर्तृतैवोक्ता करणत्वे प्रयोजिका ।
तया विना तु नान्येषां करणानां स्थितिर्यतः ॥ २४८ ॥

'करणत्व' इति सतीत्यर्थः । 'प्रयोजिका' इति मुख्या । करणत्वं पुनरस्या अमुख्यमित्यर्थसिद्धम् । कर्तृत्वस्यैव हि व्यतिरेकमुखेन मुख्यतायां हेतुः तया विनेत्यादि ॥ २४८ ॥

अस्याः प्रयोजककर्तृत्वाभिधानात् न करणवर्गान्तःपातः—इत्याह—

अतोऽसामान्यकरणवर्गात् तत्र पृथक् कृता ।

पृथक्कृता इति करणत्वस्यामुख्यत्वात् ॥

ननु यद्येवं तत्कथं विद्यावत् कर्त्रंशस्पर्शित्वात् कलाया अपि मुख्यं करणत्वमुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

विद्यां विना हि नान्येषां करणानां निजा स्थितिः ॥ २४९ ॥
कलां विना न तस्याश्च कर्तृत्वे ज्ञातृता यतः ।

इसी का उत्तर देते हैं—

कहते हैं—कारणत्व के रहने पर ही कर्त्तृता प्रयोजिका कही गयी है । क्योंकि उसके (= कर्त्तृता के) बिना दूसरे करणों की स्थिति नहीं होती ॥ २४८ ॥

करणत्वे—(करणत्व के) रहने पर । प्रयोजिका = मुख्य । इसलिए इसका (= कर्त्तृता का) करणत्व अमुख्य है यह अर्थात् सिद्ध हो गया । कर्त्तृत्व ही विपरीत रूप से मुख्यता में हेतु है । (इसलिए कहा गया—) उसके बिना इत्यादि ॥२४८॥

प्रयोजक कर्त्ता कहने से इसको करणवर्ग के अन्दर नहीं रख सकते—यह कहते हैं—

इस कारण असामान्य करणवर्ग से इसे पृथक् कर दिया गया ॥ २४९- ॥

पृथक् कर दी गयी—करणत्व के अमुख्य होने के कारण ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो विद्या के समान कर्त्रंश का स्पर्शी होने के कारण कला को भी मुख्य करण क्यों नहीं कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

बिना विद्या के अन्य करणों की अपनी स्थिति नहीं होती और न कला के बिना उसके कर्त्तृत्व में ज्ञातृता रहती है । इसलिए कला और विद्या को पुरुष का मुख्य करण माना जाता है ॥ -२४९-२५०- ॥

कलाविद्ये ततः पुंसो मुख्यं तत्करणं विदुः ॥ २५० ॥

अन्येषामिति कर्तुः कथंचिद्विभिन्नानामन्तर्बहिष्करणानाम्; एषां हि कथंचिद्भेदेऽपि स्वांशरूपविद्याद्यविभागभावनया करणत्वं भवेत्—इति भावः । तस्या विद्यायाश्च न निजा स्थितिरिति संबन्धः यतः कर्तृत्वे ज्ञातृता भवेत् । नहि कर्तृत्वं विना ज्ञानक्रियायामपि कर्तृत्वं भवेदिति भावः । तत इति विद्याया अपि करणत्वस्य कलाधीनत्वात् । यदधीनं हि अन्यस्य करणत्वं तस्यापि हस्ताधीन-करणभावदात्रादिवत् करणत्वं दृष्टम् ॥ २५० ॥

ननु चक्षुरादेरिव रूपादौ क्वानयोर्विवेकेन करणत्वं दृष्टम्?—इत्याशङ्क्य प्रागुक्तं हेतुतया निर्दिशन्नाह—

अत एव विहीनेऽपि बुद्धिकर्मेन्द्रियैः क्वचित् ।
अन्धे पङ्गौ रूपगतिप्रकाशो न न भासते ॥ २५१ ॥

अत एव विद्याकलयोर्मुख्यकरणत्वात् क्वचित् काले कदाचित्—इत्यर्थः । अन्ध इति पङ्गाविति च बुद्धिकर्मेन्द्रियहीनत्वोपलक्षणमेतत् । न न भासते अपितु भासते एव—इत्यर्थः ॥ २५१ ॥

अन्यों का = कर्त्ता से किसी प्रकार भिन्न अन्तः एवं बाह्य करणों का । किसी प्रकार इनका भेद होने पर भी स्वांशरूप विद्या आदि से अभेद की भावना के कारण करणत्व हो जाता है । उस विद्या की अपनी स्थिति नहीं है—यह अन्वय है—जिससे कर्त्तृत्व में ज्ञातृता हो । कर्त्तृत्व के बिना ज्ञानक्रिया में भी कर्त्तृत्व नहीं होता ।

इस कारण = चूँकि विद्या का भी करणत्व कला के अधीन है इस कारण । जिसके अधीन दूसरे का करणत्व होता है उसका भी करणत्व हाथ के अधीन करण भाव वाले हँसिया आदि के समान देखा जाता है अर्थात् जैसे हँसिया का करणत्व हाथ के अधीन और हाथ का करणत्व व्यक्ति के अधीन होता है उस प्रकार ॥ २५० ॥

प्रश्न—रूप आदि के विषय में चक्षु आदि की भाँति इन दोनों का अलग-अलग करणत्व कहाँ देखा गया है ?—यह शङ्का कर पूर्वोक्त को कारण के रूप में दिखलाते हुए कहते हैं—

इसलिए ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय से विहीन भी अन्धे एवं पङ्गु में रूप एवं गति का प्रकाश भासित होता ही है ॥ २५१ ॥

इसीलिए = विद्या और कला के मुख्य करण होने के कारण किसी समय भी । अन्धे और पंगु में—यह ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय से हीनता का उपलक्षण है । नही भासित होता ऐसा नहीं है बल्कि भासित ही होता है ॥ २५१ ॥

ननु यदि अन्धादीनामपि रूपादि भायात् तत् कृतं बुद्धिकर्मेन्द्रियैः ?—इत्याशङ्क्याह—

किंतु सामान्यकरणबलाद्वेद्येऽपि तादृशि।

तादृशि इति सामान्यरूपे एव—इत्यर्थः ॥

तदाह—

रूपसामान्य एवान्धः प्रतिपत्तिं प्रपद्यते॥ २५२ ॥

अन्धादीनामपि हि अस्माकमिव मेर्वपरपार्श्ववर्तिषु पदार्थेषु सामान्यात्मना रूपादौ प्रतिभासो भवेत्; अनुल्लिखितरूपादिप्रतिभासत्वे हि एषां बाह्यमर्थं प्रति प्रवृत्तिरेव न स्यात् ॥ २५२ ॥

एवमेतत् प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

तत एव त्वहङ्कारात् तन्मात्रस्पर्शिनोऽधिकम् ।
कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपायूपस्थाङ्घ्रि जज्ञिरे ॥ २५३ ॥

ततस्त्रिस्कन्धतयोक्तादहङ्कारात्—इत्यर्थः । ननु सत्त्वप्रधानेऽपि अहङ्कारे तन्मात्रस्पर्श उक्तः इति ततोऽस्य को विशेषः?—इत्याशङ्क्योक्तम्—अधिकं

प्रश्न—यदि अन्धे आदि को भी रूप आदि का भान होता है तो फिर ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय निरर्थक हैं ?—यह शङ्का कर कहते है—

किन्तु सामान्यकरण के बल से उस प्रकार के वेद्य में भी (भान होता है)॥ २५२- ॥

उस प्रकार के = सामान्यरूप वाले ॥

वह कहते हैं—

अन्धा (व्यक्ति) रूपसामान्य में ही ज्ञान को प्राप्त होता है ॥ -२५२ ॥

अन्धे आदि को भी हम लोगों की भाँति मेरु के दक्षिण वर्त्तमान पदार्थों का सामान्य रूप से प्रतिभास होता है । अनुल्लिखित रूप आदि का प्रतिभास होने पर तो इनकी बाह्य अर्थ के प्रति प्रवृत्ति ही नहीं होती ॥ २५२ ॥

प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

उस अधिक रूप में तन्मात्रस्पर्शी अहङ्कार से वाक् पाणि पाद पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥ २५३ ॥

उससे = तीन स्कन्ध (= सत्त्व रजस् तमस्) के रूप में उक्त अहङ्कार से । प्रश्न—सत्त्वप्रधान भी अहङ्कार में तन्मात्र का स्पर्श कहा गया—इसलिए उससे इसमें

त्विति। ज्ञानदशायां हि उपक्रान्तोऽपि तत्स्पर्श इह क्रियाप्रधानतया कार्यपर्यन्तीभूतः—इत्यर्थः । अनेन चास्य राजसत्वं प्रकाशितम् । तदुक्तम्—

'वाणी पाणी भगः पायुः पादौ चेति रजोद्भवाः ।
कर्मान्वयाद्रजोभूयान् गर्वो वैकारिकोऽत्र यः ॥' इति ।

वक्ष्यति च—

'उक्त इन्द्रियवर्गोऽयमहङ्कारात् तु राजसात्।'
(९।२७१) इति ॥ २५३ ॥

अत्र च प्राग्वदेवाहङ्कारानुवेधात् आहङ्कारिकत्वं स्फुटयति—

वच्म्याददे त्यजाम्याशु विसृजामि व्रजामि च ।
इति याऽहंक्रिया कार्यक्षमा कर्मेन्द्रियं तु तत्॥ २५४ ॥

विसृजामीति विसर्गस्यानन्दफलत्वात् । ननु बुद्धीन्द्रियेष्वपि अहन्तानुवेधोऽस्ति, इति कस्तेभ्य एषां विशेषः?—इत्याशङ्क्योक्तम्—कार्यक्षमेति । एषां चाहंक्रियाकार्यत्वेऽपि सामानाधिकरण्यनिर्देशेऽयमाशयो यदधिष्ठानमात्रं नेन्द्रियमिति ॥ २५४ ॥

क्या अन्तर है ?—यह शङ्का कर कहा गया—अधिक । ज्ञान दशा में उपक्रान्त भी उस (तन्मात्रा) का स्पर्श यहाँ क्रियाप्रधान होने के कारण कार्यपर्यन्त रहता है । इससे इसका राजसत्व प्रकाशित होता है । वही कहा गया—कर्मान्वय के कारण यहाँ जो रजोबहुल वैकारिक गर्व है (उससे) वाणी, दोनों हाथ, भग, गुदा एवं दोनों पैर ये रजोगुण से उत्पन्न हैं ।

आगे कहेंगे—

"यह इन्द्रियवर्ग राजस अहङ्कार से (उत्पन्न) कहा गया है ॥ २५३ ॥ (तं० ९।२७१)

यहाँ पहले की भाँति अहङ्कारानुवेध के कारण आहङ्कारिकत्व को स्पष्ट करते हैं—

कहता हूँ, आदान करता हूँ, त्याग करता हूँ, शीघ्र विसर्जन करता हूँ और चलता हूँ—इस प्रकार की जो कार्यक्षम अहंक्रिया है वही कर्मेन्द्रिय है ॥ २५४ ॥

विसर्जन करता हूँ—क्योंकि विसर्ग का फल आनन्द है । प्रश्न—ज्ञानेन्द्रियों में भी अहन्ता का अनुवेध होता है फिर उनसे उनमें क्या अन्तर है ?—यह शङ्का कर कहा गया—कार्य में सक्षम । इनके अहंक्रिया का कार्य होने पर भी सामानधिकरण्य का निर्देश करने में यह आशय है कि अधिष्ठानमात्र इन्द्रिय नहीं है ॥ २५४ ॥

अत आह—

तेन च्छिन्नकरस्यास्ति हस्तः कर्मेन्द्रियात्मकः ।

तेनेति कार्यक्षमाहंक्रियामयत्वेन हेतुना—इत्यर्थः । अहंक्रिया च सर्वशरीराधिष्ठानेति तान्यपि तथेति सिद्धम् । यद्वक्ष्यति—

'तस्मात् कर्मेन्द्रियाण्याहुस्त्वग्वद्व्याप्तॄणि मुख्यतः ।
तत्स्थाने वृत्तिमन्तीति.............................. ॥'

(९।२६०) इति ।

'कर्मेन्द्रियात्मको हस्तः' इति प्रत्यक्षाधिष्ठानातिरिक्तवृत्तिः कर्त्रंशतयाधिष्ठातृरूपः ॥

ननु यद्येवं तत्कथं पञ्चाङ्गुलावेव पाणीन्द्रियतया व्यवहारः?—इत्याशङ्क्याह—

तस्य प्रधानाधिष्ठानं परं पञ्चाङ्गुलिः करः ॥ २५५ ॥

प्रधानेत्यनेन अप्रधानमपि अधिष्ठानान्तरमस्यास्तीत्यावेदितम् । अत एव छिन्नकरादेर्मुखादिनापि आदानं स्यात् ॥ २५५ ॥

इसलिए कहते हैं—

इसलिए कटे हाथ वाले का भी कर्मेन्द्रियात्मक हाथ रहता है ॥ २५५- ॥

इसलिए = कार्यक्षम अहंक्रियामय होने के कारण । अहंक्रिया सम्पूर्ण शरीर में रहती है इसलिए वे (इन्द्रियाँ) भी वैसी (= सम्पूर्णशरीरव्यापिनी) हैं—यह सिद्ध होता है । जैसा कि कहेंगे—

"इस कारण मुख्य रूप से उस स्थान में रहने वाली भी कर्मेन्द्रियाँ त्वचा के समान (सर्वशरीर) व्यापिनी हैं ।"

'हाथ कर्मेन्द्रियात्मक हैं'—प्रत्यक्ष अधिष्ठान से भिन्न (स्थल) में रहने वाला कर्त्रंशतया अधिष्ठाता रूप ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो पाँच अङ्गुलियों में ही पाणीन्द्रिय का व्यवहार क्यों होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(क्योंकि) पाँच अङ्गुलियों वाला हाथ उसका परम प्रधान अधिष्ठान है ॥ -२५५ ॥

प्रधान—इस (कथन) से इसका अप्रधान भी दूसरा अधिष्ठान होता है—यह कहा गया । इसलिए कटे हाथ आदि वाले मुख आदि से भी आदान होता है ॥ २५५ ॥

ननु तिर्यगादीनां मुखेनापि आदानं संभवेत् किन्तु न तत् पाणीन्द्रिय-करणकम्; आत्मनो हि भोगायतनं शरीरं तैस्तैः स्वावयवैरेव तत्तत्कर्मफलोपभोगं संपादयति?—इत्याशङ्क्याह—

मुखेनापि यदादानं तत्र यत् करणं स्थितम् ।
स पाणिरेव, करणं विना किं संभवेत् क्रिया ॥ २५६ ॥

तत्रेति आदानक्रियायां, स्थितमिति न तूक्तं मुखादि । अत्र हि तृतीयाश्रुत्या प्रकृत्यर्थनिवेशि करणत्वं वाच्यम् । प्रकृत्यर्थश्च मुखम् न च तस्य करणता युज्यते भौतिकतया कर्त्रंशस्पर्शशून्यत्वात् । न च कर्तुरत्यन्ताविभेदि करणं भवति इति समनन्तरमेवोपपादितम्; तेन तल्लक्षितं तदधिष्ठानमेव कर्त्रंशस्पर्शि किंचिदभ्युपेयं यत्र तृतीयार्थः करणत्वं पर्यवस्येत्, तच्च पाणीन्द्रियमित्युक्तम्—'स पाणिरेव' इति । ततश्च अधिष्ठानमात्रपाण्याद्यभिप्रायम्

'ईषद्विहारादानादि दृष्टं लूनाङ्ध्रिपाणिषु'। (न्या० मं० ८ आ०)

इत्यादि प्रलपितमेव परैः । ननु दृष्टं मुखादि क्लृप्तम्, अदृष्टं तु करणं कल्प्यम् ।

'क्लृप्तकल्प्यविरोधे च क्लृप्तः क्लृप्तपरिग्रहः।'

प्रश्न—पक्षी आदि के द्वारा मुख से भी आदान सम्भव होता है किन्तु वह तो पाणीन्द्रिय करण वाला नहीं है । आत्मा का भोगायन शरीर उन-उन अपने अवयवों के द्वारा ही उन-उन कर्मफलों का भोग सम्पादित करता है ?—यह शङ्का कर कहते है—

मुख से भी जो आदान होता है उसमें जो करण स्थित है वह पाणि ही है । क्या करण के बिना क्रिया सम्भव है ? ॥ २५६ ॥

वहाँ = आदान क्रिया में स्थित, न कि उक्त मुख आदि । यहाँ तृतीया विभक्ति के कथन से प्रकृत्यर्थनिवेशीकरण समझना चाहिए । प्रकृत्यर्थ है मुख, उसका करण होना उचित नहीं है क्योंकि भौतिक होने से (वह) कर्त्रंश के स्पर्श से शून्य है । करण कर्त्ता से अत्यन्त अभिन्न नहीं होता—यह अभी पीछे कहा गया है । इसलिए उससे लक्षित उसका अधिष्ठान ही कर्त्रंश का स्पर्शी कुछ मानना पड़ेगा । जिसमें कि तृतीयार्थ करण बन जाय और वह पाणि इन्द्रिय है । इसलिए कहा गया—वह पाणि ही है । इसलिए अधिष्ठान मात्र पाणि आदि के अभिप्राय से

''किञ्चित् विहार आदान आदि कटे पैर हाथ वालों में देखे जाते हैं ।''

इत्यादि दूसरे लोगों के द्वारा कहा गया । प्रश्न—दृष्ट मुखादि क्लृप्त है और अदृष्ट करण कल्प्य है—

''क्लृप्त और कल्प्य के विरोध में क्लृप्त का ग्रहण मान्य होता है ।''

इति न्यायेन क्लृप्तपरिग्रह एवात्र न्याय्यः इति किमेतदुक्तम्?—इत्याशङ्क्योक्तम्, 'करणं विना किं संभवेत् क्रिया' इति । मुखादि हि अवयवतया क्लृप्तं न करणतया, नहि अस्य तथाभावो युज्यते इत्युक्तम् । अतश्चान्यदेव करणतया कल्प्यं यदकरणिका क्रिया न संभवेत् इति ॥ २५६ ॥

एवं हि बुद्धीन्द्रियकल्पनमपि अफलमेव भवेत् ?—इत्याह—

तथाभावे तु बुद्ध्यक्षैरपि किं स्यात्प्रयोजनम् ।

तु-शब्दो हेतौ ॥

ननु बुद्धिः करणापेक्षा इत्यादानाद्यपि करणापेक्षमिति किमिदं चाशेन पञ्चाशदिव साध्यते—इत्याशङ्क्याह—

दर्शनं करणापेक्षं क्रियात्वादिति चोच्यते॥ २५७ ॥
परैर्गमौ तु करणं नेष्यते चेति विस्मयः ।

परैरिति नैयायिकादिभिः । यदाहुः—

'गन्धाद्युपलब्धिक्रिया करणपूर्विका क्रियात्वात् छिदिक्रियावत् ।'

इस न्याय से यहाँ क्लृप्त का परिग्रह ही उचित है । फिर यह कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहा गया—क्या करण के बिना क्रिया सम्भव है । मुख आदि अवयव के रूप में क्लृप्त हैं करण के रूप में नहीं क्योंकि इसका वह रूप समीचीन नहीं है—यह कहा गया । इसलिए करण के रूप में किसी दूसरे की कल्पना करनी चाहिए जिससे कि क्रिया बिना करण के सम्भव न हो सके ॥ २५६ ॥

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय की कल्पना भी निष्फल ही है—यह कहते हैं—

वैसा होने पर ज्ञानेन्द्रियों से क्या लाभ ? ॥ २५७- ॥

तु शब्द का प्रयोग हेतु अर्थ में है ॥

प्रश्न—बुद्धि को करण की अपेक्षा होती है—इसलिए आदान आदि भी करण की अपेक्षा वाले हैं फिर क्यों यह चाश के कथन से पचास के समान (= आधा ही) सिद्ध किया जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दूसरे लोगों के द्वारा कहा जाता है कि—दर्शन क्रिया करणापेक्ष है, क्योंकि (वह) क्रिया है । किन्तु गमन के विषय में करण वाञ्छित नहीं होता, यह आश्चर्य है ॥ -२५७-२५८- ॥

दूसरे लोगों के द्वारा = नैयायिकों के द्वारा । जैसा कि कहते हैं—

"गन्ध आदि की प्राप्ति की क्रिया करणपूर्विका होती है, क्योंकि क्रिया है,

इति । गमाविति पादेन्द्रियवृत्त्यात्मिकायां गमनक्रियायाम्—इत्यर्थः । एतच्च आदानादेरपि उपलक्षणम् । विस्मय इति, एवं हि क्रियात्वस्य हेतोरनैकान्तिकत्वं स्यात् यदकरणपूर्विकापि गमिक्रिया भवेत् इति । अतश्च दर्शनक्रियायामपि करणपूर्वकत्वं न सिद्धयेत् इत्याश्चर्यमिदं नैयायिकस्य यदितः संधीयमानमितस्त्रुट्यति इति । इदं चास्य महाश्चर्यं यदेतद्दर्शने गमनादिकमेव पञ्चधा कर्म, ज्ञानादिरेव चात्मनो नवधा विशेषगुणाः । तत्र मुख्यक्रियायामपि गमौ न करणपूर्वकत्वम्, गुणात्मनो ज्ञानस्य च करणपूर्वकत्वमित्यपूर्वमभिधानमिति ॥ २५७ ॥

तदाह—

गमनोत्क्षेपणादीनि मुख्यं कर्मोपलम्भनम् ॥ २५८ ॥
पुनर्गुणः क्रिया त्वेषा वैयाकरणदर्शने ।

उपलम्भनमिति दर्शनात्म ज्ञानम् । यदुक्तम्—

'उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव कर्माणि ।' इति,
'बुद्धिसुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नधर्माधर्मभावनात्मानो विशेषगुणाः ।'

इति च । ननु जानातेर्धातोरर्थः क्रियैव ज्ञानं न गुणः—इत्याह—क्रिया

छिदिक्रिया के समान ।''

गमन के विषय में = पादेन्द्रियवृत्त्यात्मक गमनक्रिया के विषय में । यह आदान आदि का भी उपलक्षण है । विस्मय—इस प्रकार क्रियात्व हेतु अनैकान्तिक हो जाता है । क्योंकि गमिक्रिया बिना करण के भी होती है । इसलिए दर्शन क्रिया में भी करणपूर्वकत्व सिद्ध नहीं होता । यह नैयायिक का (विचार) आश्चर्यपूर्ण है कि एक ओर से जोड़ने पर दूसरी ओर टूट रहा है और यह इसका बहुत बड़ा आश्चर्य है कि इनके दर्शनशास्त्र में गमन आदि पाँच ही कर्म हैं और ज्ञान आदि ही आत्मा के नव प्रकार के विशेष गुण हैं । गमनात्मक मुख्य क्रिया भी करणपूर्विका नहीं है और गुणात्मक ज्ञान करणपूर्वक है यह कथन अद्भुत है ॥ २५७ ॥

वह कहते हैं—

गमन उत्क्षेपण आदि मुख्य कर्म हैं और उपलम्भन गुण है । जब कि वैयाकरण दर्शन में यह (उपलम्भन) क्रिया है ॥ -२५८-२५९- ॥

उपलम्भन = दर्शनरूप ज्ञान । जैसा कि कहा गया—

''ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, बटोरना, फैलाना और गमन ये पाँच ही कर्म हैं ।'' और

''बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म और भावना ये आत्मा के विशेष गुण है ।''

त्वेषेत्यादि । वैयाकरणो हि एवमाचक्षाणो न दुष्यति, यस्य क्रियावचनो धातुरिति सामयिको नियमः । नैयायिकादेः पुनर्ज्ञानस्य गुणगणमध्यपाठात् कथमेवमभिधानं सङ्गच्छताम्; अतश्च एतदस्य स्ववचनविरुद्धमेव यद् गुणत्वेऽपि ज्ञानस्य क्रियात्वात् करणपूर्वकत्वमभ्युपेयते न क्रियात्वेऽपि गमनादाविति ॥ २५८ ॥

तदेवाह—

क्रिया करणपूर्वेति व्याप्त्या करणपूर्वकम् ॥ २५९ ॥
ज्ञानं नादानमित्येतत् स्फुटमान्ध्यविजृम्भितम् ।

आन्ध्यविजृम्भितमिति पूर्वापरापरामर्शात्मा व्यामोहः—इत्यर्थः ॥ २५९ ॥

ननु न वयं गमनादावकरणपूर्वकत्वमुपगच्छामः, किंतु नियतपादेन्द्रियादि-करणपूर्वकत्वं नेच्छामः यत् लूनाङ्घ्रयोऽपि जान्वादिना गच्छन्ति, उरगाश्चो-रसापीति?—तदाशङ्क्याह—

तस्मात् कर्मेन्द्रियाण्याहुस्त्वग्वद् व्याप्तृणि मुख्यतः ॥ २६० ॥
तत्स्थाने वृत्तिमन्तीति मतङ्गे गुरवो मम ।

प्रश्न—'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान, क्रिया ही है गुण नहीं—यह कहते हैं—यह क्रिया है इत्यादि क्रियावाची धातु होती है, ऐसा शास्त्रीय नियम है, इस प्रकार का कथन करने वाला वैयाकरण दोषयुक्त नहीं होता । किन्तु नैयायिक आदि का, ज्ञान का गुणों के मध्य पाठ होने के कारण, इस प्रकार का कथन कैसे सङ्गत होगा । इसलिए यह इनके अपने वचन के विरुद्ध ही है कि गुण होने पर भी ज्ञान के क्रिया होने के कारण करणपूर्वकत्व माना जाता है और गमन आदि के विषय में क्रिया होने पर भी नहीं ॥ २५८ ॥

वही कहते हैं—

क्रिया करणपूर्विका होती है इस व्याप्ति के अनुसार ज्ञान करणपूर्वक है और आदान नहीं—यह स्पष्टरूप से अन्धेपन का उल्लास है ॥ -२५९-२६०- ॥

आन्ध्यविजृम्भित = पूर्वापर का अपरामर्श (= न समझना) रूप व्यामोह ॥ २५९ ॥

प्रश्न—हम लोग गमन आदि को अकरणपूर्वक नहीं मानते किन्तु निश्चित पादेन्द्रिय आदि के द्वारा हो यह गमन आदि होता है यह भी नहीं मानते क्योंकि कटे हुए पैर वाले भी घुठने आदि से तथा साँप उदर से चलते हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिए मतङ्ग शास्त्र में हमारे गुरु कर्मेन्द्रियों को त्वगिन्द्रिय के

तस्मात् यथोक्तयुक्त्या पादादेरधिष्ठानमात्रस्य पादादीन्द्रियत्वाभावात् हेतोः त्वगिन्द्रियवत् निखिलशरीरव्यापकानि कर्मेन्द्रियाणि आहङ्कारिकेन्द्रियवादिनः समाचख्युः; किंतु तस्मिन् पादादावधिष्ठानात्मनि स्थाने मुख्यतो वृत्तिमन्ति, येन सर्वेषां तत्रैव इन्द्रियत्वाभिमानः । वस्तुतः पुनः सकलमेवैषां शरीरमधिष्ठेयम् । अत एवैषां यत्र क्वचन कार्यदर्शनमविरुद्धम् । न चैतदस्माभिः स्वोपज्ञमित्युक्तम्—'मतङ्गे गुरवो मम' इति । मतङ्गशास्त्रव्याख्यातारः श्रीमदनिरुद्धप्रभृतयः—इत्यर्थः ॥ २६० ॥

ननु भवत्वेवं यत् गत्यादिकाः क्रियाः पादादिकरणपूर्वकत्वं विना न सिद्ध्यन्ति इति; पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि इति तु कुतोऽयं नियमो यदन्यान्यपि तान्यापतन्ति, निगरणादीणां कर्मान्तराणामपि भावात् । यदाहुः—

'कण्ठोऽन्ननिगरणेन स्तनकलशालिङ्गनादिना वक्षः ।
भारवहनेन चांसद्वयमिन्द्रियमुच्यते न कथम् ॥'

(न्या० मं० ८ आ०) इति ।

तत् कण्ठादेरपि निगरणादिक्रियान्यथानुपपत्त्या कर्मेन्द्रियत्वं वाच्यम्, इत्यपरिनिष्ठितानि कर्मेन्द्रियाणि स्युरिति—तदाह

समान मुख्य रूप से व्यापक किन्तु अपने स्थान में स्थित मानते हैं ॥ -२६०-२६१- ॥

इस कारण = उक्त युक्ति से इन्द्रियों को आहङ्कारिक मानने वाले अधिष्ठान मात्र के पाद आदि के इन्द्रिय न होने से कर्मेन्द्रियों को त्वगिन्द्रिय के समान समस्त शरीर में व्याप्त मानते हैं किन्तु उस पाद आदि अधिष्ठानरूप स्थान में उनकी मुख्य वृत्तिता (मानते हैं) जिससे सबको उसी में इन्द्रियत्व का अभिमान होता है । वस्तुतः तो समस्त शरीर इनका अधिष्ठान हैं । इसीलिए इनका जहाँ कहीं भी कार्य का दिखलायी पड़ना अविरुद्ध (= ठीक) है । इसे हमने अपनी बुद्धि से नहीं कहा है—इसलिए कहा गया—मतङ्ग में हमारे गुरुओं ने = मतङ्गशास्त्र के व्याख्याता अनिरुद्ध आदि (ने भी कहा है) ॥ २६० ॥

प्रश्न—ऐसा हो जाय क्योंकि गमन आदि क्रियायें पाद आदि करणपूर्वकत्व के बिना सिद्ध नहीं होतीं किन्तु कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं यह नियम कहाँ से है क्योंकि अन्य भी कर्मेन्द्रियाँ है क्योंकि निगरण आदि दूसरे कर्म भी है जैसा कि कहते हैं—

''अन्न के निगरण से कण्ठ, स्तनकलश के आलिङ्गन आदि के कारण वक्ष और भारवहन के कारण दोनों कन्धे क्यों इन्द्रिय नहीं कहे जाते ॥''

इसलिए निगरण आदि क्रियायों की अन्यथा अनुपपत्ति से कण्ठ आदि को भी कर्मेन्द्रिय कहना चाहिए । इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ अनिश्चित हैं यह कहते हैं—

नन्वन्यान्यपि कर्माणि सन्ति भूयांसि तत्कृते ॥ २६१ ॥
करणान्यपि वाच्यानि तथा चाक्षेष्वनिष्ठितिः ।

ननु किमिहानेनोक्तेन फलं यदन्यैरेवैतत् परिहृतमित्याह—

नन्वेतत् खेटपालाद्यैर्निराकारि न कर्मणाम् ॥ २६२ ॥
यत्साधनम् तदक्षं स्यात् किन्तु कस्यापि कर्मणः ।

खेटपालाद्यैरिति श्रीमत्सद्योज्योतिःप्रभृतिभिः—इत्यर्थः । यदाहुः—

'आनन्दादिभिरेभिस्तु कर्मभिः परिभाषितैः ।
कर्मेन्द्रियाण्यतो नैषामानन्त्यं कर्मणां वशात् ॥' इति ।

एतदेव व्याचख्युरपि; न मयैतदुच्यते यत् कर्मसाधनम् तत्कर्मेन्द्रियमिति, अपि तु यान्येषामानन्दादीनां कर्मणां साधनानि तानि कर्मेन्द्रियाणीति ॥ २६२ ॥

न ह्येतदस्माकमावर्जकं साक्षात्समाधानम्—इत्याह—

एतन्नास्मत्कृतप्रश्नतृष्णासन्तापशान्तये ॥ २६३ ॥
नह्यस्वच्छमितप्रायैर्जलैस्तृप्यन्ति बर्हिणः ।

प्रश्न है कि अन्य भी बहुत से कर्म हैं उनके लिए भी करणों को कहना चाहिए । इस प्रकार इन्द्रियों के विषय में निश्चितता नहीं है ॥ -२६१-२६२- ॥

प्रश्न—इस कथन से यहाँ क्या फल है क्योंकि दूसरे लोगों के द्वारा इसका परिहार कर दिया गया है । यह कहते हैं—

प्रश्न है कि खेटपाल आदि ने इसका निराकरण कर दिया है कि सभी कर्मों का जो साधन है वह इन्द्रिय है—ऐसा नहीं है बल्कि किसी भी कर्म का (साधन इन्द्रिय है) ॥ -२६२-२६३- ॥

खेटपाल आदि के द्वारा = सद्योज्योति आदि के द्वारा । जैसा कि कहते हैं— "कर्म के रूप में परिभाषित. इन आनन्द आदि के द्वारा कर्मेन्द्रियों का (निर्धारण किया गया है) । इसलिए कर्म के आधार पर इनकी अनन्तता नहीं है ।"

इसी की व्याख्या भी किये हैं, मैं यह नहीं कहता कि—जो कर्म का साधन है वह कर्मेन्द्रिय है बल्कि जो इन आनन्द आदि कर्मों के साधन है वे कर्मेन्द्रिय हैं ॥ २६२ ॥

यह हम लोगों को प्रभावित करने वाला साक्षात् समाधान नहीं है—यह कहते हैं—

यह हमारे द्वारा किए गए प्रश्न रूपी तृष्णा के संताप की शान्ति के

एतदस्माकं परकृतप्रश्नतृष्णासंतापं शमयितुं नालम्—इत्यर्थः । एवं हि पराभिमतानि कर्मान्तराणि करणान्तराणि च सन्तीत्यभ्युपगतं भवतीति ॥ २६३॥

ननु यद्येवं तर्हि किमत्र प्रतिसमाधानं यद्भवादृशामावर्जकम् (स्यात् ?)—इत्याह—

उच्यते श्रीमतादिष्टं शंभुनात्र ममोत्तरम् ॥ २६४ ॥
स्वच्छसंवेदनोदारविकलाप्रबलीकृतम् ।

स्वच्छेत्यादिनास्य विशेषणद्वारेण स्वसंवेदनसिद्धत्वलक्षणो हेतुः ॥ २६४ ॥

तदाह—

इह कर्मानुसन्धानभेदादेकं विभिद्यते ॥ २६५ ॥
तत्रानुसंधिः पञ्चात्मा पञ्च कर्मेन्द्रियाण्यतः ।

तत्रेति कर्मभेदनिमित्तानुसन्धानभेदे सति—इत्यर्थः । पञ्चात्मेति पञ्चप्रकारः । अत इत्यनुसंधानस्य पञ्चप्रकारत्वात् ॥ २६५ ॥

तत्रानुसन्धानभेदकृतं कर्मभेदं तावदाह—

लिए नहीं है । गन्दे और सीमित (= थोड़े) जल से बर्हीं (= मयूर आदि) तृप्त नहीं होते ॥ -२६३-२६४- ॥

यह हमारे परकृत प्रश्न रूपी तृष्णा के सन्ताप को शान्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है । इस प्रकार पराभिमत दूसरे कर्म और दूसरे करण भी हैं यह मान लिया जाता है ॥ २६३ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यहाँ क्या समाधान है जो आपसदृश लोगों के लिए सन्तोषाधायक होगा ?—यह कहते हैं—

श्रीमान् शम्भुनाथ के द्वारा आदिष्ट मेरा उत्तर जो कि स्वच्छसंवेदनउदार विकल से प्रबलीकृत नहीं है, कहा जाता है ॥ -२६४-२६५- ॥

स्वच्छ इत्यादि विशेषण के द्वारा इसका स्वसंवेदनसिद्धत्वलक्षण वाला हेतु (प्रदर्शित) है ॥ २६४ ॥

वह कहते हैं—

यहाँ कर्मानुसन्धान के भेद से एक ही (कर्म) भिन्न कर दिया जाता है। उसमें अनुसन्धान पाँच प्रकार का है इसलिए कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं ॥ -२६५-२६६- ॥

उसमें = कर्मभेदनिमित्तक अनुसन्धान का भेद होने पर । पञ्चात्मा = पाँच प्रकार का । इसलिए = अनुसन्धान के पाँच प्रकार के होने से ॥ २६५ ॥

त्यागायादानसंपत्त्यै द्वयाय द्वितयं विना ॥ २६६ ॥
स्वरूपविश्रान्तिकृते चतुर्धा कर्म यद्बहिः ।
पायुपाण्यङ्घ्रिजननं करणं तच्चतुर्विधम् ॥ २६७ ॥
अन्तः प्राणाश्रयं यत्तु कर्मात्र करणं हि वाक् ।

इह खलु सर्वस्यैव हेयहानायादेयादानाय तदुभयरूपाय तदुभयरूपतापरिहारेण स्वरूपविश्रान्तये च अनुसंधिश्चतुर्धा भिद्यते इति तन्निमित्तं कर्मापि तथा भवेत्; यत् यस्मादेवंविधं कर्म, तत् तस्मात् बहिः क्रमेण पायुपादपाणिप्रजननसंज्ञं चतुर्विधमेव करणं भवति—इति संबन्धः । यद्यपि सर्वक्रियाणां संयोगविभागवत्त्वमस्ति, तथापि विशेषतो गतिक्रियाया—ग्रामप्राप्त्यादिलक्षणैकफलोद्देशेन प्रवृत्तायां हि तस्यां तत्तद्देशत्यागपुरःसरीकारेण देशान्तरादानमेव रूपम् इति हानादानात्मकैककर्मविषयत्वं पादेन्द्रियस्य । अत एव द्वयायेत्युक्तम् । स्वरूपविश्रान्तिश्च अत्र निर्वृत्यपरपर्यायानन्दानुभवमात्ररूपतोच्यते । तत्र हि कथञ्चित् त्यागोपादानपूर्वकत्वेऽपि 'इदं हेयमिदमुपादेयम्' इति क्षोभः प्रशाम्येत् । प्राणाश्रयमिति, वाचो हि प्राण एवाधिष्ठानमिति तमेवाधिकृत्य इयं वचनक्रियायां साधकतमतामियात्; त्यागादि चतुर्विधमपि कर्म लब्धसत्ताकस्य भवेत् । सिद्धमेव हि वस्तु त्यज्यते चोपादीयते च विश्रान्तिधामतयानुमीयते च । वचनात्मकं पुनः

अनुसन्धान के भेद से उत्पन्न कर्मभेद को कहते हैं—

त्याग के लिए, आदान के लिए, दोनों के लिए तथा दोनों के बिना स्वरूपविश्रान्ति के लिए चार प्रकार के कर्म हैं । जो बाहर पायु, पाणि, पाद और जननेन्द्रिय करण है वे भी चार प्रकार के हैं । जो अन्तः प्राण के अधीन कर्म है वहाँ वाक् करण है ॥ -२६६-२६८- ॥

हेय के त्याग एवं आदेय के आदान के लिए, दोनों के लिए तथा दोनों के परिहार से स्वयं में विश्रान्ति के लिए सब लोगों का अनुसन्धान चार प्रकार का होता है इसलिए तन्निमित्तक कर्म भी वैसा होता है । यत् = जिस कारण कर्म इस प्रकार का है तो = इस कारण बाहर क्रम से पायु पाद पाणि एवं जननेन्द्रिय नामक चार प्रकार का ही करण होता है—ऐसा अन्वय है । यद्यपि सब क्रियायों का संयोग और विभाग है तो भी विशेषतः गमनक्रिया का ग्रामप्राप्ति आदि लक्षण वाले एक फल के उद्देश्य से उसके प्रवृत्त होने पर उन-उन देश के त्याग के पश्चात् दूसरे देश का आदान ही रूप है—इसलिए पाद इन्द्रिय का हानआदान रूप एक कर्म विषय है इसलिए 'द्वयाय' ऐसा कहा गया । यहाँ स्वरूपविश्रान्ति का पर्याय है-—निर्वृति और वह केवल आनन्दानुभवरूपता कही जाती है । वहाँ कथंचित् त्यागोपादानपूर्वकता होने पर भी 'यह हेय है यह उपादेय है'—यह क्षोभ शान्त हो जाता है । प्राणाश्रय = प्राण ही वाणी का अधिष्ठान है इसलिए उसी को मानकर यह (वाणी) वचनक्रिया में साधकतम होती है । त्याग आदि चारों प्रकार का कर्म

कर्म शब्दजनन एव व्याप्रियते, इत्यस्य पूर्वेभ्यो विशेष: । अत एव तुशब्दो व्यतिरेके । ननु प्राण एव विचित्रस्थानकरणसंयोगविभागाभ्यां विचित्रवर्णात्मकं शब्दं जनयेत् इति किं वागिन्द्रियेण स्यात् । यदाहु:—

'वायुर्नाभेरुत्थित उरसि विस्तीर्ण: कण्ठे विवर्तते मूर्धानमाहत्य
परावृत्तो वक्त्रे चरन् विविधान् शब्दान् अभिव्यनक्ति ।' इति ।

नैतत्; एवं हि विचित्रवर्णात्मक: शब्द: सर्वकालमुच्चरन्नेव भवेत् । नहि स कोऽपि कालक्षणोऽस्ति यत्र प्राण: तत्तद्विचित्रस्थानकरणसंयोगविभागभागी न प्रवहेत् । तस्मात् तदतिरिक्तेन वागिन्द्रियेण भाव्यम्, यदधिष्ठानात् प्राण: शब्दजन्मनि प्रभवेत्, इतरथा च नेति ॥ २६७ ॥

ननु बुद्धीन्द्रियाणामालोचनं वृत्तिरित्युक्तम्, कर्मेन्द्रियाणां का वृत्ति: ?—इत्याशङ्क्याह—

उक्ता: समासतश्चैषां चित्रा: कार्येषु वृत्तय: ॥ २६८ ॥

चित्रा इति हानादानादिरूपत्वात् । समासत इति निखिलकर्मान्तरस्वीकारात्;

सत्ताप्राप्त (पदार्थ) का ही होता है । सिद्ध ही वस्तु का त्याग किया जाता है, आदान किया जाता है और विश्रान्तिधाम के रूप में अनुमान किया जाता है । वचनात्मक कर्म शब्द को उत्पन्न करने में ही व्यापारवान् होता है—यह इसका पूर्व (कर्मो) से भेद है । इसीलिए 'तु' शब्द व्यतिरेक (= अभाव) अर्थ में है ।

प्रश्न—प्राण ही विचित्र स्थान करण के संयोग और विभाग से विचित्र वर्णरूप शब्द को उत्पन्न करता है फिर वागिन्द्रिय की क्या आवश्यकता । जैसा कि कहते हैं—

"नाभि से उठा हुआ वायु हृदय में फैलकर कण्ठ में विवर्त्तित होता है । फिर मूर्धा से टकराकर लौटता हुआ मुख में आकर अनेक प्रकार के शब्दों को अभिव्यक्त करता है ?"

उत्तर—ऐसा नहीं है । ऐसा होने पर विचित्रात्मक शब्द सब समय उच्चरित होगा क्योंकि कोई भी ऐसा कालक्षण नहीं है जिसमें प्राण तत्तद् विचित्र स्थान करण के संयोग विभाग का भागी होकर प्रवाहित न होता हो । इसलिए वाग् इन्द्रिय उससे अतिरिक्त है जिसके अधिष्ठान (= जिस पर आरुढ़ होकर) से प्राण शब्द को उत्पन्न करने में समर्थ होता है अन्यथा नहीं ॥ २६७ ॥

बुद्धीन्द्रियों की वृत्ति आलोचन है—यह कहा गया । कर्मेन्द्रियों की क्या वृत्ति है ?—यह शङ्का कर कहते है—

कार्यों के बारे में इनकी संक्षेप में विचित्र वृत्तियाँ कही गयी हैं ॥ -२६८ ॥

नहि एतदतिरिक्तं कर्मान्तरं किञ्चित् संभवेत्—इति भावः । अत एव कर्मान्तराभावात् करणान्तरमपि न प्रकल्प्यम्, एतावतैव तत्स्वीकारसिद्धेः ॥२६८॥

तदाह—

तदेतद्व्यतिरिक्तं हि न कर्म क्वापि दृश्यते ।
तत्कस्यार्थे प्रकल्प्येयमिन्द्रियाणामनिष्ठितिः ॥ २६९ ॥

कस्यार्थ इति किमर्थम्—इत्यर्थः ॥ २६९ ॥

नन्वेवं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्चैवैषां नियता हानाद्या वृत्तयः इत्युक्तम्, तदेषां पाणिना विहरणमपि पादेन चादानमपि इत्यन्योन्यस्य वृत्तिसाङ्कर्यं कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

एतत्कर्तव्यचक्रं तदसाङ्कर्येण कुर्वते ।
अक्षाणि सहवृत्त्या तु बुद्ध्यन्ते सङ्करं जडाः ॥ २७० ॥

तदेतदिति हानादानादि । असाङ्कर्येणेति; नहि विहरणं पाणिः करोति आदानं वा पादः किन्तु एकस्मिन्नेवाधिष्ठाने पादः पाणिश्च विहरणं चादानं च यथाक्रमं कुरुतः सर्वशरीरव्यापकत्वात् एषाम्, पञ्चाङ्गुलादेश्च शरीरावयवस्य मुख्याधिष्ठान-

---

चित्रा—हान आदान आदि रूप होने के कारण । संक्षेप में—समस्त दूसरे कर्मों को स्वीकार करने के कारण । इनके अतिरिक्त कोई दूसरा कर्म सम्भव नहीं है—यह भाव है । इसलिए कर्मान्तर के अभाव के कारण कारणान्तर की भी कल्पना नहीं करनी चाहिए । क्योंकि इतने से ही उसके स्वीकार की सिद्धि हो जाती है ॥ २६८ ॥

वही कहते हैं—

तो इससे अतिरिक्त कर्म कहीं दिखलायी नहीं पड़ता । तो किसके लिए इन्द्रियों की इस अनिश्चितता की कल्पना की जाय ॥ २६९ ॥

किसके लिए = क्यों ॥ २६९ ॥

प्रश्न—पाँच कर्मेन्द्रियाँ है और पाँच ही इनकी निश्चित हान आदान आदि वृत्तियाँ हैं—यह कहा गया । तो इनमें से हाथ के द्वारा चलना और पैर से ग्रहण करना—यह अन्योन्य का वृतिसाङ्कर्य कहाँ से है ?—यह शङ्का कर कहते है—

इन्द्रियाँ इस कर्त्तव्यचक्र को बिना साङ्कर्य के करती हैं । मूर्ख लोग सहवृत्ति के कारण (इसे) सङ्कर मानते हैं ॥ २७० ॥

वह यह = हान आदान आदि । असाङ्कर्य से—हाथ विहरण नहीं करता और पैर आदान नहीं करता किन्तु एक ही अधिष्ठान में पैर और हाथ विहरण और आदान क्रमशः करते हैं क्योंकि ये समस्त शरीर में व्याप्त हैं । पाँच अंगुलियाँ

त्वात् । सहवृत्त्येति एकाधिष्ठानगतत्वेन—इत्यर्थः । जडा इति अधिष्ठानाधिष्ठेय-विभागमजानानाः—इत्यर्थः । एवं हि चक्षुःश्रवसामेकस्मिन्नेव गोलके दर्शनश्रवण-शक्तिसंभवात् वृत्तिसाङ्कर्येण बुद्धीन्द्रियाणामपि अभावो भवेत् ॥ २७० ॥

एवमक्षपादादिमतं प्रक्षिप्य स्वमतमेव उपसंहरति—

उक्त इन्द्रियवर्गोऽयमहङ्कारात् तु राजसात् ।

अयमिति प्रक्रान्तत्वात् कर्मेन्द्रियरूपः ॥

एवमहङ्कारस्य सात्त्विकराजसतया प्रकृतिस्कन्धतामभिधाय तामसतयाप्याह—

तमःप्रधानाहङ्काराद् भोक्त्रंशच्छादनात्मनः ॥ २७१ ॥
भूतादिनाम्नस्तन्मात्रपञ्चकं भूतकारणम् ।

'भोक्त्रंशच्छादनात्मनः' इति भोग्यांशस्योद्भूततया प्राधान्यात् । अस्य च भूतादिनामत्वे भूतकारणतन्मात्रकारणत्वं निमित्तम्—इत्युक्तं भूतकारणमिति । उक्तं च—

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।

आदि शरीरावयव का मुख्य अधिष्ठान है । सहवृत्ति के कारण = एक अधिष्ठान में रहने के कारण । जड़ = अधिष्ठान अधिष्ठेय विभाग को न जानने वाले । ऐसा होने पर साँपों के एक ही गोलक में दर्शन और श्रवण शक्ति के होने से वृत्तिसाङ्कर्य के कारण ज्ञानेन्द्रियों का भी अभाव हो जायगा ॥ २७० ॥

अक्षपाद आदि के मत को प्रक्षिप्त (= खण्डित) कर अपने मत का उपसंहार करते हैं—

'यह इन्द्रियवर्ग राजस् अहङ्कार से उत्पन्न कहा गया ॥ २७१- ॥

यह = प्रस्तुत होने के कारण कर्मेन्द्रिय रूप (वर्ग) ॥

अहङ्कार की सात्त्विक और राजस के रूप में प्रकृतिस्कन्धता का कथन कर तामस के रूप में भी कहते हैं—

भोक्त्रंश का आवरण करने वाले तमःप्रधान भूतादि नामक अहङ्कार से (पञ्च) महाभूतों की कारणभूता पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं ॥ -२७१-२७२- ॥

भोक्त्रंश को आवृत करने वाले—उद्भूत होने के कारण भोग्यांश के प्रधान होने से । इस (= तामस अहङ्कार) का भूतादि नाम होने में महाभूतों के कारणभूत तन्मात्राओं का कारण होना निमित्त है इसलिए कहा गया—'भूतकारणम्' । कहा भी है—

गुणा विशिष्टास्तन्मात्रास्तन्मात्रपदयोजिताः ॥
प्रकाशकर्मकृद्वर्गवैलक्षण्यात् तमोभवाः ।
प्रकाश्यत्वाच्च भूतादिरहङ्कारोऽत्र तामसः ॥' इति ॥ २७१ ॥

ननु कथमेतदुक्तम् यत् 'राजसादहङ्कारात् कर्मेन्द्रियवर्गो जातः' इति । एवं हि सांख्याः प्रतिपन्नवन्तो यत् सात्त्विकादहङ्कारात् मनो(कर्म)बुद्धीन्द्रियवर्गः प्रवृत्तः, तामसात्तन्मात्रवर्गः, राजसात् पुनरुभयमिति । यदाहुः—

'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥'
(सां० २५ का०) इति ।

तदाह—

मनोबुद्ध्यक्षकर्माक्षवर्गस्तन्मात्रवर्गकः ॥ २७२ ॥
इत्यत्र राजसाहंकृद्योगः संश्लेषको द्वये ।

अत्र द्वये इति इन्द्रियैकादशके तन्मात्रपञ्चके च । संश्लेषक इति कार्य-जननौन्मुख्यात्मसन्धानाधायकत्वात् । सात्त्विको ह्यहङ्कार इन्द्रियभावेन प्रवर्तमानो निष्क्रियत्वात् राजसं प्रवर्तकत्वेनाकाङ्क्षति, तामसोऽपि तन्मात्रभावेन प्रवर्तमान

"शब्द स्पर्श रूप रस और पाँचवा गन्ध ये तन्मात्राओं के विशिष्ट गुण तन्मात्रपद से योजित हैं । प्रकाश कर्म करने वाले वर्ग से विलक्षणता के कारण तमोगुण से उत्पन्न हैं । प्रकाश्य होने के कारण यहाँ भूतादि अहङ्कार तामस है ॥ २७१ ॥

प्रश्न—यह कैसे कहा गया कि 'राजस अहङ्कार से कर्मेन्द्रियवर्ग उत्पन्न हुआ है' । सांख्य ऐसा मानते हैं कि सात्त्विक अहङ्कार से मन और कर्मज्ञानेन्द्रियसमूह उत्पन्न हुआ है, तामस अहङ्कार से तन्मात्रवर्ग और राजस से दोनों । जैसा कि कहते हैं—

"सात्त्विक ग्यारह इन्द्रियाँ वैकृत अहङ्कार से उत्पन्न होती है एवं तन्मात्रायें भूतादि से । वह तामस होता है । तैजस अहङ्कार से दोनों (उत्पन्न होते हैं) ।"

वह कहते हैं—

जो मन बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियसमूह एवं तन्मात्र वर्ग है यहाँ राजस अहङ्कार का योग दोनों में सन्धि करने वाला है ॥ -२७२-२७३- ॥

इन दोनो में = ग्यारह इन्द्रियों एवं पाँच तन्मात्राओं में । संश्लेषक—कार्य को उत्पन्न करने की उन्मुखतारूप सन्धिकारक होने से संश्लेषक है । सात्त्विक अहङ्कार इन्द्रियरूप में प्रवृत्त होता हुआ निष्क्रिय होने के कारण राजस् अहङ्कार को प्रवर्त्तक के रूप में चाहता है । और तामस भी तन्मात्र के रूप में प्रवृत्त होता हुआ (राजस

इति ॥ २७२ ॥

ननु किमनेन सैद्धान्तिकेन मतेनोपन्यस्तेन सांख्यमतेन वा, इह खलु श्रीपूर्वशास्त्रमधिकृत्य तात्त्विकस्य कार्यकारणभावस्य निरूपणं प्रक्रान्तम् । तत्र च

'तत्त्रिधा तैजसात् तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत ।
वैकारिकात् ततोऽक्षाणि तन्मात्राणि तृतीयकात्॥' (मा० १।३१)

इत्युक्तम्—एवमाशङ्कां गर्भीकृत्य तत्रैव व्याख्याभेदं तावत् दर्शयति—

अन्ये त्वाहुर्मनो जातं राजसाहंकृतेर्यतः ॥ २७३ ॥
समस्तेन्द्रियसञ्चारचतुरं लघु वेगवत् ।
अन्ये तु सात्त्विकात् स्वान्तं बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि तु ॥ २७४ ॥
राजसाद् ग्राहकग्राह्यभागस्पर्शीनि मन्वते ।

राजसाहंकृतेरिति तैजसशब्दाभिहितायाः । बाह्येन्द्रियाणि च मनोऽधिष्ठितान्येव स्वविषयेषु प्रवर्तितुमुत्सहन्ते इत्युक्तं 'लघु' कृत्वा 'समस्तेन्द्रियसञ्चारचतुरम्' इति । अत एव सकलबाह्येन्द्रियाधिष्ठातृत्वात् इहाक्षेशम्—इत्युक्तम् । यदभिप्रायेणैवान्यैः

को प्रवर्त्तक के रूप में चाहता है) ॥ २७२ ॥

प्रश्न—इस सैद्धान्तिक मत अथवा सांख्य मत के प्रस्तुत करने से क्या लाभ ? यहाँ तो मालिनीविजय के आधार पर तात्त्विक कार्यकारण भाव का निरूपण प्रस्तुत है । और वहाँ—

"वह (अहङ्कार) तीन प्रकार का है । तैजस उससे इन्द्रियों का स्वामी मन, वैकारिक से इन्द्रियाँ और तीसरे से तन्मात्रायें उत्पन्न हुयीं ।"

यह कहा गया । इस आशङ्का को भीतर रख कर उसी में व्याख्याभेद दिखलाते हैं—

दूसरे लोग कहते हैं कि चूँकि राजस अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ है इसलिए (वह) समस्त इन्द्रियों के सञ्चार में चतुर लघु और बेगवान् है । अन्य लोग सात्त्विक अहङ्कार से मन और ग्राहक ग्राह्य भाग का स्पर्श करने वाली ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों को राजस (अहङ्कार) से उत्पन्न मानते हैं ॥ -२७३-२७५- ॥

राजस अहङ्कार से—तैजस शब्द से कथित । बाह्य इन्द्रियाँ मन से अधिष्ठित होकर ही अपने विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उत्साहित होती हैं । इसलिए कहा गया 'लघु' होने के कारण 'समस्त इन्द्रिय के सञ्चार में चतुर' । इसलिए समस्त बाह्य इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने के कारण (इसे) अक्षेश (= अक्ष अर्थात् इन्द्रियों का ईश = स्वामी) कहा गया है । जिस अभिप्राय से ही दूसरे लोग—

'युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।' (न्या० सू० १।१।१६)

इत्युक्तम् । ननु

'सुगन्धिं शीतलां दीर्घामश्नतः शुष्कशष्कुलीम् ।
कपिलब्रह्मणः सन्ति युगपत्पञ्चबुद्धयः ॥'

इत्यादिभङ्ग्या युगपज्ज्ञानोत्पादोऽपि दृश्यते? इत्याशङ्क्योक्तम्—वेगवदिति, आशु सञ्चारि—इत्यर्थः । तेनोत्पलदलशतसूचीव्यतिभेदन्यायेनात्र स्थितोऽपि क्रमो न विभाव्यते—इति भावः । एवं चास्य क्रियावत्त्वाद्रजोगुणान्वयः—इति युक्तमुक्तम् 'राजसाहंकृतेर्मनो जातम्' इति । एवं पारिशेष्याद्वैकारिकशब्दाभिधेयात् सात्त्विकादहङ्कारात् बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि—इति सिद्धम् । सात्त्विकादिति तैजसशब्दाभिहितात् । तेजसो हि प्रकाशरूपत्वात् तथात्वम्—इत्येवमुक्तम् । राजसादिति वैकारिकशब्दाभिहितात्, विशिष्टक्रियाप्राधान्याच्च अस्यैवमभिधानम् । अत एव तत्संश्लेषवत्त्वात् 'ग्राहकग्राह्यभागस्पर्शीनि'—इत्युक्तम् ॥ २७४ ॥

सैद्धान्तिकास्तु नैतदनुमन्यन्ते,—इत्याह—

खेटपालास्तु मन्यन्ते कर्मेन्द्रियगणः स्फुटम् ॥ २७५ ॥

"एक साथ (अनेक) ज्ञान का उत्पन्न न होना मन का चिह्न है ।" (न्या०सू० १।१।१६)

ऐसा कहते हैं ।

प्रश्न—"सुन्दर, गन्धवाली, शीतल, बड़ी, शुष्क पूड़ी को खाने वाले कपिल ब्राह्मण को एक साथ पाँच ज्ञान होते हैं ।"

इत्यादि भङ्गी के द्वारा एक साथ (कई) ज्ञान की उत्पत्ति भी देखी जाती है ? यह शङ्का कर कहा गया—वेगवान् = आशु सञ्चारी । इसलिए एक सौ कमल के पत्तों को छेदने के न्याय ऊपर नीचे रखकर सूई से छेदने पर जैसे छेदन से क्रम होते हुए भी अनुभव में नहीं आता उसी प्रकार से यहाँ स्थित भी क्रम मालुम नहीं होता—यह भाव है । इस प्रकार इसके क्रियावान् होने के कारण रजोगुण का अन्वय है । इसलिए ठीक कहा गया कि 'राजस अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ' । इस प्रकार परिशेष होने से वैकारिक शब्द से अभिधेय सात्त्विक अहङ्कार से बुद्धि कर्मेन्द्रियाँ (उत्पन्न होती हैं) यह सिद्ध हो जाता है । सात्त्विक से = तैजस शब्द से उक्त । तेज के प्रकाश रूप होने के कारण वैसा है—यह कहा गया । राजस से = वैकारिक शब्द से अभिहित । विशिष्ट क्रिया की प्रधानता होने से इसका ऐसा कथन है (वि = विशिष्ट, कारिक = क्रिया को करने वाला)। इसीलिए 'उससे संयुक्त होने के कारण 'ग्राह्यग्राहक भाग का स्पर्शी'—ऐसा कहा गया ॥ २७४ ॥

सैद्धान्तिक लोग इसे नहीं मानते—यह कहते हैं—

राजसाहंकृतेर्जातो रजसः कर्मता यतः ।

राजसाहंकृतेरिति न पुनः सात्त्विकाहंकृतेः । कारणानुविधायित्वं हि नाम तत्कार्यत्वे नियामकम् । बुद्धीन्द्रियवर्गश्च प्रकाशकः कर्मेन्द्रियवर्गश्च कर्मकृत्—इति तथानुरूपादेवाहङ्कारात् अनयोरुद्भवो न्याय्यः । यदुक्तम्—

'समनोबुद्धिदेवानां गणो यस्मात् प्रकाशकः ।
तस्मात् स सात्त्विकाज्जातः स्वानुरूपादहंकृतः ॥' इति ।
'राजसस्तैजसाद्वर्गः कर्माक्षाणां तु कर्मकृत् ।
जातः कार्यस्य येनेह कारणानुविधायिता ॥' इति च ।

अन्यथा पुनरेषां संभवे क्लृप्ते सर्वविकारेषु कारणाव्यवस्था प्रसज्येत । एवं हि तन्मात्रवर्गस्यापि तस्मादेव कस्मान्न संभवो भवेत् तामसाद्वाहङ्कारात् वर्गद्वयस्यापीति । यदाहुः—

'विनिवारयितुं शक्या नाव्यवस्था विकारगा ।
सात्त्विकात् संभवे क्लृप्ते सात्त्वराजसवर्गयोः ॥' इति ॥ २७५॥

ननु आस्तामेतत् न वयमत्र विप्रतिपद्यामहे, 'चित्रो हि कार्यकारणभावः'

खेटपाल गुरु मानते हैं कि कर्मेन्द्रियसमूह स्पष्ट रूप से राजस अहङ्कार से उत्पन्न हुआ है क्योंकि रजस् की कर्मता है ॥ -२७५-२७६- ॥

राजस अहङ्कार से न कि सात्त्विक अहङ्कार से । तत्कारणानुविधायित्व तत्कार्यत्व में नियामक है (अर्थात् किसी कारण का कार्य वही कहलाता है जो उस कारण के गुणकर्म वाला हो)। ज्ञानेन्द्रियवर्ग प्रकाशक है और कर्मेन्द्रियवर्ग कर्म करने वाला । इसलिए उसके अनुरूप ही अहङ्कार से इन दोनों की उत्पत्ति उचित है । जैसा कि कहा गया है—

''चूँकि मन और ज्ञानेन्द्रियों का समूह प्रकाशक है इसलिए वह अपने अनुरूप सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न है ।'' और

''जिस कारण कार्य की कारणानुविधायिता है इसलिए कर्मकारी कर्मेन्द्रियों का समूह तैजस अहङ्कार से (उत्पन्न हुआ) है ।''

इनकी अन्य प्रकार से उत्पत्ति मानने पर समस्त विकारों में कारण की अव्यवस्था फैल जायगी (= किस कारण से कौन सा कार्य उत्पन्न हुआ यह निश्चय नहीं हो पायेगा)। इस प्रकार तन्मात्रसमूह की भी उसी से उत्पत्ति क्यों नहीं होगी अथवा तामस अहङ्कार से दोनों वर्गों की । जैसा कि कहते हैं—

''सात्त्विक और राजस वर्ग की सात्त्विक अहङ्कार से उत्पत्ति मानने पर विकारगामी अव्यवस्था रोकी नहीं जा सकेगी'' ॥ २७५ ॥

प्रश्न—यह हो हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है । 'कार्यकारण भाव विचित्र है'

इत्युपपादितम् । श्रीपूर्वशास्त्रे पुनः किं न्याय्यमिति चिन्तनीयम् । तदधिकारेणैव हि तात्त्विकः कार्यकारणभावो निरूपयितुमुपक्रान्तः । अत आह—

श्रीपूर्वशास्त्रे तु मनो राजसात् सात्त्विकात्पुनः ॥ २७६ ॥
इन्द्रियाणि समस्तानि युक्तं चैतद्विभाति नः ।

श्रीपूर्वशास्त्रे पुनरेतदेव युक्तमस्माकं विभाति यन्मनो राजसादहङ्काराज्जातं बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि तु सात्त्विकादिति । चोऽवधारणे भिन्नक्रमः ॥ २७६ ॥

युक्तत्वमेवात्रोपदर्शयति—

तथाहि बाह्यवृत्तीनामक्षाणां वृत्तिभासने ॥ २७७ ॥
आलोचने शक्तिरन्तर्योजने मनसः पुनः ।

बाह्यवृत्तीनामक्षाणामिति, बाह्यानां चक्षुरादीनां दशानामिन्द्रियाणाम्—इत्यर्थः । एषां चाविकल्पनिजवृत्तिभासनात्मन्यालोचनमात्र एव सामर्थ्यमित्युक्तम् 'वृत्तिभासने आलोचने शक्तिः'—इति । वस्त्विति पाठे तु तदधिगमात्मनि—इत्यर्थः । इयांस्तु विशेषः यत् बुद्धीन्द्रियेष्वालोचनानुपाती वचनादिरूपः क्रियांशः परिस्फुरति स सर्व एव बुद्ध्यादिप्रमातृविश्रान्तिसतत्त्वो भेदाभेदमयसंबन्धमूलोऽन्तर्योजनात्मा मनसो

यह सिद्ध कर दिया गया । मालिनीविजय में क्या उचित माना गया है इस पर चिन्ता करनी चाहिए । क्योंकि उसके अधीन ही तात्त्विक कार्यकारणभावनिरूपण करने का उपक्रम हुआ है । इसलिए कहते है।—

मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में (कहा गया है कि) मन राजस (अहङ्कार) से और समस्त इन्द्रियाँ सात्त्विक (अहङ्कार) से (उत्पन्न हैं) । और यह हमको ठीक लग रहा है ॥ -२७६-२७७- ॥

श्री पूर्वशास्त्र में यही हमें ठीक लगता है कि मन राजस अहङ्कार से उत्पन्न है और बुद्धीन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ सात्त्विक अहङ्कार से । 'च' अवधारण अर्थ में भिन्न क्रम वाला है अर्थात् 'एतत् च' ऐसा पाठ होना चाहिये ॥ २७६ ॥

यहाँ समीचीनता को ही दिखलाते हैं—

बाह्य वृत्तिवाली इन्द्रियों की वृत्ति के भासनरूप आलोचन में शक्ति है और मन की अन्तर्योजन में ॥ -२७७-२७८- ॥

बाह्य वृत्तिवाली इन्द्रियों की = बाह्य चक्षु आदि दश इन्द्रियों की । इनका विकल्परहित अपनी वृत्ति के आभासनरूप आलोचनमात्र में ही सामर्थ्य है—यह कहा गया—'वृत्तिभासने...........।' 'वस्तु' ऐसा पाठ होने पर उसके ज्ञानरूप—ऐसा अर्थ करना चाहिये । इतना अन्तर है कि ज्ञानेन्द्रियों में आलोचन का अनुपाती (= बाद में होने वाला) वचनादिरूप क्रियांश परिस्फुरित होता है वह सभी बुद्धि आदि प्रमाता

व्यापारः, क्रिया हि बहिर्बहूनां क्रमिकाणां क्षणानामन्तःप्रमातृमयतयैकता नाम । न चाविकल्पदशायामेवंभावो भवेत्, एकैकस्मिन्नाभासक्षणेऽनुभवस्य वृत्तेः । तेन 'वच्म्यहम्' इत्यादौ संभवतः प्रमातुः प्रथमविकल्पतया वचनादिविषयस्य शब्दादेः कर्त्रंशस्पर्शावरोहेण कार्यांशस्पर्शोद्रेकादीषत्परिस्फुरणं नाम कर्मेन्द्रियाणां मुख्या-वृत्तिः, येनास्य मूकाद् वैलक्षण्यं स्यात्; वचनादिक्रिया तु वैकल्पिकतया माया-प्रमातुः मानस एव व्यापारः ॥ २७७ ॥

नन्वत्र किं प्रमाणम्—इत्याशङ्क्याह—

उक्तं च गुरुणा कुर्यान्मनोऽनुव्यवसायि सत् ॥ २७८ ॥
तद्द्वयालम्बना मातृव्यापारात्मक्रिया इति ।

गुरुणेति श्रीप्रत्यभिज्ञाकृता । यदुक्तं तत्र—

'तद्द्वयालम्बना एता मनोऽनुव्यवसायि सत् ।
करोति मातृव्यापारमयीः कर्मादिकल्पनाः ॥'

(ई०प्र० २।२।३) इति ।

मन एव हि कल्पनानन्तरं चक्षुरादिव्यवसितमपि अर्थमनुव्यवस्यन्निश्चय-दशामधिशाययत् तदेकानेकरूपं द्वयमवलम्बमाना एताः क्रियादिकल्पनाः कुर्यात्

में विश्रान्ति वाला भेदाभेदमयसम्बन्धमूलक अन्तर्योजन रूप मन का व्यापार है । क्रिया बाहर अनेक क्रमिक क्षणों की अन्तःप्रमातृमयता के रूप में एकता है । निर्विकल्पक दशा में ऐसा भाव नहीं होता क्योंकि एक-एक आभास के क्षण में अनुभव रहता है । इसलिए 'मैं कह रहा हूँ' इत्यादि स्थल में उत्पन्न होने वाले, प्रमाता के प्रथम विकल्प के रूप में वचन आदि के विषय शब्द आदि का कर्त्रंश-स्पर्शावरोहण के द्वारा कार्यांश के स्पर्श के उद्रेक से ईषत् परिस्फुरण कर्मेन्द्रियों की मुख्य वृत्ति है जिससे इसकी मूक आदि से भिन्नता होती है । वचन आदि क्रिया तो वैकल्पिक होने के कारण मायाप्रमाता का मानस व्यापार है ॥ २७७ ॥

प्रश्न—इस विषय में क्या प्रमाण है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गुरु के द्वारा कहा गया है कि मन अनुव्यवसायी होता हुआ उन दोनों (= इन्द्रिय और विषय) के आलम्बनवाली मातृव्यापाररूपा क्रिया को (करता है) ॥ -२७८-२७९- ॥

गुरु के द्वारा = ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के रचयिता के द्वारा । जैसा कि वहाँ कहा गया—

"मन अनुव्यवसायी होता हुआ उन दोनों के आलम्बन वाली मातृव्यापारमयी इन कर्म आदि की कल्पनाओं को करता है ।"

मन ही कल्पना के बाद चक्षुरादि से निश्चित भी अर्थ का पुनर्निश्चय करता

एतावत्येव च मायाप्रमातुः प्रमातृत्वमित्युक्तम्—'मातृव्यापारात्म' इति ।

'निर्विकल्पदशायां हि सोऽयमैश्वरो भावः पशोरपि।'

इत्यादिनीत्या तत्तदर्थजातमभेदेनैव परिस्फुरेत्—इति कथं भेदाभेदमयी लोकयात्रा निर्वहेत् ॥ २७८ ॥

तन्मात्राणि पुनरत्र भूतादेस्तामसादेवाहङ्कारात्—इत्याह—

तन्मात्रस्तु गणो ध्वान्तप्रधानाया अहंकृतेः ॥ २७९ ॥

ननु बुद्धिकर्मेन्द्रियवर्गद्वयवत् तन्मात्रोऽपि वर्गः सात्त्विकादेवाहङ्कारात् कथं नोदियात् ? इत्याशङ्क्याह—

अत्राविवादः सर्वस्य ग्राह्योपक्रम एव हि ।

नहि अत्र कश्चिद्विप्रतिपद्यते यत् वरणात्मनो ग्राह्यस्यायमुपक्रम इति । अत एवायं प्रकाश्यो न तु प्रकाशकः । तदस्य सात्त्विकादहङ्कारात् कथमुत्पत्तिः स्यात् । तदुक्तम्—

'मात्रावर्गोऽप्यहङ्काराद्वर्गद्वयविलक्षणः ।

हुआ = निश्चय दशा में पहुँचाता हुआ, उस एक अनेक रूप दो का आलम्बन करती हुयी इन क्रियादि कल्पनाओं को करता है । इतनी ही मायाप्रमाता की प्रमातृता है—इसलिए कहा गया मातृव्यापाररूप ।

"निर्विकल्पक दशा मे पशु का भी ईश्वरीय भाव रहता है ।"

इत्यादि नीति से भिन्न-भिन्न अर्थसमूह अभिन्न रूप से स्फुरित होता है फिर भेदाभेदमयी लोकयात्रा का निर्वाह कैसे होगा ॥ २७८ ॥

तन्मात्रायें भूतादि (नामक) तामस अहङ्कार से ही उत्पन्न होती हैं—यह कहते हैं—

तन्मात्रसमूह तमःप्रधान अहङ्कार से उत्पन्न होता है ॥ -२७९ ॥

प्रश्न—बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की भाँति तन्मात्रवर्ग भी सात्त्विक ही अहङ्कार से क्यों नहीं उत्पन्न होता ? यह शङ्का कर कहते हैं—

इस विषय में सबका एक मत है कि ग्राह्य का ऐसा ही उपक्रम होता है ॥ २८०- ॥

इस विषय में किसी को भी विरोध नहीं है कि आवरणात्मक ग्राह्य का यह उपक्रम है । इसीलिए यह प्रकाश्य है प्रकाशक नहीं । फिर इसकी सात्त्विक अहङ्कार से उत्पत्ति कैसे होगी ? अर्थात् नहीं होगी । वही कहा गया—

दोनों वर्गों (कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय) से विलक्षण तन्मात्रवर्ग भी अहङ्कार से उत्पन्न

प्रकाश्यस्तामसस्तस्माज्जातो भूतादिसंज्ञितात् ॥' इति ॥ २७९ ॥

तन्मात्रवर्गमेव विभज्य दर्शयति—

पृथिव्यां सौरभान्यादिविचित्रे गन्धमण्डले ॥ २८० ॥
यत्सामान्यं हि गन्धत्वं गन्धतन्मात्रनाम तत्।

अन्यत् असौरभम् । आदिशब्दः प्रकारे । तेन तीव्रमन्दादेस्तत्प्रयुक्ततया घृतक्षतजादिसंबन्धिनश्च गन्धस्य ग्रहणम् । तदुक्तं भूपरीक्षायाम्—

'घृतक्षतजपक्वान्नमदिरागन्धसंयुता ।' इति ।

विचित्र इति विशेषात्मनि—इत्यर्थः । सामान्यमित्यविशेषः । अविशेषनिष्ठैरेव हि विशेषैर्भाव्यमिति भावः । अत एव चानुद्भिन्नविशेषतया स गन्धादिरेव केवलस्तन्मात्र इत्युक्तम् ॥ २८० ॥

तच्च सामान्यरूपत्वादेव अशेषविशेषान्वयात् व्यापि—इत्याह—

व्यापकं तत एवोक्तं सहेतुत्वात्तु न ध्रुवम् ॥ २८१ ॥
स्वकारणे तिरोभूतिर्ध्वंसो यत्तेन नाध्रुवम् ।

होता है । चूँकि वह तामस और प्रकाश्य है इसलिए यह उस भूतादि नामक (अहङ्कार से उत्पन्न होता है) ॥ २७९ ॥

तन्मात्रसमूह को अलग-अलग कर दिखलाते हैं—

विचित्र गन्धमण्डल पृथिवी में सुगन्ध आदि होते हैं । जो सामान्य गन्धत्व है वह गन्धतन्मात्र है ॥ -२८०-२८१- ॥

अन्यत् = असौरभ । आदि शब्द प्रकार अर्थ में है । इससे तीव्रमन्द आदि और उससे प्रयुक्त घृत, कटने से उत्पन्न रक्त आदि से सम्बद्ध गन्ध का ग्रहण होता है । वही भूपरीक्षा में कहा गया है—

"(पृथिवी) घृत, कटने से उत्पन्न रक्त, पके हुए अन्न और मदिरा के गन्ध से युक्त होती है ।"

विचित्र = विशेषरूप । सामान्य = अविशेष । विशेष अविशेष में ही रहते हैं । इसलिए विशेष के उद्भिन्न न होने से वह गन्ध आदि ही केवल अर्थात् तन्मात्र कहा गया है ॥ २८० ॥

वह सामान्य रूप होने के कारण ही समस्त विशेष का अन्वय होने से व्यापक है—यह कहते हैं—

इसीलिए (वह) व्यापक कहा गया है । सकारण होने से नित्य नही है। चूँकि अपने कारण में छिप जाना ही ध्वंस है इसलिए (वह) अनित्य

न चैतद्देशानवच्छिन्नत्वात् कालेनापि अनवच्छिन्नमित्युक्तं 'सहेतुत्वात्तु न ध्रुवम्' इति । कृतकं हि न जातु नित्यं भवेत्—इति भावः । एवमप्यन्ते विनाशदर्शनाभावात् नैतद्विनश्वरमित्युक्तम्—'नाध्रुवम्' इति । यस्मादस्मन्मते स्वस्मिन्नेव कारणे प्रलीनत्वं नाम नाशो, यदन्तर्विपरिवर्तिन एवार्थस्य बहिरवभासो नाम कार्यत्वम्, पुनस्तत्रैव विश्रान्तिर्नाश इति । तेन नैतत् कूटस्थनित्यम्, अपि तु परिणामिनित्यम्—इति सिद्धम् ॥ २८१ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति—

एवं रसादिशब्दान्ततन्मात्रेष्वपि योजना ॥ २८२ ॥

ननु किमेभिः परोक्षैरविशेषैः, विशेषा एव प्रत्यक्षा अभ्युपगम्यन्तां यद्वशादियं सकलैव लोकयात्रा सिध्येत् ?—इत्याशङ्क्याह—

विशेषाणां यतोऽवश्यं दशा प्रागविशेषिणी।

अवश्यमिति, कार्यापेक्षया हि कारणेन भाव्यम्—इति भावः ।

एषामेव प्रकृतिरूपतां निरूपयति—

भी नहीं है ॥ -२८१-२८२- ॥

एतद्देश से अनवच्छिन्न होने के कारण काल से भी अनवच्छिन्न हो—ऐसा आवश्यक नही है । इसलिए कहा गया—सहेतु होने के कारण ध्रुव नहीं है । कृतक कभी नित्य नहीं होता । इसी प्रकार अन्त में विनाश न दिखलायी पड़ने से यह विनश्वर नही है इसलिए कहा गया—न अध्रुव है क्योंकि हमारे मत में अपने ही कारण में लीन हो जाना नाश है । जबकि अन्तःपरिवर्त्ती पदार्थ का बाहर अवभास होना कार्य है । फिर उसी में विश्रान्ति नाश है। इसलिए यह कूटस्थ नित्य नहीं है बल्कि परिणामी नित्य है—यह सिद्ध है ॥ २८१ ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

इसी प्रकार रसतन्मात्र से लेकर शब्दतन्मात्र तक यही योजना समझनी चाहिये ॥ -२८२ ॥

प्रश्न—इन परोक्ष अविशेषों से क्या लाभ प्रत्यक्ष विशेषों को ही माना जाय जिनके कारण यह समस्त लोकयात्रा सिद्ध होती है ?—यह शङ्का कर कहते है—

क्योंकि विशेषों की यह दशा अवश्यरूप से पहले सामान्यवाली होती है ॥ २८३- ॥

अवश्य—कारण कार्य की अपेक्षा रखकर होता है ॥

इन्ही की प्रकृतिरूपता का निरूपण करते है—

क्षुभितं शब्दतन्मात्रं चित्राकाराः श्रुतीर्दधत् ॥ २८३ ॥
नभः शब्दोऽवकाशात्मा वाच्याध्याससहो यतः।
तदेतत्स्पर्शतन्मात्रयोगात् प्रक्षोभमागतम् ॥ २८४ ॥
वायुतामेति तेनात्र शब्दस्पर्शोभयात्मता ।

क्षुभितमिति कार्यजननोन्मुखम्—इत्यर्थः । चित्राकारा विशेषरूपाः श्रुतीर्दधत्,—इत्यनेनास्य शब्दैकगुणत्वमुक्तम् । ननु शब्द एव कथं नभो भवेदित्याशङ्क्योक्तम्—'शब्दः' इत्यादि । यतः शब्दोऽवकाशात्मा अवकाशात्मत्वात् नभसोऽनुगुणं कारणम्—इत्यर्थः । अवकाशात्मत्वेऽपि अस्य हेतुः 'वाच्याध्याससहः' इति । तेन यथा शब्दः स्वात्मनि वाच्यस्य अध्याससहत्वादवकाशतां ददाति तथा तत्कार्य आकाशोऽपि सर्वस्येति । तदिति शब्दतन्मात्रम् । तेनेति शब्दस्पर्शतन्मात्रकारणत्वेन हेतुना । 'शब्दस्पर्शोभयात्मता' इति शब्दस्पर्शोभयगुणत्वम्—इत्यर्थः ॥ २८४ ॥

नन्वन्यैराकाशैकगुणः शब्दः—इत्युक्तम् । यदाहुः—

'तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः ।'

इति ।

क्षुब्ध किया गया शब्दतन्मात्र, विचित्र आकार वाली श्रुतियों को धारण करता हुआ अवकाशस्वरूप 'नभ' शब्द से व्यवहृत होता है क्योंकि यह वाच्य के अध्यास का सहन करने वाला है । वह यह (= शब्दतन्मात्र) स्पर्शतन्मात्र के योग से प्रक्षोभ को प्राप्त होता हुआ वायु बन जाता है इसलिए इसमें शब्दस्पर्श दोनों रहते हैं ॥ -२८३-२८५- ॥

क्षुभित = कार्यजनन की ओर उन्मुख । विचित्र आकार वाली = विशेषरूप श्रुतियों को धारण करता हुआ—इससे इस (= आकाश) का शब्द ही गुण है—यह कहा गया । प्रश्न—शब्द ही कैसे आकाश हो जाता है ? यह शङ्का कर कहा गया—शब्द इत्यादि । चूँकि शब्द अवकाश रूप है = अवकाशरूप होने के कारण आकाश के अनुरूप कारण है । इसकी अवकाशरूपता में भी कारण है—वाच्याध्याससहत्व । इस कारण जैसे शब्द अपने में वाच्य के अध्याससह होने के कारण अवकाश देता है उसी प्रकार उसका कार्य आकाश भी सबका (अवकाशदायी) है । वह = शब्दतन्मात्र । इसलिए = शब्दस्पर्शतन्मात्र कारण होने से । शब्द स्पर्श दोनों रूप = शब्दस्पर्श दोनों गुणों वाला है ॥ २८४ ॥

प्रश्न—अन्यलोग शब्द केवल आकाश का गुण है—ऐसा कहते हैं । जैसा कि कहते हैं—

"उनमें आकाश के गुण शब्द संख्या परिमाण पृथकत्व संयोग विभाग है ।"

तत्कथमिह वायोरपि तद्‌गुणत्वमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

अन्ये त्वाहुर्ध्वनिः खैकगुणस्तदपि युज्यते ॥ २८५ ॥
यतो वायुर्निजं रूपं लभते न विनाम्बरात् ।
उत्तरोत्तरभूतेषु पूर्वपूर्वस्थितिर्यतः ॥ २८६ ॥
तत एव मरुद्‌व्योम्नोरवियोगो मिथः स्मृतः ।

तदिति शब्दस्याकाशगुणत्वम् यतो वायुरम्बरं विना निजं रूपमेव न लभते, तत्सहचरितस्वभाव एव—इत्यर्थः । यदुत्तरोत्तरस्मिन् वाय्वादौ भूते पूर्वपूर्वस्याकाशादेः स्थितिरित्याकाशस्य वायोश्च परस्परमवियोगः स्मृत इति । तदुक्तम्—

'अत एव स्पर्श एव वायुः तथा चोत्तरोत्तरस्य।
पूर्वपूर्वभूतं कारणमाहुः.............................॥' इति ।

अतश्च तत्सहचरितस्याकाशस्यैवायं मुख्यतया गुणः । वायोस्तु तत्साहचर्यादुपचरित इति ॥ २८६ ॥

शब्दस्पर्शौ तु रूपेण समं प्रक्षोभमागतौ ॥ २८७ ॥
तेजस्तत्त्वं त्रिभिर्धर्मैः प्राहुः पूर्ववदेव तत् ।
तैस्त्रिभिः सरसैरापः सगन्धैर्भूरिति क्रमः ॥ २८८ ॥

फिर यहाँ वायु को भी उसका गुण कैसे कहा जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्य लोग कहते हैं कि ध्वनि केवल आकाश का गुण है । यह भी ठीक है । क्योंकि वायु बिना आकाश के अपने रूप को नहीं प्राप्त करता। चूँकि उत्तरोत्तर भूतों में पूर्व-पूर्व (भूत) अनुस्यूत रहते हैं इसीलिए वायु और आकाश का परस्पर मेल कहा गया है ॥ -२८५-२८७- ॥

वह = शब्द का आकाश का गुण होना । क्योंकि वायु आकाश के बिना अपने रूप को ही प्राप्त नहीं करता अर्थात् (वह) उसके सहचारीस्वभाव वाला है । उत्तरोत्तर वायु आदि भूतों में पूर्व-पूर्व आकाश आदि की स्थिति होती है इसलिए आकाश और वायु का परस्पर मेल कहा गया है । वही कहा गया है—

"इसीलिए स्पर्श ही वायु है । पूर्व-पूर्व भूत उत्तरोत्तर का कारण कहा गया है।" इसलिए यह उसके सहचारी आकाश का ही मुख्यरूप से गुण है । वायु का तो उसके साहचर्य के कारण गौणरूप से है ॥ २८६ ॥

शब्द और स्पर्श रूप के साथ प्रक्षोभ को प्राप्त हुए । इस कारण पहले की भाँति तेजस्तत्त्व तीन धर्मों से (युक्त) कहा गया है । रस के साथ उन तीन तत्त्वों से युक्त जल (कहा गया) । गन्ध के साथ (उन चार तत्त्वों से युक्त) पृथिवी । यह क्रम है ॥ -२८७-२८८ ॥

त्रिभिर्धर्मैरित्युपलक्षितम् । पूर्ववदिति, उत्तरोत्तरस्मिन् भूते पूर्वस्य पूर्वस्यावस्थानात् यथा वायावुपचरितः शब्दो गुणः, तथा तेजस्यपि शब्दस्पर्शौ उपचरितौ—रूपं तु मुख्य इत्यर्थः । सगन्धैरिति, अर्थात् तैश्चतुर्भिः । तदुक्तम्—

'क्षुभिताच्छब्दतन्मात्रात् तदध्यासावकाशदात् ।
आकाशं जातमेकेन गुणेनैवोपलक्षितम् ॥
शब्दस्पर्शगुणाभ्यां तु क्षुभिताभ्यां समीरणः ।
गुणौ द्वावत एवास्य दृश्येते वीरवन्दिते ॥
शब्दस्पर्शालोकगुणैः क्षुभितैरनलोद्भवः ॥
त्रिगुणत्वमतस्तस्य प्रशंसन्ति त्रयीविदः ।
शब्दस्पर्शरूपरसैः क्षुभितैर्वारिसंभवः ॥
चतस्रः शक्तयस्तेन वारिणो वरवर्णिनि ।
शब्दादिभिः पञ्चभिश्च क्षुभितैर्भूसमुद्भवः ॥
तेन सर्वगुणा भूमिः सर्वदैव विभाव्यते ॥' इति ॥ २८८ ॥

ननु गन्धादिगुणग्राम एव प्रत्यक्षत उपलभ्यते न तु तदतिरिक्तवृत्ति किञ्चिद्धरादि, तथात्वे वा गुणगुणिनोः किंचिज्ज्ञातेयमभ्युपगन्तव्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तत्र प्रत्यक्षतः सिद्धो धरादिगुणसञ्चयः ।

तीन धर्मों से—यह उपलक्षण है । पूर्ववत्—उत्तर-उत्तर भूत में पूर्व-पूर्व (भूत) की स्थिति होने से । जैसे वायु में शब्द गुण उपचरित है उसी प्रकार तेज में भी शब्द और स्पर्श उपचरित हैं । रूप तो मुख्य (गुण) है । सगन्ध से = उन चारों से युक्त गन्ध से । वही कहा गया है—

"शब्द के (= वाच्य के) अध्यास के लिए अवकाश देने वाले क्षुभित शब्दतन्मात्रा से एक ही गुण से उपलक्षित आकाश उत्पन्न हुआ । क्षुभित शब्दस्पर्श गुणों से वायु उत्पन्न हुआ । इसलिए हे वीरवन्दिते ! इसके दो गुण दिखलायी पड़ते हैं । क्षुभित शब्द स्पर्श एवं प्रकाश रूप गुणों से अग्नि (= तेज) की उत्पत्ति होती है । इसलिए त्रयी के वेत्ता इसके तीन गुण कहते हैं । क्षुभित शब्द स्पर्श रूप और रस से जल की उत्पत्ति होती है । इसलिए हे वरवर्णिनि ! जल की चार शक्तियाँ (= गुण) हैं । क्षुभित शब्द आदि पाँच से पृथिवी की उत्पत्ति है इसलिए पृथिवी सर्वदा सब गुणों वाली मानी जाती है" ॥ २८८ ॥

प्रश्न—गन्ध आदि गुणों का समूह ही प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ता है न कि उससे अतिरिक्त रहने वाला कोई पृथिवी आदि । अथवा गुणगुणी के वैसा होने पर कुछ ज्ञातेय मानना चाहिए ?—यह शङ्का कर कहते है—

उनमें पृथिवी आदि गुणों का सञ्चय प्रत्यक्ष सिद्ध है ॥ २८९ ॥

गुणसञ्चय इति गन्धादिगुणव्राताभिन्नत्वात् तद्रूपः—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'इत्थं यथोक्तगन्धादिव्राताभिन्ना धरादयः ।
प्रत्यक्षसिद्धा लोकस्य.......................॥ इति ।

नहि धरादीनां तदतिरेकेणोपलम्भ एव भवेत्—इति भावः ॥

तदाह—

नहि गन्धादिधर्मौघव्यतिरिक्ता विभाति भूः ॥ २८९ ॥

गन्धादीनामन्यतमस्य ग्रहे हि धरादिबुद्धिर्जायते नान्यथा—इति गन्धादिभ्यो धरादीनामव्यतिरिक्तत्वम्, यस्मिन्नगृहीते हि यत् गृह्यते तत्ततोऽन्यत् जलादिव भूः । तदुक्तम्—

'नागृहीतैस्तु गन्धाद्यैर्जातुचिज्जायते मतिः ।
धरित्र्या हि जलादीनामग्रहेऽपि प्रजायते ॥
गन्धादिभ्यस्ततो नान्या जलादिभ्यः पृथक्च भूः ।' इति ॥ २८९॥

ननु गन्धादय एव चेद्धरा तद्धराया एकरूपत्वात् नैषां क्रमेणोपलम्भो भवेद् ?—इत्याशङ्क्याह—

गुणसमूह = गन्ध आदि गुणसमूह के अभिन्न होने से तद्रूप । वही कहा गया है—

"इस प्रकार यथोक्त गन्ध आदि समूह से अभिन्न पृथिवी आदि लोक में प्रत्यक्ष सिद्ध हैं ।"

अर्थात् पृथिवी आदि की उससे भिन्न उपलब्धि नहीं होती ॥

वही कहते हैं—

पृथिवी गन्ध आदि धर्मसमूह से भिन्न प्रतीत नहीं होती ॥ -२८९ ॥

गन्ध आदि में से किसी एक का ज्ञान होने पर पृथिवी आदि की अवधारणा होती है दूसरे प्रकार की नहीं । इसलिए पृथिवी आदि गन्ध आदि से अभिन्न हैं । जिसका ज्ञान न होने पर जो ज्ञात होता है वह उससे भिन्न होता है जैसे जल से भिन्न पृथिवी । वही कहा गया है—

"अगृहीत गन्ध आदि के द्वारा कभी भी पृथिवी की बुद्धि नही होती । जल आदि का ग्रहण न होने पर होती है । इसलिए (पृथिवी) गन्ध आदि से भिन्न नहीं किन्तु जल आदि से पृथक् है ॥ २८९ ॥

प्रश्न—यदि गन्ध आदि ही पृथिवी है तो पृथिवी के एक रूप होने से इनका क्रम से ज्ञान नहीं होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यथा गुणगुणिद्वैतवादिनामेकमप्यदः ।
चित्रं रूपं पटे भाति क्रमाद्धर्मास्तथा भुवि ॥ २९० ॥

इह खलु काणादादिषु गुणगुणिनोर्भेदेऽपि यथैकमपि शुक्लहरितनीलादिमयतया चित्रमिदं रूपं रूपाख्यो गुणो यथायथमुद्वेष्ट्यमाने गुणिनि पटे क्रमेणोपलभ्यते तथा धरादेरेकत्वादेकरूपा अपि गन्धादयो धर्मा धरादावस्मदादिभिः क्रमेणोपलभ्यन्ते इति न कश्चिद्दोषः । तदुक्तम्—

'चित्रस्वभावकाः प्रोक्ता गुणाभिन्ना धरादयः ।
क्रमसंख्या यथा चित्रं पटे रूपं तु वेष्टिते ॥' इति ॥ २९० ॥

ननु विषममेतत्, विस्तृतपटादौ विचित्रस्यापि रूपस्य युगपदुपलम्भात्?—इत्याशङ्क्याह—

यथा च विस्तृते वस्त्रे युगपद्भाति चित्रता ।
तथैव योगिनां धर्मसामस्त्येनावभाति भूः ॥ २९१ ॥

धर्मसामस्त्येनेति, धर्मादीनां हि गन्धादीनां सामस्त्येन सहभावेन यौगपद्येनेति यावत् । पटस्य युगपत् चित्ररूपावभासे विस्तृतत्वं निमित्तम् इह तु धर्मसामस्त्या-

---

जिस प्रकार गुण-गुणी को दो मानने वालों को भी पट में यह चित्ररूप (पट) एक प्रतीत होता है उसी प्रकार पृथिवी में धर्म क्रम से (उपलब्ध) होते हैं ॥ २९० ॥

वैशेषिक आदि (के मत) में गुण-गुणी का भेद होने पर भी जैसे एक भी (रूप) शुक्ल हरित नील आदि मयय होने के कारण यह विचित्र रूप नामक गुण क्रमशः उधेड़े जाने वाले गुणी पट में क्रम से उपलब्ध होता है उसी प्रकार धरा आदि के एक रूप होने से एक रूप भी गन्ध आदि धर्म पृथिवी आदि में हम लोगों के द्वारा क्रम से उपलब्ध होते हैं—इसलिए कोई दोष नहीं है । वही कहा गया है—

"जैसे वैष्टित पट में विचित्र रूप (खोलने पर) क्रमिक रूप से दिखायी पड़ते हैं (उसी प्रकार) पृथ्वी आदि तत्त्व भी गुणों से अभिन्न होते हुये भी विचित्र स्वभाव वाले कहे गये है" ॥ २९० ॥

प्रश्न—यह तो विचित्र (कथन) है क्योंकि (पट में वर्त्तमान) विचित्र भी रूप का एक साथ प्रत्यक्ष होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस प्रकार फैलाये गये पट में (रंग की) विचित्रता एक साथ दिखलायी पड़ती है उसी प्रकार योगियों को यह पृथ्वी (अपने) सम्पूर्ण धर्मों के साथ प्रत्यक्ष होती है ॥ २९१ ॥

धर्मों की सम्पूर्णता के साथ—गन्ध आदि धर्मों की सम्पूर्णता = सहभाव =

वभासे धरादिसिद्धानां योगिनां योगजधर्मातिशयात् पटुकरणत्वमिति ॥ २९१ ॥

एवं योगिनां पटुकरणत्वम् अयोगिनां तदभावः—इत्युपायभेदादेव धरादौ गन्धादीनां क्रमेणोपलम्भः—इति । नेदं चोद्यं यत् धरादीनामेकरूपत्वात् गन्धादीनां कथं क्रमेणोपलम्भः इति । तदाह—

गन्धादिशब्दपर्यन्तचित्ररूपा धरा ततः ।
उपायभेदाद्भात्येषा क्रमाक्रमविभागतः ॥ २९२ ॥

ननु यदि धरादेर्गन्धादेश्च रूपे न कश्चिद्भेदः संभवति तत् कथम्

'उपायभेदे तद्भाति यदि बुद्धिभिदा कुतः ।'

इत्यादिनीत्या 'गन्धवती धरा' इति विशेषणविशेष्यतया बुद्धिभेदो भवेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

तत एव क्रमव्यक्तिकृतो धीभेद उच्यते ।
षष्ठीप्रयोगो धीभेदाद्भेद्यभेदकता तथा ॥ २९३ ॥

एक साथ । पट की चित्ररूपता के एक साथ अवभास में उसका फैलाया जाना कारण है यहाँ (= पृथ्वी आदि में) सम्पूर्ण धर्मों के एक साथ प्रत्यक्ष में धरा आदि की सिद्धि को प्राप्त योगियों के योगजधर्म के कारण इन्द्रियपटुता (कारण) है ॥ २९१ ॥

इस प्रकार योगियों की इन्द्रियों की पटुता और अयोगियों में उसका अभाव, इस प्रकार उपाय के भेद से ही पृथ्वी आदि में गन्ध आदि की क्रम से प्राप्ति (= अनुभव) होती है । ऐसा नहीं समझना चाहिये कि धरा आदि के एक रूप होने पर भी गन्ध आदि का क्रम से ज्ञान क्यों होता है—यह कहते हैं—

चूँकि पृथ्वी गन्ध से लेकर शब्दपर्यन्त विचित्ररूपों वाली होती है इस कारण उपाय के भेद से यह क्रम और अक्रम भेद से प्रतिभासित होती है ॥ २९२ ॥

प्रश्न—यदि धरा आदि और गन्ध आदि के रूप में कोई भेद नहीं है तो कैसे (क्यों)—

"यदि उपाय के भिन्न होने पर वह (गन्ध आदि) प्रतीत होते हैं तो बुद्धि का भेद कैसे होता है ।"

इत्यादि नीति से 'गन्धवती पृथिवी'—ऐसा विशेषणविशेष्यरूप बुद्धि भेद कैसे होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसी कारण यह बुद्धिभेद क्रम के भेद के कारण होता है । (पृथ्वी की गन्ध) इस प्रकार षष्ठी का प्रयोग बुद्धिभेद के कारण होता है और

तत इति, यत उपायभेदेन क्रमाक्रमावभासः । षष्ठीप्रयोग इति, धराया गन्ध इति । भेद्यभेदकतेति विशेषणविशेष्यभावः (= विशेष्यविशेषण भावः इति पाठः समीचीनतरः)—इत्यर्थः तद्यथा गन्धवती धरेत्यादि । तदुक्तम्—

'विशेषणविशेष्यत्वव्यपदेशस्य धीभिदाम् ।
क्रमव्यङ्ग्यत्वतो हेतोर्गोचरत्वं व्रजन्त्यमी॥' इति ॥ २९३ ॥

प्रकृतमेवोपसंहरति—

तेन धर्मातिरिक्तोऽत्र धर्मी नाम न कश्चन ।

तेनेति क्रमग्रहणस्य अन्यथासिद्धित्वेन हेतुना ।

तदेवं गन्धादिधर्मौघाव्यतिरिक्ता धरादयः—इत्युक्तम्, ते च के कुत्र कियन्तः कीदृशाः पुनः ?—इत्याशङ्क्याह—

तत्रानेकप्रकाराः स्युर्गन्धरूपरसाः क्षितौ ॥ २९४ ॥
संस्पर्शः पाकजोऽनुष्णाशीतः शब्दो विचित्रकः ।
शौक्ल्यं माधुर्यशीतत्वे चित्राः शब्दाश्च वारिणि ॥ २९५ ॥
शुक्लभास्वरतोष्णत्वं चित्राः शब्दाश्च पावके ।
अपाकजश्चाशीतोष्णो ध्वनिश्चित्रश्च मारुते ॥ २९६ ॥

इसीलिये भेद्यभेदकता (= विशेष्य विशेषणता) भी होती है ॥ २९३ ॥

इस कारण—क्योंकि उपाय के भेद से क्रम और अक्रम का भान होता है । षष्ठी प्रयोग—पृथ्वी की गन्ध (इस प्रकार का) । भेद्यभेदकता = विशेष्यविशेषण सम्बन्ध । जैसे कि गन्धवती धरा इत्यादि । वही कहा गया—

''विशेषणविशेष्यत्व व्यवहार की बुद्धि के भेद वालों को ये (पदार्थ) क्रमव्यङ्ग्यता के कारण ज्ञात होते हैं'' ॥ २९३ ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते है—

इसलिए यहाँ धर्म से अतिरिक्त कोई धर्मी नहीं है ॥ २९४- ॥

इसलिए = क्रमग्रहण के अन्यथा सिद्ध होने से ॥

तो इस प्रकार पृथिवी आदि गन्ध आदि धर्मसमूह से अभिन्न हैं—यह कहा गया । वे कौन हैं, कहाँ है, कितने हैं, और किस प्रकार के हैं ? यह शङ्का कर कहते है—

पृथिवी में गन्ध रूप और रस अनेक प्रकार के हैं । उसमें पाकज संस्पर्श अनुष्णाशीत है । शब्द विचित्र है । जल में शुक्लता माधुर्य शैत्य और विचित्र शब्द हैं । अग्नि में शुक्लभास्वरता, उष्णता और चित्र शब्द

वर्णात्मको ध्वनिः शब्दप्रतिबिम्बान्यथाम्बरे ।

अनेकप्रकारा इति । तत्र गन्धो द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च । रूपमनेकप्रकारं शुक्लपीतादि । रसः षड्विधो मधुरादिः । पाकज इति, देशकालादिद्रव्यान्तर-संयोगप्रभवत्वात् । तदुक्तम्—

'स्पर्शोऽस्या अनुष्णाशीतत्वे सति पाकजः ।' इति।

विचित्रक इति, खटखटादिरूपत्वात् । शौक्ल्यादित्रयं रूपरसस्पर्शविषयम् । यदुक्तम्—

'शुक्लमधुरशीता एव रूपरसस्पर्शाः ।' इति।

चित्रा इति, छलछलादिरूपत्वात् । एवमुत्तरत्रापि धमधमचटचटादिरूपतया वैचित्र्यं ज्ञेयम् । शुक्लभास्वरतेति रूपे । तदुक्तम्—

'तत्र शुक्लं भास्वरं च रूपमुष्ण एव स्पर्शः ।' इति ।

अपाकज इति । तदुक्तम्—

'स्पर्शोऽस्यानुष्णाशीत्वे सति अपाकजः ।' इति ।

वर्णात्मक इति, वाचकशब्दमयः—इत्यर्थः । प्रतिबिम्बानीति, तदुक्तम्—

हैं । वायु में अपाकज शीतोष्ण स्पर्श और विचित्र ध्वनि है । आकाश में वर्णात्मक ध्वनि एवं शब्द के प्रतिबिम्ब हैं ॥ -२९४-२९७- ॥

अनेक प्रकार के—उनमें गन्ध दो प्रकार का है—सुरभि और असुरभि । रूप अनेक प्रकार का है—शुक्ल पीत आदि । रस छ प्रकार का मधुर आदि है । पाकज—देश काल आदि दूसरे द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होने के कारण । वही कहा गया है—

"इसका स्पर्श अनुष्णाशीत होते हुए पाकज है ।"

विचित्र—खट खट आदि रूप होने से । शौक्ल्य आदि तीन—रूपरसस्पर्श विषयक हैं । जैसा कि कहा गया—

"रूप रस स्पर्श (क्रमशः) शुक्ल मधुर और शीत हैं ।"

चित्र—छल-छल आदि रूप होने से । इसी प्रकार आगे भी धम-धम चट-चट आदि रूप होने से तेज में शब्द का वैचित्र्य समझना चाहिए । शुक्लभास्वरता—रूप में । वही कहा गया—

"उसमें रूप शुक्ल भास्वर है और स्पर्श उष्ण है ।"

अपाकज । वही कहा गया है—

"इसका स्पर्श अनुष्णाशीत होते हुए अपाकज है ।"

'प्रतिशब्दकसङ्घातो नभस्येवोदितो बुधैः ।' इति।

नन्वन्यैरस्पर्शवदाकाशैकगुणत्वं शब्दस्य निरणायि । यदाहुः—

'शब्दः प्रत्यक्षत्वे सत्यकारणगुणपूर्वकत्वादयावद्द्रव्यभावित्वात्,
आश्रयात् अन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद्विशेषगुणः ।' इति ।

तत्कथमिह स्पर्शवतां क्षित्यादीनामपि गुणः शब्दः—इत्युच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

यत्तु न स्पर्शवद्धर्मः शब्द इत्यादि भण्यते ॥ २९७ ॥
काणादैस्तत्स्वप्रतीतिविरुद्धं केन गृह्यताम् ।

स्वप्रतीतिविरुद्धमिति, अनुभवबाधितम्—इत्यर्थः ॥ २९७ ॥

एतदेवोपपादयति—

पटहे ध्वनिरित्येव भात्यबाधितमेव यत् ॥ २९८ ॥

अतश्च आश्रयादन्यत्रास्य नोपलम्भः—इति भावः ॥

ननु पटहे ध्वनिरिति पटहहेतुत्वादन्यथा सिद्धोऽयमवभासः ?—

वर्णात्मक = वाचकशब्दमय । प्रतिबिम्ब—वही कहा गया—

"विद्वानों ने प्रतिध्वनि का सङ्घात आकाश में ही कहा है" ॥

प्रश्न—अन्य लोग अस्पर्श वाले शब्द को आकाश का ही गुण मानते हैं । जैसा कि कहते हैं—

"शब्द प्रत्यक्ष होते हुए कारणगुणपूर्वक न होने से, यावद्द्रव्यभावी न होने से, आश्रय होने से और अन्यत्र उपलब्धि के कारण, स्पर्श के समान विशेष गुण नहीं है ।"

तो फिर कैसे स्पर्शवाले पृथिवी आदि का भी गुण शब्द है—ऐसा कहा जाता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

कणादमतानुयायियों के द्वारा जो स्पर्शवद्धर्म नहीं (हैं तथा) शब्द इत्यादि कहा जाता है स्वप्रतीतिविरुद्ध वह किस के द्वारा स्वीकृत किया जायगा ॥ -२९७-२९८- ॥

स्वप्रतीतिविरुद्ध = अनुभवबाधित ॥ २९७ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

जो पटह में अबाधित ध्वनि जैसी प्रतीत होती है ॥ -२९८ ॥

इसलिए आश्रय से अन्यत्र इसकी (= शब्द की) उपलब्धि नहीं होती ॥

इत्याशङ्क्याह—

न च हेतुत्वमात्रेण तदादानत्ववेदनात् ।

नहि अत्र पटहे सति ध्वनिरित्येतावतीयं प्रतिपत्तिरस्ति, अपि तु पटहदेशोऽयं ध्वनिरिति; अतश्च असिद्धोऽयं हेतुरिति भाव: ।

ननु कथं निष्क्रियतया पटहदेशमप्राप्तवत: श्रोत्रस्य तद्देशस्थशब्दोपलम्भ-निमित्तत्वं भवेत्—इत्याशङ्क्याह—

श्रोत्रं चास्मन्मतेऽहंकृत्कारणं तत्र तत्र तत् ॥ २९९ ॥
वृत्तिभागीति तद्देशं शब्दं गृह्णात्यलं तथा ।

तदित्यहंकृत्कारणत्वाद्धेतो:, अहंकृतोऽपि रजोरूपत्वात् क्रियावत्त्वम्, इति तत्कार्यं श्रोत्रमपि क्रियावदित्युक्तं—तत्र तत्र वृत्तिभागीति । तत्र तत्र विषयदेशे व्यापारभाक् क्रियावत्—इत्यर्थ: । अतश्च श्रोत्रं पटहदेशमपि शब्दं तथा तत्स्थेनैवालं पर्याप्तेन रूपेण गृह्णीयात् । इह खलु काणादा एवमूचु: यत्—

'वीचीसन्तानक्रमेण कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं

प्रश्न—पटह में ध्वनि है—यहाँ पटह के कारण होने से यह अवभास अन्यथासिद्ध है ?—यह शङ्का कर कहते है—

(यह ध्वनि) हेतुत्व मात्र से नहीं (बल्कि) उसके आदान का ज्ञान होने से (होती है) ॥ २९९- ॥

यहाँ पटह के होनेपर ध्वनि है इतना ही यह ज्ञान नहीं है बल्कि पटहप्रदेश में यह ध्वनि है (यह ज्ञान होता है) । इसलिए यह हेतु असिद्ध है ॥

प्रश्न—निष्क्रिय होने के कारण पटहदेश को न प्राप्त होने वाला श्रोत्र उस (पटहदेश) में वर्त्तमान शब्द की प्राप्ति का निमित्त कैसे होता है ?—यह शङ्का कर कहते है—

हमारे मत में श्रोत्र अहङ्कार से उत्पन्न होता है अत: स्थान-स्थान पर वह क्रिया का भागी होता है इस कारण शब्द का प्रचुर मात्रा में ग्रहण करता है ॥ -२९९-३००- ॥

तत् = अहङ्कार के कारण होने से । अहङ्कार के भी रजोरूप होने से (वह) क्रियारूप है इसलिए उसका कार्य श्रोत्र भी क्रियावान् है इसलिए कहा गया—स्थान-स्थान पर क्रिया का भागी है = उस-उस विषयप्रदेश में व्यापार का भागी अर्थात् क्रियावान् होता है । इसलिए श्रोत्र भी पटहदेशस्थ भी शब्द को तथा = वहाँ स्थित पर्याप्त रूप से, ग्रहण करता है । इस विषय में कणादानुयायी ऐसा कहते हैं कि—

श्रोत्रतया संमतं नभोदेशं संप्राप्य संयोगवि-
भागप्रभवप्रथमशब्दप्रसूतः शब्दः स्वविषयं ज्ञानं जनयेत् ।'

इति ॥ २९९ ॥

एतदेव प्रतिक्षेप्तुमनुवदति—

यस्त्वाह श्रोत्रमाकाशं कर्णसंयोगभेदितम् ॥ ३०० ॥
शब्दजः शब्द आगत्य शब्दबुद्धिं प्रसूयते ।
तस्य मन्देऽपि मुरजध्वनावाकर्णके सति ॥ ३०१ ॥
अमुत्र श्रुतिरेषेति दूरे संवेदनं कथम् ।

अतश्च 'आश्रयादन्यत्रास्योपलम्भः' इति नायमसिद्धो हेतुः—इत्याशयः । तस्यैवमभिधातुः काणादस्य मन्द इत्यन्त्यप्रायत्वात्, अपिना अस्यानाकर्णनयोग्यत्वं सूचितम् । अमुत्रेति मुरजदेशे यदि नाम हि श्रोत्रतया संमतं नभोदेशं प्राप्तः सन् अन्त्यप्रायः शब्दजः शब्दः प्रतीयेत तदिह श्रोत्रे शब्दः इति प्रतिपत्तिः स्यात्, न तु दूरतया मुरजदेशादाविति । ततश्च श्रवणाकाशसमवेतशब्दोपलम्भपक्षः स्वानुभवेनैव प्रतिक्षिप्तः—इति भावः ॥ ३०१ ॥

अत्रैव हेतुमाह—

"संयोग विभाग से उत्पन्न प्रथम शब्द से प्रसूत (द्वितीय आदि) शब्द वीचीसन्तानक्रम से श्रोत्र के रूप में सम्मत कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशप्रदेश को प्राप्त कर अपने विषय के ज्ञान को उत्पन्न करता है" ॥ २९९ ॥

इसी का निराकरण करने के लिए फिर कहते हैं—

जो लोग कहते हैं कि शब्दज शब्द कर्णसंयोग से भेदित श्रोत्ररूपी आकाश को प्राप्त होकर शब्दबुद्धि को उत्पन्न करता है उनके मत में मन्द भी मुरज ध्वनि के कान के पास होने पर यह ध्वनि अमुक स्थान पर है ऐसा दूर देश का ज्ञान कैसे होता है ॥ -३००-३०२- ॥

इसलिए 'आश्रय से अन्यत्र इसकी उपलब्धि होती है'—यह हेतु असिद्ध नहीं है—यह आशय है । उसका = ऐसा कहने वाले कणादानुयायी का । मन्द—अन्तप्राय होने से । 'अपि' शब्द के द्वारा इसकी अनाकर्णनयोग्यता सूचित की गयी । यहाँ = मुरजप्रदेश में । यदि श्रोत्र के रूप में सम्मत आकाश को प्राप्त अन्त्यप्राय शब्दज शब्द प्रतीत होता तो यहाँ कान में शब्द है—ऐसा भान होता न कि दूर होने के कारण मुरज वाले देश आदि में । इसलिए श्रोत्राकाश में समवेत शब्द की उपलब्धि का पक्ष अपने अनुभव से ही निरस्त ही जाता है—यह भाव है ॥ ३०१ ॥

इसमें कारण बतलाते हैं—

नहि शब्दजशब्दस्य दूरादूररवोदितेः ॥ ३०२ ॥
श्रोत्राकाशगतस्यास्ति दूरादूरस्वभावता ।

नहि दूराददूराद्वा शब्दादुदितस्य शब्दस्य श्रोत्राकाशदेशसमवायाविशेषात् कारणवैदूर्यावैदूर्याभ्यां स्वात्मनि कश्चिदतिशयः ॥ ३०२ ॥

ननु मा भूत् श्रोत्रवृत्तितया शब्दजः शब्दो दूरप्रतीतिविषयः, प्रथम एव तु श्रोत्रपर्यन्तप्रसरणशीलो दूरदेशस्थतया तथा स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—

न चासौ प्रथमः शब्दस्तावद्व्यापीति युज्यते ॥ ३०३ ॥
तत्रस्थैः सह तीव्रात्मा श्रूयमाणस्त्वनेन तु ।
कथं श्रूयेत मन्दः सन्नहि धर्मान्तराश्रयः ॥ ३०४ ॥

प्रथमः शब्द इति, दूरदेशस्थमुरजाद्युद्भूतः । एवं हि प्रथमोऽयं मुरजादिशब्दस्तद्देशसंनिकृष्टैः श्रोतृभिः तीव्रतया श्रूयमाणः कथमनेन दूरदेशस्थेन श्रोत्रा मन्दतया श्रूयते; नहि स तीव्र एव शब्दो मन्दत्वाख्यस्य धर्मान्तरस्यापि आश्रयः स्यात्, एकस्य विरुद्धधर्मायोगात् अतश्च स्वाश्रयमुरजादावेवास्योपलब्धिः—इत्यसिद्ध एवायं हेतुः ॥ ३०४ ॥

दूर अथवा निकट शब्द से उत्थित शब्दजशब्द का श्रोत्राकाश में स्थित होने पर भी दूरादूर स्वभाव नहीं होता ॥ -३०२-३०३- ॥

दूर अथवा निकटवर्त्ती शब्द से उदित शब्द का श्रोत्राकाशदेश में सामान्य रूप से समवाय होने से कारण के दूर या निकट होने से उसमें कोई अतिशय नहीं होता ॥ ३०२ ॥

प्रश्न—श्रोत्रवृत्ति होने से शब्दजशब्द दूर की प्रतीति का विषय न हो किन्तु श्रोत्रपर्यन्तप्रसरणशील प्रथम शब्द दूरदेशस्थ होने के कारण वैसा होगा ?—यह शङ्का कर कहते है—

यह प्रथम शब्द उतना व्यापक होगा—यह ठीक नहीं है । वहाँ स्थित लोगों के द्वारा तीव्र रूप में श्रूयमाण (वह शब्द) इसके द्वारा कैसे सुना जायेगा । मन्द होने से वह दूसरे धर्मों का आधार नहीं बन जाता ॥ -३०३-३०४ ॥

प्रथम शब्द = दूर देशस्थ मुरज आदि से उत्पन्न । इस प्रकार प्रथम यह मुरज आदि का शब्द उस देश के निकटस्थ श्रोताओं के द्वारा तीव्ररूप में सुना जाता हुआ इस दूरदेशस्थ श्रोता के द्वारा क्यों मन्द रूप में सुना जाता है ? मन्द होने से वह तीव्र शब्द दूसरे धर्मों का भी आश्रय नहीं हो जाता क्योंकि एक (पदार्थ दो) विरुद्ध धर्मों का आधार नहीं होता । इसलिए अपने आश्रय मुरज आदि में ही इसकी उपलब्धि होती है—इस प्रकार यह हेतु असिद्ध है ॥ ३०४ ॥

ननु काणादैः शब्दस्य स्पर्शवद्धर्मतामपाकर्तुं हेतुत्रयमुपन्यस्तं तत् कथमेतदेकेनैव हेतुना पराकृतेन पराकृतं स्यात्, अन्यस्य हेतुद्वयस्याविकलस्यैव भावात् ?—इत्याशङ्क्याह—

एतच्चान्यैरपाकारि बहुधेति वृथा पुनः ।
नायस्तं पतिताघातदाने को हि न पण्डितः ॥ ३०५ ॥

अन्यैरिति ज्योत्स्नाकारादिभिः । ते हि एवमाहुः यत् परैः संयोगस्य स्पर्शवद्गुणत्वेऽपि अकारणगुणपूर्वकतैव प्रत्यपादि अन्यथा हि कार्यद्रव्येषु संयोगज एव संयोगः स्यात्, कारणसंयोगपूर्वकत्वादेव कार्यसंयोगस्य । ततश्चान्यतरोभयकर्मजः संयोगः स्थाणुश्येनयोः श्येनो वा न स्यात् । नच संयोगो यावद्द्रव्यं भवति, सत्येव द्रव्ये विभागोत्पत्तौ तन्निवृत्तेः । अतश्च द्वयोरपि हेत्वोः संयोगेनानैकान्तिकत्वम्, प्रत्युत संयोगमेव दृष्टान्तीकृत्य अकारणगुणपूर्वकत्वायावद्-द्रव्यभावित्वाभ्यां स्पर्शवद्गुणत्वसाधने साधनविपर्ययसाधनाद्विरुद्धम् । पिठरपाकपक्षे च घटपाकजरूपादिभिः स्फुटतरमनैकान्तिकत्वम् अकारणगुणपूर्वकत्वं च परं प्रत्यसिद्धं च शब्दगुणादेवोपादानात्, शब्दगुणस्य कार्यस्योत्पादोपगमात् अयावद्-

---

प्रश्न—कणादानुयायियों के द्वारा शब्द की स्पर्शवद्धर्मता को दूर करने के लिए तीन कारण दिए गए फिर कैसे यह एक ही पराकृत हेतु से निरस्त हो गया जबकि अन्य दो कारण वैसे ही पड़े हुए हैं (उनकी भी चर्चा क्यों नहीं करते)?— यह शङ्का कर कहते हैं—

दूसरे लोगों ने इसका अनेक प्रकार से निराकरण किया है इसलिए व्यर्थ पुनः प्रयास नहीं किया गया । पतित को चोट पहुँचाने में कौन पण्डित नहीं होता ॥ ३०५ ॥

अन्य = ज्योत्स्नाकार आदि । वे ऐसा कहते हैं—दूसरे लोग संयोग को स्पर्श के समान गुण होने पर भी, अकारणगुणपूर्वकता ही बतलाते हैं अन्यथा कार्य द्रव्यों में संयोगज ही संयोग होगा (जैसे घट का हाथ से संयोग और हाथ का शरीर से संयोग, इस प्रकार घट का शरीर से संयोग) क्योंकि कार्यसंयोग कारणसंयोगपूर्वक होता है । इसलिए दो में से एक या दोनों के कर्म से उत्पन्न संयोग स्थाणु और श्येन अथवा दो श्येनों के संयोग की भाँति संयोगज ही होता है । संयोग संपूर्ण द्रव्य में नहीं होता क्योंकि द्रव्य के रहने पर भी विभाग के उत्पन्न होने पर वह समाप्त हो जाता है । इसलिए दोनों कारणों के संयोग से अनैकान्तिकता (नहीं) है, बल्कि संयोग को ही दृष्टान्त बनाकर अकारणगुणपूर्वकत्व और अयावद्द्रव्यभावित्व (= पूरे द्रव्य में न रहता) के द्वारा स्पर्श की भाँति गुणत्व की सिद्धि में कारणविपर्यय के हेतु होने से विरुद्ध (हेतु) है । पिण्डपाकपक्ष में घटपाकजरूप आदि के द्वारा स्पष्टरूप से अनैकान्तिकता है । अकारणगुणपूर्वकता और दूसरे के प्रति असिद्ध है क्योंकि शब्द गुण उपादान होने के कारण, शब्द गुण रूपी कार्य

द्रव्यभावित्वमपि तथा यावद्द्रव्यमेव शङ्खादौ शब्दस्य भावात् कथं न श्रूयते—इति चेत्?—अनभिव्यक्तत्वादिति ब्रूमः । यदनभिव्यक्तशब्दकादभिव्यक्त- शब्दः परिणामोऽन्य एवेति । तस्मात् स्पर्शास्पर्शवतोरुभयोरपि धर्मः शब्द इति । वृथेति, तत एवावधार्यमिति भावः ॥ ३०५ ॥

एवं शिवादेर्धरान्तस्य तत्त्वजातस्य क्रमं निरूप्य व्याप्यव्यापकभावं दर्शयति—

अमीषां तु धरादीनां यावांस्तत्त्वगणः पुरा ।
गुणाधिकतया तिष्ठन् व्याप्ता तावान् प्रकाशते ॥ ३०६ ॥

पुरेति, यो यस्य पूर्वभावी—इत्यर्थः । इह खलु तत्त्वानां षट्त्रिंशत्त्वेऽपि मुख्यया वृत्त्या नरशक्तिशिवात्मकत्वेन त्रैविध्यं । तेषां प्रकाशमयचिद्धर्मताख्यो गुणो यथायथमधिकतया स्फुटीभवन् विशिष्यते—इति यो यतो विशिष्टगुणः स तस्य व्यापको यथा शक्तेः शिवः शिवशक्ती च नरस्येति । यदभिप्रायेणैव

'मायासदेशपर्यन्तमात्मविद्याशिवाह्वयम् ।
तत्त्वत्रयं यथापूर्वं चिन्मयत्वप्रकाशभाक् ॥'

की उत्पत्ति को मान लेने से अयावद्द्रव्यभावित्व भी वैसा ही है । शङ्ख आदि में शब्द के यावद्द्रव्यभावी (= पूरे शङ्ख में वर्त्तमान) होने पर भी (वह) क्यों नहीं सुनायी देता यदि यह प्रश्न हो तो हम कहते हैं कि अनभिव्यक्त होने के कारण । अनभिव्यक्त शब्द वाले में अभिव्यक्तशब्द वाला परिणाम भिन्न होता है । इस कारण शब्द स्पर्श एवं अस्पर्शवाले दोनों का धर्म है । व्यर्थ—वहीं से समझ लेना चाहिए—यह भाव है ॥ ३०५ ॥

शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त तत्त्वसमूह के क्रम का निरूपण कर (उनका) व्याप्यव्यापक भाव दिखलाते हैं—

इन पृथिवी आदि का जितना तत्त्वसमूह है (वह) पहले-पहले, गुणों की अधिकता से स्थित होकर उतना ही व्यापक प्रकाशित होता है ॥ ३०६ ॥

पहले = जो जिसका पूर्वभावी होता है । तत्त्व छत्तीस होने पर भी मुख्य रूप से नर शक्ति शिव रूप से तीन ही प्रकार के हैं । उनका प्रकाशमय चिद्धर्मता नामक गुण क्रमशः अधिकरूप में स्फुट होता हुआ विशेष होता है । इस प्रकार जो जिसकी अपेक्षा विशिष्टगुण वाला होता है वह उसका व्यापक होता है जैसे शक्ति की अपेक्षा शिव और नर की अपेक्षा शिव शक्ति (व्यापक) हैं । इसी अभिप्राय से—

"मायापर्यन्त, आत्मा विद्या और शिव नामक ये तीन तत्त्व यथापूर्व चिन्मयत्व प्रकाश वाले हैं (= माया की अपेक्षा विद्या और विद्या की अपेक्षा शिव क्रमशः अधिक चिन्मय प्रकाशयुक्त हैं)।"

इत्याद्यन्यैरुक्तम् । एवं च यद्यपि नरात्मके मायादौ तत्त्वजाते चिद्धर्मतात्मनो गुणस्याविशिष्टमेव न्यूनत्वं तथापि एषामवरोहक्रमेण वेद्यताया यथायथं स्थौल्यातिशयात्मगुणोऽपि आरोहक्रमेण तारतम्यात् विशेषः—इत्युक्तम् । गुणाधिकतया तिष्ठन् यावान् पूर्वभावी तत्त्वगुणस्तावान् अमीषां धरादीनां तत्त्वानां व्यापकः, यथा धराया जलं तस्यापि तेजः—इत्यादि ॥ ३०६ ॥

नन्वग्निधूमवत् कारणं कार्याव्यभिचारितया तद्व्यापकम्, कार्यं च तदव्यभिचारितया व्याप्यम्; अथवा तिरस्करिणीतिरोहितनटवत् सूक्ष्मं व्याप्यम्, स्थूलं च व्यापकम्—इति किमत्र गुणाधिक्यकथनेन ?—इत्याशङ्क्याह—

व्याप्यव्यापकता यैषा तत्त्वानां दर्शिता किल ।
सा गुणाधिक्यतः सिद्धा न हेतुत्वान्न लाघवात् ॥ ३०७ ॥

किलेति आगमे ॥ ३०७ ॥

एतदेव हेतुत्वस्य लाघवस्य व्यभिचारं दर्शयन्नुपपादयति—

अहेतुनापि रागो हि व्याप्तो विद्यादिना स्फुटम् ।

अहेतुनेति, विद्यारागयोः 'अव्यक्तरागविद्याः कलासमुत्थाः' इत्याद्युक्त्या

इत्यादि दूसरों के द्वारा कहा गया है । इस प्रकार यद्यपि नरात्मक माया आदि तत्त्वसमूह में चिद्धर्मता वाले गुण की न्यूनता समान है तो भी इनके अवरोह क्रम से वेद्यता का क्रमशः स्थौल्यातिशयरूप गुण भी आरोहक्रम से तारतम्य के कारण विशेष है—ऐसा कहा गया । गुणों की अधिकता के कारण स्थित जितना पूर्वभावी तत्त्वगुण है उतना इन पृथिव्यादि तत्त्वों का व्यापक है जैसे कि पृथ्वी का जल और उसका भी तेज (व्यापक है) इत्यादि ॥ ३०६ ॥

प्रश्न—अग्निधूम के समान कारण कार्य का अव्यभिचारी होने से उसका (= कार्य का) व्यापक होता है और कार्य उसका (= कारण का) अव्यभिचारी होने से व्याप्य । अथवा पर्दे के पीछे छिपे हुए नट की भाँति सूक्ष्म व्याप्य है और स्थूल व्यापक । फिर यहाँ गुणों की अधिकता के कथन से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तत्त्वों की जो यह व्याप्यव्यापकता निश्चित रूप से दिखलायी गयी वह गुणों की अधिकता से सिद्ध है, न कि कारण और न लाघव से ॥३०७॥

किल = आगम में ॥ ३०७ ॥

हेतुत्व और लाघव के व्यभिचार को दिखलाते हुए इसी को सिद्ध करते हैं—

राग अहेतु भी विद्या आदि के द्वारा स्पष्टरूप से व्याप्त है ॥ ३०८- ॥

अहेतु—क्योंकि अव्यक्त राग और विद्या कला से उत्पन्न हैं' इत्यादि उक्ति के

कलातः सहैव समुत्पत्तेः ।

ननु अकारणं च व्यापकं चेति विप्रतिषिद्धमेतत् ?—इत्याशङ्क्याह—

तद्विना न भवेद्यत्तद् व्याप्तमित्युच्यते यतः ॥ ३०८ ॥
न लाघवं च नामास्ति किञ्चिदत्र स्वदर्शने ।
गुणाधिक्यादतो ज्ञेया व्याप्यव्यापकता स्फुटा ॥ ३०९ ॥

न भवेदिति, आभास्यतां न यायात्—इत्यर्थः । नहि आभासवादे विनाभासमन्यत् किञ्चित् भावानां सत्तावेदकं प्रमाणं संभवेत्—इति भावः । अतश्चेह यदनुग्रहं विना यन्न भासते तत्तद्व्याप्यमित्युक्तम्, इतरच्च तद्व्यापकमिति। अत्र स्वदर्शने इति, संविदद्वैतमात्रसतत्त्वे त्रिकशास्त्रे—इत्यर्थः । नहि परां संविदमधिकृत्य स्थूलं सूक्ष्मं वा किंचिदस्ति—इत्यभिप्रायः । अत इति हेतुत्वस्य लाघवस्य च व्याप्यव्यापकतायां निमित्तत्वानुपपत्तेः ॥ ३०९ ॥

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे गुणाधिक्यादूर्ध्वाधरभावमात्रमेवोक्तं न व्याप्यव्यापकत्वम्—इति किमेतदुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्व उच्यते।
ऊर्ध्वता व्याप्तृता श्रीमन्मालिनीविजये स्फुटा ॥ ३१० ॥

अनुसार विद्या और राग कला से एक साथ ही उत्पन्न होते हैं (इसलिये विद्या राग का कारण नहीं है फिर भी राग विद्या से व्याप्त है)॥

प्रश्न—कारण भी न हो और व्यापक हो यह तो विरुद्ध है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चूँकि जो उसके बिना न हो वह व्याप्त कहा जाता है । इस अपने दर्शन में लाघव नाम की कोई चीज नहीं है इसलिए व्याप्यव्यापकता गुणाधिक्य के कारण स्पष्ट समझी जानी चाहिए ॥ -३०८-३०९ ॥

नहीं होती = आभास्यता को प्राप्त नहीं होती । आभासवाद में आभास के बिना सत्ता का आवेदक कोई प्रमाण सम्भव नहीं । इसलिए यहाँ जिसके अनुग्रह के बिना जो भासित नहीं होता वह (= भासित होने वाला) उसका (= अनुग्राहक का) व्याप्य होता है—यह कहा गया और दूसरा उसका व्यापक होता है । यहाँ अपने दर्शन में = संविद्अद्वैतमात्रतत्त्व वाले त्रिक शास्त्र में । परा संविद् को छोड़कर कुछ भी स्थूल सूक्ष्म नहीं है । अतः = हेतुत्व और लाघव के व्याप्यव्यापकता में कारण न होने से ॥ ३०९ ॥

प्रश्न—श्रीपूर्वशास्त्र में गुणाधिक्य के कारण केवल ऊर्ध्वाधर भाव ही कहा गया है न कि व्याप्यव्यापक भाव । फिर ऐसा कैसे कहते हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

नहि एवमादावूर्ध्वत्वं देशकृतं कालकृतं वा विवक्षितं किं तु चिद्धर्मत्वतारतम्याद् गुणोत्कर्ष:, तदेव च व्यापकत्वमित्युक्तम्—ऊर्ध्वता व्याप्तृतेति ॥ ३१० ॥

एवमियता पर्यवसितमित्याह—

अत: शिवत्वात्प्रभृति प्रकाशता
स्वरूपमादाय निजात्मनि ध्रुवम् ।
समस्ततत्त्वावलिधर्मसञ्चयै-
र्विभाति भूर्व्याप्तृतया स्थितैरलम् ॥ ३११ ॥

अतो गुणप्रकर्षप्रयुक्तात् व्याप्यव्यापकभावात् हेतो:, शिवात्प्रभृति स्वात्मनि चिद्धर्मताख्यगुणप्रकर्षमादाय समस्तानां तत्त्वानां संबन्धिभि: संग्रहपर्यन्तै: धर्माणां सञ्चयैर्निश्चितमेव पूर्णेन रूपेण व्याप्तृतया स्थितैर्भूर्भाति समस्ततत्त्वव्याप्या—इत्यर्थ: ॥ ३११ ॥

एतदेवान्यत्रापि अतिदिशति—

एवं जलादेरपि शक्तितत्त्वपर्यन्तधाम्नो वपुरस्ति तादृक् ।

तादृगिति, पूर्वपूर्वैस्तत्त्वैर्व्याप्यम्—इति भाव: ॥

जो जिसकी अपेक्षा गुणों में उत्कृष्ट है वह उससे ऊपर कहा जाता है। ऊर्ध्वता और व्यापकता मालिनीविजय में स्फुट है ॥ ३१० ॥

इन सब में ऊर्ध्वता देशकृत और कालकृत विवक्षित नहीं है बल्कि चिद्धर्मता के तारतम्य से गुणों का उत्कर्ष (माना गया है) । वही व्यापकत्व कहा गया है । ऊर्ध्वता = व्याप्तृता (व्यापकता)॥ ३१० ॥

इस प्रकार इतने से पर्यवसान होता है—यह कहते हैं—

इस कारण शिवत्व से लेकर आत्मा तक निश्चित रूप से प्रकाशतास्वरूप को लेकर व्यापक के रूप में स्थित समस्त तत्त्वों के धर्मसञ्चय के द्वारा निश्चित ही पृथिवी (व्याप्य रूप में) प्रतीत होती है ॥ ३११ ॥

इस कारण = गुणप्रकर्षप्रयुक्त व्याप्यव्यापक भाव के कारण । शिव से लेकर आत्मा में चिद्धर्मता नामक गुण के प्रकर्ष को लेकर समस्त तत्त्वों के सम्बन्धी संग्रहपर्यन्त धर्मों के सञ्चय से निश्चित ही पूर्ण रूप से व्यापकरूप से स्थित के द्वारा पृथिवी भासित होती है—समस्त तत्त्वों की व्याप्या के रूप में ॥ ३११ ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—

इसी प्रकार शक्तितत्त्व पर्यन्त धाम वाले जल आदि का भी उसी प्रकार का शरीर है ॥ ३१२- ॥

ननु व्याप्यव्यापकभावेऽपि एषां को विशेषः ?—इत्याशङ्क्याह—

किं तूत्तरं शक्तितयैव तत्त्वं पूर्वं तु तद्धर्मतयेति भेदः॥ ३१२ ॥

उत्तरमिति धरादि । पूर्वमिति जलादि । तद्धर्मतयेति स धर्मो यस्येति शक्तिमद्रूपतया—इत्यर्थः । तेन धरातत्त्वं शक्तिरूपम्, जलतत्त्वं तु शक्तिमद्रूपम्; सधरं च जलतत्त्वं शक्तिः, तेजस्तत्त्वं तु शक्तिमत् । यावत् शक्तितत्त्वं शक्तिः शिवस्तु शक्तिमान् येन

'पञ्चत्रिंशत्तत्त्वी शिवनाथस्यैव शक्तिरुक्तेयम्।'

इत्याद्यन्यैरुक्तम् ॥ ३१२ ॥

एतच्चान्यत्र वैतत्येनोक्तमिति तत एवावधार्यम्—इत्याह—

अनुत्तरप्रक्रियायां वैतत्येन प्रदर्शितम् ।
एतत् तस्मात् ततः पश्येद्विस्तरार्थी विवेचकः॥ ३१३ ॥

अनुत्तरप्रक्रियायामिति श्रीपरात्रीशिकाविवरणादौ—इत्यर्थः ॥ ३१३ ॥

एतदेव श्लोकस्य प्रथमार्धेनोपसंहरति—

उस प्रकार का = पूर्व-पूर्व तत्त्वों से व्याप्य ॥

प्रश्न—व्याप्यव्यापक भाव होने पर भी इनमें क्या भेद है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उत्तरोत्तर (पदार्थ) शक्ति के रूप में तत्त्व है और पूर्व-पूर्व उसके धर्म के रूप में—यह अन्तर है ॥ -३१२ ॥

उत्तर = पृथिवी आदि । पूर्व = जल आदि । तद्धर्मतया = वह धर्म है जिसका अर्थात् शक्तिमद् रूप से । इससे धरातत्त्व शक्तिरूप है और जलतत्त्व शक्तिमद् रूप । धरा के सहित जल तत्त्व शक्तिरूप है तेजस्तत्त्व शक्तिमद् । इसी प्रकार शक्ति तत्त्व शक्ति है और शिव शक्तिमान् । जिससे—

"यह पचीस तत्त्व शिव की शक्ति कही गयी है ।"

इत्यादि अन्य लोगों के द्वारा गया गया है ॥ ३१२ ॥

यह अन्यत्र विस्तार से कहा गया है इसलिए वहीं से जान लेना चाहिए—यह कहते हैं—

यह अनुत्तरप्रक्रिया में विस्तार से कहा गया है इसलिए विस्तार को चाहने वाले विवेचक वहीं से देख लें ॥ ३१३ ॥

अनुत्तर प्रक्रिया में = परात्रिंशिका विवरण आदि में ॥ ३१३ ॥

इति तत्त्वस्वरूपस्य कृतं सम्यक् प्रकाशनम् ॥ ३१४ ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके तत्त्वप्रकाशनं नाम नवममाह्निकम् ॥ ९ ॥

सम्यगिति अनेनात्र भोगकारिकादिभ्यो वैलक्षण्यं कटाक्षितमिति शिवम् ॥

शङ्करनन्दनसद्योज्योतिर्देवबलकणभुगादिमतम् ।
प्रत्याख्यास्यन्नवमं व्याचख्यावाह्निकं जयरथाख्यः॥

॥ इति श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचिते श्रीतन्त्रालोके श्रीजयरथविरचितविवेकाभिख्यव्याख्योपेते तत्त्वप्रकाशनं नाम नवममाह्निकं समाप्तम् ॥ ९ ॥
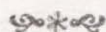
इसी का श्लोक के पूर्वार्द्ध से उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार तत्त्वस्वरूप का सम्यक् प्रकाशन किया गया ॥ ३१४ ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्यअभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के नवम आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ९ ॥

सम्यक्—इससे यहाँ भोगकारिका आदि से विलक्षणता सङ्केतित है ॥

शङ्कर, नन्दन, सद्योज्योति, देवबल और कणाद आदि के मतों का खण्डन करते हुए जयरथ ने नवें आह्निक की व्याख्या की ॥

॥ इस प्रकार आचार्यश्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के नवम आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ९ ॥
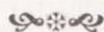
दशममाह्निकम्

⊰ ✱ ⊱
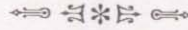
* विवेक *

तत्तत्तत्त्वविभेदनसमुद्यतोद्द्योतिनिशितशूलकर: ।
जयति अपरं जयमूर्तिः संसारपराजयस्फूर्तिः ॥

इदानीमेषामेव तत्त्वानां द्वितीयार्धेन पाञ्चदश्यादिभेदमभिधातुं प्रतिजानीते

उच्यते त्रिकशास्त्रैकरहस्यं तत्त्वभेदनम् ॥ १ ॥

तदेवाह—

तेषाममीषां तत्त्वानां स्ववर्गेष्वनुगामिनाम् ।
भेदान्तरमपि प्रोक्तं शास्त्रेऽत्र श्रीत्रिकाभिधे॥ २ ॥

भेदान्तरमपि पाञ्चदश्यादिलक्षणमपि-इति पूर्वापेक्षया । 'श्रीत्रिकाभिधे शास्त्रे' इति श्रीमालिनीविजयोत्तरे । तदुक्तं तत्र—

---

* ज्ञानवती *

भिन्न-भिन्न तत्त्वों के भेदन में उठे हुये देदीप्यमान तीक्ष्ण शूल को हाथ में रखने वाले, संसार के पराजय में स्फूर्त्ति वाले जय मूर्त्ति (शिव) सर्वोत्कर्षेण वर्त्तमान हैं ।

अब श्लोकार्ध के द्वारा इन्हीं तत्त्वों का पाञ्चदश्य (पन्द्रह) आदि भेद का कथन करने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं—

त्रिकशास्त्र का प्रधान रहस्य तत्त्वभेदन कहा जा रहा है ॥ १ ॥

वही कहते हैं—

अपने वर्गों पें अनुगामी उन इन तत्त्वों का इस त्रिक नामक शास्त्र में भेदान्तर भी कहा गया ॥ २ ॥

'अथैषामेव तत्त्वानां धरादीनामनुक्रमात् ।
प्रपञ्चः कथ्यते लेशात्................. ॥ (मा० वि० २।१)

इत्यादि

'शिवः साक्षान्न भिद्यते ।' (मा० वि० २।७) इत्यन्तम् ॥ २ ॥

तदेवाह—

शक्तिमच्छक्तिभेदेन धराद्यं मूलपश्चिमम् ।
भिद्यते पञ्चदशधा स्वरूपेण सहानरात् ॥ ३ ॥
कलान्तं भेदयुग्घीनं रुद्रवत्प्रलयाकलः ।
तद्वन्माया च नवधा ज्ञाकलाः सप्तधा पुनः ॥ ४ ॥
मन्त्रास्तदीशाः पाञ्चध्ये मन्त्रेशपतयस्त्रिधा ।
शिवो न भिद्यते स्वैकप्रकाशघनचिन्मयः ॥ ५ ॥

'शक्तिमच्छक्तिभेदेन' इति शक्तिमतां शक्तीनां च वक्ष्यमाणस्वरूपाणां शिवादीनामिच्छादीनां च भेदेन प्रत्येकं सप्तधात्वे चतुर्दशात्मना प्रकारेण—इत्यर्थः। मूलपश्चिममिति प्रधानान्तं तत्त्वचतुर्विंशकमिति-अर्थः । स्वरूपेणेति स्वं रूपं

भेदान्तर भी = पाञ्चदश्य आदि लक्षण भी—यह पूर्व की अपेक्षा कहा गया । त्रिक नामक शास्त्र में = मालिनीविजयोत्तर (नामक तन्त्रग्रन्थ) में । वहीं वहाँ कहा गया है—

"अब इन पृथिवी आदि तत्त्वों का क्रम से संक्षेप में प्रपञ्च (= विस्तार) कहा जा रहा है ।"

यहाँ से लेकर

"साक्षात् शिव का भेदन नहीं होता ।"

यहाँ तक कहा गया ॥ २ ॥

वही कहते हैं—

पृथिवी आदि मूलपश्चिम = (= मूल प्रकृति तत्त्व तक चौबीस तत्त्व) शक्तिमत् और शक्तिभेद वाले स्वरूप से पन्द्रह प्रकार से भिन्न हैं । पुरुष तत्त्व से लेकर कला पर्यन्त दो भेद से रहित (= तेरह भेद वाले) हैं । प्रलयाकल ग्यारह भेद वाले, माया नव प्रकार की, विज्ञानाकल सात प्रकार के, मन्त्र और मन्त्रेश पाँच प्रकार के, मन्त्रमहेश्वर तीन प्रकार के होते हैं । एक प्रकाशघन चिन्मय शिव का भेद नहीं होता ॥ ३-५ ॥

शक्तिमत् शक्तिभेद से—शक्तिमान् का और शक्तियों का तथा वक्ष्यमाण स्वरूप वाले शिव आदि और इच्छा आदि का भेद होने से प्रत्येक सात प्रकार होने से (७

मातृमानाद्यनुपरक्तं बहीरूपतया परिदृश्यमानजडस्वभावं यथा पृथिव्या गन्धादि-गुणोत्कटम्। यद्वक्ष्यति—

'तत्र स्वरूपं भूमेर्यत्पृथग्जडमवस्थितम् ।
मातृमानाद्युपधिभिरसञ्जातोपरागकम् ॥'' (१०।८) इति ।

आ नरादिति पुंस्तत्वादारभ्य कलान्तं तत्त्वषट्कम्—इत्यर्थः । भेदयुग्घीनमिति भेदयुग्मरहितं त्रयोदशविधमिति यावत् । इह यद्यपि सर्वं सर्वात्मकमिति सर्वत्र पञ्चदशात्मकत्वमेव न्याय्यं तथाप्यधराधरतत्त्वक्रोडीकारेण प्रतितत्त्वं प्राक् पूर्णेन रूपेण परसंवित्समुल्लसेत् येनोत्तरोत्तरत्र पूर्वपूर्वस्थितिरव्यभिचारेण भवेत्, अन्यथा हि—

'यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ।' (तं० ८।३)

इत्याद्युक्तयुत्या धरादेस्तत्त्वजातस्य सत्तैव न स्फुरेत् । उत्तरोत्तरं पुनस्तत्त्वजातं पूर्वपूर्वस्मिन्रूपे विलीनं सत् क्रमेण संविद्येव विश्राम्येत् यथायथं तस्या एवोद्रेकात्, अत एव संविद्विश्रान्तत्वान्न तत्पृथग्भोगं दातुमलम्,—इति तदीयं भेदद्वयं न्यूनतामियात्, येनात्र सशक्तिकस्य प्रलयाकलादेः षट्कस्य प्रमातृत्वात् सकलस्य

शक्तिमान् + ७ शक्ति—इसका विश्लेषण आगे होगा) चौदह प्रकार से भिन्न हैं । मूल पश्चिम = प्रधान पर्यन्त चौबीस तत्त्व । स्वरूप से—अपना रूप—प्रमाता प्रमाण आदि से अनुपरक्त बाह्यरूप से परिदृश्यमान जड़ स्वभाव वाला । जैसे कि पृथिवी का गन्ध आदि गुणों से उत्कट रूप उसका अपना रूप है । जैसा कि कहेंगे—

"उनमें भूमि का जो जड़स्वरूप अलग स्थित है (वह) प्रमाता प्रमाण आदि उपाधियों से अनुपरक्त है ।"

नर पर्यन्त = पुरुषतत्त्व से लेकर कला तक (= पुरुष, माया, शुद्ध विद्या, ईश्वर, सदाशिव और कला) छ तत्त्व । दो भेदों से हीन = दो भेदों (= धरा के शक्तिमान् एवं शक्तिरूप दो भेदों) से रहित अर्थात् तेरह प्रकार का । यद्यपि 'सब सर्वात्मक है' इस सिद्धान्त के अनुसार सर्वत्र पञ्चदशात्मकता ही उचित है तो भी नीचे-नीचे के तत्त्व को अपने में समाहित करने के कारण प्रत्येक तत्त्व से पहले परासंवित् पूर्ण रूप से उल्लसित होती है जिससे उत्तरोत्तर (स्थल) में पूर्व-पूर्व स्थिति अनिवार्यरूप से होती है । अन्यथा—

"जो उसमें विश्रान्त नहीं है वह आकाश कुसुम के समान (तुच्छ, असत्) है ।"

इत्यादि उक्त युक्ति से पृथिवी आदि तत्त्वसमूह की सत्ता हीं स्फुरित नहीं होगी। बाद-बाद वाले तत्त्व पूर्व-पूर्व रूप में विलीन होते हुये क्रमशः संविद् में ही विश्रान्त होते हैं क्योंकि क्रमशः उसी का उद्रेक होता है इसलिये संविद् में विश्रान्त होने के

च सशक्तिकस्य स्वरूपीभूतत्वात् त्रयोदशविधत्वमेव स्यात् । यदुक्तम्—

'विश्वात्मके हि विश्वस्मिन् या संविदवलोकयेत् ।
निजवीर्यमहास्फारं समवष्टम्भयोगतः ॥
विशिष्टकार्यसंपत्त्यै प्राक्तत्रोदेति सा हठात् ।
अधराधरतत्त्वेषु स्थिता पूर्वस्थितिर्यतः ॥
अन्यथा स्थितिरेवैषां न भवेत्पूर्वहानितः ।
पूर्वस्वरूपे त्वधरं विलीनं तत्त्वजालकम् ॥
भोगाय नालमित्येवं न्यूनत्वं तत्र भेदगम् ।' इति ।

सशक्तिकश्च सकलः स्वरूपीभूतः सन् स्वरूपमेव न तथा भिन्द्यात् । भेदो हि प्रतियोगिनमधिकृत्य परत्र भेदसङ्कलनां विदध्यात्, यथा-इदं मेयम्, इदं मानम्, अयं माता-इति । मेयस्य पुनर्मेयता स्वात्मनि न कश्चिद् भेदः । एवं स्वरूपस्य स्वात्मनि भेदाभावात् युक्तमुक्तं क्रमेण भेदद्वयह्रास इति । यदुक्तम्—

'भेदा हि न स्वरूपं भिन्दन्त्यपि तु भेदसङ्कलनाम् ।
अन्यत्र प्रतियोगिनि विदधति हि परत्र तेन तदभावात् ॥
'निजगतभेदद्वितयीनिरास उक्तः क्रमेणेह ।
परिपूर्णे शिवतत्त्वे भेदाभावादभेद्यता तेन ॥' इति ।

कारण वह (= तत्त्व) पृथक् भोग देने में समर्थ नहीं है—इसलिये उसका दो भेद कम हो जाता है । इस कारण शक्तिसहित प्रलयाकल आदि छ (= शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल और प्रलयाकल) के प्रमाता होने से, तथा शक्ति के सहित सकल के स्वरूपी भूत होने से तेरह ही प्रकार होते हैं । जैसा कि कहा गया—

"विश्वात्मक विश्व में जो संविद् दिखलायी पड़ती है वह अपने वीर्य के महास्फार के कारण विशिष्टकार्य की सिद्धि के लिये वहाँ हठात् पहले उदित होती है क्योंकि नीचे-नीचे वाले तत्त्वों में पूर्व (तत्त्वों की) स्थिति रहती है । अन्यथा पूर्व-पूर्व की हानि से इनकी स्थिति ही नहीं रहेगी । नीचे वाला तत्त्व ऊपर वाले तत्त्व में विलीन होने पर भोग देने के लिये समर्थ नहीं होता । इस कारण वहाँ भेदगत न्यूनता हो जाती है ।"

शक्तिसहित सकल स्वरूपी होता हुआ स्वरूप का ही उस प्रकार भेद नहीं करेगा । भेद प्रतियोगी को सामने रखकर परत्र (= अन्यत्र) भेद का सङ्कलन करता है । जैसे यह प्रमेय है यह प्रमाण है और यह प्रमाता है । मेय की मेयता अपने में कोई भेद नहीं है । इस प्रकार अपने रूप का अपने में भेद न होने से ठीक ही कहा है कि क्रम से दो भेदों का ह्रास होता है । जैसा कि कहा गया है—

"भेद स्वरूप का भेदन नहीं करते बल्कि अन्यत्र प्रतियोगी में भेद का सङ्कलन करते हैं । इस कारण परत्र उसका अभाव होने से यहाँ क्रम से स्वगत दो भेदों का

रुद्रवदिति रुद्रशब्देन लक्षितामेकादशसंख्यामर्हतीति वत्यन्तम् । प्रलयाकल इत्यर्थात्स्वरूपीभूतः । एवमुत्तरत्र विज्ञानाकलादावपि ज्ञेयम् । अत एवात्र विज्ञानाकलादीनां पञ्चानामेव प्रमातृत्वं येनैकादशविधत्वम् । मायेति तात्स्थ्याद् द्वितीयोऽपवेद्यः प्रलयाकल उच्यते, तेन सोऽप्येकादशविध एव—इत्यर्थः । नवधेति सशक्तीनां चतुर्णां मन्त्रादीनां प्रमातृत्वात् । सप्तधेति सशक्तिकस्य मन्त्रेश्वरादेस्त्रयस्य प्रमातृत्वात् । तदीशाः मन्त्रेश्वराः । पाञ्चध्ये इति मन्त्रमहेश्वरशिवयोरेव सशक्तिकयोः प्रमातृत्वात् । त्रिधेति शिवस्यैव सशक्तिकस्य प्रमातृत्वात् । शिवस्य भेदाभावे हेतुः 'स्वैकप्रकाशघनचिन्मयः' इति । भेदो हि प्रतियोग्यपेक्षः, न च परं प्रकाशमपेक्ष्य अन्यः कश्चित्प्रतियोगी संभवेदिति समनन्तरमेवोक्तमित्यास्तामेतत् । उक्तं च—

> 'शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते ।
> स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा ॥' (मा० वि० २।२)

इति ।

> 'एवं जलादिमूलान्तं तत्त्वव्रातमिदं महत् ।
> पृथग्भेदैरिमैर्भिन्नं विज्ञेयं तत्फलेप्सुभिः ॥
> अनेनैव विधानेन पुंस्तत्त्वात्कलान्तकम् ।

निरास कहा गया । इससे परिपूर्ण शिव तत्त्व में भेद न होने के अभेद्यता है ।''

रुद्रवत्—यहाँ पर रुद्र शब्द से लक्षित ग्यारह संख्या अर्थ है—

यह अर्थ वति प्रत्ययान्त से (कहा गया) । प्रलयाकल अर्थात् स्वरूपीभूत । इसी प्रकार उत्तरत्र विज्ञानाकल आदि के बारे में भी समझना चाहिये । इसलिये यहाँ विज्ञानाकल आदि पाँच ही प्रमाता हैं (जिनका शक्तिमान और शक्ति = ५×२ और स्वरूप, इस तरह) ग्यारह प्रकार होता है । माया—उसमें रहने के कारण दूसरा अपवेद्य प्रलयाकल कहा जाता है । इससे वह भी ग्यारह प्रकार का ही है । नव प्रकार का—शक्तियुक्त मन्त्र आदि चार (= शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र) के प्रमाता होने से । सात प्रकार का—शक्तिसहित मन्त्रेश्वर आदि तीन (= शिव, मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर) के प्रमाता होने के कारण । तीन प्रकार का—सशक्तिक शिव के ही प्रमाता होने से । शिव के भेदाभाव होने में कारण है—उनका अपना एक प्रकाशघन चिन्मय होना । भेद प्रतियोगी की अपेक्षावाला होता है। परप्रकाश की अपेक्षा कर कोई दूसरा प्रतियोगी सम्भव नहीं है—यह अभी-अभी कहा गया बस इतना बहुत है । कहा भी गया है—

''शक्तिमान् और शक्ति के भेद से पृथिवी तत्त्व भिन्न होता है । स्वरूपसहित उसको पन्द्रह प्रकार का समझना चाहिये ।''

''इस प्रकार जल तत्त्व से लेकर मूल प्रकृति पर्यन्त इस महान् तत्त्वसमूह को

त्रयोदशविधं ज्ञेयं रूद्रवत्प्रलयाकलः ॥
तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः ।
मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मन्त्रनायकाः ॥
त्रिधा मन्त्रेश्वरेशानाः शिवः साक्षान्न भिद्यते ।' (मा० वि० २।७)

इति च ॥ ३-५ ॥

ननु के ते 'शक्तिमच्छक्तिभेदेन' इत्यासूत्रिताः शक्तयः शक्तिमन्तश्च येन भुवः पञ्चदशात्मकत्वं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

शिवो मन्त्रमहेशेशमन्त्रा अकलयुक्कली ।
शक्तिमन्तः सप्त तथा शक्तयस्तच्चतुर्दश ॥ ६ ॥
स्वं स्वरूपं पञ्चदशं तद्भू पञ्चदशात्मिका ।

ईशा मन्त्रेश्वराः, अकलयुग्विज्ञानाकलप्रलयाकलौ, कली सकलः, शक्तय इत्यर्थात् शिवादिसंबन्धिन्य इच्छाद्याः सप्त । तदुक्तम्—

'शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः ।
तच्छक्तयश्च विज्ञेयास्तद्वदेव विचक्षणैः ॥'
(मा० वि० २।३) इति ।

उनका फल चाहने वाले लोग इन पृथक् भेदों से भिन्न समझें । इसी नियम के अनुसार पुरुष तत्त्व से कलापर्यन्त (तत्त्वों को) तेरह प्रकार का जानना चाहिये । प्रलयाकल ग्यारह प्रकार का और उसी प्रकार माया भी (ग्यारह प्रकार) की जाननी चाहिये । ज्ञानकेवली नव प्रकार, मन्त्र सात प्रकार, मन्त्रेश्वर पाँच प्रकार और मन्त्रमहेश्वर तीन प्रकार के जानने चाहिये । साक्षात् शिव का भेद नहीं होता'' ॥ ३-५ ॥

प्रश्न—शक्तिमत् और शक्ति के भेद से बतलाये गये वे कौन शक्तिमत् और शक्तियाँ हैं जिसके कारण पृथिवी पन्द्रह प्रकार की है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, अकल और सकल ये सात शक्तिमान् हैं वे और उनकी शक्तियाँ (इस प्रकार) चौदह हैं । पन्द्रहवाँ अपना रूप । इस प्रकार पृथिवी पन्द्रह भेदों वाली है ॥ ६-७- ॥

ईश = मन्त्रेश्वर, अकलयुक् = (दो अकल =) विज्ञानाकल और प्रलयाकल । कली = सकल । शक्तियाँ = शिव आदि से सम्बद्ध इच्छा आदि सात (इनका वर्णन आगे किया जाएगा)। वही कहा गया है—

''शिव से लेकर सकल पर्यन्त शक्तिमान् कहे गये हैं । चतुर लोग उसी प्रकार उनकी शक्तियों को भी समझ लें ॥''

स्वं स्वरूपमिति अर्थात्पृथिव्यादेः ॥ ६ ॥

नन्वस्मद्दर्शने नरशक्तिशिवात्मकमेव विश्वमिति सर्वत्रोद्घोष्यते, तत्कथमिह सिद्धान्तदर्शनादिसमुचितं प्रमातृभेदमवलम्ब्यैतदुक्तम् ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्यैतदुपपादयति—

तथाहि तिस्रो देवस्य शक्तयो वर्णिताः पुरा ॥ ७ ॥
ता एव मातृमानमेयत्रैरूप्येण व्यवस्थिताः ।

त्रैरूप्यमेव वर्णयति—

परांशो मातृरूपोऽत्र प्रमाणांशः परापरः ॥ ८ ॥
मेयोऽपरः शक्तिमांश्च शक्तिः स्वं रूपमित्यदः ।

अद इति वाक्यार्थपरामर्शः, तेन मातृरूपः परांशः शक्तिमान्, प्रमाणरूपः परापरांशः शक्तिर्मेयरूपोऽपरांशः स्वरूपमिति । यत्पुनः शक्तिमतां शक्तीनां च सप्तविधत्वमुक्तं तदवान्तरप्रकारप्रायमित्यत्र मौलं नरशक्तिशिवात्मकत्वमेव स्थितमिति न कश्चिद्दोषः ॥ ८ ॥

एवमेषां शक्तिमदादीनां मध्यात्स्वरूपं तावत्प्रथमं लक्षयति—

तत्र स्वरूपं भूमेर्यत्पृथग्जडमवस्थितम् ॥ ९ ॥

अपना रूप अर्थात् पृथिवी आदि का ॥ ६ ॥

प्रश्न—हमारे दर्शन में विश्व सर्वत्र नर शक्ति और शिव रूप ही कहा जाता है तो यहाँ कैसे शैवसिद्धान्त दर्शन आदि के अनुरूप प्रमातृभेद का अवलम्बन कर ऐसा कहा गया?—इस शङ्का को अन्दर (= मन मे) रख कर कहते हैं—

परमेश्वर की जिन (परा आदि) तीन शक्तियों का पहले वर्णन हो चुका है वे ही प्रमाता प्रमाण और प्रमेय इन तीन रूपों में व्यवस्थित हैं ॥ -७-८- ॥

तीनो रूपों का वर्णन करते हैं—

इनमें पर अंश प्रमाता रूप, परापर (अंश) प्रमाणरूप और अपर (अंश) प्रमेय है । यह (= अपर) शक्तिमान् और शक्ति का अपना रूप (= मेय) है ॥ -८-९- ॥

अदः—यह वाक्यार्थ का परामर्शक है । इससे मातृरूप परांश शक्तिमान् है, प्रमाणरूप परापरांश शक्ति और प्रमेय रूप अपरांश अपना रूप है । और जो शक्तिमानों और शक्तियों का सात प्रकार का होना कहा गया वह अवान्तर प्रकार है इसलिये यहाँ मूल नर शक्ति और शिव ही हैं इसलिये कोई दोष नहीं है ॥ ८ ॥

इन शक्तिमद् आदि के मध्य से सबसे पहले स्वरूप का लक्षण बतलाते हैं—

मातृमानाद्युपधिभिरसञ्जातोपरागकम् ।

असञ्जातोपरागकमिति, तदुपरक्तत्वे हि शक्तिमदादिरूपत्वमेव स्यात्—इत्याशयः ॥ ९ ॥

एवमस्यैकध्येऽपि अवान्तरचतुर्दशभिन्नत्वे शक्तिमन्तः शक्तयश्च निमित्तम्—इत्याह—

सकलादिशिवान्तैस्तु मातृभिर्वेद्यतास्य या ॥ १० ॥
शक्तिमद्भिरनुद्भूतशक्तिभिः सप्त तद्भिदः ।
सकलादिशिवान्तानां शक्तिषूद्रेचितात्मसु ॥ ११ ॥
वेद्यताजनिताः सप्त भेदा इति चतुर्दश ।

अनुद्भूतशक्तिभिरित्यनेनात्र शक्तिमतां प्राधान्यं कटाक्षितम् । उद्रेचितात्मस्वित्यनेन तु शक्तीनाम् । वस्तुतो हि शक्तितद्वतोः परस्परमवियोग एव, किन्तु प्राधान्यमेव प्रयोजकीकृत्य तथाव्यपदेशो यदयं शक्तिमान् इयं शक्तिरिति ॥

ननु सकलादिप्रमातृसप्तकं सर्वत्र प्रसिद्धमित्यास्तां को दोषः, तच्छक्तयस्तु न क्वचिदपि परिपठिताः, इति कास्ताः ?—इत्याशङ्क्याह—

उसमें भूमि का जो जड स्वरूप अलग स्थित है वह प्रमाता प्रमाण आदि उपाधियों से अनुपरञ्जित है ॥ -९-१०- ॥

असञ्जातोपराग वाला—उनसे उपरक्त होने पर ये शक्तिमान् आदि रूप वाले हो जाते—यह आशय है ॥ ९ ॥

एक प्रकार का होने पर भी इसके अवान्तर चौदह भेद होने में शक्तिमान् और शक्तियाँ ही कारण हैं—यह कहते हैं—

सकल से लेकर शिव पर्यन्त प्रमाताओं के द्वारा इसकी जो वेद्यता है अनुद्भूत शक्ति वाले शक्तिमानों से (वह) सात उतने भेद वाले हो गये ।

सकल से लेकर शिवपर्यन्त की शक्तियों के उद्रेचित होने पर वेद्यता से जनित सात भेद होते हैं । इस प्रकार चौदह (भेद) हैं ॥ -१०-१२- ॥

अनुद्भूत शक्ति, वालों से—इससे यहाँ शक्तिमानों की प्रधानता सङ्केतित है और उद्रेचित स्वभाव वाले—इससे शक्तियों की प्रधानता । वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान् का परस्पर वियोग नहीं होता किन्तु प्राधान्य को प्रयोजक मानकर इस प्रकार का व्यवहार होता है कि यह शक्तिमान् है और यह शक्ति है ॥

प्रश्न—सकल आदि सात प्रमाता सर्वत्र प्रसिद्ध हैं तो रहें कोई दोष नहीं है किन्तु उनकी शक्तियाँ तो कहीं भी नहीं पढ़ी गई हैं फिर वे क़ौन हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सकलस्य प्रमाणांशो योऽसौ विद्याकलात्मकः ॥ १२ ॥
सामान्यात्मा स शक्तित्वे गणितो न तु तद्भिदः ।
लयाकलस्य मानांशः स एव परमस्फुटः ॥ १३ ॥
ज्ञानाकलस्य मानं तु गलद्विद्याकलावृति ।
अशुद्धविद्याकलनाध्वंससंस्कारसङ्गता ॥ १४ ॥
प्रबुभुत्सुः शुद्धविद्या मन्त्राणां करणं भवेत् ।
प्रबुद्धा शुद्धविद्या तु तत्संस्कारेण सङ्गता ॥ १५ ॥
मानं मन्त्रेश्वराणां स्यात्तत्संस्कारविवर्जिता ।
मानं मन्त्रमहेशानां करणं शक्तिरुच्यते ॥ १६ ॥
स्वातन्त्र्यमात्रसद्भावा या त्विच्छा शक्तिरैश्वरी ।
शिवस्य सैव करणं तया वेत्ति करोति च ॥ १७ ॥

सामान्यात्मेति विद्याकलाभ्यामेव बुद्धिकर्मेन्द्रियलक्षणस्य विशेषात्मनः प्रसरस्य, संग्रहात्, अत एवोक्तं 'नतु तद्भिदः' इति । एवं हि तत्तद्व्यापारभेदादनन्ताः शक्तयो भवेयुः इति भावः । उक्तं च प्राक्—

'तेनाशुद्धैव विद्यास्य सामान्यं करणं पुरा ।
ज्ञप्तौ कृतौ तु सामान्यं कला करणमुच्यते ॥'
(तं० ९।२४४) इति ।

(आणव मायीय और कार्म तीनों मलों से युक्त) सकल का जो यह विद्या कला रूप प्रमाणांश, सामान्य रूप (मे अर्थात् अस्फुट रूप में) वह शक्ति माना गया है न कि उसका भेद । वही (= प्रमाणांश) स्फुट होकर प्रलयाकल का प्रमाणांश होता है । विज्ञानाकल का प्रमाण (वह है जहाँ) विद्या और कला का आवरण नश्यत्प्राय है अर्थात् अशुद्धविद्या और कला के ध्वंस के संस्कार से युक्त है । भविष्य में प्रबुद्ध होने वाली शुद्ध विद्या मन्त्रों का करण होती है और प्रबुद्धशुद्ध विद्या उस संस्कार से युक्त होती है । उस संस्कार से रहित (शुद्धविद्या) मन्त्रेश्वरों का प्रमाण है । शक्ति मन्त्रमहेशों का करण कही जाती है । (ये सभी सकल आदि) उसी से जानते हैं और करते हैं ॥ -१२-१७ ॥

सामान्य रूप—क्योंकि विद्या और कला के द्वारा ही बुद्धिकर्मेन्द्रिय लक्षण वाले विशेष प्रसर का संग्रह होता है (अर्थात् विद्या ज्ञानेन्द्रिय का और कला कर्मेन्द्रिय का प्रसार करती है) इसीलिये कहा गया—'न कि उसका भेद । क्योंकि वैसा होने पर तत्तद्व्यापारभेद से अनन्त शक्तियाँ हो जायगी । पहले कहा भी गया है—

"इसलिये ज्ञान के विषय में पहले अशुद्ध ही विद्या इसका सामान्य करण कही जाती है और क्रिया के विषय में कलासामान्य करण कहीं जाती है ।"

स एवेति विद्याकलात्मकः, परमस्फुट इति, इयान्विशेषः, स हि प्रसुप्त-भुजगप्रायः—इत्यभिप्रायः । गलदिति गलन्त्यौ विनाशोन्मुखे—इत्यर्थः । प्रबुभुत्सुरिति न तु प्रबुद्धा, एवं ह्यशुद्धविद्याकलाध्वंससंस्कारसङ्गमोऽस्या न स्यात् । प्रबुद्धत्वे हि अशुद्धविद्याकलाध्वंससंस्कारस्यापि नश्यदवस्थात्मना संस्कारेणास्याः सङ्गमो भवेत् । अत उक्तं 'तत्संस्कारेण सङ्गता' इति । तत्संस्कारविवर्जितेति, तेन नश्यदवस्थात्मनापि संस्कारेण विवर्जिता प्रनष्टतत्संस्कारा—इत्यर्थः । नहि इदानीमशुद्धविद्यादेर्गन्धमात्रमपि संभवेत्-इति भावः । मानमित्यर्थाच्छुद्धविद्या, मानमेव च करणमिति शक्तिरिति च तत्र तत्र व्यपदिश्यते,—इत्युक्तं 'करणं शक्तिरुच्यते' इति । स्वातन्त्र्यमात्रसद्भावेति, तदुक्तं प्राक्—

'एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ।।'

(तं० १।६७) इति ।

अत एवैश्वरीत्युक्तम्, तया वेत्ति करोति चेति सर्वशेषः, यत्सकलोऽपि अशुद्धविद्याकलात्मिकयैव शक्त्या वेत्ति करोति चेति, एवमन्यज्ज्ञेयम् ।।१२-१७।।

एवं प्रसङ्गात्सकलादिशक्तीनां स्वरूपमभिधाय प्रकृतमेवाह—

वही = विद्या कला रूप । परम स्फुट—इतना अन्तर है । वह (= संस्कार) सोये हुये सर्प के समान है—यह अभिप्राय है । गलत् = गलती हुई = विनाशोन्मुख । प्रबोध की इच्छा वाली न कि प्रबुद्ध । ऐसा होने पर इसका अशुद्धविद्याकला के ध्वंस संस्कार से सङ्गम (= सम्बन्ध) नहीं होगा । प्रबुद्ध होने पर अशुद्धविद्या और कला के ध्वंस संस्कार का भी इसके नश्यदवस्था वाले संस्कार के साथ सङ्गम हो जाता है । इसलिये कहा गया—उसके संस्कार से युक्त । उसके संस्कार से रहित—इससे नश्यत् अवस्था वाले संस्कार से भी रहित = उसके नष्ट संस्कारों वाली । अर्थात् इस समय अशुद्ध विद्या आदि की गन्ध भी सम्भव नहीं है । मान = शुद्धविद्या । मान ही करण अथवा शक्ति के रूप में जगह-जगह व्यवहृत होती है । इसलिये कहा गया—करण शक्ति कही जाती है । स्वातन्त्र्यमात्र सद्भाव वाली, वही पहले कहा गया है—

"इसका (= शिव का) एक ही धर्म सबको व्याप्त करके स्थित है । इसलिये (यह) स्वातन्त्र्यशक्ति से ही युक्त है—यह सरल विधि है ।"

इसीलिये इस शक्ति को 'ऐश्वरी' कहा गया है । 'उसके द्वारा जानता है और करता है'—यह सबका शेष है अर्थात् सकल भी अशुद्ध विद्या और कला रूप शक्ति के द्वारा जानता है और करता है । इसी प्रकार दूसरे (= अकल आदि में भी) जानना चाहिये ।। १२-१७ ।।

प्रसङ्गात् कला आदि शक्तियों के स्वरूप का कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

आ शिवात्सकलान्तं ये मातारः सप्त ते द्विधा ।
न्यग्भूतोद्रिक्तशक्तित्वात्तद्भेदो वेद्यभेदकः ॥ १८ ॥

ननु प्रमातृभेदाद्यदि वेद्यस्यापि भेदो भवेत् तदनेकेषु प्रमातृषु एकमेव नीलं विदितं न स्यादपितु भिन्नभिन्नम्, न चैवमस्ति, नहि तत्तद्देशकालावस्थाप्रमातृभेदेऽपि नीलस्य स्वात्मनि कश्चिद्विशेषः संलक्ष्यते ?—इत्याशङ्कां गर्भीकृत्यैतदेवोपपादयति—

तथाहि वेद्यता नाम भावस्यैव निजं वपुः ।

अनेन चानुजोद्देशोद्दिष्टस्य वस्तुधर्माख्यस्य प्रमेयस्यासूत्रणं कृतम् ॥

नन्वसिद्धेयं प्रतिज्ञा नहि नीलज्ञाने नीलस्य कश्चिद्विशेषः, अपितु प्रमातुः, तस्य पूर्वमज्ञत्वेऽनन्तरं ज्ञत्वोत्पत्तेः, यदपि

'प्रत्यक्षतां परोक्षोऽपि प्रत्यक्षोऽपि परोक्षताम् ।
देशकालादिभेदेन विषयः प्रतिपद्यते ॥'

इत्याद्युक्त्या विषयस्य प्रत्यक्षत्वं परोक्षत्वं वा धर्म उच्यते तदपि

शिव से लेकर सकल पर्यन्त जो सात प्रमाता (= शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल या विज्ञान केवली, प्रलयाकल और सकल) है वे दो प्रकार के हैं । छिपी शक्ति और प्रकट शक्ति होने से उनका भेद वेद्य का भेदक है ॥ १८ ॥

प्रश्न—प्रमाता के भेद से यदि वेद्य (= प्रमेय) का भी भेद होता है तो अनेक प्रमाताओं में एक ही नील (= घट) विदित नहीं होगा बल्कि भिन्न-भिन्न । लेकिन ऐसा नहीं है । तत्तद् देश काल अवस्था और प्रमाता का भेद होने पर भी घट में कोई विशेष नहीं दिखलायी देता । इस शङ्का को अन्दर रख कर उसी को सिद्ध करते हैं—

वेद्यता भाव का ही अपना शरीर है ॥ १९- ॥

इससे अनुजोद्देश में दिष्ट (= उक्त) वस्तुधर्म नामक प्रमेय का प्रारम्भ किया गया ॥

प्रश्न—यह प्रतिज्ञा असिद्ध है । घट ज्ञान में घट का कोई विशेष नहीं होता बल्कि प्रमाता का विशेष होता है क्योंकि पहले उसको (घट का) अज्ञान होने पर बाद में ज्ञान होता है । और जो—

"देश काल आदि के भेद से परोक्ष भी विषय प्रत्यक्षता को और प्रत्यक्ष भी विषय परोक्षता को प्राप्त होता है ।"

इत्यादि उक्ति के अनुसार प्रत्यक्षत्व या परोक्षत्व विषय का धर्म कहा जाता है

प्रमात्रतिशयाभिप्रायमेव?—इत्याशङ्क्यात्रैव हेतुमाचष्टे—

चैत्रेण वेद्यं वेद्मीति किं ह्यत्र प्रतिभासताम् ॥ १९ ॥

नीलं वेद्मीत्यत्र केवलनीलप्रथायां वेद्यताया विषयधर्मत्वं मा विज्ञायि, चैत्रेण वेद्यं नीलं वेद्मीत्यस्यां तु प्रथायां किं नीलमात्रं प्रथते किमुत चैत्रवेद्यताविशिष्टं नीलमिति । तत्राद्ये नीलं वेद्मि चैत्रवेद्यं नीलं वेद्मीत्यनयोः प्रतीत्योरविशेषः स्यात्, न चैवम्, अनुभवविरोधात् । द्वितीये तु चैत्रवेद्यता नीलस्य किं स्वगता विशेषणमुत प्रमातृगता, न तावत्प्रमातृगता व्यधिकरणयोर्भिन्नकक्ष्यत्वेन विशेषण-विशेष्यभावायोगात्, स्वगतत्वे तु सिद्धः प्रतिज्ञार्थो 'वेद्यता भावस्य निजं वपुः' इति ॥ १९ ॥

ननु व्यधिकरणत्वेऽपि ज्ञातोऽर्थ इति तथा प्रतीतेरस्तु विशेषणविशेष्यभावः, चैत्रेण वेद्यं नीलं वेद्मीत्यस्यां हि प्रथायां चैत्रेण ज्ञातमर्थं जानामीत्युक्तं भवेत्, ज्ञानं च प्रमातुरेवातिशयो न प्रमेयस्येत्युक्तप्रायं, तदाह—

ननु चैत्रीयविज्ञानमात्रमत्र प्रकाशते ।
वेद्यताख्यस्तु नो धर्मो भाति भावस्य नीलवत् ॥ २० ॥

वह भी प्रमाता में वर्त्तमान अतिशय के अभिप्राय से ? यह शङ्का कर इस विषय में कारण का कथन करते हैं—

'चैत्र के द्वारा वेद्य का ज्ञान कर रहा हूँ' यहाँ क्या प्रतिभासित होना चाहिये ॥ -१९ ॥

'घट जानता हूँ' यहाँ पर केवल घट का ज्ञान होने में वेद्यता की विषयधर्मता का ज्ञान मत हो किन्तु 'चैत्र के द्वारा वेद्य घट को जानता हूँ' इस ज्ञान में क्या केवल घट ज्ञात होता है अथवा चैत्रवेद्यताविशिष्ट घट ? प्रथम पक्ष में 'घट जानता हूँ' और 'चैत्रवेद्य घट जानता हूँ' इन दोनों प्रतीतियों में कोई अन्तर नही होगा किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि अनुभव का विरोध है (= अनुभव भिन्नाभिन्न है)। दूसरे पक्ष में चैत्रवेद्यता क्या घट का अपना विशेषण है अथवा प्रमाता का ? प्रमाता का हो नहीं सकता क्योंकि विभिन्न अधिकरण वालों का, भिन्न कक्ष्या होने के कारण, विशेषण विशेष्य सम्बन्ध नहीं होता । स्वगत होने में प्रतिज्ञात अर्थ सिद्ध है—कि वेद्यता पदार्थ का अपना शरीर (= स्वरूप) है ॥ १९ ॥

प्रश्न—व्यधिकरण होने पर भी 'विषय ज्ञात है' इस प्रकार की प्रतीति होने से विशेषणविशेष्यभाव रूप सम्बन्ध हो किन्तु 'चैत्र के द्वारा वेद्य घट को जानता हूँ' इस ज्ञान में 'चैत्र के द्वारा ज्ञात अर्थ को जानता हूँ' यह कहा जाना चाहिये था । ज्ञान प्रमाता का ही अतिशय है न कि प्रमेय का—यह प्रायः कहा गया । वह कहते हैं—

प्रश्न है कि यहाँ केवल चैत्र का विज्ञान ही प्रकाशित होता है पदार्थ

अत्रेति नीलादौ विषये ॥ २० ॥

ननु ज्ञानं नाम क्रिया, सा च फलानुमेया, फलं च प्रकटताख्यं विषयधर्मः सैव च वेद्यता?—इति कौमारिलं मतमाशङ्क्य प्रतिक्षिपति—

वेद्यता च स्वभावेन धर्मो भावस्य चेत्ततः ।
सर्वान्प्रत्येव वेद्यः स्याद् घटनीलादिधर्मवत् ॥ २१ ॥

घटनीलादीति भावप्रधानो निर्देशः । एवं हि भावस्य घटत्वं संनिवेशो नीलत्वं रूपम्, आदिग्रहणात्कार्यत्वकारणत्वादीत्येवमादयो धर्मा यथा सर्वान्प्रत्यविशिष्टास्तथा वेद्यताख्यो धर्मो भवेदित्यन्धाद्यभावः प्रसज्येत सर्वे च सर्वज्ञाः स्युः ॥ २१ ॥

ननु नियतप्रमातृबुद्धिजन्यत्वात्कश्चिदेव प्रति वेद्यत्वं स्यात् न सर्वान्प्रति, इति चेन्नैवम्, एवमपि हि यथा कुविन्दजन्यः पटो न तमेव प्रति, सर्वाविशेषात् तथा वेद्यतापि सर्वाविशेषेणैव भवेत्, न तु येन जन्यते तं प्रत्येवेति नियमो युक्तस्तदाह—

अथ वेदकसंवित्तिबलाद्वेद्यत्वधर्मभाक् ।

का वेद्यता नामक धर्म घट की भाँति प्रकाशित नहीं होता ॥ २० ॥

यहाँ = घट आदि विषय में ॥ २० ॥

प्रश्न—ज्ञान क्रिया है और उसका अनुमान फल से होता है । फल प्रकटता नामक विषय का धर्म है और वह (प्रकटता) ही वेद्यता है—इस कुमारिलभट्ट के मत को आशंकित कर समाधान करते हैं—

यदि वेद्यता स्वभावतः पदार्थ का धर्म होती तो पदार्थ सबको वेद्य होता जैसे कि घट नील आदि धर्म (सबको ज्ञात होते हैं)॥ २१ ॥

घट नील आदि, यह भावप्रधान निर्देश है । इस प्रकार घटत्व भाव का सन्निवेश है और नीलत्व रूप है । आदि ग्रहण से जैसे कार्यत्व कारणत्व आदि धर्म सबके प्रति समान हैं उसी प्रकार वेद्यता नामक धर्म भी हो जायगा फिर अन्धे आदि का अभाव होने लगेगा और सब लोग सर्वज्ञ हो जायेंगे ॥ २१ ॥

प्रश्न—निश्चित प्रमाता की बुद्धि से जन्य होने के कारण (घट) किसी एक के प्रति वेद्य होगा न कि सबके प्रति, यदि ऐसा (कहें) तो यह ठीक नहीं । ऐसा होने पर भी जैसे जुलाहे से उत्पन्न पट उसी के लिये (वेद्य) नहीं होता बल्कि सबके प्रति समान रूप से (वेद्य) होता है उसी प्रकार वेद्यता भी सर्वसामान्य रूप से होगी न कि जिसके द्वारा उत्पन्न की जाती है उसी के प्रति ही—यह नियम ठीक है । यह कहते हैं—

भावस्तथापि दोषोऽसौ कुविन्दकृतवस्त्रवत्॥ २२ ॥

दोषोऽसाविति सर्वान्प्रति तथा स्यादिति । अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे वेद्यत्वस्येव वेदकत्वस्यापि तथाभावो भवेत् वेद्यवेदकयोरन्योन्यापेक्षत्वात्, न चैतदस्ति, वेदकस्येव वेद्यस्याचैतन्येन बुद्ध्ययोगात्; अतश्च स्थूलतया द्वित्वादिवदपेक्षाबुद्धिजन्यत्वमनाशङ्क्य भङ्ग्यन्तरेण तत्प्रतिसमाहितम् । यदि च नाम भावस्य नीलत्वादिवद्वेद्यताख्योऽपि धर्मो भवेत् तत्किमसौ वेद्यो न वा? अवेद्यत्वे न किञ्चित्स्यात्, नहि संविदमनारूढं वस्तु वस्तुत्वं लभते—इत्युक्तमन्यत्र बहुशः, अथ वेद्यस्तु तस्यापि नीलत्वादिवद्वेद्यत्वेन भाव्यमन्यथा ह्यविदित एव स्यात्; एवं च तत्राप्यन्यद्वेद्यत्वं तत्राप्यन्यदिति मूलक्षतिकारिणी व्यक्तमनवस्था स्यात्, येन कस्यचिदप्यर्थस्य वेद्यता न घटेतेति मूर्छितप्रायं विश्वं पर्यवस्येत् । तदाह—

वेद्यताख्यस्तु यो धर्मः सोऽवेद्यश्चेत्खपुष्पवत् ।
वेद्यश्चेदस्ति तत्रापि वेद्यतेत्यनवस्थितिः ॥ २३ ॥
ततो न किञ्चिद्वेद्यं स्यान्मूर्छितं तु जगद्भवेत् ।

ननु तत्तन्नियतोपाधिवशाद्यथा ज्ञानस्य तत्तदर्थप्रकाशकं रूपं येन 'इदं

यदि (यह कहें कि) पदार्थ वेदक के ज्ञान के बल से वेद्य होगा तो भी जुलाहे के द्वारा निर्मित वस्त्र की भाँति यह दोष है ही ॥ २२ ॥

यह दोष—सबके प्रति वैसा होगा । प्रश्न—द्वित्व आदि की भाँति यहाँ निश्चित प्रमाता की अपेक्षाबुद्धि से जन्म होने पर वेद्यत्व के समान वेदक भी वैसा हो जाय क्योंकि वेद्य और वेदक परस्परापेक्ष होते हैं ? (उत्तर—) ऐसा नहीं है क्योंकि वेदक के समान वेद्य का जड़ होने के कारण बुद्धि के साथ सम्बन्ध नहीं है । इसलिये स्थूल होने के कारण द्वित्व आदि के समान अपेक्षाबुद्धिजन्यत्व की शङ्का न कर प्रकारान्तर से उसका समाधान किया गया ।

यदि पदार्थ का नीलत्व आदि के समान वेद्यता नामक धर्म भी है तो यह (धर्म) वेद्य है या अवेद्य ? अवेद्य होने पर कुछ भी नहीं होगा क्योंकि ज्ञान को अप्राप्त वस्तु वस्तु नहीं होती—ऐसा अन्यत्र अनेक बार कहा जा चुका है । और यदि वेद्य है तो घटत्व आदि के समान उसका भी वेद्यत्व होना चाहिये अन्यथा अविदित ही रहेगा । फिर वहाँ भी एक दूसरा वेद्यत्व फिर उसमें दूसरा—इस प्रकार मूलक्षयकारिणी अनवस्था स्पष्ट है जिस कारण किसी भी पदार्थ की वेद्यता घटित नहीं होगी और संसार मूर्च्छितप्राय हो जायगा । वह कहते हैं—

जो वेद्यता नामक धर्म है वह यदि अवेद्य है तो आकाशकुसुम के समान है, और यदि वेद्य है तो उसमें भी वेद्यता होने से अनवस्था हो जाती है इसलिये कुछ भी वेद्य नहीं होगा और संसार मूर्च्छित हो जायगा ॥ २३-२४- ॥

नीलज्ञानमिदं पीतज्ञानम्' इति प्रतिकर्म नियमः स्यात्, तथा भावस्यापि प्रतिनियतप्रमात्रुपाध्युपस्कृतमेव रूपमुच्यतां येन संबन्धिनियमः सिद्धयेत् अयं चैत्रस्यैव वेद्योऽयं मैत्रस्य चेति । तदाह—

ननु विज्ञात्रुपाध्यंशोपस्कृतं वपुरुच्यताम् ॥ २४ ॥
भावस्यार्थप्रकाशात्म यथा ज्ञानमिदं त्वसत्।

उपाध्यंशेति विज्ञातृणामानैक्यात्, नचैतद्युक्तम्; एवं हि बाह्यस्यार्थस्य तत्तन्नियतोपाध्युपस्कृतरूपत्वात् ज्ञानवद्भेदः प्रसज्येत, चैत्रवेद्योऽन्योऽन्यश्च मैत्रवेद्योऽर्थ इति । नहि तदेव नीलज्ञानं भूत्वा पीतज्ञानं भवितुमर्हति, न चैतदिष्टं वः, सर्वस्यार्थस्य बहिरेकत्वेनैव सत्त्वाभ्युपगमात् । एवं च किमयमेकप्रमातृवेद्यतोपरक्त उत सर्वप्रमातृवेद्यतोपरक्तः ? तत्रैकप्रमातृवेद्यतोपरक्तत्वेनान्यस्य प्रमातुरसाववेद्यः स्यात्, अनेकप्रमातृवेद्यत्वोपरक्तत्वेऽपि ऐकैकध्येन न कस्यचिदपीति सर्वात्मना मूर्छितमेव जगद्भवेत् ॥ २४ ॥

तदाह—

एकविज्ञातृवेद्यत्वे न ज्ञात्रन्तरवेद्यता ॥ २५ ॥

प्रश्न—जैसे भिन्न-भिन्न नियत उपाधि के कारण अर्थ को प्रकाशित करने वाला ज्ञान का रूप भिन्न-भिन्न होता है जिससे यह नील ज्ञान है यह पीतज्ञान है' इस प्रकार प्रतिकर्म नियम होता है उसी प्रकार पदार्थ का भी निश्चित प्रमातारूप उपाधि से उपस्कृत रूप ही बतलाइये जिससे सम्बन्धी का नियम सिद्ध हो कि 'यह चैत्र का ही वेद्य है और वह मैत्र का' ।

वह कहते हैं—

प्रश्न है कि विज्ञातारूप उपाधि के अंश से उपस्कृत वस्तुस्वरूप को बताइये जिससे पदार्थ का अर्थप्रकाशरूप यह ज्ञान असत् है ॥ -२४-२५- ॥

उपाध्यंश—विज्ञाताओं के अनेक होने से । किन्तु यह ठीक नहीं है । इस प्रकार बाह्य अर्थ के तत्तत् नियत उपाधि से उपस्कृतरूप होने के कारण ज्ञान के समान (विषयवस्तु का भी) भेद होने लगेगा कि चैत्र का वेद्य दूसरा है और मैत्र का वेद्य दूसरा । वही नीलज्ञान होकर पीतज्ञान नहीं हो सकता । और यह (= वस्तुभेद) आपको वाञ्छित नहीं है क्योंकि (आप) सभी पदार्थों की बाहर एक ही सत्ता मानते हैं । इस प्रकार क्या यह एक प्रमाता की वेद्यता से उपरञ्जित है या सब प्रमाता की वेद्यता से उपरञ्जित? एकप्रमाता की वेद्यता से उपरक्त होने से यह अन्य प्रमाता के लिए अवेद्य हो जाएगा और अनेक प्रमाता की वेद्यता से उपरक्त होने पर भी अलग-अलग किसी का भी (वेद्य) नहीं होगा इस प्रकार सब रूप से संसार मूर्च्छित ही हो जायगा ॥ २४ ॥

समस्तज्ञातृवेद्यत्वे नैकविज्ञातृवेद्यता ।

अतो न वेद्यत्वं नाम भावस्य किञ्चित्—इत्याह—

तस्मान्न वेद्यता नाम भावधर्मोऽस्ति कश्चन॥ २६ ॥

ननु यद्येवं तर्हि भावः कथं विदिक्रियाकर्मतामियात् ?—इत्याशङ्क्याह—

भावस्य वेद्यता सैव संविदो यः समुद्भवः ।

नन्वन्या संविदन्यश्चार्थस्तत्कथमन्यस्य समुद्भवेऽन्यस्य वेद्यताख्योऽतिशयः, नहि घटस्योदये पटस्य किञ्चित्स्यात्, संविच्चात्मनामविशिष्टा,—इति तत्समुद्भवः सर्वेषामप्यविशेषेणैव भवेदिति संबन्धिनियमोऽपि न सिद्ध्येत् ?—इत्याशङ्क्याह—

अर्थग्रहणरूपं हि यत्र विज्ञानमात्मनि ॥ २७ ॥
समवैति प्रकाश्योऽर्थस्तं प्रत्येषैव वेद्यता।

इह खलु ज्ञानस्यार्थजन्यत्वादर्थविषयत्वं जनकत्वस्य चक्षुरादिभिरविशेषेऽपि वस्तुस्वाभाव्याद्विषयत्वनियमो येन 'इदं नीलग्रहणमिदं पीतग्रहणम्' इति स्यात्, तच्चैवंविधं दृष्टादृष्टात्मविशिष्टसामग्रीबलात् यत्र प्रत्यगात्मनि अयुतसिद्धतया वर्तते

वह कहते हैं—

एक विज्ञाता से वेद्य होने पर दूसरे विज्ञाता से वेद्य नहीं होगा । समस्त विज्ञाता से वेद्य होने पर एक विज्ञाता से वेद्य नहीं होगा ॥ -२५-२६- ॥

इसलिये पदार्थ की कोई वेद्यता नहीं होती यह कहते हैं—

इसलिये पदार्थ का वेद्यता नामक कोई धर्म नहीं है ॥ -२६ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो पदार्थ विदि क्रिया का कर्म कैसे होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

संविद् का जो उद्‌भव है वही भाव की वेद्यता है ॥ -२७ ॥

प्रश्न—संविद् भिन्न है और पदार्थ उससे भिन्न फिर अन्य की उत्पत्ति में अन्य का वेद्यता नामक अतिशय कैसे होता है ? घट की उत्पत्ति में पट की कोई भूमिका नहीं होती । संवित् आत्माओं में समान है—इसलिये उसकी (= ज्ञान की) उत्पत्ति भी सबको समान रूप से होगी इसलिये सम्बन्धी का नियम भी सिद्ध नहीं होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जिस आत्मा में अर्थग्रहणरूप विज्ञान उत्पन्न होता है उसी को अर्थ प्रकाशित होता है और यही वेद्यता है ॥ -२७-२८- ॥

ज्ञान अर्थ से जन्य होने के कारण अर्थविषय वाला होता है । जनकत्व के, चक्षु आदि में समान होने पर भी वस्तु के स्वभाव के कारण, विषय का नियम है

तमेव प्रति सोऽर्थः प्रकाश्यमानो भवेत्, एषैव चार्थस्य वेद्यतोच्यत इति न कश्चिद्दोषः ॥ २७ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते—

अत्र ब्रूमः पदार्थानां न धर्मो यदि वेद्यता ॥ २८ ॥
अवेद्या एव ते संस्युर्ज्ञाने सत्यपि वर्णिते ।

अर्थग्रहणरूपेऽप्यात्मसमवेते ज्ञाने सति-इत्यर्थः । एवमपि ह्यर्थस्य न किञ्चित्, नहि ज्ञानार्थयोरेकरूपत्वमेकाधिकरणत्वं वा, ग्राह्यग्राहकात्मतयाऽनयोः स्वरूपभेदात्, ज्ञानस्य चार्थग्रहणात्मकत्वेऽपि ज्ञातृसमवेतत्वात्, यदभिप्रायमेव च

'....................परावस्था हि भासनम्' ।

इत्याद्यन्यैरुक्तम् । न चान्यस्यातिशयेऽन्यस्य किञ्चित्स्यात्, अथार्थजन्यत्वात् ज्ञानमर्थस्य प्रकाश इति चेत्?—नैतत्, नहि यो यज्जन्यः स तस्य प्रकाशो भवति वह्नेरिव धूमः स परं तद्गतो लिङ्गं भवेत् । यद्यविनाभावो निश्चीयेत, न चेह तन्निश्चयोऽस्ति विनाप्यर्थं भ्रान्त्यादौ तत्प्रकाशात्मनो ज्ञानस्योदयात्, अतश्च

जिससे 'यह नील ज्ञान है यह पीत ज्ञान है' ऐसा होता है । इस प्रकार का वह (ज्ञान) दृष्टादृष्ट रूप विशिष्ट सामग्री के कारण जिस प्रत्यगात्मा में अयुतसिद्ध रूप से वर्त्तमान रहता है उसी में वह अर्थ प्रकाश्यमान होता है और यही अर्थ की वेद्यता कही जाती है । इसलिये कोई दोष नहीं है ॥ २७ ॥

इसी का प्रतिवाद देते है—

इस विषय में कहते हैं—यदि वेद्यता पदार्थों का धर्म नहीं है तो ज्ञान के वर्णित होने पर भी वे (पदार्थ) अवेद्य ही होंगे ॥ -२८-२९- ॥

अर्थग्रहण रूप भी आत्मसमवेत ज्ञान के होने पर अवेद्य होंगे । ऐसा होने पर भी अर्थ के विषय में कोई अन्तर नहीं है । ज्ञान और अर्थ की न तो एकरूपता है और न एकाधिकरणता क्योंकि ग्राह्य ग्राहक के रूप में इन दोनों के स्वरूप में अन्तर है । ज्ञान अर्थग्रहणात्मक होने पर भी ज्ञाता में समवेत रहता है । इसी अभिप्राय से अन्यलोगों के द्वारा—

" परावस्था ही प्रकाशन है ।"

इत्यादि कहा गया है । अन्य के अतिशय होने में अन्य का कुछ नहीं होता । अर्थ से जन्य होने के कारण ज्ञान अर्थ का प्रकाशक होता है यदि ऐसा कहें ? तो ऐसा नहीं है । ऐसा नहीं है कि जो जिससे जन्य होता है वह उसका प्रकाशक होता है जैसे कि अग्नि से उत्पन्न धूम (= धूम अग्नि से उत्पन्न होता है किन्तु अग्नि का ज्ञापक नहीं होता)। बल्कि यदि अविनाभाव का निश्चय होता हो तो वह उसमें स्थित (उसका) ज्ञापक होता है । किन्तु यहाँ उसका निश्चय नहीं है क्योंकि

युक्तमुक्तम्—'अवेद्या एव पदार्थाः स्युः' इति ॥ २८ ॥

एतदेव दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेण द्रढयति—

यथाहि पृथुबुध्नादिरूपे कुम्भस्य सत्यपि ॥ २९ ॥
अतदात्मा पटो नैति पृथुबुध्नादिरूपताम् ।
तथा सत्यपि विज्ञाने विज्ञातृसमवायिनि ॥ ३० ॥
अवेद्यधर्मका भावाः कथं वेद्यत्वमाप्नुयुः ।

यथा खलु घटस्य पृथुबुध्नोदराकारत्वमस्ति इत्यातानवितानवत्त्वात् अपृथुबुध्नोदराकारः पटस्ताद्रूप्यं न यायात्, तथा ज्ञातृसमवायिन्यर्थप्रकाशात्मकेऽपि ज्ञाने स्वयमप्रकाशरूपा भावा नैव प्रकाशमाना भवेयुः-इति वाक्यार्थः ॥ ३० ॥

एवं न केवलं भवन्मतेऽर्थ एव न प्रकाशते यावन्न किञ्चिदपीति महद्दूषणान्तरमप्यापतेत्—इत्याह—

अनर्थः सुमहांश्चैष दृश्यतां वस्तु यत्स्वयम् ॥ ३१ ॥
प्रकाशात्म न तत्संविच्चाप्रकाशा तदाश्रयः ।
अप्रकाशो मनोदीपचक्षुरादि तथैव तत् ॥ ३२ ॥
किं तत्प्रकाशतां नाम सुप्ते जगति सर्वतः ।

पदार्थ के बिना भी भ्रम आदि की स्थिति में उस (पदार्थ) के प्रकाशरूप ज्ञान का उदय होता है । इसलिये ठीक कहा गया—'पदार्थ अवेद्य ही होते हैं' ॥ २८ ॥

इसी को दृष्टान्तप्रदर्शन के द्वारा पुष्ट करते हैं—

जैसे घट के पृथुबुध्न आदि रूप के रहने पर भी अतदात्मा पट पृथु बुध्न आदि रूपता को नहीं प्राप्त होता । उसी प्रकार विज्ञाता के समवायी विज्ञान के रहने पर भी अवेद्य धर्म वाले भाव कैसे वेद्य होंगे ॥-२९-३१-॥

जैसे कि घट का आकार पृथुबुध्न उदर वाला है तो लम्बाई चौड़ाई वाला होने के कारण अपृथुबुध्न आकार वाला पट तद्रूपता (= घटरूपता) को नहीं प्राप्त होता उसी प्रकार विज्ञाता में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले अर्थप्रकाशात्मक भी ज्ञान में स्वयं अप्रकाशरूप पदार्थ प्रकाशमान नहीं होते—यह वाक्यार्थ है ॥ ३० ॥

इस प्रकार आपके मत में केवल अर्थ ही प्रकाशित नहीं होगा यही बात नहीं है बल्कि कुछ भी (प्रकाशित नहीं होगा) । इस प्रकार एक दूसरा बड़ा दोष भी आ पड़ेगा—यह कहते हैं—

यह महान् अनर्थ देखिये कि वस्तु ही स्वयं प्रकाशरूप नहीं होगी उसका ज्ञान भी अप्रकाश होगा । उसी प्रकार उस (ज्ञान) का आश्रय मन दीप चक्षु आदि भी अप्रकाश हो जायेंगे । संसार के सब ओर से सुप्त हो

इह बाह्यं निमित्तकारणं वस्तु तावदप्रकाशात्मकमिति नास्ति विवादः, एतद्विषयं कार्यं ज्ञानमप्यप्रकाशात्मकमेव विषयप्रकाशकाले तत्प्रकाशस्याप्रकाशनात्। नहि विषयग्रहणकाले तज्ज्ञानस्य ग्रहणमस्ति ज्ञानार्थयोर्युगपदप्रतिभासात् । तदाहुः—

'न वै युगपदाकारद्वितयं प्रतिभासते ।
इदं ज्ञानमयं चार्थ इति भेदानुपग्रहात् ॥' इति ।

तदाश्रयश्च समवायिकारणमात्मा विषयवन्निमित्तकारणतया विवक्षितं सहकारिभूतं मनश्चक्षुराद्यन्तःकरणचक्रमपि अप्रकाशात्मकमेव नित्यपरोक्षत्वात्, दीपश्च निमित्तकारणभूतो यद्यपि भवन्मते परस्येव स्वस्यापि प्रकाशकस्तथाप्यविदित एवासौ तथा न भवेत्, वेद्यत्वमेव च विचारयितुमुपक्रान्तमित्यर्थवदस्यापि वार्तेत्येवमुक्तम् । अतश्चार्थप्रकाशने समग्रैव सामग्रीयमप्रकाशरूपैवेति न किञ्चिदपि प्रकाशेतेति सर्वमिदमन्धं स्यात् । आत्ममनसोश्च पारोक्ष्यात् तत्संयोगोऽपि असमवायिकारणमप्रकाश एवेति गतार्थत्वात् पृथगत्र नोक्तः ॥

ननु प्रदीपस्येव ज्ञानस्यार्थप्रकाशकत्वमेव रूपं तत्कस्येदं चोद्यम् 'अर्थप्रकाशात्मके ज्ञाने सत्यपि नार्थः प्रकाशते' इति, अपर्यनुयोज्यो हि भावानां

जाने पर क्या प्रकाशित होगा ॥ -३१-३३- ॥

बाह्य निमित्तकारण वस्तु प्रकाशात्मक नहीं है इसविषय में कोई विवाद नहीं है। इस विषयक कार्य ज्ञान भी अप्रकाशात्मक ही है क्योंकि विषय के प्रकाशकाल में उसका (= ज्ञान का) प्रकाश प्रकाशित नहीं होता । विषयज्ञान के समय उसके ज्ञान का ज्ञान नहीं होता क्योंकि ज्ञान और विषय एक साथ प्रतिभासित नहीं होते । वही कहते है—

"दो आकार एक साथ भासित नहीं होता । क्योंकि तब यह ज्ञान है और यह इसका विषय है इस प्रकार का भेदज्ञान नहीं होगा ।" उसका आश्रय = समवायी कारण, आत्मा है । विषय के समान निमित्त कारण के रूप में विवक्षित सहकारीभूत मन चक्षु आदि अन्तःकरणसमूह भी अप्रकाशात्मक ही हैं क्योंकि ये नित्य परोक्ष हैं। दीप निमित्त कारण होकर भी यद्यपि आपके मत में पर की भाँति अपना भी प्रकाशक है तो भी अज्ञात होकर वह वैसा (= प्रकाशक) नहीं होता । वेद्यत्व का ही विचार करने के लिये उपक्रम किया गया इसलिये अर्थ के प्रकाशन में यह समस्त सामग्री अप्रकाशरूपा ही होगी । इसलिये कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा और यह सब अन्धा हो जायगा । आत्मा और मन के परोक्ष होने से उसका संयोग (जो कि ज्ञान का) असमवायी कारण है अप्रकाश ही होगा—यह गतार्थ होने के कारण पृथक् नहीं कहा गया ॥

प्रश्न—यदि दीपक के समान अर्थप्रकाशकत्व ही ज्ञान का रूप है तो यह किसका विचार है—'अर्थप्रकाशात्मक ज्ञान के होने पर भी अर्थ प्रकाशित नहीं

स्वभावः । तदाह—

ज्ञानस्यार्थप्रकाशत्वं ननु रूपं प्रदीपवत् ॥ ३३ ॥

इह चैत्रो जीवति इति यथा चैत्रस्यैव जीवनाख्योऽतिशयो न परस्य तथा 'अर्थः प्रकाशते' इत्यर्थस्यैव कश्चिदतिशयो न ज्ञानस्येत्याशयेनैतदेवोपहासपुरःसरं सदसदनेकपक्षोट्टङ्कनक्रमेण समाधत्ते—

अपूर्वमत्र विदितं नरीनृत्यामहे ततः ।
अर्थप्रकाशो ज्ञानस्य यद्रूपं तन्निरूप्यताम् ॥ ३४ ॥
अर्थः प्रकाशश्चेद्रूपमर्थो वा ज्ञानमेव वा ।
अथार्थस्य प्रकाशो यस्तद्रूपमिति भण्यते ॥ ३५ ॥

यन्नामेदमुच्यते ज्ञानस्यार्थप्रकाशो रूपमिति तत्र कोऽर्थ इति विचार्यताम्, किमर्थश्चासौ प्रकाशश्चेति समानाधिकरण्यम्, अथार्थश्च प्रकाशश्चेति समुच्चय आहोस्विदर्थस्य प्रकाश इति संम्बन्धमात्रम् ॥ ३५ ॥

तत्र संभवमात्रेणाशंकितमंप्याद्यं पक्षद्वयं परस्यानभिप्रेतमित्यप्रतिक्षिप्य तृतीयमेव पक्षं प्रतिक्षेप्तुं विभजति—

होता ।' क्योंकि पदार्थों का स्वभाव पर्यनुयोग्य (= आक्षेप्य) नहीं होता । वह कहते हैं—

प्रश्न है कि प्रदीप के समान ज्ञान का स्वरूप अर्थप्रकाशत्व है ॥ -३३ ॥

'चैत्र जीवित है' यहाँ जैसे जीवन नामक अतिशय चैत्र का ही है दूसरे का नहीं उसी प्रकार 'अर्थ प्रकाशित होता है' यहाँ प्रकाश अर्थ का ही कोई अतिशय होता है ज्ञान का नहीं । इस आशय से इसी को उपहास के साथ सत् असत् अनेक पक्ष को रखकर समाधान करते हैं—

यहाँ (हमको) अद्भुत ज्ञान हुआ इसलिये हम लोग नाँच रहे हैं । अर्थप्रकाश जो ज्ञान का रूप है उसका निरूपण कीजिये । क्या अर्थ और प्रकाश दोनों रूप हैं या अर्थ या प्रकाश (पृथक्-पृथक्) रूप हैं । अथवा अर्थ का जो प्रकाश वही रूप कहा जाता है ॥ -३४-३५ ॥

जो यह कहा जाता है कि अर्थप्रकाश ज्ञान का रूप है तो इसका क्या अर्थ है?—यह विचार कीजिये । क्या 'अर्थश्च असौ प्रकाशः'—इस प्रकार का सामानाधिकरण्य (कर्मधारय) है अथवा अर्थश्च प्रकाशश्च इस प्रकार का समुच्चय (द्वन्द्व) है अथवा अर्थस्य प्रकाशः यह सम्बन्ध मात्र है ॥ ३५ ॥

इन (तीनो पक्षों) में से सम्भावना मात्र से आशंकित भी प्रथम दो पक्षों को, दूसरे को इष्ट नहीं है इसलिये, उनका प्रतिक्षेप न कर तीसरे पक्ष को ही आक्षिप्त

षष्ठी कर्तरि चेदुक्तो दोषः एव दुरुद्धरः ।
अथ कर्मणि षष्ठ्येषा ण्यर्थस्तत्र हृदि स्थितः ॥ ३६ ॥

यदि नामार्थस्य प्रकाशनक्रियायां कर्तृत्वं तत्कथं ज्ञानस्यैवमतिशयः, नह्यन्यस्यातिशयेऽन्यस्य किञ्चिदित्युक्तं बहुशः । तत् 'यथा हि पृथुबुध्नादिरूपे कुम्भस्य सत्यपि' (१०।२९श्लो०) इत्यादिनोक्तः परस्य पररूपोपग्रहात्मा दुरुद्धरो दोषः प्रसज्येत । अथ प्रकाशनक्रियायामर्थस्य कर्मत्वं तर्ह्यणावकर्मकस्य णौ कर्मोत्पत्तेः 'ज्ञानमर्थं प्रकाशयति' इति सिद्धः प्रेषणाध्येषणादिविलक्षणस्तत्समर्थाचरणलक्षणः प्रयोज्यप्रयोजकव्यापारभावः ॥ ३६ ॥

एवं च प्रयोजकव्यापारस्य प्रयोज्यव्यापारनिष्ठत्वात् प्रकाशमान एवार्थो ज्ञानेन प्रकाशते इति, तच्च न युक्तं स्वयं प्रकाशमानस्यार्थस्य प्रयोजकव्यापारानपेक्षणे ज्ञानोपयोगवैयर्थ्यात् । अथाप्रकाशमान एवार्थः खपुष्पादिवैलक्षण्येन योग्यतया प्रकाशमान इति सव्यापार इति प्रयोज्य इति चोच्यते तदप्ययुक्तमेव, स्वयमप्रकाशमानस्याश्वेतप्रासादस्याश्वेतनवत्परोपयोगेऽपि प्रकाशनासामर्थ्यात् । योग्यता च प्रकाशाप्रकाशरूपतया निरूप्यमाणा पुनरप्यसामर्थ्यवैयर्थ्ये नातिक्रामतीत्यर्थस्य

करने के लिये विभाजन करते हैं—

यदि कर्त्ता में षष्ठी है तो दोष का निवारण कठिन है । और यदि कर्म में षष्ठी है तो वहाँ ण्यर्थ अन्तर्भूत है ॥ ३६ ॥

यदि प्रकाशन क्रिया में अर्थ कर्त्ता है तो यह अतिशय ज्ञान का कैसे होगा क्योंकि अन्य के अतिशय में अन्य कुछ नहीं होता-यह अनेक बार कहा जा चुका है । तो 'जैसे घट के पृथुबुध्न आदि रूप होने पर भी' इत्यादि के द्वारा उक्त पर का पररूप के ग्रहणस्वरूप दुर्निवार्य दोष आ पड़ेगा । यदि प्रकाशनक्रिया में अर्थ कर्म है तो अण्यन्तावस्था में अकर्मक के ण्यन्तावस्था में कर्म हो जाने से 'ज्ञान अर्थ का प्रकाशन करता है' इस प्रकार का प्रेषण अध्येषण आदि से विलक्षण उसके समर्थ आचरण के लक्षणवाला प्रयोज्यप्रयोजकव्यापार रूप सम्बन्ध सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

इस प्रकार प्रयोज्य के व्यापार में प्रयोजकव्यापार के रहने से प्रकाशमान ही अर्थ ज्ञान के द्वारा प्रकाशित होता है, यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वयं प्रकाशमान अर्थ के प्रयोजकव्यापार की अपेक्षा न रखने पर, ज्ञान का उपयोग व्यर्थ हो जायगा । यदि यह कहा जाय कि अप्रकाशमान ही अर्थ खपुष्प आदि से विलक्षण होने के कारण योग्यता के द्वारा प्रकाशमान होता है इसलिये सव्यापार या प्रयोज्य कहा जाता है, तो यह (कथन) भी अनुचित है क्योंकि अश्वेत प्रासाद को श्वेत बनाने की भाँति परोपयोग होने पर भी स्वयं अप्रकाशमान का प्रकाशनसामर्थ्य नहीं रहता । और योग्यता प्रकाश और अप्रकाशरूप से निरूप्यमाण होती हुई पुनः असामर्थ्य के व्यर्थ होने पर अतिक्रमण नहीं करती, इस प्रकार अर्थ का प्रकाश

प्रकाशो ज्ञानस्य रूपमित्येतदसमीचीनम् । तदाह—

तथा चेदं दर्शयामः किं प्रकाशः प्रकाशते ।
अप्रकाशोऽपि नैवासौ तथापि च न किञ्चन ॥ ३७ ॥

तत्र प्रकाशः किं प्रकाशते वैयर्थ्यान्न प्रकाशते—इत्यर्थः, अप्रकाशोऽप्यसावसामर्थ्यान्नैव प्रकाशते—इति संबन्धः । एवं सति प्रकाश्यो बाह्योऽर्थः प्रकाशकं च ज्ञानं न किञ्चित्स्यादित्युक्तम्—'तथापि च न किञ्चन' इति ॥ ३७ ॥

ननु यद्येवं तत्कथं लोकेऽपि देवदत्तश्चैत्रं ग्रामं नयतीत्यादौ प्रसिद्धः प्रयोज्यप्रयोजकभावो घटते ?—इत्याह—

तर्हि लोके कथं ण्यर्थः

गच्छत्यगच्छति वा प्रयोज्ये प्रयोजकव्यापारेण न किञ्चिद्भवेदिति भावः ॥

अत्रैवोत्तरयति—

...............उच्यते चेतनस्थितौ ।
मुख्यो ण्यर्थस्य विषयो जडेषु त्वौपचारिकः ॥ ३८ ॥

इह प्रेर्यप्रेरकोभयाभिप्रायपरमार्थस्तावत् ण्यर्थः, तत्र प्रेर्यस्य स्वातन्त्र्येण प्रवृत्त-

---

ज्ञान का रूप है यह (कथन) अनुचित है । वह कहते हैं—

तो (हम) यह दिखला रहे हैं कि क्या प्रकाश प्रकाशित होता है? यह अप्रकाश भी नहीं । इस प्रकार कुछ नहीं होगा ॥ ३७ ॥

क्या प्रकाश प्रकाशित होता है? व्यर्थ होने से नहीं प्रकाशित होता—यह अर्थ है । अप्रकाश भी यह, सामर्थ्य न होने के कारण प्रकाशित नहीं होता—यह सम्बन्ध है । ऐसा होने पर प्रकाश्य बाह्य और प्रकाशक ज्ञान कुछ भी नहीं होगा—यह कहा गया—'तो भी कुछ नहीं होगा' ॥ ३७ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो लोक में भी 'देवदत्त चैत्र को गाँव ले जा रहा है' इत्यादि में प्रसिद्ध प्रयोज्यप्रयोजक रूप सम्बन्ध कैसे घटित होता है ? यह कहते हैं—

तो लोक में ण्यर्थ कैसे होता है ? ॥ ३८- ॥

प्रयोज्य के जाने या न जाने में प्रयोजकव्यापार का कोई काम नहीं है—यह भाव है ।

इसी का उत्तर देते हैं—

कहते हैं—चेतन की स्थिति में ण्यर्थ का विषय मुख्य होता है किन्तु जड़ के विषय में (यह) औपचारिक है ॥ -३८ ॥

क्रियत्वेऽपि पारतन्त्र्यपरामर्शलक्षणः, प्रेरकस्य च स्वतन्त्रेऽपि प्रेर्ये समधिगत-तत्पारतन्त्र्यस्य स्वात्मनि अपेक्षणीयतापरामर्शलक्षणोऽभिप्रायः, येनोभयाभिप्राय-मेलनारूपः प्रयोज्यप्रयोजकभावात्मा मुख्यः संबन्धः समुल्लसति । यत्र पुनः प्रयोज्यस्य प्रयोजकस्योभयस्य वा जडत्वादनुसन्धिप्राणितोऽभिप्रायो न संभवति तत्रासौ नास्त्येव, लक्षणया तु तत्र तत्र तथा व्यवहर्तव्यो यथा—शरं गमयति कारीषोऽध्यापयति वायुरद्रिं पातयतीति ॥ ३८ ॥

तदाह—

तथाहि गन्तुं शक्तोऽपि चैत्रोऽन्यायत्ततां गतेः ।
मन्वान एवं वक्त्यस्मि गमितः स्वामिनेति हि ॥ ३९ ॥
स्वाम्यप्यस्य गतौ शक्तिं बुद्ध्वा स्वाधीनतां स्फुटम् ।
पश्यन्निवृत्तिमाशंक्य गमयामीति भाषते ॥ ४० ॥
प्रेर्यप्रेरकयोरेवं मौलिकी ण्यर्थसङ्गतिः ।
तदभिप्रायतोऽन्योऽपि लोके व्यवहरेत्तथा ॥ ४१ ॥
शरं गमयतीत्यत्र पुनर्वेगाख्यसंस्क्रियाम् ।

ण्यर्थ प्रेर्य और प्रेरक दोनों के अभिप्राय रूप परम अर्थ वाला होता है । उसमें प्रेर्य का स्वातन्त्र्यपूर्वक प्रवृत्त क्रिया वाला होने पर भी, पारतन्त्र्यपरामर्शलक्षण वाला (अभिप्राय) है और प्रेरक का प्रेर्य के स्वतन्त्र होने पर भी उसके पारतन्त्र्य का ज्ञान रखने वाले का, अपने विषय में अपेक्षणीयतापरामर्शलक्षण वाला अभिप्राय है जिससे उभयाभिप्रायमेलनारूप प्रयोज्यप्रयोजकसम्बन्ध वाला मुख्य सम्बन्ध प्रकट होता है । जहाँ प्रयोज्य अथवा प्रयोजक अथवा दोनों का जड़ होने के कारण अनुसन्धिप्राणित अभिप्राय सम्भव नहीं होता वहाँ यह (= सम्बन्ध) नहीं ही होता । लक्षणा के द्वारा ही स्थान-स्थान पर व्यवहार कर लेना चाहिये । जैसे—१. बाण को भेजता है, २. कारीष (= शुष्क गोबर का समूह) पढ़ाता है, ३. वायु पर्वत को गिराता है (प्रथम उदाहरण में प्रयोज्य जड् है, द्वितीय उदाहरण में प्रयोजक जड़ है और तृतीय में प्रयोज्य प्रयोजक दोनों जड़ हैं । इनमें लक्षणा के द्वारा अभिप्राय की कल्पना की जाती है)॥ ३८ ॥

वह कहते हैं—

जाने में समर्थ भी चैत्र गमन की अन्याधीनता को मानते हुये कहता है कि स्वामी के द्वारा भेजा गया हूँ । स्वामी भी गमन के विषय में अपनी शक्ति को जानकर स्वाधीनता को स्पष्ट देखता हुआ निवृत्ति की आशङ्का कर 'भेज रहा हूँ' ऐसा कहता है । प्रेर्य और प्रेरक की इस प्रकार की ण्यर्थ की सङ्गति मौलिक है । उस अभिप्राय से लोक में दूसरा भी वैसा व्यवहार करता है । 'बाण को भेजता है ।' यहाँ पर वेग नामक संस्कार को

विदधत्प्रेरकम्मन्य उपचारेण जायते ॥ ४२ ॥
वायुरद्रिं पातयतीत्यत्र द्वावपि तौ जडौ ।
द्रष्टृभिः प्रेरकप्रेर्यवपुषा परिकल्पितौ ॥ ४३ ॥

प्रेर्यप्रेरकयोरिति शरं गमयतीति, वायुरद्रिं पातयतीति च । निवृत्तिमाशङ्क्येति, गन्तुं शक्तत्वेऽपि औदासीन्यादिना कदाचिन्न गच्छेत्—इत्यर्थः । अतश्च गच्छत्यपि प्रयोज्ये प्रयोजकव्यापारेणावश्यभाव्यम्—इति भावः । एवमिति, प्रयोज्यप्रयोजकयोरभिप्रायमेलनया—इत्यर्थः । तदभिप्रायत इति मुख्यण्यर्थरूपतामनुसन्धाय—इत्यर्थः । अन्योऽपि लोक इति, प्रयोज्यप्रयोजकाभ्यामपरस्तटस्थोऽपीति यावत् । तथेति प्रयोज्यप्रयोजकभावेन, वेगाख्यसंस्क्रियां विदधदिति, आकर्षणमोक्षणादाविच्छाप्रयत्नादिमान् धानुष्कः । आकृष्टधनुषो हि तस्य शरमुमुक्षानन्तरप्रयत्नापेक्षात्मांगुलिसंयोगजमंगुलिकर्म, तस्माज्ज्यांगुलिविभागः, ततः संयोगविनाशे धनुःस्थस्थितस्थापकलक्षणसंस्कारापेक्षात् धनुर्ज्यासंयोगात् ज्यायां कर्म उत्पद्यते, तेन स्वकारणापेक्षं ज्यायां वेगाख्यं संस्कारमादत्ते, तमपेक्षमाणः शरज्यासंयोगे नोदनं भवति तस्मादिषावाद्यं गत्यात्मकं कर्म तन्नोदनापेक्षमिषौ वेगाख्यमेव संस्कारमारभते यस्मादापतनादिषोरुत्तरोत्तरकर्मारम्भः । प्रेरकं मन्यते इति स्वयम् ।

बनाने वाला मनुष्य लक्षणा से (अपने को) प्रेरक मानता है । 'वायु पर्वत को गिराता है' यहाँ दोनों ही जड़ हैं (किन्तु) द्रष्टा के द्वारा (वायु और पर्वत दोनों ही) प्रेरकप्रेर्यरूप से परिकल्पित हैं ॥ ३९-४३ ॥

प्रेर्य और प्रेरक का—'बाण को भेजता है' 'वायु पर्वत को गिराता है' । निवृति की आशङ्का कर—जाने में समर्थ होने पर भी औदासीन्य आदि के कारण कभी नहीं भी जाता—यह अर्थ है । इसलिये जानेवाले भी प्रयोज्य के विषय में प्रयोजक का व्यापार अवश्य होता है । इस प्रकार = प्रयोजक और प्रयोज्य के व्यापार को मिलाने से । उस अभिप्राय से = मुख्य ण्यर्थरूपता का अनुसन्धान करके । लोक में अन्य (व्यक्ति) भी = प्रयोज्य प्रयोजक के अतिरिक्त तटस्थ दूसरा (व्यक्ति) भी । उस प्रकार = प्रयोज्यप्रयोजक भाव से, वेग नामक संस्कार को बनाता हुआ खींचने छोड़ने आदि के विषय में इच्छा प्रयत्न आदि वाला धनुर्धर । धनुष को खींचे हुये उसका बाण छोड़ने की इच्छा के बाद प्रयत्न की अपेक्षा वाला अंगुलिसंयोग से उत्पन्न अंगुलि कर्म, उससे डोरी और अंगुली का विभाग, उसके बाद संयोग का नाश होने पर धनुष में रहने वाले स्थितिस्थापकलक्षण संस्कार की अपेक्षा वाले धनुष और डोरी के संयोग से डोरी में कर्म उत्पन्न होता है । उसके द्वारा डोरी में स्वकारणापेक्ष वेग नामक संस्कार का आधान होता है । उसकी अपेक्षा रखकर बाण और डोरी का संयोग होने पर नोदन (= प्रेरणा) होता है । उसके कारण बाण में पहला गत्यात्मक कर्म उस नोदन की अपेक्षा रखकर बाण में वेग नामक संस्कार का प्रारम्भ करता है जिस कारण पतनपर्यन्त बाण का उत्तरोत्तर

एतदेवात्रोपचारबीजं, प्रेरकम्मन्यत्वादेव हि असावुपचाराल्लोकेन प्रेरक उच्यते । वस्तुतो हि प्रेर्यप्रेरकयोः परस्परापेक्षं रूपं तत् । यत्र प्रेर्यस्य जडत्वात्पारतन्त्र्यानुसन्धानात्मकं प्रेर्यत्वमेव नास्ति, तत्रानुसन्धिभाजोऽपि प्रेरकस्य तदपेक्षं मुख्यं प्रेरकत्वं कथं स्यात्, अतः प्रेरकम्मन्यत्वात्तस्य प्रेरकत्वमुपचाराल्लोके व्यवहरेत्—इत्युक्तम्—'उपचारेण जायते' इति । कारीषोऽध्यापयतीत्यादौ प्रेरकस्य जाड्यान्मुख्यप्रेर्यत्वासंभवेऽपि प्रेर्यम्मन्यतानिमित्तादुपचारादध्येतुः प्रेर्यताव्यवहारः । परिकल्पितावित्युपचरिताविति यावत् । तत्र च बीजं वायुप्रभवमवयवविभागजनकं कर्म ॥ ४३ ॥

एतदेवोपसंहरति—

इत्थं जडेन संबन्धे न मुख्या ण्यर्थसङ्गतिः ।
आस्तामन्यत्र विततमेतद्विस्तरतो मया ॥ ४४ ॥

संबन्ध इति अजडस्य जडान्तरस्य वा । एवमपि तत्समर्थाचरणलक्षणे ण्यर्थे किं प्रवृत्तक्रियाविषयत्वमाहोस्विदप्रवृत्तक्रियाविषयत्वमित्यादि बहु वक्तव्यमिति नेह वितानितमित्याह—आस्तामित्यादि । अन्यत्रेति—प्रकीर्णकविवरणादौ ॥ ४४ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति—

कर्म प्रारब्ध रहता है । प्रेरक मानने वाला होने के कारण ही यह लक्षणा के कारण लोक के द्वारा प्रेरक कहा जाता है । वस्तुतः वह प्रेर्य और प्रेरक का परस्परापेक्ष रूप है । जहाँ प्रेर्य के जड़ होने से पारतन्त्र्यानुसन्धान रूप प्रेर्यत्व ही नहीं है वहाँ अनुसन्धि वाले भी प्रेरक का उसकी अपेक्षा रखने वाला मुख्य प्रेरकत्व कैसे होगा । इसलिये प्रेरकमन्य होने के कारण उसका प्रेरकत्व लोक में लक्षणा के द्वारा व्यवहृत होता है । इसलिये यह कहा गया—'उपचार से उत्पन्न होता है ।' 'कारीष पढ़ाता है' इत्यादि में प्रेरक के जड़ होने से मुख्य प्रेर्यत्व असम्भव होने के कारण प्रेर्यमन्यतानिमित्त वाले उपचार के कारण अध्येता को प्रेर्य कहा जाता है । परिकल्पित = उपचारित । और उसमें कारण है—वायु से उत्पन्न अवयवविभागजनक कर्म ॥ ४३ ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार जड़ से सम्बन्ध होने पर मुख्य ण्यर्थ की सङ्गति नहीं है । इतना (कथन) बहुत है । क्योंकि अन्यत्र मैंने विस्तार के साथ वर्णन किया है ॥ ४४ ॥

सम्बन्ध—अजड़ का अथवा दूसरे जड़ का । ऐसा होने पर भी उसके समर्थ आचारण के लक्षण वाले ण्यर्थ में क्या प्रवृत्तक्रियाविषयता है या अप्रवृत्तक्रिया विषयता इत्यादि बहुत कथनीय है इसलिये यहाँ विस्तार नहीं किया गया—यह कहते हैं—बस । अन्यत्र = प्रकीर्णकविवरण आदि में की जाएगी ॥ ४४ ॥

अर्थे प्रकाशना सेयमुपचारस्ततो भवेत् ।

'ततः' इति, समनन्तरोक्ताज्जडेनाजडस्य जडान्तरस्य वा संबन्धे ण्यर्थस्य मुख्यत्वाभावात् हेतोः । 'उपचारः' इति यथा जाड्यादद्रेर्वायोश्च पात्यपातयितृत्वे प्रयोज्यप्रयोजकभावो न मुख्यः, तथा ज्ञानमर्थं प्रकाशयतीत्यत्र ज्ञानार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभावेऽपीति । नैयायिकानां हि ज्ञानमपि अचेतनमेवापद्यते ज्ञेयत्वादर्थवत्, तद्योगात् पुनरात्मा चेतनः । यदाहुः

'स चेतनश्चिता योगात्.................... ।' इति ।

एतच्चादूर एव व्यक्तीभविष्यति—इति नेहायस्तम् । एतदभ्युपगमे च यथा प्रयोज्यस्याद्रेः स्वव्यापारैः पतनं तात्त्विकसिद्धमेवमिह प्रयोज्यस्यार्थस्य प्रकाशनमभ्युपगन्तव्यम् ।

तदाह—

अस्तु चेद्भासते तर्हि स एव पतदद्रिवत् ॥ ४५ ॥

एतच्चाभ्युपगम्य सोपचारमुक्तम्, वस्तुतस्तु सोऽपीह न संभवति निमित्ताभावात्, नहि निर्निमित्तमुपचरणं न्याय्यम्—इत्याह—

इसी को प्रस्तुत में जोड़ते हैं—

इस कारण अर्थ के विषय में वह यह प्रकाशना उपचार है ॥ ४५- ॥

इस कारण = पहले कहे गये जड़ से अजड़ का या जड़ान्तर का सम्बन्ध होने पर ण्यर्थ के मुख्य न होने के कारण । उपचार = जैसे जाड्य के कारण पर्वत और वायु के पात्यपातयितृत्व में प्रयोज्यप्रयोजक सम्बन्ध मुख्य नहीं है उसी प्रकार 'ज्ञान विषय (= अर्थ) को प्रकाशित करता है'—यहाँ अर्थ और ज्ञान के प्रकाश्यप्रकाशक सम्बन्ध में भी सम्बन्ध मुख्य नहीं है । नैयायिकों के मत में ज्ञान भी अचेतन ही माना जाता है क्योंकि वह भी विषय के समान ज्ञेय है । उससे सम्बन्ध होने के कारण आत्मा चेतन है । जैसा कि कहते हैं—

"चैतन्य से सम्बन्ध होने के कारण वह (= आत्मा) चेतन है ।"

यह जल्दी ही स्पष्ट हो जायगा इसलिये यहाँ प्रयास नहीं किया गया । यह मानने पर जैसे प्रयोज्य पर्वत का अपना व्यापार पतन तात्त्विक सिद्ध होता है उसी प्रकार यहाँ प्रयोज्य अर्थ का प्रकाशन भी समझना चाहिये ॥

वह कहते हैं—

यदि ऐसा है तो वह गिरते हुये पर्वत की भाँति भासित होता है ॥ -४५ ॥

यही बात मानकर 'सोपचारम्' कहा गया । वस्तुतः तो वह (= उपचार) भी

उपचारे निमित्तेन केनापि किल भूयते ।

केनापीति यत्र यथा विवक्षितेन ॥

एतदेव दर्शयति—

वायुः पातयतीत्यत्र निमित्तं तत्कृता क्रिया ॥ ४६ ॥
गिरौ येनैष संयोगनाशाद् भ्रंशं प्रपद्यते ।
इह तु ज्ञानमर्थस्य न किञ्चित्करमेव तत् ॥ ४७ ॥
उपचारः कथं नाम भवेत्सोऽपि ह्यवस्तु सन् ।

तत्कृतेति वेगवद्द्रव्यात्मवायुसंयोगजनिता-इत्यर्थः । क्रियेति अवयवविभाग-जनकं कर्मेति यावत् । संयोगाद्धि कर्म, तस्मादवयवविभागस्ततः संयोगनाश-स्ततः पतनम्, अतश्चात्र सनिमित्तकत्वात्पतनस्य तात्त्विकत्वम् । इह पुनः

'अर्थातिशयपक्षे च सर्वसर्वज्ञता भवेत् ।'

इत्याद्युक्तयुक्त्या ज्ञानेनार्थस्य न किञ्चित्क्रियते, इति निमित्ताभावादुपचारः कथङ्कारं न तिष्ठेत्तज्ज्ञानोदयेऽपि कथमर्थः प्रकाशते, इति स्यात् । यद्वा निर्निमित्तमप्युपचारोऽस्तु किमनेन सेत्स्यति ?—इत्याह—'भवेत्सोऽपि ह्यवस्तु

उपचार में कोई न कोई कारण निश्चितरूप से होता है ॥ ४६- ॥

किसी न किसी (कारण हो होना चाहिए) = जहाँ जैसा विवक्षित हो ॥

इसी को दिखला रहे हैं—

'वायु गिराता है' यहाँ उसके द्वारा की गई क्रिया निमित्त है जिसके कारण पर्वत में संयोग का नाश होने पर यह (= पर्वत) पतन को प्राप्त होता है । यहाँ ज्ञान अर्थ के लिये कुछ नहीं करता तो उपचार कैसे होगा ? (अन्यथा) वह (= अर्थ) भी अवस्तु हो जायगी ॥ -४६-४८- ॥

उसके द्वारा की गई = वेगवत् द्रव्यवायुसंयोग से जनित । क्रिया = अवयवविभागजनक कर्म । संयोग से कर्म होता है, उससे अवयवविभाग, उससे संयोगनाश ओर उससे पतन । इसलिये यहाँ सनिमित्तक होने के कारण पतन तात्त्विक है । और यहाँ—

"अर्थातिशय (= अर्थ में अतिशय मानने वाले) पक्ष में सब लोग सर्वज्ञ हो जायेंगे ।"

इत्यादि उक्ति के अनुसार ज्ञान अर्थ के विषय में कुछ नहीं करता । इसलिये निमित्त न होने के कारण उपचार कैसे नहीं होगा । ज्ञान का उदय होने पर भी यहाँ सम्भव नहीं है । क्योंकि निमित्त नहीं है । बिना कारण के उपचार उचित नहीं होता—यह कहते हैं—

सन्' इति । नहि उपचारे विषयस्य विषयिणा ताद्रूप्यं वस्तुतो घटते येनाप्रकाशोऽप्यर्थः प्रकाशत्वोपचारात् तथाभावमियात्, नह्यग्न्युपचारान्माणवकोऽग्निरेव भवेत् येन दाहादिलक्षणां तदर्थक्रियामपि कुर्यात् ॥

तदाह—

अप्रकाशित एवार्थः प्रकाशत्वोपचारतः ॥ ४८ ॥
तादृगेव शिशुः किं हि दहत्यग्न्युपचारतः ।

अप्रकाशित इति—असञ्जातप्रकाशताख्यधर्मक इति यावत् । तादृगित्यप्रच्युतप्राच्यरूपोऽप्रकाशित एव—इत्यर्थः ॥

ननूपचारः सर्वात्मना चेदवस्तुसंस्तत्कथं माणवकोऽग्निः इत्यादिस्तद्व्यवहारः सर्वत्रैवाविगानेन प्रसिद्धः, अथ तत्रोपचर्यमाणसहचारितैक्ष्ण्यादिगुणसदृशगुणयोगो नाम वास्तवमस्ति निमित्तं यद्वशादेवमादिरुपचारः समुल्लसेत्—इति चेत् ? नैतत्, एवमपि ह्यत्र किं वास्तवं निमित्तं येनार्थस्य प्रकाशत्वमुपचरेम, तस्मादपारमार्थिक एवात्रोपचारः—इत्याह—

शिशौ वह्न्युपचारे यद् बीजं तैक्ष्ण्यादि तच्च सत् ॥ ४९ ॥

विषय कैसे प्रकाशित नहीं होगा । अथवा बिना कारण के भी उपचार हो इससे क्या सिद्ध होगा—यह कहते हैं—वह भी अवस्तु हो जायगी । उपचार होनेपर विषय की विषयी के साथ तद्रूपता वस्तुतः नहीं घटित होती जिससे अप्रकाशित भी विषय प्रकाशत्व के उपचार के कारण उस प्रकार का (= प्रकाशित) हो जायगा । अग्नि के उपचार से विद्यार्थी अग्नि नहीं हो जाता जिससे दाह आदि लक्षण वाली तदर्थ क्रिया को करे ॥

वह कहते हैं—

प्रकाशत्व का उपचार होने पर भी अर्थ अप्रकाशित ही रहता है । क्या उस प्रकार का शिशु अग्नि के उपचार से दहन करता है ॥ -४८-४९- ॥

अप्रकाशित = जिसमें प्रकाशता नामक धर्म उत्पन्न नहीं हुआ है वह । उस प्रकार का = अविनष्ट पूर्व रूपवाला अर्थात् अप्रकाशित ॥

प्रश्न—यदि उपचार सर्वात्मना अवस्तु है तो 'माणवक (= विद्यार्थी) अग्नि है'—इत्यादि व्यवहार सर्वत्र एकमत से कैसे प्रसिद्ध है ? यदि (यह कहा जाय) कि वहाँ उपचर्यमाण सहचारी (अग्नि) की तीक्ष्णता आदि गुण के सदृश गुण का (= माणवक से) योग वास्तविक निमित्त है जिसके कारण इस प्रकार का उपचार होता है ? तो ऐसा नहीं है । ऐसा होने पर भी यहाँ वास्तविक निमित्त क्या है जिससे (हम) अर्थ की प्रकाशता का उंपचार करें । इसलिये यहाँ उपचार पारमार्थिक नहीं है—यह कहते हैं—

प्रकाशत्वोपचारे तु किं बीजं यत्र सत्यता ।

सदिति, वह्निगततैक्ष्ण्यादिसदृशस्य तैक्ष्ण्यादेः शिशौ वास्तवत्वात् । किं बीजम् ? इति, न किञ्चित्—इत्यर्थः ॥

ननु किमनया सदसन्निमित्तादिपर्येषणया यावता हि जानान एव विषयविषयिणोर्विविक्तं स्वरूपं प्रयोजनपरतया चेतनः पुरुष एवैवं व्यवहरति 'माणवकोऽग्निः' इति, तथैव तत्तद्व्यवहरणयोग्यताख्यं प्रयोजनमुद्दिश्याप्रकाशरूपेऽप्यर्थे प्रकाशोऽयमर्थ इति व्यवहरेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

सिद्धे हि चेतने युक्त उपचारः स हि स्फुटम् ॥ ५० ॥
अध्यारोपात्मकः सोऽपि प्रतिसन्धानजीवितः ।
न चाद्यापि किमप्यस्ति चेतनं ज्ञानमप्यदः ॥ ५१ ॥
अप्रकाशं तदन्येन तत्प्रकाशेऽप्ययं विधिः ।

सोऽपीत्यध्यारोपः । भवन्मते च प्रतिसन्धाता कश्चिन्नास्ति स हि चेतनो वा स्यात् आत्मा, चैतन्यं वा ज्ञानं, न तावदद्यापि चेतन आत्मा सिद्धः, तस्य स्वतोऽचेतनस्य ज्ञानयोगे तथात्वोपगमात्, ज्ञानयोगश्च समवायेन यथात्मनस्तथा

शिशु के विषय में अग्नि की लक्षणा करने में जो तीक्ष्णता आदि बीज है वह सत् है किन्तु प्रकाशत्व के उपचार में क्या बीज है जिसमें सत्यता है ? ॥ -४९-५०- ॥

सत्—वह्नि में वर्त्तमान तीक्ष्णता आदि के समान तीक्ष्णता आदि के शिशु में वास्तविक होने से । क्या बीज है ?—अर्थात् कोई बीज नहीं है ॥

प्रश्न—इस सत् असत् निमित्त आदि की अन्वेषणा से क्या लाभ क्योंकि विषय और विषयी के अलग-अलग स्वरूप को जानने वाला ही चेतन पुरुष प्रयोजनवश 'माणवक अग्नि हैं'—ऐसा व्यवहार करता है । उसी प्रकार तत्तद् व्यवहार की योग्यता नामक प्रयोजन को उद्दिष्ट कर अप्रकाश रूप अर्थ के विषय में भी 'यह अर्थ प्रकाश है' ऐसा व्यवहार होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सिद्ध चेतन के विषय में उपचार ठीक है और वह स्पष्ट रूप से अध्यारोपात्मक है, वह भी प्रतिसन्धान के कारण है । किन्तु यहाँ कुछ भी चेतन नहीं है इसलिये यह ज्ञान भी अप्रकाश है । तो अन्य (ज्ञान) के द्वारा उसका प्रकाश होने में भी यही विधि है ॥ -५०-५२- ॥

वह भी = अध्यारोप भी । आपके (= नैयायिक) मत में कोई अनुसन्धाता नहीं है । वह या तो चेतन आत्मा होगा या चैतन्य ज्ञान । अभी तक चेतन आत्मा सिद्ध नहीं है । क्योंकि स्वयं अचेतन उसका ज्ञान से योग होने पर वैसा माना जाता है । और ज्ञान का योग जैसे समवाय सम्बन्ध से आत्मा के साथ होता है

जन्यतयार्थेन्द्रियादेरेकार्थसमवायेन च सुखादेरपि संभवतीत्यर्थादयश्चेतनाः स्युः । न चात्र नियमनिमित्तमुत्पश्यामो येन समवायाच्चेतनत्वं नैकार्थसमवायादेरिति । यत्पुनः संबन्धाविशेषेऽपि वस्तुस्वभावकृत एवायं विशेषः—इत्युच्यते तत्पलायनप्रकारासूत्रणम् । तदाह—'न चाद्यापि किमप्यस्ति चेतनम्' इति । नापि चैतन्यरूपे ज्ञान एव चेतन इति व्यवहारः, तस्य धर्मरूपत्वेन धर्मिव्यपदेशायोगात्, तदपि च ज्ञानं यदि स्वयंप्रकाशरूपं भवेत् तदैतद्युज्येत, न चैवम्-इत्याह—ज्ञानमप्येतदप्रकाशमिति । अप्रकाशमिति, विषयप्रतिभासकाले तदप्रतिभासाभ्युपगमात् । नन्वप्रतिभासमानमपि ज्ञानं न शाबराणामिवास्माकं परोक्षं नित्यानुमेयमपितु विषयग्रहणानन्तरमात्ममनःसंयोगजेन ज्ञानान्तरेण ज्ञायत एवेति कथमस्याप्रकाशरूपत्वं येन चेतनव्यपदेशो न स्यात्, तदाह—'तदन्येन तत्प्रकाशेऽप्ययं विधिः' इति । अयं विधिरित्यर्थप्रकाशीयप्रकारः—इत्यर्थः । यथा ह्यर्थस्यान्येन ज्ञानेन प्रकाशत्वे प्रयोज्यप्रयोजकभावः प्रसक्तः स च न मुख्यो गौणो वा कथञ्चन व्यवतिष्ठते, इत्यर्थस्य प्रकाशनमेवासिद्धम्, एवं ज्ञानस्य ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽपि मुख्यण्यर्थसङ्गत्यभावात् प्रकाशनमेव न सिद्ध्येत् । न चाप्रकाशात्मनो जडस्य प्रतिसन्धातृत्वं युज्यते प्रतिसन्धानाभावे तज्जीविताध्यारोपानुपपत्तावुपचारः

उस प्रकार जन्य होने के कारण विषय और इन्द्रिय आदि का तथा एकार्थसमवाय से सुख आदि का भी (= योग) सम्भव है । इस प्रकार अर्थ आदि चेतन हो जायेंगे । (हम) यहाँ किसी नियम को कारण के रूप में नहीं देखते जिससे समवाय के कारण चेतनत्व होता है और एकार्थसमवाय के कारण नहीं होता और जो यह कहा जाता है कि सम्बन्ध सामान्य होने पर भी यह विशेष वस्तुस्वभाव के कारण है—तो यह तो पलायनवाद है । वह कहते हैं—'यहाँ कुछ भी चेतन नहीं है ।' यह भी नहीं है कि चैतन्य रूप ज्ञान के होने पर ही चेतन व्यवहार होता है क्योंकि उसके धर्मरूप होने के कारण (उसके विषय में) धर्मी का व्यवहार नहीं होता । वह भी ज्ञान यदि स्वप्रकाश होता तो यह ठीक था किन्तु ऐसा नहीं है—यह कहते हैं—यह ज्ञान भी अप्रकाश है । अप्रकाश—विषयप्रतिभासकाल में उसका प्रतिभास न मानने के कारण ।

प्रश्न—अप्रतिभासमान भी ज्ञान शबरस्वामी आदि मीमांसकों की भाँति हमारे लिये परोक्ष नित्य अनुमेय नहीं है बल्कि विषयग्रहण के अनन्तर आत्ममनःसंयोग से उत्पन्न दूसरे ज्ञान से जाना ही जाता है फिर यह कैसे अप्रकाशरूप है जिससे चेतन व्यवहार नहीं होगा? यह कहते हैं—अन्य (ज्ञान) के द्वारा उसका प्रकाश होने में भी यह विधि है । यह विधि = अर्थ के प्रकाशन का प्रकार । जैसे अर्थ का अन्य (= अर्थ से भिन्न) ज्ञान से प्रकाश होने में प्रयोज्यप्रयोजक भाव प्राप्त होता है और वह मुख्य नहीं बल्कि किसी प्रकार गौण होता है इस प्रकार अर्थ का प्रकाशन ही असिद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान के ज्ञानान्तर से वेद्य होने पर भी मुख्य ण्यर्थ की सङ्गति न होने से प्रकाशन ही सिद्ध नहीं होता और अप्रकाशरूप जड़ का

कथंकारमत्र व्यवतिष्ठेत्—इत्यलं बहुना ॥

ननु परप्रकाश(श्य)त्वेऽपि दीपो यथार्थस्य प्रकाशस्तथा ज्ञानमपि भवेत् तत्कथमेवमुक्तं यज्ज्ञानान्तरज्ञेयत्वादप्रकाशरूपं ज्ञानं नार्थं प्रकाशयेत् इति ?—इत्याह—

ननु प्रदीपो रूपस्य प्रकाशः कथमीदृशम् ॥ ५२ ॥

नन्वत्रापि प्रागुक्तं समग्रमेव दूषणजातमुपनिपतेत्—इत्याह—

अत्रापि न वहन्त्येताः किं नु युक्तिविकल्पनाः ।

'एता युक्तिविकल्पनाः' इति समनन्तरोक्ता मुख्यामुख्यण्यर्थमूला उपपत्तिप्रकाराः—इत्यर्थः ॥

अत्र न केवलमेवं युक्तिपराहतत्वं यावद्वैषम्यमपि—इत्याह—

यादृशा स्वेन रूपेण दीपो रूपं प्रकाशयेत् ॥ ५३ ॥
तादृशा स्वयमप्येष भाति ज्ञानं तु नो तथा ।

नो तथेति स्वयमप्रकाशरूपत्वात् । अत एव तुशब्दो व्यतिरेके, तेनार्थप्रकाशनावसरे दीपस्य स्वयमपि प्रकाशो न तु ज्ञानस्येति, अतश्च 'तदसिद्धं

प्रतिसन्धाता होना ठीक नहीं । प्रतिसन्धान के अभाव में उससे उत्पन्न अध्यारोप की सिद्धि न होने पर यहाँ उपचार कैसे होगा । बहुत कहने से क्या लाभ ॥

प्रश्न—परप्रकाश्य होने पर भी जैसे दीपक विषय का प्रकाशक होता है उसी प्रकार ज्ञान भी विषय का होगा तो कैसे यह कहा गया कि ज्ञानान्तर से ज्ञेय होने के कारण अप्रकाशरूप ज्ञान अर्थ को प्रकाशित नहीं करेगा—यह कहते हैं—

प्रश्न है कि इस प्रकार दीपक रूप का प्रकाशक कैसे होगा ॥ -५२ ॥

प्रश्न—यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त दोषसमूह आ जाते हैं?—यह कहते हैं—

क्या यहाँ भी ये युक्ति की विकल्पनायें नहीं है ? ॥ ५३- ॥

ये युक्तिविकल्पनायें = पूर्वोक्त मुख्य अमुख्य ण्यर्थमूलक युक्ति के प्रकार ॥ ५३- ॥

यहाँ केवल इस प्रकार युक्ति का व्याघात ही नहीं है बल्कि वैषम्य भी है—यह कहते हैं—

अपने जिस प्रकार के रूप (= स्वभाव) से दीपक रूप का प्रचुर प्रकाशन करता है उस प्रकार (के रूप) से यह (= दीपक) स्वयं भी भासित होता है किन्तु ज्ञान उस प्रकार नहीं (भासित) होता ॥-५३-५४-॥

उस प्रकार नहीं—स्वयं अप्रकाश रूप होने के कारण । इसीलिये 'तु' शब्द

यदसिद्धेन साध्यते' इति न्यायेन स्वयमप्रकाशमानं ज्ञानं कथं परं प्रकाशयेत्—इत्याशयः ॥

वैषम्यमेव प्रकारान्तरेणापि द्रढयति—

प्रदीपश्चैष भावानां प्रकाशत्वं ददा(धा)त्यलम् ॥ ५४ ॥
अन्यथा न प्रकाशेरन्नभेदे चेदृशो विधिः ।

'प्रकाशत्वं ददा(धा)ति' इति स्वप्रभाच्छुरणया भास्वरतामाद(ध)त्ते—इत्यर्थः । येन नीलेऽपि पटे रक्तपटभ्रमः—इति प्रावादुकानां प्रवादः । एवं भास्वरताधानमन्तरेण चार्थानां प्रकाश एव न स्यात्—इत्युक्तम्—'अन्यथा न प्रकाशेरन्' इति । अत एव मन्दप्राये प्रदीपे न किञ्चिदपि प्रकाशेतेत्युक्तम्—अलमिति—प्रकाशेन पर्याप्तः समर्थ इति यावत् । ज्ञानं पुनरर्थस्य न कञ्चिदप्यतिशयमाधत्ते इत्युक्तं बहुशः । यदि च किञ्चित्करमपि ज्ञानमर्थस्य प्रदीप इव प्रकाशत्वं दध्यात्तेन तस्याभेदो वाच्यः, दीपो हि स्वप्रभाच्छुरणात्मना-ऽवान्तरव्यापारेणार्थे प्रकाशत्वं दधाति, ज्ञानस्य तु न कश्चिदवान्तरव्यापारोऽत्र संभवति । अथ च प्रकाशयत्यर्थमिति नैतदभेदमन्तरेण कथञ्चिद् घटते इत्युक्तम्—'अभेदे चेदृशो विधिः' इति । ईदृशो विधिरिति प्रदीपन्यायेनार्थे प्रकाशत्व-

---

व्यतिरेक अर्थ में हैं । इसलिये अर्थ के प्रकाशनकाल में दीप का स्वयं भी प्रकाशन होता है किन्तु ज्ञान का नहीं । इसलिये 'जो असिद्ध के द्वारा सिद्ध किया जाता है वह असिद्ध होता है ।' इस न्याय से स्वयं अप्रकाशमान ज्ञान दूसरे को कैसे प्रकाशित करेगा—यह आशय है ॥

वैषम्य को ही प्रकारान्तर से पुष्ट करते हैं—

यह दीपक पदार्थों को पर्याप्त प्रकाशित करता है । अन्यथा (पदार्थ) प्रकाशित नहीं होते । इस प्रकार की विधि अभेद में होती है ॥-५४-५५-॥

'प्रकाशता को धारण करता है' = अपनी प्रभा के विस्तार से भास्वरता को धारण करता है । जिससे नील भी पट में रक्तपट का भ्रम होता है—ऐसा प्रावादुकों का प्रवाद है । इस प्रकार भास्वरता के आधान के बिना विषयों का प्रकाश ही नहीं होगा—यह कहा गया—'अन्यथा प्रकाशित नहीं होंगे । इसीलिये प्रदीप के मन्दप्राय होने पर कुछ भी प्रकाशित नहीं होता । इसलिये कहा गया—अलम्, प्रकाश मे पर्याप्त = समर्थ । ज्ञान अर्थ में कोई अतिशय नहीं लाता ऐसा कई बार कहा गया है । यदि कुछ करने वाला भी ज्ञान प्रदीप के समान अर्थ का प्रकाशन करता तो उससे उसका अभेद कहना चाहिये । दीपक अपनी प्रभा के विस्तारण रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा अर्थ में प्रकाश का आधान करता है । ज्ञान का इस विषय में (= अर्थप्रकाशन में) कोई अवान्तर व्यापार सम्भव नहीं है । और भी 'अर्थ को प्रकाशित करता है' यह बिना अभेद के किसी प्रकार भी घटित

प्रधा(दा)नसामर्थ्यप्रकारः—इत्यर्थः । अतश्च प्रकाश एव स्वशक्तिविस्फारसार-तत्तदर्थवपुषा परिस्फुरतीति सिद्धम् ॥

तदाह—

तस्मात्प्रकाश एवायं पूर्वोक्तः परमः शिवः ॥ ५५ ॥
यथा यथा प्रकाशेत तत्तद्भाववपुः स्फुटम् ।

'पूर्वोक्तः' इति प्रथमाह्निकादौ । यदुक्तम्—

'ज्ञेयस्य च परं तत्वं यः प्रकाशात्मकः शिवः ।' (तं० १।५२)

इत्याद्यनन्तप्रकारम् । यथायथेति येन येन नीलाद्यात्मना—इत्यर्थः । यदा च प्रागुक्तयुक्त्या प्रकाशार्थयोरभेद एव तदा नीलत्वमिव नीलस्य प्रकाशमानत्वमपि स्वरूपगत एव धर्मः—इति युक्तमुक्तम्—वेद्यता भावस्य निजं वपुरिति ॥

अत आह—

एवं च नीलता नाम यथा काचित्प्रकाशते ॥ ५६ ॥
तद्वच्चकास्ति वेद्यत्वं तच्च भावांशपृष्ठगम् ।

नहीं होता । इसलिये कहा गया—अभेद में ऐसी विधि होती है ।' ऐसी विधि = प्रदीपन्याय से अर्थ में प्रकाशत्व प्रदान करने का सामर्थ्य । इसलिये प्रकाश ही अपनी शक्ति के विस्फारतत्त्व वाले तत्तद् अर्थ रूपी शरीर से स्फुरित होता है—यह सिद्ध हुआ ॥

वह कहते हैं—

इस कारण यह प्रकाश पूर्वोक्त परम शिव ही है । भिन्न-भिन्न भाव-शरीर स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न रूप में प्रकाशित होता है ॥ -५५-५६- ॥

पूर्वोक्त = प्रथम आह्निक आदि में । जो कि

"जो प्रकाशात्मक शिव है वही ज्ञेय का परम तत्त्व है ।"

इत्यादि अनन्त प्रकार से कहा गया । जैसे-जैसे = जिस-जिस नील आदि रूप से । और जब पूर्वोक्त युक्ति से प्रकाश और अर्थ में अभेद ही है तो नीलत्व के समान नीलप्रकाशमानत्व भी स्वरूपगत (= नीलगत) ही धर्म है—इसलिये ठीक ही कहा गया वेद्यता पदार्थ का अपना निजी शरीर है ॥

इसलिये कहते हैं—

इस प्रकार जैसे नीलता (वही है) जो प्रकाशित होती है । उसी प्रकार वेद्यता भी वही है जो प्रकाशित होती है और वह भावांश के अन्दर रहती है ॥ -५६-५७- ॥

नन्वभिन्नमिदमर्थप्रकाशात्मकमखण्डं स्वलक्षणम्, तत्र वेद्यत्वं नाम धर्मः किमर्थांशे निपतति आहोस्वित्प्रकाशांशे? इत्याशङ्क्योक्तम्—'तच्च भावांशपृष्ठगम्' इति । अत एव शाबरमतोदितस्य द्विविधस्यापि प्रमाणबलस्यानेन संग्रहः क्रियमाणो नापसिद्धान्ततां पुष्णाति—इत्याह—

फलं प्रकटतार्थस्य संविद्वेति द्वयं ततः ॥ ५७ ॥
विपक्षतो रक्षितं च सन्धानं चापि तन्मिथः ।

प्रकटतार्थगतेति कौमारिलाः । संवित्प्रमातृगतेति प्राभाकराः । तत इति समनन्तरोक्तादर्थप्रकाशयोरभेदलक्षणाद्धेतोः । विपक्षत इति, प्रकटताया अर्थधर्मत्वे सर्वान्प्रत्येवार्थः प्रकटो भवेदिति सर्वे सर्वज्ञा भवेयुः । संवित्तेश्च प्रमातृधर्मत्वेऽर्थस्य न किञ्चिदित्यसौ परोक्ष एव स्यादित्येवमादिरूपात् । रक्षितमिति । नहि इदानी-मर्थस्य प्रकटता सर्वाविशेषेण युज्यते वक्तुं प्रमातुरेकत्वात् सर्वार्थस्यैवाभावात्, मायापदे च यद्यपि भिन्नाः प्रमातारस्तथापि प्रकाशमानोऽर्थः प्रमातृगतत्वेन तत्तत्प्रमातृभेदेन सुखादिवदेकैकशो नियत एव, संवित्तिश्च प्रमातृधर्मोऽपि नार्थसंबन्धं जहाति प्रमातृसारत्वादर्थस्येति सर्वसर्वज्ञस्यार्थपारोक्ष्यस्य न कश्चिदवकाशः । तत

प्रश्न है कि यह (= वेद्यत्व) अभिन्न अर्थप्रकाशरूप अखण्ड स्वलक्षण है । उसमें वेद्यत्व धर्म क्या अर्थांश में घटित होता है या प्रकाशांश में ?—यह शङ्का कर कहा गया—'और वह भावांश (= अर्थांश) के अन्दर रहता है ।' इसलिये शाबर मत में उक्त, दो प्रकार के भी प्रमाणबल का इससे क्रियमाण संग्रह अपसिद्धान्त को पुष्ट नहीं करता—यह कहते है—

प्रकटता रूपी फल अर्थ का धर्म है या प्रकटता संवित् है यह दोनों इस कारण विपक्ष से रक्षित हैं और परस्पर सन्धान भी (रक्षित) है ॥ -५७-५८- ॥

प्रकटता अर्थ में होती है—यह कौमारिल (कहते हैं) । संवित् प्रमातृनिष्ठ (= प्रमाता में रहने वाली) है—ऐसा प्राभाकरों (का मत है) । इस कारण = अनन्तरोक्त अर्थ और प्रकाश के अभेदलक्षण हेतु से । विपक्ष से—प्रकटता के अर्थ का धर्म होने पर भी सबके प्रति अर्थ प्रकट हो जायगा इसलिये सब लोग सर्वज्ञ हो जायेंगे । और संवित् के प्रमाता का धर्म होने पर अर्थ का कुछ नहीं होता इस कारण यह (अर्थ) परोक्ष ही रहेगा—इत्यादि के कारण । रक्षित—इस समय अर्थ की प्रकटता सबके लिये समान रूप से कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रमाता के एक होने से सर्वार्थ का अभाव है । माया स्तर पर यद्यपि प्रमाता भिन्न हैं तो भी प्रकाशमान अर्थ प्रमातृगत होने के कारण तत्तत् प्रमाता के भिन्न होने से सुख आदि की भाँति एक-एक के लिये नियत ही है । ज्ञान प्रमाता का धर्म होते हुये भी अर्थ के सम्बन्ध को नहीं छोड़ता क्योंकि अर्थ प्रमाता के तत्त्व वाला होता है । इस प्रकार सर्वसर्वज्ञ वाले अर्थपारोक्ष्य के लिये कोई अवसर नहीं है । और इसीलिये उन दोनों

एव च तयोः परस्परेणापि संधानम्, प्रकटतासंवित्तिपक्षयोरन्योन्यं नास्ति कश्चिद्भेदः—इत्यर्थः । इत्थमियता नीलतादिवद्वेद्यत्वं भावधर्म एवेति निर्वाहितम् ॥

एतदेव दृष्टान्तदृशा दर्शयति—

तथाहि निभृतश्चौरश्चैत्रवेद्यमिति स्फुटम् ॥ ५८ ॥
बुद्ध्वा नादत्त एवाशु परीप्साविवशोऽपि सन्।
सेयं पश्यति मां नेत्रत्रिभागेनेति सादरम् ॥ ५९ ॥
स्वं देहममृतेनेव सिक्तं पश्यति कामुकः ।

यथा चाशु तारतम्याविचारेणैव तत्तदर्थजिघृक्षापरोऽपि भवंश्चौरश्चैत्रेणैतद्विदितमिति स्फुटं निश्चितं ज्ञात्वा परमोपादेयमपि भावजातं नैवादत्ते—इति तदुपादातुं हातुं वा न समर्थः—इति किङ्कर्तव्यतामूढतया दुःखितप्रायत्वान्निभृतश्चित्रलिखित इवास्ते—इत्यर्थः । कामुकश्च 'सेयं मनोरथशतैरप्यप्राप्या प्रियतमा सादरं नतु वेश्यावद्रञ्जनामात्रेण नेत्रत्रिभागेन नतु तटस्थवत्सृष्टेन नेत्रेण मां पश्यति क्षणमपि मद्दर्शनान्न विरमति' इति स्वं देहममृतेनेव सिक्तं पश्यति, स्वात्मनि परं सुखातिशयमवबुद्ध्यत—इत्यर्थः । तद्यद्यर्थवेदनं प्रमातुर्धर्मः स्यात्तत्कथं चौरश्चैत्र-

---

का परस्पर भी सन्धान होता है । अर्थात् प्रकटता और संवित्ति (इन) दोनों पक्षों में परस्पर कोई भेद नहीं है । इस प्रकार इतने से वेद्यत्व पदार्थ का धर्म है—यह सिद्ध हो गया ॥

इसी को दृष्टान्त दिखलाकर बतलाते हैं—

शीघ्र लेने की इच्छा से विवश भी चोर 'चैत्र ने इसे (वस्तु को या मुझको) जान लिया' ऐसा स्पष्टतया जानकर पदार्थ का ग्रहण नहीं करता बल्कि छिप जाता है । 'वह यह (स्त्री) मुझे पूर्ण दृष्टि से आदर के साथ देख रही है । यह समझ कर कामी पुरुष अपने शरीर को अमृत से सिक्त समझता है । (इससे सिद्ध होता है कि वेद्यता पदार्थ का धर्म है) ॥ -५८-६०- ॥

जैसे शीघ्र = तारतम्य का विचार न कर तत्तद् अर्थ का ग्रहण करने की इच्छा से युक्त भी चोर 'चैत्र ने इसे (= चोर्यमाण वस्तु या मुझको) जान लिया'—ऐसा स्फुट = निश्चित, समझ कर परम उपादेय भी पदार्थसमूह को नहीं लेता = उसका ग्रहण या त्याग करने में समर्थ नहीं होता इसलिये किंकर्त्तव्यविमूढ होने के कारण दुःखी होकर निभृत = चित्रलिखित जैसा रहता है और कामुक 'वह यह सैकड़ों चाहने वालों से भी अप्राप्य प्रियतमा आदर पूर्वक न कि वेश्या की भाँति केवल रिझाने के लिये नेत्र के त्रिभाग से (= सम्पूर्ण मनोयोगयुक्त नेत्र से) न कि तटस्थ के समान बनावटी दृष्टि से मुझे देख रही है = एक क्षण के लिये भी मेरे दर्शन से विरत नहीं हो रही है'—यह (सोचकर) अपने शरीर को मानो अमृत से सिक्त

विदितत्वादर्थं नादद्यात्, कामुकश्च प्रियावलोकनादमृतासिक्तमिव स्वं देहं जानीयादिति युक्तमुक्तं—वेद्यता भावधर्म इति । अर्थविनिवेशिनश्च वेद्यत्वस्यार्थक्रियाभेदोपदर्शनार्थमुदाहरणद्वयोपादानं यत्पूर्वत्र दुःखकारित्वमुत्तरत्र सुखकारित्वमिति ॥

ननु संविन्मयश्चेदर्थस्तर्हि तस्य वेद्यत्वमिति संविदेवोक्ता भवेत्, न च संविदर्थस्य धर्मस्तत्किमिदं वेद्यत्वं भावधर्म इति ?—इत्याशङ्क्याह—

न चैतज्ज्ञानसंवित्तिमात्रं भावांशपृष्ठगम् ॥ ६० ॥
अर्थक्रियाकरं तच्चेन्न धर्मः को न्वसौ भवेत् ।

नचेदं वेद्यत्वं ज्ञानात्मकं संविन्मात्रमेव यतो भावांशपृष्ठगमिति । अत एव तत्संविन्मात्रातिरिक्तत्वेनार्थाद्भावांशधर्मस्तथात्वे चास्य किं निबन्धनम्—इत्युक्तमर्थक्रियाकरमिति । सा चार्थक्रिया समनन्तरमेव दर्शिता । धर्मश्चेन्नेष्यते तन्नीलादिरपि कश्चिद्धर्मः स्यादित्युक्तं 'न चेत्को न्वसौ भवेत्' इति । मात्रग्रहणेन च वेद्यत्वस्य ज्ञानसंवित्तेराधिक्यं ध्वनितम् । अधिकश्च भावो वा स्यात् तद्धर्मो वा, न तावद्वेद्यत्वं भावस्तस्य हि वेद्यत्वं न तु वेद्यत्वमेव सः, अतश्च तद्धर्म एवेति युक्तमुक्तम्—'वेद्यत्वं भावधर्मः' इति ॥

मानता है = अपने में अतिशय सुख का अनुभव करता है । तो यदि अर्थज्ञान प्रमाता का धर्म होता तो कैसे चोर चैत्रविदित होने के कारण अर्थ का ग्रहण नहीं करता और कामुक अपने शरीर को प्रिया के अवलोकन से अमृत सिक्त के समान कैसे जानता ? इसलिये ठीक कहा गया कि वेद्यता पदार्थ का धर्म है । अर्थ के अन्दर स्थित वेद्यता का अर्थक्रिया से भेद दिखलाने के लिये दो उदाहरण दिये गये जिनमें पहले में 'दुःखकारित्व और बाद वाले में सुखकारित्व है ॥

प्रश्न—यदि पदार्थ संविन्मय है तो उसकी वेद्यता भी संविद् ही कहीं जायगी किन्तु संविद् अर्थ का धर्म है नहीं फिर यह वेद्यत्व पदार्थ का धर्म कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यह वेद्यत्व (जो कि) ज्ञानात्मक है संविद् नहीं है (क्योंकि वह) पदार्थ के अन्दर रहता है । वह अर्थक्रियाकारी है । यदि वह धर्म नहीं है तो यह क्या है ? ॥ -६०-६१- ॥

यह वेद्यत्व ज्ञानात्मक संविद्मात्र नहीं है क्योंकि यह भावांश में रहता है । इसलिये वह संविन्मात्र से अतिरिक्त होने के कारण भावांश का धर्म है । उसके वैसा होने में क्या कारण है ?—इसके उत्तर में कहा गया—अर्थक्रियाकारी है । और वह अर्थक्रिया अभी पहले दिखलायी गई । यदि उसे धर्म नहीं मानना चाहते तो नील आदि भी कोई धर्म होगा—इसलिये कहा गया 'यदि नहीं है तो यह क्या है ।' 'मात्र' ग्रहण से वेद्यत्व के ज्ञान का संवित्ति की अपेक्षा आधिक्य ध्वनित होता है। वह अधिक या तो भाव (= पदार्थ) होगा या उसका धर्म । वेद्यत्व पदार्थ नहीं

नन्वत्रोक्त एव दोषो यद्वेद्यताधर्मा भावः सर्वान्प्रति स्यादिति । नैवमेतत्—इत्याह—

यच्चोक्तं वेद्यताधर्मा भावः सर्वानपि प्रति ॥ ६१ ॥
स्यादित्येतत्स्वपक्षघ्नं दुष्प्रयोगास्त्रवत्तव ।

भवत एवायं व्यामोहो यदयुध्यमानं वासुदेवं प्रति प्रेरणात्मकादुष्प्रयोगात् यथा वारुणी गदा प्रयोक्तारमेव श्रुतायुधं जघान तथा मत्पक्षं प्रति प्रयुक्तं दूषणं म(त्व)त्पक्षमेव हन्यात्, तथा च ज्ञानेनानतिशयितोऽपि अर्थस्त्वन्मते, यदि वेद्यतामासादयेत् तदतिशयितत्वाविशेषात् सर्वान्प्रत्येवासौ वेद्यः स्यादिति ॥

अस्मत्पक्षे पुनः परप्रकाशात्मा स्वतन्त्रः शिव एवास्तीति तदपेक्षया नान्यः कश्चिदिति सर्वार्थस्यैवाभावात् कं प्रति चकास्यात्—इत्याह—

अस्माकं तु स्वप्रकाशशिवतामात्रवादिनाम् ॥ ६२ ॥
अन्यं प्रति चकास्तीति वच एव न विद्यते ।

मायापदे तु प्रमातृभेदेऽपि तत्तन्मातृमयत्वादर्थः सुखादिवत्प्रत्येकं नियत

है क्योंकि उस (पदार्थ) की वेद्यता होती है न कि वेद्यता ही वह (= पदार्थ) है । इसलिये यह उसका धर्म ही है । अतः ठीक कहा गया कि वेद्यता पदार्थ का धर्म है ॥ ६०- ॥

प्रश्न—यहाँ भी उक्त ही दोष है कि यदि पदार्थ वेद्यताधर्म वाला है तो सबके लिये (वेद्य) होगा ? ऐसा नहीं है—यह कहते हैं—

जो कहा गया कि—पदार्थ वेद्यताधर्म वाला है तो सबके लिये वेद्य होगा—यह आपका (कथन) दुष्ट प्रयोग वाले अस्त्र के समान अपने पक्ष का ही घात करने वाला है ॥ -६१-६२- ॥

आपका ही यह व्यामोह है कि—जैसे युद्ध न करने वाले वासुदेव के प्रति प्रेरणात्मक दुष्प्रयोग के कारण वारुणी गदा प्रयोक्ता श्रुतायुध को ही मार डाली उसी प्रकार मेरे पक्ष के प्रति प्रयुक्त दोष तुम्हारे पक्ष को ही मार डालेगा । इस प्रकार ज्ञान के द्वारा अनतिशयित भी अर्थ आपके मत में यदि वेद्य होता है । तो अतिशयितता के समान होने से सबके लिये यह वेद्य हो जाएगा ॥

हमारे पक्ष में स्वतन्त्र शिव ही परप्रकाश हैं उनकी अपेक्षा दूसरा कुछ नहीं । इसलिये सभी पदार्थों के अभाव के कारण किसके प्रति वे प्रकाशी होंगे ?—यह कहते हैं—

केवल स्वप्रकाश रूप शिव को मानने वाले हमारे मत में 'अन्य' के प्रति प्रकाशित होता है'—यह वचन ही नहीं है ॥ -६२-६३- ॥

माया के स्तर पर प्रमाता का भेद होने पर भी अर्थ तत्तत् मातृमय होने से

एवेत्युक्तं प्राक् ॥

न केवलमेकप्रमातृसतत्त्ववस्तुवादेनैवं युज्यते यावत्प्रमातृप्रमेययोस्तत्त्वतो भेदेऽपि—इत्याह—

सर्वान्प्रति च तन्नीलं स घटश्चेति यद्वचः ॥ ६३ ॥
तदप्यविदितप्रायं गृहीतं मुग्धबुद्धिभिः ।

अविदितप्रायमिति, किमिह वयं वेद्यतायाः सर्वाविशेषं प्रसञ्जयितुं नीलतां निदर्शयामः किमु तामेव वेद्यतामित्यविविच्यैवोपगतम्—इत्यर्थः ॥

एतदेव सयुक्तिकं दर्शयति—

नहि कालाग्निरुद्रीयकायावगतनीलिमा ॥ ६४ ॥
तव नीलः किं नु पीतो मैवं भून्नतु नीलकः ।
न कश्चित्प्रति नीलोऽसौ नीलो वा यं प्रति स्थितः ॥ ६५ ॥
तं प्रत्येव स वेद्यः स्यात्सङ्कल्पद्वारकोऽन्ततः ।

कालाग्निरुद्रस्य देहे संविदितो यो नीलिमाख्यो गुणः स न चैत्रस्य भवितु-

---

सुख आदि के समान प्रत्येक के लिये नियत है । यह पहले कहा जा चुका है ॥

केवल एक प्रमातृतत्त्व को यथार्थ मानने से ही यह समीचीन है—ऐसी बात नहीं है बल्कि प्रमाता और प्रमेय का तत्त्वतः भेद होने पर भी (यह ठीक है)—यह कहते हैं ।

सबके प्रति 'वह नील' और 'यह घट' ऐसा जो कथन होता है वह मन्दबुद्धि वालों के द्वारा अविदितप्राय गृहीत हुआ है अर्थात् मन्दबुद्धि वाले उसको नहीं समझते ॥ -६३-६४- ॥

अविदितप्राय = क्या हम लोग यहाँ वेद्यता के सर्वसामान्यत्व को प्रस्तुत करने के लिये नीलता को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते हैं अथवा उस वेद्यता को अर्थात् नील और वेद्य एक है यह बतलाना चाहते हैं या केवल वेद्यता को—यह विवेचन न कर मान लिया गया—यह तात्पर्य है ॥

इसी को युक्ति के साथ दिखलाते हैं—

कालाग्निरुद्र के शरीर में ज्ञात नीलिमा तुम्हारी (= चैत्र की) नीलिमा नहीं हो सकती । तो क्या पीली होगी ? ऐसा भी नहीं होगा और नील भी नहीं होगा । यह किसी के प्रति नील है तो (सबके) प्रति नील नहीं होगा । जिसके लिये यह नील है उसी के लिये यह वेद्य है । अन्ततोगत्वा यह (= नील आदि की वेद्यता) सङ्कल्प के अधीन है ॥ -६४-६६- ॥

कालाग्निरुद्र के शरीर में ज्ञात जो नीलिमा नामक गुण है वह चैत्र का नहीं हो

मर्हति, न हि धर्म्यन्तरगतेन धर्मेण धर्म्यन्तरं तद्वत्तया सुवचम् । अत्यन्तम-संभवनीयतां परधर्मस्य परत्र दर्शयितुं कालाग्निरुद्रीयकाय—इत्युक्तम् । ननु यद्यन्यगतो नीलिमा नान्यं प्रति स्यात् किमसौ तं प्रति पीतो भवेत्?—इत्याशङ्कते 'किं नु पीतः' इति । परिहरति 'मैवं भून्नतु नीलकः' इति । नहि पीतो नेति नीलो भवितुमर्हति, न हि घटलौहित्यमेव पटस्य मालिन्यमित्येव (लौहित्यमिति) युज्यते, ततश्च यथा नीलं सर्वान् प्रति—इति निदर्शनस्य कोऽभिप्रायः—इति न जानीमः । यदि तु वेद्यतया नीलं सर्वाविशिष्टमिति निदर्शनार्थस्तदिदं दार्ष्टान्तिकमेव दृष्टान्तीकृतं स्वमतविरुद्धं चाभिहितं येनोक्तं—मुग्धबुद्धिभिः' इति । इह पुनरस्मन्मते परप्रमात्रपेक्षया पृथक् प्रमातृप्रमेययोरवभास एव नास्तीति किं कस्य चकास्यात्—इत्याह—'न कश्चित्प्रति नीलोऽसौ' इति । अपरप्रमात्रपेक्षया तु स्फुटेऽपि प्रमातृप्रमेयविभागे प्रमातृमयत्वादर्थस्य पूर्वोक्तयुक्त्या यं प्रति नीलं नीलं तं प्रति वेद्यमेव स्यात्—इत्याह—'नीलो वा' इत्यादि । एवकारो भिन्नक्रमः ।

ननु नीलं वेद्यमेवेति नियमनिमित्तं न किञ्चिदुत्पश्यामो देशकालादिभेदेन पारोक्ष्यस्यापि संभवात्?—इत्याशङ्क्याह—

सकता । दूसरे धर्मी में वर्त्तमान धर्म से दूसरा धर्मी तद्वान् नहीं कहा जाता । दूसरे के धर्म की अन्यत्र अत्यन्त असम्भवनीयता को दिखलाने के लिये (श्लोक में) कालाग्निरुद्र का शरीर-कहा गया । प्रश्न—यदि अन्य में वर्त्तमान नीलिमा अन्य के प्रति नहीं होगी तो क्या उसके प्रति पीत होगी ?—यह शङ्का करते हैं—'क्या पीत होगी ? परिहार करते हैं—ऐसा नहीं होगा (यह) नील नहीं होगा । पीत नहीं है तो नील भी नहीं हो सकता । घट की लालिमा ही पट की मलिनता है—ऐसा (कहना या मानना) ठीक नहीं है । तो 'जैसे नील सबके प्रति' इस उदाहरण का क्या अभिप्राय है ?—यह (हम) नहीं जानते । यदि वेद्य होने के कारण नील सबके लिये समान है—यह उदाहरण का तात्पर्य है तो यह दार्ष्टान्तिक ही दृष्टान्त बना दिया गया और अपने मत के विरुद्ध कहा गया । इसलिये कहा गया—मूढ बुद्धि वालों के द्वारा । हमारे मत में परप्रमाता को छोड़कर पृथक् प्रमाता और प्रमेय का अवभास ही नहीं है फिर किसको क्या प्रकाशित होगा—यह कहते हैं—'किसी के लिये यह नील' । अपर प्रमाता की अपेक्षा प्रमातृप्रमेय भाग के स्फुट होने पर भी अर्थ के प्रमातृमय होने से पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार् जिसके लिये नील-नील है उसी के लिये वेद्य है यह कहते हैं—'अथवा नील' इत्यादि । एवकार का क्रम भिन्न है (इसे 'तं' के बाद जोड़ना चाहिए)।

प्रश्न—'जो नील है वह वेद्य ही है' इस नियम का कोई कारण (हम) नहीं देखते क्योंकि देश काल आदि के भेद से (इसकी) परोक्षता भी सम्भव है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'सङ्कल्पद्वारकोऽन्ततः' इति । यस्तु सङ्कल्पादिना वेद्यो न भवति नासौ तं प्रति नीलोऽपि स्यात्, नहि नीलतया वेदनं मुक्त्वा नीलो नाम कश्चित् प्रकाशमानतैव सत्तेत्युक्तत्वात् ॥

भवन्मते परापेक्षस्य धर्मस्य परत्वाविशेषेऽपि परत्र यथा नियमो दृष्टस्तद्वदिह किं नेष्यते—इत्याह—

यथा चार्थप्रकाशात्म ज्ञानं सङ्गीर्यते त्वया ॥ ६६ ॥
तथा तज्ज्ञातृवेद्यत्वं भावीयं रूपमुच्यताम् ।

भवता हि सामान्येनार्थप्रकाशात्मकत्वं ज्ञानस्य रूपमुक्तं तत्सर्वार्थप्रकाशत्वाविशेषेऽपि युगपत्तथा सामनन्त्यायोगात् इदं नीलज्ञानमिदं पीतज्ञानमिति नियतार्थप्रकाशात्मकमेव ज्ञानमभ्युपेयते, एवमस्मत्पक्षेऽपि वेद्यताख्यो भावीयो धर्मः प्रतिनियतप्रमातृसंबन्धी वाभिधीयताम्, कोऽयमस्थानेऽभिनिवेशो यदेकस्य प्रमातुर्वेद्यः परस्यापि तथा स्यादिति । अथ तत्र जनकत्वादि निबन्धनान्तरमाश्रीयते, तदिहापि समानम्, भवति हि मायापदे प्रमातृजन्यं वेद्यत्वमित्यभिमानः । अत एव नैयायिकप्रक्रियैव मायापदे व्यवहारनिबन्धनमिति चिरन्तनानामाम्नायः ॥

न चास्य पर्यनुयोगस्यावकाशलेशमपि पश्यामः—इत्याह—

'अन्त में सङ्कल्प के द्वारा' ज्ञान होता है । और जो सङ्कल्प आदि के द्वारा वेद्य नहीं होता वह उसके लिये नील भी नहीं होता । नील के रूप में वेदन को छोड़कर कोई नील नामक (अतिरिक्त पदार्थ) नहीं है क्योंकि प्रकाशमानता ही सत्ता है—ऐसा कहा गया है ॥

आपके मत में परापेक्ष्य धर्म का परत्व समान होने पर भी दूसरी जगह जैसा नियम देखा गया वैसा यहाँ क्यों नहीं मानते—यह कहते हैं—

जैसे आप ज्ञान को अर्थप्रकाशरूप कहते हैं उस प्रकार पदार्थ के रूप को उसके ज्ञाता के द्वारा वेद्य कहिये ॥ -६६-६७- ॥

आपने सामान्यतया ज्ञान का रूप उसकी अर्थप्रकाशात्मकता को कहा है तो सामान्यतया सर्वार्थप्रकाशक होने पर भी एक साथ उस प्रकार सामान्यता का योग न होने से 'यह नीलज्ञान है यह पीतज्ञान है' इस प्रकार का निश्चित अर्थ का प्रकाशक ही ज्ञान प्राप्त होता है अथवा इसी प्रकार हमारे पक्ष में भी वेद्यता नामक पदार्थ का धर्म निश्चित प्रमातासम्बन्धी कहा जाय । यह कैसा अनुचित आग्रह है कि जो एक प्रमाता का वेद्य है वह दूसरे का भी वैसा ही होगा । यदि वहाँ जनकत्व आदि कारणान्तर माना जाय तो वह यहाँ भी समान है । माया के स्तर पर प्रमातृजन्य वेद्यत्व है—यह अभिमान होता है । इसीलिये नैयायिक प्रक्रिया ही मायास्तर पर व्यवहार का कारण है—ऐसा प्राचीनों (प्राचीन शैवों) का कथन है ॥

न च ज्ञाताऽत्र नियतः कश्चिज्ज्ञाने यथा तव॥ ६७ ॥
अर्थे ज्ञाता यदा यो यस्तद्वेद्यं वपुरुच्यताम्।

नहि यथा भवतो ज्ञानाद् व्यतिरिक्तः स्वतन्त्र एवार्थः संभवति तथेहार्थप्रकाश-व्यतिरिक्तो ज्ञाता नाम येनैकस्य प्रमातुः प्रकाशमानोऽर्थः प्रमात्रन्तरस्यापि तथा किं न स्यादिति चोद्येत, अस्मद्दर्शने हि परस्परानुरूपग्राह्यग्राहकयुगलनिर्माणभङ्ग्या यो यदर्थावभाससंभिन्नसंविदात्मकः स तस्य प्रमाता, यस्तु न तथा स न तस्य प्रमातैव भवेदिति तं प्रति कथङ्कारं प्रकाशतामिति सिद्धं नियतप्रमातृवेद्यत्वम् ॥

तदेतदस्माभिः पुनः पुनरुच्यमानं श्रुत्वाप्यनवधारयन्नवहास्यतामेव यास्यति—इत्याह—

तत्तद्विज्ञातृवेद्यत्वं सर्वान्प्रत्येव भासताम्॥ ६८ ॥
इत्येवं चोदयन्मन्ये व्रजेद् बधिरधुर्यताम्।
न ह्यन्यं प्रति वै कश्चिद्भाति सा वेद्यता तथा॥ ६९ ॥

बधिरधुर्यतामिति, बधिरो हि न शृणोत्येव, अयं पुनः श्रृण्वन्नपि न

इसके लिये पर्यनुयोग (= दोष) का रञ्चमात्र भी अवकाश (हम) नहीं देखते—यह कहते हैं—

जैसे आपके यहाँ (उस प्रकार) यहाँ ज्ञान में कोई निश्चित ज्ञाता नहीं है। जब जो-जो अर्थ के विषय में ज्ञाता होता है उसका वेद्य शरीर (पदार्थ) बताइये ॥ -६७-६८- ॥

जैसे आपके यहाँ ज्ञान के अतिरिक्त स्वतन्त्र ही पदार्थ सम्भव है उसी प्रकार यहाँ (= हमारे मत मे) अर्थ के प्रकाश से भिन्न कोई ज्ञाता (नाम की चीज) नहीं है जिससे एक प्रमाता के लिये प्रकाशमान अर्थ दूसरे प्रमाता के लिये भी वैसा क्यों नहीं होता—ऐसा कहा जाय। हमारे दर्शन में परस्पर अनुरूप ग्राह्यग्राहकयुग्म के निर्माण की भङ्गी से जो जिस अर्थ के अवभास से संभिन्न संविद्‌रूप है वह उसका प्रमाता है। जो वैसा नहीं है वह उसका प्रमाता ही नहीं होता तो फिर उसको (वह पदार्थ) कैसे प्रकाशित होगा। इस प्रकार निश्चित प्रमातृवेद्यता सिद्ध है ॥

तो हमारे द्वारा बार-बार कहे गये इस (तथ्य) को सुनकर भी न समझने वाला हँसी को प्राप्त होगा—यह कहते हैं—

तो तत्तद् विज्ञाता में वर्त्तमान वेद्यता सबको भासित होती है ऐसा कहने वाला मेरी समझ में बधिरों का अग्रणी है। क्योंकि वह वेद्यता अन्य किसी के प्रति उस प्रकार भासित नहीं होती (जैसी कि वेदक के प्रति भासित होती है)॥ -६८-६९ ॥

बधिरधुर्यता को—बधिर तो केवल सुनता नहीं और यह सुनकर के भी नहीं

श्रृणोतीति तमप्यतिशेते—इत्येवमुक्तम् । यतस्तदर्थावभाससंभिन्नसंविद्रूपमन्यं कञ्चित्प्रति तथैकात्म्येन सा वेद्यता नैव भाति तं प्रति भावो वेद्यतामेव न यायात्—इत्यर्थः ॥

'अतश्च वेद्यता नाम भावस्यैव निजं वपुः' इत्युक्ते किमिति निष्कारण-मियत्कुप्यते—इत्याह—

भावस्य रूपमित्युक्ते केयमस्थानवैधुरी ।

ननु भावधर्मवेद्यतापक्षे नीलतादेरिव वेद्यताया अपि स्वव्यतिरिक्तस्वरूपावेशि-वेद्यतायोगादनवस्थाऽऽपतेदित्युक्तं तत्कथं परिहर्तव्यम्—इत्याह—

अनेन नीतिमार्गेण निर्मूलमपसारिता ॥ ७० ॥
अनवस्था.........................

अनेन नीतिमार्गेणेति—यथैकप्रमातृवेद्यताया न प्रमात्रन्तरसंबन्धो युक्तस्तथैव समानन्यायत्वाद्वेद्यतान्तरसंबन्धोऽपि-इत्यर्थः ॥ ७० ॥

एतदेवोपपादयति—

तथा ह्यन्यैर्नीलाद्यै किन्तु सदृशी न सा ।

सुनता इसलिये उससे भी बढ़कर है—इसलिये ऐसा कहा गया । क्योंकि तदर्थावभाससम्भिन्न संविद्रूपी अन्य किसी के प्रति उस प्रकार = एकात्म्यरूप से, वह वेद्यता भासित नहीं होती अर्थात् पदार्थ उसके लिये वेद्य नहीं होगा ॥

'इसलिये वेद्यता पदार्थ का ही अपना स्वरूप है' ऐसा कहने पर बिना कारण के आप इतना क्रोध क्यों कर रहे हैं—यह कहते हैं—

(यह वैद्यता) पदार्थ का रूप है' ऐसा कहने पर यह अनुचित क्रोध क्यों ? ॥ ७०- ॥

प्रश्न—'वेद्यता पदार्थ का धर्म है—(इस) पक्ष में भी नीलता आदि की भाँति वेद्यता की भी अपने से भिन्न स्वरूपावेशी वेद्यता के योग से अनवस्था आ पड़ेगी (चूँकि वेद्यता वेद्य का धर्म है इसलिये उस वेद्य को जानने के लिये एक अलग वेद्यता चाहिए फिर उसके लिये तीसरी.........। इस प्रकार अनवस्था होगी ।)—यह कहा गया । उसका परिहार कैसे होगा ?—यह कहते हैं—

इस नीति मार्ग से अनवस्था समूल नष्ट कर दी गई ॥ -७०-७१- ॥

इस नीति मार्ग से—जैसे एक प्रमातृवेद्यता का दूसरे प्रमाता से सम्बन्ध उचित नहीं है उसी प्रकार समानन्याय होने के कारण एक वेद्यता से दूसरी वेद्यता का सम्बन्ध भी (उचित नहीं है) ॥ ७० ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

वेद्यता किन्तु धर्मोऽसौ यद्योगात्सर्वधर्मवान् ॥ ७१ ॥
धर्मी वेद्यत्वमभ्येति स सत्तासमवायवत् ।

ननु भवन्मते वेद्यता नाम किं धर्ममात्रमुत ज्ञानरूपतया गुणपदार्थान्तरतेति । तत्र धर्ममात्रत्वे न भवेदेवास्या वेद्यताख्यधर्मान्तरयोगः, ज्ञानगुणरूपत्वे च 'निर्गुणा गुणाः' इति नीत्या कथमस्या वेद्यतान्तरं सजातीयो धर्मः स्यात् । तद्यथा वैजात्येन नीलताया वेद्यताख्यो धर्मो भवेत् नैवं तस्या वेद्यतान्तरमित्यस्या नीलादिधर्मान्तरवैलक्षण्यम् अपितु असौ वेद्यताधर्मः समवायवृत्त्या स्वाश्रयस्य वेद्यव्यवहारहेतुर्य विना सकलधर्मकल्माषितवपुषोऽपि तस्य धर्मिणः स्वयं वेद्यावेद्यत्वविरहिणो वेद्यमिति व्यपदेशोऽपि दुर्घटः स्यात् । ननु वेद्यताख्यो धर्मोऽपि स्वयमवेद्यश्चेदसिद्ध एवासाविति कथमिव स्वसंबन्धेन धर्मिणं व्यवहारयेत्—इत्याशङ्कां परिहरिष्यन् दृष्टान्तयति—'स सत्तासमवायवत्' इति । अनेन गुणकर्मविशेषा अप्युपलक्षिताः ॥ ७२ ॥

एतदेव व्यनक्ति—

ब्रूषे यथा हि कुरुते सत्ता सत्यसतः सतः ॥ ७२ ॥
समवायोऽपि संश्लिष्टः श्लिष्टानश्लिष्टताजुषः ।

वह वेद्यता अन्य नील (= घट) आदि के समान नहीं है किन्तु यह धर्म है । जिससे सम्बन्ध होने के कारण सर्वधर्मवान् धर्मी वेद्य होता है वह सत्ता समवाय की भाँति है ॥ ७१-७२- ॥

प्रश्न—आपके मत में वेद्यता क्या धर्म है अथवा ज्ञानरूप होने के कारण गुण है ? धर्म मात्र होने पर इसका वेद्यता नामक दूसरे धर्म से सम्बन्ध नही होगा और ज्ञान का गुण होने पर 'गुण निर्गुण होते हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार दूसरी वेद्यता इसका सजातीय धर्म कैसे होगी ? तो जैसे विजातीय होने के कारण वेद्यता नीलता का धर्म है उस प्रकार दूसरी वेद्यता उसका (धर्म) नहीं है । इसलिये यह नील आदि धर्मान्तर से विलक्षण है बल्कि यह वेद्यताधर्म समवाय सम्बन्ध से अपने आश्रय के वेद्य व्यवहार का कारण है जिसके (= समवाय सम्बन्ध) बिना समस्त धर्म से युक्त भी स्वयं वेद्यत्व अवेद्यत्व से रहित उस धर्मी के विषय में '(यह) वेद्य है' ऐसा व्यवहार दुर्घट हो जायगा । प्रश्न—वेद्यता नामक धर्म भी यदि स्वयं अवेद्य है तो यह असिद्ध ही है फिर (वह) अपने सम्बन्ध से धर्मी को कैसे व्यवहृत करायेगा ?—इस शङ्का का परिहार करने के लिये दृष्टान्त देते हैं—'वह सत्ता समवाय की तरह है जिसमे नीलतव और वेद्यत्व एक साथ रह सकते हैं । इससे गुणकर्म विशेष भी उपलक्षित है ॥ ७२ ॥

इसी को व्यक्त करते हैं—

'(आप) कहते हैं कि जैसे सती सत्ता असत् को सत्, संश्लिष्ट

अन्त्यो विशेषो व्यावृत्तिरूपो व्यावृत्तिवर्जितान् ॥ ७३ ॥
व्यावृत्तान् श्वेतिमा शुक्लमशुक्लं गमनं तथा ।
तद्वन्नीलादिधर्मांशयुक्तो धर्मी स्वयं स्थितः ॥ ७४ ॥
अवेद्यो वेद्यतारूपाद्धर्माद्वेद्यत्वमागतः ।

'कुरुते' इति प्रतिवाक्यार्थमनुषज्यते । सतीति स्वरूपेण । 'संश्लिष्टः' इति स्वयं वृत्तिरूपः—इत्यर्थः । 'अन्त्यः' इति अन्तेषूत्पादविनाशयोरन्तेऽस्थितत्वादन्त-शब्दवाच्येषु नित्यद्रव्येषु भवः स्थित इति यावत् । 'विशेषः' इति स्वाश्रयस्य सर्वतो विशेषकत्वाद्भेदकः—इत्यर्थः । श्वेतिमेति स्वयं श्वेतरूपोऽशुक्लं करोति—इत्यर्थः । तथेति अगन्तारं गन्तारं कुर्यात्-इति तात्पर्यम् । वेद्यत्वमागतः सन् स्थित इति योजनीयम् । किलेदं भवद्दर्शनं यदुत परसामान्यरूपा द्विविधा सत्ता स्वरूपसत्ता समवायिनी चेति । तत्र समवायिनी द्रव्यगुणकर्मस्वेव भवति, स्वरूपसत्ता तु सामान्यविशेषसमवायेषु । यदुक्तम्—

'त्रिपदार्थकरी सत्ता.........................।'

इति । तत्र यथैव द्रव्यादयस्त्रयः स्वरूपेण न सन्तो नासन्तः सत्तासमवायात्तु सन्तः, सत्ता तु स्वरूपेणैव सत्त्वात् न सत्यसती वेतिपर्यनुयोगपात्रम् । अनेना-

---

समवाय भी अश्लिष्टता वालों को श्लिष्ट, अन्त्य व्यावृत्तिरूप विशेष व्यावृत्तिरहित को व्यावृत्त, श्वेतिमा अशुक्ल को शुक्ल, अगमनयुक्त को गमन वाला, करती है उसी प्रकार नील आदि धर्म से युक्त अवेद्य धर्मी वेद्यतारूप धर्म के कारण स्वयं वेद्यत्व को प्राप्त होकर स्थित हो जाता है ॥ ७२-७५- ॥

'कुरुते'—इसका सम्बन्ध प्रत्येक वाक्य से है । सती—स्वरूप से । 'संश्लिष्ट स्वयं, वृत्तिरूप । अन्त्य = अन्त में उत्पत्ति विनाश के अन्त में स्थित होने से अन्त शब्द के वाच्य नित्यद्रव्यों (= परमाणुओं) में होने वाला नित्य/विशेष = स्वाश्रय के सब प्रकार से विशेष वाला होने से भेदक होता है । श्वेतिमा—श्वेतरूप स्वयं अशुक्ल को शुक्ल बनाता है । तथा—अगन्ता को गन्ता बनाता है—यह तात्पर्य है। वेद्यत्व को प्राप्त होकर स्थित—ऐसा अन्वय करना चाहिये । आपके दर्शन के अनुसार (सत्ता सामान्य दो प्रकार का होता है पर सामान्य एवं अपर सामान्य । इसमें से पर सामान्य रूपा सत्ता दो प्रकार की है—स्वरूप सत्ता और समवायिनी (सत्ता) । उनमें समवायिनी सत्ता द्रव्यगुण कर्म में ही होती है । स्वरूप सत्ता तो सामान्य विशेष और समवाय में रहती है । जैसा कि कहा गया है ।

"सत्ता तीन पदार्थ करने वाली है...।"

तो जैसे द्रव्य आदि तीन स्वरूपतः न सत् है न असत् किन्तु सत्तासमवाय की दृष्टि से सत् हैं । सत्ता स्वरूपतः सत् होने से सती अथवा असती है इस प्रकार

परमपि सामान्यमुपलक्षितम् । यतो गौः स्वरूपेण न गौर्नागौर्गोत्वाभिसंबन्धात्तु गौः, गोत्वं तु स्वत एव तथात्वात् न जात्यन्तरयोगमावहति । यथा च कार्यं वा कारणे सामान्यं वा विशेषे स्वयमवृत्तिरूपं समवायवृत्त्या वर्तते, समवायश्च स्वाश्रये वर्तमानः स्वयमेव वृत्तिरूपत्वान्न समवायादिवृत्त्यन्तरमपेक्षते । यथा च भावानामनुवृत्तिप्रत्ययहेतुसामान्ययोगद्वारकसंशयप्रतिपक्षतया गुणकर्मादयो धर्मा व्यावृत्तिबुद्धिहेतवो विशेषा इह, तेषामपि तथैव सामान्ययोगेन संशयबीजभूतत्वे प्रलये वा नित्यद्रव्येषु सजातीयविजातीयवैलक्षण्याधायिनोऽत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवो मादृशामन्यथानुपपत्त्या योगिनां तु प्रत्यक्षेण सिद्धा अन्त्या विशेषा उपगम्यन्ते । भावाश्च स्वरूपेण न व्यावृत्ता नाप्यव्यावृत्ता व्यावृत्तियोगात्तु व्यावृत्ता इति भंग्या विशेषैरेव व्यावृत्यन्ते, विशेषास्तु स्वयं व्यावृत्तिरूपत्वान्न व्यावृत्ता अव्यावृत्ता वेति विकल्पनीयाः । यथा च पटः स्वरूपान्न श्वेतो नाप्यश्वेतः श्वेतगुणसंबन्धात्तु श्वेतः, श्वेतगुणस्तु श्वेतरूपत्वादेव न स्वसमवायिश्वेतान्तरमुपयाचते । यथा च गन्ता न स्वयं गन्ता नाप्यगन्ता गमनक्रियायोगात्तु गन्ता, गमनक्रिया तु गमनात्मकत्वादेव न स्वात्मनि गमनमन्यदर्थयते । एवं सकलधर्मयुक्तोऽपि भावः स्वयं न वेद्यो

आक्षेप का पात्र नहीं है । इससे अपर भी सामान्य उपलक्षित होता है । क्योंकि गौ स्वरूपतः न सत् है न असत् किन्तु गोत्व के सम्बन्ध के कारण गौ है । गोत्व स्वतः वैसा होने से जात्यन्तर (= गोत्वत्व) वाला नहीं है । और जैसे कार्य कारण में अथवा विशेष सामान्य में स्वयं न रहते हुये समवाय सम्बन्ध से रहता है और समवाय अपने आश्रय में रहते हुये स्वयं वृत्तिरूप होने से दूसरी समवाय आदि वृत्तियों की अपेक्षा नहीं करता । अथवा जैसे पदार्थों के अनुवृत्तिबुद्धि के कारणभूत सामान्य के योग से उत्पन्न संशय का प्रतिपक्षी होने के कारण गुण कर्म आदि धर्म व्यावृत्तिबुद्धि के विशेष हैं उनके भी उसी प्रकार सामान्य के योग से संशय का बीज होने पर अथवा प्रलय में नित्य द्रव्यों में सजातीय विजातीय से विलक्षणता के आधायक, अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धि के कारण, हमारे जैसे लोगों के लिये अन्यथाऽनुपपत्ति से (सिद्ध) और योगियों को प्रत्यक्ष सिद्ध, अन्त्य = विशेष, प्राप्त होते है । और पदार्थ स्वरूपतः न व्यावृत्त है और न अव्यावृत्त किन्तु व्यावृत्ति के योग के कारण व्यावृत्त हैं । इस प्रकार प्रकारान्तर से विशेष के द्वारा व्यावृत्त किये जाते है और विशेष स्वयं व्यावृत्तिरूप होने से न व्यावृत्त और न अव्यावृत्त माने जाते हैं । अथवा जैसे पट स्वरूपतः न श्वेत होता है और न अश्वेत किन्तु श्वेतगुण से सम्बन्ध होने के कारण श्वेत होता है और श्वेत गुण श्वेत रूप होने से ही अपने समवायी दूसरे श्वेत की अपेक्षा नहीं रखता । अथवा जैसे—जाने वाला स्वयं न तो गन्ता है और न अगन्ता किन्तु गमनरूपा क्रिया के सम्बन्ध के कारण गन्ता है, और गमन क्रिया गमनात्मक होने के कारण अपने में दूसरे गमन की आवश्यकता नही रखती । इसी प्रकार समस्त धर्म से युक्त भी पदार्थ स्वयं न तो वेद्य होता है और न अवेद्य किन्तु वेद्यता के सम्बन्ध के कारण वेद्य होता है, और वेद्यता अपने

नावेद्यो वेद्यतासंबन्धात्तु वेद्यः, वेद्यता पुनः स्वात्मनैव वेद्यत्वान्नावेद्या वेद्या वेत्यनुयोक्तुं युक्तेत्युपरम्यते ॥ ७३-७४ ॥

ननु यथा (सत्ता)स्वरूपेण सती तथा वेद्यतापि स्वरूपेणैव वेद्येत्युक्ते स्वरूपस्यैव वेद्यत्वं वेदकत्वं च द्वितयं प्राप्नुयात्, तच्च न युक्तं, विरोधात् ?—इत्याशङ्क्य स्वयंवेद्यतां स्वप्रकाशतायामेव विश्रमयति—

वेद्यता भासमाना च स्वयं नीलादिधर्मवत् ॥ ७५ ॥
अप्रकाशा स्वप्रकाशाद्धर्मादिति प्रकाशताम्।

वेद्यता च यदा स्वयमवभासते तदासौ नीलादिवज्जडोचितेन रूपेणाप्रकाशमानापि स्वप्रकाशताख्यात्स्वरूपादेव प्रकाशतामेति स्वयमेव प्रकाशते, न तु स्वापेक्षया कर्मभावं लभते—इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अतश्च न वेद्यता वेद्या भवितुमर्हति—इत्याह—

प्रकाशे खलु विश्रान्तिं विश्वं श्रयति चेत्ततः ॥ ७६ ॥
नान्या काचिदपेक्षाऽस्य कृतकृत्यस्य सर्वतः ।

वेद्यस्य हि जडतया पारतन्त्र्ये संविदि विश्रान्तिर्नाम वेद्यता, विश्रान्तेस्तु किमन्यदपेक्षणीयं येन वेद्यतायामपि वेद्यता भवेत्—इत्युक्तं 'नान्या काचिदपेक्षा'

से ही वेद्य होने के कारण न अवेद्य है न वेद्य—यह कहना ठीक है। अब (हम) समाप्त करते हैं ॥ ७३-७४ ॥

प्रश्न—जैसे सत्ता स्वरूपतः सती है उसी प्रकार वेद्यता भी स्वरूप से ही वेद्य है ऐसा कहे जाने पर स्वरूप की ही वेद्यता और वेदकता दोनों प्राप्त होती है और वह ठीक नहीं है क्योंकि परस्पर विरोध हैं?—यह शङ्का कर स्वयं वेद्यता को स्वप्रकाशता में ही स्थापित करते हैं—

भासमाना वेद्यता स्वयं नील आदि धर्म की भाँति अप्रकाश होती हुई भी स्वप्रकाश धर्म के कारण प्रकाशता को प्राप्त होती है ॥ -७५-७६- ॥

वेद्यता जब स्वयं भासित होती है तब यह नील आदि की भाँति जड़ोचितरूप से प्रकाशमान न होती हुयी भी स्वप्रकाशता नामक स्वरूप से ही प्रकाशता को प्राप्त होती है = स्वयं ही प्रकाशित होती है न कि अपनी अपेक्षा (किसी के) कर्मभाव को प्राप्त करती है ॥ ७५ ॥

इसलिये वेद्यता वेद्य नहीं हो सकती—यह कहते हैं—

यदि यह विश्व प्रकाश में विश्रान्ति को प्राप्त करता है तो सब प्रकार से कृतकृत्य इसको दूसरी कोई अपेक्षा नहीं रहती है ॥ -७६-७७- ॥

वेद्य के जड़ होने से परतन्त्र होने के कारण संविद् में उसकी विश्रान्ति ही

इति 'कृतकृत्यस्य' इति च ॥ ७६ ॥

ननु यदि प्रकाशविश्रान्तिसतत्त्वैव वेद्यता तत्कथमस्या भावधर्मत्वम् ?—इत्याशङ्क्याह—

यथा च शिवनाथेन स्वातन्त्र्याद्भास्यते भिदा ॥ ७७ ॥
नीलादिवत्तथैवायं वेद्यता धर्म उच्यते ।

धर्म इत्यर्थाद्भावस्य ॥ ७७ ॥

ननु भवतु नाम वेद्यता नाम भावधर्मः का नो विचिकित्सा, इदं पुनः कथं यदनेकेषु प्रमातृषु तथानैक्यमिति, नहि प्रमातृभेदेऽपि नीलस्य स्वात्मनि कश्चिद्विशेषो येनैवं स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

एवं सिद्धं हि वेद्यत्वं भावधर्मोऽस्तु का घृणा ॥ ७८ ॥
इदं तु चिन्त्यं सकलपर्यन्तोक्तप्रमातृभिः ।
वेद्यत्वमेकरूपं स्याच्चातुर्दश्यमतः कुतः ॥ ७९ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते—

वेद्यता है । किन्तु विश्रान्ति को दूसरी किस (चीज) की अपेक्षा होगी जिससे वेद्यता में भी वेद्यता हो—यह कहा गया—'कोई दूसरी अपेक्षा नहीं है' और 'कृतकृत्य को' ॥ ७६ ॥

प्रश्न—यदि प्रकाश की विश्रान्ति रूपी तत्त्व वाली ही वेद्यता है तो यह पदार्थ का धर्म कैसे होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे प्रभु शिव अपने स्वातन्त्र्यवश भिन्न-भिन्न नील आदि के रूप में भासित होते हैं उसी प्रकार यह वेद्यता भी (पदार्थ का) धर्म कही जाती है ॥ -७७-७८- ॥

धर्म अर्थात् भाव का ॥ ७८ ॥

प्रश्न—वेद्यता पदार्थ का धर्म हो हमें क्या आपत्ति है किन्तु यह कैसे होता है कि अनेक प्रमाताओं में उसी प्रकार वेद्यता का अनैक्य है ? ऐसा नहीं है कि प्रमाता के भिन्न होने पर भी नील का स्वयं में कोई विशेष (= अनैक्य) होता है जिससे ऐसा हो?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रकार से सिद्ध वेद्यत्व पदार्थ का धर्म हो जाय क्या घृणा है ? सोचने की बात यह है समस्त अन्तिम तक कहे गये प्रमाताओं के द्वारा वेद्यता एक रूप होनी चाहिये फिर चौदह (प्रकार) की बात कहाँ से आयी ? ॥ -७८-७९ ॥

इसी का समाधान करते हैं—

उच्यते परिपूर्णं चेद्भावीयं रूपमुच्यते ।
तद्विभुर्भैरवो देवो भगवानेव भण्यते ॥ ८० ॥
अथ तन्निजमाहात्म्यकल्पितोऽशांशिकाक्रमः ।
सह्यते किं कृतं तर्हि प्रोक्तकल्पनयाऽनया ॥ ८१ ॥

एवंविधं हि भावानां रूपं पूर्णमपूर्णं च, तत्र पूर्णरूपत्वे स्वप्रकाशः पर एव प्रकाशस्तथोज्जृम्भते इति को नाम भावार्थः, अपूर्णं च रूपं धर्मधर्म्यादिरूपतया पारमेश्वर्या स्वातन्त्र्यशक्त्यैव तथा कल्पितमिति भेदानुप्राणितः समग्र एवायं व्यवहारः सोढव्य इति किमनया पाञ्चदश्यादिक्रमकल्पनयाऽपराद्धं यदेवमस्याः प्रद्वेषः ॥ ८१ ॥

तदेवमेकमेव नीलं तत्तदंशांशिकाक्रमेणावभासमानं तथा तथा भिद्यत एव—इत्याह—

अत एव यदा येन वपुषा भाति यद्यथा ।
तदा तथा तत्तद्रूपमित्येषोपनिषत्परा ॥ ८२ ॥

येन वपुषेति उद्रिक्तानुद्रिक्तसकलादिशिवान्तप्रमातृवेद्येन—इत्यर्थः । तद्रूपमिति—सकलवेद्यं प्रलयाकलवेद्यमित्यादि ॥ ८२ ॥

कहते हैं—यदि पदार्थों का परिपूर्ण रूप कहा जाता है तभी व्यापक भैरव देव भगवान् कहे जाते हैं । और यदि उनकी अपनी महिमा से कल्पित अंश अंशी का क्रम आपके द्वारा माना जाता है तो इस उक्त कल्पना ने क्या (अपराध) किया है अर्थात् इसे भी मानिये ॥ ८०-८१ ॥

इस प्रकार पदार्थों का पूर्ण और अपूर्ण (दो) रूप है । उनमें पूर्णरूप होने पर स्वप्रकाश = पर ही प्रकाश, उसतरह प्रस्फुटित होता है फिर पदार्थ (नाम की) कोई (वस्तु) नहीं रहती । और जो अपूर्ण रूप है वह परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा धर्म धर्मी आदि के रूप में उस प्रकार कल्पित है इसलिये भेदयुक्त समस्त यह व्यवहार सहना चाहिये फिर इस पन्द्रह आदि क्रम की कल्पना : क्या अपराध किया है जो इसके विषय में (आपको) ऐसा द्वेष है ॥ ८०-८१ ॥

तो इस प्रकार एक ही नील (तत्त्व) भिन्न-भिन्न अवयव—अवयवी के क्रम से भासित होता हुआ उस-उस प्रकार से भिन्न होता है—यह कहते हैं—

इसलिये जब जो वस्तु जिस रूप में जिस प्रकार भासित होती है उस समय वह उस रूप में उसी प्रकार की होती है यही परा उपनिषत् (= त्रिकशास्त्र का रहस्य) है ॥ ८२ ॥

जिस रूप से = स्फुट अस्फुट सकल से लेकर शिवपर्यन्त प्रमाता के वेद्य रूप से । उस रूप वाला = सकल से वेद्य, प्रलयाकल से वेद्य इत्यादि ॥ ८२ ॥

ननु यदि तत्तत्सकलादिप्रमातृवेद्यता प्रमातृभेदादेव कथञ्चन भेदमुपनीता तथाप्येकरूपैवासावर्थक्रियाया भेदेनाकरणात् तद्वेद्यमप्येकरूपमेवेति पुनरपि पाञ्चदश्यादिक्रमकल्पना कल्पनैव ?—इत्याशङ्क्य वेद्यताभेदसमर्थनार्थमर्थक्रियाभेदं प्रतिजानीते—

चैत्रेण वेद्यं जानामि द्वाभ्यां बहुभिरप्यथ ।
मन्त्रेण तन्महेशेन शिवेनोद्रिक्तशक्तिना ॥ ८३ ॥
अन्यादृशेन वेत्त्येवं भावो भाति यथा तथा ।
अर्थक्रियादिवैचित्र्यमभ्येत्यपरिसंख्यया ॥ ८४ ॥

यथैव भावो भाति तथाऽर्थक्रिया, ...अन्यादृशेनेति अनुद्रिक्तशक्तिना । इत्येवमिति चैत्रेण.............. ॥ ८४ ॥

तदेव दिङ्मात्रेणोपपादयन् व्यनक्ति—

तथा ह्येकाग्रसकलसामाजिकजनः खलु ।
नृत्तं गीतं सुधासारसागरत्वेन मन्यते ॥ ८५ ॥

इह खलु प्रेक्षावतां सामाजिकानां मध्यादेवैकः प्रमाता पदे.............तेन दाढ्यदिव मयेति(न्यते) नृत्तगीतादेर्बहुवेद्यताख्यमतिशयं मन्वानस्तत्स्वानुभवैकगोचरा-

---

प्रश्न—यदि उन-उन सकल आदि प्रमाताओं की वेद्यता प्रमाता के भेद से ही किसी प्रकार भिन्न की गई तो भी यह एकरूपा ही है क्योंकि अर्थक्रिया के भेद से भिन्न नहीं की जाती । तो वेद्य भी एकरूप ही है इसलिये फिर भी पन्द्रह आदि की कल्पना कल्पना ही है ?—यह शङ्का कर वेद्यताभेद के समर्थन के लिये अर्थ-क्रिया के भेद को बतलाते हैं—

(मैं) चैत्र के द्वारा, दो के द्वारा अथवा अनेक के द्वारा वेद्य को जानता हूँ । मन्त्र (मन्त्रेश्वर) मन्त्रमहेश्वर उद्रिक्त शक्ति वाले शिव के द्वारा अथवा अन्य प्रकार के द्वारा जैसे पदार्थ आभासित होता है उसी प्रकार असंख्य वैचित्र्य को प्राप्त कर अर्थक्रिया आदि (भासित होती है) ॥ ८३-८४ ॥

जैसे पदार्थ भासित होता है उसी प्रकार अर्थ क्रिया ...। अन्यप्रकार से = अनुद्रिक्तशक्ति वाले के द्वारा । इस प्रकार = चैत्र के द्वारा ...॥ ८४ ॥

उसी को संक्षिप्त रूप से उपपादित करते हुये व्यक्त करते हैं—

एकाग्र (चित्तवाले) सब सामाजिक लोग नृत्त और गीत को अमृत का सागर मानते हैं ॥ ८५ ॥

विवेकशील सामाजिकों में से ही एक प्रमाता (आनन्दमय) पद पर (प्रतिष्ठित होकर आनन्द को) दृढ़तापूर्वक मानता है अर्थात् नृत्त गीत आदि बहुवेद्यता नामक

चरमचमत्कारसारतया परामृशेत्-इत्यर्थः । एकैकप्रमातृवेद्याद्धि नृत्तादेरनेकप्रमातृवेद्यस्यास्यास्त्येव सर्वसञ्चेत्योऽतिशयो येन तावत्यंशे प्रमात्रैक्यं स्यात् ॥ ८५ ॥

तदाह—

तत एवोच्यते मल्लनटप्रेक्षोपदेशने ।
सर्वप्रमातृतादात्म्यं पूर्णरूपानुभावकम् ॥ ८६ ॥

तत इति बहुमातृवेद्यत्वलक्षणाद्धेतोः । उच्यते इति—सर्वैः । यच्छ्रीप्रत्यभिज्ञायां—

"तं तं घटादिमर्थमेकदेशव्यवस्थिताः प्रमातारः समं संवेद्यमानास्तावत्यंशे तदैक्यमुपयान्ति ।" इति ।

पूर्णरूपेति इयदेव हि पूर्णं रूपं यद्विगलितवेद्यान्तरतया तत्रैवानन्याकांक्षत्वेन परामर्शनं नामेति ॥ ८६ ॥

नन्वेकैकस्य पृथक् पृथक् नृत्तादिसंवित्तिरेवमवस्थितेति किमनेकप्रमातृवेद्यत्वेन —इत्याह—

तावन्मात्रार्थसंवित्तितुष्टाः प्रत्येकशो यदि ।

अतिशय को मानता हुआ उसको स्वानुभवैकगोचर अन्तिम चमत्कारसार के रूप में समझता है । एक-एक प्रमाता से वेद्य नृत्त आदि की अपेक्षा अनेक प्रमातृवेद्य इसका (= नृत्य आदि का) (कुछ न कुछ) सर्वानुभवनीय अतिशय अवश्य है जिस कारण उतने अंश में प्रमाता की एकता हो जाती है ॥ ८५ ॥

वह कहते हैं—

उसी कारण मल्ल अथवा नट की प्रेक्षा के उपदेश (= कलाप्रदर्शन) में सभी प्रमाताओं का, पूर्णरूप का अनुभव कराने वाला, तादात्म्य (सबके द्वारा) कहा जाता है ॥ ८६ ॥

इस कारण = बहुत प्रमाताओं के वेद्यत्व के कारण । कहा जाता है—सबके द्वारा । जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में (कहा गया)—

"उस-उस घट आदि पदार्थ को एक स्थान में स्थित प्रमाता लोग एक साथ समझते हुये उतने अंश में उसकी एकता को प्राप्त होते हैं ।"

पूर्णरूप—यही पूर्णरूप है कि वेद्यान्तरशून्य होकर उसी में अनन्याकाङ्क्ष होकर परामर्शन करना ॥ ८६ ॥

प्रश्न—एक-एक का अलग-अलग नृत्त आदि का ज्ञान इस प्रकार स्थित है फिर अनेक प्रमाता से वेद्य होने से क्या लाभ ?—यह कहते हैं—

कः संभूय गुणस्तेषां प्रमात्रैक्यं भवेच्च किम् ॥ ८७ ॥

एवं हि सामाजिकानामनेकप्रमातृवेद्यता, संमीलनयातः को गुणो न कश्चित्स्वानुभवसाक्षिकस्यापि चमत्कारातिशयस्य निह्नव एव कृतः स्यात्-इत्यर्थः । ननु तावत्यंशे प्रमात्रैक्यादेवैवं चमत्कारानुभवो भवेत्?—इत्याशङ्क्याह—'प्रमात्रैक्यं भवेच्च किम्' इति । एकस्मिन् हि वस्तुन्यनेकवेद्यतावभास एव स्वात्मविश्रान्तिमयपरामर्शोपारोहक्रमेण विगलितभेदतया प्रमातृणामैक्योपगमे बीजं यत एवंविधानन्दसन्दोहपात्रताऽपि भवेत् ॥ ८७ ॥

अत एवाह—

यदा तु तत्तद्वेद्यत्वधर्मसंदर्भगर्भितम् ।
तद्वस्तु शुष्कात्प्राग्रूपादन्यद्युक्तमिदं तदा ॥ ८८ ॥

शुष्कात्प्राग्रूपादिति एकैकप्रमातृसंवेद्यान्नीरसप्रायादिति यावत् । अन्यदिति निरतिशयचमत्कारकारिरूपान्तराविष्टम्—इत्यर्थः । अत्र हेतुःतत्तद्वेद्यत्वधर्मसंदर्भगर्भितमिति प्रमात्रैक्यम् ॥ ८८ ॥

न केवलं लोके सकलप्रमात्रपेक्षया वेद्यत्वमेवं विचित्रार्थक्रियाकारि, यावच्छास्त्रेऽपि प्रमात्रन्तरापेक्षया—इत्याह—

यदि मात्र उतने अर्थज्ञान से प्रत्येक तुष्ट हो जाँय तो उनका मिलकर क्या गुण होगा और क्यों प्रमात्रैक्य होगा ? ॥ ८७ ॥

इस प्रकार सामाजिकों की अनेकप्रमातृवेद्यता है । इसलिये (इनके) मिलने से क्या गुण होगा? कोई नहीं । अर्थात् स्वानुभवसाक्षि वाले चमत्कारातिशय का तिरोधान ही कर दिया जायगा । प्रश्न—उतने अंश में प्रमाता की एकता से ही इस प्रकार के चमत्कार का अनुभव हो जायगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—प्रमाता की एकता कैसे होगी? स्वात्मविश्रान्तिमय परामर्श के आरोह के क्रम से भेद के हट जाने के कारण, एक हो वस्तु में अनेक वेद्यता का आभास ही प्रमाताओं की एकता को स्वीकार करने में हेतु है जिससे इस प्रकार के आनन्दसमूह की पात्रता भी होती है ॥ ८७ ॥

इसलिये कहते हैं—

जब वह वस्तु तत्तद् वेद्यत्व धर्म के सन्दर्भ से पूरित हो जाती है तब यह शुष्क पूर्ववर्त्ती रूप से अन्य (= भिन्न) कही जाती है ॥ ८८ ॥

शुष्क पूर्ववर्त्ती रूप से = एक-एक प्रमाता से संवेद्य नीरसप्रायता के कारण शुष्क । अन्य = निरतिशय चमत्कारकारी रूपान्तर से आविष्ट । इसमें कारण है—तत्तद्वेद्यत्व धर्म के सन्दर्भ से गर्भित प्रमाता की एकता ॥ ८८ ॥

केवल लोक में ही समस्त प्रमाताओं की अपेक्षा से वेद्यता इस प्रकार की

शास्त्रेऽपि तत्तद्वेद्यत्वं विशिष्टार्थक्रियाकरम्।
भूयसैव तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥ ८९ ॥
तथा षड्विधमध्वानमनेनाधिष्ठितं स्मरेत् ।
अधिष्ठानं हि देवेन यद्विश्वस्य प्रवेदनम् ॥ ९० ॥
तदीशवेद्यत्वेनेत्थं ज्ञातं प्रकृतकार्यकृत् ।

भूयसैवेत्यविगानेन सर्वत्रैव—इत्यर्थः । एतदेवोदाहरति तथा चेत्यादिना । एतच्च स्वयमेव व्याख्याय प्रकृते योजयति अधिष्ठानमित्यादिना । नहि भेदवादिनामिवास्माकं भिन्नं विश्वमस्ति येन तदुक्तवदधिष्ठात्रधिष्ठेयभावो भवेदित्युक्तं देवेन विश्वस्याधिष्ठानं प्रवेदनमिति । संविन्मयो हि सः संविदश्च संवेद्य एव विषय इत्याधार इत्यधिष्ठेय इति चोच्यते, ततश्चेत्थमनेकवेद्यताप्रकारेण शिववेद्यत्वेन ज्ञातं सत् षडध्वलक्षणं विश्वं प्रकृतं दीक्षाकर्मादिकार्यं करोत्येवंविधार्थक्रियाक्षमम्—इत्यर्थः । एवं मन्त्रमहेश्वरादिवेद्यत्वेनापि नियततत्तत्तत्त्वावाप्तिः स्यादित्यपरिसंख्येयमत्रार्थक्रियावैचित्र्यम् ॥ ९१ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

विचित्र अर्थक्रियाकारी नहीं होती, शास्त्र में भी दूसरे प्रमाता की अपेक्षा से (वैसी) होती है—यह कहते हैं—

शास्त्र में भी तत्तद्वेद्यता बहुत अधिक अर्थक्रियाकारिणी होती है । मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में—इसके द्वारा अधिष्ठित छ प्रकार के अध्वा का स्मरण करना चाहिये । देव (= परमेश्वर) के द्वारा विश्व का ज्ञान कराना अधिष्ठान ही है तो ईश्वर के द्वारा इस प्रकार वेद्य होने से (यह) प्रकृतकार्यकारी माना गया है ॥ ८९-९१- ॥

भूयसा = सर्वत्र एकमत से । इसी को उदाहरण के द्वारा प्रस्तुत करते हैं—'तथा च' इत्यादि के द्वारा । इसकी स्वयं व्याख्या कर अधिष्ठान इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत में जोड़ते हैं—भेदवादियों की तरह हमारे मत में विश्व परमेश्वर से भिन्न नहीं है जिससे उनके (= भेदवादियों के) कथन के समान अधिष्ठातृअधिष्ठेय भाव होता है । इसलिये कहा गया परमेश्वर के द्वारा विश्व का प्रवेदन ही अधिष्ठान है । क्योंकि वह (= परमेश्वर) संविन्मय है । और संवेद्य ही संविद् का विषय, आधार, और अधिष्ठेय कहा जाता है । तो इस प्रकार अनेक वेद्यताप्रकार वाला शिववेद्य के रूप में ज्ञात छः अध्वालक्षण वाला विश्व प्रस्तुत दीक्षाकर्म आदि कार्य को करता है अर्थात् इस प्रकार की अर्थक्रिया करने में सक्षम है । इस प्रकार मन्त्रमहेश्वर आदि के वेद्य के रूप में भी नियत तत्तत् तत्त्व की प्राप्ति होती है । इसलिये अर्थक्रिया-वैचित्र्य असंख्य है ॥ ९१ ॥

इसका उपसंहार करते हुये अन्य को प्रस्तुत करते हैं—

एवं सिद्धं वेद्यताख्यो धर्मो भावस्य भासते॥ ९१ ॥
तदनाभासयोगे तु स्वरूपमिति भण्यते ।

तदनाभासयोगे इति तस्य वेद्यताख्यस्य धर्मस्यापरामर्शे सति—इत्यर्थः । तेनाभासान्तरसंमूर्छनाविरहितो नीलमित्येव विमृश्यमानः सामान्यात्मक एकक एवाभासः पञ्चदशं स्वरूपमित्युक्तम् ॥ ९२ ॥

ननु नीलमित्यपि स्वरूपेण विमृश्यमानमन्तःकृतनिखिलधर्मात्मकमेव विमृष्टं स्यादिति प्रमात्रन्तरवेद्यतोपरागो दुरपह्नव एव?—इत्याशङ्क्याह—

उपाधियोगिताशङ्कामपहस्तयतोऽस्फुटम् ॥ ९२ ॥
स्वात्मनो येन वपुषा भात्यर्थस्तत्स्वकं वपुः ।

उपाधियोगिताशङ्कामित्याशंकितमाभासान्तरम्—इत्यर्थः । अस्फुटमिति—वस्तुनो हि देशकालाभाससंमूर्छनया स्वालक्षण्यापत्तौ स्फुटता भवेत्—इति भावः । स्वात्मन इति प्रमातुः, येन वपुषेति सामान्यात्मना, स्वकं वपुरिति स्वरूपम् । इह हि मायापदे विकल्पदशामधिशयानो विमर्शः समारोपितधर्मान्तरप्रतिक्षेपाय प्रवर्तमानः स्वालक्षण्यादविभिन्नमपि आभासान्तरं व्यवच्छिन्दन् सामान्यात्मकं

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि भाव पदार्थ का वेद्यतानामक धर्म भासित होता है । उसका (= धर्म का) आभास न होने पर (यह षड-ध्वात्मक विश्व परमेश्वर का अपना) स्वरूप कहा जाता है ॥ -९१-९२-॥

उसका अनाभास होने पर = उसका = वेद्यता नामक धर्म का, परामर्श न होने पर । इसलिये दूसरे आभास की मूर्च्छना से रहित, नील समझा जाने वाला सामान्य स्वरूप एक ही आभास पन्द्रहवाँ स्वरूप होता है—यह कहा गया ॥ ९२॥

प्रश्न—'नील' भी स्वरूपतः विमृश्यमान वस्तु अन्तःकृत समस्त धर्मात्मक ही परामृष्ट होती है फिर दूसरे प्रमाता की वेद्यता का निरोध रोका नहीं जा सकेगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उपाधियोग की आशङ्का को अस्पष्ट रूप से तिरोहित करने वाले आत्मा को जिस रूप से अर्थ प्रकाशित होता है वही उस (= पदार्थ) का अपना रूप है ॥ -९२-९३- ॥

उपाधियोगिता की आशङ्का को = आशङ्कित अन्य आभास को । अस्फुट वस्तु के देश काल आभास की संमूर्च्छना के कारण स्वलक्षण होने पर स्फुटता हो जायगी । स्वात्मा का = प्रमाता का । जिस रूप से = सामान्यात्मक रूप से । अपना शरीर = स्वरूप । मायास्तर पर विकल्प दशा को प्राप्त होने वाला विमर्श समारोपित दूसरे धर्म के प्रतिक्षेप के लिये प्रवृत्त होता हुआ स्वलक्षण से अभिन्न भी दूसरे आभास को अवच्छिन्न करता हुआ सामान्यात्मक नीलमात्र का ही विमर्श करता

नीलमात्रमेव विमृशति नतु स्वरूपाविनाभाविनीं सत्तामपि स्पृशतीति कथं नीलमात्रपरामर्शदशायां वेद्यताख्यधर्मान्तरोपरागसंभावनापि—इति तात्पर्यार्थः ॥ ९३ ॥

ननु धर्मान्तरं व्यवच्छेत्स्यता विकल्पेन प्रमात्रन्तरवेद्यता व्यवच्छिद्यतां नहि तामन्तरेण स्वरूपमेव न स्यात् तत्प्रमातृवेद्यता तु कथङ्कारं तिरोधीयेत ?—इत्याशङ्क्याह—

जानामि घटमित्यत्र वेद्यतानुपरागवान् ॥ ९३ ॥
घट एव स्वरूपेण भात इत्यपदिश्यते।

नन्वत्र जानामीति ज्ञानक्रियाकर्मतया स्वयंवेद्यता तावदस्ति, प्रमात्रन्तरवेद्यता चावश्यंभाविनी अस्मदाद्यगोचरत्वेऽन्ततः क्रिमिसर्वज्ञादेरपि वेद्यो भवेदित्युक्तत्वात्; तत्कथमुक्तं वेद्यतानुपरागवान् स्वरूपेण घटो भात इति ?—तदाह—

ननु तत्र स्वयंवेद्यभावो मन्त्राद्यपेक्षया ॥ ९४ ॥
अपि चास्त्येव......................

तदिदमनवधारितास्मदभिप्रायस्य चोद्यम् न ह्यस्माभिर्घटः स्वरूपेण वेद्यतानुपरागवानित्युक्तं किंतु वेद्यतानुपरागवान् भात इति ॥

है । न कि स्वरूप के साथ अवश्य रहने वाली सत्ता का भी स्पर्श करता है फिर कैसे नीलमात्र के परामर्श की दशा में वेद्यता नामक दूसरे धर्म के उपराग की सम्भावना भी हो सकती है ?—यह तात्पर्य है ॥ ९३ ॥

प्रश्न—धर्मान्तर का व्यवच्छेद करने वाले विकल्प के द्वारा दूसरे प्रमाता की वेद्यता रुक जाय क्योंकि उसके बिना स्वरूप ही नहीं होगा ऐसा नहीं है । उसकी प्रमातृवेद्यता कैसे तिरोहित होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'मैं घट को जानता हूँ' इस स्थल पर वेद्यता से अनुपरक्त घट ही स्वरूपतः आभासित हो रहा है—ऐसा माना जाता है ॥ -९३-९४- ॥

प्रश्न—'जानता हूँ' यहाँ ज्ञानक्रिया के कर्म के रूप में स्वयंवेद्यता है । और अन्य प्रमाता की वेद्यता अवश्यंभाविनी है क्योंकि (घट आदि) हम लोगों का प्रथम विषय न होने पर अन्ततः क्रिमि से लेकर सर्वज्ञ आदि तक का भी वेद्य होता है—यह कहा गया है । तो यह कैसे कहा गया कि वेद्यता से अनुपरक्त घट स्वरूपेण प्रतीत होता है?—वह कहते हैं—

वहाँ (= घट आदि में) मन्त्र (= प्रमाता) आदि की अपेक्षा स्वयं वेद्यभाव भी है ही ॥ -९४-९५- ॥

ऐसा कथन हमारे अभिप्राय को न समझने वाले का है । हम लोगों ने यह नहीं कहा है कि घट स्वरूपेण वेद्यता से अनुपरक्त है किन्तु (यह कहा है कि) घट वेद्यता से अनुपरक्त प्रतीत होता है ॥

न च घटं जानामीत्यत्र स्ववेद्यतां सर्वज्ञादिवेद्यतां च जानामीत्यनुसन्धिरस्ति, जानामीति चास्मदर्थविश्रान्तो ज्ञानपरामर्श एवायम्—इत्याह—

............नन्वस्तु न तु सन्प्रतिभासते ।

न च स्वरूपपरामर्शनान्तरीयकतया सर्वत्रैव स्वात्मवेद्यतापि स्यात्—इत्याह—

अवेद्यमेव कालाग्निवपुर्मेरोः परा दिशः ॥ ९५ ॥
ममेति संविदि परं शुद्धं वस्तु प्रकाशते ।

शुद्धमिति स्वपरवेद्यतासंभेदपरामर्शरहितम्—इत्यर्थः ॥ ९५ ॥

ननु शुद्धं वस्तु प्रकाशते चेत्सिद्धमस्य वेद्यत्वम्, अवेद्यं च प्रकाशते चेति विप्रतिषेधः ? सत्यं, किन्तु प्रकाशमानत्वाद्वेद्यं नतु वेद्यत्वेन प्रकाशमानम्—इत्याह—

भातत्वाद्वेद्यमपि तन्न वेद्यत्वेन भासनात् ॥ ९६ ॥
अवेद्यमेव भानं हि तथा कमनुयुञ्जमहे ।

तदिति स्वरूपमात्ररूपं शुद्धं वस्तु । अवेद्यमिति वेद्यत्वाभासान्तरासंमूर्छितम्—

'घट को जानता हूँ' यहाँ 'स्ववेद्यता और सर्वज्ञ आदि की वेद्यता को जानता हूँ'—ऐसा अनुसन्धान नहीं होता । 'जानता हूँ' यह मात्र अस्मद् अर्थ में विश्रान्त ज्ञान का परामर्श है—यह कहते हैं—

(वह परामर्श) हो किन्तु सत् प्रतीत नहीं होता ॥ ९५- ॥

यह भी नही है कि स्वरूपपरामर्श के नान्तरीयक के रूप में सर्वत्र ही स्वात्मवेद्यता भी होती है—यह कहते हैं—

कालाग्नि भुवन का रूप अवेद्य है । सुमेरु गिरि के उस पार की दिशायें (अवेद्य) हैं । (इससे यह तात्पर्य निकला कि) 'मेरी' इस ज्ञान में (आपेक्षिक वस्तु स्वरूप का ज्ञान न होने पर भी) पर शुद्ध वस्तु प्रकाशित होती ही है ॥ -९५-९६- ॥

शुद्ध = स्वपरवेद्यतासंभेद के परामर्श से रहित ॥ ९५ ॥

प्रश्न—यदि 'शुद्ध वस्तु प्रकाशित होती है' तो इसकी वेद्यता सिद्ध है । अवेद्य है और प्रकाशित होता है—यह (कथन) परस्पर विरुद्ध है? (उत्तर है कि आपका प्रश्न) सत्य है किन्तु प्रकाशमान होने के कारण वेद्य है न कि वेद्य होने के कारण प्रकाशमान है—यह कहते हैं—

वह आभासित होने के कारण वेद्य भी है न कि वेद्य होने से भासन के कारण (वेद्य) है । प्रकाशमानता अवेद्य ही है । इस प्रकार किसे दोषी बनायें ॥ -९६-९७- ॥

इत्यर्थः। अत्र हेतुः न वेद्यत्वेन भासनादिति । ननु

'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति।'

इति भङ्ग्या वेद्यतायामनाभासमानायां कथमिव स्वरूपेण वेद्यं भातं भवेत् ? —इत्याशङ्क्याह—भानं हीत्यादि । भानं हि प्रकाशः, स च विमर्शजीवितः— इत्युक्तम् । स च 'घटं जानामि' इत्यत्र घट इव वेद्यतायां न संभवति वेद्यमित्यनव- सायात् प्रत्युत कालाग्न्यादाववेद्यतापरामर्शो दर्शितः, तत्कस्यायं पर्यनुयोगो वेद्ये प्रकाशमाने कथं वेद्यताया अप्रकाशनमिति ॥ ९६ ॥

एवं च पाञ्चदश्यादिक्रमकल्पना वास्तव्येव—इत्याह—

एवं पञ्चदशात्मेयं धरा तद्वज्जलादयः ॥ ९७ ॥
अव्यक्तान्ता यतोऽस्त्येषां सकलं प्रति वेद्यता।

अनेन वस्तुधर्माख्यप्रमेयानन्तर्येणानुजोद्देशोद्दिष्टस्य तत्त्वविधेरप्यासूत्रणं कृतम् ॥ ९७ ॥

ननु

'इत्यनेन कलाद्येन धरान्तेन समन्विताः।

वह = स्वरूपमात्ररूप शुद्धवस्तु । अवेद्य = दूसरे वेद्यत्वाभास से असंमूर्च्छित । इसमें कारण है—न कि वेद्य होने से भासन के कारण ।

प्रश्न—"जो प्रत्यक्षत, उपलब्ध नहीं है उसे विषय नहीं समझा जाता ।"

इस नियम से वेद्यता के आभासित न होने पर स्वरूपेण वेद्य आभासित कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—भान तो । भान का अर्थ है—प्रकाश । और उसका कारण है—विमर्श—यह कहा जा चुका है । और वह (= विमर्श) 'घट को जानता हूँ' इस स्थल में 'घट' के समान वेद्यता में सम्भव नहीं है क्योंकि 'वेद्य है'—ऐसा निश्चय नहीं होता उल्टे कालाग्नि रुद्रभुवन आदि में अवेद्यता का परामर्श दिखलाया गया (जो अनुचित है) । वेद्य के प्रकाशमान होने पर वेद्यता का प्रकाशन क्यों नही होता ॥ ९६ ॥

इस प्रकार पन्द्रह आदि क्रम की कल्पना वास्तविक ही है—यह कहते हैं—

इस प्रकार यह पृथिवी पन्द्रह प्रकार (= स्वरूपों) वाली है । इसी प्रकार जल से लेकर अव्यक्त तक (सभी तत्त्व पन्द्रह प्रकार वाले) हैं क्योंकि ये सकल (प्राणियों) के लिये वेद्य हैं ॥ -९७-९८- ॥

इससे वस्तुधर्म नाँमक प्रमेय के बाद अनुजोद्देश में कथित तत्त्वविधि का भी प्रारम्भ कर दिया गया ॥ ९७ ॥

प्रश्न—

पुमांसः सकला ज्ञेया..................... ॥' (मा०वि०१।३५)

इत्युक्त्या कलान्तं सकलस्यावस्थानं तत्कथमव्यक्तान्तमस्य प्रमातृत्वमुक्तम् ? —इत्याशङ्क्याह—

यत्तूच्यते कलाद्येन धरान्तेन समन्विताः ॥ ९८ ॥
सकला इति तत्कोशषट्कोद्रेकोपलक्षणम् ।

नह्यनेन वाक्येन पुंसः कलान्तमवस्थानमुक्तं, तथात्वे हि 'पुरुषः पञ्चविंशकः' इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यात्, किंतु उद्रिक्तमस्य मायादिकञ्चुकषट्कमिति । तद्धि प्रलयाकलस्यानुद्रिक्तं विज्ञानाकलस्य ध्वस्तमिति ॥ ९८ ॥

तदाह—

उद्भूताशुद्धचिद्रागकलादिरसकञ्चुकाः ॥ ९९ ॥
सकलालयसंज्ञास्तु न्यग्भूताखिलकञ्चुकाः ।
ज्ञानाकलास्तु ध्वस्तैतत्कञ्चुका इति निर्णयः ॥ १०० ॥

रसेति षट् ॥ १०० ॥

ननु देहादिवेद्यांशप्राधान्यान्मुख्यतया सकलः प्रमातैव न भवतीति कुतस्त्यं

"इस प्रकार कला से लेकर पृथिवीपर्यन्त से युक्त पुरुषों को सकल समझना चाहिये ।"

इस उक्ति के अनुसार सकल की स्थिति कला तक है तो कैसे यहाँ अव्यक्त पर्यन्त ही इसकी प्रमातृता कही गई ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जो कहा जाता है कि सकल (प्रमाता) कला से लेकर पृथिवी तत्त्व तक से युक्त है, वह (कथन) छ कञ्चुक के उद्रेक का सूचक है ॥ -९८-९९- ॥

इस वाक्य से पुरुष की कलापर्यन्त स्थिति नहीं कही गई । क्योंकि वैसा होने पर 'पुरुष पचीसवाँ तत्त्व है' इत्यादि श्रुति से विरोध होगा । किन्तु इसके (सकल के) माया आदि छ कञ्चुक स्पष्ट है—(यह कहा गया) । वह (= छ कञ्चुक) प्रलयाकल का तिरोहित और विज्ञानाकल का ध्वस्त होता है ॥ ९८ ॥

वह कहते हैं—

सकलालय नामक (सकल स्तर के प्रमाता) अशुद्धविद्या कला आदि छ उद्भूत कञ्चुक वाले हैं प्रलयाकल नाम वाले तिरोहित समस्त कञ्चुक वाले तथा विज्ञानाकल ध्वस्तकञ्चुक वाले होते हैं—यह निर्णय है ॥ -९९-१०० ॥

रस = छ ॥ १०० ॥

पाञ्चदश्यम्?—इत्याशङ्क्याह—

तेन प्रधाने वेद्येऽपि पुमानुद्भूतकञ्चुकः ।
प्रमातास्त्येव सकलः पाञ्चदश्यमतः स्थितम् ॥ १०१ ॥

यद्यपि सकले देहाद्यात्मनो वेद्यस्यैव प्राधान्यं तथापि ज्ञानकलो(क्रियो)त्तेजककलाविद्यादिकञ्चुकोद्रेकादस्त्येव प्रमातृत्वमित्यनवद्यं पाञ्चदश्यम् ॥ १०१ ॥

ननु वेद्यांशप्राधान्याद्धरादिवत्पुंस्यपि पाञ्चदश्यमेव न्याय्यं तत्कथं 'आनराद्भेदयुग्धीनम्' इत्याद्युक्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

पाञ्चदश्यं धराद्यन्तर्निविष्टे सकलेऽपि च।
सकलान्तरमस्त्येव प्रमेयेऽत्रापि मातृ हि ॥ १०२ ॥

धराद्यन्तर्निविष्टे इत्यनेनास्य वेद्यांशप्राधान्यमेवोपोद्बलितम् । अत एवोक्तं प्रमेय इति । प्रमात्रेकरूपत्वे हि कथमेवं सङ्गच्छताम्—इत्याशयः । सकलान्तरमिति, यदा त्वत्र प्रलयाकलः प्रमाता तदा त्रायोदश्यमेवेति सर्वं स्वस्थम् ॥ १०२ ॥

ननु किमनेनैवमुपदिष्टेन पाञ्चदश्येन?—इत्याशङ्क्याह—

प्रश्न—देह आदि वेद्य अंश की प्रधानता के कारण सकल (प्राणी) मुख्य रूप से प्रमाता ही नहीं होता इसलिये पन्द्रह की स्थिति कैसे हैं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिये वेद्य (अंश के) प्रधान होने पर भी उद्भूत कञ्चुक वाला पुरुष सकल प्रमाता है ही इसलिये पन्द्रह की स्थिति ठीक है ॥ १०१ ॥

यद्यपि सकल (प्रमाता) में दह आदिरूप वेद्य की ही प्रधानता है तथापि (उसमें) ज्ञानक्रियोत्तेजक कला विद्या आदि कञ्चुक के उद्रेक से प्रमातृत्व है ही । इसलिये पन्द्रह की स्थिति निर्दुष्ट है ॥ १०१ ॥

प्रश्न—यदि वेद्यांश के प्रधान होने से पृथिवी आदि के समान पुरुष के विषय में पाञ्चदश्य उचित है तो 'नर से लेकर कला तक दो भेदों से हीन' इत्यादि कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

पृथिवी पर्यन्त तथा उसमें निविष्ट सकल में भी पाञ्चदश्य है फिर भी सकल का धरा आदि से अन्तर है क्योंकि इस (= सकल) में प्रमातृत्व भी है ॥ १०२ ॥

'धराद्यन्तर्निर्विष्ट 'इस (वचन) से इसमें वेद्यांश का प्राधान्य ही पुष्ट होता है (जबकि वेदकांश या प्रमात्रंश गौड़ है)। इसीलिये कहा गया—प्रमेय में । प्रमाता के एकरूप होने पर ऐसा कैसे सङ्गत होगा—यह आशय है । सकलान्तर—जब यहाँ प्रलयाकल प्रमाता होगा तो संख्या तेरह होगी । इस प्रकार सब ठीक है ॥ १०२॥

स्थूलावृतादिसङ्कोचतदन्यव्याप्तृताजुषः ।
पीताद्याः स्थिरकम्प्रत्वाच्चतुर्दश धरादिषु ॥ १०३ ॥
स्वरूपीभूतजडताः प्राणदेहपथे ततः ।
प्रमातृताजुषः प्रोक्ता धारणा विजयोत्तरे ॥ १०४ ॥

एतदेव ह्यधिकृत्य श्रीमालिनीविजयोत्तरे धरादिष्वव्यक्तान्तेषु चतुर्विंशतौ तत्त्वेषु प्रतितत्त्वं जडात्मकस्वरूपधारणया सह चतुर्दश धारणाः प्रोक्ताः—इति संबन्धः । तत्र सकलस्य स्थूलमाणवादि मलत्रयम्, प्रलयाकलस्यावरणमावृतमिति व्युत्पत्त्यावृतं मलद्वयम्, विज्ञानाकलस्यादि प्राथमिकमाणवं मलम्, मन्त्राणां प्रलयाकलोपादानत्वादावृततया सङ्कोचः, मन्त्रेश्वराणां सकलोपादानत्वात् स्थूलात्मा तच्छब्दनिर्दिष्टः सङ्कोचः, मन्त्रमहेश्वराणामन्यः सङ्कोचस्य यथायथं विगलनाद् विकासः । शिवस्य व्याप्तृता देशकालाद्यवच्छेदशून्यत्वात् व्यापकत्वम्, ता जुषन्ते सेवन्ते तदालम्बनाः—इत्यर्थः । नन्वेवं सप्त धारणा भवेयुः न चतुर्दश ?—इत्याशङ्क्योक्तं—स्थिरकम्प्रत्वादिति । स्थिरं स्वात्मविश्रान्त्या निर्व्यापारं शक्तिमद्रूपम्, कम्प्रं स्पन्दात्मकं सव्यापारं शक्तिरूपम् । अत एवात्र

उस उपदिष्ट पाञ्चदश्य से ही क्या लाभ है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

स्थूल (तीन मल), आवृत, आदि, तत्, सङ्कोच, उससे भिन्न (= विकास) तथा व्यापकता वाले पीत आदि पृथिवी आदि में स्थिर एवं कम्प्रयुक्त होने से चौदह हैं । स्वरूपीभूत जड़ता वाली फिर प्राणदेहपथ में प्रमातृता वाली धारणायें मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में कही गई है ॥ १०३-१०४ ॥

इसी को आधार मान कर मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में पृथिवी से लेकर अव्यक्त तक चौबीस तत्त्वों में प्रति तत्त्व जड़ात्मक स्वरूप की धारणा के साथ चौदह धारणायें कही गई हैं—ऐसा सम्बन्ध है । उनमें सकल का स्थूल आणव आदि तीन मल, प्रलयाकल का आवरण = आवृत इस व्युत्पत्ति से आवृत (आणव और मायीय) दो मल, विज्ञानाकल का आदि = प्राथमिक आणव मल है मन्त्रों का, प्रलयाकल का उपादान होने के कारण आवृत होने से सङ्कोच, मन्त्रेश्वरों का सकल का उपादान होने से स्थूल रूप तत्शब्द से निर्दिष्ट सङ्कोच, मन्त्रमहेश्वरों का अन्य = सङ्कोच के क्रमश, नष्ट होने से विकास होता है, शिव की व्याप्तृता = देशकाल आदि के अवच्छेद के शून्य होने से व्यापकत्व, उनका सेवन करने वाले = उन आधार वाले है ।

प्रश्न—इस प्रकार (स्थूल, आवृत, आदि, तत्, सङ्कोच, विकास और व्यापकत्व ये) सात ही धारणायें हैं चौदह नहीं ?—यह शङ्का कर कहा गया—स्थिर और कम्पनयुक्त होने से (चौदह हैं)। स्थिर = स्वात्मा में विश्रान्ति के कारण व्यापारशून्य शक्तिमद् रूप । कम्प्र = स्पन्दात्मकव्यापारयुक्त शक्तिरूप । इसीलिये यहाँ सकल

सकलतच्छक्त्यधिकारेण

'तद्वदेव स्मरेद्देहं किं तु व्यापारवर्जितम्।

(मा० वि० १२।२९) इति

'सव्यापारं स्मरेद्देहं........................ ॥' (मा०वि० १२।२६)

इति चोक्तम् । ताश्च यथायथं भेदविगलनात् देहप्राणबुद्ध्यादिप्रमातृदशाधिशायिन्यः, इत्युक्तं—'प्राणदेहपथे' इति । प्रमातृताजुषश्चेति तत्र स्वरूपसकलशक्तिमच्छक्तिधारणाधिकारेणोक्ताः । यदुक्तं तत्र—

'स्वदेहे हेमसङ्काशं तुर्याश्रं वज्रलाञ्छितम्' (मा० वि० १२।२२)

इत्यादि । प्राणादौ तु प्रलयाकलविज्ञानाकलादिधारणाः । यदुक्तम्—

'चतुर्थे हृद्गतं ध्यायेद् द्वादशांगुलमायतम्' । (मा०वि० १२।३०)

इत्यादि । 'पीताद्याः' इत्याद्यशब्दाज्जलतत्त्वादौ शुक्लादीनां ग्रहणम् । एतच्च सर्वं

'यः पुनर्गुरुणैवादौ कृतावेशविधिक्रमः ।

और उसकी शक्ति के अधिकार से

"उसी प्रकार देह का स्मरण करना चाहिये किन्तु व्यापारशून्य का (यह स्थिर अभ्यास है) ।" (मा०वि०तं० १२।२९)

और

"व्यापारयुक्त शरीर का स्मरण करना चाहिये (यह क्रम्प अभ्यास है)।" (मा०वि०तं० १२।२६)

यह कहा गया और वे (= धारणायें) क्रमशः भेद के गल जाने से देह प्राण बुद्धि आदि प्रमाताओं की दशा को प्राप्त करती है—इसलिये कहा गया—'प्राणदेहपथ में' । 'प्रमातृता वाली' (ये धारणायें) वहाँ स्वरूप, सकल, शक्तिमत् एवं शक्ति की धारणा के अधिकार से कही गयी हैं । जैसा कि वहाँ कहा गया है—

"अपने शरीर का स्वर्ण के समान, चतुष्कोण (प्रभामण्डल) वाला और वज्र से चिह्नित (विष्णुवत् चिन्तन करना चाहिये) ।" (मा०वि०तं० १२।२२)

प्राण आदि में प्रलयाकल विज्ञानाकल आदि धारणायें होती हैं । जैसा कि कहा गया है—

"चतुर्थ (क्रम) में हृदयस्थ बारह अंगुल परिमाण वाला, ध्यान करना चाहिये ।" (मा०वि०तं० १२।३०)

पीत आदि—यहाँ आदिशब्द से जलतत्त्व आदि में शुक्ल आदि (गुणों) का ग्रहण है । और यह सब—

स वासनानुभावेन भूमिकाजयमारभेत' ॥ (मा० वि० १२।२१)

इत्यादिना ।

'चतुर्विंशत्यमी प्रोक्ताः प्रत्येकं दशपञ्चधा ।
धारणाः क्ष्मादितत्त्वानां समासाद्योगिनां हिताः ॥'
(मा० वि० १६।१७)

इत्यन्तेन श्रीपूर्वशास्त्र एव सप्रपञ्चमुक्तमिति तत एवावधार्यम्, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रातिपद्येन संवादितम् ॥ १०४ ॥

एवं पाञ्चदश्यं निरूप्य त्रायोदश्याद्यपि निरूपयति—

यदा तु मेयता पुंसः कलान्तस्य प्रकल्प्यते।
तदुद्भूतः कञ्चुकांशो मेयो नास्य प्रमातृता॥ १०५ ॥
अतः सकलसंज्ञस्य प्रमातृत्वं न विद्यते ।
त्रयोदशत्वं तच्छक्तिशक्तिमद्द्वयवर्जनात् ॥ १०६ ॥
न्यग्भूतकञ्चुको माता युक्त(यत)स्तत्र लयाकलः ।
मायानिविष्टो विज्ञानाकलाद्याः प्राग्वदेव तु ॥ १०७ ॥
मायातत्त्वे ज्ञेयरूपे कञ्चुकन्यग्भवोऽपि यः ।
सोऽपि मेयः कञ्चुकैक्यं यतो माया सुसूक्ष्मिका॥ १०८ ॥

"जिसके विषय में गुरु ने पहले ही आवेशविधि का क्रम बना दिया है वह वासना से वासित होकर भूमिका जय (= प्रारम्भिक विजययात्रा) का आरम्भ करे ।"

यहाँ से प्रारम्भ कर—

"ये चौबीस (तत्त्व हैं इनकी) पृथिवी आदि तत्त्वों में से प्रत्येक के लिये योगियों के लिये हितकारिणी पन्द्रह धारणायें संक्षेप में कही गयी ॥"

यहाँ तक श्रीमालिनीविजय में विस्तार के साथ कही गयी हैं । इसलिये वहीं से समझ लेना चाहिये । यहाँ ग्रन्थविस्तार के भय से प्रतिपादित नहीं की गई ॥ १०४ ॥

इस प्रकार पन्द्रह (धारणाओं) की स्थिति का निरूपण कर तेरह आदि की स्थिति का निरूपण करते हैं—

जब कला पर्यन्त पुरुष की मेयता की कल्पना की जाती है तो इसका उद्भूत कञ्चुकांश ही मेय होता है प्रमातृत्व नहीं । इसलिये सकल संज्ञा वाला प्रमाता नहीं होता । उसके शक्ति और शक्तिमद् दो रूपों को छोड़ देने से तेरह (साधनावस्था) की स्थिति होती है । तिरोहितकञ्चुक वाला प्रमाता प्रलयाकल कहा गया है । माया में निविष्ट विज्ञानाकल आदि तो

विज्ञानाकल एवात्र ततो मातापकञ्चुकः ।
मायानिविष्टेऽप्यकले तथेत्येकादशात्मता ॥ १०९ ॥
विज्ञानकेवले वेद्ये कञ्चुकध्वंससुस्थिते ।
उद्बुभूषुप्रबोधानां मन्त्राणामेव मातृता ॥ ११० ॥
तेऽपि मन्त्रा यदा मेयास्तदा माता तदीश्वरः ।
स ह्युद्भवात्पूर्णबोधस्तस्मिन्प्राप्ते तु मेयताम् ॥ १११ ॥
उद्भूतपूर्णरूपोऽसौ माता मन्त्रमहेश्वरः ।
तस्मिन्विज्ञेयतां प्राप्ते स्वप्रकाशः परः शिवः ॥ ११२ ॥
प्रमाता स्वकतादात्म्यभासिताखिलवेद्यकः ।

पुंसः कलान्तस्येति पुंस्तत्त्वादारभ्य कलान्तस्य तत्त्वषट्कस्य—इत्यर्थः । अस्येत्युद्भूतस्य कञ्चुकषट्कस्य मेयत्वात् । त्रयोदशत्वमिति सकलस्य तच्छक्तेश्च प्रमेयतया स्वरूपीभूतत्वात् । नन्वत्र सकलस्य प्रमेयत्वं प्रलयाकलस्य च प्रमातृत्वमित्युक्तं विज्ञानाकलादीनां पुनः का व्यवस्था?—इत्याशङ्क्योक्तम्—विज्ञानाकलाद्याः प्राग्वदेवेति । सकलेऽपि प्रमातरि यथैषां प्रमातृत्वं तथैव—इत्यर्थः । ननु मायातत्त्वे ज्ञेये कञ्चुकन्यग्भावोऽपि कस्माज्ज्ञेयः—इत्याशङ्क्योक्तम्—कञ्चुकैक्यं यतो मायेति । अत्रापि हेतुः सुसूक्ष्मिकेति, अनुद्भिन्नविभागा हि कारणदशा—

पूर्ववत् हैं । मायातत्त्व के ज्ञेय रूप होने पर जो कञ्चुककान्यग्भाव (मन्द होना, अस्तप्राय या नष्टप्राय होना) है वह भी प्रमेय है क्योंकि माया सूक्ष्म है । नष्टकञ्चुकवाला प्रमाता विज्ञानाकल है । अकल के मायानिविष्ट होने पर ग्यारह की स्थिति होती है । जिनका कञ्चुक का नाश सुस्थित है ऐसे विज्ञानाकल और विज्ञानकेवली भी वेद्य होते हैं । जिनका प्रबोध उत्पन्न होने के निकट होता है ऐसे मन्त्र भी प्रमाता होते हैं । वे मन्त्र भी जब प्रमेय होते हैं तो मन्त्रेश्वर प्रमाता होता है । वह (प्रबोध के) उद्भव के कारण पूर्णबोध वाला होता है । और जब वह मेय होता है तब उद्भूत पूर्ण प्रबोध रूप यह मन्त्रमहेश्वर प्रमाता होता है । जब वह (= मन्त्रमहेश्वर) प्रमेय होता है तब अपने तादात्म्य से समस्त वेद्य को भासित करने वाला स्वप्रकाश परमशिव प्रमाता होता है ॥ १०५-११३- ॥

पुरुष से कला पर्यन्त का = पुरुष से लेकर कलापर्यन्त छ तत्त्वों का । इसके = उद्भूत छ कञ्चुकों के, मेय होने से । त्रयोदशत्व = सकल और उसकी शक्ति के प्रमेय होने के कारण स्वरूपीभूत होने से । प्रश्न—यहाँ सकल को प्रमेय और प्रलयाकल को प्रमाता कहा गया । विज्ञानाकल आदि की क्या व्यवस्था है?—यह शङ्का कर कहा गया—विज्ञानाकल आदि पहले की भाँति हैं । सकल के भी प्रमाता होने पर जैसे इनका प्रमातृत्व है उसी प्रकार । प्रश्न—माया तत्त्व के ज्ञेय होने पर कञ्चुक का तिरोधान भी क्यों ज्ञेय होता हैं?—यह शङ्का कर कहा गया—क्योंकि

इत्याशयः । 'ततः' इति न्यग्भूतकञ्चुकस्य प्रलयाकलस्यापि स्वरूपीभूतत्वात् । मन्त्राणामेवेति न तु विज्ञानाकलस्यापि येनात्र नवधात्वम् । तदीश्वर इति मन्त्रेश्वरः । स्वकतादात्म्येति न तु मन्त्रमन्त्रेश्वरादिवद्भेदाभेदादिरूपतया—इत्यभिप्रायः । एतच्चाह्निकारम्भ एव निर्णीतप्रायमिति नेह पुनरायस्तम् ॥ ११२ ॥

ननु तस्मिन्नपि विज्ञेयतां प्राप्ते कः प्रमाता ?—इत्याशङ्क्याह—

शिवः प्रमाता नो मेयो ह्यन्याधीनप्रकाशता ॥ ११३ ॥
मेयता सा न तत्रास्ति स्वप्रकाशो ह्यसौ प्रभुः ।

परप्रकाशत्वं नाम मेयत्वं तच्चास्य स्वप्रकाशत्वान्न विद्यते, इति कथं शिवस्यापि प्रमात्रन्तरवन्मेयता भवेत्—इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

ननु परप्रकाशत्वेनैव सर्वेषां प्रकाशः सिद्ध्येदिति किं स्वप्रकाशत्वेनाप्यभ्युपगतेन ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वप्रकाशेऽत्र कस्मिंश्चिदनभ्युपगते सति ॥ ११४ ॥
अप्रकाशात्प्रकाशत्वे ह्यनवस्था दुरुत्तरा ।
ततश्च सुप्तं विश्वं स्यान्न चैवं भासते हि तत् ॥ ११५ ॥

कञ्चुक की एकता ही माया है । इसमें भी कारण है—सुसूक्ष्मिका अर्थात् अनुद्भिन्न विभाग वाली कारण दशा । इस कारण = तिरोहितकञ्चुक वाले प्रलयाकल के भी स्वरूपीभूत होने से । मन्त्रों का ही न कि विज्ञानाकल का भी, जिससे यहाँ नव प्रकार होते हैं । उसका ईश्वर = मन्त्रेश्वर । अपने तादात्म्य से न कि मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि के समान भेदाभेद आदि रूप से । यह आह्निक के आरम्भ में भी प्रायः निर्णीत हो गया था इसलिये यहाँ पुनः प्रयास नहीं किया गया ॥ ११२ ॥

प्रश्न—उनके भी विज्ञेय होने पर कौन प्रमाता होता है? यह शङ्का कर कहते हैं—

शिव प्रमाता होता है वह प्रमेय नहीं है । अन्याधीनप्रकाशता प्रमेयता होता है और वह उसमें (= शिव में) नहीं है क्योंकि यह प्रभु स्वप्रकाश है ॥ -११३-११४- ॥

परप्रकाश होना ही मेय होना है । और वह (= परप्रकाशता) स्वप्रकाश होने के कारण इनके अन्दर नहीं है फिर कैसे दूसरे प्रमाता की भाँति शिव भी मेय होंगे ॥ ११३ ॥'

प्रश्न—परप्रकाश होने से ही सबका प्रकाश सिद्ध हो जाता है फिर स्वप्रकाश मानने से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यहाँ किसी के स्वप्रकाश न माने जाने पर अप्रकाश से प्रकाश मानने पर अनवस्था दुर्निवार्य हो जायगी । परिणामस्वरूप विश्व सुप्त हो जायगा

अप्रकाशादेव प्रकाशेऽभ्युपगम्यमाने प्रमात्रन्तरकल्पना न विरमेदिति मूलक्षतिकारिणी व्यक्तमनवस्था पतेत् येन न किञ्चिदपि प्रकाशेतेति मूर्छितप्रायमेव विश्वं स्यात्, प्रसङ्गविपर्ययपर्यवसायितामेव चास्य प्रसङ्गस्य प्रतिपादयति न चैवमित्यादिना ॥ ११५ ॥

ननु भासते चेद्विश्वं तर्हि

'प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ।

इति भंग्या तस्यैव स्वप्रकाशत्वमस्तु किमवान्तरेण?—इत्याशङ्क्याह—

अन्याधीनप्रकाशं हि तद् भात्यन्यस्त्वसौ शिवः ।

अन्यमेव हि प्रमातारमपेक्ष्य विश्वं प्रकाशते न तु स्वत इति तदधीन एवास्य प्रकाशः, अन्यश्च प्रमाता शिव एवेत्युपपादितं प्राग्बहुशः । स एव च स्वप्रकाश इत्यभ्युपेतमन्यथा हि न किञ्चिच्चकास्यात् ॥

तदादिसिद्धत्वादस्य न साधकेन प्रमाणेन किञ्चित्कृतम्—इत्याह—

और भासित नहीं होगा ॥ -११४-११५ ॥

अप्रकाश से ही प्रकाश मानने पर दूसरे प्रमाता की कल्पना का विराम नहीं होगा इस प्रकार मूलक्षयकारिणी अनवस्था स्पष्टरूप से आ पड़ेगी । जिससे कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा फलतः विश्व मूर्च्छितप्राय ही हो जायगा । इस प्रसङ्ग की प्रसङ्गविपर्ययपर्यवसायिता को—न चैवम्' इत्यादि के द्वारा कहते हैं ॥ ११५ ॥

प्रश्न—यदि विश्व भासित होता है तो—

"प्रथमतः (विश्व के) के वैसा (= भासित) होने पर किस कारण प्रद्वेष है ? अर्थात् उसे विपरीत भाव नहीं रखना चाहिए ।"

इस नीति के अनुसार उसी (= विश्व ही) की स्वप्रकाशता हो अवान्तर के (के मानने) से क्या लाभ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह (विश्व) अन्याधीनप्रकाश होकर भासित होता है और यह शिव (उससे) भिन्न (= स्वप्रकाश) है ॥ ११५- ॥

विश्व अन्य प्रमाता की अपेक्षा रख कर प्रकाशित होता है न कि स्वतः । इसलिये इसका (= विश्व का) प्रकाश उसी (= परमेश्वर) के अधीन है । और शिव प्रमाता अन्य (= विश्व से भिन्न) है यह पहले बहुत प्रकार से प्रतिपादित किया जा चुका है । और वही स्वप्रकाश माना गया है । अन्यथा कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा ॥

तो आदिसिद्ध होने से साधक प्रमाण के द्वारा इसका कुछ नहीं किया गया—यह कहते हैं—

इत्यस्य स्वप्रकाशत्वे किमन्यैर्युक्तिडम्बरैः॥ ११६ ॥
मानानां हि परो जीवः स एवेत्युक्तमादितः।

प्रत्युत प्रमाणानां तदधीना सिद्धिरित्यादितः प्रथमाह्निक एवोपपादितम्—इत्यर्थः । यदुक्तं तत्र—

'प्रकाशो नाम यश्चायं सर्वत्रैव प्रकाशते ।
अनपह्नवनीयत्वात्किं तस्मिन्मानकल्पनैः ॥
प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते ।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः ॥'

(१।५५) इति ॥ ११६ ॥

ननु 'सकृद्विभातोऽयमात्मा' इत्याद्युपदेशान्यथानुपपत्या स्वप्रकाशेऽपि शिवे वेद्यत्वमस्ति, इति कथमुक्तम् 'न मेयः शिवः' इति?—इत्याशङ्क्याह—

नन्वस्ति स्वप्रकाशेऽपि शिवे वेद्यत्वमीदृशः॥ ११७ ॥
उपदेशो(श्यो)पदेष्टृत्वव्यवहारोऽन्यथा कथम् ।

ईदृश इति सकललोकसाक्षिकश्चिरतरनिरूढः—इत्यर्थः ॥ ११७ ॥

एतदेवाभ्युपगम्य विशेषयति—

इसलिये इसके (= शिव के) स्वप्रकाश होने पर अन्य युक्तिडम्बर से क्या लाभ? प्रमाणों की अपेक्षा जीव श्रेष्ठ है और वही (परमेश्वर) है—यह पहले कहा गया ॥ -११६-११७- ॥

बल्कि प्रमाणों की सिद्धि उस (= परमेश्वर) के अधीन है यह पहले = प्रथम आह्निक में ही सिद्ध कर दिया गया । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'प्रकाश वही है जो सर्वत्र प्रकाशित होता है क्योंकि (वह) अतिरोधेय है । उसके विषय में प्रमाण की कल्पनाओं से क्या (लाभ) ? जो प्रमाण वस्तुओं के जीवन का विस्तार (= उनकी सत्ता की सिद्धि) करते हैं, उनसे भी बढ़कर जीव है और वही परमेश्वर है ॥ ११६ ॥

प्रश्न—'यह आत्मा एक बार आभासित होता है' इत्यादि उपदेश की अन्यथा सिद्धि न होने से स्वप्रकाश भी शिव वेद्य है फिर यह कैसे कहा गया कि 'शिव प्रमेय नहीं है' ? यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रश्न—स्वप्रकाश भी शिव वेद्य है अन्यथा '(शिव) इस प्रकार का है' ऐसा व्यवहार कैसे होगा ॥ -११७-११८- ॥

इस प्रकार का = समस्त संसार को ज्ञात अर्थात् बहुत दिन से प्रसिद्ध—यह अर्थ है ॥ ११७ ॥

सत्यं स तु तथा सृष्टः परमेशेन वेद्यताम् ॥ ११८ ॥
नीतो मन्त्रमहेशादिकक्ष्यां समधिशाय्यते।

एवमेतत् किन्तु

'......................बन्धात्यात्मानमात्मना'।

इति भंग्या स्वस्वातन्त्र्यात्परमेश्वरेण स शिवस्तथोपदेश्यत्वेन सृष्टत्वाद्वेद्यतां नीतः सन्मन्त्रमहेश्वरादिदशाधिशायी संपाद्यते—इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

नन्वेवं शिवस्वरूपमेव प्रत्यवमृष्टं न स्यादिति तत्र क्रियमाणमपि भावनादि व्यर्थमेव?—इत्याशङ्क्याह—

तथाभूतश्च वेद्योऽसौ नानवच्छिन्नसंविदः ॥ ११९ ॥
पूर्णस्य वेद्यता युक्ता परस्परविरोधतः।

एवं मन्त्रमहेश्वरादिदशाधिशायित्वादसौ शिवो वेद्योऽपि तथाभूतोऽनवच्छिन्न-पूर्णसंविदात्मकः शिव एव—इत्यर्थः। न ह्येवंविधेऽस्मिन्वेद्यत्वं न्याय्यं जाड्या-जाड्ययोरेकत्र विरोधात् ॥ ११९ ॥

इसी को मान कर उत्तर देते हैं—

(आपका कथन) सत्य है। परमेश्वर के द्वारा वह (= शिव) उस प्रकार सृष्ट होकर वेद्य बनाया गया मन्त्रमहेश्वर आदि श्रेणियों में रखा जाता है ॥ -११८-११९- ॥

ऐसा ही है किन्तु—

"अपने से अपने को बाँधता है"

इस नीति से अपने स्वातन्त्र्य से परमेश्वर के द्वारा वह शिव उस प्रकार उपदेश्य के रूप में सृष्ट होने से वेद्यता को प्राप्त कराया गया = मन्त्रमहेश्वर आदि दशा को प्राप्त होने वाला बनाया जाता है ॥ ११८ ॥

प्रश्न—इस प्रकार तो शिव का स्वरूप ही परामृष्ट नहीं होगा फलतः उनके विषय में क्रियमाण भावना आदि व्यर्थ हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस प्रकार का वह वेद्य है। किन्तु अनवच्छिन्न संविद् वाले पूर्ण (परमेश्वर) की वेद्यता ठीक नहीं है क्योंकि परस्पर विरोध है ॥ -११९-२००- ॥

मन्त्रमहेश्वर आदि दशा को प्राप्त होने के कारण यह शिव वेद्य होते हुये भी उस प्रकार का अनवच्छिन्न पूर्ण संविदात्मक शिव ही है। इस प्रकार के इस (शिव) के विषय में वेद्यता उचित नहीं है क्योंकि जाड्य और अजाड्य का एकत्र विरोध होता है (जड ही वेद्य होता है अजड नहीं)॥ ११९ ॥

ननु यद्येवं वेद्यरूपोऽपि शिव एव तत्कथं तथाभावाविशेषात्तृणपर्णादावपि शिवभावना न फलेत् ?—इत्याशङ्क्याह—

तथा वेद्यस्वभावेऽपि वस्तुतो न शिवात्मताम् ॥ १२० ॥
कोऽपि भावः प्रोज्झतीति सत्यं तद्भावना फलेत् ।

कोऽपीति तृणपर्णपाषाणादिरपि—इत्यर्थः । यदभिप्रायेणैव—

'तृणात्पर्णाच्च पाषाणात्काष्ठात्कुड्यात्स्थलाज्जलात् ।
उद्गच्छ गच्छ मे त्राणं विभो क्व नु न ते स्थितिः ॥'

इत्याद्याचार्यैरुक्तम् ॥ १२० ॥

नचैतदागमेष्वपि असिद्धतयैवोक्तमपि तु अत एव न्यायात्—इत्याह—

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं शिवः साक्षान्न भिद्यते॥ १२१ ॥

नन्वत्र 'शिवो न भिद्यते' इति भेदनिषेध एवोक्तो न तु तस्यैव भूमिकान्तर-प्राप्त्या भेदः?—इत्याशङ्क्याह—

साक्षात्पदेनायमर्थः समस्तः प्रस्फुटीकृतः ।

प्रश्न—यदि इस प्रकार वेद्यरूप भी शिव ही है तो कैसे उस भाव के समान होने से तृणपर्ण आदि के विषय में भी शिवभावना फलवती नहीं होगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस प्रकार वेद्यस्वभाव होने पर भी कोई भी पदार्थ शिवात्मता को नहीं छोड़ता । इसलिये सचमुच उसकी भावना सफल होती है ॥ -१२०-१२१- ॥

कोई भी = तृण पर्ण पत्थर आदि भी । जिस अभिप्राय से ही—

"हे प्रभो ! तृण पर्ण पाषाण काष्ठ दीवाल स्थल जल (कहीं से भी) निकलिये; मेरी रक्षा कीजिये, आपकी स्थिति कहाँ नहीं है अर्थात् सर्वत्र है ।" इत्यादि आचार्यों ने कहा है ॥ १२० ॥

ऐसा नहीं है कि असिद्ध होने के कारण यह आगम में सिद्ध के रूप में कहा गया है बल्कि आगमों में भी उसे इसी न्याय से कहा गया है—यह कहते हैं—

इसलिये मालिनीविजय में कहा गया है कि "साक्षात् शिव का भेद नहीं होता" ॥ -१२१ ॥

प्रश्न—"शिव का भेद नहीं होता" इस (कथन) से भेद का निषेध ही कहा गया है न कि उसका दूसरी भूमिका की प्राप्ति के कारण भेद ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

एवं न्यूनसंख्यानिरासेन पाञ्चदश्याद्युपदिष्टम् । इदानीं तदेव यथासंभव-शङ्कापुरःसरमधिकसंख्यानिरासेन द्रढयितुमाह—

नन्वेकरूपतायुक्तः शिवस्तद्वशतो भवेत् ॥ १२२ ॥
त्रिवेदतामन्त्रमहानाथे कात्र विवादिता ।

क्वान्यत्र विवादिता ? इत्याशङ्क्याह—

महेश्वरेशमन्त्राणां तथा केवलिनोर्द्वयोः ॥ १२३ ॥
अनन्तभेदतैकैकं स्थिता सकलवत्किल ।

सकलवदिति तस्य देहादेरारभ्य सर्व भिन्नं येन संतानभेदः ॥ १२३ ॥

अत एवाह—

ततो लयाकले मेये प्रमातास्ति लयाकलः ॥ १२४ ॥
अतस्त्रयोदशत्वं स्यादित्थं नैकादशात्मता ।
विज्ञानाकलवेद्यत्वेऽप्यन्यो ज्ञानाकलो भवेत् ॥ १२५ ॥
माता तदेकादशता स्यान्नैव तु नवात्मता ।
एवं मन्त्रतदीशानां मन्त्रेशान्तरसंभवे ॥ १२६ ॥

'साक्षात्' पद से यह समस्त अर्थ स्पष्ट कर दिया गया ॥ १२२- ॥

न्यूनसंख्या के निरास से पाञ्चदश्य आदि कहा गया । अब उसी को यथा सम्भव अधिक संख्या के निरास के द्वारा दृढ़ करने के लिये कहते हैं—

प्रश्न है कि शिव एकरूपता वाला है । उसके कारण मन्त्रमहेश्वर में भी त्रिवेदता आ जाती है । इस विषय में यहाँ क्या विवाद है? ॥ -१२२-१२३- ॥

अन्यत्र कहाँ विवाद है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र तथा दो केवली (= विज्ञान केवली और प्रलय केवली) की सकल के समान अलग-अलग अनन्तभेदता सिद्ध है ॥ -१२३-१२४- ॥

सकल के समान—उसका देह आदि से लेकर सब भिन्न है जिस कारण सन्तान भेद है ॥ १२३ ॥

इसीलिये कहते हैं—

इसलिये प्रलयाकल के मेय होने पर प्रलयाकल प्रमाता होता है । इसलिये त्रयोदशत्व होता है न कि एकादशत्व होता है । विज्ञानाकल के वेद्य होने पर भी अन्य विज्ञानाकल प्रमाता होता है तो वहाँ ग्यारह की

वेद्यत्वान्नव सप्त स्युः सप्त पञ्च तु ते कथम्।

इत्थं लयाकलादीनामानन्त्यात् । मन्त्रेशेतिशब्देन मन्त्रेश्वराः, तेन मन्त्रान्तराणामीशान्तराणां च संभव इति । तत्र सकलस्य सकलान्तरवेद्यत्वे मौलस्य सशक्तिकस्य प्रमातृसप्तकस्यैव भावात्पाञ्चदश्यमेव, सकलस्य च स्वरूपीभावे लयाकलादेः सशक्तिकस्य प्रमातृषट्कस्य भावात् त्रायोदश्यमेवेति नास्ति विवादः । लयाकलस्य तु लयाकलान्तरवेद्यत्वे प्रमातृणां तादवस्थ्यात् त्रायोदश्यमेव स्यात्, विज्ञानाकलादेश्च विज्ञानाकलान्तरादिवेद्यत्वेऽपि अनेनैव न्यायेन प्रतिप्रमातृ भेदद्वयमधिकीभवेदिति कथमुक्तम्

'............................रुद्रवत्प्रलयाकलः ।
तद्वन्मायापि विज्ञेया नवधा ज्ञानकेवलाः ॥
मन्त्राः सप्तविधास्तद्वत्पञ्चधा मन्त्रनायकाः ।
(मा० वि० २।६) इति ? ॥ १२६ ॥

एतच्चाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—

उच्यते सत्यमस्त्येषा कलना किन्तु सुस्फुटः ॥ १२७ ॥
यथात्र सकले भेदो न तथा त्वकलादिके ।

संख्या होती है न कि नव । इस प्रकार मन्त्र मन्त्रेश्वर के दूसरा मन्त्र, मन्त्रेश्वर वेद्य होने के कारण नव सात ही भेद होगे, सात पाँच भेद तो कैसे हो सकते हैं ? ॥ -१२४-१२७- ॥

इस प्रकार = प्रलयाकल आदि के अनन्त होने के कारण । मन्त्रेश इस शब्द से मन्त्रेश्वर (समझना चाहिये) । इसलिये दूसरे मन्त्र और मन्त्रेश्वरों की उत्पत्ति होती है । उनमें (एक) सकल के दूसरे सकल से वेद्य होने पर मूल एवं शक्तियुक्त सात प्रमाताओं के होने से पन्द्रह की संख्या ही है । और सकल के स्वरूपी होने पर सशक्ति प्रलयाकल आदि छ के होने से त्रयोदशता ही है अतः विवाद नहीं है । प्रलयाकल के दूसरे प्रलयाकल से वेद्य होने पर प्रमाताओं के वैसा होने पर त्रयोदशता ही है । विज्ञानाकल आदि के दूसरे विज्ञानाकल आदि से वेद्य होने पर इसी रीति से प्रतिप्रमाता दो भेद अधिक होता है । फिर कैसे कहा गया—

"...प्रलयाकल भी रुद्र के समान (ग्यारह संख्या वाले) हैं । माया को भी उसी प्रकार समझना चाहिये । ज्ञानकेवली नव प्रकार के, मन्त्र सात प्रकार के और उसी प्रकार मन्त्रेश्वर पाँच प्रकार के हैं ॥ १२६ ॥ (मा.वि.तं. २।६)

इसको मानकर समाधान करते हैं—

कहते हैं सत्य है । ऐसी गणना है, किन्तु स्पष्टतया जैसा यहाँ सकल में भेद है वैसा अकल आदि में नहीं है ॥ -१२७-१२८- ॥

ननु कोऽसौ सुस्फुटः सकले भेदो यः प्रलयाकलादौ नास्ति?—इत्याशङ्क्याह—

अनन्तावान्तरेदृक्षयोनिभेदवतः स्फुटम् ॥ १२८ ॥
चतुर्दशविधस्यास्य सकलस्यास्ति भेदिता ।

ईदृक्षेति प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणः । भेदितेति देवमनुष्यादिभेदवत्त्वम्—इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

ननु प्रबुद्धसंस्काराः प्रलयाकला एव तथा तथा सकलीभवन्तीति सर्वत्रैवोक्तं, तत्तेषामेव यो भेदो नास्ति स कथं सकलानामपि स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

लयाकले तु संस्कारमात्रात्सत्यप्यसौ भिदा॥ १२९ ॥
अकले न विशेषाय सकलस्यैव युज्यते।

संस्कारमात्रेण सतोऽपि भेदस्य विशेषायोगे विशेषणद्वारेणाकलत्वं हेतुः, प्रलयाकलस्य हि 'न किञ्चिच्चेतितवानहम्' इति अपवेद्यत्वे, 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति सवेद्यत्वेऽपि यत्र बाह्यार्थवेदनमपि नास्ति तत्र का वार्ता प्रमात्रन्तरवेदने येन त्रायोदश्यं स्यात् ॥ १२९ ॥

प्रश्न—सकल में यह कौन सा स्पष्ट भेद है जो प्रलयाकल आदि में नहीं है यह शङ्का कर कहते हैं—

अनन्त अवान्तर इस प्रकार की योनियों के भेदवाले चौदह प्रकार वाले इस सकल का भेद स्पष्ट है ॥ -१२८-१२९- ॥

इस प्रकार का = प्रत्यक्ष उपलक्ष्यमाण । भेदिता = देवमनुष्य आदि भेद यह अर्थ है ॥ १२८ ॥

प्रश्न—प्रबुद्धसंस्कार वाले प्रलयाकल ही उस-उस प्रकार से सकल हो जाते हैं—ऐसा सर्वत्र कहा गया है तो उनका जो भेद नहीं है वह सकलों का भेद कैसे होगा ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रलयाकल में संस्काररूप में रहनेवाला भी यह भेद, अकल में विशेष स्पष्ट नहीं रहता किन्तु सकल के लिये यह भेद ठीक है (क्योंकि उस प्रकार के प्राणी मे यह भेद स्पष्ट रहता है)॥ -१२९-१३०- ॥

(प्रलयाकल आदि में) संस्कार रूप से सत् भी भेद का विशेष के साथ योग न होने पर विशेषण होने के कारण अकलत्व ही भेद का कारण है । प्रलयाकल का 'मैंने कुछ नहीं जाना' ऐसा वेद्य न होने पर, 'मैं सुखपूर्वक सोया' ऐसा वेद्य होने पर भी जहाँ बाह्य अर्थ का वेदन भी नहीं है वहाँ दूसरे प्रमाता के वेदन की क्या बात जिससे त्रयोदशत्व हो ॥ १२९ ॥

विज्ञानाकलादीनां पुनः संस्कारमात्ररूपोऽपि भेदो नास्ति—इत्याह—

विज्ञानकेवलादीनां तावत्यपि न वै भिदा ॥ १३० ॥
शिवस्वाच्छन्द्यमात्रं तु भेदायैषां विजृम्भते ।

तेषां हि शुद्धबोधाद्येकरूपत्वेऽपि परमेश्वरस्वातन्त्र्यविजृम्भामात्ररूप एव पारस्परिको भेद इत्युक्तम्—'शिवस्वाच्छन्द्यमात्रं तु भेदायैषां विजृम्भते ।' इति यदुक्तम्—

'बोधादिलक्षणैक्येऽपि येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥'
(ई० प्र० ३।२।७) इति ।

अतश्च शुद्धबोधाद्येकरूपत्वाद् विज्ञानाकलादीनां यत्रैवं भेदो नास्ति तत्र का वार्ता यथोत्तरं पूर्णदृक्क्रियायोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वराणामित्येतत्स्वकण्ठेन नोक्तम् । अतश्च सकलात्प्रलयाकलादीनामेवं विशेषः—इति नात्र प्रलयाकलादेः प्रलयाकलान्तरादिवेद्यत्वमस्तीति न संख्यायामेवमाधिक्यं भगवानुपादिशत् ॥१३०॥

तदाह—

इत्याशयेन संपश्यन्विशेषं सकलादिह ॥ १३१ ॥

विज्ञानाकल आदि का तो संस्कारमात्ररूप भी भेद नहीं है—यह कहते हैं—

विज्ञानकेवली आदि में तो उतना भी भेद नहीं है । इनके भेद के लिये शिव का स्वातन्त्र्यमात्र उल्लसित होता है ॥ -१३०-१३१- ॥

उनके (= विज्ञानकेवली आदि के) केवल शुद्धबोध आदि रूप होने पर भी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का उल्लास ही पारस्परिक भेद है—यह कहा गया—'शिव का स्वातन्त्र्य ही इनके भेद के लिये उल्लसित होता है' । जो कि कहा गया—

"वेद्य आदि लक्षण के समान होने पर भी जिनमें ईश्वर की इच्छा के भेद से परस्पर भिन्नता होती है वे विज्ञानकेवली होते हैं" ।

इसलिये शुद्धबोध आदि के समान होने से विज्ञानाकल आदि में जहाँ इस प्रकार का भेद नहीं है वहाँ उत्तरोत्तर पूर्णज्ञानक्रिया वाले मन्त्र मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर की क्या बात?—यह अपने मुख से कहा गया । इसलिये इन सकल से प्रलयाकल आदि का इस प्रकार का भेद है । इसलिये प्रलयाकल आदि दूसरे प्रलयाकल आदि के वेद्य नहीं है । इस प्रकार भगवान् ने संख्या में इस प्रकार की अधिकता का उपदेश नहीं दिया ॥ १३० ॥

वह कहते हैं—

इस आशय से प्रलयाकल आदि में सकल की अपेक्षा विशेष देखते

लयाकलादौ नोवाच त्रायोदश्यादिकं विभुः ।

इयता भावधर्मवेद्यतामूलं पाञ्चदश्याद्युपपादितम् ॥ १३१ ॥

अधुना तु तदेव घटयितुं प्रलयाकलविज्ञानाकलापेक्षया तन्मूलभूता वेद्यतैव नास्ति?—इत्याशङ्कते—

नन्वस्तु वेद्यता भावधर्मः किन्तु लयाकलौ ॥ १३२ ॥
मन्वाते नेह वै किञ्चित्तदपेक्षा त्वसौ कथम् ।

प्रलयाकलविज्ञानाकलौ हि प्रसुप्तभुजगशून्यसमाधिस्थयोगिप्रायत्वान्न किञ्चिज्जानीतः,—इति तयोर्वेदितृत्वमेव नास्तीत्याश्चर्यं तदपेक्षयापि कथङ्कारं वेद्यता भावधर्मः स्यात् ? ॥ १३२ ॥

एतदेव प्रतिविधत्ते—

श्रूयतां संविदैकात्म्यतत्त्वेऽस्मिन्संव्यवस्थिते ॥ १३३ ॥
जडेऽपि चितिरस्त्येव भोत्स्यमाने तु का कथा ।
स्वबोधावसरे तावद्बोत्स्यते लयकेवली ॥ १३४ ॥
द्विविधश्च प्रबोधोऽस्य मन्त्रत्वाय भवाय च ।

हुये भगवान् ने त्रयोदशत्व आदि का उपदेश नहीं किया ॥-१३१-१३२-॥

इतने से पाञ्चदश्य आदि का मूल भावधर्मवेद्यता ही है—यह सिद्ध किया गया ॥ १३१ ॥

अब उसी को बताने के लिये प्रलयाकल विज्ञानाकल की अपेक्षा से उसकी मूलभूता वेद्यता ही नहीं है—यह शङ्का करते हैं—

प्रश्न है कि वेद्यता भाव का धर्म हो किन्तु (जब) प्रलयाकल और विज्ञानाकल कुछ नहीं जानते तो उनकी अपेक्षा से यह कैसे होगा ? ॥ -१३२-१३३- ॥

प्रलयाकल और विज्ञानाकल प्रसुप्त सर्प या शून्य समाधिस्थ योगी जैसा होने के कारण कुछ नहीं जानते । इसलिये उन दोनों में वेदितृत्व ही नहीं है फिर आश्चर्य है कि उनकी अपेक्षा भी कैसे वेद्यता पदार्थ का धर्म होगा ?॥ १३२ ॥

इसी का समाधान करते हैं—

सुनिये । इस संविदैकात्म्यतत्त्व के सम्यक् व्यवस्थित होने पर जड़ में भी चैतन्य रहता ही है और जिसका आगे ज्ञान होने वाला है उसके बारे में क्या कहना (अर्थात् उससे तो चैतन्य रहता ही है)। अपने बोध के समय प्रलयकेवली ज्ञान वाला होगा यह ज्ञान दो प्रकार का है—मन्त्रत्व के लिये और संसार के लिये ॥ -१३३-१३५- ॥

संविदद्वैतपरमार्थे हि अस्मिन्दर्शने यत्र नीलसुखादिर्जडोऽपि चेतनस्तत्र प्रबुभुत्सौ प्रलयाकलादौ प्रमातरि का वार्तेति प्रलयाकलविज्ञानाकलयोरस्त्येव वेदितृत्वं येन वेद्यतापि भावधर्मो भवेत् ॥ १३४ ॥

ननु यद्येवं तत्कदा कस्य बोधः ?—इत्याशङ्क्याह—

भावनादिबलादन्यवैष्णवादिनयोदितात् ॥ १३५ ॥
यथास्वमाधरौत्तर्यविचित्रात्संस्कृतस्तथा ।
लीनः प्रबुद्धः मन्त्रत्वं तदीशत्वमथैति वा ॥ १३६ ॥
स्वातन्त्र्यवर्जिता ये तु बलान्मोहवशीकृताः ।
लयाकलात्स्वसंस्कारात्प्रबुध्यन्ते भवाय ते ॥ १३७ ॥

तथेति **यथास्वमाधरौत्तर्येणैव-इत्यर्थः** । **वैष्णवादिनयानां च यथास्वमाधरौत्तर्यं पूर्वमेव वितत्य निर्णीतमिति नेहायस्तम् । तदुक्तं प्राक्—**

'ये पुनः कर्मसंस्कारहान्यै प्रारब्धभावनाः ।
भावनापरिनिष्पत्तिमप्राप्य प्रलयं गताः ॥
महान्तं ते तथान्तःस्थभावनापाकसौष्ठवात् ।
मन्त्रत्वं प्रतिपद्यन्ते चित्राच्चित्रं च कर्मतः ॥''

(९।१४१) इति ।

संविद् अद्वैत को परम तत्त्व मानने वाले इस दर्शन में जहाँ नील सुख आदि जड़ भी चेतन है वहाँ प्रबोध की इच्छा वाले प्रलयाकल आदि प्रमाता के विषय में क्या बात । अतः प्रलयाकल विज्ञानाकल में वेदितृत्व है ही जिससे वेद्यता भी पदार्थ का धर्म है ॥ १३४ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो कब किसको बोध होता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

क्रमिक निम्नोच्चवता के कारण विचित्र अन्य वैष्णव आदि शास्त्रों से उत्पन्न भावना आदि के बल से संस्कृत लीन (साधक) प्रबुद्ध होकर उसी प्रकार मन्त्र या मन्त्रेश्वर हो जाता है । अथवा जो स्वातन्त्र्यरहित (साधक) बलात् मोह के वश में होकर प्रलयाकल रूप अपने संस्कार से प्रबुद्ध होते हैं वे संसार के लिये हो जाते हैं ॥ -१३५-१३७ ॥

तथा = क्रमशः निम्नोच्चवता के अनुसार । वैष्णव आदि तन्त्रों की क्रमिक **निम्नोच्चवता पहले ही विस्तार के साथ** निर्णीत हो चुकी है अतः फिर प्रयास नहीं **किया गया । वही पहले कहा गया है—**

'जो कि कर्मसंस्कारों को नष्ट करने के लिये भावना का प्रारम्भ करने वाले भावना के परिपाक को न प्राप्त कर प्रलय को प्राप्त हो गये वे

स्वातन्त्र्यवर्जिता इति वैष्णवादिनयान्तरोदितभावनाद्यनुष्ठानशक्तिशून्याः-इत्यर्थः । अत एवोक्तम्—'बलान्मोहवशीकृता' इति ॥ १३७ ॥

न केवलं प्रलयाकल एव द्विधा बुद्ध्यते यावद्विज्ञानाकलोऽपि—इत्याह—

ज्ञानाकलोऽपि मन्त्रेशमहेशत्वाय बुध्यते ।
मन्त्रादित्वाय वा जातु जातु संसृतयेऽपि वा ॥ १३८ ॥

मन्त्रादित्वायेत्यादिशब्दात्र शिवत्वायापीति विशेषयति—मन्त्रेशमहेशत्वायेति । ईशाः = मन्त्रेश्वराः ॥ १३८ ॥

ननु विज्ञानाकलस्य

'निष्कर्मा हि स्थिते मूलमलेऽप्यज्ञाननामनि ।
वैचित्र्यकारणाभावान्नोर्ध्वं सरति नाप्यधः ॥
केवलं पारिमित्येन शिवाभेदमसंस्पृशन् ।
विज्ञानकेवली प्रोक्तः शुद्धविज्ञानसंस्थितः ॥
स पुनः शाम्भवेच्छातः शिवाभेदं परामृशन् ।
क्रमान्मन्त्रेशतन्त्रेतृरूपो याति शिवात्मताम् ॥' (९।९३)

अन्तःस्थभावना-पाक की सुष्ठुता के कारण विचित्र कर्म से विचित्र महान् मन्त्र (स्तर) को प्राप्त करते हैं ।'

स्वातन्त्र्यरहित = वैष्णव आदि तन्त्रान्तर से उदित भावना आदि के अनुष्ठानशक्ति से शून्य । इसलिये कहा गया—बलपूर्वक मोह के वश में किये गये ॥ १३७ ॥

केवल प्रलयाकल ही दो प्रकार से प्रबुद्ध नहीं होते प्रत्युत विज्ञानाकल भी—यह कहते हैं—

ज्ञानाकल मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर होने के लिये प्रबुद्ध होते हैं । कभी वे मन्त्रत्व आदि के लिये और कभी संसार के लिये (प्रबुद्ध होते हैं) ॥ १३८ ॥

मन्त्रादित्व के लिये—यहाँ आदि शब्द से शिवत्व के लिये नहीं प्रवृत्त होते । इसलिये विशेष बतलाते हैं—मन्त्रेशत्व एवं मन्त्रमहेशत्व के लिये । ईश = मन्त्रेश्वर ॥ १३८ ॥

प्रश्न—"अज्ञान नामक मूल मल (= आणवमल) के रहने पर क्रियाहीन (साधक) वैचित्र्य-कारण के अभाव से न नीचे जाता है न ऊपर, केवल परिमित होकर शिव के साथ तादात्म्य न रखते हुये विज्ञानकेवली कहा गया है । फिर वह शुद्धविद्या में स्थित होकर शाम्भव इच्छा से शिव के साथ अभेद का परामर्श करता हुआ क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश होता हुआ शिवात्मता को प्राप्त होता है ।"

इत्यादिप्रागुक्तयुक्त्या मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वरत्वायाभिधीयतां प्रबोध:, कथं पुन: संसृतयेऽपि जातु बुद्ध्यते इत्युक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अवतारो हि विज्ञानियोगिभावेऽस्य भिद्यते।

विज्ञानाकलस्य हि अस्मद्दर्शनानुसारं विज्ञानित्वेन योगित्वेन चावतारान्नेतरवत्संसृति:—इत्युक्तम्—'अवतारोऽस्य भिद्यते' इति ॥

एवमस्योपपादितं प्रबोधं संवादयति—

उक्तं च बोधयामास स सिसृक्षुर्जगत्प्रभु:॥ १३९ ॥
विज्ञानकेवलानष्टाविति श्रीपूर्वशासने ।

तदुक्तं तत्र—

'स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ॥'
(मा० वि० १।१९) इति ॥ १३९ ॥

नन्वप्रबुद्धयोस्तावल्लयाकलयोर्वेदितृत्वं नास्तीत्यविवाद:, प्रबुद्धौ च तौ सकलमन्त्रादिरूपतां प्राप्नुत:,—इति तदपेक्षयैव तदा वेद्यता भावधर्म: स्यान्न लयाकलापेक्षयेत्येवमपि पाञ्चदश्यादिक्रमो विघटेत ?—इत्याशङ्क्याह—

इस पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार विज्ञानाकल का प्रबोध मन्त्र मन्त्रेश मन्त्रमहेश्वर होने के लिये कहा जाय तो ठीक है, किन्तु संसार के लिये वह कैसे प्रबुद्ध होते हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसका अवतार विज्ञानी अथवा योगी होने के लिये होता है (न कि सामान्य संसारी होने के लिये) अत: ये भिन्न है ॥ १३९- ॥

हमारे दर्शन के अनुसार विज्ञानाकल का विज्ञानी अथवा योगी के रूप में अवतार होने से सामान्य लोगों के समान संसरण (सांसारिकता का व्यवहार) नहीं होता । इसलिये कहा गया—'इसका अवतार भिन्न होता है' ॥

इसके कथित प्रबोध को (उद्धरण से) पुष्ट करते हैं—

संसार की रचना करने के इच्छुक परमेश्वर ने आठ विज्ञानकेवलियों को प्रबुद्ध किया—ऐसा श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया है ॥ -१३९-१४०- ॥

वही वहाँ कहा गया है—

"सृष्टि की इच्छा करने वाला वह (= परमेश्वर) जगत् की सृष्टि के प्रारम्भ में अपनी इच्छा से आठ विज्ञानकेवली पुद्गलों को प्रबुद्ध किया" ॥ १३९ ॥

प्रश्न—अप्रबुद्ध प्रलयाकल और विज्ञानाकल वेदन नहीं करते—यह निर्विवाद है । किन्तु प्रबुद्ध वे दोनों (नीचे स्तर में) सकल (और ऊपरी स्तर पर) मन्त्र

अतः प्रभोत्स्यमानत्वे यानयोर्बोधयोग्यता ॥ १४० ॥
तद्बलाद्वेद्यतायोग्यभावेनेवात्र वेद्यता ।

अतः समनन्तरोक्तान्यायादनयोः प्रलयाकलविज्ञानाकलयोः प्रभोत्स्यमानत्वे प्रबुभुत्सुदशायां समनन्तरमेव वेदितृत्वस्यावश्यमभिव्यक्तेर्या बोधे योग्यता पात्रत्वं तदपेक्षया च योग्यतारूपतैव वेद्यतापि धरादौ संभवतीति को नामात्र विघटनावकाशः ॥ १४० ॥

एतदेव निदर्शयति—

तथाहि गाढनिद्रेऽपि प्रियेऽनाशङ्कितागताम् ॥ १४१ ॥
मां द्रक्ष्यतीति नाङ्गेषु स्वेषु मात्यभिसारिका ।

प्रियस्य गाढनिद्रामूढत्वाद्भाविनीमपि स्वात्मनि तद्वेद्यतां संभाव्याभिसारिकाया एवं संमदातिशय इत्यस्य निद्रितत्वेऽपि भावबोधसंबन्धनिबन्धनात्मिकया योग्यतया वेदितृत्वमस्ति येनैवमुक्तम् ॥ १४१ ॥

एतदेव प्रकृते योजयति—

आदि हो जाते हैं इसलिये उनकी अपेक्षा से ही उस समय वेद्यता पदार्थ की धर्म होगा न कि प्रलयाकल और विज्ञानाकल की अपेक्षा । इस प्रकार भी पाञ्चदश्य आदि का क्रम विघटित हो जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिये भविष्य में प्रबुद्ध होने से जो इन दोनों की बोधयोग्यता है उसके बल से वेद्यता के योग्य भावना ही यहाँ वेद्यता है ॥-१४०-१४१-॥

अतः पूर्वोक्तन्याय से इन दोनों प्रलयाकल और विज्ञानाकल के भविष्य में प्रबुद्ध होने के कारण प्रबुभुत्सु दशा में तत्काल बाद वेदितृत्व की अवश्य अभिव्यक्ति होने से जो बोध में योग्यता है = पात्रता है उसकी अपेक्षा से योग्यतारूपता ही वेद्यता भी पृथिवी आदि में सम्भव होती है फिर यहाँ विघटन का अवकाश कहाँ है ? ॥ १४० ॥

इसी को उदाहरण से दिखलाते हैं—

गाढ़ निद्रा में लीन प्रिय के विषय में 'अनाशंकित आयी हुई मुझे यह देख लेगा' (ऐसा समझकर) अभिसारिका अपने अङ्गों में नहीं समाती (= अर्थात् अतीव तुलकित हो उठती है) ॥ -१४१-१४२- ॥

प्रिय के गाढ़ निद्रा में मूढ (= अचेत) होने के कारण भविष्य में होने वाली भी अपने विषय में उस (= प्रिय) की वेद्यता की सम्भावना कर अभिसारिका का ऐसा अतिशय सम्मद (= हर्षातिरेक) होता है । इस प्रकार इसके निद्रित होने पर भी भावबोधसम्बन्ध कारण वाली योग्यता के कारण वेदितृत्व है जिससे ऐसा कहा गया ॥ १४१ ॥

एवं शिवोऽपि मनुते एतस्यैतत्प्रवेद्यताम् ॥ १४२ ॥
यास्यतीति सृजामीति तदानीं योग्यतैव सा ।
वेद्यता तस्य भावस्य भोक्तृता तावती च सा ॥ १४३ ॥
लयाकलस्य चित्रो हि भोगः केन विकल्प्यते ।

एतस्य लयाकलादेरेतद्भावजातं स्वबोधावसरे प्रकर्षेण न त्विदानीमिव योग्यतामात्रेण वेद्यतां यास्यतीति, अतो हेतोर्ग्राह्यग्राहकरूपतया परस्परानुरूपं युगलमिदं निर्मिणोमि इत्येवं भगवान् शिवोऽपि परामृशतीति, तदानीं प्रलयाकलाद्यवस्थायां योग्यतयैव वेद्यता भावधर्मः—इत्यर्थः । ननु वेद्यता भावस्यौषचारिकी मुख्या वा योग्यतामात्रेण भवतु नाम, वेदितृता कथमेवं भवेत्, सा हि भोक्तृता भोगश्च सुखदुःखाद्यनुभवः, इति तदभावे लयाकलादौ वेदितृता तदपेक्षा च वेद्यतापि कथं तिष्ठेताम् ?—इत्याशङ्क्याह—भोक्तृतेत्यादि । तावतीति सुखदुःखाद्यनुभवरूपप्ररोहावस्थाविलक्षणयोग्यतामात्ररूपैव—इत्यर्थः ।

ननु किमिदमपूर्वं परिभाष्यते भाविभोगसंबन्धनिबन्धना भोक्तृतेति, नहि भावनास्थविरभावेन बालोऽपि स्थविर इत्यनुपचरितं युज्यते वक्तुम्?—इत्याशङ्क्याह—चित्रो हीत्यादि । भोगो हि देशकालावस्थास्वालक्षण्यादिवैचित्र्येण

इसी को प्रस्तुत से जोड़ते हैं—

इसी प्रकार शिव भी मानते हैं कि 'यह इसका वेद्य होगा' इसलिये (इसकी) सृष्टि कर रहा हूँ' । इस समय उस पदार्थ की वेद्यता उसकी योग्यता ही है और उतनी ही उसकी भोक्तृता भी है । प्रलयाकल के विचित्र भोग को कौन विकल्पित (= शक्ति) कर सकता है ॥ १४२-१४३- ॥

'यह पदार्थसमूह, अपने बोध के समय प्रकर्ष के साथ न कि इस समय की भाँति योग्यता मात्र से इस प्रलयाकल आदि का वेद्य होगा, इस कारण ग्राह्य ग्राहक के रूप में परस्पर अनुरूप इस युगल (= वेद्य और वेत्ता) का निर्माण करुँगा'—ऐसा भगवान् शिव भी परामर्श करते हैं । उस समय = प्रलयाकल आदि की अवस्था में योग्यता के द्वारा ही वेद्यता पदार्थ का धर्म होती है । प्रश्न—पदार्थ की गौण या मुख्य वेद्यता योग्यतामात्र से हो जाय किन्तु वेदितृता कैसे ऐसी होगी ? क्योंकि वही भोक्तृता है और भोग = सुख दुःख आदि का अनुभव है । तो उसके (= भोक्तृता के) अभाव में प्रलयाकल आदि में वेदितृता और उसकी अपेक्षा वेद्यता भी कैसे रहेगी ?—यह शङ्का कर कहते हैं—भोक्तृता इत्यादि । उतनी = सुख दुःख आदि अनुभव रूप प्ररोहावस्था से विलक्षण केवल योग्यता रूप—यह अर्थ है।

प्रश्न—(आप) यह क्या अपूर्व कह रहे हैं कि भोक्तृता भावी भोग के सम्बन्धरूप कारण वाली है । भावना से वृद्धभाव के कारण बाल भी स्थविर है ऐसा मुख्य रूप से कहना ठीक नहीं है?—यह शङ्का कर कहते हैं—विचित्र

नानाविधो भोक्तृणां व्यवतिष्ठते, यथा स्फुट एव सुखदुःखाद्यनुभवो भोग इति न नियन्तुमुचितमस्फुटेऽपि तथाभावात् । एवं भावितायामस्फुटतरेऽपि योग्यतामात्रेण भवेदेव भोगव्यवहारस्तत्तद्भोक्त्रौचित्येन तथा तथा भोगोपपत्तेः ॥ १४३ ॥

तदेव दर्शयति—

यथा यथा हि संवित्तिः स हि भोगः स्फुटोऽस्फुटः ॥ १४४ ॥
स्मृतियोग्योऽप्यन्यथा वा भोग्यभावं न तूज्झति ।

यथा यथेति स्फुटत्वेनास्फुटत्वेन वा अन्यथा वापीति । अपिर्भिन्नक्रमः । अन्यथेति स्फुटत्वान्मार्गगमनादावविमृष्टदृष्टतृणशर्करादिवत्स्मर्तुमयोग्यः—इत्यर्थः ॥ १४४ ॥

अत्रैव दृष्टान्तयति—

गाढनिद्राविमूढोऽपि कान्तालिङ्गितविग्रहः ॥ १४५ ॥
भोक्तैव भण्यते सोऽपि मनुते भोक्तृतां पुरा ।

इत्यादि । भोक्ताओं में भोग, देश काल अवस्था स्वालक्षण्य आदि के वैचित्र्य से अनेक प्रकार का होता है । इसलिये स्फुट ही सुख दुःख आदि का अनुभव भोग होता है—यह नियम बनाना उचित नहीं है क्योंकि अस्फुट में भी वैसा (= भोगव्यवहार) होता है । इस प्रकार परामृष्ट होने पर और भी अस्फुट में केवल योग्यता के कारण भोगव्यवहार होता है क्योंकि तत्तद् भोक्ता के औचित्य के अनुसार उस-उस प्रकार के भोग की सिद्धि होती है ॥ १४३ ॥

उसी को दिखलाते है—

जैसी-जैसी संवित्ति होती है वह भोग स्फुट, अस्फुट, स्मृति-योग्य, अथवा अन्यथा (= स्मृति के अयोग्य) हो, भोग्यभाव को नहीं छोड़ता ॥ -१४४-१४५- ॥

जैसे-जैसे = स्फुट, अस्फुट अथवा अन्य प्रकार से । इस प्रकार अपि का क्रम भिन्न है (इसे 'वा' के बाद जोड़ना चाहिए)। अन्यथा = स्फुट होने से रास्ते में चलने आदि के समय बिना विमर्श के देखे गये तृण रज-कण आदि के समान स्मरण के अयोग्य (वस्तु भी भोगयुक्त होती है)॥ १४४ ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—

गाढ़ी निद्रा में विमूढ़ भी कान्ता के द्वारा आलिङ्गित शरीर वाला (व्यक्ति) भोक्ता ही कहा जाता है (यद्यपि गाढनिद्रा मे उसे भोग की अनुभूति नहीं होती तो भी)। और वह भी पहले भोक्तृत्व को ही मानता है ॥ -१४५-१४६- ॥

भण्यते इति लोकैः । सोऽप्यर्थात्प्रबुद्धः । पुरेति गाढमूढदशायामपि—इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

न केवलं मूढदशायामेव योग्यतामात्रेण भोक्तृभोग्यभावो भवेद्यावदमूढदशायामपि—इत्याह—

उत्प्रेक्षामात्रहीनोऽपि काञ्चित्कुलवधूं पुरः ॥ १४६ ॥
संभोक्ष्यमाणां दृष्ट्वैव रभसाद्याति संमदम् ।

उत्प्रेक्षेति कुलवधूविषयः सङ्कल्पः । संभोक्ष्यमाणामित्यदृष्टवशात्करिष्यमाणसंभोगाम्—इत्यर्थः । अत एव रभसादवलोकनसमनन्तरमेव आवेगवताभिलाषेण लब्धलाभ इव संमदं संभोगसमुचितामानन्दमयतामियाद्येनास्य भोक्तृभावो भवेत् ॥ १४६ ॥

ननु संभुज्यमानापि कुलवधूर्यदि योग्यतामात्रेण कञ्चित्प्रति भोग्या तदविशेषात्सर्वान्प्रत्येवास्तु?—इत्याशङ्क्याह—

तामेव दृष्ट्वा च तदा समानाशयभागपि ॥ १४७ ॥
अन्यस्तथा न संवित्ते कमत्रोपलभामहे ।

तदेत्येकतरसंमदावसरे—इत्यर्थः । समानाशयभागपीति तेनैव भोक्त्रा सदृश-

---

कहा जाता है—लोगों के द्वारा । वह भी = जागृत भी । पहले = गाढ़मूढ़ दशा में भी ॥ १४५ ॥

केवल मूढ दशा में ही योग्यता मात्र से भोक्तृ भोग्य भाव नहीं होता बल्कि अमूढ़ दशा में भी, यह कहा गया—

उत्प्रेक्षामात्र से हीन भी (कोई पुरुष) किसी कुलवधू को भविष्य में (अपने द्वारा) उपभुक्त होती हुई देखकर (= कल्पना कर) वेग से आनन्दमयता को प्राप्त हो जाता है ॥ -१४६-१४७- ॥

उत्प्रेक्षा = कुलवधू विषयक सङ्कल्प । संभोक्ष्यमाणा = अदृष्टवश जिसका भोग भविष्य में किया जाएगा वह । इसलिए हठात् झटके से देखने के बाद आवेग के अभिलाष मात्र से मानो वह उस सम्भोग जैसा आनन्द प्राप्त करता है । इससे भी उस व्यक्ति का भोक्तृभाव सम्पन्न होता है ॥ १४६ ॥

प्रश्न—उपभुज्यमाना भी कुलवधू यदि योग्यतामात्र से किसी के लिये भोग्य होती है तो समानरूप से सबके लिये हो जाय ? यह शङ्का कर कहते हैं—

तब उसी को देखकर समान आशय वाला अन्य पुरुष भी उस प्रकार नहीं समझता ऐसी (स्थिति में हम) यहाँ किसको उपालम्भ दें ॥ -१४७-१४८- ॥

रागादिवासनोऽपि—इत्यर्थः ॥ १४७ ॥

ननु कारणाविशेषेऽपि कार्यं क्वचिदेव नान्यत्रेति निर्हेतुककार्यनियमवादिन एवोपालभ्याः?—इत्याशङ्क्य दृष्टान्तदृशोपपादयति—

लोके रूढमिदं दृष्टिरस्मिन्कारणमन्तरा ॥ १४८ ॥
प्रसीदतीव मग्नेव निर्वातीवेतिवादिनि ।

दृष्टिरित्यादिवादिनि लोके इदं रूढमिति समन्वयः, इदमिति कारणाविशेषेऽपि क्वचिदेव कार्यमिति, कारणमन्तरेति प्रसिद्धकारणाभावेन—इत्यर्थः, तेन दृष्टकारणसाम्ग्र्यविशेषेऽपि अदृष्टवशात्क्वचिदेव दृष्टिप्रसादादिलक्षणो भोगो भवेदित्यमूढदशायामपि योग्यतया भोक्तृभोग्यभावदर्शनाल्लयाकलादीनामपि तथाभावोपपत्तेः सिद्धः पाञ्चदश्यादिभेद इति ॥ १४८ ॥

उपसंहरति—

इत्थं विस्तरतस्तत्त्वभेदोऽयं समुदाहृतः ॥ १४९ ॥

नन्वेकैव धरा सकलादिभिरैकैकध्येन द्विकत्रिकादिक्रमात्साहित्येन वा वेद्यत

तब = एक के आनन्दमय होने के अवसर पर । समान आशय वाला भी = उसी भोक्ता के द्वारा समान राग आदि वासना वाला भी (वासना से अनुरक्त नहीं होता) ॥ १४७ ॥

प्रश्न—कारण समान होने पर भी कार्य कहीं एक जगह होता है न कि दूसरी जगह-ऐसा निर्हेतुक कार्य नियम वाले ही आक्षिप्त किये जाने चाहिये?—यह शङ्का कर दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध करते हैं—

कारण के बिना भी इसमें दृष्टि प्रसन्न हो रही है, मग्न हो रही है अथवा निर्वाण को प्राप्त हो रही है—ऐसा कहने वाले लोक में यह प्रसिद्ध है ॥ -१४८-१४९- ॥

दृष्टि (= प्रसन्न हो रही है इत्यादि) इत्यादि कहने वाले लोक में यह प्रासद्ध है—ऐसा समन्वय है । इदम् = कारण समान होने पर भी किसी एक ही जगह कार्य होता है । कारण के बिना = प्रसिद्ध कारण के अभाव में । इसलिये दृष्टकारण सामग्री के समान होने पर भी अदृष्ट वश किसी एक ही जगह दृष्टिप्रसाद आदि रूप भोग होता है इसलिये अमूढ़ दशा में भी भोक्तृभोग्यभाव के दृष्ट होने से प्रलयाकल आदि का भी उस प्रकार का भाव सिद्ध होने के कारण पाञ्चदश्य आदि भेद सिद्ध होता है ॥ १४८ ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह तत्त्वभेद विस्तार के साथ कहा गया ॥ -१४९ ॥

इति कथं पाञ्चदश्यादेरप्याधिक्यं न स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—

शक्तिशक्तिमतां भेदादन्योन्यं तत्कृतेष्वपि ।
भेदेष्वन्योन्यतो भेदात्तथा तत्त्वान्तरैः सह ॥ १५० ॥
भेदोपभेदगणनां कुर्वतो नावधिः क्वचित् ।

एवं च भुवनादेरपि वैचित्र्यमवतिष्ठते,—इत्याह—

तत एव विचित्रोऽयं भुवनादिविधिः स्थितः ॥ १५१ ॥

तदुक्तम्—

'भेदः प्रकथितो लेशादनन्तो विस्तरादयम् ।
एवं भुवनमालापि भिन्ना भेदैरिमैः स्फुटम्॥'
(मा० वि० २।८) इति ॥ १५१ ॥

वैचित्र्यमेवात्र दर्शयति—

पार्थिवत्वेऽपि नो साम्यं रुद्रवैष्णवलोकयोः ।
का कथान्यत्र तु भवेद्भोगे वापि स्वरूपके ॥ १५२ ॥

यत्र समानेऽपि पार्थिवत्वे रौद्रे वैष्णवे च लोके भोगस्वरूपयोर्वैचित्र्यमस्ति,

---

प्रश्न—एक ही पृथिवी सकल आदि के द्वारा अलग-अलग अथवा दो तीन आदि के क्रम से अथवा सम्पूर्ण रूप से ज्ञात होती है तो पाञ्चदश्य आदि का आधिक्य कैसे नहीं होता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शक्ति और शक्तिमान् के भेद से परस्पर उनके द्वारा भेद किये जाने पर फिर उनमें परस्पर भेद होने से तथा तत्त्वान्तरों के साथ भेद उपभेद की गणना करने वालों की कोई सीमा नहीं है ॥ १५०-१५१- ॥

इस प्रकार भुवन आदि का वैचित्र्य भी होता है—यह कहते हैं—

इसी कारण यह भुवन आदि की विचित्र विधि भी है ॥ -१५१ ॥

वही कहा गया—

"यह अनन्तभेद विस्तार से और संक्षेप में कहा गया । इस प्रकार इन भेदों के कारण भिन्न भुवनमाला भी स्पष्ट है" ॥ १५१ ॥

यहाँ वैचित्र्य ही दिखलाते हैं—

रुद्र और वैष्णव लोक में पार्थिवत्व के समान होने पर भी (दोनों में) समानता नहीं है । फिर अन्यत्र भोग अथवा स्वरूप के विषय में क्या कहना ॥ १५२ ॥

जहाँ पार्थिवत्व के समान होने पर भी रौद्र और वैष्णव लोकों में भोग और

ततोऽन्यत्र पार्थिवा(दा)प्याद्यात्मनि भुवनादौ तयोः का वार्तेत्युक्तम्—'का कथान्यत्र तु भवेत्' इति ॥ १५२ ॥

ननूच्यतां विस्तारो येन भुवनादावेवं वैचित्र्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

स च नो विस्तरः साक्षाच्छक्यो यद्यपि भाषितुम् ।
तथापि मार्गमात्रेण कथ्यमानो विविच्यताम् ॥ १५३ ॥

एवमत्र शक्तिशक्तिमतां भेदादित्यादिना ग्रहणवाक्येनासूत्रितो भेदोपभेदात्मा विस्तरस्तावद्दिङ्मात्रेणाभिधीयते ॥ १५३ ॥

तत्र शक्तिशक्तिमतां मौलश्चतुर्दशविधः समनन्तरमेवोक्तोऽन्योन्यं च तेषां भेदादवान्तरमपि भेदजातं भवेत्—इत्याह—

सप्तानां मातृशक्तीनामन्योन्यं भेदने सति ।
रूपमेकान्नपञ्चाशत्स्वरूपं चाधिकं ततः ॥ १५४ ॥

एकान्नपञ्चाशदिति, सप्तानां सकलादिप्रमातृशक्तीनां ताभिरेव सप्तभिर्गुणनात् ॥ १५४ ॥

नन्वन्यसंबन्धिनी शक्तिः कथमन्यं भिन्द्यात्, न हि पटस्यातानवितानवत्त्वेन घटस्तथा स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

स्वरूप में वैचित्र्य हैं तो पार्थिव से अन्यत्र जलीय आदि भुवन आदि के विषय में उन दोनों (= भोग और स्वरूप) की क्या बात—यह कहा गया—'अन्यत्र क्या कथा होगी' ॥ १५२ ॥

प्रश्न—(उस) विस्तार को कहिये जिससे भुवन आदि में भी इस प्रकार का वैचित्र्य है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह विस्तार यद्यपि साक्षात् नहीं कहा जा सकता तो भी संक्षेप में कहते हुये विवेचन कीजिये ॥ १५३ ॥

यहाँ 'शक्ति शक्तिमान् का भेद'-इत्यादि ग्रहणवाक्य से प्रारब्ध भेदोपभेद रूप विस्तार संक्षेप में कहा जाता है ॥ १५३ ॥

शक्ति शक्तिमान् का मौलिक चौदह प्रकार पीछे कहा गया । उनके पारस्परिक भेद से अवान्तर भी भेदसमूह होते हैं—यह कहते हैं—

सात मातृशक्तियों का परस्पर भेदन होने पर (७ × ७ =) उन्चास रूप और उससे अधिक स्वरूप होते हैं ॥ १५४ ॥

उन्चास—सात प्रमातृशक्तियों का उन्हीं सात से गुणन करने से ४९ होते हैं ॥ १५४ ॥

सर्वं सर्वात्मकं यस्मात्तस्मात्सकलमातरि ।
लेयाकलादिशक्तीनां संभवोऽस्त्येव तत्त्वतः ॥ १५५ ॥

नन्वेवं वस्तुतः संभवेत् किन्तु न तथा संलक्ष्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

स त्वस्फुटोऽस्तु भेदांशं दातुं तावत्प्रभुर्भवेत् ।

वस्तुवृत्तमधिकृत्य हि भेदोपदर्शनमिहोपक्रान्तम्—इत्याशयः ॥

एवं शक्तिमतामन्योन्यं भेदने सति एकोनपञ्चाशदात्मनामपि भेदानां तत्कृतेष्वपि भेदेष्वन्योऽन्यतो भेदादित्यासूत्रितमनेकप्रकारत्वं भवेत्—इत्याह—

तेषामपि च भेदानामन्योऽन्यं बहुभेदता ॥ १५६ ॥

अन्योऽन्यमित्यर्थाद्भेदने सति, बहुभेदतेति एकोनपञ्चाशत एकोनपञ्चाशता गुणनादेकोत्तरचतुर्विंशतिशतप्रकारता—इत्यर्थः ॥ १५६ ॥

तत्त्वान्तरैः सहेत्युक्तं विभजति—

मुख्यानां भेदभेदानां जलाद्यैर्भेदने सति ।

प्रश्न—अन्यसम्बन्धिनी शक्ति अन्य का भेदन कैसे करेगी? पट के आतान-वितान स्वरूप होने से घट वैसा (= आतानवितान वाला) नहीं हो जाता?—यह शङ्का कर कहते है—

चूँकि (त्रिकदर्शन के अनुसार) सब सर्वात्मक है अतः समस्त प्रमाताओं में प्रलयाकल आदि शक्तियों की तत्त्वतः सम्भावना है ही ॥ १५५ ॥

प्रश्न—वस्तुतः ऐसा सम्भव है किन्तु वैसा दिखलायी नहीं देता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह भले ही अस्पष्ट हो किन्तु भेदांश देने के लिये समर्थ है ॥१५६-॥

यहाँ वस्तु के स्वभाव के आधार पर भेद का उपदर्शन प्रस्तुत किया गया ॥

इस प्रकार शक्तिमानों का परस्पर भेद होने पर उन्चास भेदों का भी उन्हीं के द्वारा भेद किये जाने पर परस्पर भेद होने पर बतलाये गये अनेक प्रकार होते हैं—यह कहते हैं—

उन भेदों का भी परस्पर (आपस में भेद होने पर) बहुत भेद हो जायगा ॥ -१५६ ॥

परस्पर—अर्थात् भेद करने पर । बहुत भेद—उञ्चास का उञ्चास से गुणा करने पर चौबीस सौ एक (२४०१) प्रकार ॥ १५६ ॥

तत्त्वान्तरों के साथ इस कथित का विभाजन करते हैं—

मुख्यभेदप्रकारेण विधेरानन्त्यमुच्यते ॥ १५७ ॥

मुख्यानां भेदभेदानामित्येकोनपञ्चाशद्रूपाणामुपभेदानाम्—इत्यर्थः । अमुख्यानां पुनरेषामेवं गुणने भेदविधेरानन्त्ये का वार्ता इत्युक्तं स्यात् । भेदने सतीति—एकद्वित्रादिक्रमेण । मुख्यभेदप्रकारेणेति—मुख्यस्य चतुर्दशविधस्य भेदस्य प्रकारेण तद्वत्—इत्यर्थः । अनेन मुख्यभेदानामपि धरादेरेकद्वित्रादिक्रमेण भेदने भेदविधेरानन्त्यमपि भवेदित्यनुवादाद्विधिः ॥ १५७ ॥

न केवलमेषां वैचित्र्यं यावत्प्रकारान्तरेणापि—इत्याह—

सकलस्य समुद्भूताश्चक्षुरादिस्वशक्तयः ।
न्यग्भूताश्च प्रतन्वन्ति भेदान्तरमपि स्फुटम् ॥ १५८ ॥

यद्यपि

'सकलस्य प्रमाणांशो योऽसौ विद्याकलात्मकः ।
सामान्यात्मा स शक्तित्वे गणितो न तु तद्भिदः ॥' (१०।१२)

इति प्रागुक्तं, तथापि सामान्यस्य विशेषाविनाभावित्वाच्चक्षुरादिशक्तीनामप्यत्रा-वश्यभावी सम्भव इत्युक्तं सकलस्य चक्षुरादिशक्तयः समुद्भूता न्यग्भूताश्च

मुख्य भेद भेदों का जल आदि से भेद किये जाने पर मुख्य भेद के प्रकार से विधि का आनन्त्य कहा जाता है ॥ १५७ ॥

मुख्य भेद भेदों का = उञ्चास उपभेदों का । इन अमुख्यों का इस प्रकार से गुणन करने पर भेदविधि के अनन्त होने पर क्या कहना—ऐसा कहना था । भेद किये जाने पर—एक दो आदि के क्रम से । मुख्य भेद के प्रकार से = चौदह प्रकार के भेद के प्रकार से उस प्रकार । इससे पृथिवी आदि के मुख्य भेदों का भी एक दो तीन आदि के क्रम से भेद किये जाने पर भेदविधि अनन्त भी हो जाती है—ऐसा अनुवाद करने से विधि है ॥ १५७॥

केवल इन्हीं (= सकल आदि) का भेद वैचित्र्य नहीं है किन्तु प्रकारान्तर से भी है—यह कहते हैं—

सकल की प्रकट एवं अप्रकट चक्षु आदि अपनी शक्तियाँ दूसरे भेदों को भी स्पष्ट रूप से विस्तृत करती हैं ॥ १५८ ॥

यद्यपि—

"सकल का जो यह विद्या कला रूप सामान्य प्रमाणांश है वह शक्ति माना गया है न कि उसके भेद ॥" (तं.आ. १०।१२)

ऐसा पहले कहा गया है तो भी सामान्य के, विशेष के साथ अवश्य सहचारी होने के कारण चक्षु आदि शक्तियों का भी सम्भव यहाँ अवश्यंभावी है इसलिये

भेदान्तराधानं कुर्वन्तीति ॥ १५८ ॥

एतदेव लयाकलादीनामप्यतिदिशति—

एवं लयाकलादीनां तत्संस्कारपदोदितात् ।
पाटवात्प्रक्षयाद्वापि भेदान्तरमुदीर्यते ॥ १५९ ॥

तत्संस्कारेति तासां चक्षुरादिशक्तीनां संस्कारो वासना—इत्यर्थः । लयाकलस्यापि सकलवद्विद्याकलात्मिकैव शक्तिः, किन्तु संस्काररूपतया तस्यास्तथा न स्फुटत्वम् । यदुक्तम्—

'लयाकलस्य मानांशः स एव परमस्फुटः।'

(१०।१३) इति ॥ १५९ ॥

ननु चक्षुरादिशक्तीनां यद्युद्भवतिरोभावौ तद्वेद्यतायाः किमायातं येनैवं भेदान्तरोदयः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

न्यक्कृतां शक्तिमास्थायाप्युदासीनतया स्थितिम्।
अनाविश्येव यद्वेत्ति तत्रान्या वेद्यता खलु ॥ १६० ॥
आविश्येव निमज्येव विकास्येव विघूर्ण्य च ।

कहा गया कि सकल की चक्षु आदि शक्तियाँ प्रकट और अप्रकट होकर दूसरे भेदों को बनाती हैं ॥ १५८ ॥

इसी का प्रलयाकल आदि के बारे में भी अतिदेश करते हैं—

इस प्रकार प्रलयाकल आदि का भी, उनके (चक्षु आदि शक्तियों के) संस्कार स्तर से उदित पटुता या प्रक्षय के कारण, दूसरा भेद उत्पन्न होता है ॥ १५९ ॥

उनके संस्कार = उन = चक्षु आदि शक्तियों के, संस्कार = वासना । प्रलयाकल की भी सकल के समान विद्या कला रूप ही शक्ति है किन्तु संस्कार-रूप होने के कारण उस (= शक्ति) की उस प्रकार से स्फुटता नहीं है । जैसा कि कहा गया है—

"प्रलयाकल का भी प्रमाणांश वही है किन्तु (वह) अस्फुट है" ॥ १५९ ॥ (तं.आ. १०।१३)

प्रश्न—यदि चक्षु आदि शक्तियों का उद्भव और तिरोभाव है तो इससे वेद्यता का क्या सम्बन्ध जिससे इस प्रकार के दूसरे भेद उत्पन्न होते हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

छिपी हुयी शक्ति को मानकर भी उदासीन होकर मानो स्थिति में प्रवेश न कर जो वेदन होता है वहाँ अन्यवेद्यता होती है । और मानो

विदतो वेद्यतान्यैव भेदोऽत्रार्थक्रियोचितः ॥ १६१ ॥

अनाविश्येव तृणशर्करादिन्यायेन उत्तानतया—इत्यर्थः । आविश्येव इत्यादौ यथोत्तरमपकर्षः । आवेशो हि तन्मयीभावः, निमज्जनमासङ्गात्मा तदन्तःप्रवेशः, विकासस्तदौत्सुक्येन प्रसरणम्, विघूर्णनं तदौन्मुख्येनोच्छलनात्मकं स्पन्दनम्, विदत इति उद्रिक्तस्वशक्तेः—इत्यर्थः । ननु फलाविशेषाद्वचनमात्रसारेणामुना भेदेन कोऽर्थः ?—इत्याशंक्योक्तम्—'भेदोऽत्रार्थक्रियोचितः' इति । अनुद्भूतशक्तिकस्य हि दृष्टमप्यदृष्टमिव न तथा निर्वृतिं पुष्येत्, उद्भूतशक्तेः पुनरासज्य विषयं पश्यतः परश्चमत्कारातिशयो भवेदित्यर्थक्रियाकृत एवायं भेदः किमुच्यते वचनमात्रसार इति ॥ १६१ ॥

तदेवान्वयव्यतिरेकगर्भं दृष्टान्तद्वारेण द्रढयति—

अन्यशक्तितिरोभावे कस्याश्चित्सुस्फुटोदये ।
भेदान्तरमपि ज्ञेयं वीणावादकदृष्टिवत् ॥ १६२ ॥

वीणावादकस्य हि दृगादिशक्तिन्यग्भावे श्रोत्रशक्तेरेवोद्भवः ॥ १६२ ॥

प्रवेश कर, डूब कर विकसित हो कर, विघूर्णन कर वेदन करने वाले की वेद्यता दूसरी ही होती है । (इसप्रकार) यहाँ अर्थक्रिया के आधार पर भेद है ॥ १६०-१६१ ॥

मानो अनाविष्ट होकर = तृणशर्करा आदि न्याय से उत्तान होकर मानो, आविष्ट होकर—इत्यादि में उत्तरोत्तर अपकर्ष है । आवेश = तन्मयीभाव । निमज्जन = आसङ्गरूप उसके अन्दर प्रवेश । विकास = उसकी ओर उत्सुकता के कारण प्रसरण । विघूर्णन = उसकी ओर उन्मुखता के कारण उच्छलत्तात्मक स्पन्दन । जानने वाले = उद्रिक्त अपनी शक्तिवाले ।

प्रश्न—फल में भेद न होने से वचनमात्रसार वाले इस भेद से क्या लाभ?—यह शङ्का कर कहा गया—'भेदोऽत्रार्थक्रियोचितः'। अनुद्भूतशक्तिवाले के लिये दृष्ट भी अदृष्ट के समान उस प्रकार पराकाष्ठा की प्राप्ति नहीं कराता । किन्तु उद्भूत शक्ति वाले, आसक्त होकर विषय को देखने वाले का परचमत्कारातिशय होता है यह अर्थक्रिया के द्वारा उत्पादित भेद है फिर यह क्यों कहते हैं—कि केवल वचनसार वाला (तथ्य है कि यह कथन से नहीं वरन् अनुभव से स्पष्ट होता है)॥ १६०-१६१ ॥

अन्वय व्यतिरेकगर्भित उसको दृष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते हैं—

अन्यशक्ति के तिरोहित होने तथा किसी (शक्ति) के स्पष्ट उदित होने पर भेदान्तर भी जानना चाहिये; जैसे कि वीणावादक की दृष्टि ॥ १६२ ॥

वीणवादक की दृक्शक्ति के तिरोहित होने पर श्रोत्र शक्ति का ही उद्भव होता

शक्तेश्च तिरोभावोद्भवौ विभजति—

तिरोभावोद्भवौ शक्तेः स्वशक्त्यन्तरतोऽन्यतः ।
चेत्यमानादचेत्याद्वा तन्वाते बहुभेदताम् ॥ १६३ ॥

क्वचिद्धि चक्षुरादिशक्तेः स्वयमवधानानवधानाभ्यामुद्भवतिरोभावौ, क्वचिच्च वीणावादकस्येव श्रोत्रादिशक्त्यन्तरात्, क्वचिच्चान्यतो मन्त्रौषधादेः, सर्वं चैतच्चेत्यमानमचेत्यमानं वेति भेदानामानन्त्यम् ॥ १६३ ॥

एतच्च भेदजातं धरादिगतैकैकभावादिप्रकारेणापि प्रथमं तावद्योज्यम्— इत्याह—

एवमेतद्धरादीनां तत्त्वानां यावती दशा ।
काचिदस्ति घटाख्यापि तत्र संदर्शिता भिदः ॥ १६४ ॥

तत्रेति एकघटाख्यदशायाम्, एवमनेकदशावति तत्त्वे पुनः कियन्तो भेदा,— इति को नाम वक्तुं शक्नुयात्—इत्याशयः ॥ १६४ ॥

ननु यत्रामेदं शक्तेरुद्भवतिरोभावाद्युक्तं तत्प्रमातुरतिशयो नान्यस्येति कथमेवं-

---

है ॥ १६२ ॥

शक्ति के तिरोभाव और उद्भव का विभाग करते हैं—

शक्ति का तिरोभाव और उद्भव, कहीं अपनी शक्ति से कहीं शक्त्यन्तर से (कहीं) दूसरे दूसरे कारण से (होते हैं) । (ये तिरोभाव और उद्‌भव) पुनः चेत्यमान और अचेत्यमान के कारण अनेक भेद को बनाते हैं ॥ १६३ ॥

कहीं चक्षुरादि शक्ति के स्वयं अवधान और अनवधान के द्वारा उद्भव और तिरोभाव होते हैं, कहीं वीणावादक के समान श्रोत्र आदि दूसरी शक्ति के कारण, कहीं अन्य के = मन्त्र औषधि आदि के, कारण । और यह सब (भेद) चेत्यमान अथवा अचेत्यमान (के) होते हैं । इस प्रकार भेदों की अनन्तता होती है ॥ १६३ ॥

इस भेदसमूह को पृथिवी आदि एक-एक भाव आदि के प्रकार से भी पहले जोड़ना चाहिये—यह कहते हैं—

इस प्रकार पृथिवी आदि तत्त्वों की जितनी दशा है (उनमें) घट नामक भी कोई दशा है । उसमें भेद दिखलाये गये हैं ॥ १६४ ॥

उसमें = एक घट नामक दशा में । इस प्रकार अनेक दशावाले तत्त्व में कितने भेद है—यह कौन कह सकता है (अर्थात् अनन्त भेद हैं)॥ १६४ ॥

जो यह शक्ति का उद्भव और तिरोभाव आदि कहा गया वह प्रमाता का

भेदभिन्नत्वं घटादेर्वेद्यस्यार्थस्य स्यात् ?—इत्याशङ्क्याह—

अत्रापि वेद्यता नाम तादात्म्यं वेदकैः सह ।
ततः सकलवेद्योऽसौ घटः सकल एव हि॥ १६५ ॥
यावच्छिवैकवेद्योऽसौ शिव एवावभासते ।
तावदेकशरीरो हि बोधो भात्येव यावता ॥ १६६ ॥

तत इति वेद्यवेदकयोस्तादात्म्यात तेन यो यत्प्रमातृवेद्योऽर्थः स तत्प्रमातृरूप एवेति सिद्धम् । अर्थो हि तत्तत्प्रमातृमय एवेत्युपपादितं प्राग् बहुशः । बोधो हि यावता वेद्यवेदकात्मना रूपेण परिस्फुरेत् तावता तत्तत्तादात्म्यमय एवाखण्डपर-प्रकाशात्मक इति यावत् । तदुक्तम्—

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये।
वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचि ततः॥' इति ॥ १६६ ॥

एवं धरादौ भावभुवनादिगतत्वेन व्यस्तसमस्ततया पाञ्चदश्यमुपपाद्य, तत्त्वाश्र-यतयागमगर्भं सामस्त्येनेवाभिधत्ते—

अधुनात्र समस्तस्य धरातत्त्वस्य दर्श्यते ।
सामस्त्य एवाभिहितं पाञ्चदश्यं पुरोदितम् ॥ १६७ ॥

अतिशय है अन्य का नहीं । फिर घट आदि वेद्य अर्थ की यह भेदभिन्नता कैसे (कही जा रही) है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यहाँ भी वेदकों के साथ तादात्म्य ही वेद्यता है । इसलिये सकल के द्वारा वेद्य यह घट सकल ही है । चूँकि यह केवल शिव के द्वारा वेद्य है अतः शिव होकर ही भासित होता है । चूँकि बोध ही भासित होता है इसलिये एक शरीर वाला ही है ॥ १६५-१६६ ॥

इस कारण = वेद्य वेदक के तादात्म्य के कारण । इससे जो अर्थ जिस प्रमाता का वेद्य होता है वह उस प्रमातास्वरूप होता है—यह सिद्ध होता है । अर्थ तत्तत्प्रमातृमय होता है—यह पहले बहुत बार कहा जा चुका है । चूँकि बोध वेद्यवेदकरूप से स्फुरित होता है इसलिये वह (= बोध) उसके तादात्म्य से युक्त अखण्ड परप्रकाशात्मक ही है । वही कहा गया है—

"हे प्रिये जब तक ये वेदक नहीं होंगे वेद्य कैसे होंगे । वेदक और वेद्य एक ही तत्त्व है इसलिये (यह) अशुद्ध नहीं है ॥ १६५-१६६ ॥

इस प्रकार पृथिवी आदि तत्त्वों में पदार्थ और भुवन आदि की दृष्टि से व्यस्त और समस्त रूप से पाञ्चदश्य को सिद्ध कर तत्त्वाश्रय के रूप से आगमगर्भ को सामस्त्येन कहते हैं—

अब यहाँ समस्त धरातत्त्व का सामस्त्य में ही कथित पूर्वोक्त

धरातत्त्वाविभेदेन यः प्रकाशः प्रकाशते ।
स एव शिवनाथोऽत्र पृथिवी ब्रह्म तन्मतम् ॥ १६८ ॥
धरातत्त्वगताः सिद्धीर्वितरीतुं समुद्यतान् ।
प्रेरयन्ति शिवेच्छातो ये ते मन्त्रमहेश्वराः ॥ १६९ ॥

अधुना प्राप्तावसरं समस्तस्य धरातत्त्वस्य पुरोदितं व्यस्तसमस्तभेदभिन्नं पाञ्चदश्यं सामस्त्य एवावान्तरप्रकारद्वारकवैयस्त्यपरिहारेण दर्श्यते, यतस्तत्तथैव प्रक्रान्ते श्रीपूर्वशास्त्रेऽभिहितम् । तत्र तन्मूलभूतं प्रमातृसप्तकं तावन्निर्दिशति-धरेत्यादिना । ननु शिवो नाम निखिलतत्त्वबृंहणाद् ब्रह्मेत्युच्यते तत्कथं नैयत्येन व्यवतिष्ठताम् ?—इत्याशंक्योक्तम्—पृथिवी ब्रह्मेति । यच्छ्रुतिः—

'पृथिव्येवेदं ब्रह्म' इति ।

शिवेच्छात इति तेषामपि ह्यत्र शिवः प्रेरकः—इत्यभिप्रायः ॥ १६९ ॥

के पुनः प्रेर्याः ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रेर्यमाणास्तु मन्त्रेशा मन्त्रास्तद्वाचकाः स्फुटम्।
धरातत्त्वगतं योगमभ्यस्य शिवविद्यया ॥ १७० ॥

पाञ्चदश्य दिखलाया जा रहा है । पृथिवीतत्त्व से अभिन्न रूप में जो प्रकाश प्रकाशित होता है वही शिवनाथ यहाँ पृथिवी और ब्रह्म माने गये हैं। धरातत्त्व में वर्त्तमान सिद्धियों को बाँटने के लिये उद्यत लोगों को जो शिव की इच्छा से प्रेरित करते हैं वे मन्त्रमहेश्वर हैं ॥ १६७-१६९ ॥

अब अवसरप्राप्त समस्त पृथिवी तत्त्व के पूर्वोक्त व्यस्तसमस्त भेद से भिन्न पाञ्चदश्य को सामस्त्य में ही अवान्तरप्रकारद्वार वाली व्यस्तता के परिहार के साथ दिखाया जाता है । क्योंकि पूर्वशास्त्र में वह उसी रूप में प्रस्तुत कहा गया है । उसमें उसके मूलभूत सात प्रमाताओं का निर्देश—पृथिवी-इत्यादि के द्वारा करते हैं ।

प्रश्न—समस्त तत्त्वों का विस्तार करने से शिव ही ब्रह्म का कहे जाते हैं तो वह निश्चित रूप से कैसे व्यवस्थित होंगे ?—यह शङ्का कर कहा गया—पृथिवी ब्रह्म है । जैसी कि श्रुति है—

"पृथिवी ही यह ब्रह्म है (या यह ब्रह्म ही पृथिवी है) ।"

शिव की इच्छा से—उनका भी यहाँ शिव ही प्रेरक है—यह अभिप्राय है ॥ १६७-१६९ ॥

वे प्रेर्य कौन है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रेर्यमाण मन्त्रेश होते हैं । धरातत्त्व में वर्त्तमान स्फुट योग का अभ्यास कर शिवविद्या (= शैवशास्त्र) के द्वारा फलप्रदानार्थ उद्यत मन्त्र उसके (=

पाशवसांख्यीयवैष्णवादिद्वितादृशा ।
ाध्रुवधामानो विज्ञानाकलताजुषः ॥ १७१ ॥
चोपभोगेन ये कल्पान्ते लयं गताः ।
वस्थयोपेतास्तेऽत्र प्रलयकेवलाः ॥ १७२ ॥

मन्त्रवाच्याः शतरुद्राद्याः ।

ास्तु वाच्यांशभूमिं शक्त्या निवेशिताः ।
ः शतरुद्रादिविरिश्चान्ततया स्थिताः ॥
स्य नादशक्त्यन्तर्धरासंक्षोभसंभवाः ।
ास्तद्वाचकास्तत्तत्फलदानसमुद्यताः ॥' इति ।

भेददृष्ट्या, अप्राप्तध्रुवधामान इति भावनानिष्पत्तिमप्राप्यान्तरा ्विदिति धरादेः, लयं गता इत्यर्थादप्तत्वादौ, प्रलयादौ हि प्रल ामूर्ध्वोर्ध्वं तत्त्वेष्ववस्थानमित्युक्तं प्राक् । सौषुप्तावस्थयोपेता इति सुषुप्तावास्थताः—इत्यर्थः ॥ १७२ ॥

ननु प्रलयाकलानां तत्तत्त्वलीनत्वं रूपम्, तच्च देहादिप्रमातृसंस्कारसंभव-मात्रात्मनि सौषुप्ते न संभवेदिति कथङ्कारमेषां तदवस्थोपेतत्वम्?—इत्याशङ्क्याह—

मन्त्रेश्वर के) वाचक हैं । न कि पाशुपत (= शैव सिद्धान्त) सांख्य वैष्णव आदि के द्वैतनियम के अनुसार अप्राप्त ध्रुवधाम वाले विज्ञानाकल (= उसके वाचक होते हैं)। और जो लोग तत्त्व के उपभोग के द्वारा कल्पान्त में प्रलय को प्राप्त हो गये तथा सौषुप्त अवस्था से युक्त है वे यहाँ प्रलयकेवली कहे जाते हैं ॥ १७०-१७२ ॥

मन्त्रेश = तत्तत् मन्त्रों के वाच्य शतरुद्र आदि । वही कहा गया है ।

"प्रेरित होकर शक्ति के द्वारा वाच्यांश भूमि में निवेशित मन्त्रेश शतरुद्र से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त स्थित हैं । शिव की नादशक्ति के भीतर पृथिवी के संक्षोभ से उत्पन्न जो कि उसको फल देने के लिए उद्यत होते हैं मन्त्र (कहलाते) हैं ॥"

द्वैत की **दृष्टि से = भेद दृष्टि से । अप्राप्त ध्रुव धाम वाले**—भावना के परिपाक को **न प्राप्त कर** बीच में विलय होने के कारण । उतने = पृथिवी आदि के । प्रलय को **प्राप्त अर्थात्** जलतत्त्व आदि में प्रलय आदि काल में प्रलयकेवली (प्रमाताओं) की ऊपर-ऊपर तत्त्वों में स्थिति होती है इसलिये कहा गया—पहले सुषुप्ति अवस्था से युक्त अर्थात् सुषुप्ति में स्थित ॥ १७२ ॥

प्रश्न—प्रलयाकलों का रूप तत्तत् तत्त्वों में लीन होता है और वह देह आदि

सौषुप्ते तत्त्वलीनत्वं स्फुटमेव हि लक्ष्यते ।
अन्यथा नियतस्वप्नसंदृष्टिर्जायते कुतः ॥ १७३ ॥

अन्यथेति तत्तत्त्वलयाभावे—इत्यर्थः । इह किल जाग्रत इव स्वप्नसुषुप्तयोः, स्वप्नस्यापि सुषुप्तादानन्तर्यं नियतमुपलभ्यते, न ह्यन्तःकरणबहिष्करणविश्रान्तिमयमिदमनधिशयानः स्वप्नपदमास्कन्दतीति स्वप्नावस्थाया नियतपूर्वभावि सौषुप्तं कारणम्, कारणानुरूप्येण च कार्योत्पत्या भवितव्यम्, तद्यत्तत्त्वविलयसारं सौषुप्तं तत्तत्त्वोचितभावभुवनादिमयी स्वप्नसृष्टिर्विभाव्यते, यथा धरालीनस्य पर्वतादिरोहणमबादिलीनस्य चोदन्वत्तरणादि ॥ १७३ ॥

ननु यदि सौषुप्तेऽपि निखिलवेद्यविलयात्मा तत्त्वविलयस्तन्नियतवेद्यानुभवसंस्कारलब्धजन्मनः स्मृतेस्तदा प्रबुद्धस्य कोऽवसरः ?—इत्याशङ्क्याह—

सौषुप्तमपि चित्रं च स्वच्छास्वच्छादि भासते ।
अस्वाप्सं सुखमित्यादिस्मृतिवैचित्र्यदर्शनात् ॥ १७४ ॥

चित्रमिति गुणत्रयमयत्वात्, अत एवोक्तं—स्वच्छास्वच्छादीति । तत्र स्वच्छे

प्रमाता के संस्कार की सम्भावना रूप सुषुप्ति में सम्भव नहीं है फिर इनका उस अवस्था से युक्त होना कैसे ? यह शङ्का कर कहते हैं—

सुषुप्ति में तत्त्व की लीनता स्पष्ट परिलक्षित होती है । अन्यथा नियत स्वप्न की दृष्टि कहाँ से उत्पन्न होती है ॥ १७३ ॥

अन्यथा = तत्तत् तत्त्वों में प्रलय न होने पर । जैसे जाग्रत अवस्था की अपेक्षा स्वप्न और सुषुप्ति का, उसी प्रकार स्वप्न का भी सुषुप्ति से आनन्तर्य निश्चित रूप से उपलब्ध होता है, ऐसा नहीं है कि अन्तःकरण और बाह्यकरण के विश्रान्तिमय पद को अप्राप्त यह स्वप्नपद को प्राप्त करता है । इस प्रकार नियत पूर्वभावी सुषुप्ति स्वप्नावस्था का कारण है । और कार्य की उत्पत्ति कारण के अनुरूप होती है। इसलिये जिस तत्त्व के विलयसार वाला सौषुप्त होता है उसी तत्त्व के अनुकूल तत्त्व भुवन आदि वाली स्वप्नसृष्टि समझी जाती है जैसे कि पृथिवी आदि में लीन का पर्वत आदि पर चढ़ने (का स्वप्न) या जल में लीन का समुद्रतरण आदि देखा जाता है ॥ १७३ ॥

प्रश्न—यदि सुषुप्ति में भी निखिलवेद्यविलय रूप तत्त्वविलय होता है तो निश्चित वेद्य अनुभव के संस्कार से उत्पन्न स्मृति के उस समय प्रबुद्ध होने का क्या अवसर है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

सुषुप्ति भी स्वच्छ अस्वच्छ आदि विचित्र प्रकार की भासित होती है । क्योंकि 'मैं सुखपूर्वक सोया' इत्यादि विचित्र स्मृति देखी जाती है ॥१७४॥

विचित्र = त्रिगुणमय होने के कारण । इसीलिये कहा गया—स्वच्छ अस्वच्छ

सत्त्वप्रधाने 'सुखमहमस्वाप्सम्' इति । अस्वच्छे तमःप्रधाने 'न किञ्चिच्चेतितवानहम्' इति। आदिग्रहणात् स्वच्छास्वच्छे रजःप्रधाने 'दुःखमहमस्वाप्सम्' इति स्मृतेर्वैचित्र्यम् । तदेतदन्यथानुपपत्त्या नायं नियमः, 'सौषुप्ते निखिलवेद्यविलयः' इति, येन प्रबुद्धस्य स्मृतिर्विरुद्ध्येत—इत्याशयः ॥ १७४ ॥

न चेदं वाच्यं यत्तूलशयनसुखादिस्पर्शानुभवसमुत्थेयं स्मृतिरिति—इत्याह—

यदैव स क्षणं सूक्ष्मं निद्रायैव प्रबुध्यते।
तदैव स्मृतिरेषेति नार्थजज्ञानजा स्मृतिः ॥ १७५ ॥

तदा हि स्यादेतदेवं यदा प्रथमं प्रबोधस्ततः सुखाद्यनुभवस्ततस्तदाहितसंस्कारजा प्रबोधोपनिपाते स्मृतिरिति । न चात्रैवं, प्रबोधस्मृत्योरेकक्षणभावित्वात् । तदाह—'यदैव प्रबुद्ध्यत इति तदैव स्मृतिरिति' च ॥ १७५ ॥

अत एवात्र स्थिरप्रबोधाभावेऽप्यन्तरान्तरा प्रबुद्धस्य विद्युदुन्मिषितन्यायेन तथानुभवात्स्मृतिरित्यादि वदन्त उत्प्रेक्षितव्याः—इत्याह—

तेन मूढैर्यदुच्येत प्रबुद्धस्यान्तरान्तरा ।

आदि । उनमें स्वच्छ सत्त्वप्रधान होने पर 'मैं सुखपूर्वक सोया'—इस प्रकार की; अस्वच्छ तमःप्रधान होने पर 'मुझे कुछ ज्ञान नहीं था'—इस प्रकार की (स्मृति होती है) । आदि ग्रहण से स्वच्छ और अस्वच्छ (उभयमिश्रित) रजःप्रधान होने पर 'मैं दुःखपूर्वक सोया'—ऐसी विचित्र स्मृति होती है । तो इसकी दूसरे प्रकार से सिद्धि न होने पाये यह नियम नहीं हो सकता कि सुषुप्ति में समस्त वेद्य का लय हो जाता है ।' जिससे प्रबुद्ध की स्मृति विरुद्ध होती है ॥ १७४ ॥

यह भी नहीं कहना चाहिये कि यह स्मृति कपास (से बने हुये बिस्तर) के शयनसुख आदि के स्पर्श के अनुभव से उत्पन्न है—यह कहते हैं—

जैसे ही वह एक क्षण थोड़ी सी निद्रा लेकर जाग पड़ता है उसी समय उसको ऐसी स्मृति होती है । इसलिये स्मृति अर्थ से उत्पन्न ज्ञान से उत्पन्न नहीं होती ॥ १७५ ॥

यह उस समय होता जब पहले निद्रानिवृत्ति, फिर सुख आदि का अनुभव फिर उससे रक्षित संस्कार से उत्पन्न जागरण होने पर स्मृति होती । किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है । क्योंकि प्रबोध और स्मृति एक क्षण में ही होती है । वही कहते हैं—'जभी जागता है तभी स्मृति होती है' ॥ १७५ ॥

इसीलिये यहाँ स्थायी प्रबोध के न होने पर भी बीच-बीच में जगे हुये का बिजली की चमक की भाँति, उस प्रकार के अनुभव से, स्मृति होती है—इत्यादि कहने वालों की उपेक्षा कर देनी चाहिये अर्थात् उनका कथन असङ्गत है—यह कहते हैं—

तूलिकादिसुखस्पर्शस्मृतिरेषेति तत्कुतः ॥ १७६ ॥

तत्कुत इति निर्हेतुकमेव—इत्यर्थः ॥ १७६ ॥

मायाकर्मसमुल्लाससंमिश्रितमलाबिलाः ।
धराधिरोहिणो ज्ञेयाः सकला इह पुद्गलाः ॥ १७७ ॥

मायेत्यादिनैषां त्रिमलबद्धत्वमुक्तम् ॥ १७७ ॥

एवं प्रमातृसप्तकं निर्दिश्य, सामान्येन तच्छक्तिसप्तकं निर्देष्टुमाह—

अस्यैव सप्तकस्य स्वस्वव्यापारप्रकल्पने ।
प्रक्षोभो यस्तदेवोक्तं शक्तीनां सप्तकं स्फुटम् ॥ १७८ ॥
शिवो ह्यच्युतचिद्रूपस्तिस्रस्तच्छक्तयस्तु याः ।
ताः स्वातन्त्र्यवशोपात्तग्रहीत्राकारतावशात् ॥ १७९ ॥
त्रिधा मन्त्रावसानाः स्युरुदासीना इव स्थिताः ।
ग्राह्याकारोपरागात्तु ग्रहीत्राकारतावशात् ॥ १८० ॥
सकलान्तास्तु तास्तिस्त्र इच्छाज्ञानक्रिया मताः ।

स्वस्वव्यापारेति, स्वस्य स्वस्य स्तम्भादेः सृष्ट्यादेश्च व्यापारस्य क्रियायाः—

इसलिये मूर्ख लोग जो कहते हैं कि बीच-बीच में प्रबुद्ध (व्यक्ति) की तूलिका आदि सुखस्पर्श की यह स्मृति है—वह कैसे ॥ १७६ ॥

वह कैसे = बिना कारण के (ऐसा कहते हैं)॥ १७६ ॥

माया एवं कर्म के समुल्लास से मिश्रित (मायीय एवं कार्म) मल से मलिन पृथिवीवासी पुद्गल यहाँ सकल समझे जाने चाहिये ॥ १७७ ॥

माया इत्यादि (के कथन) से इनका त्रिमलबद्ध होना कहा गया है ॥ १७७ ॥

सात प्रमाताओं का निर्देश करके सामान्यतया उनकी सात शक्तियों का निर्देश करने के लिये कहते हैं—

इन्हीं सात प्रमाताओं का अपने-अपने व्यापार की कल्पना में जो क्षोभ होता है वही स्फुट सात शक्तियाँ कही गयी है ।

शिव अच्युतचिद्रूप है । उनकी जो (इच्छा ज्ञान क्रिया रूप) तीन शक्तियाँ हैं वे स्वातन्त्र्यवश प्रमाता का रूप धारण करने के कारण मन्त्र पर्यन्त तीन प्रकार से उदासीन के समान स्थित रहती हैं । प्रमेय के आकार के उपराग के कारण प्रमाता का आकार ग्रहण करने से इच्छा ज्ञान क्रिया रूप वे तीन शक्तियाँ सकल पर्यन्त (= विज्ञानाकल प्रलयाकल और सकल पर्यन्त) मानी जाती है ॥ १७८-१८१- ॥

इत्यर्थः । एतच्चानेनैवान्यत्र विशेषेणोक्तम् । तद्यथा—

'तत्रैव धरणीनाम्नि भिन्नाभासिनि या पृथक् ।
स्तम्भादिकावलोक्येत शिवशक्तिरसौ भुवि ॥
अत्रैव सृष्टिविलयस्थित्यनुग्रहसंहृतिः ।
सकलादिशिवान्तेयं विधत्ते विविधस्थितिः ॥
सेह मन्त्रमहेशानशक्तिस्तत्त्वाधिकारिणी ।
तत्तत्त्वमन्त्रवृन्देषु हठादेव हि पुद्गलान् ॥
या प्रेरयति माहेशी शक्तिः सा बोधभूमिगा ।
यया बुद्ध्येत भूतत्त्वसद्भावं पीतलादिकम् ॥
त्रायते तद्विपक्षाच्च मन्त्रशक्तिरसौ मता ।
तत्तत्त्वभोगाभोगे या सम्यगौत्सुक्यदायिनी ॥
तावन्मात्रमलावस्था शक्तिर्वै ज्ञानकेवली ।
प्रबुद्धस्फारतत्तत्त्वगतकर्माभिमुख्यतः ॥
तद्भोगोन्मुखता शक्तिः प्रलयाकलगामिनी ।
मायाकर्ममलव्यक्तिसमावेशे तु या स्थितिः ॥
बाह्यान्तरेन्द्रियकृता नानावस्थानुयायिनी ।

अपना-अपना व्यापार = अपना-अपना स्तम्भ आदि और सृष्टि आदि के व्यापार का = क्रिया का । यही इनके द्वारा अन्यत्र विशेष रूप से कहा गया है। जैसे कि—

वहीं पर भिन्न रूप से आभासित होने वाले धरणी नामक (तत्त्व) में जो काठिन्य दिखलायी देता है वह शिव की शक्ति है ।

यहीं (= पृथिवी पर) जो सकल से लेकर शिव पर्यन्त विविध स्थिति वाली यह सृष्टि स्थिति प्रलय निग्रह और अनुग्रह (नामक पञ्च-) कृत्य करती है । वह मन्त्रमहेश्वर की शक्ति है ।

तत्त्वों की अधिकारिणी तत्तत् तत्त्वमन्त्रसमूहों में जो हठात् पुद्गलों को प्रेरित करती है बोधभूमि में स्थित वह माहेश्वरी शक्ति है ।

जिसके द्वारा पृथिवीतत्त्व वाला पीतल आदि (धातुओं) का ज्ञान होता है और उसके विपक्ष से जो रक्षा करती है वह मन्त्र शक्ति मानी गई है ।

उस तत्त्व के भोग और अभोग के विषय में जो औत्सुक्य देने वाली होती है और उतनी ही मलावस्था वाली होती है वह ज्ञानकेवली शक्ति है ।

प्रबुद्ध स्फार वाले उस तत्त्व में वर्त्तमान कर्म के आभिमुख्य के कारण उस भोग की उन्मुखता प्रलयाकलगामिनी शक्ति कही जाती है ।

मायीय कार्ममल की अभिव्यक्ति का समावेश होने पर जो स्थिति होती है बाह्य

भोगसाधनशक्तिः सा सकलाणुसमाश्रया ॥'

इति । नन्वस्मदर्शने नरशक्तिशिवात्मकमेव विश्वमिति तत्र तत्रोद्धोष्यते तदिह कथमपूर्वतयेदमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—शिव इत्यादि । तत्र शिवस्तावन्नित्यचिदात्मा परप्रमाता इति नास्ति विवादः । तच्छक्तिश्चेच्छाज्ञानक्रियात्मिका प्रस्फुरन्ती शुद्धाशुद्धरूपतया प्रमातृषट्कमुल्लासयति । तत्र मन्त्रमहेश्वरादेस्त्रयस्य ग्राह्याद्यनपेक्षणाच्छुद्धं ग्रहीतृत्वम् । विज्ञानाकलादेस्तु त्रयस्य ग्राह्याद्यपेक्षणादशुद्धं ग्रहीतृत्वम् । अत एवोक्तं—स्वातन्त्र्यवशोपात्तेति, ग्राह्याकारोपरागात्त्विति च । 'त्रिधा मन्त्रावसानाः इति मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वर-मन्त्ररूपाः—इत्यर्थः । उदासीना इवेत्यक्षुब्धाः, क्षुब्धत्वे ह्येषां शक्तित्वं भवेदिति भावः ॥ १८० ॥

एतदेवोपसंहरति—

सप्तधेत्थं प्रमातृत्वं तत्क्षोभो मानता तथा ॥ १८१ ॥

मानतेति शक्तिरूपतया—इत्यर्थः ॥ १८१ ॥

नन्वेवं चातुर्दश्यमेवाभिहितं स्याच्छिवशत्यात्मकं द्विकं वा?—इत्याशङ्क्याह—

यत्तु ग्रहीतृतारूपसंवित्संस्पर्शवर्जितम् ।

(इन्द्रिय) एवं आन्तर इन्द्रिय के द्वारा उत्पादित अनेक अवस्था की अनुयायिनी जो भोगसाधन शक्ति है वह सकल अणुओं में रहने वाली है ।''

प्रश्न—हमारे दर्शन में विश्व नरशक्ति शिवात्मक ही जगह-जगह उद्घोषित होता है तो यहाँ कैसे अपूर्व ढङ्ग से कहा जा रहा है?—यह शङ्का कर कहते हैं—शिव इत्यादि । उसमें नित्य ज्ञान स्वरूप परप्रमाता है—इसमें कोई विवाद नहीं है। और उसकी इच्छा ज्ञान क्रिया रूपा शक्ति शुद्ध अशुद्ध रूप से स्फुरित होती हुई छ प्रमाताओं को उल्लासित करती है । उनमें मन्त्र मन्त्रेश्वर और मन्त्र महेश्वर तीन का, ग्राह्य आदि की अपेक्षा न होने से, शुद्ध प्रमातृत्व है । और विज्ञानाकल प्रलयाकल और सकल इन तीन का ग्राह्य आदि की अपेक्षा न होने से, अशुद्ध प्रमातृत्व है । और विज्ञानाकल आदि तीन का ग्राह्य आदि की अपेक्षा के कारण अशुद्ध प्रमातृत्व है । इसीलिये कहा गया—'स्वातन्त्र्यवश गृहीत' एवं 'ग्राह्याकार के उपराग से' । तीन प्रकार का मन्त्र पर्यन्त = मन्त्रमहेश्वर मन्त्रेश्वर और मन्त्र रूप । उदासीन की भाँति = अक्षुब्ध । क्योंकि क्षुब्ध होने पर ये शक्ति हो जायेंगे ॥ १८० ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सात प्रमाता हैं और उनका क्षोभ प्रमाण है ॥ -१८१ ॥

मानता—शक्ति रूप होने के कारण ॥ १८१ ॥

प्रश्न—इस प्रकार चातुर्दश्य ही कहना चाहिये था अथवा शिव शक्ति रूप द्विक ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

शुद्धं जडं तत्स्वरूपमित्थं विश्वं त्रिकात्मकम् ॥ १८२ ॥

संवित्संस्पर्शवर्जनादेव शुद्धम्, अत एव जडं वेद्यतायाः प्राधान्यान्नरात्मकम्—इत्यर्थः ।

यदुक्तम्—

'यदा तु ग्राहकावेशविस्मृतेर्जडता स्फुटम् ।
पारतन्त्र्यात्तदोदेति तत्स्वरूपं नरात्मकम् ॥' इति ।

तदेवं पाञ्चदश्यादिक्रमेऽपि त्रिकपरमार्थतैवेत्युक्तम्—'इत्थं विश्वं त्रिकात्मकम्' इति ॥ १८२ ॥

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति

एवं जलाद्यपि वदेद्भेदैर्भिन्नं महामतिः ।

ननु 'शिवशक्ती तावदविच्युतचिद्रूपे' इति न कस्यचिद् विमतिः; शक्तिरेव चेच्छाज्ञानक्रियात्मना प्रस्फुरन्ती प्रमातृषट्कतयावभासते इत्युक्तम्, तच्छक्तेः सर्वत्राविशेषान्मन्त्रमहेश्वरान्तमपि पाञ्चदश्यमेव संभवेदिति त्रायोदश्याद्यपहाय तदेव कस्मान्न निरूपितम् ?—इत्याशङ्क्याह—

और जो प्रमातृरूप संवित् के स्पर्श से रहित शुद्ध जड़ है वह अपना (= नर का) रूप है । इस प्रकार विश्व त्रिकरूप है ॥ १८२ ॥

संवित् के स्पर्श से रहित होने के कारण ही शुद्ध अत एव जड़ = वेद्यता की प्रधानता के कारण नरात्मक । जैसा कि कहा गया है—

"जब प्रमाता के आवेश का विस्मरण होने के कारण पारतन्त्र्य होने से स्पष्ट जड़ता उदित होती है तब वह स्वरूप नरात्मक होता है ।"

तो इस प्रकार पाञ्चदश्य आदि क्रम में भी परमार्थतः त्रिक ही विराजमान है । इसलिये कहा गया—'इस प्रकार विश्व त्रिकात्मक है' ॥ १८२ ॥

इसी को अन्यत्र भी अतिदिष्ट करते हैं—

बुद्धिमान् इसी प्रकार जल आदि को भी भेदों से भिन्न कहते हैं ॥ १८३- ॥

प्रश्न—'शिव शक्ति अपृथक् चिद्रूप हैं' इसमें किसी को मतभेद नहीं है । और शक्ति ही इच्छा ज्ञान क्रिया के रूप में स्फुरित होती हुई छ प्रमाताओं के रूप में भासित होती है—यह कहा गया । तो शक्ति के सर्वत्र समान होने से मन्त्रमहेश्वर पर्यन्त भी पाञ्चदश्य ही सम्भव है । इसलिये त्रायोदश्य आदि को छोड़कर वही क्यों नहीं कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनया तु दिशा प्रायः सर्वभेदेषु विद्यते ॥ १८३ ॥
भेदो मन्त्रमहेशान्तेष्वेष पञ्चदशात्मकः ।
तथापि स्फुटताभावात्सन्नप्येष न चर्चितः ॥ १८४ ॥

मन्त्रमहेशान्तेषु सर्वभेदेष्वित्यर्थात्प्रलयाकलादिषु, अतश्चोक्तं न्यायविरुद्धं त्रायोदश्यादि--इत्याशयः । सत्यमेवं किन्त्वेतत्त्रायोदश्यादिवन्न स्फुटमितीह नोक्तम् ॥ १८४ ॥

नन्वधराधररूपं पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्रूपे निलीनं सत्स्वरूपमेव जह्यादिति, तत्रास्य निरवकाशैव पाञ्चदश्यादिशङ्का?—इत्याशङ्क्याह—

एतच्च सूत्रितं धात्रा श्रीपूर्वे यद् ब्रवीति हि ।
सव्यापाराधिपत्वेनेत्यादिना जाग्रदादिताम् ॥ १८५ ॥
अभिन्नेऽपि शिवेऽन्तःस्थसूक्ष्मबोधानुसारतः ।

श्रीपूर्वशास्त्रे ह्यभिन्नेऽपि शिवे जाग्रदादिरूपतामभिदधता भगवतैतत्सूचितं यज्जाग्रदादिवत्पाञ्चदश्याद्यप्युपर्युपरि संभवेदिति । तथा च

'सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः ।

इस रीति से मन्त्रमहेश्वर तक प्रायः सब भेदों में यह पञ्चदशात्मक भेद वर्त्तमान है तो भी स्फुट न होने के कारण विद्यमान रहते हुये भी इसकी चर्चा नहीं की गयी ॥ -१८३-१८४ ॥

मन्त्रमहेशपर्यन्त सब भेदों में अर्थात् प्रलयाकल आदि में (यह है)। इसलिये कहा गया—न्यायविरुद्ध त्रायोदश्य आदि । यह (कथन) सत्य है किन्तु यह (पाञ्चदश्य) त्रायोदश्य आदि की भाँति स्फुट नहीं है इस कारण यहाँ नहीं कहा गया ॥ १८४ ॥

प्रश्न—नीचे-नीचे वाला रूप पूर्व-पूर्व रूप में विलीन होता हुआ स्वरूप को ही छोड़ देता है तो इसके पाञ्चदश्य आदि की शङ्का के लिये कोई अवसर नहीं है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

भगवान् शिव ने श्रीपूर्वशास्त्र में 'सव्यापाराधिपत्वेन' इत्यादि के द्वारा इसको बतलाया है । ज़ैसा कि वे कहते हैं—शिव के अभिन्न होने पर भी अन्तःस्थसूक्ष्म बोध के अनुसार जाग्रत आदि (की भाँति पन्द्रह अवस्थायें होती) है ॥ १८५-१८६- ॥

पूर्वशास्त्र में अभिन्न भी शिव में जागृत आदि रूपता का कथन करने वाले भगवान् के द्वारा यह सूचित किया गया कि जाग्रत आदि के समान ऊपर-ऊपर पाञ्चदश्य आदि भी सम्भव है । इस प्रकार—

''सव्यापार स्वामी होने के कारण उसके अधीन प्रेरणा होने से इच्छानिवृत्ति के

इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नमपि पञ्चधा ॥' (मा० वि० २।३५)

इत्यत्र शिवस्य सव्यापारत्वेन क्रियाशक्तिप्रधाना जागरा । अधिपत्वेन स्वस्वातन्त्र्यादसाधारणतत्तत्सृष्टिमयो ज्ञानशक्तिप्रधानः स्वप्नः । ज्ञानक्रियाभ्यां हीनेनौदासीन्यप्रच्यावात्मना प्रेरकत्वेनेच्छाप्रधानं सौषुप्तम् । एषणीयपूर्णतया तन्निवृत्त्याप्यानन्दशक्तिप्रधानं तुर्यम् । निरानन्दतया सर्वसर्वात्मकपरिपूर्णस्वरूप-विश्रान्तेश्चिच्छक्तिप्रधानं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थात्मकत्वमित्यर्थः । 'अन्तःस्थसूक्ष्म-बोधानुसारतः' इति प्रमात्रेकरूपसूक्ष्मबोधाश्रयेण—इत्यर्थः । बोधस्य हि बोधरूप-तयान्तः सर्वं संभवेत्—इति भावः ॥ १८५ ॥

इह

'अध्वा समस्त एवायं षड्विधोऽप्यतिविस्तृतः ।
यो वक्ष्यते स एकत्र प्राणे तावत्प्रतिष्ठितः ॥' (तं० ६।५)

इत्याद्युक्त्या बहिरिवान्तरपि प्राणे तत्त्वाध्वास्तीति तद्गतत्वेनापि पाञ्चदश्याद्य-भिधातुमुपक्रमते—

अधुना प्राणशक्तिस्थे तत्त्वजाले विविच्यते ॥ १८६ ॥

कारण स्वस्थ होने से अभिन्न होते हुये भी शिव की अवस्था पाँच प्रकार की है ।'' (मा.वि.तं. २।३५)

यहाँ शिव के व्यापारयुक्त होने के कारण क्रियाशक्तिप्रधान जाग्रत अवस्था होती है । अधिपति होने के कारण अपने स्वातन्त्र्यवश (शिव की) असाधारण तत्तत् सृष्टिमय ज्ञानशक्तिप्रधान स्वप्नावस्था है । ज्ञानक्रिया से हीन होने से उदासीनता की प्रच्युतिरूप प्रेरणा के कारण इच्छाप्रधान सुषुप्तावस्था है । एषणीय के पूर्ण होने के कारण उसकी निवृत्ति के द्वारा भी आनन्दशक्तिप्रधान तुरीयावस्था है । निरानन्द होने से सर्व सर्वात्मक परिपूर्ण स्वरूप में विश्रान्ति के कारण चित्शक्तिप्रधान तुरीयातीत अवस्था है । इस प्रकार पाँच अवस्थायें हैं । 'अन्तःस्थसूक्ष्मबोध के अनुसार' = केवल प्रमातृरूप सूक्ष्मबोध के आधार पर बोध के बोध रूप होने के कारण भीतर सब सम्भव है—यह तात्पर्य है ॥ १८५ ॥

यहाँ—

''छ प्रकार का अतिविस्तृत यह समस्त अध्वा जो कि आगे कहा जायगा; वह एक जगह प्राण में प्रतिष्ठित है ।'' (तं. आ. ६।५)

इत्यादि उक्ति के अनुसार बाहर की भाँति भीतर भी प्राण में तत्त्वाध्वा है इसलिये उस दृष्टि से भी पाञ्चदश्य आदि का कथन करने के लिये उपक्रम करते हैं—

अब जैसा कि भगवान् शिव ने उपदेश किया, प्राणशक्ति में

भेदोऽयं पाञ्चदश्यादिर्यथा श्रीशंभुरादिशत् ।

श्रीशंभुरादिशदित्यनेन गुरुपरम्परागतत्वादविगीतप्रसिद्धिनिबन्धनत्वमस्य ध्वनितम् ॥ १८६ ॥

तदेवाह—

समस्तेऽर्थेऽत्र निर्ग्राह्ये तुटयः षोडश क्षणाः ॥ १८७ ॥
षट्त्रिंशदंगुले चारे सांशद्व्यङ्गुलकल्पिताः ।

समस्तेऽर्थे निर्ग्राह्ये इति तत्त्वभावभुवनाद्यात्मनि वेद्यवस्तुनि—इत्यर्थः । क्षणशब्दश्चात्र

'मानुषाक्षिनिमेषस्याष्टमोंऽशः क्षणः स्मृतः ।' (स्व० ११।१९९)

इति लक्षितक्षणद्वयात्मनि कालविशेषे वर्तते ।

यदुक्तम्—

क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया.................................. ।
(स्व० ११।१९९) इति ।

सांशेति सचतुर्भागा—इत्यर्थः । यदुक्तम्—

स्थित तत्त्वसमूह में इस पाञ्चदश्य आदि भेद का विवेचन किया जाता है ॥ -१८६-१८७- ॥

'श्री शम्भु ने उपदेश दिया'—इससे गुरुपरम्परा से प्राप्त होने के कारण इसकी अविरुद्धप्रसिद्धिकारणता ध्वनित होती है ॥ १८६ ॥

वही कहते हैं—

यहाँ समस्त अर्थ का ज्ञान करने में सोलह क्षणों वाली त्रुटियाँ होती है। ये (= त्रुटियाँ) छत्तीस अंगुल वाले प्राणचार में सवा दो (२-१/४) अंगुल (प्रतिक्षण के हिसाब) से कल्पित होती हैं ॥ -१८७-१८८- ॥

समस्त अर्थ का ज्ञान कराने में—तत्त्व भाव भुवन आदि रूप वेद्य वस्तु के विषय में—यह अर्थ है । यहाँ क्षण शब्द—

"मनुष्य की पलक के निमेष का आठवाँ भाग क्षण माना गया है ।"

इससे लक्षिण दो क्षण वाले कालविशेष अर्थ में (प्रयुक्त) है । जैसा कि कहा गया है—

"दो क्षणों की एक त्रुटि समझी जानी चाहिये ।"

सांश = चतुर्थ भाग के साथ । जैसा कि कहा गया है—

'तुटिः सपादांगुलयुक्प्राणः..................... ।'

(तं० ६।६४) इति ॥ १८७ ॥

एतदेव विभजति—

तत्राद्यः परमाद्वैतो निर्विभागरसात्मकः ॥ १८८ ॥
द्वितीयो ग्राहकोल्लासरूपः प्रतिविभाव्यते ।
अन्त्यस्तु ग्राह्यतादात्म्यात्स्वरूपीभावमागतः ॥ १८९ ॥
प्रविभाव्यो न हि पृथगुपान्त्यो ग्राहकः क्षणः ।

आद्य इति तुट्यात्मा कालक्षणः । निर्विभागेति, यदुक्तम्—

'......................शिवः साक्षान्न भिद्यते ।'

(मा० वि० २।७) इति ।

ग्राहकोल्लासरूप इति शक्तेरेव हि षण्णां प्रमातृणामुल्लासः इत्युक्तप्रायम् । अन्त्य इति षोडशस्तुट्यात्मा कालक्षणः । ग्राह्यतादात्म्यादिति यथायथं ग्राह्यत्वस्यैवोद्रेकात् । ननु शिवशक्तित्वेन स्वरूपत्वेन च तुटित्रयमत्र विनियुक्तमित्यवशिष्टवक्ष्यमाणप्रमातृतच्छक्तिद्वादशकापेक्षया एका तुटिरधिकीभवेत्, तत्किमसौ स्वरूपेऽन्तर्भवति उत प्रमातृपक्षे निक्षिप्यते ?—इत्याशंक्य चरमव्याख्येयमपि

"सवा अंगुल से युक्त प्राण त्रुटि है ।" (= नाक से निकल कर प्राणवायु जितनी देर में सवा दो अंगुल की दूरी तक पहँचता है उतना समय एक त्रुटि कहलाता है) ॥ १८७- ॥

इसी का विभाग करते हैं—

उनमें पहला (भाग) परम अद्वैत विभागहीन आनन्दस्वरूप है । दूसरा प्रमाता का उल्लासरूप समझा जाता है । और अन्तिम (भाग) प्रमेय के तादात्म्य के कारण स्वरूपी भाव को प्राप्त समझना चाहिये । अन्त्यक्षण का समीपस्थ ग्राहक क्षण पृथक् बोधगम्य नहीं है ॥ -१८८-१९०- ॥

प्रथम = तुटिस्वरूप कालक्षण । निर्विभाग—जैसा कि कहा गया--

"...साक्षात् शिव का भेद नहीं होता ।"

प्रमाता का उल्लास रूप—छ प्रमाताओं का उल्लास शक्ति का (उल्लास) ही है—यह कहा जा चुका है । अन्तिम = सोलह तुटिवाला कालक्षण । ज्ञेय के तादात्म्य से = क्रमशः ज्ञेयत्व के ही उद्रेक के कारण । प्रश्न—शिव शक्ति के रूप में और स्वरूपतः यहाँ तीन तुटियों का विनियोग हुआ । अवशिष्ट वक्ष्यमाण (छ) प्रमाता और उनकी शक्तियाँ (इन) बारह की अपेक्षा एक तुटि अधिक होती है तो क्या यह स्वरूप में अन्तर्भूत होती है अथवा प्रमातृपक्ष में स्थापित की जाती है?—यह शङ्का कर चरम व्याख्येय भी अवशिष्ट, उपान्त्यक्षण का = अन्त्यक्षण में

अवशिष्टमुपान्त्यक्षणमन्त्यक्षणप्रसङ्गागतमनागतावेक्षणन्यायेन प्रागेव निर्णयति प्रविभाव्यो न हीति । पृथगित्यर्थादन्त्यात्क्षणात् । उपान्त्य इति अन्त्यसमीपस्थः पञ्चदशस्तुट्यात्मा क्षणस्तत्र ह्यन्तरोच्छूनतामासाद्यान्ते ग्राह्यतैव साक्षादुल्लसेत्—इत्याशयः ॥ १८९ ॥

एवमवशिष्टं तुटिद्वादशकं मन्त्रमहेश्वरतच्छक्त्यादिरूपतया विभजति—

तृतीयं क्षणमारभ्य क्षणषट्कं तु यत्स्थितम् ॥ १९० ॥
तन्निर्विकल्पं प्रोद्गच्छद्विकल्पाच्छादनात्मकम् ।

तृतीयमिति प्रथमद्वितीयापेक्षया । क्षणषट्कमिति शक्तिमच्छक्तिरूपम् ॥१९०॥

ननु कथमत्रोद्गच्छतां विकल्पानामाच्छादनं स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—

तदेव शिवरूपं हि परशक्त्यात्मकं विदुः ॥ १९१ ॥

तद्धि क्षणषट्कं शुद्धविद्यामयत्वात् शक्तिमच्छक्त्यपेक्षया क्रमेण शिवरूपमेव परशक्त्यात्मकमेव चेत्याम्नायः ॥ १९१ ॥

एवमेकं क्षणषट्कं व्याख्याय, परमप्याचष्टे—

प्रसङ्गतः प्राप्त का, अनागतअवेक्षण न्याय से पहले ही निर्णय करते हैं—प्रविभाव्य नहीं है । पृथक्—अन्त्यक्षण से पृथक् । उपान्त्य = अन्त्य के समीपस्थ पन्द्रहवाँ तुटिस्वरूप क्षण । वहाँ बीच में ही उच्छूनता को प्राप्त कर अन्त में ग्राह्यता ही साक्षात् उल्लसित होती है ॥ १८९ ॥

अवशिष्ट बारह तुटियों का मन्त्रमहेश्वर उसकी शक्ति आदि के रूप से विभाग करते हैं—

तृतीय क्षण से लेकर ६ क्षण तक जो स्थित है वह उद्गच्छद् विकल्पाच्छादन रूप निर्विकल्पक है ॥ -१९०-१९१- ॥

तृतीय = प्रथम द्वितीय की अपेक्षा । ६ क्षण = शक्तिमत्—शक्ति—रूप ॥ १९० ॥

प्रश्न—यहाँ उद्गच्छद् विकल्पों का आच्छादन कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उसी को परशक्त्यात्मक शिवरूप मानते हैं ॥ -१९१ ॥

वह छः क्षण शुद्ध विद्यामय होने से शक्तिमत् शक्ति की अपेक्षा क्रम से शिवरूप ही और परशक्त्यात्मक ही है—ऐसा आम्नाय है ॥ १९१ ॥

एक क्षणषट्क (= छ क्षणों के समूह) की व्याख्या कर दूसरे की भी व्याख्या करते हैं—

द्वितीयं मध्यमं षट्कं परापरपदात्मकम् ।
विकल्परूढिरप्येषा क्रमात्प्रस्फुटतां गता॥ १९२ ॥

मध्यममिति प्रथमषट्कोपान्त्यान्तरालवर्तित्वात्, अत एव प्रथमषट्कस्य परत्वादन्त्योपान्त्यात्मनः स्वरूपस्य चापरत्वात्परापरपदात्मकत्वम्—इत्युक्तम् । विकल्परूढिरिति मायीयत्वात् । क्रमादिति यथायथमिदन्ताया उद्रेकात् ॥ १९२ ॥

ननु शिवस्याभिन्नरूपत्वात्तत्र तत्र विभागे शक्तिरेव बीजं तस्याश्चेच्छाज्ञान-क्रियात्मना त्रिधैव प्रसर इति षट्कनिरूपणे कोऽवसरः ?—इत्याशङ्क्याह—

षट्केऽत्र प्रथमे देव्यस्तिस्त्रः प्रोन्मेषवृत्तिताम् ।
निमेषवृत्तितां चाशु स्पृशन्त्यः षट्कतां गताः॥ १९३ ॥

प्रोन्मेषवृत्तितामित्यनेन च शक्तिरूपत्वं निमेषवृत्तितामित्यनेन च शक्तिमद्रूपत्वम् ॥ १९३ ॥

एवदेवान्यत्र योजयति—

एवं द्वितीयषट्केऽपि किं त्वत्र ग्राह्यवर्त्मना ।
उपरागपदं प्राप्य परापरतया स्थिताः॥ १९४ ॥

दूसरा मध्यम षट्क परापरपद स्वरूप है । यह विकल्परूढ़ि होते हुये भी क्रमशः स्फुटता को प्राप्त है ॥ १९२ ॥

मध्यम—प्रथम षट्क और अन्त्य (षट्क) के बीच वाला होने के कारण । इसलिये प्रथम षट्क के पर होने तथा अन्त्य उपान्त्य अपने स्वरूप के अपर होने के कारण 'परापरपदात्मक'—ऐसा कहा गया । विकल्परूढि—मायीय होने के कारण। क्रम से—क्रमशः इदन्ता के उद्रेक के कारण ॥ १९२ ॥

प्रश्न—शिव के अभिन्नरूप होने के कारण उस-उस विभाग में शक्ति ही बीज है और उसका इच्छा ज्ञान क्रिया के रूप में तीन प्रकार से ही प्रसरण होता है फिर छ के निरूपण का क्या तुक है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस प्रथम षट्क में तीन देवियाँ उन्मेषवृत्तिता और निमेषवृत्तिता का शीघ्र स्पर्श करती हुई छ की संख्या की प्राप्त करती है ॥ १९३ ॥

उन्मेषवृत्तिता को—इससे (तीन देवियों की) शक्तिरूपता और निमेषवृत्तिता को—इससे (उनकी) शक्तिमत् रूपता (को समझना चाहिये) ॥ १९३ ॥

इसी को अन्यत्र भी जोड़ते हैं—

इसी प्रकार दूसरे षट्क में भी । किन्तु यहाँ (वे शक्तियाँ) ग्राह्य रूप से उपराग पद को प्राप्त कर परापर रूप से स्थित रहती हैं ।

आद्येऽत्र षट्के ता देव्यः स्वातन्त्र्योल्लासमात्रतः।
जिघृक्षितेऽप्युपाधौ स्युः पररूपादविच्युताः॥ १९५ ॥

ननु षट्कद्वयेऽपि यद्येवमुन्मेषनिमेषवृत्त्या तिस्र एव देव्यः स्थितास्तर्ह्येकमेव षट्कमस्तु को द्वितीयार्थः?—इत्याशङ्क्याह—किं त्वित्यादि ॥ १९५ ॥

ननु यदीच्छा ज्ञानं क्रिया चेति पृथगेतानि पदानि, तदिच्छाहितो ज्ञाने तदुभयाहितश्च क्रियायामतिशयो नास्तीति

'अधराधरतत्त्वेषु स्थिता पूर्वस्थितिर्यतः।
अन्यथा स्थितिरेवैषां न भवेत्पूर्वहानितः॥'

इत्याद्युक्तं विहन्येत?—इत्याशङ्क्याह—

अस्ति चातिशयः कश्चित्तासामप्युत्तरोत्तरम्।
यो विवेकधनैर्धीरैः स्फुटीकृत्यापि दर्श्यते॥ १९६ ॥

अत्रैव द्विधा मतान्तरं दर्शयति—

केचित्त्वेकां तुटिं ग्राह्ये चैकामपि ग्रहीतरि।
तादात्म्येन विनिक्षिप्य सप्तकं सप्तकं विदुः॥ १९७ ॥

इस प्रथम षट्क में वे देवियाँ केवल स्वातन्त्र्य के उल्लास से उपाधि के जिघृक्षित (= ग्रहण की इच्छुक) होने पर भी पररूप से च्युत नहीं होती ॥ १९४-१९५ ॥

प्रश्न—दोनों षट्कों में भी यदि इस प्रकार उन्मेष निमेष वृत्ति से तीन ही देवियाँ स्थित हैं तो एक ही षट्क हो दूसरे से क्या तात्पर्य?—यह शङ्का कर कहा गया—किन्तु इत्यादि।

प्रश्न—यदि इच्छा ज्ञान और क्रिया ये पृथक् पद है तो इच्छा के द्वारा ज्ञान में और उन दोनों (= इच्छा और ज्ञान) के द्वारा क्रिया में आहित अतिशय नहीं है। फिर

"(विकासप्रक्रिया के क्रम मे) चूँकि नीचे-नीचे वाले तत्त्वों में पूर्व तत्त्व की स्थिति रहती है (इसलिये) पूर्व की हानि के कारण इनकी अन्यथा स्थिति नहीं होती।"

इत्यादि वचन का व्याघात हो जायगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उनमें भी उत्तरोत्तर कोई अतिशय है जो विवेकी धीर पुरुषों के द्वारा स्पष्ट कर के भी दिखलाया जाता है ॥ १९६ ॥

इस विषय में दो प्रकार से मतान्तर दिखलाते हैं—

कुछ लोग ग्राह्य में एक और ग्राहक में भी एक तुटि को तादात्म्येन

तत्र केचिदेकां पञ्चदशमुपान्त्यां तुटिमन्त्यतुट्यात्मनि ग्राह्ये स्वरूपे तादात्म्येन विनिक्षिप्यास्मदुक्तवदन्त्योपान्त्यतुटिद्वयैकीकारेण स्वरूपमभिधाय, परिशिष्टतुटि-चतुर्दशकाद्यं तुटिसप्तकं प्रमातृसप्तकत्वेनान्यत्तच्छक्तिसप्तकत्वेनाभिदधुरित्येकीय-मतम् । अपिशब्दात्केचिदित्यस्य समुच्चयः । तेन केचिच्चैकां तुटिं ग्रहीतृ-पक्षे विनिक्षिप्यार्थादन्त्यां स्वरूपत्वेन निरूप्य तथैवान्यच्चतुर्दशकमित्यन्य-दीयमतम् ॥ १९७ ॥

ननु यद्येवं तर्हि कतरदुपपन्नम् ?—इत्याशङ्क्याह—

तदस्यां सूक्ष्मसंवित्तौ कलनाय समुद्यताः।
संवेदयन्ते यद्रूपं तत्र किं वाग्विकत्थनैः ॥ १९८ ॥

तदेवमेवानुभवभाजां योगिनां यदेव स्वसंवेदनेन सिद्ध्यति तदेव प्रमाणं नेतरदिति । तत्र किमस्मदीयैः परकीयैर्वा प्रलापप्रायैरनुभवशून्यैर्वाग्व्यापारैः । अनेन च प्रागुक्तस्य स्वपक्षस्यैव स्वसंवेदनसिद्धत्वमस्ति—इत्यावेदितम् । यदेकस्यैव प्रमातुरक्षुब्धतया क्षुब्धतया च शक्तिमच्छक्तिरूपत्वमिति संनिकर्षेणैव तदभिधानं न्याय्यं न पृथक्त्वेन स्वरूपस्य चोपान्त्यतुटावुच्छूनतासाध(द)नपुरःसरमन्त्यतुटौ

मिलाकर सात-सात का समूह मानते हैं ॥ १९७ ॥

कुछ लोग एक = पन्द्रहवीं उपान्त्य तुटि को, अन्त्य तुटि वाले ग्राह्यस्वरूप में तादात्म्येन डालकर हमारे कथन के समान अन्त्य और उपान्त्य दोनों तुटियों को मिलाकर स्वरूप का कथन कर बची हुयी चौदह तुटियों में से प्रथम सात तुटियों को प्रमातृसप्तक के रूप में और अन्य को उसके शक्तिसप्तक के रूप में कहे हैं—यह एक मत है । 'अपि' शब्द से कुछ लोग ऐसा = यह समुच्चय समझना चाहिये है । इससे कुछ लोग एक तुटि को ग्रहीता के पक्ष में डालकर अर्थात् अन्त्य को स्वरूप समझ कर उसी प्रकार अन्य चौदह को कहते हैं—यह दूसरा मत है ॥ १९७ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो दोनों में कौन उचित है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तो इस सूक्ष्म संविद् में आकलन के लिये उद्यत (योगी) जिस रूप का संवेदन (= अनुभव) करते हैं (वही उत्कृष्ट है) । इस विषय में वाग्व्यापार से क्या लाभ ॥ १९८ ॥

तो इस प्रकार का अनुभव करने वाले योगियों को जो अपने संवेदन से सिद्ध हो जाता है वही प्रमाण है अन्य नहीं । उस विषय में हमारे या दूसरों के केवल प्रलापमात्र अनुभवशून्य बात-चीत करने से क्या फायदा । इस (कथन) से यह बतलाया गया कि पूर्वोक्त अपना पक्ष ही स्वसंवेदनसिद्ध है । एक ही प्रमाता के अक्षुब्ध और क्षुब्ध होने से शक्तिमत् और शक्तिरूपता होती है इस सम्बन्ध से ही उसका कथन उचित है न कि अलग-अलग । और उपान्त्य तुटि में उच्छूनता की

पूर्णतयैव प्ररोहोन्याय्य इति अलं बहुना ॥ १९८ ॥

एतदेवोपसंहरति—

एवं धरादिमूलान्तं प्रक्रिया प्राणगामिनी ।
गुरुपर्वक्रमात्प्रोक्ता भेदे पञ्चदशात्मके ॥ १९९ ॥

गुरुपर्वक्रमादित्यनेन प्रसिद्धिनिबन्धनत्वमेवास्य निर्वाहितम् ॥ १९९ ॥

एवं पाञ्चदश्यमुपदिश्य, त्रायोदश्याद्यप्युपदिशति—

क्रमात्तु भेदन्यूनत्वे न्यूनता स्यात्तुटिष्वपि ।

भेदन्यूनत्व इति, त्रायोदश्यैकादश्याद्यात्मनि, न्यूनतेति स्वरूपपक्षनिक्षेपात् । यथा यथा हि सकलतच्छक्त्यादिरूपं भेदद्वयं न्यूनतामियात् तथा तथा तुटिद्वयमप्येवं स्यात् । यद्वक्ष्यति—

'एवं द्वयं द्वयं यावन्न्यूनीभवति भेदगम् ।
तावत्तुटिद्वयं याति न्यूनतां क्रमशः स्फुटम् ॥' (१०।१९८)

इति तत्तुटीनां द्वयस्य द्वयस्य स्वरूपपक्षे निक्षेपात् । प्रमातृत्वेनास्थाशैथिल्यं

प्राप्ति के बाद (प्रस्तुत) अन्त्य तुटि में अपने रूप का पूर्ण रूप से प्ररोह न्याय्य अर्थात् उचित है, इतना बहुत है ॥ १९८ ॥

इसी का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार पृथिवी से लेकर मूल तत्त्व पर्यन्त पञ्चदशात्मक भेद में प्राणगामिनी प्रक्रिया गुरुपर्व के क्रम से कही गयी ॥ १९९ ॥

गुरुपर्व क्रम से—इससे इसकी (= प्राणगामिनी प्रक्रिया की) प्रसिद्धि का कारण कहा गया ॥ १९९ ॥

इस प्रकार पाञ्चदश्य का उपदेश कर त्रायोदश्य आदि का भी उपदेश करते हैं—

भेद में क्रमशः न्यूनता होने पर तुटियों में भी न्यूनता होती है ॥ २०० ॥

भेद के न्यून होने पर—त्रायोदश्य ऐकादश्य आदि वाले भेद के, न्यूनता = स्वरूपपक्ष के निक्षेप (= तिरोधान) के कारण । जैसे-जैसे सकल और उसकी शक्ति आदि रूप दो भेद न्यूनता को प्राप्त होते हैं वैसे-वैसे दो-दो तुटियाँ भी वैसी (= न्यूनता को प्राप्त) होती हैं । जैसा कि कहेंगे—

'इस प्रकार जब तक भेदगामी दो-दो कम होते जाते हैं तब तक दो-दो तुटियाँ भी क्रमशः स्पष्ट रूप से न्यूनता को प्राप्त होती है ।' (तं.आ. १०।१९८)

नाम न्यूनत्वं न तु स्वरूपविप्रलोप एव, षट्त्रिंशदंगुलात्मनि प्राणचारे तावत्तुटिसंख्याकत्वस्यानपहानेः, अत एवात्र सकलादेर्विकल्पप्रमातुर्विलयादुपर्युपरि क्रमेणाविकल्पप्रमातृणामुदयो, यथायथं संविद एवोद्रेकात् ॥

तदाह—

तस्यां ह्रासो विकल्पस्य स्फुटता चाविकल्पिनः ॥ २०० ॥

तस्यामिति प्रमातृभेदन्यूनतायाम् ॥ २०० ॥

नन्वेवमत्र पाञ्चदश्यक्रमवदेव षोडश तुटयो व्यवस्थिता इति कथमासां सकलादिरूपतयास्थाशैथिल्यं भवेद्येनाविकल्पस्य स्फुटत्वं विकल्पस्य च ह्रासः?— इत्याशङ्क्याह—

यथा हि चिरदुःखार्तः पश्चादात्तसुखस्थितिः ।
विस्मरत्येव तद्दुःखं सुखविश्रान्तिवर्त्मना ॥ २०१ ॥
तथा गतविकल्पेऽपि रूढाः संवेदने जनाः ।
विकल्पविश्रान्तिबलात्तां सत्तां नाभिमन्वते ॥ २०२ ॥

तद्दुःखमिति प्राक्चिरमनुभूतम् । विकल्पविश्रान्तीति तद्विरामः । तां सत्तामिति

यह दो-दो तुटियों के स्वरूपपक्ष में निक्षेप के कारण होता है । प्रमाता के रूप में आस्था की शिथिलता ही न्यूनता है न कि स्वरूप का लोप । क्योंकि ३६ अंगुल वाले प्राणचार में उतनी तुटि संख्या कम नहीं होती । इसीलिये यहाँ सकल आदि विकल्पप्रमाता का विलय होने से ऊपर-ऊपर क्रमशः अविकल्प प्रमाता का उदय होता है क्योंकि (यह) क्रमशः संविद् का ही उद्रेक है ॥

वह कहते हैं—

उस के होने पर विकल्प का ह्रास और अविकल्प (वाले प्रमाताओं) की स्फुटता होती है ॥ -२०० ॥

उसके होने पर = प्रमातृभेद की न्यूनता होने पर ॥ २०० ॥

प्रश्न—इस प्रकार यहाँ पाञ्चदश्यक्रम के समान ही सोलह तुटियाँ व्यवस्थित हैं तो फिर सकल आदि रूप से इनकी आस्था का शैथिल्य कैसे होगा जिससे अविकल्प की स्फुटता और विकल्प का ह्रास होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जैसे बहुत दिनों से दुःखपीड़ित (व्यक्ति) बाद में सुख प्राप्त होने पर सुखविश्रान्ति के रास्ते से उस दुःख को भूल जाता है उसी प्रकार पूर्व विकल्पवाले संवेदन में रूढ़ लोग विकल्पों की विश्रान्ति के बल से उस सत्ता का अनुभव नहीं करते ॥ २०१-२०२ ॥

उस दुःख को = पहले चिरकाल तक अनुभूत (दुःख) को । विकल्प की

वैकल्पिकीम् । यथा दुःखस्य प्रागनुभूतत्वात्प्ररूढापि तद्वासना सुखविश्रान्तिबलेन प्रबोधाभावादस्थितकल्पा, तथा निर्विकल्पदशाधिशायिनां जनानां क्षीणविकल्पत्वात् तत्क्षोभेऽपि वैकल्पिकी सत्ता नोदियात्, तथात्वे हि तेषां निर्विकल्पक-संवित्साक्षात्कारो भवेद्येनायं संसारदोषः प्रशाम्येत् ॥ २०२ ॥

अतोऽत्रैवावधातव्यम्—इत्याह—

विकल्पनिर्ह्रासवशेन याति विकल्पवन्ध्या परमार्थसत्या ।
संवित्स्वरूपप्रकटत्वमित्थं तत्रावधाने यततां सुबुद्धिः ॥ २०३ ॥

न चैतदस्मदुपज्ञमेव—इत्याह—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तौ संबन्धे सावधानता ।
इयं सा तत्र तत्रोक्ता सर्वकामदुघा यतः ॥ २०४ ॥

तत्र तत्र श्रीविज्ञानभैरवादौ । यदुक्तम्—

'ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं संबन्धे सावधानता ॥'
(वि० भै० १०६ श्लो०) इति ।

विश्रान्ति = उसका रुक जाना । उस सत्ता को = विकल्प वाली (सत्ता) को । जैसे दुःख के पूर्वानुभूत होने से प्ररूढ़ भी उसकी वासना सुखविश्रान्ति के कारण प्रबुद्ध न होने से अस्थित जैसी हो जाती है उस प्रकार निर्विकल्पक दशा को प्राप्त होने वाले लोगों का विकल्प क्षीण होने से उसका क्षोभ होने पर भी वैकल्पिक सत्ता का उदय नहीं होता । वैसा होने पर उनको निर्विकल्पक संवित् का साक्षात्कार होता है जिससे यह संसारदोष शान्त हो जाता है ॥ २०१-२०२ ॥

इसलिये इसी मे ध्यान देना चाहिये—यह कहते हैं—

विकल्प का ह्रास होने के कारण विकल्परहित परमार्थ सत्ता संवित्-स्वरूप प्रकटता को प्राप्त होती है । इसलिये बुद्धिमान् को उसी में अवधान के लिये प्रयास करना चाहिये ॥ २०३ ॥

यह हमारा उपज्ञ नहीं है—यह कहते हैं—

ग्राह्यग्राहक की संवित्ति वाले सम्बन्ध में यह सावधानता स्थान-स्थान पर कही गयी है क्योंकि यह सब इच्छाओं को पूर्ण कर देने वाली है ॥ २०४ ॥

स्थान-स्थान पर = विज्ञान भैरव आदि में । जैसा कि कहा गया है—

"ग्राह्यग्राहक की संवित्ति सब लोगों में सामान्य है । किन्तु योगियों का यह वैशिष्ट्य है कि वे सम्बन्ध में सावधानी रखते हैं ।" (वि.भै. १०६)

मायापदनिरूढिभाजां ग्राह्यग्राहकक्षोभ एव विश्रान्तिरिदं ग्राह्यमयं ग्राहक इनि । निर्विकल्पकदशाधिशायिनां पुनस्तत्क्षोभावसरेऽपि ग्राह्यग्राहकयोर्यत उदयो यत्र वा विश्रान्तिस्तत्रैवावहितत्वं येन सर्वेप्सितफलसंपत्तिः ॥ २०४ ॥

एवमेतत्प्रसङ्गादभिधाय प्रकृतमेवाह—

एवं द्वयं द्वयं यावन्न्यूनीभवति भेदगम् ।
तावत्तुटिद्वयं याति न्यूनतां क्रमशः स्फुटम् ॥ २०५ ॥

एवं च शक्तिमच्छक्तिसंबन्धिनीनां द्वादशानां तुटीनामन्त्योपान्त्यात्मतुटिद्वय-लक्षणस्वरूपपक्षनिक्षेपाच्छिवे तुटिद्वयमेवावशिष्यते?—इत्याह—

अत एव शिवावेशे द्वितुटिः परिगीयते ।

नन्वखण्डपरिपूर्णसंविदेकरसो निर्विभागात्मा शिवः इति कस्तत्र द्वयार्थः,—इत्याशङ्क्य, तुटिद्वयमेव शक्तिमच्छक्तिरूपतया विभजति—

एका तु सा तुटिस्तत्र पूर्णा शुद्धैव केवलम् ॥ २०६ ॥
द्वितीया शिव(शक्ति)रूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका ।

मायापद में आस्था रखने वालों की ग्राह्यग्राहकक्षोभ में ही विश्रान्ति होती है—यह (वस्तु) ग्राह्य है, यह (पुरुष) ग्राहक है ।' निर्विकल्पक दशा में रहने वालों का उसके क्षोभकाल में भी ग्राह्यग्राहक का जहाँ से उदय होता है या जहाँ विश्रान्ति होती है वहीं वह सावधान होता है जिससे समस्त वाञ्छित फल की प्राप्ति होती है ॥ २०४ ॥

प्रसङ्गात् इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

इस प्रकार भेद में रहने वाले दो-दो जहाँ तक कम होते जाते हैं वहाँ तक दो-दो तुटियाँ भी क्रमशः स्पष्ट रूप से कम होती जाती हैं ॥ २०५॥

शक्तिमत् और शक्ति की सम्बन्धिनी बारह तुटियों में से अन्त्य उपान्त्य रूप दो तुटियों वाले स्वरूपपक्ष का निक्षेप होने से शिव में केवल दो तुटियाँ ही शेष बचती हैं—यह कहते हैं—

इसीलिये शिवावेश में दो तुटि कही जाती है ॥ २०६- ॥

प्रश्न—शिव तो निर्विभाग अखण्ड परिपूर्ण संविदेकरस है फिर वहाँ दो का क्या तात्पर्य?—यह शङ्का कर दो तुटियों का ही शक्तिमत् और शक्ति के रूप में विभाग करते हैं—

उनमें एक वह तुटि है जो केवल पूर्ण शुद्ध है । और दूसरी सर्वज्ञानक्रियात्मक शक्तिरूपा है ॥ -२०६-२०७- ॥

पूर्णत्वादेव च शुद्धा क्षोभरहिता—इत्यर्थः । क्षोभो हि शक्तिदशा । यदुक्तम्—'शिव(शक्ति)रूपैव सर्वज्ञानक्रियात्मिका' इति ॥ २०६ ॥

अत एवात्रावहितस्य सर्वविषयज्ञत्वकर्तृत्वादि भवेत्—इत्याह—

तस्यामवहितो योगी किं न वेत्ति करोति वा ॥ २०७ ॥

न चात्र विगीतत्वमस्ति—इत्याह—

तथा चोक्तं कल्लटेन श्रीमता तुटिपातगः ।
लाभः सर्वज्ञकर्तृत्वे तुटेः पातोऽपरा तुटिः ॥ २०८ ॥

यत्तत्त्वार्थचिन्तामणिः—

'तुटिपाते सर्वज्ञतादयः...................... ।' इति।

एतदेव व्याचष्टे—'तुटेः पातोऽपरा तुटिः' इति । आद्यायास्तुटेः पातोऽपचयो ह्रासो द्वितीया तुटिरिति यावत् ॥ २०८ ॥

ननु द्वितीयस्यां तुटाववहितस्य कस्मात्सर्वज्ञत्वादिलाभः, प्रथमायामेव तथात्वमस्तु ?—इत्याशङ्क्याह—

आद्यायां तु तुटौ सर्वं सर्वतः पूर्णमेकताम् ।

पूर्ण होने के कारण ही शुद्ध = क्षोभरहित है । क्षोभ शक्तिदशा होती है । जैसा कि कहा गया—'(द्वितीय तुटि) सर्वज्ञानक्रियात्मक शक्तिरूपा ही है' ॥२०६ ॥

इसलिये इसमें अवधान करने वाले साधक को सब विषयों का ज्ञान एवं सर्वकर्तृत्व आदि प्राप्त होता है—यह कहते हैं—

उसमें अवधानयुक्त योगी क्या नहीं जानता अथवा क्या नहीं करता (अर्थात् वह सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता हो जाता है)॥ -२०७ ॥

यह विरुद्ध कथन नहीं है—यह कहते हैं—

वही श्रीमान् कल्लट ने कहा कि तुटिपात से सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व का लाभ होता है । (प्रथम) तुटि का पात दूसरी तुटि है ॥ २०८ ॥

जो कि तत्त्वार्थ चिन्तामणि (में उक्त) है—

''तुटिपात होने पर सर्वज्ञता आदि (का लाभ होता) है ।''

इसी की व्याख्या करते हैं—'तुटि का पात दूसरी तुटि है ।' अर्थात् प्रथम तुटि का पात = उपचय = ह्रास ही दूसरी तुटि है ॥ २०८ ॥

प्रश्न—दूसरी तुटि में अवहित को क्यों सर्वज्ञत्व आदि का लाभ होता है पहले में ही वैसा क्यों नहीं होता?—यह शङ्का कर कहते हैं—

गतं किं तत्र वेद्यं वा कार्यं वा व्यपदेशभाक् ॥ २०९ ॥

वेद्यं कार्यमिति यथाक्रमं ज्ञानक्रियापेक्षयोक्तम् ॥ २०९ ॥

एवं द्वितीयैव तुटिः सर्वज्ञत्वादिसिद्धिनिमित्तम्—इत्याह—

अतो भेदसमुल्लासकलां प्राथमिकीं बुधाः ।
चिन्वन्ति प्रतिभां देवीं सर्वज्ञत्वादिसिद्धये ॥ २१० ॥
सैव शक्तिः शिवस्योक्ता तृतीयादितुटिष्वथ ।
मन्त्रादि(धि)नाथतच्छक्तिमन्त्रेशाद्याः क्रमोदिताः ॥ २११ ॥

भेदसमुल्लासांशापेक्षयोक्तं प्राथमिकीमिति । अत्रैव हि प्रथममासूत्रितप्रायो भेद इति भावः । अत एव नवनवोल्लेखशालित्वात्प्रतिभामित्युक्तम् । सैवेति द्वितीयरूपाद्या प्रतिभा। ननु द्वितीयस्यां तुटौ शैवी शक्तिरुक्ता, तृतीयादिषु पुनः किम्?—इत्याशङ्क्याह—तृतीयेत्यादि ॥ २११ ॥

ननु यद्वद् द्वितीयस्यां तुटाववहितस्य सर्वज्ञत्वादिरूपा सिद्धिरुक्ता तद्वदास्वपि तुटिषु किं काचित्सिद्धिः स्यान्न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रथम तुटि में सब कुछ सब प्रकार से पूर्ण एकता को प्राप्त होता है फिर उसमें क्या वेद्य या कार्यव्यवहार का भागी होगा ॥ २०९ ॥

वेद्य-कार्य यह क्रमशः ज्ञान और क्रिया की अपेक्षा से कहा गया ॥ २०९ ॥

इस प्रकार दूसरी ही तुटि सर्वज्ञत्व आदि की सिद्धि का कारण है—

इसलिये विद्वान् लोग सर्वज्ञत्व आदि की सिद्धि के लिये प्रथम भेदसमुल्लास कला वाली प्रतिभा देवी का चयन करते हैं । तृतीय आदि तुटियों में वही शिव की शक्ति कही गयी है । इससे मन्त्रमहेश्वर उनकी शक्ति और मंत्रेश (= मन्त्रेश्वर उनकी शक्ति तथा मन्त्र) आदि क्रम से उदित होते हैं ॥ २१०-२११ ॥

भेदसम्मुल्लास का कथन अंश की अपेक्षा से किया गया—प्राथमिकी । अर्थात् इसी में पहले भेद का प्रारम्भ होता है । इसीलिये नवनवोन्मेषशालिनी होने के कारण इसे प्रतिभा कहा गया है । वही = द्वितीयरूपा प्रथम प्रतिभा । प्रश्न—द्वितीय तुटि में शैवी शक्ति कही गयी है तीसरी आदि में क्या ?—यह शङ्का कर कहते हैं—तृतीय आदि तुटियों मन्त्रमहेश्वर और उनकी शक्ति आदि कही गयी है ॥ २११ ॥

प्रश्न—जैसे द्वितीय तुटि में अवधान करने वाले (साधक) के लिये सर्वज्ञत्व आदि की सिद्धि कही गयी है उस प्रकार इन तुटियों में भी क्या कोई सिद्धि है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

तासु संदधतश्चित्तमवधानैकधर्मकम् ।
तत्तत्सिद्धिसमावेशः स्वयमेवोपजायते ॥ २१२ ॥

तत्तत्सिद्धीति, तास्ताः सिद्धयः श्रीपूर्वशास्त्रादौ धारणापटलाद्युक्ता देहगुरुत्वादयः ॥ २१२ ॥

ननु शिवशक्तिरेव सर्वत्र सर्वेण रूपेण प्रस्फुरतीति तस्याः सर्वत्राविशेषादत्रापि सर्वज्ञत्वादिरूपैव सिद्धिः कस्मान्नोदियात्?—इत्याशङ्क्याह—

अत एव यथा भेदबहुत्वं दूरता तथा ।
संवित्तौ तुटिबाहुल्यादक्षार्थासंनिकर्षवत् ॥ २१३ ॥

अत इति मन्त्रादि(धि) नाथादीनां क्रमेणोदयाद्धेतोः । एतदेव दृष्टान्तद्वारेण हृदयङ्गमयति—अक्षार्थासंनिकर्षवदिति । यथान्तरालिकव्यवधायकार्थान्तरभूयस्त्वादक्षाणामर्थे संनिकर्षाभावस्तथा योगिनामपि भेदबहुत्वनिमित्तस्य तुटिबाहुल्यस्य व्यवधायकत्वात्संवित्ताविति ॥ २१३ ॥

एतदेव व्यतिरेचयति—

यथा यथा हि न्यूनत्वं तुटीनां ह्रासतो भिदः ।
तथा तथातिनैकट्यं संविदः स्याच्छिवावधि ॥ २१४ ॥

अवधानमात्र के धर्मवाले चित्त का उनमें (= तुटियो में) सन्धान करने वाले का उन-उन सिद्धियों में समावेश स्वयं उत्पन्न हो जाता है ॥२१२ ॥

तत्तत्सिद्धि = वे-वे सिद्धियाँ = मालिनीविजयतन्त्र आदि में धारणापटल आदि में कथित देहगुरुत्व आदि ॥ २१२ ॥

प्रश्न—शिवशक्ति ही सर्वत्र सब रूप से स्फुरित हो रही है इसलिये उसके सर्वत्र समान होने से यहाँ भी (= तुटि-साधक में भी) सर्वज्ञत्व आदि रूपा ही सिद्धि क्यों उदित नहीं होती?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसलिये जैसे-जैसे भेद की बहुलता है वैसे-वैसे संवित् में तुटिबाहुल्य के कारण दूरता भी है । जैसे कि इन्द्रिय और विषय के सन्निकर्ष का अभाव ॥ २१३ ॥

इस कारण = मन्त्रमहेश्वर आदि का क्रम से उदय होने के कारण । इसी को दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं—अक्षार्थ के असन्निकर्ष की भाँति । जैसे बीच में उपस्थित दूसरे व्यवधायक पदार्थों की अधिकता के कारण इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार योगियों का भी भेदबहुत्व के कारण उत्पन्न तुटिबाहुल्य के व्यवधायक होने से संवित् के विषय में (दूरता होती है) ॥ २१३ ॥

इसी को विपरीत करके बतलाते हैं—

शिवतत्त्वमतः प्रोक्तमन्तिकं सर्वतोऽमुतः ।

अत इति भेदह्रासनिमित्तकसंविन्नैकट्यात् अन्तिकं प्रोक्तमिति विशेषानुपादानात्सर्वत्र । यदुक्तम्—

'..............न सावस्था न या शिवः ।'

(स्प० २९ का०) इति ।

अतश्च सर्वस्य शिवमयत्वात्तदावेशे महात्मनामुपायादिढौकनात्मा न कश्चिद्यत्नः संभवेत्, विप्रकृष्टमेवासादयितुं हि यत्नयोगः स्यात् ॥ २१४ ॥

तदाह—

अत एव प्रयत्नोऽयं तत्प्रवेशे न विद्यते ॥ २१५ ॥
यथा यथा हि दूरत्वं यत्नयोगस्तथा तथा ।

अत एव भावनाद्यात्मनामुपायानामवकाश एव शिवे नास्तीत्यस्मद्गुरवः ॥ २१५ ॥

तदाह—

भावनाकरणादीनां शिवे निरवकाशताम् ॥ २१६ ॥

जैसे-जैसे भेद के ह्रास से तुटियों की न्यूनता होती है वैसे-वैसे शिवपर्यन्त संविद की निकटता बढ़ती जाती है । इसलिये शिवतत्त्व इन सबसे अधिक निकट कहा गया है ॥ २१४-२१५- ॥

अतः = भेदह्रासनिमित्तक संवित् की निकटता के कारण । अन्तिक कहा गया—विशेष का कथन न होने से सर्वत्र । जैसा कि कहा गया है—

"...ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो शिव न हो ।" (स्प.का. २९)

इसलिये सबके शिवमय होने से उसमें आवेश के लिये महात्माओं के द्वारा उपाय आदि की प्राप्तिस्वरूप कोई यत्न संभव नहीं होता । दूरस्थ को प्राप्त करने के लिये ही प्रयास होता है ॥ २१४ ॥

वह कहते हैं—

इसलिये उसमें (= शिव में) प्रवेशार्थ कोई प्रयत्न नहीं किया जाता । जैसे-जैसे दूरता होती है वैसे-वैसे प्रयास से सम्बन्ध होता है ॥ -२१५-२१६- ॥

इसी कारण भावना आदि उपायों का शिव के विषय में अवकाश ही नहीं है—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं ॥ २१५ ॥

वही कहते हैं—

अत एव हि मन्यन्ते संप्रदायधना जनाः ।

भावनादि हि भाव्यमानादिनिष्ठम्, न चास्य भाव्यमानादित्वं न्याय्यं प्रमात्रेकरूपत्वाद्भावनादिविषयत्वानुपपत्तेः । तदाहुः—

'करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ।'

(शि० दृ० आ० ७।६ श्लो०) इति ॥ २१६ ॥

ननु विप्रकृष्ट एव कस्माद्यत्नयोगः स्यान्न संनिकृष्टे?—इत्याशङ्कां दृष्टान्तोपदर्शनेन शमयति—

तथा हि दृश्यतां लोको घटादेर्वेदने यथा ॥ २१७ ॥
प्रयत्नवानिवाभाति तथा किं सुखवेदने ।

प्रयत्नवानिवेति—जिज्ञासादिपरत्वात् ॥ २१७ ॥

नन्वेवं सुखादिवदान्तरत्वमात्रमस्य सिद्ध्येद्येन सुखोपायत्वं स्यान्न तु परप्रमात्रेकरूपताप्रयुक्तं भावनाद्यविषयत्वम्?—इत्याशङ्क्याह—

आन्तरत्वमिदं प्राहुः संविन्नैकट्यशालिताम् ॥ २१८ ॥
तां च चिद्रूपतोन्मेषं बाह्यत्वं तन्निमेषताम् ।

इसलिये सम्प्रदाय के धनी लोग शिव के विषय में भावना करण आदि का अवकाश नहीं मानते ॥ -२१६-२१७- ॥

भावना आदि = भाव्यमान आदि से सम्बद्ध इस (= शिव) की भाव्यमानादिता उचित नहीं है क्योंकि प्रमाता से अभिन्न होने के कारण यह (शिव) भावना आदि के विषय नहीं हो सकते । वही कहते हैं—

"कहीं भी न तो करण से और न भावना से कोई कृत्य है ।" (अर्थात् उस सन्दर्भ में किसी कृत्य की आवश्यकता नहीं पड़ती) ॥ २१६ ॥

प्रश्न—दूरस्थ के विषय में ही क्यों प्रयास होता है सन्निकृष्ट के विषय में क्यों नहीं?—इस शङ्का का दृष्टान्त दिखा कर समाधान करते हैं—

देखिये—संसार घट आदि का ज्ञान करने में जितना प्रयत्नवान् रहता है क्या उतना ही सुख के ज्ञान में प्रयत्नवान् प्रतीत होता है ॥ -२१७-२१८- ॥

प्रयत्नवान् जैसा—जिज्ञासापरक होने से ॥ २१७ ॥

प्रश्न—इस प्रकार इसकी सुख आदि के समान आन्तरतामात्र सिद्ध हो रही है जिससे (यह) सुख का उपाय होगा न कि परप्रमात्रेकरूपता के कारण भावना आदि का अविषय होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

संविद् का निकट होना ही आन्तरत्व कहा गया है । और उसी

इदं हि नामान्तरत्वमुच्यते यददूरविप्रकर्षेण संविदः परिस्फुरणमित्युक्तमान्तरत्वं संविन्नैकट्यशालितां प्राहुरिति । नन्वेवमप्यस्य तदवस्थमेव सुखादिसाम्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—तां च चिद्रूपतोन्मेषं प्राहुरिति । इदं हि नामात्र संविन्नैकट्य-शालित्वं विवक्षितं यच्चिद्रूपतायाः प्राधान्यमिति । अत एव चिद्रूपनिमज्जनमेव बाह्यत्वमित्युक्तम्—'बाह्यत्वं तन्निमेषताम्' इति ।

'ततो भेदो हि बाह्यता..................।' (ई० प्र० ८६ का०)

इत्याद्युक्त्या सुखादीनामप्यन्तःकरणैकवेद्यत्वेऽपि पृथक्प्रथत्वाख्यमुख्यबाह्यता-लक्षणयोगाद् बाह्यत्वमेवेत्युक्तमन्यत्र बहुशः ॥ २१८ ॥

ननु यद्येवं शिवस्य चिद्रूपताप्राधान्यमेवान्तरत्वं तच्चितः स्वप्रकाशत्वात्सर्वत एव प्रकाशमानत्वं स्यादिति सर्वेषामेवान्तिकतमत्वात्सर्वदैव कस्मान्न भायात् ?—इत्याशङ्क्याह—

भविनां त्वन्तिकोऽप्येवं न भातीत्यतिदूरता ॥ २१९ ॥

एवमित्युक्तगत्या । भवित्वादेव हि नैषां तथा परामर्शोऽस्ति येनायं सर्वतो न

को चिद्रूपता का उन्मेष कहते हैं और बाह्यता को उसका निमेष कहते है ॥ -२१८-२१९- ॥

जो कि दूरविप्रकाश न होते हुये संविद् का परिस्फुरण है यही आन्तरत्व कहा जाता है इसलिये कहा गया कि संविद् की निकटवर्तिता को आन्तरत्व कहते हैं। प्रश्न—इस प्रकार भी इसका सुखादिसाम्य उसी प्रकार का है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—इसको चिद्रूपता का उन्मेष कहते हैं । यही संविद् की निकटता विवक्षित है कि चिद्रूपता की प्रधानता हो अर्थात् चिद्रुपता की प्रधानता ही संविद् की निकटता है । इसलिये चिद्रूप का निमज्जन ही बाह्यता है । यह कहा गया कि 'उस (चित्रूपता) की निमेषता बाह्यत्व है ।

"उससे भेद होना ही बाह्यता है ।"

इत्यादि उक्ति के अनुसार सुख आदि भी केवल अन्तःकरण से वेद्य होने पर भी पृथक् स्थिति (= प्रतीति) नामक मुख्य बाह्यता के लक्षण के योग के कारण बाह्य ही है—यह अन्यत्र बहुत बार कहा गया है ॥ २१८ ॥

प्रश्न—यदि इस प्रकार शिव की चिद्रूपता का प्रमुख होना ही आन्तरत्व है तो चित् के स्वप्रकाश होने से सर्वत्र प्रकाशमानता होगी फिर अन्तिक होने के कारण सबको सर्वदा (शिव का) भान क्यों नहीं होता ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अन्तिक होने पर भी संसारी लोगों को (शिव) का भान नहीं होता इसलिये अत्यन्त दूरता है ॥ -२१९ ॥

इस प्रकार = उक्त रीति से । संसारी होने के कारण ही इन लोगों को वैसा

भायात्—इति भावः । अत एवैषां तथापरामर्शायोगाद्दूर एव संविदवभासो येनायमियान्संसारडम्बरः । यदुक्तम्—

'स्वापरामर्शमात्रं यदपराधः कियानसौ ।
तावन्मात्रेण तज्जातं यद्वक्तुं नैव पार्यते॥' इति ॥ २१९ ॥

नन्विह देशकालस्वभावविप्रकर्षात् त्रिधैव दूरत्वमुच्यते, संविदि पुनरेतन्न संभवति,—इति कथमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

दूरेऽपि ह्यन्तिकीभूते भानं स्यात्त्वत्र तत्कथम् ।

देशतो हि दूरेऽपि वस्तुनि प्रयत्नवशान्निकटतामुपेयुषि भानमर्थान्नैकट्येन भवेत्, संविदि पुनर्विदूरत्वमशक्यक्रियम्, अपसर्पणादेरभावात् ॥

एवं संविदि देशतो विप्रकर्षं निरस्य, कालतोऽपि निरस्यति—

न च बीजाङ्कुरलतादलपुष्पफलादिवत् ॥ २२० ॥
क्रमिकेयं भवेत्संवित्सूतस्तत्र किलाङ्कुरः ।
बीजाल्लता त्वंकुरान्नो बीजादिह तु सर्वतः ॥ २२१ ॥
संवित्तत्त्वं भासमानं परिपूर्णं हि सर्वतः ।

परामर्श होता है जिससे यह सब प्रकार से आभासित नहीं हो पाता । इसलिये इनको उस प्रकार का परामर्श न होने से संविद् का अवभास दूर ही है जिस कारण इतना बड़ा यह संसार का विस्तार है । जैसा कि कहा गया है—

"जो यह अपने का अपरामर्श है यह कितना बड़ा अपराध है कि उतने से ही वह (बात) हो जाती है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता" ॥ २१९ ॥

देश काल स्वभाव के विप्रकर्ष से तीन ही प्रकार की दूरी कही जाती है । संविद् में यह सम्भव नहीं फिर यह कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—.

(देशतः) दूर के भी निकट होने पर भान होता है किन्तु इसके (संविद् के) विषय में यह कैसे होगा? ॥ २२०- ॥

स्थान की दृष्टि से वस्तु के दूर होने पर भी प्रयत्नवश (उसके) निकट होने पर अर्थात् निकटता के कारण (उसका) भान (= ज्ञान) हो जाता है । संविद् में दूरता करना असम्भव है क्योंकि (विभु होने के कारण) उसमें अपसर्पण आदि का अभाव है ॥

संविद् में स्थान की अपेक्षा दूरी का निराकरण कर काल की अपेक्षा भी (उसका) निरास करते हैं—

बीज, अंकुर, लता, पत्र, पुष्प, फल आदि के समान यह संवित् क्रम से नहीं होती । बीज से अंकुर उत्पन्न होता है और लता अंकुर से

क्रमिकेयं न भवेदिति अकालकलितत्वात् । बीजादीनामेव क्रमिकत्वं निरूपयति—'सूत'इत्यादिना । लताया अपि हि बीजादुत्पत्तावङ्कुरलतयोः क्रमिकत्वं न भवेत्—इति भावः । एवं दलादेरपि लतादेरेवोत्पत्तिर्नाङ्कुरादेरित्यवसेयं येनैषां क्रमिकत्वमेव स्यात् । संवित्पुनर्देशकालानवच्छेदात् सर्वत्र सर्वदैवावभासते यतोऽस्याः सर्वतः परिपूर्ण्यं तदाह—इहेत्यादि ॥ २२१ ॥

ननु च कारणदशायां कार्यस्य प्रागभावादनागतत्वम्, इह च संविदः कादाचित्कत्वेन कार्यत्वात्तथाभावोपपत्तेरागतः कालविप्रकर्षः, इति कथमुक्तं क्रमिकेयं संविन्न भवेदिति ?—इत्याशङ्क्याह—

सर्वस्य कारणं प्रोक्तं सर्वत्रैवोदितं यतः ॥ २२२ ॥

संविदो हि कार्यत्वे किं संविदेव कारणमुतान्यत्किञ्चिज्जडम् । तत्र जडस्य तावत्कारणत्वं न युज्यते—इत्युपपादितं प्राग्बहुशः । संविदश्च संविदन्तराद्भेदानुपपत्तेरेकैवाखण्डा संविदिति किं कस्यं कारणं कार्य वेति । संवित्तत्त्वमेव सर्वस्य कारणं यत्तत्स्वातन्त्र्यविजृम्भामात्रमेव विश्वमिदम्, अत एवोक्तं—सर्वत्रैवोदितमिति ।

(उत्पन्न) होती है बीज से नहीं । यहाँ तो सब प्रकार से भासमान संवित् तत्त्व सब प्रकार से परिपूर्ण है ॥ -२२०-२२२- ॥

यह क्रम से नहीं होती क्योंकि काल से ग्रसित नहीं है । 'उत्पन्न होता है' इत्यादि के द्वारा बीज आदि का ही क्रम दिखलाते हैं । लता के भी बीज से उत्पन्न होने पर अंकुर और लता में क्रम नहीं होता—यह भाव है । इस प्रकार पत्ती आदि की भी लता आदि से ही उत्पत्ति होती है अंकुर आदि से नहीं यह जानना चाहिये, जिससे यह क्रमिक ही होती है । और संवित् देश काल से अवच्छिन्न न होने के कारण सर्वत्र सर्वदा ही भासित होती है । चूँकि यह सर्वतः परिपूर्ण है इसलिये कहते हैं—'यहाँ तो सर्वतः संवित् तत्त्व भासमान है' इत्यादि ॥ २२१ ॥

प्रश्न—कारणदशा में कार्य का प्रागभाव होने से अनागतत्व होता है । यहाँ संविद्कादाचित्क होने से कार्य होने के कारण उस प्रकार की (= अनागत) हो जाती है इसलिये कालविप्रकर्ष आ गया । फिर कैसे कहा गया कि यह संवित् क्रमिक नहीं है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(संविद्) सबका कारण कही गयी है क्योंकि यह सर्वत्र उदित है ॥ -२२२ ॥

संविद् को कार्य मानने पर क्या संविद् ही (उसका) कारण होगी या दूसरी कोई जड़ (वस्तु) ? जड़ कारण हो नहीं सकती—यह पहले बहुत प्रकार से कहा जा चुका है । और संविद् का दूसरी संविद् से भेद असिद्ध होने के कारण एक ही अखण्ड संविद् है फिर कौन किसका कारण अथवा कार्य होगा? संवित् तत्त्व ही सबका कारण है और यह विश्व उसके स्वातन्त्र्य की विजृम्भामात्र है । इसीलिये कहा

सर्वत्रैवोदितत्वाच्चास्थानेनैव स्वभावविप्रकर्षोऽपि निरस्तः ॥ २२२ ॥

ननु प्रमातृरूपा संवित्सर्वस्य कारणमस्तु प्रतिनियतघटादिप्रमेयप्रमितिरूपा तु सा कथं तथात्वमश्नुवीत ?—इत्याशङ्क्याह—

तत एव घटेऽप्येषा प्राणवृत्तिर्यदि स्फुरेत् ।
विश्राम्येच्चाशु तत्रैव शिवबीजे लयं व्रजेत् ॥ २२३ ॥

ततः सार्वत्रिकोदयप्रयुक्तसर्वकारणभावाद्धेतोरेषा पाञ्चदश्याद्यात्मना निरूपिता प्राणवृत्तिर्यदि घटेऽपि स्फुरेद्विश्राम्येच्च नैयत्येनापि उदयं लयं च लभेत, तथापि तत्र समनन्तरोक्तसतत्त्वे शिवबीज एव लयं व्रजेत्सर्वतः परिपूर्णप्रकाशविमर्शमय्येव चकास्यात्—इत्यर्थः । आश्वित्यनेनान्तरालिकतुटिक्रमोपनतशक्तिमच्छक्तिक्रमभेदस्य प्रकाशमात्रसारतया न किञ्चित्तत्त्वमित्युक्तम् ॥ २२३ ॥

अत एवाह—

न तु क्रमिकता काचिच्छिवात्मत्वे कदाचन ।

ननु मन्त्र-तदीश-तन्महेशादिपम्परया शिवात्मत्वेन विश्रान्तिरुदिता,

---

गया कि—सर्वत्रैव उदित है; और सर्वत्र ही उदित होने के कारण असमय में ही स्वभावविप्रकर्ष का भी निरास हो गया ॥ २२२ ॥

प्रश्न—प्रमातृरूपासंवित् सबका कारण हो जाय लेकिन निश्चित घट आदि प्रमेय अथवा प्रमारूपा वह (= संवित्) कैसे वैसी (= सबका कारण) होगीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इस कारण यदि यह प्राणवृत्ति घट में भी स्फुरित होती है और शीघ्र विश्रान्त होती है तो भी उसी शिवबीज में ही लय को प्राप्त होती है ॥ २२३ ॥

इस कारण = सार्वत्रिक उदयप्रयुक्त सबका कारण होने से । यह = पन्द्रह आदि रूपों में वर्णित प्राणवृत्ति यदि घट में भी स्फुरण और विश्राम करती है = नियमित रूप से उदय और लय को प्राप्त होती है तो भी पूर्वोक्त तात्त्विक शिव-बीज में ही लय को प्राप्त होती है = सर्वतः परिपूर्ण प्रकाशविमर्शमयी ही प्रकाशित होती है ॥ 'आशु' इस कथन से बीच में आये हुये तुटिक्रम से प्राप्त शक्तिमत्-शक्तिक्रम भेद, प्रकाशमात्रसार होने के कारण, कोई (भिन्न) तत्त्व नहीं है—यह कहा गया ॥ २२३ ॥

इसलिये कहते हैं—

''शिव में कभी भी कोई भी क्रम नहीं है ॥ २२४- ॥

प्रश्न—मन्त्र-मन्त्रेश-मन्त्रमहेश आदि की परम्परा से शिवरूप में विश्रान्ति कही

अतात्त्विकोऽप्ययं क्रमो नासन्नेव शिवेच्छया तथावभासनात्, तच्छिव एव सर्वस्य कारणम्,—इति परमकारणताभिप्रायेण भवतु, मन्त्रादि(धि)नाथादि पुनरवान्तर-कारणं कथङ्कारं पराकरणीयम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अन्यन्मन्त्रादि(धि)नाथादि कारणं तत्तु संनिधेः ॥ २२४ ॥
शिवाभेदाच्च किं चाथ द्वैते नैकट्यवेदनात् ।

यथा किल मृदेकैव सती शिबिकस्तूपकपिण्डाद्यवस्थाक्रमेण घटस्य कारणम् इति नेयता पिण्डाद्येव कारणमिति युक्तं कार्यात्मनि तथानुवृत्त्यभावात्, तत्तदवस्था तु दण्डादिवत्करणमिति युज्यते वक्तुम् । इदमेव हि करणं यत्कार्यनिर्वर्तनाय व्याप्रियमाणमपि न कारणं व्यवदध्यात् । एवमिह परिपूर्णसंविन्मयः शिव एव निजेच्छावभासितमन्त्राधिनाथाद्यवस्थाक्रमेण जगतः कारणम्, नैतावता मन्त्राधिनाथा-द्यवस्थैव कारणम्, कर्तृप्रयोज्यतया करणं तु भवेदेव, न हि तज्जगदवभासने व्याप्रियते, न च तथाभावेऽपि पूर्णचिदात्मनः शिवस्य कारणतां व्यवधत्ते—इतीच्छादिशक्तिवन्मन्त्राधिनाथादेः करणत्वमेव न्याय्यमित्युक्तं मन्त्राधिनाथाद्यन्य-त्करणम्—इत्यर्थः । यत्तु—

गयी है । अतात्त्विक भी यह क्रम असत् नहीं है क्योंकि शिव की इच्छा से वैसा (क्रमपूर्वक) भासित होता है । तो इस परमकारणता के अभिप्राय से शिव ही सबका कारण हों किन्तु मन्त्रमहेश्वर आदि अवान्तर कारण का कैसे निराकरण होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(जो) मन्त्रमहेश्वर आदि अन्य कारण हैं—वह तो सन्निधि एवं शिव के साथ अभेद के कारण और भेद दशा में निकटता का ज्ञान होने से कारण हैं ॥ -२२४-२२५- ॥

जैसे मिट्टी एक होती हुयी शिबिक स्तूपक पिण्ड आदि अवस्था के क्रम से घट का कारण है—इससे पिण्ड आदि ही कारण है यह (कहना) ठीक नहीं क्योंकि कार्यरूप में वैसी अनुवृत्ति नहीं है (अर्थात् जैसे घट अन्तिम है उससे फिर कोई चीज उत्पन्न नहीं होती उस प्रकार शिबिक स्तूप आदि अन्तिम नहीं है । उनमें अग्रिम कार्य उत्पन्न करने की स्थिति रहती है किन्तु घट में नही)। तत्तद् अवस्था तो दण्ड आदि के समान करण है यह कहना ठीक है । क्योंकि करण वही होता है जो कार्य की सिद्धि के लिये व्यापार करता हुआ भी अन्य कारण को न रोके । इस प्रकार यहाँ पूर्णसंविन्मय शिव ही अपनी इच्छा से अवभासित मन्त्रमहेश्वर आदि अवस्था के क्रम से जगत् का कारण हैं । इससे मन्त्रमहेश्वर आदि अवस्था ही कारण है—ऐसा नहीं है । जो कर्त्ता से प्रयोज्य होता हे वह करण होता ही है लेकिन वह जगत् के अवभासन में व्यापारवान् नहीं होता और वैसा होने पर भी (वह) पूर्णचिद्रूप शिव की कारणता को नहीं रोकता है । इस प्रकार इच्छा आदि शक्ति के समान मन्त्रमहेश्वर आदि को करण मानना ही उचित है । इसलिये कहा

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः।'

इत्यादिना मन्त्राधिनाथादेः कारणत्वमुच्यते तद्वैयपदेशिकम्—इत्याह—
कारणमित्यादि । तदिति मन्त्राधिनाथादि । संनिधेरिति घटोत्पत्ताविव दिक्काला-
काशादीनाम् । शिवाभेदादिति, शिवस्तावत्कारणमित्युक्तं तदभेदान्मन्त्राधिनाथाद्यपि
तथोच्यते घटकारणमृदभिन्नरूपादिवत्, द्वैते नैकट्यवेदनादिति भेददशायामेषां
यथायथं मायाप्रमात्रपेक्षया संनिकर्षाद्राजाज्ञया नियुक्तवधकवत् ॥ २२४ ॥

एतदेव च परमुपादेयमित्यत्रैव निरूढिः कार्या—इत्याह—

अनया च दिशा सर्वं सर्वदा प्रविवेचयन् ॥ २२५ ॥
भैरवायत एव द्राक् चिच्चक्रेश्वरतां गतः ।

प्रकृतमेवोपसंहरति—

स इत्थं प्राणगो भेदः खेचरीचक्रगोपितः ॥ २२६ ॥
मया प्रकटितः श्रीमच्छाम्भवाज्ञानुवर्तिना ।

इदानीं तत्त्वविध्यनुषक्ततयानुजोद्देशोद्दिष्टं जाग्रदादि निरूपयति—

गया—मन्त्राधिनाथ आदि अन्य कारण है । और जो—

'शुद्ध अध्वा में शिव तथा अशुद्ध में भगवान् अनन्तनाथ कर्त्ता हैं'

इत्यादि के द्वारा मन्त्राधिनाथ आदि को कारण कहा जाता है वह औपचारिक
है—यह कहते हैं—'कारणम्' इत्यादि । वह = मन्त्राधिनाथ आदि । सन्निधि के
कारण—जैसे कि घट की उत्पत्ति में आकाश काल दिशा आदि कारण होते हैं उस
प्रकार । शिव से अभेद के कारण—शिव कारण है—ऐसा कहा गया है । उनसे
अभेद होने के कारण मन्त्राधिनाथ आदि भी उस प्रकार के कहे जाते हैं, घट के
कारणभूत मिट्टी से अभिन्न रूप आदि के समान । द्वैत में निकटता का ज्ञान होने
से—भेददशा में मायाप्रमाता की अपेक्षा इनकी क्रमिक निकटता होने से ये कारण
है । जैसे कि राजा की आज्ञा से नियुक्त बधक अर्थात् अपराधी का वध करने
वाला साक्षात् कारण तो होता है पर मूल कारण नहीं उस प्रकार ॥ २२४ ॥

और यही परम उपादेय है इसलिये इसी में दृढ़ता करनी चाहिये—यह कहते
हैं—

इसी रीति से सबका सर्वदा विवेचन करता हुआ योगी चित्‌चक्र का
ईश्वर होकर तत्काल भैरव हो जाता है ॥ -२२५-२२६- ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार खेचरीचक्र में गोपित यह प्राणगामी भेद (= रहस्य) श्रीमान्
शम्भुनाथ के आज्ञापालक मेरे द्वारा प्रकट किया गया ॥ -२२६-२२७- ॥

अत्रैवाध्वनि वेद्यत्वं प्राप्ते या संविदुद्भवेत् ॥ २२७ ॥
तस्याः स्वकं यद्वैचित्र्यं तदवस्थापदाभिधम् ।

अत्र पाञ्चदश्यादिक्रमात्मतया निरूपिते तत्त्वाद्यध्वनि स्वरूपत्वेन प्रमेयतामापन्ने यैव शिवाद्येकैकप्रमातृरूपा संविदुल्लसेदेवंविधायास्तस्याः स्वकं स्वेच्छावभासित-तत्तत्प्रमेयोपहितं तत्तत्साधारण्यासाधारण्यादिप्रयुक्तं यद्वैचित्र्यं तज्जाग्रदाद्यवस्था-शब्दव्यपदेश्यं स्यात्—इति वाक्यार्थः ॥ २२७ ॥

अवस्थापदान्येव विभजति—

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम् ॥ २२८ ॥
इति पञ्च पदान्याहुरेकस्मिन्वेदके सति ।

तदतीतकमिति—तुर्यातीतकम् । एकस्मिन्वेदके सतीति, अनेकस्मिन्वेदके ह्यन्यस्य जाग्रदन्यस्य स्वप्नः,—इत्यवस्थानामवस्थात्वं पञ्चात्मकत्वं च न स्यात्, एकमेव ह्यवस्थातारमधिकृत्यासां तथाभावो भवेत्—इति भावः ॥ २२८ ॥

ननु यद्येवं, तत्तुर्यातीतरूपस्याप्येकस्य शिवस्य जाग्रदाद्यवस्थाः प्रसज्येरन्?—

अब तत्त्वविधि से सम्बद्ध होने के कारण अनुजोद्देशोद्दिष्ट जाग्रत् आदि का निरूपण करते हैं—

इसी मार्ग में वेद्यत्व को प्राप्त होने पर जो संवित् उत्पन्न होती है उसका जो अपना वैचित्र्य है वही (जाग्रत् आदि) अवस्था पद का वाच्य है ॥ -२२७-२२८- ॥

यहाँ = पन्द्रह आदि क्रम के रूप में निरूपित तत्त्व आदि अध्वा के स्वरूपतः प्रमेय होने पर जो शिव आदि एक-एक प्रमातास्वरूप संवित् उल्लसित होती है इस प्रकार वाली उस (संविद्) का अपना = स्वेच्छा से, अवभासित तत्तत् प्रमेय से उपहित तथा तत्तत् साधारण्य असाधारण्य आदि से प्रयुक्त जो वैचित्र्य है वही जाग्रत आदि अवस्थाशब्द से व्यवहृत होता है—यह वाक्यार्थ है ॥ २२७ ॥

अवस्थाभेदों को विभक्त करते हैं—

एक वेदक के होने पर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत ये पाँच अवस्थायें (विद्वानों ने) कही हैं ॥ -२२८-२२९- ॥

तदतीत = तुरीयातीत । एक वेदक के होने पर—अनेक वेदक के होने पर एक का जाग्रत् दूसरे का स्वप्न हो जाएगा—इस प्रकार अवस्थाओं का अवस्थात्व और उनकी पाँच संख्या नहीं होगी । एक ही अवस्था वाले के दृष्टिकोण से इनका उस प्रकार का भाव है—यह तात्पर्य है ॥ २२८ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो तुर्यातीतरूप भी एक शिव की जाग्रत् आदि अवस्थायें

इत्याशंक्य तदेवाभ्युपगच्छति—

तत्र यैषा धरातत्त्वाच्छिवान्ता तत्त्वपद्धतिः ॥ २२९ ॥
तस्यामेकः प्रमाता चेदवश्यं जाग्रदादिकम् ।
तद्दर्श्यते शम्भुनाथप्रसादाद्विदितं मया ॥ २३० ॥

'एक' इति सकलः शिवो वा । अवश्यमित्यनेनान्यथा पुनरेतन्न स्यादिति सूचितम् । एतच्च नास्माभिः स्वोपज्ञमेवोच्यते—इत्याह—'तद्दर्श्यते' इत्यादि ॥ २३० ॥

तदेवाह—

यदधिष्ठेयमेवेह नाधिष्ठातृ कदाचन ।
संवेदनगतं वेद्यं तज्जाग्रत्समुदाहृतम् ॥ २३१ ॥

एवकारार्थमेव स्फुटयति—'नाधिष्ठातृ कदाचन' इति । संवेदनगतमिति, अन्यथा ह्यस्य वेद्यत्वमेव न भवेत्—इति भावः । न हि स्वात्मनि वेद्यमवेद्यं वेत्युक्तं बहुशः ॥ २३१ ॥

एतदेव प्रपञ्चयति—

चैत्रमैत्रादिभूतानि तत्त्वानि च धरादितः ।
अभिधाकरणीभूताः शब्दाः किं चाभिधा प्रमा ॥ २३२ ॥

होने लगेगी?—यह शङ्का कर उसी को मानते हैं—

धरातत्त्व से लेकर शिव तक जो यह तत्त्वाध्वा है उसमें यदि एक प्रमाता है तो जाग्रत् आदि (अवस्थायें) अवश्य होती हैं । शम्भुनाथ की कृपा से विदित उसको मेरे द्वारा दिखाया जा रहा है ॥ -२२९-२३० ॥

एक-सकल हो या शिव । अवश्य—इससे यह सूचित होता है कि अन्यथा यह नहीं होगा । इसको हम अपने से नहीं कह रहे हैं—यह कहते है—वह दिखलाया जा रहा है—इत्यादि ।

जो यहाँ अधिष्ठेय ही है, कभी भी अधिष्ठाता नहीं रहा है, संवेदन में रहने वाला वेद्य है वह जाग्रत् कहा गया है ॥ २३१ ॥

एवकार कों ही स्पष्ट करते हैं—कभी भी अधिष्ठाता नहीं रहा है । संवेदनगत—अन्यथा यह वेद्य नहीं होगा—यह तात्पर्य है । अपने में कोई वेद्य या अवेद्य नहीं होता—यह अनेक बार कहा गया है ॥ २३१ ॥

इसी को विस्तृत करते हैं—

चैत्र मैत्र आदि प्राणी तथा पृथिवी आदि तत्त्व, अभिधा के साधनभूत

प्रमातृमेयतन्मानप्रग्गरूपं चतुष्टयम् ।
विश्वमेतदधिष्ठेयं यदा जाग्रत्तदा स्मृतम् ॥ २३३ ॥

भूतानीति, चतुर्दशविधभूतसर्गान्त:पातित्वात् तेन स्थावरवर्जं पैशाचादि मानुषान्तं सर्वमनेन संगृहीतम् । शब्दा इति—धरादितत्त्वान्त:पातित्वात्प्रमेयत्वेऽपि परप्रत्ययकारित्वादेषां प्रमाणत्वमित्युक्तम्—'अभिधाकरणीभूता:' इति । अभिधेत्यर्थ-प्रतीतित्वात् फलरूपा—इत्यर्थ: । एवमेतन्मातृमेयमानप्रमात्मकं चतुष्टय-मधिष्ठेयरूपमेव यदा भवेत्तदा जाग्रत् स्मृतं जाग्रदवस्थेयम्—इत्यर्थ: ॥ २३२ ॥

अधिष्ठात्रधिष्ठेयभावमेव विभज्य दर्शयति—

तथा हि भासते यत्तन्नीलमन्त: प्रवेदने ।
सङ्कल्परूपे बाह्यस्य तदधिष्ठातृ बोधकम् ॥ २३४ ॥
यत्तु बाह्यतया नीलं चकास्त्यस्य न विद्यते ।
कथञ्चिदप्यधिष्ठातृभावस्तज्जाग्रदुच्यते ॥ २३५ ॥

यत्किञ्चन नीलादि सङ्कल्पाद्यात्मनि ज्ञानेऽन्तस्तादात्म्येन भासते तदधिष्ठातृ यतो बाह्यस्य बोधस्य नीलादेस्तद् बोधकमवभासकम्—इत्यर्थ: । अतश्च बोध्यत्वादेव बाह्यं नीलं कथञ्चिदप्यधिष्ठातृभावमधिगन्तुं नोत्सहते,—

शब्द (प्रमेय हैं) तथा अभिधा प्रमा है । प्रमाता प्रमेय प्रमाण और प्रमा नामक चार रूपों वाला यह विश्व जब अधिष्ठेय होता है तब जाग्रत् कहा जाता है ॥ २३२-२३३ ॥

प्राणीसमूह—चौदह प्रकार की प्राणिसृष्टि के अन्त:पाती होने के कारण । इससे स्थावर को छोड़कर पिशाच से लेकर मनुष्य तक सबका संग्रह हो गया । शब्द—पृथिवी आदि तत्त्व का अन्त:पाती होने के कारण प्रमेय होते हुये भी दूसरे को ज्ञान कराने वाला होने के कारण प्रमाण भी हैं—यह कहा गया—अभिधा के कारण बने हुये । अभिधा = अर्थ प्रतीति होने के कारण फलरूपा । इस प्रकार प्रमाता प्रमेय प्रमाण और प्रमा रूप ये चार जब अधिष्ठेय होते हैं तब जाग्रत् कहा गया है अर्थात् यह जाग्रत् अवस्था है ॥ २३३ ॥

अधिष्ठाता और अधिष्ठेय भाव को अलग-अलग कर दिखलाते हैं—

जो नील (= घट आदि) सङ्कल्परूप अन्तर्ज्ञान में भासित होता है वह अधिष्ठाता है क्योंकि वह बाह्य का बोधक है । और जो नील (= घट आदि) बाह्यरूप में प्रकाशित होता है और किसी भी तरह अधिष्ठाता नहीं है, वह जाग्रत् कहा जाता है ॥ २३४-२३५ ॥

जो कुछ नील आदि सङ्कल्प आदि रूप ज्ञान में अन्त: = अभिन्न रूप से भासित होता है वह अधिष्ठाता है क्योंकि वह बाह्य का = बोध्य नील आदि का,

इत्यधिष्ठेयैकरूपत्वाज्जाग्र- द्दशात्मकत्वेनैव सर्वत्रोच्यते—इति युक्तमुक्तं—यदधिष्ठेयं तज्जाग्रदिति ॥ २३५ ॥

नन्वस्य चतुष्टयस्य समानेऽप्यधिष्ठेयत्वे किमन्योन्यं कश्चिद्विशेषः संभवेन्न वा? —इत्याशङ्क्याह—

तत्र चैत्रे भासमाने यो देहांशः स कथ्यते।
अबुद्धो यस्तु मानांशः स बुद्धो मितिकारकः ॥ २३६ ॥
प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च प्रमामात्रेति च क्रमः ।

'देहांशः' इति देहस्य भौतिकत्वात्प्रमेयरूपः—इत्यर्थः । तत्प्रवृत्तेश्च प्राणादि-प्रेरणामयत्वात्तत्संस्पर्शोऽस्ति,—इति मानांशस्य बुद्धत्वमुक्तम् । प्राणादिसंस्पर्शेन ह्येषां चेतनायमानत्वं जायते—इत्युक्तं प्राक् । 'मितिकारकः' इति मितिं करोतीति मितिकारः मितिकार एव मितिकारकः प्रमात्रंश इत्यर्थः । स च बुद्ध्यादि-रूपत्वात्प्रबुद्ध इत्युक्तम् । 'सुप्रबुद्धः' इति वेद्यकालुष्यशून्यतया स्वात्मनि विश्रान्तिमयसंवित्तिमात्ररूपत्वात् प्रमामात्रेति प्रमित्यंशः-इत्यर्थः ॥ २३६ ॥

न चाबुद्धादिरूपत्वमत्रास्माभिः स्वोपज्ञमेवोक्तम्—इत्याह—

अवभासक है । और इसलिये बोध्य होने के कारण बाह्य नील किसी प्रकार भी अधिष्ठाता होने का साहस नहीं करता । इस प्रकार केवल अधिष्ठेय रूप होने के कारण सर्वत्र जाग्रत् दशा वाला ही कहा जाता है । इसलिये ठीक कहा गया कि जो अधिष्ठेय है वह जाग्रत् है ॥ २३४-२३५ ॥

प्रश्न—इन चारों के समान रूप से अधिष्ठेय होने पर क्या परस्पर कोई अन्तर सम्भव है या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

चैत्र के भासमान होने पर जो अबुद्ध है वह देहांश (= प्रमेय) कहा जाता है । जो बुद्ध है वह मानांश है वही प्रबुद्ध होने पर प्रमाता हो जाता है । प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध प्रमामात्र होता है—यह क्रम है ॥ २३६- ॥

देहांश = देह के भौतिक होने से प्रमेयरूप । उसकी प्रवृत्ति के प्राण आदि की प्रेरणा से युक्त होने के कारण उसका संस्पर्श है—इसलिये मानांश को बुद्ध कहा गया है । (अर्थात्) प्राण आदि के स्पर्श से ये चेतन होते है—यह पहले कहा गया है । मितिकारक = जो मिति को करता है वह मितिकार, मितिकार ही मितिकारक = प्रमाता अंश है । और वह बुद्धि आदि रूप होने के कारण प्रबुद्ध कहा गया है । सुप्रबुद्ध = वेद्य के मलिनिमा से शून्य होने के कारण अपने में विश्रान्तिमय संविद्- मात्ररूप होने से, प्रमामात्र = प्रमित्यंश ॥ २३६ ॥

यहाँ हमने अबुद्ध आदि रूप को अपनी बुद्धि से ही नहीं कहा है—यह कहते हैं—

चातुर्विध्यं हि पिण्डस्थनाम्नि जाग्रति कीर्तितम् ॥ २३७ ॥

ननु जाग्रदादीनि पञ्च पदानि परस्परं विभिन्नानीत्युक्तम्, तत्कथमियं सङ्कीर्ण-प्राया जाग्रत्स्वप्नो जाग्रत्सुषुप्तमित्यादिप्रसिद्धिः ?—इत्याशङ्क्याह—

जाग्रदादि चतुष्कं हि प्रत्येकमिह विद्यते ।

प्रत्येकमिति परस्परम्, तेन जाग्रज्जाग्रज्जाग्रत्स्वप्न इत्यादिप्रसिद्धिर्न विरुध्यते —इति सिद्धम् ॥ २३७ ॥

न केवलमेवंरूपत्वमेवात्रास्ति यावदबुद्धादिरूपत्वम्—इत्याह—

जाग्रज्जाग्रदबुद्धं तज्जाग्रत्स्वप्नस्तु बुद्धता ॥ २३८ ॥
इत्यादि तुर्यातीतं तु सर्वगत्वात्पृथक्कुतः ।

ननु 'पञ्चावस्था' इत्युक्तं तच्चतुष्टयस्याबुद्धादिरूपत्वमभिहितम्, तुर्यातीतस्य पुनः किंरूपत्वम्?—इत्याशङ्क्याह—'तुर्यातीतं तु सर्वगत्वात्पृथक्कुतः' इति ।

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।' (शि०सू० २३०)

इति शिवसूत्रदृष्ट्या यत्र तुर्यमपि सर्वत्राविभक्तं तत्र का वार्ता

पिण्डस्थ नामक जाग्रत् के भेद वर्णन में चारो विधाओं को कहा गया है ॥ -२३७ ॥

प्रश्न—जाग्रत् आदि पाँच अवस्थायें परस्पर भिन्न हैं—ऐसा कहा गया । तो जाग्रत् स्वप्न, जाग्रत् सुषुप्ति इत्यादि मिली-जुली प्रसिद्धि कैसे हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यहाँ जाग्रत् आदि चारो परस्पर (एक दूसरे से मिश्रित) हैं ॥२३८- ॥

प्रत्येक = परस्पर, इस कारण जाग्रत्-जाग्रत्, जाग्रत्-स्वप्न इत्यादि प्रसिद्धि कहीं विरुद्ध नहीं है—यह सिद्ध है ॥ २३७ ॥

यहाँ केवल यही रूप नहीं है बल्कि अबुद्ध आदि रूप भी है—यह कहते हैं—

जो जाग्रत्-जाग्रत् है वह अबुद्ध है । जाग्रत्-स्वप्न बुद्धता है इत्यादि । तुर्यातीत तो सर्वगामी होने से पृथक् कहाँ है अर्थात् सब मे अनुस्यूत है ॥ -२३८-२३९- ॥

प्रश्न—'पाँच अवस्थायें' यह (पहले) कहा गया है । तो चार की अबुद्ध आदि रूपता कही गयी । तुर्यातीत का क्या रूप है?—यह शङ्का कर कहते हैं—'तुर्यातीत तो सर्वगामी होने से पृथक् कहाँ है ।'

'तीन में चौथे को तेल के समान सिक्त करना चाहिये ।' (शि.सू. २३०)

तुर्यातीतस्येत्याकृतम् ॥ २३८ ॥

एतदेव संवादयति—

उक्तं च पिण्डगं जाग्रदबुद्धं बुद्धमेव च ॥ २३९ ॥
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च चतुर्विधमिदं स्मृतम् ।

उक्तमिति श्रीश्रीपूर्वशास्त्रे । तदुक्तं तत्र—

'चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च ।
प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च........................ ॥'

(मा० वि० २।४३) इति ॥ २३९ ॥

एवमवस्थाचतुष्टयस्य परस्परं सङ्कीर्णत्वेऽपि 'यो देहांशः' इत्यादिनोक्तं प्रमेयपदं मुख्या जाग्रदवस्था—इत्याह—

मेयभूमिरियं मुख्या जाग्रदाख्यान्यदन्तरा ॥ २४० ॥

अन्यदिति—मानाद्यंशरूपं स्वप्नादि । अन्तरेति—तन्मध्यपतितममुख्यम्—इत्यर्थः ॥ २४० ॥

ननु मेयभूमिरेव मुख्या जाग्रदवस्थेत्यत्र किं प्रमाणम्?—इत्याशङ्क्याह—

इस शिवसूत्र के अनुसार जहाँ तुरीय भी सर्वत्र अविभक्त है वहाँ तुर्यातीत की क्या बात-यह तात्पर्य है ॥ २३८ ॥

इसी को संवादित करते हैं—

यह उक्त पिण्डगामी जाग्रत् अबुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध (भेद से) चार प्रकार का कहा गया है ॥ -२३९-२३०- ॥

कहा गया है—श्रीपूर्वशास्त्र पें । वही वहाँ कहा गया है—

"अबुद्ध बुद्ध प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध (भेद से) पिण्डस्थ (जाग्रत्) चार प्रकार का है" ॥ २३९ ॥ (मा.वि.तं. २।४३)

चार अवस्थाओं के परस्पर सङ्कीर्ण होने पर भी 'जो देहांश' इत्यादि के द्वारा कहा गया वह प्रमेय पद मुख्य जाग्रत् अवस्था है—यह कहते है—

यह प्रमेय भूमि मुख्य जाग्रत् अवस्था है और दूसरी बीच में हें ॥ २४० ॥

अन्यत्—मान आदि अंशरूप स्वप्न आदि । बीच में—उसके बीच में स्थित अर्थात् अमुख्य ॥ २४० ॥

प्रश्न—मेय भूमि ही मुख्य जाग्रत् अवस्था है इस विषय में क्या प्रमाण है? यह शङ्का कर कहते है—

भूततत्त्वाभिधानानां योंऽशोऽधिष्ठेय उच्यते।
पिण्डस्थमिति तं प्राहुरिति श्रीमालिनीमते ॥ २४१ ॥

नन्वित्थं प्रमेयभूमौ पिण्डस्थमेव मुख्यमुक्तं स्यान्न जाग्रत् ?—इत्याशंक्य जाग्रत एवेदं संज्ञान्तरम्—इत्याह—

लौकिकी जाग्रदित्येषा संज्ञा पिण्डस्थमित्यपि ।
योगिनां योगसिद्ध्यर्थं संज्ञेयं परिभाष्यते ॥ २४२ ॥

तदुक्तम्—

'पिण्डस्थ: सर्वतोभद्रो जाग्रन्नामद्वयं मतम् ।'
(मा० वि० २।३६) इति ॥ २४२ ॥

ननु योगसिद्धौ पिण्डस्थमिति परिभाषणे किं निमित्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

अधिष्ठेयसमापत्तिमध्यासीनस्य योगिनः ।
तादात्म्यं किल पिण्डस्थं मितं पिण्डं हि पिण्डितम् ॥ २४३ ॥

अधिष्ठेयेन धरादिना या समापत्तिस्तादात्म्यमय: समाधिविशेषस्तामधिशयानस्य योगिनो यद्धराद्यैकात्म्यं तदागमे पिण्डस्थमुच्यते, यतो धराद्येन मीयमानं पिण्डितं

भूततत्त्व नाम वालों का जो अंश अधिष्ठेय कहा जाता है उसको मालिनीविजय के मत में 'पिण्डस्थ' कहते हैं ॥ २४१ ॥

प्रश्न—तो इस प्रकार प्रमेयभूमि में पिण्डस्थ ही मुख्य कहा जाना चाहिये था न कि जाग्रत्?—यह शङ्का कर जाग्रत् की ही यह दूसरी संज्ञा है—यह कहते हैं—

यह जाग्रत् संज्ञा लौकिकी है । 'पिण्डस्थ' यह संज्ञा योगियों की योगसिद्धि के लिये कही जाती है ॥ २४२ ॥

वही कहा गया है—

"पिण्डस्थ और सर्वतोभद्र (ये) जाग्रत् अवस्था के दो नाम कहे गये है" ॥ २४२ ॥ (मा.वि.तं. २।३६)

प्रश्न—योग की सिद्धि के विषय मे 'पिण्डस्थ' ऐसा नाम रखने में क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अधिष्ठेय के साथ समापत्ति को प्राप्त योगी का तादात्म्य ही पिण्डस्थ है । मित पिण्ड ही पिण्डित होता है ॥ २४३ ॥

अधिष्ठेय = पृथिवी आदि, के साथ जो समापत्ति = तादात्म्यमय समाधि-विशेष, उसमें स्थित योगी का जो पृथिवी आदि के साथ ऐकात्म्य उसे आगम में 'पिण्डस्थ' कहा जाता है । क्योंकि पृथिवी आदि के द्वारा मीयमान पिण्डित =

विशरारुतापरिहारेण शरीरीभूतं सत्पिण्डं गर्भीकृततत्तदर्थजातं व्यापकरूपम्—इत्यर्थः ॥ २४३ ॥

न केवलमिदमेव जाग्रतः पारिभाषिकं संज्ञान्तरं यावदन्यदपि—इत्याह—

प्रसंख्यानैकरूढानां ज्ञानिनां तु तदुच्यते ।
सर्वतोभद्रमापूर्णं सर्वतो वेद्यसत्तया ॥ २४४ ॥

तदिति—जाग्रत् । एवं परिभाषणे चात्र किं निमित्तम् ?—इत्याशंक्योक्तम्—'आपूर्णं सर्वतो वेद्यसत्तया' इति ॥ २४४ ॥

एवमपि प्रसंख्यानपरेष्वेवायं संज्ञानियमः—इति कोऽभिप्रायः ?—इत्याशङ्क्याह—

सर्वसत्तासमापूर्णं विश्वं पश्येद्यतो यतः ।
ज्ञानी ततस्ततः संवित्तत्त्वमस्य प्रकाशते ॥ २४५ ॥

एवं चात्र तिस्र एव संज्ञाः—इत्यवधारणं कुतस्त्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—

लोकयोगप्रसंख्यानत्रैरूप्यवशतः किल ।
नामानि त्रीणि भण्यन्ते स्वप्नादिष्वप्ययं विधिः ॥ २४६ ॥

विशीर्णता को छोड़कर शरीरभूत, पिण्ड = भिन्न-भिन्न अर्थसमूह को गर्भ में रखने वाला व्यापक रूप पिण्डित है ॥ २४३ ॥

जाग्रत् की यही परिभाषिक संज्ञा नहीं है बल्कि दूसरी भी है—यह कहते हैं—

प्रसंख्यान समाधि में स्थित ज्ञानियों के (अनुसार) वह सर्वतोभद्र कहा जाता है? क्योंकि वह वेद्यसत्ता के द्वारा सब ओर से पूर्ण है ॥ २४४ ॥

वह = जाग्रत् ! यहाँ इस प्रकार के कथन मे क्या निमित्त है?—यह शङ्का कर कहा गया—'सर्वतः वेद्यसत्ता से आपूर्ण है' ॥ २४४ ॥

ऐसा होने पर भी प्रसंख्यानपर लोगों के ही विषय में यह संज्ञा का नियम है इसमें क्या अभिप्राय है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

ज्ञानी जैसे-जैसे विश्व को सर्वसत्ता से पूर्ण देखता है वैसे-वैसे इसे संवित् तत्त्व का प्रकाश होता जाता है ॥ २४५ ॥

यहाँ तीन ही संज्ञायें हैं—ऐसा नियम क्यों है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

लोक योग और प्रसंख्यान के कारण तीन संज्ञायें (= नाम) कही जाती हैं । स्वप्न आदि में भी यह विधि है ॥ २४६ ॥

इसी का अन्यत्र भी अतिदेश करते हैं—'स्वप्न आदि में भी यही विधि है ।' इस प्रकार स्वप्न सुषुप्त और तुर्य (या तुरीय)—यह लौकिक संज्ञा है । पदस्थ रूप

एतदेवान्यत्राप्यतिदिशति—'स्वप्नादिष्वप्ययं विधिः' इति । तेन लौकिकी संज्ञा स्वप्नः सुषुप्तं तुर्यं च, यौगिकी पदस्थं रूपं रूपातीतं च, ज्ञानीया व्याप्तिर्महाव्याप्तिः प्रचयश्चेति । तुर्यातीते पुनर्वक्ष्यमाणदृशा योगो न प्रतपेदिति लोकप्रसंख्यानाभिप्रायेण तुर्यातीतं महाप्रचयश्चेति संज्ञाद्वयमेवोक्तम् ॥ २४६ ॥

एवं जाग्रदवस्थां निरूप्य, स्वप्नावस्थामपि निरूपयति—

यत्त्वधिष्ठानकरणभावमध्यास्य वर्तते ।
वेद्यं सत्पूर्वकथितं भूततत्त्वाभिधामयम् ॥ २४७ ॥
तत्स्वप्नो मुख्यतो ज्ञेयं तच्च वैकल्पिके पथि।

यत्पुनर्जाग्रद्दशाधिशाय्यपि चैत्रमैत्रादिभूतानीत्यादिनोक्तं भूततत्त्वावधिष्ठिति-क्रियायां प्रमाणपदास्कन्दनेनास्ते तन्मुख्यतः स्वप्नो मेयच्छायावभासिनी मानप्रधाना स्वप्नावस्थेयम्—इत्यर्थः । 'मुख्यतः' इति अन्तरा ह्यमुख्या अप्यस्य स्वप्न-जाग्रदादयो भेदाः संभवन्ति—इति भावः । ननु विकल्पाविकल्पात्मके पदद्वये-ऽप्येषामेवंरूपत्वं भवेत् इदं पुनः किमधिकृत्योक्तम्?—इत्याशङ्क्याह—'ज्ञेयं तच्च वैकल्पिके पथि' इति । तदुक्तम्—

'स्वप्नो विकल्पाः ।' (शि० सू० १।९) इति ॥ २४७ ॥

ननु लोके सर्वस्य स्वापावसरे स्वानुभवसाक्षिकमविकल्पकवृत्त्यैव तत्तदर्थानुभवो

और रूपातीत यह यौगिकी तथा व्याप्ति महाव्याप्ति और प्रचय यह ज्ञानीय संज्ञा है । तुर्यातीत में वक्ष्यमाण रीति से योग का अभ्यास नहीं होता इसलिये लोक और प्रसंख्यान के अभिप्राय से तुर्यातीत और महाप्रचय ये दो ही संज्ञायें कही गयी हैं ॥ २४६ ॥

जाग्रत्—अवस्था का निरूपण कर स्वप्नावस्था का भी निरूपण करते हैं—

जो कि अधिष्ठान करण एवं भाव को आधार मान कर रहता है और वेद्य होते हुये पूर्वोक्त भूततत्त्व के नाम वाला है उसे मुख्यरूप से स्वप्न कहते हैं । उसे विकल्प समझना चाहिये ॥ २४७-२४८- ॥

और जो जाग्रत् दशा में रहते हुये भी 'चैत्र-मैत्र आदि भूत' इत्यादि के द्वारा कहा गया भूतत्त्व की अधिष्ठिति क्रिया में प्रमाणपद के वाच्य के रूप में स्थित है वह मुख्य रूप से स्वप्न है अर्थात् प्रमेयछाया का अवभास कराने वाली प्रमाणप्रधान स्वप्नावस्था है । मुख्यरूप से—बीच में इसके स्वप्न जाग्रत् आदि अमुख्य भेद भी सम्भव है—यह तात्पर्य है । प्रश्न है कि विकल्प और अविकल्परूप दोनो पदों में इनका ऐसा रूप होता है किन्तु यह किस आधार पर कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—'और उसे वैकल्पिक रास्ते में जानना चाहिये ।' वही कहा गया है—

"स्वप्न विकल्प हैं" ॥ २४७ ॥ (शि.सू. २४७)

भवेदिति किमेतत्?—इत्याशङ्क्याह—

वैकल्पिकपथारूढवेद्यसाम्यावभासनात् ॥ २४८ ॥
लोकरूढोऽप्यसौ स्वप्नः साम्यं चाबाह्यरूपता ।

लोकेऽपि ह्यसाधारण्यादिना वैकल्पिकार्थसमानमेवावभासमधिकृत्य स्वप्नावस्था प्ररोहमुपगतेति नेदमपूर्वं किञ्चिदुक्तम्—'तच्च वैकल्पिके पथि ज्ञेयम्' इति । ननु विकल्पस्वप्नयोरर्थावभासे कुतस्त्यमेवं साम्यम्?—इत्याशंक्योक्तम्—'साम्यं चाबाह्यरूपता' इति । चो हेतौ । अबाह्यरूपत्वादेव चात्रासाधारण्यादि भवेदिति भावः ॥ २४८ ॥

एवं वैकल्पिकार्थत्वेऽप्यत्र स्पष्टास्पष्टतया द्वैविध्यं विभजति—

उत्प्रेक्षास्वप्नसङ्कल्पस्मृत्युन्मादादिदृष्टिषु ॥ २४९ ॥
विस्पष्टं यद्वेद्यजातं जाग्रन्मुख्यतयैव तत् ।

एतच्चात्र भयादिविषयत्वेन वाच्यम् । यदुक्तम्—

'भावनाबलतः स्पष्टं भयादाविव भासते ।
यज्ज्ञानमविसंवादि तत्प्रत्यक्षमकल्पकम् ॥' इति ।

प्रश्न—लोक में सबके सुषुप्ति में लीन होने पर स्वानुभवसाक्षिक, अविकल्पक वृत्ति के ही द्वारा तत्तत् अर्थ का अनुभव होता है । यह क्या है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वैकल्पिक पथ पर आरुढ़ वेद्यसाम्य का अवभासन होने के कारण लोक में रूढ भी यह स्वप्न (माना जाता) है । क्योंकि इनमें अबाह्यरूपता साम्य है ॥ -२४८-२४९- ॥

लोक में भी असाधारण्य आदि के द्वारा वैकल्पिक अर्थ के समान ही आभास के आधार पर स्वप्नावस्था प्ररूढ हुई है । इस प्रकार कुछ अपूर्व नहीं कहा गया कि और उसे वैकल्पिक 'समझना चाहिये ।' प्रश्न है कि विकल्प एवं स्वप्न (इन दोनों) के अर्थावभास में ऐसा साम्य कहाँ से आता है?—यह शङ्का कर कहा गया—'क्योंकि साम्य अबाह्यरूपता है ।' 'च' का प्रयोग हेतु अर्थ में है । अबाह्यरूप होने के कारण ही यहाँ असाधारण्य आदि है—यह भाव है ॥ २४८ ॥

अर्थ के वैकल्पिक होने पर भी यहाँ स्पष्ट और अस्पष्ट करके दो प्रकार का विभाग करते हैं—

उत्प्रेक्षा, स्वप्न, सङ्कल्प, स्मृति, उन्माद आदि की दृष्टियों में जो विस्पष्ट वेद्यसमूह है वह मुख्यरूप से जाग्रत् है ॥ -२४९-२५०- ॥

इसे यहाँ भय आदि के विषय के रूप में कहना चाहिये । जैसा कि कहा गया है—

गाढत्रासानुरागादिना हि पुरःस्फुरद्रूपमेवाततायिनायिकादि भायादित्युक्तम्-विस्पष्टं वेद्यजातमिति । आदिशब्दात्कामशोकादि । तदुक्तम्—

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥' इति ।

मुख्यतयेति स्पष्टत्वस्यासाधारणजाग्रल्लक्षणत्वात्, तेनार्थस्य वैकल्पिकत्वात्-स्वप्नत्वं स्पष्टत्वाच्च जाग्रत्वमिति स्वप्नजागरेयमित्युक्तं स्यात् ॥ २४९ ॥

एवं स्वप्नजागरां निरूप्य स्वप्नस्वप्नमपि निरूपयति—

यत्तु तत्राप्यविस्पष्टं स्पष्टाधिष्ठातृ भासते ॥ २५० ॥
विकल्पान्तरगं वेद्यं तत्स्वप्नपदमुच्यते ।

अपिर्भिन्नक्रमः । तेन जाग्रदविशिष्टाधिष्ठात्रपि विकल्पान्तरगमविस्पष्टं वेद्यजातं पुनस्तत्रोत्प्रेक्षादौ यद्भासते तत्स्वप्नपदमुच्यते स्वप्नस्वप्नरूपत्वान्मुख्यः स्वप्नः—इत्यर्थः ॥ २५० ॥

नन्वत्रार्थस्य स्पष्टास्पष्टत्वाभ्यां जाग्रत्स्वप्नविभाग उक्तस्तच्च स्पष्टास्पष्टत्वं

"भावना के बल से भय आदि में जो ज्ञान स्पष्ट अविसंवादी जैसा भासित होता है वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है ।"

गाढ त्रास अथवा (गाढ) अनुराग आदि के कारण आततायी अथवा नायक आदि भासित होते हैं—इसलिये कहा गया—विस्पष्ट वेद्यसमूह । आदि शब्द से काम शोक आदि (समझना चाहिये)। वही कहा गया है—

"काम शोक भय उन्माद चोर एवं स्वप्न आदि से पीड़ित लोग अवर्त्तमान को भी सामने स्थित जैसा देखते हैं ।"

मुख्य रूप से—स्पष्टता के असाधारण जाग्रत् लक्षण वाला होने से । इस प्रकार पदार्थ के वैकल्पिक होने के कारण ये स्वप्न और स्पष्ट होने के कारण जाग्रत् हैं । इसलिये (इसे) स्वप्नजागरा कहना चाहिये ॥ २४९ ॥

स्वप्नजागरा का निरूपण कर स्वप्नस्वप्न का निरूपण करते हैं—

जो वहाँ अविस्पष्ट होते हुये भी स्पष्ट अधिष्ठातृ वाला भासित होता है, विकल्पान्तरगामी वेद्य वह स्वप्नपद कहा जाता है ॥ -२५०-२५१- ॥

अपि का क्रम भिन्न है (उसे अविस्पष्ट के बाद जोड़ना चाहिये)। इससे जाग्रत् से अविशिष्ट अधिष्ठान वाला भी विकल्पान्तरगामी अविस्पष्ट वेद्यसमूह वहाँ = उत्प्रेक्षा आदि में, जो भासित होता है वह स्वप्नपद कहा जाता है । अर्थात् (वह) स्वप्न-स्वप्न रूप होने से मुख्य स्वप्न होता है ॥ २५० ॥

प्रश्न—अर्थ की स्पष्टता और अस्पष्टता के कारण जाग्रत् और स्वप्न का

संनिकर्षविप्रकर्षाभ्यामपि देवकुलादौ दृष्टमिति कथं तावतैवैतद्भवेत् ?-इत्याशङ्क्याह—

तदैव तस्य वेत्त्येव स्वयमेव ह्यबाह्यताम् ॥ २५१ ॥

तदैवेति निर्विचारम्—इत्यर्थः । तस्येत्युत्प्रेक्षाविषयस्यार्थस्य । स्वयमेवेति न तु तैमिरिकादिद्विचन्द्रादिवदाप्तवचनात् ॥ २५१ ॥

ननु अबाह्यता नाम किमुच्यते ?—इत्याशङ्क्याह—

प्रमात्रन्तरसाधारभावहान्यस्थिरात्मते ।

बाह्यत्वे ह्यर्थस्य सर्वप्रमातृसाधारण्यं स्थिरत्वं च भवेत्—इति भावः ॥

नन्वत्र स्वप्नजागराद्येव भेदतया किमस्ति उतान्यदपि ?—इत्याशङ्क्याह—

तत्रापि चातुर्विध्यं तत् प्राग्दिशैव प्रकल्पयेत् ॥ २५२ ॥
गतागतं सुविक्षिप्तं सङ्गतं सुसमाहितम् ।

न केवलं जागरायामेव चातुर्विध्यमस्ति यावत्स्वप्नेऽपीत्यपिशब्दार्थः ।

विभाग बतलाया गया है । और वह स्पष्टता अस्पष्टता देवकुल (= मन्दिर, देवता, राजा, ब्राह्मण आदि) में सन्निकर्ष विप्रकर्ष के द्वारा भी देखी जाती है तो उससे ही यह कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उस समय (प्रमाता) स्वयं ही उसकी आभ्यन्तरता को जानता ही है ॥ -२५१ ॥

उसी समय = निर्विचारअवस्था में । उसका = उत्प्रेक्षा के विषयभूत पदार्थ का । स्वयमेव—न कि रात्र्यन्धता वाले इत्यादि अथवा दो चन्द्र—(दर्शन) आदि के समान आप्तवचन के द्वारा (जानता है) ॥ २५१ ॥

प्रश्न—अबाह्यता किसे कहते हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

दूसरे प्रमाताओं में पदार्थ का न होना (= दूसरे प्रमाताओं के द्वारा पदार्थ का ज्ञान न होना) तथा (पदार्थ का) अस्थिर होना (अबाह्यता है) ॥ २५१- ॥

बाह्य होने पर पदार्थ सब प्रमाताओं में रहते हैं (= ज्ञान के विषय बनते हैं) तथा स्थिर होते हैं ॥ २५१- ॥

प्रश्न—यहाँ भेद के रूप में क्या स्वप्नजागरा आदि ही है अथवा दूसरा भी (कुछ) है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उनमें भी पूर्वरीति के अनुसार गतागत, सुविक्षिप्त, सङ्गत और सुसमाहित इन चार प्रकारों की कल्पना करनी चाहिये ॥ -२५२-२५३ ॥

प्राग्दिशैवेति मेयादिगतत्वेन स्वप्नस्वप्नादिगतत्वेन च । तदेवाह—गतागतमित्यादि । एते च क्रमेण षट्त्रिंशदंगुलप्राणचारोपजायमानगमागमसंबन्धात् दूरतरदेशकालोल्लिख्यमानपदार्थसंस्पर्शात् सङ्कल्पनैकवृत्तिमनोमात्रसंसर्गाद् वैकल्पिकार्थैकतानत्वाच्चेत्येवमन्वर्थनामानश्चत्वारो भेदाः ।

तदुक्तम्—

'द्विसंज्ञं स्वप्नमिच्छन्ति पदस्थं व्याप्तिरित्यपि ।'

(मा० वि० २।३७)

इत्युपक्रम्य

'...............................पदस्थं च चतुर्विधम् ।
गतागतं सुविक्षिप्तं सङ्गतं सुसमाहितम् ॥'
(मा० वि० २।४४) इति ॥ २५२ ॥

स्वप्नेऽपि जागरावत्त्रिधैव संज्ञाभेदोऽस्ति—इत्याह—

अत्रापि पूर्ववन्नाम लौकिकं स्वप्न इत्यदः ॥ २५३ ॥
बाह्याभिमतभावानां स्वापो ह्यग्रहणं मतम् ।
सर्वाध्वनः पदं प्राणः सङ्कल्पोऽवगमात्मकः ॥ २५४ ॥
पदं च तत्समापत्ति पदस्थं योगिनो विदुः ।

केवल जागरा में ही चार प्रकार नहीं हैं बल्कि स्वप्न में भी है—यह 'अपि' शब्द का अर्थ है । पूर्व रीति से ही = मेय आदि गत और स्वप्नस्वप्न आदि गत होने से । उसी को कहते हैं—गतागत इत्यादि । ये क्रमशः छत्तीस अंगुल प्राणचार से उत्पन्न होने वाले गमनागमन के सम्बन्ध, दूरतर उल्लिख्यमान पदार्थ के संस्पर्श, सङ्कल्पमात्र वृत्तिवाले मन के संसर्ग तथा वैकल्पिक अर्थ के एकतान होने के कारण अन्वर्थनाम वाले चार भेद हैं ।

वही कहा गया है—

"स्वप्न को पदस्थ और व्याप्ति इन दो नामों वाला मानते हैं ।" (मा.वि. २।३७)

ऐसा प्रारम्भ कर

"............पदस्थ चार प्रकार का है—गतागत, सुविक्षिप्त, सङ्गत और सुसमाहित" ॥ २५२ ॥ (मा.वि. २।४४)

स्वप्न में भी जागरा के समान तीन ही प्रकार संज्ञाभेद है—यह कहते हैं—

यहाँ (= योगसाधना मे) भी 'स्वप्न' यह पूर्ववत् लौकिक नाम है । बाह्य रूप में स्वीकृत पदार्थों का ज्ञान न होना स्वप्न माना गया है । प्राण

लोकेऽपि स्वप्नशब्दस्यात्र प्रवृत्तौ किं निमित्तम्?—इत्याशंक्योक्तम्—बाह्याभिमतभावानां स्वापो ह्यग्रहणमिति । सर्वाध्वनः पदमिति स्थानं यथा चैतत्तथा षष्ठाह्निक एव निर्णीतम् । पद्यते ज्ञायतेऽनेन सर्वमित्यवगमात्मकत्वात्सङ्कल्पोऽपि पदं तदैकात्म्यमेव च तत्स्थत्वमुच्यते—इत्युक्तम् तत्समापत्ति पदस्थमिति । तेन प्राणैकात्म्यं सङ्कल्पैकात्म्यं चेत्यर्थः । 'योगिनः'इत्यनेनास्याः संज्ञाया योगिविषयत्वमुक्तम् ॥ २५४ ॥

एवं ज्ञानिविषयत्वेनापि संज्ञान्तरं योजयति—

वेद्यसत्तां बहिर्भूतामनपेक्ष्यैव सर्वतः ॥ २५५ ॥
वेद्ये स्वातन्त्र्यभाग् ज्ञानं स्वप्नं व्याप्तितया भजेत् ।

इह खलु बहीरूपतात्मपारतन्त्र्यमपहाय सर्वतः स्वात्ममात्रोल्लिखित एवार्थे स्वतन्त्रं संयोजनवियोजनकारि वैकल्पिकं ज्ञानमेव स्वप्नं ज्ञानिषु व्याप्तितया भजेत्तथा व्यवहरेत्—इत्यर्थः ॥ २५५ ॥

जागरायां च यथा प्रमेयस्य प्राधान्यं तथेहापि प्रमाणस्य—इत्याह—

समस्त अध्वाओं का स्थान है । सङ्कल्प ज्ञानात्मक होता है । उसकी समापत्ति को पद और योगियों को पदस्थ माना जाता है ॥-२५३-२५५-॥

लोक में भी स्वप्न शब्द का इसमें प्रवृत्तिनिमित्त होने में क्या कारण है?—यह शङ्का कर कहा गया—बाह्य रूप में स्वीकृत पदार्थों का ज्ञान न होना स्वप्न है । जिस प्रकार यह सब अध्वाओं का पद = स्थान है वह छठें आह्निक में कहा जा चुका है । पद्यते = ज्ञान होता है इसके द्वारा सब कुछ—इस प्रकार अवगमात्मक होने के कारण सङ्कल्प भी पद है और उसके साथ एकात्मता ही तत्स्थत्व कहा जाता है—इसलिये कहा गया कि उसकी समापत्ति पदस्थ है । इससे प्राण के साथ एकात्मता और सङ्कल्प के साथ एकात्मता—यह अर्थ है । योगियों का—इससे यह (= पदस्थ) संज्ञा योगी का विषय है—यह कहा गया ॥ २५४ ॥

ज्ञानी के विषय के रूप में संज्ञान्तर की योजना करते हैं—

बहिर्भूत वेद्य सत्ता की अपेक्षा न करके सर्वतः वेद्य के विषय में स्वातन्त्र्यभाक् (= स्वतन्त्रता वाला) ज्ञान ही स्वप्न (ज्ञानियों में) व्याप्ति के रूप में व्यवहृत होता है ॥ -२५५-२५६- ॥

बहीरूपता वाले पारतन्त्र्य को छोड़कर सब ओर से स्वात्ममात्र में उल्लिखित ही अर्थ के विषय में स्वतन्त्रसंयोजनवियोजनकारी वैकल्पिक ज्ञान ही स्वप्न (के नाम से) ज्ञानियों में व्याप्ति के नाम का भागी होता है = उस रूप में व्यवहृत होता है ॥ २५५ ॥

जिस प्रकार जागरा में प्रमेय की प्रधानता होती है उसी प्रकार यहाँ (= स्वप्न

मानभूमिरियं मुख्या स्वप्नो ह्यामर्शनात्मकः ॥ २५६ ॥

मानप्राधान्ये हेतुः 'स्वप्नो ह्यामर्शनात्मकः' इति । 'आमर्शनात्मकः' इति मानसावसायरूपत्वान्निश्चयात्मकः—इत्यर्थः ॥ २५६ ॥

वेद्यच्छायोऽवभासो हि मेयेऽधिष्ठानमुच्यते।
यत्त्वधिष्ठातृभूतादेः पूर्वोक्तस्य वपुर्ध्रुवम् ॥ २५७ ॥
बीजं विश्वस्य तत्तूष्णीभूतं सौषुप्तमुच्यते ।

नन्वधिष्ठितिक्रियाकरणं स्वप्नः—इत्युक्तं तत्कथमामर्शनात्मकत्वमिहास्योक्तम्?—इत्याशङ्क्याह—

अनुभूतौ विकल्पे च योऽसौ द्रष्टा स एव हि ॥ २५८ ॥
न भावग्रहणं तेन सुष्ठु सुप्तत्वमुच्यते ।

य एव जागरायां स्वप्ने च प्रमातोक्तः स एव सौषुप्तेऽपीति, प्रमिणोतीति प्रमाता प्रमातृत्वादेवावश्यं मेयमानादिक्षोभेन भवितव्यमिति कथमुक्तं तूष्णीं-भूतम्?—इत्याशङ्क्याह—'स एव हि न भावग्रहणम्' इति । न हि प्रमातैव भावः प्रमेयम्, ग्रहणं वा प्रमाणम्, तथात्वे हि चतुष्ट्वमेवैतन्न स्यादिति समग्र एव

मे) भी प्रमाण की (प्रधानता) है—यह कहते हैं—

यह मुख्य रूप से प्रमाण की भूमि है क्योंकि स्वप्न आमर्शनात्मक होता है ॥ -२५६ ॥

प्रमाण की प्रधानता में कारण—क्योंकि स्वप्न आमर्शनात्मक होता है । आमर्शनात्मक = मानसिक अवसाय = निश्चय ॥ २५६ ॥

वेद्य की छायावाला अवभास मेय में अधिष्ठान कहा जाता है और जो पूर्वोक्त अधिष्ठातृ भूतादि का निश्चितरूप से शरीर है विश्व का बीजभूत वह शान्त हुआ सौषुप्त कहा जाता है ॥ २५७-२५८- ॥

प्रश्न—अधिष्ठिति क्रिया का करण स्वप्न (कहा जाता) है—यह (पहले) कहा गया है फिर यहाँ इसको आमर्शनात्मक कैसे कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

अनुभूति और विकल्प में जो है वही द्रष्टा है वह न भाव = (प्रमेय है न) ग्रहण (प्रमाण) इसलिये उसको उचित ही सुप्त कहा जाता है ॥ -२५८-२५९- ॥

जो जाग्रत् एवं स्वप्न में प्रमाता कहा गया है वही सुषुप्ति में भी (प्रमाता) है । जो प्रमापन करता है वह प्रमाता होता है । प्रमाता होने के कारण ही प्रमेय और प्रमाण आदि का क्षोभ होना चाहिये फिर कैसे कहा कि शान्त हुआ ?—यह शङ्का कर कहते हैं—'वही है' तथा 'भाव का ग्रहण नहीं है ।' प्रमाता ही भाव = प्रमेय

व्यवहारः समुत्सीदेत्, अतश्च मेयमानादिक्षोभमन्तरेण प्रमातापि स्वात्ममात्रविश्रान्तो भवेद्येनेयमवस्था सर्वत्र सुष्ठु सुप्तमित्युद्घोष्यते ॥ २५८ ॥

ननु यद्येवं तर्हि कथमन्तःकरणधर्मो गाढनिद्रापि लोकेषु सुषुप्तमित्युच्यते? इत्याशङ्क्याह—

तत्साम्याल्लौकिकीं निद्रां सुषुप्तं मन्वते बुधाः ॥ २५९ ॥
बीजभावोऽथाग्रहणं साम्यं तूष्णींस्वभावता ।

किं नाम च तत्साम्यम् ?—इत्याशंक्योक्तम् तूष्णींस्वभावतेति । तूष्णीं-स्वभावेऽपि किं निमित्तम्?—इत्याशङ्क्याह—'बीजभावः' इति संभाव्यमानभाविकार्यसंबन्धात्, अग्रहणमिति च बाह्यविषयासंवेदनात् ॥ २५९ ॥

इदमेव च जाग्रज्जाग्रदादिवन्मुख्यं सुषुप्तम्—इत्याह—

मुख्या मातृदशा सेयं सुषुप्ताख्या निगद्यते ॥ २६० ॥

अस्यापि प्राग्वदेव योगिज्ञानिविषयतया संज्ञाद्वयमस्ति—इत्याह—

नहीं होता अथवा ग्रहण = प्रमाण नहीं होता क्योंकि वैसा होने पर फिर ये चार नहीं होंगे फिर समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायगा । इसलिये प्रमेय प्रमाण आदि के क्षोभ के बिना प्रमाता भी स्वात्ममात्र विश्रान्त हो जाता है जिस कारण यह अवस्था सर्वत्र सुन्दर रूप से सुप्त कही जाती है ॥ २५८ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो फिर कैसे गाढ़ निद्रा, जो कि अन्तःकरण का धर्म है, लोक में सुषुप्त कहा जाता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

उससे समानता होने के कारण विद्वान् लोग लौकिक निद्रा को सुषुप्त कहते हैं । यह (= सुषुप्ति) बीज है । (इसमें बाह्य का ग्रहण, नहीं होता) तूष्णींभावता ही यहाँ साम्य है ॥ -२५९-२६०- ॥

उससे साम्य क्या है?—यह शङ्का कर कहा गया—शान्तस्वभाव होना (आध्यात्मिक सुषुप्ति में जीव स्वात्ममात्र में विश्रान्त रहता है इसलिये और लौकिक सुषुप्ति में मन पुरीतत् नाड़ी में चला जाता है इसलिये दोनो में बाह्य जगत् से सम्बन्धविच्छेद हो जाने के कारण विषयज्ञान न होने से शान्ति आ जाती है) । शान्त स्वभाव में भी क्या निमित्त है?—यह शङ्का कर कहते हैं—'बीजभाव' क्योंकि सम्भावित भावी कार्य से सम्बन्ध होने के कारण (यह बीज भाव रहता है)। अग्रहण—बाह्य विषय का संवेदन न होने से ज्ञानाभाव होता है ॥ २५९ ॥

और यही जाग्रत्-जाग्रत् आदि की भाँति मुख्य सुषुप्त है—यह कहते हैं—

यह मुख्य प्रमाता की दशा सुषुप्त नाम से कही जाती है ॥ -२६० ॥

पहले की तरह इसकी भी योगी और ज्ञानी के विषयभेद से दो संज्ञायें हैं—

रूपकत्वाच्च रूपं तत्तादात्म्यं योगिनः पुनः ।
रूपस्थं तत्समापत्त्यौदासीन्यं रूपिणां विदुः ॥ २६१ ॥
प्रसंख्यानवतः क्वापि वेद्यसङ्कोचनात्र यत् ।
नास्ति तेन महाव्याप्तिरियं तदनुसारतः ॥ २६२ ॥

प्रमातृमात्रसारत्वाद्विश्वस्य रूपयति तत्तदर्थजातं स्वात्मसात्कारेण रूपवत्करोतीति रूपं प्रमाता, तदैकात्म्यं नाम योगिषु रूपस्थं विदुस्तथा व्यवहरन्ति—इत्यर्थः ।

नन्वेवं प्रमात्रैकात्म्ये योगिनां तुर्यसुषुप्तयोः को विशेषः?—इत्याशङ्क्याह—तत्समापत्त्या रूपिणामौदासीन्यमिति । अत्र हि प्रमातृरूपसमापत्त्या रूपिणां भावानामौदासीन्यमनुद्रेको न तु तुर्यदशायामिव सर्वतो विगलनं येनाविशेषः स्यात् । तेनेति वेद्यसङ्कोचनानास्तित्वेन हेतुना—इत्यर्थः । 'तदनुसारतः' इति प्रसंख्यानवतोऽनुसृत्य—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'रूपस्थं तु महाव्याप्तिः सुषुप्तस्यापि तद्द्वयम् ।'
(मा० वि० २।३७) इति ॥ २६२ ॥

अत्रापि पिण्डस्थादिवद्भेदचातूरूप्यमस्ति—इत्याह—

रूपक होने के कारण (वह) रूप है, उसका तादात्म्य योगी का रूपस्थ है और उस (= रूप) की समापत्ति से रूपियों का औदासीन्य माना गया है । प्रसंख्यानवान् की यहाँ कोई भी जो वेद्यसङ्कोचना नहीं है इस कारण यह उसके अनुसार महाव्याप्ति है ॥ २६१-२६२ ॥

विश्व के प्रमातृतत्त्व वाला होने के कारण (जो) रूपित करता है = भिन्न-भिन्न अर्थसमूह को आत्मसात्कार के द्वारा रूपवान् बनाता है (वह) रूप = प्रमाता, है । उसकी एकात्मता वाले योगियों को रूपस्थ कहा जाता है अर्थात् (लोग) वैसा व्यवहार करते हैं (ऐसे योगियों को 'रूपस्थ' कहते हैं)।

प्रश्न—इस प्रकार प्रमाता के साथ एकात्मता होने पर योगियों के लिये तुर्य और सुषुप्ति में क्या अन्तर है?—यह शङ्का कर कहते हैं—उसी समापत्ति के द्वारा (योगियों का) रूपियों के प्रति औदासीन्य हैं । यहाँ प्रमातृरूप समापत्ति के द्वारा रूपियों की = भावों की, उदासीनता = अनुद्रेक, (विवक्षित है) न कि तुरीय दशा के समान सब ओर से विगलित होना—जिससे कोई अन्तर नहीं होगा । इस कारण = वेद्यसङ्कोचना के अनस्तित्व के कारण । उसके अनुसार = प्रसंख्यानवान् (= ज्ञानी) के अनुसार । वही कहा गया है—

"सुषुप्त का भी वह दोनों रूपस्थ और महाव्याप्ति नाम है" ॥ २६२ ॥ (मा.वि. २।३७)

यहाँ भी पिण्डस्थ आदि के समान चार भेद हैं—यह कहते है—

उदासीनस्य तस्यापि वेद्यं येन चतुर्विधम् ।
भूतादि तदुपाध्युत्थमत्र भेदचतुष्टयम् ॥ २६३ ॥
उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमथापरम् ।

वेद्यादिक्षोभशून्यस्यापि प्रमातुर्भूततत्त्वादि वेद्यं येन वक्ष्यमाणोदितत्वादिभेदाच्चतुर्विधम्, तेनापि उपाधिबलायातमुदितत्वादिभेदचतुष्टयमेव—इति वाक्यार्थः । उदितमिति संस्कारमात्रात्मनावस्थानात् । विपुलमिति तथैव प्ररोहात् । शान्तमिति प्रलीनसंस्कारत्वात् । सुप्रसन्नमिति उद्भवदहंभावरसौन्मुख्यात् । तदुक्तम्—

'चतुर्धा रूपसंस्थं तु ज्ञातव्यं योगचिन्तकैः ।
उदितं विपुलं शान्तं सुप्रसन्नमथापरम् ॥'
(मा० वि० २।४४) इति ॥ २६३ ॥

इदानीं क्रमप्राप्तं तुर्यं लक्षयति—

यत्तु प्रमात्मकं रूपं प्रमातुरुपरि स्थितम् ॥ २६४ ॥
पूर्णतागमनौन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिः ।
तत्तुर्यमुच्यते शक्तिसमावेशो ह्यसौ मतः ॥ २६५ ॥

प्रमातुरिति मितस्य, पूर्णस्य हि चतस्रोऽपि विधाः स्वातन्त्र्यविजृम्भामात्रम्—

उदासीन भी उसका (= योगी का) जिस कारण भूत आदि चार प्रकार का वेद्य है (इसलिये) यहाँ उसकी उपाधि से उत्पन्न उदित, विपुल शान्त और सुप्रसन्न ये चार भेद हैं ॥ २६३-२६४- ॥

वेद्य आदि क्षोभ से शून्य भी प्रमाता का भूततत्त्व आदि वेद्य होता है जिस कारण वक्ष्यमाण उदितत्व आदि भेद से (योगी) चार प्रकार का होता है इससे भी उपाधि के बल से उत्पन्न उदितत्त्व आदि चार ही भेद है—यह वाक्यार्थ है । (वे भेद इस प्रकार हैं—) उदित—संस्कार रूप से स्थित होने के कारण । विपुल—उसी प्रकार प्ररोह के कारण । शान्त—प्रलीनसंस्कार वाला होने के कारण । सुप्रसन्न—उद्भवत् अहंभाव रस की उन्मुखता के कारण । वही कहा गया है—

"योगचिन्तकों के द्वारा रूपसंस्थ (= रूपस्थ) वेद्य चार प्रकार का जानना चाहिये—उदित, विपुल, शान्त और सुप्रसन्न" ॥ २६३ ॥ (मा.वि. २।४४)

अब क्रमप्राप्त चतुर्थ (दशा) का लक्षण बतलाते हैं—

जो कि प्रमात्मक रूप है और (मित-) प्रमाता के ऊपर स्थित है, पूर्णता के आगमन के प्रति उन्मुखता का होना और उदासीनता से हट जाना है वह चतुर्थ अवस्था है । क्योंकि यह शक्ति का समावेश माना गया है ॥ -२६४-२६५ ॥

प्रमाता का = मित (प्रमाता) का । पूर्ण की चारो विधायें स्वातन्त्र्य की

इत्यभिप्राय: । उपरिस्थितत्वमेव दर्शयति—पूर्णतागमनौन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिरिति । ननु कथङ्कारं नाम तुर्यदशायामौदासीन्यन्यग्भावमात्रात्स्वरूपताग्रहोन्मुखीभावो भवेत्?—इत्याशङ्क्याह—'शक्तिसमावेशो ह्यसौ मत:' इति । परामर्शरूपायां हि शक्तौ समावेशस्तत्प्राधान्यमेव—इत्यर्थ: ॥ २६५ ॥

नन्विदं पूर्णतागमनं प्रत्यौन्मुख्यं नाम किं पूर्णं रूपमुतापूर्णं, तत्रापूर्णं चेज्जाग्रदादय एव, पूर्णं चेत्तुर्यातीतमेवेत्यन्तरा किमिदं तुर्यं नाम?—इत्याशङ्क्याह—

सा संवित्स्वप्रकाशा तु कैश्चिदुक्ता प्रमेयत:।
मानान्मातुश्च भिन्नैव तदर्थं त्रितयं यत: ॥ २६६ ॥

सा तुर्यरूपा संवित्कैश्चित्स्वप्रकाशत्वात्प्रमेयादिभ्यो व्यतिरिक्तैवोक्ता-इति वाक्यार्थ:, अन्यथा ह्यस्या: परप्रकाशवादे प्रकाशत्वेन च प्रमाणादपरोक्षसंविद्वादे च तथाविधादेव प्रमातुर्भेदो न सिद्ध्येत् । ननु स्वप्रकाशत्वमप्यस्या: कुतस्त्यम्?—इत्याशंक्योक्तम् 'तदर्थं त्रितयं यत:' इति । यतस्तज्जाग्रदादित्रयं तस्यां संविद्येवार्थोऽर्थनात्मिका याच्ञाकांक्षा यस्य तत्संविद्विश्रान्त्युन्मुखम्—इत्यर्थ: । अन्यथा हि जाग्रदादिविश्रान्तिरूपायास्तस्या अपि विश्रान्त्यन्तरोन्मुखत्वेऽनवस्था

विजृम्भामात्र हैं—यह अभिप्राय है । ऊपर स्थित होने को दिखलाते हैं—पूर्णता के आगमन के प्रति उन्मुखता का होना और उदासीनता से हट जाना । प्रश्न—तुरीय दशा में उदासीनता के छिप जाने मात्र से स्वरूपताग्रह का उन्मुखीभाव कैसे होता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—"क्योंकि यह शक्तिसमावेश माना गया है ।" परामर्शरूप शक्ति में समावेश = उसकी प्रधानता का होना ॥ २६५ ॥

प्रश्न—यह पूर्णतागमन के प्रति उन्मुखता क्या पूर्ण है या अपूर्ण ? यदि अपूर्ण है तो जाग्रत् आदि ही है और यदि पूर्ण है तो तुर्यातीत है फिर यह बीच में चतुर्थ अवस्था कौन सी आ गयी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

वह स्वप्रकाश संवित् कुछ लोगों के द्वारा प्रमेय प्रमाण और प्रमाता से भिन्न ही कही गयी है क्योंकि (ये) तीन उसके (= स्वप्रकाश संवित्) लिये हैं ॥ २६६ ॥

वह तुरीयरूपा संवित् स्वप्रकाश होने के कारण किन्हीं लोगों के द्वारा प्रमेय आदि से भिन्न ही कही गयी है—यह वाक्यार्थ है । अन्यथा परप्रकाशवाद में इसका प्रकाश होने के कारण प्रमाण से और अपरोक्ष संविद्वाद में उसी प्रकार प्रमाता से भेद सिद्ध नहीं होगा । प्रश्न—इस (संविद्) की स्वप्रकाशता भी कहाँ से है?—यह शङ्का कर कहा गया—क्योंकि तीनों उसके लिये हैं । क्योंकि वह जाग्रत् आदि तीन उस = संविद् में ही अर्थ = अर्थनात्मिका याच्ञा = आकांक्षा है जिसकी वह अर्थात् संविद्विश्रान्ति की ओर उन्मुख है । अन्यथा जाग्रत् आदि की विश्रान्तिरूपा

भवेत्—इति भावः ॥ २६६ ॥

कथं चास्यामेते विश्राम्यन्ति?—इत्याशङ्क्याह—

मेयं माने मातरि तत् सोऽपि तस्यां मितौ स्फुटम् ।
विश्राम्यतीति सैवैषा देवी विश्वैकजीवितम् ॥ २६७ ॥

देवीति स्वप्रकाशत्वाद् द्योतमाना—इत्यर्थः । विश्वैकजीवितमिति प्रमेयादेः सर्वस्यैवात्र विश्रमात् । यदुक्तम्—

'वेद्यं वेदकतामाप्तं वेदकः संविदात्मताम् ।
संवित्त्वदात्मा चेत्सत्यं तेनेदं त्वन्मयं जगत् ॥' इति ॥ २६७ ॥

नन्वियं प्रमाणफलरूपा मेयादित्रयसाध्या मितिरतो मेयादयोऽस्या जीवितं न तु मा तेषामिति किमेतदुक्तम् ?—इत्याशङ्क्याह—

रूपं दृशाहमित्यंशत्रयमुत्तीर्य वर्तते ।
द्वारमात्राश्रितोपाया पश्यामीत्यनुपायिका ॥ २६८ ॥
प्रमातृता स्वतन्त्रत्वरूपा सेयं प्रकाशते ।
संवित्तुरीयरूपैवं प्रकाशात्मा स्वयं च सा ॥ २६९ ॥

उसकी भी दूसरी विश्रान्ति की ओर उन्मुख होने पर अनवस्था हो जायगी ॥ २६६॥

ये इनमें कैसे विश्रान्त होते हैं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रमेय प्रमाण में वह (= प्रमाण) प्रमाता में और वह (= प्रमाता) भी प्रमिति में स्पष्टतया विश्रान्त होता है । वह यह देवी (= संवित्) विश्व की एकमात्र कारण है ॥ २६७ ॥

देवी = स्वप्रकाश होने के कारण द्योतमान । विश्व का एक मात्र जीवन—क्योंकि प्रमेय आदि सब यहाँ विश्राम प्राप्त करते हैं । जैसा कि कहा गया—

"वेद्य वेदकता को प्राप्त हुआ । वेदक संविद्रूपता को (प्राप्त हुआ) । संविद् तुम्ही हो यदि यह सत्य है तो इस कारण यह संसार तुमसे व्याप्त है । (यह भी सत्य है)" ॥ २६७ ॥

प्रश्न—यह मिति प्रमाणफलरूपा और मेय आदि (= प्रमाता, प्रमाण) तीन के द्वारा साध्य है इसलिये मेय आदि ही इसके कारण है न कि वह उनकी (कारण) फिर यह कैसे कहा गया?—यह शङ्का कर कहते हैं—

रूप दृशा और अहम् इन तीन अंशों को पार कर यह (प्रमिति) रहती है । 'देख रहा हूँ' इस प्रकार के द्वारमात्र में ही इसने उपाय को प्राप्त किया है तथा (स्वरूपतः) उपायशून्य है । वह यह (पर-) प्रमातृता स्वातन्त्र्यरूप स्वयं प्रकाशित होती है । यह तुरीयरूपा संवित् स्वयंप्रकाश-

रूपमिति प्रमेयम्, दृशेति प्रमाणम्, अहमिति प्रमाता, सेयं विश्वैकजीवितं शुद्धा परा संविदेवमंशत्रयोत्तीर्णा पश्यामीत्येवमाकारं बहिष्प्रसरणानन्तरं प्रत्यावृत्य स्वात्मविश्रान्तौ यद्द्वारं तावत्येवाश्रितो मेयादित्रयलक्षण उपायो यया सा, स्वरूपे पुनरनुपयुज्यमानानुपपद्यमानोपाया, स्वातन्त्र्यमयी परप्रमातृता सा—इति वाक्यार्थः। ननु कर्मकरणकर्तृव्यतिरिक्तं फलदशाधिशायि तुरीयं रूपं प्रकाशं पश्यामो न तु तदतिरिक्ता काचन संवित्परिस्फुरति यस्याः पश्यामीति द्वारमुच्येत ?—इत्याशङ्क्याह—'प्रकाशते' इति । चो हेतौ । सा हि परप्रमातृरूपा शुद्धा संवित्स्वयं प्रकाशते न तु पश्यामीत्यादिविकल्पोल्लेखभूमिः—इत्यर्थः । यतस्तुरीयाभिमतस्य पश्यामीति प्रकाशस्य सैवात्मा तस्यां हि क्षणमप्य-प्रकाशमानायां न किञ्चिदेव परिस्फुरेत् ॥ २६९ ॥

अत एवाह—

तत्समावेशतादात्म्ये मातृत्वं भवति स्फुटम् ।
तत्समावेशोपरागान्मानत्वं मेयता पुनः ॥ २७० ॥
तत्समावेशनैकट्यात् त्रयं तत्तदनुग्रहात् ।

प्रमात्रादीनां हि तुर्यसंविदमपेक्ष्य यथायथं विप्रकर्षः—इत्युक्तप्—

रूपा है ॥ २६८-२६९ ॥

वह यह विश्व की एकमात्र कारण शुद्ध परा संवित् रूप = प्रमेय दृशा = प्रमाण, अहम् = प्रमाता, इस प्रकार के तीन अंश से परे रहती हुई 'देख रहा हूँ' इस रूप वाले बाह्य प्रसरण से लौटकर आत्मविश्रान्ति में जो द्वार है उसी में स्थित है जिसके द्वारा मेय आदि तीन लक्षण वाला उपाय आश्रित है यह वही है । और स्वरूप में अनुपयुज्यमान = असिद्ध उपायवाली, वह स्वातन्त्र्यमयी परप्रमातृता है—यह वाक्यार्थ है ।

प्रश्न—(हम) कर्म करण कर्त्ता से भिन्न फलदशाधिशायी तुरीयरूप प्रकाश 'को देखते हैं न कि उसके अतिरिक्त कोई संवित् स्फुरित होती है जिसको नहीं देखते हैं'—जिसे द्वार कहा जाय?—यह शङ्का कर कहते हैं 'प्रकाशित होती है' । 'च' का प्रयोग हेतु अर्थ में है । वह परप्रमातृरूपा शुद्धसंवित् स्वयं प्रकाशित होती है न कि 'पश्यामि' इत्यादि विकल्प के उल्लेख की भूमि (= आधार) है क्योंकि तुरीय के रूप में मान्य 'पश्यामि' इस प्रकाश की वही आत्मा है । एक क्षण भी उसके अप्रकाशित होने पर कुछ भी प्रकाशित नहीं होगा ॥ २६८-२६९ ॥

इसलिये कहते हैं—

उसके समावेश के साथ तादात्म्य होने पर मातृता, उसके समावेश के उपराग से प्रमाणता और उसके समावेश की निकटता से मेयता स्फुट होती है । ये तीनों उसके अनुग्रह से (प्रकाशित होते हैं) ॥२७०-२७१-॥

'तत्समावेशतादात्म्ये' इति, तत्समावेशोपरागादिति, तत्समावेशनैकट्यादिति च ॥ २७० ॥

प्रमाणफलविलक्षणसंविद्वाद एव चागमप्रसिद्धिरनुगता—इत्याह—

वेद्यादिभेदगलनादुक्ता सेयमनामया ॥ २७१ ॥
मात्राद्यनुग्रहादा(धा)नात्सव्यापारेति भण्यते ।

उक्तेति इहैव समनन्तरम् । 'अनामया सव्यापारा च भण्यते' इति श्रीपूर्वशास्त्रे यददूर एव संवादयिष्यति ॥ २७१ ॥

एतदेव स्वदर्शनभङ्ग्यापि योजयति—

जाग्रदाद्यपि देवस्य शक्तित्वेन व्यवस्थितम् ॥ २७२ ॥
अपरं परापरं च द्विधा तत्सा परा त्वियम् ।

ततश्च तज्जाग्रदादित्रयमेव द्विधा पारमेश्वरी शक्तिः—इत्युक्तम्—द्विधा तत्सेति। सेति शक्तिः, इयं तु तुर्यात्मा संवित्परा तेन जाग्रत्स्वप्नावपरा, सुषुप्तं परापरा, तुर्यं च परेति ॥ २७२ ॥

प्रमाता आदि (= प्रमेय प्रमाण) का चतुर्थ संविद् की अपेक्षा क्रमिक दूरता रहती है—यही कहा गया—तत्समावेशतादात्म्य के होने पर उसके (= शिव के) समावेश के उपराग के कारण; तथा उसके समावेश की निकटता के कारण ।

प्रमाणफलविलक्षण संविद्वाद् को ही आगमप्रसिद्धि कहा गया है—यह कहते हैं—

वेद्य आदि भेद के विगलित होने से यह अनामया कही गयी है । माता आदि के अनुग्रह का आदान करने के कारण (वह) व्यापारवाली कही जाती है ॥ -२७१-२७२- ॥

कही गयी—यहीं अभी पहले । 'अनामया और सव्यापारा कही जाती है'—यह मालिनी विजय में (उक्त है) जिसे कि पास में ही बतलायेंगे ॥ २७१ ॥

इसी को अपने दर्शन की भङ्गिमा से भी जोड़ते हैं—

जाग्रत् आदि (अवस्था) भी (इस) देवता की शक्ति मानी गयी है । तो वह अपर और परापररूप से दो प्रकार की है और परा तो यह है ही ॥ -२७२-२७३- ॥

और इस कारण वह जाग्रत् आदि तीनों दो प्रकार की पारमेश्वरी शक्ति है—इसलिये कहा गया—तो वह दो प्रकार की है । वह = शक्ति । यह तुरीयरूपा संवित् परा है । इस प्रकार जाग्रत् एवं स्वप्न अपरा, सुषुप्त परापरा तथा तुर्य परारूप है ॥ २७२ ॥

अत्रापि प्राग्वदेव संज्ञाभेदोऽस्ति—इत्याह—

रूपकत्वादुदासीनाच्च्युतेयं पूर्णतोन्मुखी ॥ २७३ ॥
दशा तस्यां समापत्ती रूपातीतं तु योगिनः ।
पूर्णतौन्मुख्ययोगित्वाद्विश्वं पश्यति तन्मयः ॥ २७४ ॥
प्रसंख्याता प्रचयतस्तेनेयं प्रचयो मता ।

पूर्णतौन्मुख्यादुदासीनाद्रूपकत्वात्प्रमातृत्वात् च्युतायामस्यां तुर्यदशायां योगिषु समापत्तिर्नाम रूपं मितमपि मातारमतिक्रान्तत्वाद्रूपातीतमित्युच्यते । 'प्रचयतः' इति राशीभूतत्वेन, अत एव 'तन्मयः' इत्युक्तं विश्वस्य करामलकवत्प्रचिततया दर्शनेन हेतुना—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'प्रचयो रूपातीतं च सम्यक्तुर्यमुदाहृतम् ।'

(मा० वि० २।३८) इति ॥ २७४ ॥

नन्वस्यामपि परस्परसाङ्कर्याज्जाग्रदादिवच्चातूरूप्यं किं संभवेन्न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

नैतस्यामपरा तुर्यदशा सम्भाव्यते किल ॥ २७५ ॥
संविन्न किल वेद्या सा वित्त्वेनैव हि भासते ।

यहाँ भी पूर्व की ही भाँति संज्ञाभेद है—यह कहते हैं—

रूपक होने से उदासीन होने से यह पूर्णतोन्मुखी दशा च्युत होती है । उसमें समापत्ति होना योगी का रूपातीत स्वरूप है । पूर्णता की ओर उन्मुखता वाला होने के कारण प्रसंख्यात (= ज्ञानी) तन्मय होता हुआ विश्व को देखता है । प्रचयरूप होने के कारण यह प्रचय मानी गयी है ॥ -२७३-२७५- ॥

पूर्णता की ओर उन्मुख होने के कारण रूपकत्व एवं प्रमातृत्व से च्युत यह तुरीय दशा योगियों के सम्प्रदाय में समापत्ति रूपातीत कही जाती है क्योंकि वह मितरूपप्रमाता का भी अतिक्रमण किये रहती है । प्रचय होने के कारण राशीभूत होने से । इसीलिये 'तन्मय' कहा गया । अर्थात् करामलक के समान विश्व का राशिरूप से दर्शन होने के कारण (अर्थात् तुरीय दशा में योगी हाथ में स्थित आँवले के समान समस्त संसार का एक साथ दर्शन कर सकता है, करता रहता है) । वही कहा गया है—

"प्रचय और रूपातीत समीचीन तुर्य कहा गया है" ॥ २७४ ॥

प्रश्न—इसमें भी परस्पर साङ्कर्य के कारण जाग्रत् आदि की भाँति क्या चार रूप सम्भव होंगे या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

इसमें दूसरी तुरीय दशा सम्भव नहीं है । संवित् निश्चित् रूप से वेद्य

तुर्यं हि परा संवित्, सा च वेदित्रेकस्वभावेति वेद्यदशासंस्पर्शोऽप्यस्या न स्यात्तत्कथमियं वेद्यवेदकोभयरूपतामश्नुवीत येनोभयदशाधिशायि तुर्यतुर्यमपि स्यात् ॥ २७५ ॥

ननु यद्येवं तर्हि तुर्यजाग्रदाद्यपि किं संभवेन्न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

जाग्रदाद्यास्तु सम्भाव्यास्तिस्त्रोऽस्याः प्राग्दशा यतः ॥ २७६ ॥
त्रितयानुग्रहात्सेयं तेनोक्ता त्रिकशासने।
मनोन्मनमनन्तं च सर्वार्थमिति भेदतः ॥ २७७ ॥

'संभाव्याः' इति जाग्रदादयो हि परस्या एव संविदः स्वातन्त्र्यविजृम्भितम्, अत एवाह—यतस्त्रितयानुग्रहात्सेयमिति । अत एव जाग्रदाद्यानुगुण्येन श्रीपूर्वशास्त्रे त्रिप्रकारतयेयमुक्ता—इत्याह—तेनेत्यादि । तेनेति जाग्रदाद्यवस्थात्रयानुग्राहकत्वेन । मनोन्मनमिति जागरायामविकल्पकप्राधान्यान्मनसो मननरूपस्वव्यापारोत्क्रमणेन वृत्तेः । अनन्तमिति स्वप्ने विषयेन्द्रियाद्यनपेक्षणेन देशकालाद्यनियमात् । सर्वार्थमिति सुषुप्ते विश्वस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् ॥ २७७ ॥

नहीं है । वह वेत्ता के रूप में ही भासित होती है ॥ -२७५-२७६- ॥

तुरीय परासंवित् ही है । वह मात्र वेदितृस्वभाव वाली है । इसलिये इसका वेद्यदशा से स्पर्श भी नहीं होता । तो फिर यह कैसे वेद्य और वेदक दोनों रूपों को धारण करेगी जिससे उभयदशाधिशायी तुर्यतुर्य भी होगा? ॥ २७५ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो क्या तुर्यजाग्रत् आदि भी सम्भव है या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जाग्रत् आदि तीन दशायें इस तुर्य की पहली तीन अवस्थायें हैं इसलिये तीन के ऊपर अनुग्रह करने के कारण यह त्रिकशास्त्र में मनोन्मना अनन्त एवं सर्वार्थभेद से (तीन प्रकार की) कही गयी है ॥ -२७६-२७७ ॥

संभाव्य—जाग्रत् आदि (अवस्थायें) परा संवित् के स्वातन्त्र्य की विजृम्भामात्र है इसलिये कहते हैं—क्योंकि तीन के अनुग्रह से वह ऐसी है । इसीलिये श्रीपूर्वशास्त्र में जाग्रत् आदि के अनुरूप यह तीन प्रकार की कही गयी है—यह कहते हैं—इस कारण...। इस कारण = जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं के अनुग्राहक होने से । मनोन्मना—क्योंकि जागरा (= साधक का प्राथमिक बोध) में अविकल्पक की प्रधानता होने के कारण मन का मननरूप अपने व्यापार का उत्क्रमण हो जाता है। अनन्त—क्योंकि स्वप्न में विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष आदि की अपेक्षा न होने से देश काल आदि का नियम (= सीमा) नहीं होता । सर्वार्थ—क्योंकि सुषुप्त अवस्था में विश्व शक्तिरूप से स्थित रहता है ॥ २७७ ॥

एवं तुर्यमभिधाय तुर्यातीतमप्यभिधत्ते—

यत्तु पूर्णानवच्छिन्नवपुरानन्दनिर्भरम् ।
तुर्यातीतं तु तत्प्राहुस्तदेव परमं पदम् ॥ २७८ ॥

ननु तुर्यातीतं नाम पञ्चमं पदं, किमतोऽप्यन्यत्पदमस्ति न वा?—इत्याशंक्योक्तम्—तदेव परमं पदमिति । परममित्यनन्याकांक्षं परविश्रान्तिधामत्वात्, अत एवोक्तम्—पूर्णानवच्छिन्नवपुरिति, आनन्दनिर्भरमिति च ॥ २७८ ॥

ननु लोकयोगप्रसंख्यानवशाद्यथा जाग्रदादीनां चतसृणामप्यवस्थानां त्रीणि नामान्युक्तानि, तद्वदिहापि किमुच्यन्ते न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

नात्र योगस्य सद्भावो भावनादेरभावतः ।
अप्रमेयेऽपरिच्छिन्ने स्वतन्त्रे भाव्यता कुतः ॥ २७९ ॥
योगाद्यभावतस्तेन नामास्मिन्नादिशद्विभुः ।

तेनेति योगादेरसद्भावेन । यथा चैतत्तथा द्वितीयाह्निकादावुक्तम् ॥ २७९ ॥

अतश्चात्र संविदेकरूपत्वात्प्रसंख्यानमेव प्रपततीति तदभिप्रायेणैव नामास्ति—इत्याह—

तुर्य का कथन कर तुर्यातीत का भी कथन करते हैं—

जो कि पूर्ण अनवच्छिन्न शरीर वाला और आनन्द से परिपूर्ण है उसे तुर्यातीत कहते हैं । वही परम पद है ॥ २७८ ॥

प्रश्न—तुर्यातीत पञ्चम पद है । क्या इससे भी अतिरिक्त कोई पद है या नहीं?—यह शङ्का कर कहा गया—वही परम पद है । पर = अन्यन्याकाङ्क्ष । क्योंकि वह अन्तिम विश्रान्तिधाम है । इसीलिये कहा गया—पूर्ण अनवच्छिन्न शरीर वाला और आनन्दनिर्भर ॥ २७८ ॥

प्रश्न—लोक योग एवं प्रसंख्यान के आधार पर जैसे जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं के तीनतीन नाम (= भेद) कहे गये क्या उस प्रकार यहाँ भी कहे जाते हैं या नहीं ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

यहाँ योग की सत्ता नहीं है क्योंकि भावना आदि का अभाव है । अप्रमेय अपरिच्छिन्न स्वतन्त्र (तत्त्व) भाव्य कैसे हो सकता है । इसलिये योग आदि के अभाव के कारण परमेश्वर ने इसमें नाम का आदेश नहीं किया ॥ २७९-२८०- ॥

इस कारण—योग आदि की सत्ता न होने से । यह जिस प्रकार है वह द्वितीय आह्निक आदि में कहा गया ॥ २७९ ॥

इसलिये यहाँ संविद्मात्र रूप होने से प्रसंख्यान ही आपतित होता है ।

प्रसंख्यानबलात्त्वेतद्रूपं पूर्णत्वयोगतः ॥ २८० ॥
अनुत्तरादिह प्रोक्तं महाप्रचयसंज्ञितम् ।

एतद्रूपमित्येतच्छब्देन तुर्यातीतपरामर्शः । ननु तुर्ये 'प्रचयः' इति संज्ञानमुक्त-मिह तु ततोऽपि महत्त्वे किं निमित्तम्?—इत्याशंक्योक्तम्—'अनुत्तरात्' इति 'पूर्णत्वयोगतः' इति । अनुत्तरादिति तुर्यात् । तत्र हि संविदो विश्वोत्तीर्णमेव रूपमिह तु तथात्वेऽपि विश्वमयमिति ततोऽप्यस्य महत्त्वयोगः । तदुक्तम्—

'महाप्रचयमिच्छन्ति तुर्यातीतं विचक्षणाः ।'
(मा० वि० २।३८) इति ॥ २८० ॥

अत एवात्र प्रचय इव भेदसंभावनापि नास्तीति न कश्चिदपि विशेषकतया भेद उक्तः—इत्याह—

पूर्णत्वादेव भेदानामस्यां सम्भावना न हि ॥ २८१ ॥
तन्निरासाय नैतस्यां भेद उक्तो विशेषणम् ।

ननु श्रीपूर्वशास्त्रे

'मनोन्मनमनन्तं च सर्वार्थं सततोदितम् ।

इसलिये उसी अभिप्राय से नाम है—यह कहते हैं—

प्रसंख्यान के बल से यह (= तुर्यातीत) रूप है । पूर्णता के योग तथा अनुत्तर (होने) के कारण यहाँ (यह) महाप्रचय नाम वाला कहा गया ॥ -२८०-२८१- ॥

एतद् रूप—यहाँ एतत् शब्द से 'तुर्यातीत' समझना चाहिये । प्रश्न—तुर्य में 'प्रचय' संज्ञा कही गई है । यहाँ उसकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्व होने में क्या निमित्त है?—यह शङ्का कर कहा गया—अनुत्तरात्, पूर्णत्वयोगतः । अनुत्तरात = तुर्यात् । वहाँ संविद् का विश्वोत्तीर्ण रूप है और यहाँ वैसा (= विश्वोत्तीर्ण) होने पर भी विश्वमय है । इसलिये उसकी अपेक्षा भी यह महत्त्व वाला है । वही कहा गया है—

"विद्वान् लोग तुर्यातीत को महाप्रचय मानते हैं" ॥ २८० ॥ (मा.वि.तं. २।३८)

इसलिये यहाँ प्रचय की भाँति भेद की सम्भावना भी नहीं है इसलिये विशेष रूप में कोई भेद नहीं कहा गया—यह कहते हैं—

पूर्ण होने के कारण ही इसमें भेद की सम्भावना नहीं है । इसलिये उसके निरास के लिये इसमें भेदक के रूप में कोई विशेषण नहीं कहा गया ॥ -२८१-२८२- ॥

प्रश्न—श्रीपूर्वशास्त्र में—

प्रचये तत्र संज्ञेयमेकं तन्महसि स्थितम् ॥' (मा०वि० २।४६)

इत्यादिना महाप्रचयेऽपि सततोदिताख्यो भेद उक्तः—इति कथमेतदवोचस्तुर्यातीतदशायां नोक्तो भेद इति ?—इत्याशङ्क्याह—

सततोदितमित्येतत्सर्वव्यापित्वसूचकम् ॥ २८२ ॥

'सत्त्वं लघु प्रकाशम् ।' (सां० १३ का०)

इत्यादौ सत्त्वस्य लघुत्वादिना तथातथास्वरूपमेवोक्तं तथेहापि सततोदितत्वेन सर्वव्यापित्वलक्षणमखण्डस्वरूपमेव प्रकाशितमिति ॥ २८२ ॥

किमत्र प्रमाणम् ?—इत्याशङ्क्याह—

न ह्येक एव भवति भेदः क्वचन कश्चन ।

भेदा हि प्रतियोगिनमपेक्ष्य भेदका भवेयुरिति कथमेक एव भेदः स्यात् । स हि स्वरूपमेवोच्यते ॥

अतश्चात्रैको भेदः—इत्येतन्मूढप्रलपितम्—इत्याह—

तुर्यातीते भेद एकः सततोदित इत्ययम् ॥ २८३ ॥

"मनोन्मनन अनन्त सर्वार्थ और सततोदित को प्रचय में जानना चाहिये । उनमें से एक (—सततोदित) उस महत् (महाप्रचय) में स्थित है (शेष तीन प्रचय हैं) ।" (मा.वितं. २।४६)

इत्यादि के द्वारा महाप्रचय में भी सततोदित नामक भेद कहा गया फिर (आपने) कैसे यह कहा कि तुर्यातीत दशा में भेद नहीं कहा गया ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

'सततोदित'—यह पद सर्वव्यापित्व का सूचक है ॥ -२८२ ॥

(जैसे)—"सत्त्व गुण लघु और प्रकाशक (कहा गया है) ।' (सां.का. १३)

इत्यादि में जैसे सत्त्वगुण का लघुत्व आदि के द्वारा उस उस प्रकार का स्वरूप ही कहा गया है उसी प्रकार यहाँ भी सततोदित के द्वारा सर्वव्यापित्वलक्षण वाला अखण्ड स्वरूप ही प्रकाशित है ॥ २८२ ॥

इसमें क्या प्रमाण है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

एक का कहीं भी किसी भी तरह का भेद नहीं होता ॥ २८३- ॥

भेद प्रतियोगी की अपेक्षा रखकर ही भेदक होते हैं फिर एक ही भेद कैसे होगा । वह तो स्वरूप ही कहा जाता है ॥

इसलिये यहाँ एक भेद है—यह कथन मूर्ख का है—यह कहते हैं—

तुर्यातीत में सततोदित (नामक) एक भेद होता है—यह मूढवाद है ।

मूढवादस्तेन सिद्धमविभेदित्वमस्य तु ।

अत एवागमोऽप्येवम्—इत्याह—

श्रीपूर्वशास्त्रे तेनोक्तं............

तत्र पिण्डस्थस्य प्राक्संवादितत्वात्पदस्थात्प्रभृति तदेव पठति—

...............पदस्थमपरं विदुः ॥ २८४ ॥
मन्त्रास्तत्पतयः सेशा रूपस्थमिति कीर्त्यते ।
रूपातीतं परा शक्तिः सव्यापाराप्यनामया ॥ २८५ ॥
निष्प्रपञ्चो निराभासः शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः ।
सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते ॥ २८६ ॥

अपरमित्यधिष्ठानकरणं सुषुप्ते च प्रमातुरेव प्राधान्यमित्युक्तम्—'मन्त्रास्तत्पतयः सेशा इति । शक्तिरिति संवित्, सैव हि तुर्यस्य रूपमित्युक्तं प्राक् । 'निष्प्रपञ्च' इति अविभिन्नस्वभावः इत्यर्थः । अत एवोक्तम्—'स्वात्मन्यवस्थितः' इति 'निराभासः' इति 'शुद्ध' इति च । 'सर्वातीतः' इति सर्वं तुर्याद्यतीतः सर्वानप्यत्यर्थमितश्च—इत्यर्थः ॥ २८६ ॥

नन्विह 'श्रीशम्भुनाथाज्ज्ञात्वा मयैतद्दर्श्यते' इति प्रागुक्तं तेन पुनः स्वोपज्ञमेव

इससे इसका भेदरहित होना सिद्ध है ॥ -२८३-२८४- ॥

इसलिये आगम भी ऐसा है—यह कहते हैं—

इसलिये श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया ॥ -२८४- ॥

उसमें से पिण्डस्थ का पहले वर्णन करने के कारण पदस्थ से लेकर उसी को कहते हैं—

दूसरे (= अपर) को पदस्थ कहते हैं । मन्त्र, (= मन्त्रेश्वर) ईश्वर समेत उसके स्वामी रूपस्थ कहे जाते हैं । परा शक्ति रूपातीत है । (वह) व्यापारयुक्त होते हुए भी निर्दोष है । शिव को निष्प्रपञ्च निराभास शुद्ध स्वात्मस्थ और सर्वातीत समझना चाहिये । जिसे जानकर (मनुष्य) मुक्त हो जाता है ॥ -२८४-२८६ ॥

अपर = अधिष्ठानकरण । सुषुप्त में प्रमाता की ही प्रधानता रहती है इसलिये कहा गया—मन्त्र और स्वामी के सहित उनके पति । शक्ति = संवित् । वही तुर्य का रूप है—यह पहले कहा गया है निष्प्रपञ्च = अभिन्नस्वभाव वाला । इसीलिये कहा गया—स्वात्मस्थ निराभास, शुद्ध । सर्वातीत = सब तुर्य आदि, से परे = सभी अर्थों को अतिक्रान्त करने वाला ॥ २८६ ॥

प्रश्न—पहले कहा गया कि 'श्रीशम्भुनाथ से जानकर मैं इसे दिखला रहा हूँ'

किमेतदुक्तं न वा ?—इत्याशङ्क्याह—

इति श्रीसुमतिप्रज्ञाचन्द्रिकाशान्ततामसः ।
श्रीशंभुनाथः सद्भावं जाग्रदादौ न्यरूपयत् ॥ २८७ ॥

श्रीसुमतिनाथो ह्यस्य परमगुरुर्यत्पारम्पर्यादनेनैतदधिगतम् ॥ २८७ ॥

इदानीमेषामेव गुर्वन्तरमताभिप्रायेणापि स्वरूपं निरूपयितुमुपक्रमते—

अन्ये तु कथयन्त्येषां भङ्गीमन्यादृशीं श्रिताः ।
यद्रूपं जाग्रदादीनां तदिदानीं निरूप्यते ॥ २८८ ॥

अन्य इति श्रीप्रत्यभिज्ञाकारादयः ॥ २८८ ॥

तदेवाह—

तत्राक्षवृत्तिमाश्रित्य बाह्याकारग्रहो हि यः ।
तज्जाग्रत्स्फुटमासीनमनुबन्धि पुनः पुनः ॥ २८९ ॥
आत्मसङ्कल्पनिर्माणं स्वप्नो जाग्रद्विपर्ययः ।
लयाकलस्य भोगोऽसौ मलकर्मवशान्न तु ॥ २९० ॥
स्थिरीभवेन्निशाभावात्सुप्तं सौख्याद्यवेदने ।

फिर यहाँ अपनी बुद्धि से यह कहा गया या नहीं?—यह शङ्का कर कहते हैं—

श्रीसुमतिनाथ की प्रज्ञारूपी चन्द्रिका से शान्त तामस (= अन्धकार) वाले शम्भुनाथ ने सद्भाव का जाग्रत् आदि में निरूपण किया है ॥ २८७ ॥

श्री सुमतिनाथ इनके (= श्रीअभिनवगुप्त के) परम गुरु थे जिनकी परम्परा से इन्होंने इसे प्राप्त किया ॥ २८७ ॥

अब दूसरे गुरुओं के मत के अभिप्राय से भी इन्हीं के स्वरूप का निरूपण करने के लिये भूमिका रचते हैं—

अन्य प्रकार की भङ्गिमा का आश्रय लेकर इन जाग्रत् आदि का जो रूप दूसरे लोग कहते हैं, अब उसका निरूपण किया जा रहा है ॥२८८॥

अन्य लोग—ईश्वरप्रत्याभिज्ञाकार (= श्रीउत्पलदेव) आदि ॥ २८८ ॥

वही कहते हैं—

इन्द्रियों की वृत्तियों का आश्रयण कर जो बाह्य आकार का ग्रहण होता है वह जाग्रत् है । (वह) स्फुट आसीन और बारम्बार स्फुटअर्थविषय वाला होता है । आत्मसङ्कल्प के निर्माण (से उत्पन्न अवस्था) स्वप्न है । वह जाग्रत् का उल्टा है । यह प्रलयाकल का भोग है । इसमें कार्ममल कारण होता है । किन्तु यहाँ भोग स्थिर नहीं रहता । निशा के अभाव के कारण

ज्ञानाकलस्य मलतः केवलाद्भोगमात्रतः ॥ २९१ ॥

यन्नाम बाह्यत्वात्सर्वप्रमातृसाधारणस्यार्थस्य सर्वाक्षगोचरतया ग्रहणं तज्जाग्रज्जागरावस्था—इत्यर्थः । तज्जार्थस्य बाह्यत्वादेव स्फुटमासीनं स्पष्टावभासतया तिष्ठत्, अत एव बाधानुदयात्पुनःपुनरनुबन्धि स्फुटं स्थिरार्थविषयम्—इत्यर्थः । तदुक्तम्—

'सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः ॥'
(ई० प्र० ३।२।१७) इति ।

स्वप्नस्य च जाग्रद्विपर्यये हेतुरात्मसङ्कल्पनिर्माणमिति । तत्र हि मनोमात्रविषयत्वादर्थस्य सर्वाक्षगोचरत्वं सर्वप्रमातृसाधारणत्वं पुनःपुनरनुबन्धित्वं च नेति ।

तदुक्तम्—

'मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम्॥'
(ई० प्र० ३।२।१६) इति ।

यत्पुनरत्र स्पष्टावभासत्वमुक्तं तदपि सर्वाक्षगोचरत्वाद्यभावाज्जाग्रद्विपरीतमेवेति न

सुख आदि का अनुभव न होने पर सुप्तावस्था होती है । यह ज्ञानाकल का (आस्पद) है । (यह) केवल भोगमात्र के कारण (मात्र आणव) मल से उत्पन्न होता है ॥ २८९-२९१ ॥

बाह्य होने के कारण सब प्रमाताओं के लिये समान अर्थ का सबकी इन्द्रिय के विषय के रूप में जो ग्रहण (= ज्ञान) होता है वह जाग्रत् = जागरावस्था होती है। वह अर्थ के बाह्य होने के कारण ही स्फुट आसीन = स्पष्ट अवभास के रूप में स्थित होती है । इसीलिये बाध का उदय न होने से यह पुनः-पुनः अनुबन्धि = स्फुट स्थिरअर्थविषयक होता है । वही कहा गया है—

"सर्वेन्द्रियगोचर होने के कारण जो बाह्यरूप में स्थिर सब प्रमाताओं के लिये साधारण सृष्टि है वह जाग्रत् अवस्था है ॥" (ई.प्र. ३।२।१७)

स्वप्न जाग्रत् के विपरीत होता है और इसमें कारण है—आत्मसङ्कल्पनिर्माण । वहाँ केवल मन का विषय होने के कारण पदार्थ सर्वाक्षगोचर सर्वप्रमातृसाधारण और पुनः-पुनः अनुबन्धी नहीं होते । वही कहा गया—

"केवल मन के पथ पर भी होने वाली किन्तु भ्रमवश इन्द्रियविषयक रूप में पदार्थों की स्पष्ट अवभास वाली सृष्टि स्वप्न का आस्पद कही गयी है ।" (ई.प्र. ३।२।१६)

कश्चिद्विरोधः । 'लयाकलस्य भोगोऽसौ' इति लयाकलोऽत्र भोक्तैव—इत्यर्थः. अत एव जाग्रत्यपि सकलः प्रमातेत्यनेम सूचितम् । तदुक्तम्—

'तत्र स्वरूपे ग्राह्यत्वं सकलो ग्राहको मतः ।
ग्रहणाकारतामाप्ता शक्तिः सकलसंमता ॥' इति ।

ननु चात्र लयाकलस्य सकलवत्कस्मान्न भोगः स्थिरत्वं यायात् ?—इत्याशङ्क्याह—न त्वित्यादि । अस्य ह्याणवकार्ममलद्वययोगाज्जातोऽपि भोगो मायीयमलाभावान्न प्ररोहमियाच्छरीरादेराश्रयस्यासंपत्तेः । तदुक्तम्—

'प्रलयाकलसंज्ञो यस्तस्य कार्ममलस्थितेः ।
स भोगो जायते मायाभावात्स्थैर्यं न गच्छति ॥' इति।

सौख्यादीत्यादिशब्दान्नीलादि । तदुक्तम्—

'......................सौषुप्तं प्रलयोपमम् ।'
(ई० प्र० ३।२।१५) इति ।

'................................ज्ञेयशून्यता ।'
(ई० प्र० ३।२।१३) इति च ।

जो कि यहाँ स्पष्ट अवभास होना कहा गया वह भी सर्वाक्षगोचर आदि के अभाव के कारण जाग्रत् के विपरीत ही है । इस प्रकार कोई विरोध नहीं है । यह लयाकल का भोग है = यहाँ प्रलयाकल ही भोक्ता है । इसलिये जाग्रत् अवस्था में भी सकल प्रमाता है—यह इससे ज्ञात होता है । वही कहा गया—

"वहाँ स्वरूप ग्राह्य है और सकल ग्राहक माना गया है । सकलसम्मता शक्ति ग्रहणाकारता को प्राप्त होती है ।"

प्रश्न—सकल के समान प्रलयाकल का भी भोग यहाँ स्थिर क्यों नहीं होता ? यह शङ्का कर कहते हैं—'न कि' इत्यादि । आणव एवं कार्म इन दो मलों के योग से उत्पन्न हुआ भी इसका भोग मायीय मल के अभाव के कारण प्ररोह को प्राप्त नहीं होता क्योंकि (इसमें) शरीर आदि आश्रय की प्राप्ति नहीं होती ? वही कहा गया—

"जो यह प्रलयाकल नाम वाला (प्राणी) है उसका कार्म मल होने से वह भोग तो उत्पन्न होता है किन्तु मायीय मल के अभाव के कारण स्थिरता को नहीं प्राप्त होता ।"

सौख्य आदि—यहाँ आदि शब्द से नील आदि (समझना चाहिये) । वही कहा गया है—

"...........सुषुप्ति प्रलय के समान होती है ।" (ई.प्र. ३।२।१५) और

".........ज्ञेयशून्यता के कारण (यह सुषुप्ति प्रलय जैसी होती है) ।" (ई. प्र. ३।२।१३)

तच्च ज्ञानाकलस्य पदमिति शेषः । अत्र हेतुरभिलाषैकरूपाणवमात्रोत्थाद्भोगयोग्यत्वादिति ॥ २९१ ॥

ननु विज्ञानाकलानामपि किमाणवमलयोगोऽस्ति तन्निमित्तकं भोगयोग्यत्वं च ?—इत्याशङ्क्याह—

भेदवन्तः स्वतोऽभिन्नाश्चिकीर्ष्यन्ते जडाजडाः ।
तुर्ये तत्र स्थिता मन्त्रतन्नाथाधीश्वरास्त्रयः ॥ २९२ ॥
यावद्भैरवबोधान्तःप्रवेशनसहिष्णवः ।
भावा विगलदात्मीयसाराः स्वयमभेदिनः ॥ २९३ ॥
तुर्यातीतपदे संस्युरिति पञ्चदशात्मके ।

ते हि विज्ञानाकला बोधाद्येकरूपत्वादभिन्ना अपि स्वतः परमेश्वरेच्छया भेदवन्तश्चिकीर्ष्यन्ते । अत एव भेदभाक्त्वाज्जडाः, अभेदभाक्त्वाच्चाजडाः—इत्युक्तं 'जडाजडाः' इति । यदाहुः—

'बोधादिलक्षणैक्येऽपि येषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥'

(ई० प्र० ३।२।७) इति ।

तत्र स्थिता इति—तत्र जाग्रदादौ स्थिताः सकलप्रलयाकलविज्ञानाकला एव ये

और वह ज्ञानाकल का स्थान होता है—यह जोड़ना चाहिये । इसमें कारण है—मात्र अभिलाषरूप आणवमात्र से उत्पन्न भोगयोग्यता ॥ २९१ ॥

प्रश्न—क्या विज्ञानाकल प्राणियों का भी आणवमल के साथ सम्बन्ध तथा तन्निमित्तक भोगयोग्यता है?—यह शङ्का कर कहते हैं—

(ये विज्ञानाकल) अभिन्न होते हुये भी स्वतः भेदवान् किये जाते हैं इस कारण वे जड़ तथा अजड़ दोनों प्रकार के है । वहाँ चतुर्थ अवस्था में मन्त्र मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर ये तीन रहते हैं । ये सब तत्त्व भैरवबोध के अन्दर प्रवेश की कामना वाले आत्मसार से हीन स्वयं अभेद वाले पन्द्रहवें तुर्यातीत पद में रहते हैं ॥ २९२-२९४- ॥

वे विज्ञान्नाकल बोध आदि एक रूप होंने के कारण अभिन्न होते हुये भी स्वतः = परमेश्वर की इच्छा से, भेदवान् बनाये जाते हैं । इस कारण भेदभागी होने से वे जड़ तथा अभेदभागी होने से अजड़ (= चेतन) है । इसलिये कहा गया—जड़ अजड़ । जैसा कि कहते हैं—

"बोध आदि लक्षणों के समान होने पर भी जिनमें परस्पर भिन्नता होती है तथा ईश्वर की इच्छा के भेद से (वे भिन्न होते हैं) वे विज्ञानकेवली होते हैं ।" (ई.प्र. ३।२।७)

यथायोगं मन्त्रादिरूपतां प्राप्ताः सन्तस्तुर्ये प्रमातारस्तदुपादानकत्वान्मन्त्रादीनाम् । तदुक्तम्—

'विशिष्टसुखदुःखादिसाधनावेदने सति ।
तत्सामान्यमयो भोगो जागरे स्मृतिमागतः ॥
सौषुप्तो मलमात्रोत्थस्तत्र विज्ञानकेवलाः ।
भेदवन्तः स्वतोऽभिन्नाश्चिकीर्ष्यन्ते जडाजडाः ॥
तत्राविश्य च त इत्थं स्वातन्त्र्यात्तुर्यमीदृशम् ।
मन्त्रतत्पतिमन्त्रेशमहेशस्थितिभाक्क्रमात् ॥' इति ।

सर्वे हि परसंविद्विश्रान्त्युन्मुखा एव—इति भावः । अत एव तुर्यातीतपदे प्रमातृप्रमेयात्मानः सर्व एव भावाः परसंविदैकात्म्यसहिष्णुत्वाद्विगलदात्मीयसारा अत एव स्वयमभेदिनः संस्युः शिवशक्तिमात्रात्मना रूपेण परिस्फुरन्ति—इत्यर्थः । यथोत्तरं भेदविगलनक्रमावद्योतको यावच्छब्दः । पाञ्चदश्यक्रमे चैवं जाग्रदाद्यवस्था इत्युक्तम्—'इति पञ्चदशात्मके' इति ॥ २९३ ॥

एवं मतभेदेऽपि जाग्रदाद्यवस्थानां तात्पर्येणैकमेव रूपं विश्रमयति—

वहाँ स्थित—वहाँ = जाग्रत् आदि में, स्थित सकल प्रलयाकल विज्ञानाकल ही जो अपनी योग्यता के अनुसार मन्त्र आदि स्वरूपता को प्राप्त होते हुए चतुर्थ पद में प्रमाता होते हैं क्योंकि मन्त्र आदि उन्हीं से उत्पन्न होते हैं । वही कहा गया है—

"विशिष्ट सुख दुःख आदि और उनके साधनों का ज्ञान न होने पर उसका सामान्यमय भोग जो कि जाग्रत् अवस्था में स्मृतिपथ पर आरूढ़ होता है, सुषुप्ति है । यह केवल आणवमल के कारण उत्पन्न होता है । वहाँ विज्ञानकेवली प्राणी अभिन्न होते हुये भी स्वयं भेदवान् बनाये जाते हैं । इस कारण वे जड़ तथा अजड़ होते हैं । इस प्रकार वे अपने स्वातन्त्र्य से चतुर्थ अवस्था में प्रवेश कर क्रमशः मन्त्र मन्त्रेश और मन्त्रमहेश वाली स्थिति के भागी होते हैं ।"

सभी परासंवित् में विश्राम की ओर उन्मुख रहते हैं—यह भाव है । इसीलिये तुर्यातीत पद में प्रमातृ प्रमेय रूप सभी तत्त्व परा संविद् के साथ तादात्म्यसहिष्णु होने के कारण आत्मीयसार (= अपनी पृथक्सत्ता) से हीन होते हैं । इसलिये स्वयं अभेद वाले होते हैं अर्थात् केवल शिवशक्ति के रूप में स्फुरित होते हैं । 'यावत्' शब्द उत्तरोत्तर भेद के विगलन के क्रम का द्योतक है । और पाञ्चदश्य-क्रम में इस प्रकार जाग्रत् आदि अवस्था होती है—इसलिये कहा गया—पञ्चदशात्मक में ॥ २९३ ॥

इस प्रकार मतभेद होने पर भी जाग्रत् आदि अवस्थाओं का तात्पर्यतः एक ही रूप बतलाते हैं—

यस्य यद्यत् स्फुटं रूपं तज्जाग्रदिति मन्यताम्॥ २९४ ॥
यदेवास्थिरमाभाति स पूर्वं स्वप्न ईदृशः ।
अस्फुटं तु यदाभाति सुप्तं तत्तत्पुरोऽपि यत् ॥ २९५ ॥
त्रयस्यास्यानुसंधिस्तु यद्वशादुपजायते ।
स्रक्सूत्रकल्पं तत्तुर्यं सर्वभेदेषु गृह्यताम् ॥ २९६ ॥
यत्त्वद्वैतभरोल्लासद्रावितशेषभेदकम् ।
तुर्यातीतं तु तत्प्राहुरित्थं सर्वत्र योजयेत् ॥ २९७ ॥

सपूर्वमिति पूर्वानुभूतम्—इत्यर्थः । अस्फुटमिति सुषुप्ते विश्वस्य शक्त्यात्मनावस्थानादनुद्भिन्नरूपम्—इत्यर्थः । ननु यद्येवं तर्ह्यत्र न किञ्चिदपि भायात्? —इत्याशङ्क्याह—तत्पुरोऽपि यदिति । ततः सुषुप्तात्पुरो जागरायामपि तद्भवति —इत्यर्थः । अत एव सुखमहमस्वाप्समित्यादिका स्मृतिः स्यात्, अत एव समनन्तरं संवादितम् 'जागरे स्मृतिमागतः' इति । त्रयस्येति जाग्रदादेः । सर्वभेदेष्विति जाग्रज्जाग्रदाद्यवान्तरप्रकारेषु—इत्यर्थः । स्रक्सूत्रकल्पमिति सर्वानुगमात् । अत एवोक्तम्—

'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम् ।' (शि॰ सू॰ ३।२०) इति ।

जिसका जो-जो स्फुटरूप है उस-उस को जाग्रत् मानना चाहिये । जो अस्थिर प्रतीत होता है उस प्रकार का पूर्वानुभूत (रूप) से युक्त (वह) स्वप्न होता है । और जो अस्फुट आभासित होता है वह सुषुप्ति है । जो कि उसके पूर्व (अवस्था) में भी (भासित) रहती है और जिस कारण इन तीनों का अनुसन्धान होता है माला के अन्दर वर्त्तमान सूत्र के समान वह चतुर्थ अवस्था है । उसे सब भेदों में समझना चाहिये । जो अद्वैत से पूर्ण उल्लास के कारण समस्त भेद को हटा देता है उसे (लोग) तुर्यातीत कहते हैं । इस प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ॥ -२९४-२९७ ॥

सपूर्व = पूर्वानुभूत । अस्फुट = सुषुप्ति में विश्व के शक्तिरूप से स्थित होने से अनुद्भिन्न रूप वाला । प्रश्न—यदि ऐसा है तो इस दशा में कुछ भी ज्ञात नहीं होगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—उसके पहले भी जो....... । उसके = सुषुप्ति के, पहले = जाग्रत् अवस्था में भी, वह होता है । इसीलिये 'मैं सुखपूर्वक सोया'—इत्यादि स्मृति होती है । इस कारण बाद में कहा गया—जाग्रत् अवस्था में स्मृतिपथ को प्राप्त हुआ । तीन का = जाग्रत् आदि का । सब भेदों में = जाग्रत्-जाग्रत् आदि अवान्तर प्रकारों में । माला के धागे के समान—क्योंकि वह सब (मणियों) में अनुगत होता है । इसीलिये कहा गया—

"चौथे को तीनों में तेल के समान सींचना चाहिये ।" (= जैसे तेल पानी के ऊपर गिरकर पानी के सम्पूर्ण तल को व्याप्त कर लेता है उस प्रकार तुरीय

तुर्यातीते पुनरनुगन्त्रनुगम्याद्यभावाद् भेदगन्धोऽपि नास्तीत्युभयमतानुयायि तात्पर्यतो जाग्रदादीनां रूपमुक्तम् । एवं पाञ्चदश्यक्रमे जाग्रदाद्यवस्थापञ्चकमभिधाय त्रायोदश्यादावप्यतिदिशति—इत्थं सर्वत्र योजयेदिति ॥ २९७ ॥

तदेवाह—

लयाकले तु स्वं रूपं जाग्रत्तत्पूर्ववृत्ति तु ।
स्वप्नादीति क्रमं सर्वं सर्वत्रानुसरेद् बुधः ॥ २९८ ॥

तत्पूर्ववृत्तीति ततः स्वरूपात्पूर्ववृत्ति लयाकलात्—इत्यर्थः । सर्वत्रेति शिवान्तम् ॥ २९८ ॥

तदाह—

एकत्रापि प्रभौ पूर्णे चित्तुर्यातीतमुच्यते ।
आनन्दस्तुर्यमिच्छैव बीजभूमिः सुषुप्तता ॥ २९९ ॥
ज्ञानशक्तिः स्वप्न उक्तः क्रियाशक्तिस्तु जागृतिः ।

नचैतत् 'अग्निर्माणवकः' इत्यादिवदुपचरितम्—इत्याह—

न चैवमुपचारः स्यात्सर्वं तत्रैव वस्तुतः ॥ ३०० ॥

अवस्था से जाग्रत् आदि तीनों को ओतप्रोत करना चाहिये) । (शि.सू. ३।२०)

तुर्यातीत में अनुगन्ता और अनुगम्य के अभाव के कारण भेद की गन्ध भी नहीं रहती इसलिये दोनों मतों (= पाञ्चदश्य एवं त्रायोदश्य मतों) के अनुसार तात्पर्य को ध्यान में रखकर जाग्रत् आदि का रूप कहा गया । इस प्रकार पाञ्चदश्य क्रम में जाग्रत् आदि पाँच अवस्थाओं का कथन कर त्रायोदश्य आदि में भी उसका अतिदेश करते हैं—इस प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ॥ २९७ ॥

वही कहते हैं—

प्रलयाकल में अपना रूप पूर्ववृत्ति ग्रहण करता है उसके पूर्व रहने वाला जाग्रत् (सकल) है जो 'स्व'रूप में पूर्ववृत्ति ग्रहण करता है । इस प्रकार के सब क्रमों का विद्वान् को सर्वत्र अनुसरण करना चाहिये ॥२९८॥

उसके पूर्व रहने वाला—उसके = स्वरूप के, पूर्व रहने वाला—प्रलयाकल आदि । सर्वत्र = शिव पर्यन्त ॥ २९८ ॥

एक पूर्ण प्रभु में स्थित चित् तुर्यातीत कही जाती है । आनन्द तुर्य अवस्था है, इच्छा जो कि बीजभूमि है सुषुप्ति है ज्ञानशक्ति स्वप्न और क्रियाशक्ति जाग्रत् अवस्था कही गयी है ॥ २९९-३००- ॥

उक्त कथन 'विद्यार्थी अग्नि है' इस की भाँति लाक्षणिक नहीं है—यह कहते हैं—

न चेन्न क्वापि मुख्यत्वं नोपचारोऽपि तत्क्वचित् ।

यतस्तत्र चिदेकरूपे पूर्णे प्रभावेव सर्वं भावजातं वस्तुतोऽस्ति, अन्यथा हि न किञ्चन चकास्यात् । यदुक्तम्—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥'

(ई० प्र० १।५।१०) इति ।

ततश्च सकलादौ तन्मुख्यं न स्यादप्रकाशनादेव, तथात्वे च मुख्याभावादुपचारोऽपि व्याहन्येतेति वास्तवमेव शिवेऽपि जाग्रदाद्यवस्थापञ्चकम् ॥ ३०० ॥

अत्रैव प्रमाणसिद्धतामाह—

एतच्छ्रीपूर्वशास्त्रे च स्फुटमुक्तं महेशिना ॥ ३०१ ॥

एतदेव श्रौतेनार्थेन च क्रमेणाह—

तत्र स्वरूपं शक्तिश्च सकलश्चेति तत्त्रयम् ।
इति जाग्रदवस्थेयं भेदे पञ्चदशात्मके ॥ ३०२ ॥
अकलौ स्वप्नसौषुप्ते तुर्यं मन्त्रादिवर्गभाक् ।

यह उपचार नहीं है । उसमें वस्तुतः सब है । न तो कहीं मुख्यता है और न कहीं कोई उपचार है ॥ -३००-३०१- ॥

क्योंकि उस चिदेकरूप पूर्ण परमेश्वर में ही समस्त तत्त्वसमूह वास्तविकरूप से वर्त्तमान है । अन्यथा किसी का ज्ञान नहीं होगा । जैसा कि कहा गया है—

"स्वामी को अपने में स्थित पदार्थसमूह का ज्ञान होता ही रहता है । उसके बिना इच्छा का विमर्श नहीं होता ॥" (ई.प्र. १।५।१०)

इस कारण सकल आदि में वह (= प्रकाश) मुख्य नहीं होगा क्योंकि (वहाँ) उसका प्रकाशन ही नहीं होता । और वैसा होने पर मुख्य के न होने के कारण उपचार का भी व्याघात हो जायगा । इसलिये शिव मे भी जाग्रत् आदि पाँच अवस्थायें वस्तुतः हैं ही ॥ ३०० ॥

इस विषय में प्रमाणसिद्धता को कहते हैं—

श्रीपूर्वशास्त्र में परमेश्वर के द्वारा इसे स्पष्ट रूप से कहा गया है ॥ -३०१ ॥

इसी को श्रुति और अर्थ के क्रम से कहते हैं—

स्वरूप, शक्ति और सकल ये तीन—पञ्चदशात्मक भेद में जाग्रत् अवस्था है । दो अकल (= प्रलयाकल और विज्ञानाकल) स्वप्न एवं

तुर्यातीतं शक्तिशंभू त्रयोदशाभिधे पुनः ॥ ३०३ ॥
स्वरूपं जाग्रदन्यत्तु प्राग्वत्प्रलयकेवले ।
स्वं जाग्रत्स्वप्नसुप्ते द्वे तुर्याद्यत्र च पूर्ववत्॥ ३०४ ॥
विज्ञानाकलभेदेऽपि स्वं मन्त्रा मन्त्रनायकाः ।
तदीशाः शक्तिशंभ्वित्थं पञ्च स्युर्जाग्रदादयः ॥ ३०५ ॥
सप्तभेदे तु मन्त्राख्ये स्वं मन्त्रेशा महेश्वराः ।
शक्तिः शंभुश्च पञ्चोक्ता अवस्था जाग्रदादयः॥ ३०६ ॥
स्वरूपं मन्त्रमाहेशी शक्तिर्मन्त्रमहेश्वरः ।
शक्तिः शंभुरिमाः पञ्च मन्त्रेशे पञ्चभेदके ॥ ३०७ ॥
स्वं क्रिया ज्ञानमिच्छा च शंभुरत्र च पञ्चमी ।
महेशभेदे त्रिविधे जाग्रदादि निरूपितम् ॥ ३०८ ॥

स्वरूपं धराद्यव्यक्तान्तं, सकलशब्दसंनिधानात्तदीयैव शक्तिः । अकलौ प्रलयाकलविज्ञानाकलौ । स्वरूपमिति सकलतच्छक्तिसहितं कलान्तमन्यत्प्राग्वदिति तदकलौ स्वप्नसुप्ते, तुर्यं मन्त्रादिवर्गभाक्, तुर्यातीतं शक्तिशंभु,—इत्यनुसर्तव्यम् । 'प्रलयाकले' इत्यर्थाद्वेद्ये, तेनैकादशात्मके भेदे—इत्यर्थः । स्वमिति प्रलयाकलाद्यात्मकं स्वरूपं यत्प्राक्स्वप्नपदं समभवत् । 'द्वे' इति विज्ञानाकलतच्छक्ती, तेन विज्ञानाकलशक्तिः स्वप्ने, विज्ञानाकलस्तु सुषुप्ते इति । पूर्ववदिति तेन तुर्ये

सुषुप्ति, मन्त्र आदि वर्ग के भागी तुरीय, शक्ति शिव तुर्यातीत ये त्रयोदश नामक (भेद) में अवस्थायें हैं । स्वरूप जाग्रत् है एवं अन्य पूर्ववत् है । प्रलयाकल में स्व जाग्रत् है स्वप्न और सुषुप्ति दो (विज्ञानाकल की शक्ति एव विज्ञानकेवल) है । यहाँ तुर्य आदि पूर्ववत् है । विज्ञानाकल भेद में भी स्वमन्त्र मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर शक्ति शिव इस प्रकार पाँच जाग्रत् आदि अवस्थायें हैं । मन्त्र नामक सात भेद वाली अवस्था में स्व मन्त्रेश मन्त्रमहेश्वर शक्ति और शंभु ये पाँच तथा जाग्रत् आदि (पाँच) अवस्थायें कही गयी हैं । मन्त्रेश्वर नामक पाँच भेद में स्वरूप मन्त्रमहेश्वर की शक्ति, मन्त्रमहेश्वर, शक्ति और शम्भु ये पाँच हैं त्रिविध महेशभेद में स्व क्रिया ज्ञान इच्छा और पाँचवीं शम्भु ये जाग्रत् आदि कहे गये हैं ॥३०२-३०८॥

स्वरूप = पृथिवी से लेकर अव्यक्त तक । सकल शब्द के सन्निधान से उसी की शक्ति समझी जानी चाहिए । अकल = प्रलयाकल और विज्ञानाकल । स्वरूप = सकल और उसकी शक्ति के सहित कलापर्यन्त । अन्यत् प्राग्वत् जानना चाहिए। वे दो अकल स्वप्न और सुषुप्ति मन्त्र आदि वर्ग के भागी तुर्य, शक्ति शिव तुर्यातीत—इस प्रकार अनुसरण करना चाहिये । प्रलयाकल अर्थात् वेद्य में, इससे एकादशात्मक भेद में—यह अर्थ है । स्व = प्रलयाकल आदि रूप जो पहले स्वप्नपद था । दो = विज्ञानाकल और उसकी शक्ति । इस प्रकार स्वप्न में

मन्त्रादयस्तुर्यातीते तु शक्तिशिवाविति । 'विज्ञानाकलभेदे' इति नवात्मके भेदे— इत्यर्थः । स्वमिति विज्ञानाकलादिरूपं यत्प्राक्स्वप्नसौषुप्तदशमध्यशेत । 'जाग्रदादयः' इत्यनेन क्रमः सूचितः, तेन सशक्तिर्विज्ञानाकलो जाग्रत् यावच्छक्तिशिवौ तुर्यातीतमिति । स्वं मन्त्रादिरूपं जाग्रद्यत्प्राक्स्वप्नदशामधिशयानमासीत्, तेन स्वप्ने मन्त्रेश्वराः, सुप्ते मन्त्रमहेश्वरास्तुर्ये शक्तिस्तुर्यातीते तु शंभुरिति । स्वरूपमिति मन्त्रेश्वरादिरूपं जाग्रद्यत्प्राक्स्वप्नपदमासीत् मन्त्रमहेश्वरशक्तेरारभ्य पुनः क्रमात्स्वप्नाद्या अवस्थाः । स्वमिति मन्त्रमहेश्वरादिरूपं जाग्रद्यावच्छंभुः पञ्चमी तुर्यातीतावस्था स्यात् । अस्मद्दर्शने च वस्तुतः शिवशक्तेस्त्रैरूप्यमेवोदितमित्युक्तम् क्रिया ज्ञानमिच्छा चेति ॥ ३०७ ॥

न केवलमियदन्तमेव जाग्रदादि निरूपणीयतया संभवेद्यावद्विगलितभेदसद्भावे शिवेऽपि—इत्याह—

व्यापारादाधिपत्याच्च तद्धान्या प्रेरकत्वतः ।
इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वाच्छिव एकोऽपि पञ्चधा ॥ ३०९ ॥

एतच्च समनन्तरमेवोक्तं विभज्य ग्रन्थकृतास्माभिश्च व्याख्यातमिति नेह पुनरायस्तम् । तदुक्तं तत्र—

विज्ञानाकलशक्ति और सुषुप्ति में विज्ञानाकल की स्थिति है । पूर्ववत्—इससे तुर्य में मन्त्र आदि और तुर्यातीत में शक्ति एवं शिव की गणना है । विज्ञानाकल भेद में = नवात्मक भेद में । स्व = विज्ञानाकल आदि रूप जो कि पहले-पहले स्वप्न सुषुप्ति दशा में था । 'जाग्रत् आदि'—इसके द्वारा क्रम सूचित किया गया । इससे शक्तिसहित विज्ञानाकल जाग्रत् (और इसी प्रकार) शक्ति शिव तुर्यातीत हैं । स्व = मन्त्र आदि रूप जाग्रत् जो कि पहले स्वप्नदशा में था । इससे स्वप्नावस्था में मन्त्रेश्वर सुषुप्ति में मन्त्रमहेश्वर, तुर्य में शक्ति और तुर्यातीत में शम्भु है । स्वरूप = मन्त्रेश्वर आदि रूप जाग्रत् जो कि पहले स्वप्न पद था । मन्त्रमहेश्वर शक्ति से लेकर क्रम से स्वप्न आदि अवस्थायें । स्व = मन्त्रमहेश्वर आदि रूप जाग्रत् । इसी प्रकार शम्भु पाँचवी तुर्यातीत अवस्था है । हमारे दर्शन में वस्तुतः शिवशक्ति के तीन ही रूप कहे गये हैं—यह कहा गया—क्रिया ज्ञान और इच्छा ॥ ३०७ ॥

जाग्रत् आदि का निरूपण केवल यहीं तक सम्भव नहीं है बल्कि विगलितभेद वाले शिव में भी है—यह कहते हैं—

व्यापार (= क्रिया), आधिपत्य (= ऐश्वर्य), उससे रहित प्रेरकमात्र होने, इच्छा की निवृत्ति एवं स्वरूपस्थ होने के कारण शिव एक होते हुये भी पाँच प्रकार के हैं ॥ ३०९ ॥

यह पहले ही कहा गया है तथा ग्रन्थकार एवं मेरे द्वारा (इसकी) अलग-अलग करके व्याख्या की गयी है इसलिये यहाँ फिर प्रयास नहीं किया गया । वही वहाँ

'स्वरूपं तत्र शक्तिश्च सकलश्चेति तत्त्रयम् ।
इति जाग्रदवस्थेयं भेदे पञ्चदशात्मके ॥
अकलौ द्वौ परिज्ञेयौ सम्यक्स्वप्नसुषुप्तयोः ।
मन्त्रादितत्पतीशानवर्गस्तुर्य इति स्मृतः ॥
शक्तिशंभू परिज्ञेयौ तुर्यातीते वरानने ।
त्रयोदशात्मके भेदे स्वरूपसकलावुभौ ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तीशावपि पूर्ववत् ।
प्रलयाकलभेदेऽपि स्वं विज्ञानकलावुभौ ॥
मन्त्रमन्त्रेश्वरेशानाः शक्तीशावपि पूर्ववत् ।
नवधा कीर्तिते भेदे स्वं मन्त्रा मन्त्रनायकाः ॥
तदीशाः शक्तिशंभू च पञ्चावस्थाः प्रकीर्तिताः ।
पूर्ववत्सप्तभेदेऽपि स्वं मन्त्रेशेशशक्तयः ॥
शिवश्चेति परिज्ञेयाः पञ्चैव वरवर्णिनि ।
स्वं शक्तिः स्वा निजेशानाः शक्तिशंभू च पञ्चके ॥
त्रिके स्वं शक्तिशक्तीच्छाशिवभेदं विलक्षयेत् ।
सव्यापाराधिपत्वेन तद्धीनप्रेरकत्वतः ॥
इच्छानिवृत्तेः स्वस्थत्वादभिन्नं चेति पञ्चधा ।'

(मा० वि० २।२७-३५) इति ।

प्रमातृभेदश्च वस्तुधर्मादिषु त्रिष्वपि प्रमेयेष्वन्तः प्रतिपदमुक्तः—इति तेन नेह

कहा गया है—

''स्वरूप उसकी शक्ति एवं सकल ये तीन पञ्चदशात्मक भेद में जाग्रत् अवस्था है । दो अकल स्वप्न और सुषुप्त जानने चाहिये । मन्त्र उसके पति (= मन्त्रेश्वर) और मन्त्रमहेश्वर तुर्य माने गये हैं । हे वरानने शक्ति और शिव तुर्यातीत है । त्रयोदशात्मक भेद में स्वरूप और सकल दोनों मन्त्र मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वर शक्ति और शिव को पूर्ववत् समझना चाहिये । प्रलयाकल भेद में भी स्व दो विज्ञानाकल मन्त्र मन्त्रेश्वर ईशान (= मन्त्रमहेश्वर) शक्ति और शिव को पूर्ववत् समझो । नव प्रकार के कथित भेद में स्व मन्त्र मन्त्रेश्वर उनके स्वामी शक्ति और शिव पाँच अवस्थायें पूर्ववर्ते कही गई हैं । हे वरवर्णिनि ! सात भेद में भी स्व मन्त्रेश मन्त्रमहेश शक्ति और शिव पाँच ही जानना चाहिये । पाँच भेद में स्व, अपनी शक्ति, मन्त्रेश्वरेश्वर शक्ति और शिव है । तीन भेद में स्व उसकी शक्ति, शक्ति इच्छा और शिव भेद समझना चाहिये । व्यापार के सहित आधिपत्य, उससे रहित प्रेरक मात्र होने, इच्छानिवृत्ति एवं स्वस्थता के कारण अभिन्न होते हुये भी (शिव) पाँच प्रकार के हैं ।'' (मा.वि.तं. २।२७-३५)

प्रमाता का भेद वस्तु धर्म आदि तीनों प्रमेयों के भीतर स्थान-स्थान पर कहा

पृथगुपात्तः ॥ ३०८ ॥

एतदेव प्रथमार्धेनोपसंहरति

इत्येष दर्शितोऽस्माभिस्तत्त्वाध्वा विस्तरादथ ।

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते श्रीतन्त्रालोके तत्त्वभेदप्रकाशनं नाम दशममाह्निकम् ॥ १० ॥

विस्तरादिति, पूर्वाह्निके हि संक्षेपेण षट्त्रिंशद्धा एतदुक्तम्, इह तु प्रतितत्त्वं पाञ्चदश्यादिक्रमेणान्यथेति भावः । अथेत्यन्ते मङ्गलार्थमिति शिवम् ॥

कौमारिलनैयायिकमतविमतिसतत्त्वविज्जयरथाख्यः ।
अख्यापयदतिविशदां दशमाह्निके विवृतिरीतिमिमाम् ॥

॥ इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचिते, श्रीजयरथाचार्यकृत-विवेकाख्यव्याख्योपेते श्रीतन्त्रालोके तत्त्वभेदप्रकाशनं नाम दशममाह्निकम् ॥ १० ॥

गया है—इसलिये यहाँ अलग नहीं कहा गया ॥ ३०८ ॥

इसी का पूर्वार्द्ध के द्वारा उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार हमारे द्वारा तत्त्वाध्वा विस्तार के साथ दिखलाया गया ॥ ३०८- ॥

॥ इस प्रकार श्रीमदाचार्य अभिनवगुप्तपादविरचित श्रीतन्त्रालोक के दशम आह्निक की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १० ॥

विस्तार से—पहले के आह्निक में संक्षेप में यह ३६ प्रकार का कहा गया था। और यहाँ प्रतितन्त्र पञ्चदश आदि के क्रम से भी दूसरी प्रकार कहा गया। अन्त में 'अथ' पद मङ्गल के लिये प्रयुक्त है ॥

॥ इस प्रकार आचार्य श्रीजयरथकृत श्रीतन्त्रालोक के दशम आह्निक की 'विवेक' नामक व्याख्या की डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी कृत 'ज्ञानवती' हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ १० ॥